नमोऽत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स

श्री स्थानाङ्ग सूत्र

मूल, संस्कृत-छाया, पदार्थ, मूलार्थ एवं हिन्दी विवेचनिका सहित

[द्वितीय भाग]



व्याख्याकार

जैन-धर्म-दिवाकर जैनागम-रत्नाकर साहित्य-रत्न
आचार्य-प्रवर पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज

सम्पादक

जैन-धर्म-दिवाकर पंजाब-प्रवर्तक, विद्वद्रत्न
मुनि फूलचन्द्र 'श्रमण'

प्रकाशक

आचार्य श्री आत्मा राम जैन प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, लुधियाना

पच्चीसवीं महावीर निर्वाण शताब्दी के
पुनीत अवसर पर

स्थानाङ्ग सूत्र

ग्रन्थ	◈ श्री स्थानाङ्ग सूत्र
व्याख्याकार	◈ जैन-धर्म-दिवाकर जैनागम-रत्नाकर पूज्य आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज
सम्पादक	◈ जैन-धर्म-दिवाकर पजाव-प्रवर्तक विद्वद्रत्न मुनि फूलचन्द्र 'श्रमण'
अभिमतम्	◈ श्री तिलकधर शास्त्री
प्रकाशक	◈ आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना
मुद्रक	◈ आत्म जैन प्रिंटिंग प्रैस, ३५० इण्डस्ट्रियल एरिया-ए, लुधियाना
प्रकाशन-तिथि	◈ वीर निर्वाण सम्वत् २५०१ विक्रम सवत् २०३२ भाद्रपद शुक्ला द्वादशी

मूल्य

प्रथम भाग	द्वितीय भाग
३० रुपये	२५ रुपये



जिनके लोकोत्तर तप ने
सत्य को साकार किया
श्रमण-संस्कृति का उद्धार किया
मानवीय अन्तःप्रदेशों में
प्रसुप्त ईश्वरत्व को जगाया
लक्ष्य-परिभ्रष्ट
मानवता को उठाया
जिनके मुखारविन्द से निःसृत
प्रवचनामृत का पान कर
सत्य का आह्वान कर
मानवता धन्य हुई
मेरी इस चेतना की
भक्ति भी अनन्य हुई
मेरी उसी भक्ति द्वारा
रचना निर्ग्रन्थ की
भेंट इस ग्रन्थ की
व्याख्याकार की,
सम्यक् आचार की
जन्म-जयन्ती पर
सागर-सम-गम्भीर के
प्रभु महावीर के
जो चरण देव-चर्चित हैं
उन्हीं में समर्पित है।

मुनि फूलचन्द्र 'श्रमण'

प्र का श की य



श्रमण-श्रेष्ठ प्रभु महावीर की पच्चीसवी निर्वाण-शताब्दी के पावन वर्ष में "आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति" के द्वारा "स्थानाङ्ग सूत्र" का प्रकाशन जैन जगत के लिये निश्चय ही एक महान् उपलब्धि है।

इस विशाल ग्रन्थ-रत्न की विस्तृत हिन्दी व्याख्या जैन-धर्म-दिवाकर, जैनागम-रत्नाकर स्वर्गीय आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने लुधियाना की धरा पर ही की थी, अत इसका प्रकाशन भी लुधियाना की धरा पर ही होना चाहिये था और वह यही हुआ है उस स्वर्गीय दिव्य विभूति के आशीर्वाद से।

इस महान् ग्रन्थ की प्रकाशनेच्छा आचार्य श्री अपने जीवन मे पूर्ण न कर सके, अत इसके प्रकाशन एव सम्पादन का दायित्व वे समर्पित कर गए थे पजाव-प्रवर्तक मुनि श्री फूलचन्द्र श्रमण जी महाराज एव अपने सेवाभावी विद्वद्रत्न श्री रतन मुनि जी महाराज को। विगत चार वर्षो से दोनो मुनीश्वर इस ग्रन्थ के सम्पादन एव प्रकाशन के लिये सतत-परिश्रम कर रहे थे, उनके महाश्रम से आज यह ग्रन्थ-रत्न पूर्ण हुआ है और प्रकाश मे आ सका है।

उपप्रवर्तक प० श्री हेमचन्द्र जी महाराज, जैन-विभूषण भण्डारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज एव उनके शिष्य तरुण-तपस्वी प्रवचन-भूषण श्री अमर मुनि जी महाराज भी हमे समय-समय पर इस ग्रन्थ के शीघ्र प्रकाशन की प्रेरणा देते रहे है। उनकी प्रेरणा उन्ही के सान्निध्य मे पूर्ण हुई है, यह हमारा लोकोत्तर पुण्य ही कहा जा सकता है।

व्याख्यान-वाचस्पति श्री कान्ति मुनि जी महाराज एव उनके सुशिष्य श्री मुनि श्याम सुन्दर जी 'विशारद' यद्यपि चातुर्मासिक व्यवस्था-वन्धन के कारण इस समय 'जीरा' में विराजमान है, परन्तु हमारा विश्वास है कि वे भी अपनी इस ग्रन्थ-प्रकाशन की अभिलाषा-पूर्ति का समाचार पाकर अत्यन्त हर्षित होगे।

आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति के सदस्य सम्पादन-प्रकाशन के प्रेरणा-स्रोत मुनि-वृन्द के चरणो मे अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते है।

इस ग्रन्थ के महान् प्रकाशन में श्री तिलकधर शास्त्री 'साहित्य-रत्न' का स्तुत्य योगदान भी समिति के लिये चिर-स्मरणीय रहेगा।

हम इस पावन प्रकाशन-वेला में उन समस्त भाई-बहिनों को भी हार्दिक धन्यवादाञ्जलिया समर्पित करते हैं जिनके आर्थिक सहयोग से हम इस महानतम कार्य को पूर्ण करने का सौभाग्य प्राप्त कर सके हैं।

जसवन्त राय जैन प्रधान

मूलराज जैन मन्त्री

जैन-धर्म-दिवाकर जैनागम रत्नाकर आचार्य श्री अपने शिष्य के साथ चिन्तन-मुद्रा में



पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के चरणों में श्री क्रान्ति मुनि जी



पञ्चम स्थान : सूत्र सख्या ८७

तृतीय उद्देशक—

षष्ठ स्थान : सूत्र सख्या ६६

एक उद्देशक

प्रथम उद्देशक

सप्तम स्थान : सूत्र सख्या ५३

प्रथम उद्देशक

अष्टम स्थान : सूत्र-सख्या ७१

प्रथम उद्देशक

नवम स्थान : सूत्र संख्या ४६

दशम स्थान : सूत्र सख्या ८२

प्रथम उद्देशक




वन्दना

STHANANG SOOTRA

स्थानाङ्ग सूत्र

द्वितीय

भाग

स्थानाङ्ग-सूत्र

पंचम स्थान

३—उद्देशक

प्रथम उद्देशक

इस उद्देशक में

महाव्रतों, अणुव्रतों, वर्ण, कामगुण, अनुरक्तिस्थान, दुर्गति व सुगति के कारण, प्रतिमा-भेद, स्थावरकाय, अवधि-दर्शन के विनाश-कारण, केवलज्ञान एवं केवलदर्शन में अक्षोभ के कारण, विविध शरीरों के वर्ण-रस आदि, तीर्थङ्करों के लिये दुर्बोध और सुबोध स्थान, भगवान् महावीर द्वारा अनुज्ञात विविध स्थान, महा निर्जरा और महापर्यवसान के कारण, विसांभोगिक बनाने के कारण पाराञ्चिक प्रायश्चित्त, आचार्य और उपाध्याय के शान्ति और कलह स्थान, पांच आसन और पांच आर्जव, ज्योतिष्क देव, परिचारणा, असुरेन्द्र चमर की पांच महारानियां, इन्द्रों की सेनायें, शक्रेन्द्र-परिषद् के देवों का स्थान, ईशानेन्द्र-परिषद् की देवियों की स्थिति, प्रतिघात, आजीवक, राजककुद, छद्मस्थ द्वारा परीषहों और उपसर्गों को सहन करने के कारण केवली महापुरुषों द्वारा परीषह सहन के कारण, हेतु, अहेत, अनुत्तर, अरिहन्तों के कल्याणक, नक्षत्र आदि विषयों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

प्रथम भाग मे स्थानाङ्ग-सूत्र के चार स्थान पूर्ण हो चुके हैं। प्रथम भाग में पृष्ठाङ्क ११७० तक था।

प्रस्तुत द्वितीय भाग में पंचम स्थान से लेकर दशम स्थान तक रहेंगे। यहाँ सुविधा की दृष्टि से पृष्ठाङ्क एक से आरम्भ किया जा रहा है।

पंचम-स्थान

प्रथम-उद्देशक

सामान्य-परिचय

प्रस्तुत पंचम स्थान मे सूक्ष्म-दृष्टि शास्त्रकार ने विश्व के उन नाना पदार्थों, भावों एवं क्रियाओं का वर्णन किया है जिनकी सख्या पाच तक सीमित है।

महाव्रत और अणुव्रत

मूल—पंच महव्वया पण्णत्ता, तं जहा—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं जाव सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं।

पंचाणुव्वया पण्णत्ता, तं जहा—थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सदारसंतोसे, इच्छापरिमाणे।१।

छाया—पञ्च महाव्रताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सर्वस्मात् प्राणातिपाताद् विरमणं यावत् सर्वस्मात् परिग्रहाद् विरमणम्।

पञ्चाणुव्रताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—स्थूलात् प्राणातिपाताद् विरमणं, स्थूलान्मृषावादाद् विरमणं, स्थूलाददत्तादानाद् विरमणं, स्वदारसन्तोषः, इच्छापरिमाणम्।

शब्दार्थ—**पंच महव्वया पण्णत्ता, तं जहा**—पांच महाव्रत कथन किये गए है, जैसे; **सव्वाओ पाणाइवायाओ**—समस्त प्राणातिपात से; **वेरमणं**—विरमण; **जाव**—यावत्; **सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं**—समस्त परिग्रह से विरमण।

पंचाणुव्वया पण्णत्ता, तं जहा—पांच अणुव्रत कथन किये गए है, जैसे; **थूलाओ**—स्थूल; **पाणाइवायाओ वेरमणं**—प्राणातिपात से विरमण; **थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं**—स्थूल मृषावाद से विरमण; **थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं**—स्थूल अदत्तादान से विरमण; **सदारसंतोसे**—स्वदार सन्तोष; **इच्छा परिमाणे**—इच्छा-परिमाण।

मूलार्थ—पांच महाव्रत प्रतिपादित किये गए हैं, जैसे–समस्त प्राणातिपात अर्थात् जीव-हिंसा से उपरत होना यावत् समस्त परिग्रह अर्थात् धनादि के संग्रह से उपराम होना।

श्रावक के पांच अणुव्रत कथन किये गए है, जैसे–स्थूल प्राणातिपात से उपरति, स्थूल मृषावाद से उपरति, स्थूल अदत्तादान अर्थात् चोरो से उपरति, स्वदार-सन्तोष अर्थात् अपनी स्त्री से मर्यादित गृहस्थाचरण और पर-स्त्री का परित्याग, इच्छापरिमाण अर्थात् धनादि के सम्बन्ध मे अपनी परिग्रह-सम्बन्धी इच्छाओं को सीमित करना।

विवेचनिका—

विश्व में मुख्यतया जीव और अजीव ये दो ही पदार्थ हैं। ये दोनों पदार्थ अनंत धर्मात्मक हैं। अनंतधर्मोवाले पदार्थो का जिन-जिन रूपों में वर्णन अपेक्षित था, उन-उन रूपो का वर्णन विगत चार स्थानो में किया जा चुका है, अब पञ्चत्व की अपेक्षा रखनेवाले पदार्थो, भावो और क्रियाओ का वर्णन इस पञ्चम स्थान के तीन उद्देशको में हो रहा है। इस स्थान के पहले उद्देशक में सर्व प्रथम अनासक्त जीवन के महापथिक त्यागाश्रित महापुरुषो के पांच महाव्रतो और गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी क्रमशः त्याग मार्ग को अपनाते हुए साधक के पांच अणुव्रतो का परिचय दिया जा रहा है।

महाव्रत—व्रत का अर्थ है किसी महती धारणा की स्वीकृति। इस स्वीकृति को पूर्ण रूप से पाना सार्वभौम महाव्रत है और आंशिक रूपसे पाना अणुव्रत। अन्य व्रतों की अपेक्षा इन्हे महाव्रत कहते है। कहा भी है—महान्ति-बृहन्ति च तानि व्रतानि च नियमा महाव्रतानि, जिन व्रतों की आराधना-पालना भी महान हो और जिन्हे अपनाने से मानव आत्मा महतोऽपि महीयान् अर्थात् महान् से महान् बन जाए उनको महाव्रत कहा जाता है। महाव्रतो की आराधना से ही अरिहन्त एवं सिद्ध पद प्राप्त किया जा सकता है और महाव्रतो के द्वारा ही जीव अनुत्तर विमानवासी देव बनता है, अतः इन्हे महाव्रत कहा जाता है। ये महाव्रत पांच हैं, जैसे कि —

१. अहिंसा महाव्रत—मैं और तू के भेद का बोध ही हिंसा है और उस भेद का मिट जाना अहिंसा है, क्योकि मैं और तू का भेद रहने पर मैं तू को और तू मैं को समाप्त कर देना चाहता है, यह समाप्ति का भाव ही हिंसा है और जब यह भाव मिट जाता है तो सर्वत्र समता के दर्शन होने लगते हैं। यह समता सहानुभूति प्रेम और करुणा को जन्म देती है और इनके उदय होने पर सब को अपने समान समझने का बोध जागृत हो जाता है, तब समस्त हिंसा के भाव मिट जाते हैं। विश्व भर मे किसी भी जीव की मन, वचन और काया से हिंसा न स्वयं करना न दूसरी के द्वारा करवाना और न ही हिंसा करनेवाले की क्रिया का अनुमोदन एवं समर्थन करना पूर्ण अहिंसा है। इस अहिंसा व्रत के बाधक कारणों को नष्ट करना, हिंसाशील साधनों से सर्वथा दूर रहना ही पहला महाव्रत है। प्राणातिपात अर्थात् किसी भी प्राणी के शरीर से प्राणो को अलग करना रूप क्रिया से सर्वथा निवृत्ति पाना ही

प्राणातिपान-विरमण है। इन्द्रिय, योग, श्वासोच्छ्वास और आयु इनके समन्वित रूप को प्राण कहते हैं, इनका विध्वंस न करना ही 'प्राणातिपात-विरमण है'।

२. **मृषावाद-विरमण**—मृषावाद से सर्वथा निवृत्ति पाना सत्य है। झूठ का प्रयोग चार कारणों से होता है, जैसे कि सत्य का अपलाप करना, जिसका सद्भाव है, उसका निषेध या नास्ति कहना, "**सद्भावप्रतिषेधो मृषा**" है। जिस वस्तु का अभाव हो उसका भाव सिद्ध करना, असन् को सत् मानना, अनहोनी को होनी कहना भी मृषा है, इसको दूसरे शब्दों में "**असत उद्भावना**" भी कहते हैं। ग़लत-फ़हमी एवं भ्राति से कहा हुआ शब्द भी मृषाभून कहलाता है, इसको "**अर्थान्तरोक्ति**" भी कहते हैं। गाली दुर्वचन या निंदनोय शब्दों का प्रयोग करना, जैसे अन्धे को अन्धा कहना 'मृषावाद' है। न स्वयं मृषा बोलना न दूसरे से मृषा बोलवाना और न मृषाभाषी का समर्थन करना मन, वचन और काय से इस प्रकार के मृषावाद से सर्वथा निवृत्ति पाना ही 'मृषावाद-विरमण' नामक दूसरा महाव्रत है।

३. **अदत्तादान-विरमण**—किसी की आज्ञा के बिना ही किसी की वस्तु को ग्रहण करना चोरी है। चोरी भी चार प्रकार की होती है—जड़ और चेतन पदार्थों का ग्रहण करना "द्रव्य चोरी" है। किसी के क्षेत्र पर बलात् अधिकार जमाना तथा ग्राम, नगर, राजधानी आदि पर बिना अनुमति के ही आधिपत्य करना "क्षेत्र-चोरी" है। किसी अनुबन्ध के अनुसार समय पर काम न करना, वेतन लेते हुए काम न करना "काल-चोरी" है। रागद्वेष-मोह की भावना से ओतप्रोत होना, नियम एवं सत् प्रतिज्ञा तोड़ना भाव-चोरी है। किसी के ग्रन्थ को, कविता को, नाटक एवं उपन्यास आदि साहित्य को छल से चुराकर अपने नाम से प्रकाशित करना भी "भाव चोरी" ही मानी जाती है। सूक्ष्म, स्थूल, द्रव्य, भाव किसी भी प्रकार की चोरी न करना—वस्तु के स्वामी की आज्ञा लिये बिना उसको वस्तु को ग्रहण न करना 'अदत्तादान-विरमण' नामक तीसरा महाव्रत है।

४. **मैथुन-विरमण**—वासना-तृप्ति के लिये दो प्राणियों के शारीरिक मिलन को मैथुन कहते हैं। देवता सम्बन्धी, मनुष्यसबन्धी और तिर्यञ्च सबन्धी काम-भोगों से सर्वथा निवृत्ति पाना, कामोद्दीपक बाते न करना, अश्लील बाते न सुनना, कामोद्दीपक अश्लील साहित्य के पठन से दूर रहना, भुक्त काम-भोगो का स्मरण भी न करना, वासनोत्तेजक दृश्य, चित्र या किसी के अगोपागों को न देखना और न ही स्पर्श करना, इसी प्रकार अश्लील वातावरण मे न रहना और इसके विपरीत मन वाणी और काय तथा इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखकर स्वाध्याय ध्यान समाधि के द्वारा आत्मचिंतन में लीनता ही ब्रह्मचर्य है। पूर्णतया ब्रह्मचर्य पालन करना ही 'मैथुन-विरमण' नामक चौथा महाव्रत है।

५. **परिग्रह-विरमण**—लोभ के वशीभूत होकर किसी भी वस्तु पर ममत्व का बढ़ते जाना ही परिग्रह है। परिग्रह के कारण ही जीव हिसा, झूठ, चोरी आदि सभी तरह के पापाचरण करने में तत्पर होता है, अत: परिग्रह ही समस्त पापाचरणो का मूल है। मनुष्य का जिस पर ममत्व है उस पर वह अपना अधिकार समझता है और उस अधिकार पर व्याघात होते ही हिंसा जाग उठती है। ममत्व का शक्ति से विस्तार न कर पाने की दशा मे ही तो चोरी की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। स्त्री पर अधिकार एव ममत्व ही वासना को उद्दीप्त कर काम-भोगो की ओर बढने को प्रेरित करता है और ममत्व के विस्तार के लिये जागृत छल-कपट ही असत्य भाषण की प्रवृत्ति को जन्म देता है। इस प्रकार पापाचरण का मूल परिग्रह ही माना जाता है। अत. सचित्त, अचित्त, मिश्र, आभ्यन्तर एवं

वाह्य सभी तरह के परिग्रह से मुक्त होना ही 'परिग्रह-विरमण' महाव्रत है। स्वयं परिग्रह न रखना, दूसरों को परिग्रह रखने के लिये प्रेरित न करना और परिग्रहशील के परिग्रह का अनुमोदन-समर्थन न करते हुए मन, वचन और काय से परिग्रह न रखने की प्रतिज्ञा को अपरिग्रह महाव्रत कहते हैं।

महाव्रत जीवन भर के लिए धारण किये जाते है। महाव्रतो मे किसी प्रकार की छूट, आगार या अपवाद नहीं होता। इन्हें धारण करनेवाला साधक जीवन भर के लिये धारण करता है और जीवन भर इनके रक्षण और पालन के लिये यत्नशील रहता है। पहले महाव्रत का सीधा सम्बन्ध छः जीव, निकाय से है, दूसरे महाव्रत का सम्वन्ध सव द्रव्यो से है, क्योकि सर्व द्रव्य और सर्व पर्याय को मानना ही दूसरा महाव्रत है। तीसरे महाव्रत का सम्वन्ध द्रव्यो के एक देश से है। रूप और रूप-सहगत पदार्थों से निवृत्ति पाना ही चौथा महाव्रत है। कामोत्तेजक चित्र, मूर्ति या अन्य किसी जड़ पदार्थ को "रूप" कहते है और अलकार सहित एवं अलकार-रहित चेतन को "रूप-सहगत" कहा जाता है। कामोद्दीपक रूप और रूप-सहगत से सर्वथा निवृत्ति पाना ही चौथे महाव्रत का विषय है। पांचवें महाव्रत का विषय सर्व-द्रव्य-निवृत्ति है। आत्म-स्वरूप के अतिरिक्त अन्य सभी रूपी या अरूपी द्रव्यो से मुक्त होना ही वस्तुतः अपरिग्रह है।

प्रत्येक महाव्रत की पाच-पांच भावनाएं होती हैं, जिनका विस्तृत वर्णन आचाराग, प्रश्नव्याकरण तथा समवायाग सूत्र मे मिलता है। ये महाव्रत आत्म-विकास के लिये ग्रहण किए जाते है। वास्तव में देखा जाए तो ये महाव्रत चारित्ररूपधर्म के सर्वस्व हैं।

साधक दो वर्गों में विभक्त है। पहला वर्ग उन साधकों का है जिनका जीवन वैराग्य के महा-पथ पर अग्रसर होकर शरीरयात्रा की भी चिन्ता न करते हुए आत्म-चिन्तन को ही प्रधानता देता है। ऐसे महापुरुष ही 'साधु' कहलाते हैं और ऐसा साधुवर्ग ही उपर्युक्त महाव्रतों का पालन कर सकता है।

दूसरे वर्ग के साधक वे है जो गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी आत्मोत्थान की तीव्र अभिलाषा रखते हैं। गृहस्थ जीवन में अहिंसा आदि व्रतो का पूर्णतः पालन नही किया जा सकता, परन्तु अहिंसा आदि व्रतो के विना साधक की साधना सफल नही हो सकती, अतः वह इन व्रतो का आशिक पालन करता है, कुछ मर्यादाओ के द्वारा इन्हे जीवन से अधिकाधिक सम्वद्ध करता है, उसके इसी प्रयास को 'अणुव्रत' कहा जाता है।

अणुव्रत :—

१. संसार के सभी जीवो को दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है—त्रस और स्थावर। चलते-फिरते सभी जीवों को त्रस कहते हैं, शेष जीवों को स्थावर कहा जाता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवो को त्रस और पृथिवी, अप्, तेज, वायु और वनस्पतिकायिक जीवों को स्थावर कहते हैं। निरपराधी चलने फिरने वाले त्रस प्राणी की हिंसा करने का त्याग करना। जान-बूझ कर मारने की इच्छा से किसी छोटे-बड़े प्राणी को न मारना, स्थावरो की मर्यादा करना, किसी को अनुचित दंड न देना, क्रोध और लोभ के वशीभूत होकर किसी प्राणी को पीड़ित न करना इस प्रकार से की जानेवाली प्रतिज्ञा को 'स्थूल-प्राणातिपात-विरमण' अणुव्रत कहते हैं।

२ जो असत्य अपने और दूसरों के लिये हनिकारक हो, जिसे दूसरे शब्दों में 'स्थूलमृषावाद' भी कहते है, जैसे कि कन्या के निमित्त मे, पशुओं के निमित्त से, भूमि के निमित्त से, धरोहर के निमित्त से भूठ वोलना, भूठी गवाही देना, विना विचारे बोलना, किसी की गुप्त वात को प्रकाशित करना, जाली सिक्के तैयार करना, भूठा दस्तावेज वनाना, भूठे वोलने का उपदेश देना आदि समस्त क्रियाएं स्थूल मृपावाद है, अतः स्थूल मृषावाद का परित्याग करना दूसरा अणुव्रत है जिसको 'स्थूल-मृषावाद-विरमण-व्रत' भी कहते हैं।

३. विना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना अदत्त-आदान है। किसो के ताले में कुंजी लगाकर खोलना, सेंध लगाना, मार्ग में किसी को लूटना, किसी की गांठ कतरना, डाका मारना, चोर की चुराई हुई वस्तु लेना, चोर को सहयोग देना, राज्य-विरुद्ध कार्य करना, कम तोलना, कम मापना, असली वस्तु मे नकली वस्तु मिलाना, नकलो वस्तु में असली वस्तु मिलाना, ये चोरो के ही स्थूल रूप है, इनका परित्याग ही तोसरा अणुव्रत है, जिसे 'स्थूल-अदत्तादान-विरमणव्रत' कहा जाता है।

४. विवाहित पति एव पत्नी तक ही अपनी वासनाओ को मर्यादित रखना एवं अधिकाधिक संयम का ध्यान रखना चौथा अणुव्रत है। कुलटा स्त्रियों और दुराचारियों की सगति का परित्याग करना, नीति विरुद्ध एवं प्रकृति-विरुद्ध सगति से दूर रहना, कामवर्द्धक खेल तमाशे देखना, काम वासना को वढाने के लिये दवाओं का प्रयोग करना, किसो को कुदृष्टि से देखना दुराचार है। उपर्युक्त क्रियाओ से स्वदार संतोषित या स्वभर्त्ता संतोषित व्रत दूषित हो जाता है। जैसे स्त्री का धर्म पतिव्रत है वैसे ही पुरुष का धर्म पत्नीव्रत है। जिसके साथ विवाह संवंध जुड़ा है उसके अतिरिक्त सभी के साथ भाई-वहिनों जैसा व्यवहार करने पर ही इस व्रत का पालन हो सकता है।

इस व्रत के उपासक पति-पत्नी के लिये यह भी स्मरणीय एवं आचरणीय है कि वे परस्पर प्रेम का व्यवहार करे, परन्तु अत्यासक्ति का परित्याग करे। अत्यासक्ति 'स्वदार-सन्तोषव्रत' को विकृत एवं दूषित कर देती है।

५. मर्यादित रीति-नीति से आवश्यकता की पूर्ति करना ही 'स्थूल परिग्रह-परिमाणव्रत' कहलाता है। आगमों में इस व्रत को "इच्छापरिमाणव्रत" नाम भी दिया है। इच्छाएं आकाश की तरह अनन्त है, **इच्छा हु आगास समा अणंतिया**। इच्छाओं की पूर्ति के लिये मनुष्य लाखो प्रयत्न करता है फिर भी वे पूरी नही हो पाती, वे सर्वदा अधूरी ही रहती हैं। इच्छाओ पर नियत्रण करने से हो आत्मा समाधिस्थ हो सकता है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि इच्छाओं का दमन जीवन के लिये हानिकारक होता है, क्योंकि दमित वासनाए सामान्य से सस्कार पाते ही ऐसे उभर आती है, जैसे वर्षा पड़ते ही धरती मे दवे वनस्पतियो के अंकुर फूट पड़ते है, अतः इच्छाओं का रोकना हानिकारक भी है और अशक्य भी। इसलिये इच्छाओ का मार्ग वदल देना चाहिए उन्हे तप, त्याग, मैत्री, करुणा, सहानुभूति, प्रेम स्वाध्याय आदि की ओर मोड़ देना चाहिए। इस प्रकार इच्छाओ का दमन नही, उन पर नियन्त्रण होना चाहिए। उपार्जित द्रव्य को यथाशक्य दान मे लगाना भी इस व्रत का एक अंग है। इच्छाओं को सीमित एव नियन्त्रित करना ही 'इच्छा-परिमाणव्रत' है।

इन पाच अणुव्रतो का पालन करना गृहस्थों के लिये आवश्यक है। इन के पालन से ही व्यक्ति

आदर्श गृहस्थ बन सकता है। आदर्श गृहस्थ ही श्रमणोपासक या भगवान का भक्त बन पाता है। इन पांच अणुव्रतों को "मूलगुण" भी कहते हैं। मूलगुणों से ही आत्मा का विकास होता है। अणुव्रतों का आराधक जीव उत्कृष्ट बारहवें देवलोक में उत्पन्न हो सकता है फिर भले ही वह गृहस्थ पुरुष हो या स्त्री। जिसकी जीवनचर्या दैवी भावनाओं के ओत-प्रोत है वही देवत्व को प्राप्त करता है, अन्य नही।

काम-गुण और आसक्ति आदि के स्थान

मूल——पंच वन्ना पण्णत्ता, तं जहा—किण्हा, नीला, लोहिया, हालिद्दा, सुक्किला।

पंचरसा पण्णत्ता, तं जहा—तित्ता जाव महुरा।

पंच कामगुणा पण्णत्ता, तं जहा—सद्दा, रूवा, गंधा, रसा फासा।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा सज्जंति, तं जहा—सद्देहिं जाव फासेहिं। एवं रज्जंति, मुच्छंति, गिज्झंति, अज्झोववज्जंति।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा विणिघायमावज़्जंति, तं जहा—सद्देहिं जाव फासेहिं। पंच ठाणा अपरिण्णाया जीवाणं अहियाए, असुभाए, अखेमाए, अणिस्सेयसाए, अणाणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—सद्दा जाव फासा।

पंच ठाणा सुपरिण्णाया जीवाणं हियाए, सुहाए जाव अणाणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—सद्दा जाव फासा।

पंच ठाणा अपरिण्णाया जीवाणं दुग्गइगमणाए भवंति, तं जहा—सद्दा जाव फासा।

पंच ठाणा परिण्णाया जीवाणं सुग्गइगमणयाए भवंति, तं जहा—सद्दा जाव फासा।२।

छाया—पञ्च वर्णाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृष्णाः, नीलाः, लोहिताः, हारिद्राः, शुक्लाः।

पञ्च रसाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—तिक्तः, यावत् मधुरः।

पञ्च कामगुणाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शब्दाः, रूपाणि, गन्धाः, रसाः, स्पर्शाः।

पञ्चसु स्थानेषु जीवाः सज्यन्ते, तद्यथा—शब्देषु यावत् स्पर्शेषु। एवं रज्यन्ते, मूर्च्छन्ति, गृद्ध्यन्ति, अध्युपपद्यन्ते।

पञ्चभिः स्थानैर्जीवा विनिघातमापद्यन्ते, तद्यथा—शब्दैर्यावत् स्पर्शैः।

पञ्च स्थानानि अपरिज्ञातानि जीवानामहिताय, अशुभाय, अक्षमाय, अनिःश्रेयसाय, अननुगामिकतायै भवन्ति, तद्यथा—शब्दा यावत् स्पर्शाः।

पञ्च स्थानानि सुपरिज्ञातानि जीवानां हिताय, शुभाय यावद् आनुगामिकतायै भवन्ति, तद्यथा—शब्दा : यावत् स्पर्शाः।

पञ्च स्थानानि अपरिज्ञातानि जीवानां दुर्गतिगमनाय भवन्ति, तद्यथा—शब्दा यावत् स्पर्शाः।

पञ्च स्थानानि परिज्ञातानि जीवानां सद्गतिगमनाय भवन्ति, तद्यथा—शब्दा : यावत् स्पर्शाः।

मूलार्थ—पाच वर्ण कथन किये गए है, जैसे—कृष्ण, नील, लोहित, पीत, शुक्ल।

पाच रस है, जैसे—तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल, मधुर।

पांच कामगुण है जसे कि—शब्द, रूप, गन्ध, रस, और स्पर्श। इसो प्रकार पांच कारणों से जीव आसक्त होते है, अनुरक्त होते है, मूर्छित होते है, गृद्ध होते है, अतीव संसक्त होते हैं, जैसे—शब्दों में यावत् स्पर्शो में।

पांच कारणों से जोव विनाश को प्राप्त होते हैं, जैसे—शब्दों से यावत् स्पर्शो से।

पांच स्थान यदि अपरिज्ञात हों तो जीवों को अहित, अशुभ, अनौचित्य, अकल्याण एवं परलोक में अननुगामिकता (साथ में न जाना) के लिये होते है, जैसे—शब्द यावत् स्पर्श।

पांच स्थान यदि सुपरिज्ञात हों, तो जीवों को हित, शुभ यावत् परलोक में अनुगामिकता (साथ में जाना) के लिये होते है—शब्द यावत् स्पर्श।

पांच स्थान यदि अपरिज्ञात हों तो जीवों को दुर्गति में ले जानेवाले होते हैं, जैसे—शब्द यावत् स्पर्श।

पाच स्थान यदि सुपरिज्ञात हों तो जीवो को सुगति में ले जाने के लिये होते है, जैसे—शब्द यावत् स्पर्श।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे अन्तिम प्रतिपाद्य है "इच्छा-परिमाण' और इच्छा-परिमाण भौतिक पदार्थों का ही होता है। भौतिक पदार्थ सभी रूप और रसवाले है, अतः इस सूत्र में क्रम प्राप्त वर्ण आदि तेरह विषयों का दिग्दर्शन कराया गया है। वर्ण यद्यपि अनेक अर्थों का द्योतक है, जैसे कि ब्राह्मण क्षत्रिय आदि समाज के चार भागों को वर्ण कहा जाता है, अकार आदि अक्षरों को भी "वर्ण" कहते हैं, जैसे कि "वर्ण-माला"। इसी प्रकार गुण, यश, कीर्ति और स्तुति आदि अर्थों में भी "वर्ण" शब्द प्रयुक्त होता है,

परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में रूप शब्द रंग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। काला, नीला, लाल, पीला, धवल आदि रंगों का समावेश वर्ण मे होता है और वर्ण चक्षु का विषय है। अजन काला होता है, वैडूर्यमणि नीली होती है, लालमणि लाल, सुवर्ण पीला, अर्जुन रत्न एवं रजत आदि सफेद होते है, इन्ही के सम्मिश्रण से अन्य अनेक रंग उत्पन्न होते हैं, अतः कपिश हरित आदि अन्य वर्णो का समावेश उक्त पाच मे ही हो जाता है।

रस पद भी अनेक अर्थो का द्योतक है, जैसे कि जल, तरल पदार्थ, फलो से प्राप्त द्रव पदार्थ, काव्य के नौ रस, आनन्द की अनुभूति इत्यादि। किन्तु यहा रस का तात्पय रसनेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य विषय ही है। जिह्वा जिस रस। को ग्रहण करती है उसे रस कहते है, वह पांच प्रकार का होता है, जैसे कि तिक्त, सोंठ, मिर्च आदि का रस। कटु जैसे अफीम, हरड, कड़वे तूबे का आदि रस। कसैला जसे कच्चे रतालू, कचालू आदि का रस। खट्टा जैसे नीवू, फटकडी आदि का रस। मधुर मिश्री खाड आदि का रस। शेष सभी रसों का अन्तर्भाव उक्त पांच में ही हो जाता है।

काम-गुण—

जो पौद्गलिक गुण वासनात्मक भावों को जगानेवाले है, उन्हे काम-गुण कहते है, वे संख्या में पाच ही हैं। उपर्युक्त शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन्हे काम-गुण भी कहते हैं। वृत्तिकार भी लिखते हैं—

कामस्य मदनाभिलाषस्य अभिलाषमात्रस्य वा संपादका गुणा—धर्माः पुद्गलानां, काम्यन्त इति कामाः, ते च ते गुणाश्चेति वा कामगुणा इति।

अर्थात् पुद्गल-जन्य वासनात्मक गुणो की प्राप्ति के लिये कामना करना ही वस्तुतः काम-गुण है। इन काम गुणो मे ससारी जीव आसक्त हो रहे हैं, इनके प्रति प्राणी मात्र की स्वाभाविक अनुरक्ति है, अतः उन्ही को प्राप्ति को वे जीवन-लक्ष्य मान बैठे हैं, अत वे प्राप्त भोगो से कभी सन्तुष्ट नही होते। इसके विपरीत वे उनकी उत्तरोत्तर अधिकाधिक कामना करते है और इन्ही के वशीभूत होकर अपने प्राणो की आहुति भी दे डालते हैं। कहा भी है—

रक्तः शब्दे हरिणः, स्पर्शे नागो, रसे च वारिचरः।
कृपण. पतंगो रूपे, भुजगो गन्धे ननु विनष्टः॥
पञ्चसु रक्ताः पञ्च विनष्टा· यत्रागृहीतपरमार्थाः।
एकः पञ्चसु रक्तः प्रयाति भस्मान्तता मूढ ॥

अर्थात् शब्द मे आसक्त होकर हरिण प्राणो को गवाता है, स्पर्श मे अनुरक्त होकर हाथी, रस के वशीभूत होकर मछली आदि जलचर जीव, रूप मे आसक्त होकर पतगे, गध मे अनुरक्त होकर सर्प प्राणो को गवा देता है। एक एक इन्द्रिय के वशीभूत हुए ये प्राणी जब मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। फिर पांचों गुणो मे एक साथ आसक्त होनेवाला मानव विषयासक्ति की आग मे जल कर राख न होगा तो क्या होगा ? अतः जिसने इनके स्वरूप को परमार्थ रूप से नही जाना और प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रत्याख्यान नही किया, उसके लिये उक्त पाच गुण अहितकर, दुखप्रद-अशुभकर, हानिकर, अकल्याणकर तथा भवान्तर में भी सुखप्रद नही हैं, किन्तु जिसने इन गुणो को भली-भाति जान लिया है और उन्हे त्याग दिया है, उसके लिये शब्द आदि पाच गुण हितकर, सुखकर, सामर्थ्यकर, लाभदायक, निःश्रेयसकर

एव परभव में भी शुभानुवधी हो जाते हैं।

जिस के मन में भोग-विलासो की पुष्टि करनेवाले शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श इन पांच कामगुणों पर आसक्ति है तथा जो इनके वशीभूत हो रहा है जिसने ज्ञ-परिज्ञा से इन्हे जाना नही और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्यागा नही उसके लिये ये पाच काम-गुण दुर्गति के कारण वन जाते है और जिसने इन्हे जाना समझा और इनका त्याग किया है उसके लिये ये पाच गुग सुगति के कारण वन जाते है। जैसे एक मनुष्य वासनोत्तेजक शब्द सुन रहा है और दूसरा जिनवाणी या सतवाणी सुन रहा है, एक कामराग वढानेवाले व्यक्ति को देखता है और दूसरा आत्मार्थी मुनिराज के दर्शन करता है, एक काम-शास्त्र पढता है और दूसरा धर्मशास्त्र पढता है। एक वेश्या के चरणो का स्पर्श करता है और दूसरा सतो के चरणों पर झुकता है। इनमे पहला कर्मो का बन्ध करता है तो दूसरा कर्मो की निर्जरा करता है इसी कारण यह कहा गया है कि जो कामगुणों मे आसक्त है वह दुर्गति मे और जो अनासक्त है वह सुगति मे गमन करता है। गुणो की कामना करने से जीव कर्मो का वन्ध करता है, उनसे विमुख होकर जीव वन्धन से मुक्त होता है, अत. काम-गुणों से विमुख होना और आत्म-गुणों की ओर अग्रसर होना ही साधना है, इस साधन के द्वारा ही जीव कृत-कृत्य हो सकता है।

दुर्गति और सुगति में जाने के कारण

मूल—**पंचहिं ठाणेहिं जीवा दोग्गइं गच्छंति, तं जहा—पाणाइवाएणं जाव परिग्गहेणं।**

पंचहिं ठाणेहिं जीवा सोगइं गच्छंति, तं जहा—पाणाइवायवेरमणेणं जाव परिग्गहवेरमणेणं।३।

छाया—**पञ्चभिः स्थानैर्जीवा दुर्गतिं गच्छन्ति, तद्यथा—प्राणातिपातेन यावत् परिग्रहेण। पञ्चभिः स्थानैर्जीवा सुगतिं गच्छन्ति, तद्यथा—प्राणातिपातविरमणेन यावत् परिग्रह-विरमणेन।**

शब्दार्थ—**पंचहिं ठाणेहिं**—पांच कारणों से; **जीवा**—जोवात्मा, **दोग्गइं गच्छंति, तं जहा**—दुर्गति को जाते हैं, जैसे; **पाणाइवाएणं**—प्राणातिपात से, **जाव**—यावत्; **परिग्गहेणं**—परिग्रह से।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा—पांच कारणों से जोव; **सोग्गइं गच्छंति, तं जहा**—सुगति को प्राप्त करते है, जैसे, **पाणाइवायवेरमणेणं**—प्राणातिपातविरमण से; **जाव**—यावत्; **परिग्गहवेरमणेणं**—परिग्रह विरमण से।

मूलार्थ—पांच कारणों से जीव दुर्गति में जाते हैं, जैसे—प्राणातिपात से, मृषावाद से, अदत्तादान से, मैथुन से और परिग्रह से।

पांच कारणों से जीव सुगति में जाते हैं, जैसे कि प्राणातिपात-विरमण से—

जीव-हिंसा की विरति से और परिग्रह-विरमण आदि से ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में इन्द्रिय-विषय शब्द-स्पर्श आदि से ज्ञान-पूर्वक निवृत्ति होने पर मुक्ति और उन्ही में आसक्ति पूर्वक विलीन होने पर दुर्गति का वणन किया गया है, प्रस्तुत सूत्र में पुनः उसी विषय का दूसरे रूप में वर्णन किया जा रहा है—

पांच कारणों से जीव नरक आदि दुर्गति को प्राप्त करते है जैसे कि सकल्पी हिंसा करने से, संकल्पी हिंसा कराने से और संकल्पी हिंसा का अनुमोदन एवं समर्थन करने से, छल-प्रपञ्च की भावना से झूठ बोलने की प्रेरणा देने पर और झूठ बोलनेवाले का समर्थन करने पर, प्रमत्त योग से चोरो करने पर, चोरी करवाने पर और चोरी करनेवाले का समर्थन—अनुमोदन करने पर, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन आदि दुराचारमय कर्मो से भी जीव दुर्गति को प्राप्त करता हैं। परिग्रह अर्थात् अत्यासक्ति से भी जीव को दुर्गति की प्राप्ति होती है।

पांच कारणों से जीव सुगति स्वर्गादि लोकों एव शुभ कुलों में जन्म लेता है, जैसे कि अहिंसा, क्षमा, मैत्री, एवं दया पालने से, सत्य बोलने से, चोरी न करने मे एव सदाचार का पालन करने से और संतोष धारण करने से अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह के त्याग करने से सुगति की प्राप्ति होती है।

यहां सुगति से अभिप्राय अभ्युदय और निःश्रेयस-सिद्धि है। सुगति सभी जीव चाहते है, अतः उस की प्राप्ति के लिये उक्त पांच कारणो का आचरण आवश्यकीय हो जाता है। साराश यह है कि शुभकारणों से सुगति और अशुभ कारणों से दुर्गति प्राप्त होती है।

प्रतिमा-भेद

मूल—पंच पडिमाओ पणत्ताओ, तं जहा—भद्दा, सुभद्दा, महाभद्दा, सव्वओभद्दा, भद्दुत्तरपडिमा ।४।

छाया—पञ्च प्रतिमाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भद्रा, सुभद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा, भद्रोत्तरप्रतिमा।

शब्दार्थ—पंच पडिमाओ पणताओ तं जहा—पाच प्रतिमाए कथन की गई है जैसे, भद्दा—भद्रा; सुभद्दा—सुभद्रा, महाभद्दा—महाभद्रा; सव्वओभद्दा—सर्वतोभद्रा और; भद्दुत्तरपडिमा—भद्रोत्तर प्रतिमा।

मूलार्थ—पांच प्रतिमाये प्रतिपादित को गई है, जैसे भद्रा, सुभद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा और भद्रोत्तर प्रतिमा।

विवेचनिका—

शब्द स्पर्शादि विषयो मे आसक्ति ही दुर्गति- का कारण है, परन्तु जीवन-व्यवहार मे इनका परित्याग कैसे किया जा सकता है? साधक जीवन का यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न के समाधान

के रूप में शास्त्रकार भद्रा आदि प्रतिमाओं के आचरण के रूप में उस तप-विधि का वर्णन करते हैं जिसके द्वारा इन पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

तप से संचित कर्मो का भस्मीकरण होता है। तप करने का विधि-विधान साधक की शक्ति श्रद्धा एवं अभिरुचि पर निर्भर होता है। समुन्नत भावनाओं का वेग जितना महान होता है, कठिन साधना भी साधक के लिये उतनी सुगम बन जाती है। यद्यपि भद्रा, सुभद्रा, महाभद्रा और सर्वतोभद्रा इन चार प्रतिमाओ का विशद वर्णन चतुर्थ स्थान में किया जा चुका है, फिर भी विषय की स्पष्टता के लिये यहा पुनः उस विषय का विवेचन किया जा रहा है।

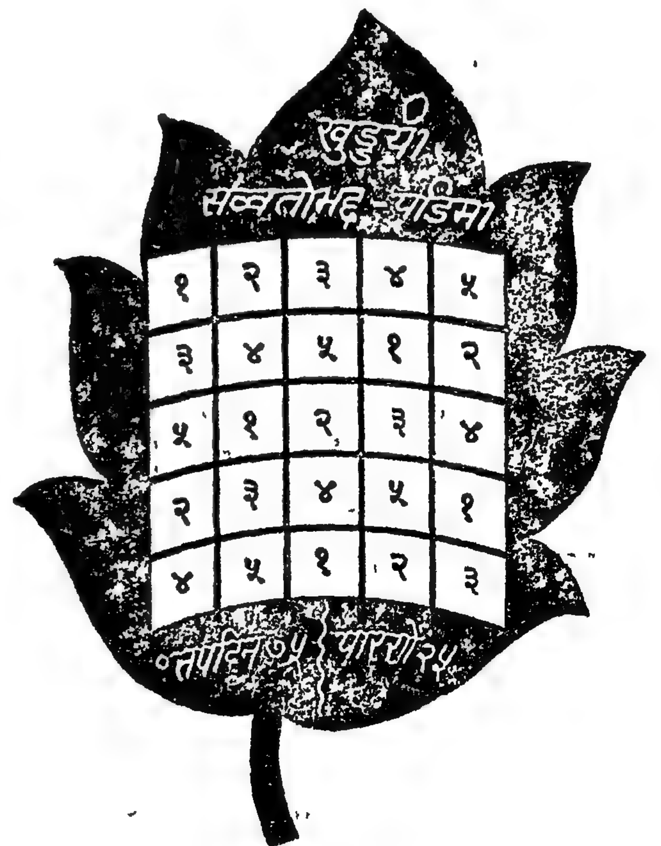
चार दिशाओ में चार-चार पहर तक कायोत्सर्ग करना भद्रा प्रतिमा मानी जाती है। इस अनुष्ठान में दो दिन लगते हैं।

चार दिशाओ में एक-एक अहोरात्र कायोत्सर्ग करना, महाभद्रा प्रतिमा की साधना का स्वरूप है। इस प्रक्रिया में चार दिन लगते हैं।

दस दिशाओं मे एक-एक अहोरात्र कायोत्सर्ग करना सर्वतोभद्रा है, इसकी साधना में दस दिन लगते है। सुभद्रा के विषय में वृत्तिकार का कहना है "सुभद्रा त्वदृष्टत्वान्न लिखिता"—अर्थात् सुभद्रा का स्वरूप कही देखने में नही आया, इस कारण नही लिखा गया। प्रकारान्तर से इनका विवरण निम्न लिखित है—

क्षुल्लिका सर्वतोभद्रा

सर्वतोभद्रा प्रतिमा दो प्रकार की होती है, क्षुल्लिका सर्वतोभद्रा और महती सर्वतोभद्रा। इनमें से पहली प्रतिमा को दूसरे शब्दों में सुभद्रा प्रतिमा एव खुड्डुयासव्वतोभद्द-पडिमा भी कहते हैं। सुभद्रा प्रतिमा का स्थापना-यन्त्र सामने प्रदर्शित किया गया है।



उपवास, वेला, तेला, चौला, पंचौला। अन्य कोष्ठकों में जिस क्रम से अक दिए गए है उसी क्रम से सभी कोष्ठकों को तपस्या से पूरा करना होता है। इसका स्वरूप अन्तगड-सूत्र के आठवे वर्ग मे वर्णित है। इसको पूरा करने में सौ-१०० दिन लगते है उनमे ७५ दिन तपस्या मे और २५ दिन पारणे मे लगते है। इस तप को स्थापना के विपय मे एक गाथा भी वर्णित है।

एगाई पंचंते ठवेउं मज्झं तु आइ मणुपंति।
उचियक्कमेण य सेसे जाण लहुं सव्वओभद्दं॥



महती भद्रा प्रतिमा

महती भद्रा-प्रतिमा एक उपवास से लेकर सात उपवास—सतौला पर्यंत को जाती है। वह १९६वें दिनो में समाप्त होती है। इस प्रतिमा के पारणे के दिन ४९ होते है शेष सव तपस्या में व्यतीत होते हैं। इस प्रतिमा को ही 'महालिया सव्वतोभद्द-पडिमा' भी कहते है। इसका स्थापना-यन्त्र बाईं ओर प्रदर्शित किया गया है। इसके विषय मे एक गाथा मे कहा गया है—

एगाई सत्तंते ठविउं मज्भं च आइमणुयंति।
उचियकमेण य सेसे जाण महेसव्वओभद्दं॥

भद्दुत्तरा-पडिमा

भद्रोत्तरा-प्रतिमा भी दो प्रकार से वर्णित की गई है क्षुल्लिका और महती। पाच उपवास से लेकर नौ उपवास पर्यन्त जिस में किए जाते है वह क्षुल्लिका भद्रोत्तर-प्रतिमा कहलाती है। उसमें उपवास के कुल १७५ दिन होते है और पारणे के दिन २५ होते हैं। दो सौ दिनो में यह अनुष्ठान पूर्ण होता है। इसके विषय में कहा गया है :—

पंचाई य नवंते ठविउं मज्भं तु आदिमणुयंति।
उचियकसेण य सेसे जाणह भद्दोत्तरं खुड्डं॥

क्षुल्लिका भद्रोत्तरा-प्रतिमा का स्थापना-यन्त्र सामने प्रदर्शित किया गया है।



५	६	७	८	९	१०	११
८	९	१०	११	५	६	७
११	५	६	७	८	९	१०
७	८	९	१०	११	५	६
१०	११	५	६	७	८	९
६	७	८	९	१०	११	५
९	१०	११	५	६	७	८

महती भद्रोत्तरा प्रतिमा

महती भद्रोत्तरा-प्रतिमा पांच उपवास से लेकर ११ उपवास पर्यन्त की जाती है। तपस्या के दिन ३९२ होने है और पारणे के ४९ दिन होते है। महती तु द्वादशादिना चतुर्विशतितमान्तेन द्विनवत्यधिकदिन-शतत्रयमानेन तपसा भवति तत्र च गाथा—

पंचादिगारसंते ठविउं मज्झं तु आइमणुयंति।
उचिय कमेण य सेसे महई—भद्दोत्तरं जाण॥

महती भद्रोत्तरा-प्रतिमा का स्थापना-यन्त्र बाईं ओर प्रदर्शित किया गया है।

अंको के अनुसार निर्जल उपवास करना, अथवा जल के अतिरिक्त तिविहारी उपवास करने का भी इसमें विधान है, किन्तु शक्ति न्यून होने से इन्हें आयबिल एकलट्ठाण एवं एकासनों से भी सम्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार से की हुई तपस्या से कर्मों की निर्जरा होनी स्वाभाविक है।

स्थावरकाय-भेद

मूल—**पंच थावरकाया पण्णत्ता, तं जहा—इंदे थावरकाए, बंभे थावरकाए, सिप्पे थावरकाए, संमई थावरकाए, पाजावच्चे थावरकाए।**

पञ्च थावरकायाहिवई, पण्णत्ता, तं जहा—इंदे थावरकायाहिवई जाव पाजावच्चे थावरकायाहिवई।५।

छाया—पञ्च स्थावरकायाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—इन्द्र स्थावरकायः, ब्रह्मा स्थावरकायः, शिल्पः स्थावरकायः, सम्मतिः स्थावरकायः, प्रजापतिः स्थावरकायः।

पञ्च स्थावरकायाधिपतय प्रज्ञप्तास्तद्यथा—इन्द्रः स्थावरकायाधिपतिर्यावत् प्रजापति. स्थावरकायाधिपतिः।

शब्दार्थ—**पंच थावरकाया पण्णत्ता, तं जहा**—पांच स्थावरकाय कथन किए गए है, जैसे; **इंदे थावरकाए**—इन्द्र स्थावरकाय—पृथिवी; **बंभे थावरकाए**—ब्रह्म स्थावरकाय—जल; **सिप्पे थावरकाए**—शिल्प स्थावरकाय—अग्नि; **संमई थावरकाए**—सम्मति स्थावरकाय—वायु; **पाजावच्चे थावरकाए**—प्रजापति स्थावर काय—वनस्पति।
पंच थावरकायाहिवई पण्णत्ता तं जहा—पाच स्थावरकाय के अधिपति कथन किये

गए है, जैसे; **इंदे थावरकायाहिवई**—इन्द्र स्थावरकाय का अधिपति है; **जाव**—यावत्; **पाजावच्चे थावरकायाहिवई**—प्रजापति स्थावरकाय का अधिपति है।

मूलार्थ—पांच स्थावरकाय है, जैसे–इन्द्र स्थावरकाय, ब्रह्म स्थावरकाय, शिल्प स्थावरकाय, सम्मति स्थावरकाय और प्रजापति स्थावरकाय।

पांच स्थावरकायो के अधिपति कथन किये गए है, जैसे–पृथ्वी स्थावरकाय का अधिपति इन्द्रदेव है, जलस्थावरकाय का अधिपति ब्रह्म है, अग्नि स्थावरकाय का अधिपति शिल्प है, वायु स्थावरकाय का अधिपति समति है, वनस्पति स्थावरकाय का अधिपति प्रजापति देव है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में तपस्या का वर्णन किया गया है, तपस्या के द्वारा स्थावरकाय आदि योनियों में जन्म लेने से जीव वच जाता है, अत. अव सूत्रकार स्थावरकायों और उनके अधिपतियो का परिचय देते है—पृथिवी का ही दूसरा नाम है इन्द्र, इसी प्रकार अप्काय का नाम ब्रह्म है, तेजस्काय अर्थात् अग्नि का नाम शिल्प है, वायुकाय का सम्मति, और वनस्पतिकाय का नाम प्रजापति है।

पृथिवी का अधिपति इद्र है, अप् का अधिपति ब्रह्म है, तेजस्काय का अधिपति शिल्प है, वायुकाय का अधिपति सम्मति है और वनस्पतिकाय का अधिपति प्रजापति है।

संस्कृत में इन्द्र का अर्थ—"आकर्षण-विकर्षण शक्ति" भी है, पृथिवी में गुरुत्वाकर्षण प्रसिद्ध है, अतः पृथिवी का अधिपति इन्द्र अथवा पृथिवी का नाम 'इन्द्र' स्वाभाविक है। वैदिक साहित्य में 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' प्राप्त होता है, अतः '**ब्रह्माक्षर समुद्भवम्**'—ब्रह्म अक्षरो से उत्पन्न होता है यह कहा जाता है। जल के बिना ज्ञानचेतना का कार्यशील होना असम्भव है, अतः जल का अधिपति ब्रह्म को स्वीकार किया गया है। अग्नि का आधिपति 'शिल्प' कहा गया है, शिल्प तो एक कला है, सौन्दर्य-विधान की विद्या है, अतः उसका 'आधिपत्य' बुद्धि को अपील नही करता है, यह भी कहनेवाले कह सकते है, परन्तु यहां शिल्प का अभिप्राय है कि कोई भी शिल्प तेजस्काय के विना पूर्णता प्राप्त नही कर सकता, अतः तेजस्काय ही शिल्प है, उसकी शिल्पमयता की ओर ही यहा सकेत किया गया है। वायु का अधिपति 'सम्मति' बताया गया है, जिसका अभिप्राय यह हो सकता है कि प्राण, अपान, व्यान, समान उदान आदि विविध रूपो में पारस्परिक सम्मति अर्थात् सहयोग से जीवन का विधायक होने से वायु पर सम्मति का आधिपत्य है। प्रजापति शब्द सूर्य, चन्द्र और ब्रह्म नामक देवता का वाचक है। यहां प्रकरणानुकूल उसका अर्थ चन्द्र उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योकि सम्पूर्ण वनस्पतियो का अधिपति 'चन्द्र' वैदिक परम्परा और आयुर्वेद में प्रसिद्ध है। नवीन विज्ञान भी वनस्पतियो और चन्द्र का घनिष्ट सम्वन्ध स्वीकार करता है, अतः वनस्पतियों का अधिपति प्रजापति भी सर्वथा उपयुक्त ही प्रतीत होता है।

जिस प्रकार दिशाओं के नाम इंद्र अग्नि आदि आगमों में मिलते हैं। जिस प्रकार नक्षत्रों के अधिपति देवों के नाम आगमों में निर्दिष्ट है, उसी प्रकार स्थावरकाय के अधिपतियों के नामों का भी

यहां निर्देश किया गया है। सूक्ष्म रूप से पांच स्थावर सर्व लोक में व्याप्त हैं। वनस्पतिकाय को छोड़कर शेष चार स्थावर असंख्यात जोवों के समूह रूप है, किन्तु वनस्पतिकाय में निगोद या साधारण वनस्पति अनंत जीवों का समूह रूप होता है। इस विषय का विस्तृत वर्णन जीवाभिगम आदि आगमों में प्राप्त होता है।

अवधि-दर्शन के संक्षोभ के कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं ओहिदंसणे समुप्पज्जिउकामेवि तप्पढमयाए खंभाएज्जा, तं जहा–अप्पभूयं वा पुढवि पासित्ता तप्पढमयाए खंभाएज्जा। कुंथुरासिभूयं वा पुढवि पासित्ता तप्पढमयाए खंभाएज्जा। महइमहालयं वा महोरगसरीरं पासित्ता तप्पढमयाए खंभाएज्जा। देवं वा महड्ढियं जाव महेसक्खं पासित्ता तप्पढमयाए खंभाएज्जा। पुरेसु वा पोराणाइं महइमहालयाइं महानिहाणाइं पहीणसामियाइं, पहीणसेउयाइं, पहीणगुत्तागाराइं, उच्छिन्नसामियाइं, उच्छिन्नसेउयाइं, उच्छिन्नगुत्तागाराइं जाइं इमाइं गामागर-णगरखेड-कव्वट-मडंब-दोणमुह-पट्टणासम-संवाह-सन्निवेसेसु सिंघाडगतिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापहपहेसु णगर-णिद्धमणेसु सुसाण-सुन्नागार-गिरिकंदर-संतिसेलोवट्ठाणभवणगिहेसु संनिक्खित्ताइं चिट्ठंति, ताइं वा पासित्ता तप्पढमयाए खंभाएज्जा।

इच्चेहिं पंचहिं ठाणेहिं ओहिदंसणे समुप्पज्जिउकामे तप्पढमयाए खंभाएज्जा।६।

छाया—पञ्चभि: स्थानैरवधिदर्शनं समुत्पत्तुकाममपि तत्प्रथमतया स्कभ्नीयात्, तद्यथा—अल्पभूतां वा पृथिवीं दृष्ट्वा तत्प्रथमतया स्कभ्नीयात्, कुन्थुराशिभूतां वा पृथिवीं दृष्ट्वा तत्प्रथमतया स्कभ्नीयात्, महातिमहत् महोरगशरीरं दृष्ट्वा तत्प्रथमतया स्कभ्नीयात्, देवं वा महर्द्धिकं यावत् महासौख्यं दृष्ट्वा तत्प्रथमतया स्कभ्नीयात्, पुरेषु वा पुराणानि महातिमहान्ति महानिधानानि प्रहीणस्वामिकानि, प्रहीणसेतुकानि, प्रहीणगोत्राकाराणि, उच्छिन्नस्वामिकानि, उच्छिन्न-सेतुकानि, उच्छिन्न-गोत्राकाराणि, यानि इमानि ग्रामाकर-नगर-खेट-कर्वट-मडम्ब-द्रोणमुख-पत्तनाश्रम-संवाह-सन्निवेशेषु, शृङ्गाटक-त्रिक-चतुष्क-चत्वर-चतुर्मुख महापथपथेषु, नगर-निर्द्धमनेषु, श्मशान-शून्यागार-गिरिकन्दर-शान्ति-शैलोपस्थान-भवनगृहेषु, सन्निक्षिप्तानि तिष्ठन्ति तानि वा दृष्ट्वा तत्प्रथमतया स्कभ्नीयात्।

इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैरवधिदर्शनं समुत्पत्तुकाममपि तत्प्रथमतया स्कम्नीयात् ।

शब्दार्थ—**पंचहिं ठाणेहिं**—पांच कारणों से; **ओहिदंसणे समुप्पज्जिउकामेवि**—अवधि-दर्शन पैदा होने की इच्छा रखते हुए भी, अर्थात् अवधि-दर्शन के उत्पन्न होते ही, **तप्पढमयाए**—प्रथम समय में ही; **खंभाएज्जा**—विचलित हो जाता है; **तं जहा**—जैसे कि **अप्पभूयं वा पुढविं**—विशाल पृथ्वी की कल्पना रखनेवाले का अल्प पृथ्वी को; **पासित्ता**—देखकर; **तप्पढमयाए खंभाएज्जा**—प्रथम समय में ही विचलित हो जाता है। **कुंथुरासिभूयं व पुढविं पासित्ता**—कुन्थु राशि से व्याप्त पृथ्वी को देखकर; **तप्पढमयाए खंभाएज्जा**—प्रथम समय में ही विचलित हो जाता है । **महइमहालयं वा महोरगसरीरं पासित्ता**—अतीव महान् महोरग जाति के सर्प का शरीर देखकर, **तप्पढमयाए खंभाएज्जा**—प्रथम समय में ही विचलित हो जाता है; **देवं वा महिड्ढियं जाव महेसक्खं पासित्ता**—महर्द्धिक यावत् महान् सुखी देवता को देखकर; **तप्पढमयाए खंभाएज्जा**—प्रथम समय में ही नष्ट हो जाता है, **पुरेसु वा**—नगरो में, **पोराणाइं**—पुराने **महइमहालयाइं**—अतीव विशाल; **महानिहाणाइं**—महान् निधान, जिनके, **पहीण-सामियाइं**—स्वामी नष्ट हो गये है; **पहीणसेउयाइं**—जिनके संकेत मार्ग नष्ट हो गये हैं; **पहीण गुत्तागाराइं**—जिनके नाम और आकार भी नष्ट हो गये हैं; **उच्छिन्न-सामियाइं**—जिनके स्वामी सर्वथा उच्छिन्न हो चुके है, **उच्छिन्नसेउयाइ**—जिनके मार्ग सर्वथा उच्छिन्न हो चुके है, **उच्छिन्नगुत्तागाराइं**—जिनके नाम और आकार भी नष्ट हो चुके हों; **जाइं इमाइं**—और जो ये, **गामागर-णगर-खेड-कब्बड़-मडंब-दोणमुह-पट्टणासम-संबाह-सन्निवेसेसु**—ग्राम, धातु आदि की खान, नगर, खेट, कर्बट, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन, आश्रम, सबाह, सन्निवेश; **सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापहपहेसु**—शृङ्गाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख, महापथ आदि पथो में; **णगर णिद्धमणेसु**—नगर की मोरियों में, **सुसाण-सुन्नागार-गिरिकंदर-संतिसेलो-वट्ठाणभवणगिहेसु**—श्मशान, शून्य गृह, पर्वत-गुफा, शान्तिगृह, शैल-गृह, आस्थान-मण्डप, साधारण गृहों मे, **संनिक्खित्ताइं**—गड़े हुए, **चिट्ठंति** है, **ताइं वा**—उनको; **पासित्ता**—देखकर; **तप्पढमयाए खंभाएज्जा**—प्रथम समय में ही विचलित हो जाता है।

इच्चेहिं—इन; **पंचहिं ठाणेहिं**—पांच स्थानों से, **ओहिदंसणे**—अवधि-दर्शन; **समुप्पज्जिउकामे**—उत्पन्न होते होते; **तप्पढमयाए खंभाएज्जा**—उत्पन्न अवधि-दर्शन प्रथम समय में ही विचलित हो जाता है।

मूलार्थ—पांच कारणों से अवधि-दर्शन उत्पन्न होते ही उसी समय नण्ट हो जाता है, जैसे—अवधि-दर्शन उत्पन्न होने से पहिले पृथ्वी के सम्वन्ध में उसकी विशालता को कल्पना न होने से, साक्षात् अल्प पृथ्वी को देखकर अवधिदर्शन उसी समय विचलित हो जाता है। कुन्थु आदि सूक्ष्म जीवों से व्याप्त पृथ्वो को देखकर अवधिदर्शन उसी समय विचलित हो जाता है। अतीव विशालकाय

महोरग जाति के सर्प को देखकर अवधिदर्शन उसी समय विचलित हो जाता है। महर्द्धिक एवं महासुखी देवों को देखकर अवधिदर्शन उसी समय विचलित हो जाता है, ग्राम आकर अर्थात् खान, नगर, खेट (जिसका कोट धूल मिट्टी का बना हुआ हो) कर्बट (छोटा नगर) मडंब (जिसके चारों ओर दो-दो कोस पर छोटे-छोटे ग्राम हों) द्रोणमुख (जिसके जल और स्थल दोनों मार्ग हों), पत्तन–(नदी तट पर स्थित नगर) आश्रम–(तीर्थस्थान) संबाह–पर्वत आदि दुर्गम स्थानों में तथा धान्य आदि के संग्रह करने योग्य स्थान विशेष, सन्निवेश–यात्रियों के विश्राम स्थान अथवा अजापालकों के रहने के स्थान इत्यादि विविध स्थानों में और शृङ्गाटक–जहां सिंघाड़े की आकृति में तीन मार्ग मिलते हों, त्रिक–जहां सामान्य रूप से तीन मार्ग मिलते हों, चतुष्क–जहां चार मार्ग मिलते हों, चत्वर–जहा अनेक मार्ग मिलते हों, चतुर्मुख–देवकुलादि, महापथ–राजमार्ग आदि विविध मार्गो में, एवं नगर की मोरियों मे, श्मशान, शून्यागार, गिरिकन्दरा, शान्तिगृह, शैलगृह–पहाड़ में काट कर बनाई हुई गुफा, सभा-भवन, भवनगृह–साधारण घर इत्यादि स्थानों में जहां अनेक ऐसे अतीव विशाल महानिधि गड़े हुए है, जिनके स्वामी नष्ट हो चुके है, जिनके संकेत-मार्ग भी लुप्त हो चुके है, जिनके नाम और आकार भी नष्ट हो गए है, एवं जिनके स्वामी, संकेतमार्ग और नाम, आकार पूर्णतया उच्छिन्न अर्थात् ध्वस्त हो चुके है, उनके निधानों को देखकर आश्चर्य के कारण मोहोदय से अवधिदर्शन उत्पन्न होते ही विचलित हो जाता है।

इन पांच कारणों से अवधि-दर्शन उत्पत्तिकाल में ही विक्षुब्ध हो जाया करता है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे पांच स्थावरकायों के अधिपतियो का वर्णन किया गया है। ये स्थावराधिपति भी अवधि-दर्शन संपन्न हुआ करते है, परन्तु कुछ ऐसे भी कारण है जिनसे अवधि–दर्शन उत्पन्न होते ही विचलित हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र मे उन्ही कारणों का उल्लेख किया गया है।

अवधि-दर्शन वह आध्यात्मिक शक्ति है जिसके द्वारा साधक अनेक बाधाओ और व्यवधानो के होते हुए भी किसी दूरस्थ, समीपस्थ, स्थूल, सूक्ष्म, जीव अजीव आदि पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेता

है, परन्तु इस ज्ञान को सुरक्षित रख पाना अत्यन्त कठिन है, क्योकि सामान्य सा-मनोविकार उत्पन्न होते ही साधक उस ज्ञान-शक्ति से हाथ धो बैठता है। यद्यपि ये मनोविकार अनेक हो सकते हैं, परन्तु शास्त्रकार की दिव्य प्रतिभा ने उन समस्त कारणो का अन्तर्भाव निम्न-निर्दिष्ट पाच कारणो में ही कर लिया है।

अवधि-दर्शन की शक्ति का मूलकारण है मन की एकाग्रता, जब मन किसी एक केन्द्र पर स्थिर नही रह जाता, विचलित एव सदिग्ध हो जाता है, भयभीत एव लोभाविष्ट होकर विचलित हो जाता है तब उसकी एकाग्रता नष्ट हो जाती है और एकाग्रता के अभाव मे वह अपनी अवधि-दर्शन की शक्ति को विक्षुब्ध कर देता है। वे पाच कारण निम्नलिखित है :—

१ जब साधक का मन विशाल प्रदेश की कल्पना कर रहा होता है, किन्तु यह ज्ञान होते ही कि जिस प्रदेश की विशालता का उसे परिज्ञान था वह प्रदेश तो बहुत छोटा सा है, तब उसका मन सदेह से विक्षुब्ध हो उठता है और वही विक्षोभ अवधि-ज्ञान लुप्त होने का कारण बन जाता है।

२ अवधि-दर्शन उत्पन्न होते ही जब साधक सारी पृथ्वी को छोटे-छोटे जीवो से व्याप्त देखता है, तब वह दयाविष्ट होकर प्रेम से भर जाता है, उसी प्रेम के आवेश में उसका अवधि-दर्शन विक्षुब्ध हो जाता है।

३ जब कोई साधक महावनो और समुद्रों मे रहनेवाले विशालकाय अजगर को देखता है तब वह भय से घबरा उठता है, उस घबराहट से उसका हृदय प्रकम्पित हो उठता है और उस भय-जन्य कम्प की अवस्था में उसका अवधिदर्शन एक दम विक्षुब्ध हो जाता है।

४. जब कोई साधक किसी देव के वैभव को, उसकी कान्ति एवं सौन्दर्य को, उसकी दैवी सामर्थ्य को देखता है तो वह उसके लिये लालायित हो उठता है। यही लालसा उसके अवधि-दर्शन को विचलित कर देती है।

५. जब कोई अवधि-ज्ञानी अपने अवधि-दर्शन के प्रभाव से किसी पुराने नगर, ग्राम, आकर, खेड, कर्बट, मडम्ब, द्रोणमुख, पाटन, आश्रम, सवाह, सन्निवेश मार्गों के मिलन-स्थल, राजमार्ग, गलियों नालियो, श्मशानो, सूने घरो, पर्वतो की गुफाओं, शातिगृहों, उपस्थानों, भवनो आदि स्थानो में गड़े हुए बहुमूल्य रत्नो, आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और यह भी जान लेता है कि इस धन के स्वामी नष्ट हो चुके है, उसके स्वामित्व की परंपरा भी विच्छिन्न हो गई है, उसके स्वामी का नाम गोत्र भी लुप्त हो चुका है, उन निधानों तक पहुचने के मार्ग भी लोक-दृष्टि से ओझल हो चुके हैं, उस वैभव का निर्देश करने वाले चिह्न भी शेप नही रहे है, यह जानते ही अवधि-ज्ञान रखनेवाले साधक का मन यदि लोभाविष्ट होकर उसे प्राप्त करने के लिये विचलित हो उठता है तो उस दशा मे उसका अवधि-दर्शन ऐसे विचलित हो जाता है जैसे प्रबलवायु के झोके से दीपक टिमटिमाने लग जाता है।

पृथ्वी, कुथुओ की राशि, महाकाय सर्प, देवो का सुख और पृथ्वी के गर्भ में रखे हुए धन को देखते ही "आः किमेतदेवमित्येवं" शंका या विस्मय के कारण साधक जीवन में ज्ञान स्थिर नही रह सकता, क्योंकि उस समय उसका हृदय मोह एवं आवरण से आवृत हो जाता है। जब आवरण का क्षयोपशम स्वल्प हो और मोह का उदय अधिक हो तब अवधि-दर्शन विचलित हो जाता है। जब क्षयो-पशम प्रबल हो और मोह का उदय प्रबल न हो तब अवधिदर्शन तत्क्षण विचलित नही होता, क्योकि

विस्मय-अचंभा, भय, लोभ एवं मन की चंचलता, ये सब उत्पन्न होने वाले अवधि-दर्शन में अस्थिरता पैदा करते है और अस्थिरता का मूल कारण मोह का उदय ही माना जाता है।

"पहीणसामियाइं, पहीणसेउयाइं, पहीणगुत्तागाराइं", इन शब्दो का आशय यह है कि जिनका कोई स्वामी नहीं है, उन निधानो के ऊपर पुन: अधिकार प्राप्त कर सकनेवाले पुत्र, पौत्र भी नही रहे, उनके नाम गोत्र एवं चित्र आदि भी सर्वथा प्रणष्ट होगए है।

आगे सूत्रकार ने पहीण के स्थान पर **उच्छिन्न** शब्द का प्रयोग किया है जिसका भाव यह है जिनका उल्लेख किसी बही मे, शिला पर या किसी पुस्तक मे नही मिलता, किसी की स्मृति मे भी नही है, उनके लिये ये तीन पद दिये गए है।

जिस निधान का कोई न कोई स्वामी जीवित है उसे देखकर लालच या विस्मय नही होता, क्योंकि स्वामीहीन निधान को देखकर ही मन मे विस्मय उत्पन्न होता है और लालच भी। जनता बिना कारण के धनाभाव के दुख से दुखित है, यदि लोग इन महानिधानों में रखे हुए धन को निकाल लें तो निश्चय ही सारा राष्ट्र समृद्ध एव धनाढ्य बन जाएगा। सभी लोग आनन्द पूर्वक जीवन निर्वाह कर सकेंगे। इस प्रकार का लालच एवं विस्मय होता है। जिसकी समाधि उक्त पांच कारणो से विचलित नही होती, उसका अवधिदर्शन भी विचलित नही होता। अत: साधक को स्थित-प्रज्ञ होना चाहिए तभी उत्पन्न हुआ ज्ञान अवस्थित रह सकता है।

केवल ज्ञान-दर्शन की अक्षोभता के कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे तप्पढमयाए नो खंभाएज्जा, तं जहा—अप्पभूयं वा पुढविं पासित्ता तप्पढमयाए णो खंभाएज्जा, सेसं तहेव जाव भवणगिहेसु संनिक्खित्ताइं चिट्ठंति, ताइं वा पासित्ता तप्पढमयाए णो खंभाएज्जा। सेसं तहेव। इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं जाव नो खंभाएज्जा।७।

छाया—पञ्चभिः स्थानैः केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पत्तुकामं तत्प्रथमतया नो स्कभ्नीयात्, तद्यथा-अल्पभूतां वा पृथ्वीं दृष्ट्वा तत्प्रथमतया नो स्कभ्नीयात्, शेषं तथैव यावत् भवनगृहेषु संनिक्षिप्तानि तिष्ठन्ति, तानि वा दृष्ट्वा तत्प्रथमतया नो स्कभ्नीयात्। शेषं तथैव। इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैर्यावत् नो स्कभ्नीयात्।

शब्दार्थ—**पंचहिं ठाणेहिं**—पांच कारणों से; **केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे**—केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न होता हुआ; **तप्पढमयाए णो खंभाएज्जा**—प्रथम समय में नही नष्ट होता; **तं जहा**—जैसे; **अप्पभूयं वा पुढविं**—अल्पभूत पृथिवी को; **पासित्ता**—देखकर; **तप्पढमयाए णो खंभाएज्जा**—प्रथम समय में नष्ट नही होता; **सेसं**—शेष; **तहेव**—उसी प्रकार; **जाव भवणगिहेसु**—भवन गृहो आदि मे; **संनि-**

णिखत्ताइं—निक्षिप्त निधि, **चिट्ठंति**—है; **ताइं वा पासित्ता**—उनको देखकर; **तप्पढमयाए**—प्रथम समय में; **णो खंभाएज्जा**—विक्षुब्ध नही होता।

मूलार्थ—श्रेष्ठ केवलज्ञान और केवलदर्शन उक्त पांच कारणों से उत्पन्न होते ही विचलित नही होते, प्रत्युत अक्षय रहते हैं, जैसे—अल्पभूत पृथ्वी को देखकर केवलज्ञान और केवलदर्शन विक्षुब्ध नहीं होते पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट भवन आदि स्थानों में निक्षिप्त प्राचीन निधियों को देखकर भी केवलज्ञान एवं केवलदर्शन विचलित नही होते।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में अवधि-दर्शन के विचलित हो जाने के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। अब सूत्रकार उसी परम्परा में यह बताना चाहते है कि जो कारण अवधिदर्शन को विचलित कर सकते हैं वे कारण केवल-ज्ञान को विचलित करने मे सर्वथा असमर्थ है, अत. इस विषय की विवेचना करते हुए सूत्रकार का कथन है कि—

किसी विस्मय एवं लोभावेश आदि के कारण केवलज्ञानियों के ज्ञान में विक्षोभ नही हो सकता, क्योकि केवलज्ञान का उदय होते ही सभी कषाय इस प्रकार स्वतः ही नष्ट हो जाते है, जैसे सूर्योदय होने पर पर अन्धकार नष्ट हो जाता है। सूर्य भी चमक रहा हो और अन्धकार भी छाया रहे, यह हो नही सकता, ठीक इसी प्रकार केवलज्ञान के उदय होने पर कषायों की सत्ता का बना रहना असम्भव हो जाता है। दर्पण मे समस्त विश्व प्रतिबिम्बित होता है, परन्तु किसी भी बिम्ब का प्रभाव दर्पण पर नही छूटता, दर्पण शुद्ध रहता है, प्रतिबिम्ब आते रहते हैं, जाते रहते हैं, दर्पण ज्यों का त्यो बना रहता है। उसी प्रकार केवलज्ञानी के ज्ञान की परिधि में प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय समस्त विश्व होता है, परन्तु विश्व के किसी भी राग या द्वेष का उस पर कोई प्रभाव नही पड़ सकता। प्रतिबिम्ब के हट जाने पर भी दर्पण ज्यों का त्यों बना रहता है, उसकी सत्ता में कोई अन्तर नही आता, इसी प्रकार केवलज्ञान के दर्पण की सत्ता भी अखण्ड रहती है।

वस्तुतः समस्त कषायो के नष्ट हो जाने पर ही केवलज्ञान उद्भूत होता है, जो नष्ट हो चुका है, जिसकी सत्ता ही समाप्त हो चुकी है, पुन. किसी वस्तु पर उसका प्रभाव हो की कल्पना भी नहीं की जा सकती, अतः जिन विस्मय-लोभावेश आदि कारणो से अवधिदर्शन विक्षुब्ध हो जाता है, उनसे केवल-ज्ञान के विचिलित होने की सम्भावना भी नही की जा सकती। केवलज्ञानी शुद्ध बुद्ध होता है, जो बुद्ध है आत्म-जागरण की पूर्ण अवस्था मे है, वह सदैव शुद्ध ही रहता है। जो शुद्ध है, वह तो तभी शुद्ध एवं अविचल है जबकि समस्त विकृतियो से वह मुक्त है, इसलिये केवलज्ञान एक शाश्वत ज्ञान-धारा है जिसका प्रवाह अविकृत एवं अखण्ड है।

पांच शरीरों के वर्ण रस आदि

मूल—णेरइयाणं सरीरगा पंचवण्णा पंचरसा पण्णत्ता, तं जहा—किण्हा जाव सुक्किला, तित्ता जाव महुरा। एवं निरंतरं जाव वेमाणियाणं।

पंच सरीरगा पण्णत्ता तं जहा—ओरालिए, वेउव्विए, आहारए, तेयए, कम्मए। ओरालियसरीरे पंच वण्णे, पंच रसे पण्णत्ते, तं जहा—किण्हे जाव सुक्किले, तित्ते जाव महुरे। एवं जाव कम्मगसरीरे। सव्वेवि णं बादरबोंदिधरा कलेवरा पंचवण्णा, पंचरसा, दुगंधा, अट्ठफासा।८।

छाया—नैरयिकाणां शरीरकाणि पञ्चवर्णानि-पञ्चरसानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—कृष्णानि यावत् शुक्लानि, तिक्तानि यावत् मधुराणि। एवं निरन्तरं यावत् वैमानिकानाम्।

पञ्च शरीरकाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—औदारिकं, वैक्रियकम्, आहारकं, तैजसं, कार्मणम्। औदारिकशरीरं पञ्चवर्णं पञ्चरसं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—कृष्णं यावत् शुक्लं, तिक्तं यावत् मधुरम्। एवं यावत् कार्मणशरीरम्। सर्वाण्यपि बादरबोन्दिधराणि कलेवराणि पञ्चवर्णानि, पञ्चरसानि, द्विगन्धानि, अष्टस्पर्शानि।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—नारकों के शरीर पांच वर्ण और पांच रसवाले प्रतिपादित किये गए हैं। जैसे—कृष्ण, शुक्ल आदि वर्णोंवाले तथा तिक्त आदि रसोंवाले, इसी प्रकार वैमानिक देवों तक के शरीरों के वर्ण एवं रस आदि जानने चाहिए।

पांच शरीर वर्णित किये गए हैं, जैसे—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण। औदारिक शरीर पांच वर्ण एवं पांच रसवाला कथन किया गया है, जैसे—कृष्ण, शुक्ल आदि पांच वर्णोंवाला तथा तिक्त, मधुर आदि पांच रसोंवाला। इसी प्रकार कार्मण शरीर आदि के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए। सब के सब स्थूल शरीर धारण करनेवालों के कलेवर पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्शवाले होते है।

विवेचनिका—

अवधि-दर्शन एवं केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये शरीर की सत्ता आवश्यक है, अतः केवल-ज्ञान की अविनश्वरता की विवेचना के अनन्तर सूत्रकार शरीर के विविध रूपो और उनके वर्ण रस आदि का परिचय देते है। रूप और रस आदि गुण पुद्गल में ही पाये जाते है, शरीर सभी पौद्गलिक ही होते है,

क्योंकि ये मिटते और बनते रहते हैं, फिर भी अपनी विशेष सत्ता बनाए रखते हैं। पुद्गल वही है जो पर्याय की अपेक्षा मिटता रहता है, बनता रहता है फिर भी वह ध्रुव है। जैसे नदी का प्रवाह आता रहता है, जाता रहता है और होता भी है। शरीरों की भी यही दशा है। शरीर सूक्ष्म हो या स्थूल, दृश्य हो या अदृश्य, नारकी जीवो से लेकर वैमानिक देवों पर्यन्त सभी के शरीर पौद्गलिक होते है, अतः वे पांच वर्णों और पांच रसो से युक्त होते हैं। दुर्गति मे पड़े हुए जीवो के शरीर अशुभ, अशुभतर और अशुभतम होते हैं और सुगति में पहुंचे हुए जीवों के शरीर शुभ, शुभतर और शुभतम हुआ करते हैं। यह शरीर उत्पत्ति के समय से लेकर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण एवं बढ़ते-घटते रहते हैं और वे शरीर नामकर्म के उदय से ही उत्पन्न होते हैं।

शरीर पांच प्रकार के होते हैं जैसे कि औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण इन का परिचयात्मक विवरण इस प्रकार है—

औदारिक शरीर—उदार, उराल, उरल, ओराल, ओदारिय प्राकृत के इन शब्दों का संस्कृत रूप "औदारिक" बनता है। यद्यपि ये शब्द एकार्थक हैं फिर भी इन शब्दो की सूक्ष्म व्याख्या करने पर ये शरीर के पर्यायवाची होते हुए भी भिन्न-भिन्न अर्थो के बोधक हैं। जैसे कि उदार शब्द का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ। सर्वश्रेष्ठ पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है। तीर्थङ्कर चक्रवर्ती बलदेव और वासुदेव तथा गणधरो के शरीर इसी कोटि के होते है।

उराल शब्द का अर्थ होता है विशाल, जो शरीर अन्य शरीरों की अपेक्षा विशाल परिमाणवाला हो उसे भी औदारिक कहते हैं, मच्छ और महोरग आदि का शरीर परिमाण उत्कृष्ट हजार योजन तक का होता है तथा हजार योजन गहरे समुद्र में उत्पन्न हुए कमल का आमूलचूल परिमाण हजार योजन से कुछ अधिक माना जाता है, क्योंकि उसकी जड़ जमीन में फैली हुई होती है और कमल पानी की सतह से बाहर होता है, उसकी नाल हजार योजन की होती है। इस अपेक्षा से हजार योजन से कुछ अधिक विशाल होने से उसे औदारिक रूप वाला कहा जाता है। अथवा जो शरीर अन्य चार शरीरो की अपेक्षा अल्प प्रदेशी हो और परिमाण मे विशाल हो उसको प्राकृत भाषा में उराल कहते हैं और संस्कृत में औदारिक कहा जाता है। भिंडी की तरह परिमाण मे बडी और वजन मे हलकी इसी प्रकार जिस शरीर में पोलापन अधिक हो और देखने में बड़े परिमाण का हो उसे औदारिक कहते है। अथवा जो शरीर मांस-हड्डी, रुधिर, स्नायु, शिरा आदि वाला हो वह ओराल कहलाता है। ओराल का संस्कृत रूप भी औदारिक बनता है। यह शरीर मनुष्यो और तिर्यंचो का होता है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी तिर्यंचों के शरीर औदारिक ही होते हैं।

२. **वैक्रियशरीर**—अपनी इच्छा के अनुसार एक होते हुए भी अनेक रूप धारण करनेवाला अनेकरूप होकर भी एक रूप धारण करनेवाला, छोटे शरीर से बड़ा बनकर प्रकट हो सकनेवाला और बड़े से छोटा बन जानेवाला, दृश्य होकर अदृश्य और अदृश्य होकर दृश्य हो जानेवाला, विना किसी आश्रय के आकाश मे गमन कर सकने का सामर्थ्य रखनेवाला, इस प्रकार की अन्य विशिष्ट क्रियाए करनेवाला शरीर ही वैक्रिय शरीर कहलाता है। नारकी और देव वैक्रिय शरीर वाले होते हैं। नारकी जीव का भवधारणीय वैक्रिय शरीर जितने बडे प्रमाण एवं आकार का होता है उत्तरवैक्रिय उसकी अपेक्षा दुगुना हो सकता है। यदि कोई देव उत्तरवैक्रिय शरीर की रचना करे तो वह उत्कृष्ट एक लाख योजन तक का शरीर बना सकता है। किन्ही मनुष्य और तिर्यञ्चों को भी लब्धिप्रत्यय वैक्रियशरीर

बना सकते है, परन्तु वैक्रियलब्धि के प्रयोग की शक्ति उन्ही तिर्यञ्च या मनुष्यों को प्राप्त हो सकती है, जिन्होने पूर्व भव में या इस भव में विशेष संयम, तप और शुभ अनुष्ठान किया हो। भवधारणीय वैक्रियशरीर वह होता है जो कम से कम एक अंगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण हुआ करता है और अधिक से अधिक पाच सौ धनुष का हो सकता है, इससे अधिक नही।

३. **आहारक शरीर**—जिसने आहारकशरीर नामकर्म का बध किया हुआ हो उसीको वह शरीर प्राप्त होता है। इसका उदय योगजन्य लब्धियों से सम्पन्न, चौदह पूर्वधर प्रमत्त संयत को एक जन्म मे अधिक से अधिक तीन बार हो सकता है। अनेक जन्मो की अपेक्षा से सात बार उसका प्रयोग किया जा सकता है। किसी युग मे आहारक लब्धियोवाले कुछ ही सयमी होते है और किसी में एक भी नही। जब कभी होते है, तब कम से कम एक, दो, तीन और अधिक से अधिक नौ हजार आहारक शरीरी हो सकते है। आहारक शरीर धारण करने के अनेक कारण बताए गए है। जैसे कि प्राणी-दया के निमित्त, तीर्थङ्कर भगवान की ऋद्धि प्रदर्शित करने के लिये, तथा सशय निवारणार्थ, इत्यादि प्रयोजनों से चौदह पूर्वधर मुनिसत्तम किसी अभीष्ट अन्य क्षेत्र में विराजित तीर्थङ्कर भगवान के पास भेजने के लिये आहारक लब्धि से अति विशुद्ध स्फटिक रत्न के सदृश एक हाथ का एक छोटा-सा शरीर निकालते है वह आहारक शरीर कहलाता है। आहारकशरीर की गति अप्रतिहत एवं प्रकाश की तरह अत्यन्त वेगवती होती है। उक्त प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने पर वह आहारकशरीर औदारिक शरीर में प्रविष्ट होकर पुन. उसी में विलीन हो जाता है। जिसने "आहारकशरीर नामकर्म" का बंध न किया हुआ हो वह चौदह पूर्वधर मुनि होते हुए भी आहारक-लब्धि-सम्पन्न नही हो सकता। आहारक लब्धि की प्राप्ति साधु को ही होती है, साध्वी को नही।

४. **तैजस शरीर**—तैजस पुद्गलो के द्वारा बना हुआ शरीर तैजस शरीर कहलाता है। प्राणियों के शरीर में रही हुई उष्णता से इसका अस्तित्व सिद्ध होता है। आहार का पाचन इसी शरीर से होता है, ऐसे शरीर का तापमान कभी बढ़ता है तो कभी घटता है और कभी अपने स्तर पर रहता है। यह सब तैजस शरीर का कार्य है। तैजस समुद्घात भी इस शरीर के होने पर ही होता है। इससे ही तेजोलेश्या उत्पन्न होती है। तेजोलेश्या और शरीर मे उष्णता, ये दोनो तैजस शरीर के कार्य है। इसका मूलकारण कार्मण-शरीर है।

५ **कार्मण शरीर**—कर्मो से बने हुए शरीर को कार्मण शरीर कहते है। आत्मा में प्रदेशों के साथ लगी हुई अष्टविध कर्म-प्रकृतियो को कार्मण शरीर कहा जाता है। कार्मणशरीर नामकर्म आठ कर्मों का भाजन बना हुआ है। इसके होने पर ही शेष शरीर पाए जाते हैं। अन्य चार शरीरों की निष्पत्ति भी इसी के प्रभाव से होती है। जब तक यह शरीर है, तब तक संसार है।

औदारिक तथा वैक्रिय भवधारणीय शरीर से अलग होना ही मृत्यु है और तैजस एवं कार्मण-शरीर से सर्वथा पृथक् होना ही निर्वाण एवं मुक्ति है। ये पाच शरीर पौद्गलिक तथा क्रमश. उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर है।[1] सभी शरीर पाच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्शवाले होते है। जिस शरीर में जिस वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की मुख्यता होती है व्यवहारनय के मत से उसी का प्रयोग किया जाता है, किन्तु निश्चयनय से उसमें सभी वर्ण आदि पाए जाते है।

---

१. इन शरीरों का पूर्ण विवरण प्रज्ञापना सूत्र के शरीर-पद में देखना चाहिए।

सूत्रकार ने परमाणुवाद को बड़े ही स्पष्टरूप से वर्णित किया है। शरीर भी परमाणुपुद्गल का स्कंध है। सूत्रकार ने जो वादर बोंदिधरा कलेवरा कहा है—इसका भाव यह है कि जो जीव पर्याप्तक हैं उन्ही को लक्ष्य में रखकर यह कहा गया है, क्योकि पांच सूक्ष्म स्थावरो के अतिरिक्त शेष सभी जीव बादर कहलाते हैं। उन में भी जो पर्याप्त है उनका अन्तर्भाव उक्त पद में हो जाना है।

दुर्गम, सुगम और अभ्यनुज्ञात स्थान

मूल—पंचहिं ठाणेहिं पुरिम-पच्छिमगाणं जिणाणं दुग्गमं भवइ, तं जहा—दुआइक्खं, दुविभज्जं, दुपस्सं दुतितिक्खं, दुरणुचर।

पंचहिं ठाणेहिं मज्झिमगाणं जिणाण सुगमं भवइ, तं जहा—सुआइक्खं, सुविभज्जं, सुपस्सं, सुतितिक्खं, सुरणुचर।

पंच ठाणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाण णिग्गथाणं णिच्चं वन्नियाइं, णिच्च कित्तियाइ णिच्चं बुइयाइं णिच्चं पसत्थाइं, णिच्चमब्भणुन्नायाइं भवंति, त जहा—खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे लाघवे।

पंच ठाणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं जाव अब्भणुन्नायाइं भवति, तं जहा—सच्चे, संजमे, तवे, चियाए बंभचेरवासे।

पंच ठाणाइं समणाणं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—उक्खित्तचरए, निक्खित्तचरए, अतचरए, पतचरए, लूहचरए।

पंच ठाणाइ जाव अब्भणुण्णायाइं भवति, त जहा—अन्नायचरए, अन्नगिलायचरए, मोणचरे, ससट्ठकप्पिए, तज्जायसंसट्ठकप्पिए।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, त जहा—उवनिहिए, सुद्धेसणिए, संखादत्तिए, दिट्ठलाभिए, पुट्ठलाभिए।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—आयबिलिए, निव्वियए, पुरिमड्ढिए, परिमियपिंडवाइए, भिन्नपिंडवाइए।

पंच ठाणाइं अब्भणुण्णयाइं भवंति, तं जहा—अरसाहारे, विरसाहारे, अंताहारे, पंताहारे, लूहाहारे।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—अरसजीवी, विरसजीवी, अंतजीवी, पतजीवी, लूहजीवी।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तंजहा—ठाणाइए, उक्कुडुआसणिए, पडिमट्ठाई, वीरासणिए, णेसज्जिए ।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—दंडायइए, लगंडसाई, आयावए, अवाउडए, अकंडूयए ।९।

छाया—पञ्चसु स्थानेषु पूर्व-पश्चिमकानां जिनानां दुर्गमं भवति, तद्यथा—दुराख्येयं, दुर्विभजं, दुर्दर्शं, दुस्तितिक्ष, दुरनुचरम् ।

पञ्चसु स्थानेषु मध्यमानां जिनानां सुगमं भवति, तद्यथा—स्वाख्येयं, सुविभजं, सुदर्शं, सुतितिक्षं, स्वनुचरम् ।

पञ्च स्थानानि श्रमणेन भगवता महावीरेण श्रमणानां निर्ग्रन्थानां नित्यं वर्णितानि, नित्यं कीर्तितानि, नित्यमुक्तानि, नित्यं प्रशंसितानि, नित्यमभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—क्षान्तिः, मुक्तिः, आर्जव, मार्दवं, लाघवम् ।

पञ्च स्थानानि श्रमणानां यावद् अभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—सत्यं, संयमः, तपः, त्यागः, ब्रह्मचर्यवासः ।

पञ्च स्थानानि श्रमणानां यावद् अभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—उत्क्षिप्तचरकः, निक्षिप्तचरकः, अन्तचरकः, प्रान्तचरकः, रूक्षचरकः ।

पञ्चस्थानानि यावद् अभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—अज्ञातचरकः, अन्नग्लायकचरकः, मौनचरकः, संसृष्टकल्पिकः, तज्जातससृष्टकल्पिकः ।

पञ्च स्थानानि यावद् अभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—औपनिधिक., शुद्धैषणिकः, सख्यादत्तिकः, दृष्टलाभिकः, पृष्टलाभिकः ।

पञ्च स्थानानि यावद् अभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा आचाम्लिकः, निर्विकृतिकः, पूर्वार्द्धिकः, परिमितपिण्डपातिकः, भिन्नपिण्डपातिकः ।

पञ्च स्थानानि यावत् अभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—अरसाहारः, विरसाहार', अन्ताहारः, प्रान्ताहारः, रूक्षाहारः ।

पञ्च स्थानानि यावद् अभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—अरसजीवी, विरसजीवी, अन्तजीवी, प्रान्तजीवी, रूक्षजीवी ।

पञ्च स्थानानि यावदभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा स्थानादितः, उत्कुटुकासनिकः, प्रतिमस्थायी, वीरासनिकः, नैषद्यिकः ।

पञ्च स्थानानि यावदभ्यनुज्ञातानि भवन्ति, तद्यथा—दण्डायतिकः, लगण्डशायी, आतापकः, अप्रावृतक., अकण्डूयकः ।

शब्दार्थ—पंचहिं ठाणेहिं—पांच स्थानों मे, पुरिमपच्छिमगाणं जिणाणं—प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करों के शासन में; दुग्गमं—शिष्यों को बोध देने मे कठिनाई; भवइ, तं जहा—

होती है, जैसे; दुआइक्खं—वस्तु तत्त्व को कथन करने में कठिनाई होती है; दुविभज्जं—वस्तु-तत्त्व का विभाग पूर्वक कथन करने में कठिनाई; दुपस्सं—युक्तियो के द्वारा जीवाजीवादि का स्वरूप दिखलाने में कठिनाई; दुतितिक्खं—शिष्यादि को परीषहों के सहन करने मे कठिनाई; दुरणुचरं—आचार के पालन करने में कठिनाई होती है।

पंचहिं ठाणेहिं—पांच स्थानो में; मज्झिमगाणं जिणाणं—मध्य के बाईस तीर्थङ्करों के शासन में; सुगमं भवइ, तं जहा—सुगमता होती है, जैसे; सुआइक्खं—शिष्यो के प्रति वस्तु तत्त्व के कथन करने में सुगमता होती है; सुविभज्जं—विभाग पूर्वक वस्तु तत्त्व के कथन करने में सुगमता होती है; सुपस्सं—युक्ति के द्वारा वस्तु-तत्त्व की प्रतीति कराने मे सुगमता होती है; सुतितिक्खं—परीषह आदि के सहन करने में सुगमता होती है; सुरणुचरं—अहिंसा आदि आचार का पालन कराने मे सुगमता होती है।

पंच ठाणाइं—पाच स्थान; समणेणं—श्रमण; भगवया -भगवान्, महावीरेणं—महावीर ने, समणाण णिग्गंथाणं—श्रमण निर्ग्रन्थो के लिये; णिच्च - नित्य; वन्नियाइं—फल रूप से वर्णन किये है; णिच्चं कित्तियाइं—नाम रूप से कथन किये है; णिच्चं बुइयाइं—स्वरूप से नित्य कथन किये है, णिच्चं पसत्थाइं—नित्य प्रशसा की है; णिच्चमब्भणुण्णायाइं—नित्य ही पालन कराने की आज्ञा दी है; त जहा—जैसे; खंती—क्षमा, मुत्ती—निर्लोभता, अज्जवे—सरलता; मद्दवे—मृदुता; लाघवे—लघुता।

पंच ठाणाइं—पांच स्थान; समणेणं भगवया महावीरेणं—श्रमण भगवान महावीर के द्वारा; जाव अब्भणुण्णायाइं—यावत अभ्यनुज्ञात; भवंति—हैं; त जहा—जैसे; सच्चे—सत्य; संजमे—संयम; तवे—तप; चियाए—त्याग, बंभचेरवासे—ब्रह्मचर्यवास।

पंच ठाणाइं समणाणं जाव—पांच स्थान श्रमणों को यावत्; अब्भणुण्णायाइ भवंति, तं जहा—अनुज्ञात हैं, जैसे; उक्खित्तचरए—उत्क्षिप्त चरक; निक्खित्तचरए—निक्षिप्त-चरक; अंतचरए—अंत-चरक; पंतचरए—प्रान्त-चरक, लूहचरए—रूक्ष-चरक।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—पांच स्थान यावत् अभ्यनुज्ञात हैं, जैसे, अण्णायचरए—अज्ञात चरक; अण्णइलायचरए—भोजन के समय से अन्य समय भिक्षा लेनेवाला; मोणचरए—मौन से भिक्षा करनेवाला; संसट्ठकप्पिए—संसृष्ट हाथ से भिक्षा लेनेवाला, तज्जायसंसट्ठकप्पिए—तज्जातसंसृष्टकल्पिक।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवति, तं जहा—पांच स्थान यावत् अभ्यनुज्ञात हैं, जैसे, उवनिहिए—उपनिहित; सुद्धेसणिए—शुद्ध एषणा से भिक्षा ग्रहण करने वाला; संखादत्तिए—दत्ति की सख्या से आहार ग्रहण करनेवाला, दिट्ठलाभिए—

दृष्टि में आई वस्तु को लेने वाला; **पुट्ठलाभिए**—पूछ कर आहार लेनेवाला।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—पांच स्थान यावत् अभ्यनुज्ञात हैं; जैसे; **आयंबिलिए**—आयविल करनेवाला; **निव्वियए**—विकृतियों (विगयो) का त्याग करने वाला; **पुरिमड्ढिए**—दोपहरी करने वाला; **परिमियपिंडवाइए**—परिमित पिंड लेने वाला; **भिण्णपिंडवाइए**—अखण्ड वस्तु न लेने वाला।

पंच ठाणाइं अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—पांच स्थान अभ्यनुज्ञात हैं, जैसे; **अरसाहारए**—रस रहित आहार लेनेवाला; **विरसाहारए**—विरस आहार लेनेवाला; **अंताहारे**—खाने से बचा हुआ आहार लेनेवाला; **पंताहारे**—अतीव तुच्छ आहार लेनेवाला; **लूहाहारे**—रूखा-सूखा आहार लेनेवाला।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—पांच स्थान अभ्यनुज्ञात हैं, जैसे; **अरसजीवी**—अरसाहार से जीवन चलानेवाला; **विरसजीवी**—विरस आहार से जीवन चलानेवाला; **अंतजीवी**—भक्तशेष आहार से जीवन चलानेवाला; **पंत-जीवी**—तुच्छ आहार से जीवन चलानेवाला; **लूहजीवी**—रूक्ष आहार से जीवन चलानेवाला।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—पांच स्थान यावत् अभ्यनुज्ञात हैं, जैसे, **ठाणाइए**—कायोत्सर्ग करनेवाला, **उक्कुडुआसणिए**—उत्कुटुक आसन से वठने वाला, **पडिमट्ठाई**—प्रतिमा में स्थित रहने वाला; **वीरासणिए**—वीर आसन से स्थित रहनेवाला; **णेसज्जिए**—निषद्या-आसन से बैठे रहनेवाला।

पंच ठाणाइं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—पाच स्थान अभ्यनुज्ञात हैं, जैसे; **दंडायइए**—लम्वे होकर लेटे रहने वाला, **लगंडसाई**—लक्कड़ के समान टेढ़े होकर लेटने वाला, **आयावए**—धूप में आतापना लेने वाला; **अवाउडे**—वस्त्र आदि से शरीर न ढकने वाला, **अकंडूयए**—खाज न करनेवाला।

मूलार्थ—पांच कारणों से प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करों के शासन में शिष्यों को प्रतिबोध देने मे कठिनाई होती है, जैसे कि—संक्षेप में न समझने के कारण विस्तृत रूप से कथन करना होता है, अतः दुराख्येय रूप कठिनता है। भेदानुभेद के साथ वस्तु-तत्व का उपदेश करना होता है, अतः दुर्विभज रूप कठिनाई है। अनेकानेक युक्तियों के द्वारा जोवादि पदार्थो का स्वरूप दिखलाना होता है, अतः दुर्दर्श रूप कठिनाई है। अधीर शिष्यों को परोषह आदि के सहन कराने में विशेष श्रम करना होता है, अतः दुस्तितिक्ष रूप कठिनाई है। संयम के नियमोपनियम पालन कराने में विशेष श्रम करना होता है, अतः दुरनुचर रूप कठिनाई है।

पांच कारणों से मध्य के बाईस तीर्थङ्करों के शासन मे शिष्यों को प्रतिबोध देने में सुगमता होती है, जैसे—संक्षेप मे वस्तुतत्व का ज्ञान कराने में सुगमता होती है। अधिक भेदानुभेद में न जाकर साधारण विभाग-पूर्वक कथन से ही समझ जाते है, अतः यह दूसरी सुगमता है। सक्षेप मे युक्तियों से वस्तु तत्त्व की प्रतीति कराने मे सुगमता है। परीषह सहन कराने में सुगमता है। संयम पालन कराने में सुगमता है।

पांच स्थान श्रमण भगवान महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थों को नित्य ही फल रूप से वर्णन किये है, नाम रूप से कीर्तन किये है, स्वरूप मे कथन किये है, प्रशंसा के रूप में वर्णित किए है, आचरण मे लाने के लिये अनुज्ञात है, जैसे—क्षमा, निर्लोभता, सरलता, अहंकाररहित नम्रता और निष्परिग्रहता।

पांच स्थान श्रमण भगवान महावीर ने श्रमण-निर्ग्रन्थो को नित्य ही आचरण में लाने के लिये बतलाये है, जैसे—सत्य, संयम, तप, त्याग—साथ के साधुओ को प्राप्त आहार का दान देना और ब्रह्मचर्य-वास।

पांच स्थान अभ्यनुज्ञात है, जैसे—उत्क्षिप्तचरक—गृहस्थ ने भोजन करने के उद्देश्य से हंडिया में से जो खाद्य निकाला हो, उसे ही लेनेवाला अभिग्रहधारी, निक्षिप्तचरक—निकाला हुआ भोजन बच जाने पर पुनः पात्र में डाल दिया हुआ हो उसे ग्रहण करने वाला अभिग्रहधारी, अन्तचरक—भोजन करने से बचा हुआ आहार लेने वाला, प्रान्तचरक—चने आदि का तुच्छ आहार लेने वाला और रूक्षचरक—रूखा-सूखा आहार लेनेवाला।

पांच स्थान अनुज्ञात है, जैसे—अज्ञात कुल से भिक्षा लेना, भोजन का समय छोडकर अन्य समय भिक्षा लेना, सर्वया मौन भाव से भिक्षा ग्रहण करना, भोजन लिप्त हाथो से भिक्षा ग्रहण करना और जो वस्तु लेनी हो उसी से हाथ सने हों तो भिक्षा लेना।

पांच स्थान यावत् अभ्यनुज्ञात है, जैसे—आस-पास से ही भिक्षा ग्रहण करना, शुद्ध एषणा की विधि से भिक्षा ग्रहण करना, दत्ति की संख्या कर भिक्षा लेना, देखा हुआ भोजन ही ग्रहण करना और पूछ-ताछ कर आहार ग्रहण करना।

पांच स्थान यावत् अभ्यनुज्ञात है, जैसे—आयंबिल तप करना, घृतादि की विकृति से रहित साधारण भोजन लेना, दोपहरी का तप करना, परिमित भोजन ग्रहण करना, अखण्ड वस्तु न लेकर खण्डित (रोटी का टुकड़ा आदि) खाद्य वस्तु ग्रहण करना।

पांच स्थान भगवान महावीर के द्वारा अभ्यनुज्ञात हैं, जैसे—रसरहित आहार लेना, विरस आहार लेना, खाने से बचा हुआ आहार लेना, अतीव तुच्छ चणक (चने) आदि का आहार लेना और रूखा-सूखा आहार लेना।

पाच स्थान भगवान महावोर के द्वारा अभ्यनुज्ञात है, जैसे—अरसाहार से जीवन-निर्वाह करना, विरसाहार से जीवन-निर्वाह करना, भुक्तशेष आहार ग्रहण कर के जीवन निर्वाह करना, तुच्छाहार से जीवन-निर्वाह करना, रूखे-सूखे आहार से जीवन-निर्वाह करना।

पांच स्थान भगवान महावीर के द्वारा अभ्यनुज्ञात है, जैसे—कायोत्सर्ग करना, उकडू आसन करना, प्रतिमा में स्थित रहना, वोरासन से स्थित रहना, निषद्या नामक आसन से बैठे रहना।

पाच स्थान भगवान महावीर के द्वारा अनुज्ञात है, जैसे—दण्ड के समान पांव पसार कर लेटना, काष्ठ के समान एक करवट से लेटना, धूप में आतापना लेना, शीतकाल मे वस्त्रादि से शरीर न ढांपना, शरीर में खाज न करना।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में शरीरों का वर्णन किया गया है, अब काल की अपेक्षा से सशरीरी जीवो के स्वभाव का वर्णन और साथ ही विविध साधु-चर्याओ का निरूपण भी इस सूत्र मे किया जा रहा है।

भरत और ऐरवत क्षेत्रों की अपेक्षा से जो अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणीकाल मे पहले और पिछले तीर्थङ्कर होते हैं, उनके शासनकाल मे साधको के लिये पाच बातें दुर्गम होती हैं। क्योकि पहले तीर्थङ्कर के शासनकाल मे मनुष्य जडबुद्धि एव सरल होते हैं और अन्तिम तीर्थङ्कर के युग में मनुष्य वक्र और जड होते है। जडता के कारण धर्म का समझना और वक्रता एव कुटिलता से उसका पालन दुःशक्य हो जाता है। धर्म के रहस्य को समझने के लिये बुद्धि की स्वच्छता अपेक्षित है और उसका पालन करने के लिये ऋजुता अपेक्षित होती है। वे दुर्गम्य पाच बातें निम्नलिखित है—

१. दुआइक्ख—जो व्यक्ति जड एव वक्र होते है, उन्हे शिक्षा देना, धर्म-तत्त्व समझाना अति-कठिन होता है। इसमे दो कारण हो सकते हैं, बुद्धि की मदता के कारण व्यक्ति चारित्र आदि गहन

विषयों को वार-वार समझाने पर भी अच्छी तरह नही समझ सकता। जिस तरह भी शिष्य समझ सके उस तरह कहना कठिन होने के कारण धर्म-बोध दुर्गम्य हो जाता है। जव विषय महान या गम्भोर हो और बुद्धि मंद हो तब ऐसा हो जाना स्वभाविक है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि क्रोधी, अभिमानी, अविनीत एवं हठीले व्यक्ति को समझाना अत्यन्त कठिन होता है, समझानेवाला भी सकोच करता है, कलह आदि होने के भय से डरता है इत्यादि कारणो से धर्म-कथन दुराख्येय हो जाता है।

२. **दुविभज्जं**—किसी गहन विषय को अलग-अलग विभाग करके समझना और समझना भी होता है। प्रमाणवाद, सप्तभंगीवाद, नयवाद, अनुयोग, लक्षण, निक्षेप, उपक्रम, उत्सर्ग, अपवाद, जिनकल्प, स्थविरकल्प इत्यादि विधि विधानों से आगमों के प्रत्येक पद का विभाग करके समझना और कहना कठिन होता है।

३. **दुपस्सं**—तत्त्वों का स्वरूप दिखाना कठिन है। जिनभाषित तत्त्वों को वुद्धि से प्रत्यक्ष करना एवं कराना कठिन है। अति सूक्ष्म बातों को न समझने के कारण श्रद्धा भी डावाडोल हो जाती है। तब मनुष्य कह उठता है कि इन सूक्ष्म बातों के लिखने और कहने से आखिरकार लाभ क्या ? बुद्धि की मन्दता के कारण जो मुश्किल से दिखलाया जा सके, उसे दुपस्स अर्थात् दुर्दर्श कहा जाता है। सूक्ष्म तत्त्व को दर्शाना अत्यन्त कठिन है।

४. **दुतितिक्खं**—परीषह-उपसर्गो का सहन करना अत्यन्त कठिन है। यह सहिष्णुता का परिचायक है, श्रद्धा और भावना की दुर्वलता होने पर सहनशीलता नही वढती। सहनशोलता के विना चारित्र का पालन ठीक तरह से नही हो पाता।

५. **दुरणुचरं**—उन शिष्यो का भगवान के कहे हुए मार्ग पर चलना कठिन होता है, क्योंकि संयम के प्रतिकूल वातावरण में चारित्र का पालन दुश्शक्य हो जाता है। रस-लोलुपता, सुकुमारता और महत्त्वकांक्षा इन कारणों से श्रुत और चारित्र रूप धर्म की आराधना करनी दुःशक्य है। ऋजुता के साथ जड़त्व है तब भी दुर्गम्य है और वक्रत्व के साथ जड़त्व हो तव तो और भी कठिन हो जाता है।

जो सूत्र मे "**दुग्गम**" पद दिया है—उसका आशय यह है—**दुग्गमंति दुःखेन गम्यत इति दुर्गमं, भावसाधनोऽयं कृच्छ्रवृत्तिरित्यर्थः, तद्भवति विनेयानामृजुजडत्वेन वक्रजडत्वेन च।**

मध्यम वाईस तीर्थङ्करो के युग में और महाविदेह के एक सौ साठ विजयों में मनुष्य प्राय. ऋजु एवं प्रज्ञावान् होते हैं। उन्हें धर्म के स्वरूप को समझने में और पालन करने में कोई कठिनाई नही होती, क्योंकि वे हृदय के सरल और वुद्धि के स्वामी होते है। उनके लिये पांच वातें सुगम होती है। वे पाच बाते निम्नलिखित है जैसे कि—

१. **सुआइक्खं**—उन्हे धर्म का स्वरूप कहना सुगम है, धर्म शिक्षा देनी आसान है। वास्तविक वात को समझाने में गुरु को कोई कठिनाई नही आती, उन्हें प्रतिवोध सुगमता से दिया जा सकता है।

२. **सुविभज्जं**—उन्हें आगमों के पाठों का विभिन्न दृष्टिकोणो से विभाग करके समझना और समझाना सुगम है। गुरु के सकेत व उपदेश को सुनकर राजहस के समान क्षीर-नीर विवेक से सूक्ष्म या महान विषय को पृथक्-पृथक् करके समझना और समझाना सुगम है।

३. **सुपस्सं**—उन्हे मत मतातरो में रहे हुए सत्यांश को समझना और समझाना भी सुगम है, उनके लिये सूक्ष्म विषय भी सुवोध है और छुपे हुए सत्य को प्रदर्शित करना भी आसान है।

४. सुतितिक्खं— उन्हें किसी भी परीषह उपसर्ग को सहना कठिन नही है।

५. सुरणुचरं—उनके लिये निरतिचार संयम और तप की आराधना करना भी कोई कठिन कार्य नही है। ऊपर कहे हुए पांच भेदो में पहला और दूसरा भेद सम्यग्ज्ञान से सम्बन्धित है, तीसरा सम्यग्दर्शन से और चौथा एवं पांचवां सम्यक् चारित्र से सम्बन्धित है। इस वर्णन-परम्परा से सूत्रकर्त्ता ने सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के विषय का प्रतिपादन किया है।

श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने सर्वविरति अर्थात् पूर्ण रूप से विरक्त साधु और साध्वियो के लिये पांच जीवनोपयोगी महागुणो का स्वरूप और फल बताया है, उनकी उपयोगिता बताई है और प्रशंसा भी की है। साथ ही उनगुणो को जीवन में उतारने अर्थात् आचरण में लाने की आज्ञा प्रदान की है, जैसे कि क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव, मार्दव और लाघव।

१. क्षांति—क्रोध का सर्वथा त्याग करना, क्रोध उत्पन्न होने के कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध न करना, वाणी या अन्य साधनों से कष्ट देनेवाले पर भी रोप न करना, सशक्त होने पर भी प्रतिकार न करते हुए क्षमा करना, शांति को सदा-सर्वदा बनाए रखना, इस प्रकार अपना जीवन शान्त बनाना, जिससे दूसरो को भी शान्त रहने की प्रेरणा मिल सके, ऐसे गुण-समूह को क्षान्ति कहा जाता है। यह क्षान्ति यद्यपि मनुष्य मात्र के लिये उपयोगी है, तथापि साधु-जीवन के लिये इसकी अनिवार्यता सर्वमान्य है।

२. मुक्ति—यहा मुक्ति का अर्थ है इच्छाओं से छुटकारा। इच्छाओं के आधीन न रह कर, इच्छा-मुक्त जीवन व्यतीत करना। पदार्थो की तृष्णा का त्याग, यहां तक कि धर्मोपकरणों या शरीर पर भी ममत्व न रखना, लोभ-मुक्त मानसिक दशा में रहकर सतोष धारण करना ही मुक्ति है। यह वह दूसरा गुण है जिसे साधु-जीवन के विकास के लिये आवश्यक माना गया है।

३ आर्जव—मन, वाणी और काया में किसी प्रकार का कपट न रखना, अपने अवगुणो एवं दोषों को न छिपाना, कपट को त्याग कर सरल जीवन व्यतीत करना ही आर्जव है। सरलता को धर्म की जननी कहा गया है, क्योकि सरल व्यक्ति ही विनम्र होता है, नमनशील होता है और नमनशील ही ज्ञान-प्राप्ति के योग्य माना गया है—"तद्विद्धि प्रणिपातेन—विनम्रता से ज्ञान को प्राप्त करो" यह आध्यात्मिक सूक्ति इसी ओर सकेत करती है।

४. मार्दव—मार्दव का अर्थ है अपने अहं को गला कर अपने आपको समर्पण के योग्य बना देना। अहं से कठोरता का उदय होता है और विनम्रता से जीवन मे कोमलता एव प्रफुल्लता की वृद्धि होती है, अत: मार्दव जीवन-निर्माणकारी महान् तत्त्व है, क्योकि यही 'पापमूल अभिमान' को नष्ट करता है।

५. लाघव—लाघव का अर्थ है हलकापन, शरीर और मन को बोझल न बनने देना। जब मानव अत्यधिक परिग्रही हो जाता है, सचयशील हो जाता है तो वह उन वस्तुओं की सुरक्षा की चिन्ता से दबा रहता, परिणाम स्वरूप मानव का मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है, आध्यात्मिकता के द्वार बन्द हो जाते है। परिग्रह रूप बोझ को त्याग कर किसी भी समय मन को बोझल न बनने देना ही लाघव है।

अत्यधिक भोजन आदि से शरीर मे प्रमाद एव आलस्य बढ़ जाता है, शरीर में भारीपन होने लगता है, ऐसी दशा मे जबकि लोक-व्यवहार ही नहीं हो पाता, तब अध्यात्म-साधना कैसे हो सकती

है, अतः संतुलित आहार के द्वारा शरीर को हल्का,रखना भी लाघव ही है।

सर्वविरति के लिये पांच बातें भगवान ने और भी वर्णित की हैं जैसे कि सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य। ये पाचों तत्त्व साधुत्व रूप कल्पवृक्ष के मूल है, अतः भगवान ने इनकी आराधना के द्वारा साधुत्व के विकास के लिये आदेश दिया है, प्रेरणा दी है और इस बात का हार्दिक समर्थन किया है कि साधु-जीवन के लिये संयमादि का अनुष्ठान अनिवार्य है और साथ-साथ ही हितकर भी।

१. सत्य—श्रमण निर्ग्रंथों के लिये मिथ्या भाषण सर्वथा हेय है, उन्हें मृषावाद का त्याग तीन करण और तीन योग से करना चाहिए फिर भी जो सत्य किसी के लिये अप्रिय, अहितकर एवं सदोष है, उस सत्य का भी त्याग करना आवश्यक है। जो सत्य मधुर, प्रिय और हितकर है ऐसा सत्य, मन में, वाणी में और व्यवहार में होना चाहिए, वस्तुतः वही सत्य आत्मा को प्रकाशित करनेवाला है। अप्रिय सत्य में हिंसा है, अतः ऐसा सत्य बोलने की अपेक्षा मौन श्रेयस्कारी कहा जा सकता है।

२. संयम—अपने को सम्यक् प्रकार से नियंत्रित करना ही संयम है। वह सत्रह प्रकार का होता है जैसे कि पांच आश्रवों से निवृत्ति, पांच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों पर विजय और दण्ड-त्रय से विरति। इन सबके समुदाय को संयम कहते हैं।[1] अथवा पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय इन समस्त जीवों की हिंसा न करना, हिंसा न करवाना और न ही हिंसा का अनुमोदन करना, मर्यादा-विरुद्ध धर्मोपकरण न रखना, गृहीत उपकरणों से यतना-पूर्वक काम लेना और उठने-बैठने और सोने के स्थान का इस प्रकार निरीक्षण करना कि वहां कोई जीव न हो, गृहस्थ के पापकर्मों का अनुमोदन न करना, विधि से परठना, वस्त्र-पात्र आदि की प्रतिलेखना-प्रमार्जना करना, मन में दुर्भाव न रखना, दुर्वचन न बोलना और यतना से गमनागमन करना, इन समस्त प्रक्रियाओं के सामूहिक रूप को संयम कहते है।[2] इस प्रकार भी १७ भेद संयम के होते हैं।

३. तप—इच्छाओं का निरोध करना ही तप है, जिस अनुष्ठान से शरीर की समस्त विकृतियां एवं आठों कर्म जलकर नष्ट हो जाएं उसी अनुष्ठान को तप कहा जाता है। यह तप बारह प्रकार का होता है। उनमें छः प्रकार का बाह्य तप है और छः प्रकार का आभ्यंतर तप है। प्रत्येक के भेद-प्रभेद और अनुभेद अनेकों ही हैं।[3]

४. त्याग—आत्मविकास में बाधक समस्त पदार्थों का तथा राग द्वेष कषाय आदि का त्याग करना ही वस्तुतः त्याग है। त्याग शब्द, शुद्ध एवं निस्वार्थ दान का पर्यायवाची भी है। संयमियों के द्वारा आहार-पानी, वस्त्र, पात्र आदि संयम-उपयोगी वस्तुओं का दान करना भी त्याग कहलाता है। सुपात्र को दान देना, धर्म-दान करना, तपस्वी रोगी और नवदीक्षित को आहार-पानी देना, आलस्य प्रमाद आदि बुराइयों को छोड़ना भी त्याग है इसके विषय मे वृत्तिकार लिखते हैं—

---

१. पञ्चाश्रवाद्विरमणं पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः।
दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदश भेदः॥

२. पुढविदगअगणिमारुयवणप्फइ वि ति चउ पणिंदि अजीवे।
पेहोपेह पमज्जण परिट्ठवण मणो वई काए॥

३. विस्तृत व्याख्या के लिये देखिए 'औपपातिक सूत्र'।

तो कय पच्चक्खाणो आयरियगिलाणबालबुड्ढाणं।
देज्जाऽसणाइ संते लाभे कय वीरियायारो॥
संविग्ग अन्न संभोइयाण देसिज्ज सड्ढगकुलाणि।
अतरंतो वा संभोइयाण वा देसे जह समाही॥

अर्थात् सशक्य होने पर उद्यत विहारी बने, किसी भी वस्तु का लाभ होने पर सहयोगी साधुओं को आहार पानी देना, अशक्त होने पर यथासंभव उन्हें गृहस्थो के घर बताना, इसी प्रकार उद्यत विहारी होना, असांभोगिक सहधर्मी साधुओं को श्रावको के घर बताना आदि समस्त प्रक्रियाओ का पालन करना भी त्याग कहा गया है। संचय की प्रवृत्ति पर विजय ही वास्तविक त्याग है।

५. ब्रह्मचर्यवास—इसका अर्थ है ब्रह्मचर्य में वास करना या ब्रह्मचर्य से अपने को वासित करना। नव बाड़ सहित ब्रह्मचर्य का पालन करना, ब्रह्मचर्य की साधना के लिये काम-वेग को शान्त करना। यह वेग बड़ा ही भयंकर है, इसके आगे बड़ी से बड़ी शक्तियां भी घुटने टेक देती है। इसे वश करना या इस पर विजय पाना दुष्कर ही नहीं नितान्त कठिन है। जो इसका याथातथ्य पालन करता है उसे भगवान बनने में कोई विलम्ब नहीं रह जाता। वस्तुतः गुप्त ब्रह्मचारी ही भगवान है, ब्रह्मचर्यवास परमात्म-पद पाने के लिये अमोघ साधन है।

क्षांति से लेकर ब्रह्मचर्यवास पर्यन्त इन दस शिक्षा-बिन्दुओं को श्रमण-धर्म एवं यति-धर्म कहा जाता है, इन सब को जीवन में उतारना ही साधुता है। कहा भी है—

खंती य मद्दवऽज्जवमुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वे।
सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जइ धम्मो॥

मनुष्य जब संयमवृत्ति में प्रविष्ट होता है, तब वह अनेक प्रकार के अभिग्रहो के द्वारा तप को ग्रहण कर कर्मों से सर्वथा विमुक्त होने के लिये प्रयत्नशील होता है। श्रमण भगवान महावीर ने श्रमण एवं निर्ग्रन्थो के लिये नित्य आचरणीय अभिग्रहों को धारण करने की आज्ञा प्रदान की है। अभिग्रह का अर्थ है दूसरों के द्वारा अविज्ञात ऐसी धारणा जो संयम-निष्ठा को पूर्णतः जागृत कर सके। इस अभिग्रह के पाच पांच विभागो मे अनेक रूप बताए गए है, जैसे कि—

१. उत्क्षिप्त-चरक—दो शब्दों से इस पद की निष्पत्ति हुई है। उत्क्षिप्त का अर्थ है हंडिया पतीली आदि में से निकाला हुआ भोजन और चरक का अर्थ है ऐसे आहार की गवेषणा करनेवाला साधु। इस प्रकार उत्क्षिप्त-चरक उस साधु को कहा जाता है जो गोचरी के समय ऐसे भोजन की अभिलाषा करता है जो हंडिया एवं पतीली आदि से निकाला जा रहा हो। कुछ साधु पहले ऐसा अभिग्रह कर लेते है कि जिस बर्तन में अन्न पकाया गया हो यदि कोई गृहस्थ अपने निमित्त से उस भोजन को उस बर्तन से निकाल रहा हो तभी मैं इस प्रकार का निर्दोष आहार ग्रहण करूंगा, अन्यथा नही। इस प्रकार के अभिग्रह पूर्वक आहार की खोज करनेवाले साधु उत्क्षिप्तचरक कहलाते है।

२. निक्षिप्त-चरक—जिस बर्तन में अन्न पकाया गया है यदि उसी में से निकालकर कोई देगा और वह भी निर्दोष होगा, तो ही मैं उसे ग्रहण करूंगा, अन्यथा नही, ऐसे आहार की एषणा गवेषणा करनेवाला साधु निक्षिप्तचरक कहलाता है। उत्क्षिप्तचरक पकाए जाने वाले बर्तन में से निकलते

हुए आहार को ग्रहण करता है और निक्षिप्तचरक पकाने के बर्तन में से ही आहार ग्रहण करता है यही दोनों में अन्तर है।

३. **अन्तचरक**—यहां पर अंत शब्द का अर्थ है ऐसे कुल अर्थात् वंश जिनके वैभव का अन्त हो चुका है, अर्थात् निर्धन एवं अभावग्रस्त कुलों से भिक्षा ग्रहण करने की जिसने प्रतिज्ञा ले रखी है, उस साधु को अन्तचरक कहा जाता है।

४. **प्रान्तचरक**—तुच्छ एवं साधारण कुलों से भिक्षा ग्रहण करनेवले साधु को प्रान्तचरक कहा जाता है। अन्तचरक निर्धन किन्तु उच्च कुलों से आहार ग्रहण करता है और प्रान्तचरक निर्धन एवं हीन कुलो से ही आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करता है, यही दोनो मे अन्तर है।

५. **रूक्षचरक**—भुने हुए दाने या रूखी रोटी ही ग्रहण करूंगा, जिस साधु ने यह प्रतिज्ञा ली हुई है उस साधु को रूक्षचरक कहते हैं।

भगवान के द्वारा उपदिष्ट एव अनुमत पाच अन्य अभिग्रह भी है जैसे कि—

१. **अज्ञातचरक**—परिचय रहित अज्ञात घरो से ही भिक्षा ग्रहण करूंगा या अपनी जाति या कुल का परिचय दिए बिना ही अज्ञात अवस्था में रहकर भिक्षा ग्रहण करूंगा, इस प्रकार के अभिग्रह-धारी साधु को अज्ञातचरक कहा जाता है।

२. **अन्नग्लायकचरक**—भूख लगने पर ही भिक्षा के लिये जानेवाले साधु को अन्नग्लानकचरक कहा जाता है। इसका पर्यायवाची शब्द **अन्यग्लायकचरक भी है**, जिसका अभिप्राय है वह साधु जो दूसरे मुनिवर के लिये आहार की गवेषणा करनेवाला है। कुछ साधु ऐसे भी होते है जो अपने लाये हुए आहार का उपयोग स्वय नही करते, वे आहार लाते हैं केवल दूसरों के लिये। वृत्तिकार ने[1] इसको कालाभिग्रह भी माना है, जिसका अभिप्राय है आहार के समय को छोड़कर आहार के लिये गमन करना, प्रातः और सायं इन दो समयों मे ही गोचरी के लिये जाना अन्य किसी समय में नही। इस को भी 'कालाभिग्रह' कहा जा सकता है।

३. **मौनचरक**—जो साधु भिक्षा के समय मौन रहता है, उसे मौनचरक कहा जाता है। मौन रहने से प्रथम तो अनायास ही भाषा-समिति का पालन हो जाता है, वाणी पर नियन्त्रण-हीनता नही आ पाती और साधु यथालाभ सन्तोष की स्थिति को प्राप्त कर लेता हैं।

४. **संसृष्टकल्पिक**—"अचित्त पदार्थो से भरे हुए हाथों से, कड़छी या कटोरी आदि से यदि कोई आहार देगा तो ही ग्रहण करूंगा, अन्यथा नही" इस प्रकार का अभिग्रह धारण करनेवाला साधु—ससृष्टकल्पिक कहलाता है, **कप्पिए** का अर्थ होता है कल्पनीय। जो वस्तु निर्दोष एवं ग्रहणीय हो, उसी वस्तु को उचित पदार्थो से सने हुए हाथो आदि से ग्रहण किया जाय, अन्यथा नही।

५, **तज्जातसंसृष्टकल्पिक**—जो उचित वस्तु ग्रहण करनी है यदि उसी से हाथ वर्तन या

---

१. 'अन्नइलायचरए' त्ति अन्नग्लानको दोषान्नभुगिति भगवती टिप्पण के उक्तः एव विधः सन् अथवा अन्न-विना ग्लायकः—समुत्पन्नवेदनाऽऽदिकारण एवेत्यर्थ., अन्यस्मै वा ग्लायकाय भोजनार्थं चरतीति अन्यग्लायक-चरको अन्यग्लायकचरकोऽन्नग्लायकचरकोऽन्यगलायकचरको वा, क्वचित् पाठः 'अन्नवेल" ति तत्रान्यस्या भोजनकालापेक्षयाऽऽद्यवसानरूपाया वेलाया समये चरतीत्यादि दृश्य, अय च कालाभिग्रह इति।

कड़छी भरी हो तो ग्रहण करना या जिस वस्तु से हाथ आदि भरे हुए हों देनेवाला वही वस्तु दे तो ही भिक्षा ग्रहण करना, इस प्रकार के अभिग्रहधारी को 'तज्जात-संसृष्ट-कल्पिक' कहा जाता है।

भगवान के द्वारा उपदिष्ट और आचरणीय बताए गए अन्य भी पांच अभिग्रह हैं, जैसे कि—

१ **औपनिधिक**—उपाश्रय के समीपवर्ती घरों से ही आहार की गवेषणा करनेवाला या "किसी गृहस्थ के समीप रखी हुई वस्तु यदि मिले तो ग्रहण करू किन्तु दूर रखी हुई वस्तु नहीं" ऐसी प्रतिज्ञा करके आहार की गवेषणा करनेवाले साधु औपनिधिक कहलाते है।

२. **शुद्धैषणिक**—१६ उद्गमदोष, १६ उत्पादन दोप और १० एषणा के दोष—इन ४२ दोपों से मुक्त आहार को ग्रहण करनेवाला साधु 'शुद्धैपणिक' कहलाता है।[1]

३ **संख्यादत्तिक**-- दत्तियो की सख्या के अनुसार भिक्षा ग्रहण करनेवाला साधु 'सख्यादत्तिक' कहलाता है। दत्ति का अर्थ है साधु के पात्र में दाता के द्वारा दिये जानेवाले पदार्थ की जब तक अखंडधारा पडती है वह एक "दत्ति" मानी जाती है। धारा टूट जाने पर पुनः पात्र में पडे वह दूसरी दत्ति होगी, इसीको दूसरे शब्दो में "दात" भी कहते है। जिस दिन जितनी दत्तियां ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की हो, उस दिन उतनी ही दत्तियों को ग्रहण करनेवाला साधु 'संख्या-दत्तिक' कहलाता है।[2]

४. **दृष्टिलाभिक**—जो वस्तु देखने मे आ रही हो उसीमें से यदि कोई भिक्षा दे तो उसीको ग्रहण करनेवाला साधु 'दृष्टलाभिक' कहलाता है। दृष्टलाभिक साधु ढक कर या अलमारी आदि में बंद करके रखी हुई वस्तु को ग्रहण नही करता है।

५ **पृष्टलाभिक**—किसी के पूछने पर ही उससे भिक्षा ग्रहण करनेवाला साधु 'पृष्टलाभिक' कहलाता है। इस प्रकार के साधु के सामने जब कोई गृहस्थ "मुनिवर, क्या आप भिक्षा के लिये पधारे है?' यह प्रश्न करता है और साथ ही वह भिक्षा भी देना चाहता है उसीसे वह भिक्षा ग्रहण करता है।

यहां यह स्मरणीय है कि साधु के इस प्रकार के अभिग्रहों को धारण करने की प्रेरणा इसलिये दी गई है कि वह भोजनासक्ति का परित्याग कर सके। अभिग्रहपूर्ति पर उसे हर्ष न हो और अभिग्रह पूर्ण न होने पर उसे दुःख न हो। इस प्रकार यह निस्पृह जीवन के लिये सुन्दर साधना है। अन्य भी पांच प्रकार के अभिग्रह भगवान के द्वारा उपदिष्ट, प्रशसित एवं अनुमत हैं, जैसे कि—

१. **आचाम्लिक**—जो साधु आयबिल करता है, उसे आचाम्लिक कहा जाता है। जो वस्तु अभीष्ट रस से रहित एव जिसमें विगय अर्थात् घी, दूध आदि का अश भी नही और जिसके सेवन करने से बिल्कुल भी तृप्ति न हो, ऐसी अरुचिकर वस्तु का आहार करनेवाला साधु आचाम्लिक कहलाता है।

२. **निर्विकृतिक**—जो साधु किसी भी विगय अर्थात् घी, दूध, दही, मक्खन, मधु आदि का सेवन नही करता उसे "निर्विकृतिक" कहते है। रूखी रोटी और छाछ के आधार पर ही जीवन-यापन

---

१. इन दोषों का विवरण समिति गुप्ति थोकडे मे मिलता है।

निम्नलिखित गाथा उक्त विषय को स्पष्ट करती है जैसे कि—

२. दत्तीउ जत्तिए वारे खिवइ होंति तत्तिया।
अव्वोच्छिन्न णिवायाओ, दत्ती होई दवेतरा॥

करनेवाले साधु इसी श्रेणि में माने जाते हैं।

३. पूर्वार्द्धिक—जो साधु दिन के तीसरे पहर में ही आहार करता है, पहले या दूसरे पहर में नही, वह साधु पूर्वार्द्धिक कहलाता है।

४. परिमितपिण्डपातिक—द्रव्यों का परिमाण या घरो का परिमाण करके आहार के लिये विचरनेवाला साधु परिमित-पिण्डपातिक कहलाता है। जिस-जिस द्रव्य की जितनी मर्यादा की हो उससे अधिक द्रव्य न लानेवाला और जितने घरो से भिक्षा-ग्रहण की प्रतिज्ञा की हो उतने ही घरों से भिक्षा ग्रहण करनेवाला परिमित-पिण्ड-पातिक कहलाता है।

५. भिन्नपिण्डपातिक– किसी भी अखंड वस्तु को न लेकर टुकड़े-टुकडे की हुई वस्तु को ही ग्रहण करनेवाला साधु भिन्न-पिण्ड-पातिक कहलाता है। जैसे कि टूटे हुए मोदक आदि लेना, या सत्तू आदि का आहार लेना।[1]

अन्य भी पाच प्रकार के अभिग्रह-धारियों का वर्णन भगवान ने किया है उनकी भी पहले की ही तरह प्रशंसा की है, उनकी उस कठोर साधना की अनुमोदना भी की है जैसे कि—

१. अरसाहार—जो साधु हींग आदि मसालेदार व्यजनो से रहित भोजन लेता है और उसी आहार की गवेषणा करता है, उस साधु को 'अरसाहार' कहा जाता है।

२. विरसाहार—जो साधु पुराने धान्य से बने हुए आहार की गवेषणा करता है, उसे 'विरसाहार' साधु कहते हैं।

३. अन्ताहार—जो साधु अन्य साधुओं के भोजन के बाद भुक्तावशेष पदार्थो का आहार करने वाला है, वह 'अन्ताहार' कहलाता है।

४. प्रान्ताहार—जो साधु तुच्छ एवं वासी तथा शीत वस्तु का आहार करनेवाला है, वह 'प्रान्ताहार' कहलाता है।

५. रूक्षाहार –जो साधु रूक्ष पदार्थों का आहार करता है वह रूक्षाहार कहलाता है। वह घी, तेल, दूध, दही आदि का प्रयोग नही करता। केवल नीरस पदार्थो का ही आहार करता है।

भगवान ने अन्य भी पांच प्रकार के अभिग्रहधारी साधुओं का वर्णन एवं समर्थन किया है जैसे कि—

अरसजीवी, विरसजीवी, अन्तजीवी, प्रांतजीवी और रूक्षजीवी। इनका विवरण ऊपर लिखे सदृश ही समझना चाहिए। अन्तर केवल इतना ही है कि निश्चितकाल के लिये अरस आदि आहार करनेवाले साधु पहले पांच भेदो के अन्तर्भूत होते है, किन्तु जिन्होंने उक्त प्रतिज्ञा जीवन भर के लिये की है, उनको अरसजीवी आदि कहा जाता है।

अगले दो सूत्रों में भगवान ने कायक्लेश तप के कुछ भेदों का वर्णन किया है, उनकी साधना करने के लिये भी भगवान ने अनुमति दी है। जो जो क्रियाएं संयम एवं तप के लिये उपयोगी हैं

१. वृत्तिकार लिखते हैं
"भिन्नस्यैव—स्फोटितस्यैव पिण्डस्य सक्तुकादिसम्बन्धिनः पातो-लाभोऽस्यास्ति स भिन्नपिण्डपातिकः।

वे ही भगवान के द्वारा सर्वदा प्रशंसित रही हैं। श्रमण-निर्ग्रन्थों को किन-किन आसनों का उपयोग करना चाहिए ? इस विषय का विवरण निम्नलिखित है जैसे कि—

१. **स्थानातिग**—कायोत्सर्ग करके ध्यान-मुद्रा में खड़े रहने की प्रतिज्ञावाला साधु 'स्थानातिग' कहलाता है।

२. **उत्कटासनिक**—पैरों के भार से बैठकर स्वाध्याय ध्यान आदि धर्म-क्रिया करनेवाले साधु को उत्कटासनिक कहा जाता है।

३. **प्रतिमास्थायी**—जो साधु बारहवीं भिक्षु-प्रतिमा को अंगीकार करके अवस्थित रहनेवाला है धर्म-ध्यान करते समय मेरुगिरि की तरह निष्कम्प एवं अडोल में रहनेवाला है, वह साधु 'प्रतिमा-स्थायी' कहलाता है।

४. **वीरासनिक**—वीरासन से बैठनेवाला साधु 'वीरासनिक' कहलाता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति भूमि पर दोनों पैर रखकर कुर्सी पर बैठा हो फिर उसके नीचे से कुर्सी हटा देने पर वह व्यक्ति यदि पहले की तरह ही बैठा रहे उस आसन को वीरासन कहते है।[1]

५. **नैषद्यिक**—बैठने के एक प्रकार को निषद्या कहते हैं। इस निषद्या मुद्रा में बैठकर साधना करनेवाले साधु को 'नैषद्यिक' कहा जाता है। जो आसन सयम के उपयोगी हो वही आसन समुचित माना गया है, जो आसन अविनीतता, असभ्यता, आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान की स्थिति को प्रकट करनेवाला हो, वह आसन सदा परिवर्जनीय है। पर्यंक-आसन, अर्धपर्यंक आसन, पद्मासन, गोदुहासन, उत्कटासन इत्यादि आसनों का समावेश उक्त-पद में हो जाता है।

आसन वह शारीरिक साधना है जिसके द्वारा शरीर की समस्त जीवन-प्रक्रिया को नियन्त्रित किया जाता, श्वास-प्रश्वास की क्रिया को वल दिया जाता है, शरीर के रक्त-संचार को सुव्यवस्थित एव शुद्ध किया जाता है। इस प्रकार शरीर को आलस्य से मुक्त करके उसे साधना के योग्य बनाया जाता है।

भगवान महावीर के द्वारा उपदिष्ट एवं अनुमत कायक्लेश तप के पांच प्रकार है जो कि कठिन ही नहीं, अति कठिन है जैसे कि—

१. **दण्डायतिक**—जो साधु दंड की तरह सर्वाङ्ग फैलाकर लेट जाता है, किसी भी अग को हिलाता डुलाता नही तथा सिर और पैरों को अधर रखता है उसे दंडायतिक कहते है, ऐसा आसन किसी विशेष अवस्था में निश्चित एवं अनिश्चित काल के लिये किया जाता है।

२. **लगंडशायी**—लगंड का अर्थ है वृक्ष आदि का ऐसा अनघड़ भाग जो दोनों ओर से पृथ्वी को छू रहा हो, परन्तु उसका मध्य भाग ऊंचा उठा हुआ हो। जिस तरह वह काठ दोनो ओर से भूमि पर लगा होता है और उसका मध्य भाग भूमि से ऊंचा रहता है वैसे ही जो साधु पीठ को भूमि पर बिना लगाए लेटे रहनेवाला है वह लगंडशायी कहलाता है।

३. **आतापक**—जो साधु गर्मी की ऋतु में धूप की आतापना लेता है उसे आतापक कहते हैं।

---

१. *'वीरासन भून्यस्तपादस्य सिहासने उपविष्टस्य तदपनयने या कायावस्था तद्रूप, दुष्कर च तदिति, अतएव वीरस्य-साहसिकस्यासनमिति वीरासनमुक्तं, तदस्यास्तीति वीरासनिक'*।

४. अप्रावृतिक—शीतकाल में वस्त्र का उपयोग न करके सूखी घास आदि का ही उपयोग करनेवाला साधु अप्रावृतिक कहलाता है। इस साधना में साधुवेष के अतिरिक्त नग्न मुद्रा सहित ध्याना-वस्था मे स्थिर होने की विधि भी बताई गई है।

५. अकंडूयक—जो शरीर में खुजली चलने पर भी शरीर को खुजलाता न हो ऐसे साधु को अकण्डूयक कहते है। ऐसा करना भी कठिन ही है, इसमें सहनशीलता की पराकाष्ठा है।

प्रश्न हो सकता है कि साधु इस प्रकार शरीर-यातनाएं क्यों सहन करे? क्यों न वह शान्त भाव से बैठ कर ध्यान करते हुए आत्म-चिन्तन के पथ पर अग्रसर हो? यह भी कहा जाता है कि क्या स्वशरीर को कष्ट देना हिंसा नही है? बात बहुत हद तक ठीक भी है, परन्तु जैन साधु साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट होकर जहां अन्य ममताओं का परित्याग करता है वहा वह शरीर-ममता को भी छोड़ देता है। "आप मेट जीवित मरे, तो पावै करतार" की उक्ति प्रसिद्ध है। साधु जीते जी मर जाता है—शरीर को छोड़ देता है। शरीर की ममता का मर जाना ही साधु का जीते जी मर जाना है। वह इस प्रकार साधु आसनों द्वारा एवं काय-क्लेशो द्वारा अपनी परीक्षा स्वयं लेता है कि वह शरीर-ममता का त्याग कर पाया है या नही। जब उसे शारीरिक वेदनाओ की अनुभूति नही हो पाती तब वह समझता है कि अब मैं कायोत्सर्ग की साधना करने के योग्य स्थिति को प्राप्त कर चुका हूं, अतः वह इस स्थिति की प्राप्ति के लिये ही इस प्रकार के शारीरिक कष्ट सहन करता है।

इस प्रकार की क्रिया करनेवाले मुनियों की श्री भगवान ने प्रशंसा की है। ये क्रियाएं योगबल के साथ होने से अनेक प्रकार की लब्धिया अर्थात् सिद्धिया प्रकट करने की सामर्थ्य रखती है। साथ ही इन क्रियाओं की निष्काम आराधना आत्मोद्धार मे भी परम सहायक होती है, क्योंकि इनके द्वारा मनोनियन्त्रण की प्रक्रिया का विकास होता है।

महानिर्जरा और महापर्यवसान के कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ तं जहा—अगिलाए आयरियवेयावच्चं करेमाणे, उवज्झायवेयावच्चं करेमाणे, थेर-वेयावच्चं करेमाणे, तवस्सिवेयावच्चं करेमाणे, गिलाणवेयावच्चं करेमाणे।

पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ, तं जहा—अगिलाए सेहवेयावच्चं करेमाणे, अगिलाए कुलवेयावच्चं करेमाणे, अगिलाए गणवेयावच्चं करेमाणे, संघवेयावच्चं करेमाणे, अगिलाए साहम्मिय-वेयावच्चं करेमाणे ।१०।

छाया—पञ्चभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति, तद्यथा—अग्लान्या आचार्य-वैयावृत्यं कुर्वाणः, एवमुपाध्याय-वैयावृत्यं कुर्वाणः, स्थविर-वैयावृत्यं कुर्वाणः, तपस्वि-वैयावृत्यं कुर्वाणः ग्लान-वैयावृत्यं कुर्वाणः।

पञ्चभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति, तद्यथा—अग्लान्या शैक्ष-वैयावृत्यं कुर्वाण, अग्लान्या कुल-वैयावृत्यं कुर्वाणः, अग्लान्या गण-वैयावृत्यं कुर्वाणः, अग्लान्या संघ-वैयावृत्यं कुर्वाणः, अग्लान्या सार्धमिक-वैयावृत्यं कुर्वाणः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच कारणों से श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा एवं महापर्यवसान अर्थात् निर्वाण प्राप्त करनेवाला होता है, जैसे—अग्लानि से आचार्य की सेवा करने से, उपाध्याय की सेवा करने से, स्थविर की सेवा करने से, तपस्वी की सेवा करने से, और ग्लान अर्थात् रोगी की सेवा करने से ।

पांच कारणों से श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा एवं महापर्यवसान अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेवाला होता है, जैसे—ग्लानिरहित होकर नव दीक्षित की सेवा करने से ग्लानि-रहित होकर कुल की सेवा करने से, ग्लानि-रहित होकर गण की सेवा करने से, ग्लानि-रहित होकर संघ की सेवा करने से और ग्लानिःरहित हो कर सार्धमिक बन्धुओं की सेवा करने से ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में अभिग्रह आदि साधु-चर्याओ का वर्णन किया गया है, वे चर्याएं कर्म-निर्जरा और मोक्षोपलब्धि मे सहायक है, अत. प्रस्तुत सूत्र मे दो सूत्रांशों द्वारा महानिर्जरा और महापर्यवसान के पाच-पांच कारण निर्दिष्ट किए गए हैं । महानिर्जरा का अर्थ है 'वह महासाधना जिससे संचित कर्मों का क्षय हो और महापर्यवसान का अर्थ है—वह प्रक्रिया जिससे निर्वाण-पद की प्राप्ति हो, इसे ही दूसरे शब्दों मे अपुनर्बन्धक कहा जाता है । वृत्तिकार भी यही लिखते है जैसे कि—

"महानिर्जरो—बृहत्कर्मक्षयकारी, महानिर्जरत्वाच्च महद्—आत्यंतिकं पुनरुद्भवाभावात् पर्यवसानं अन्तो यस्य स तथा" विशाल कर्म-समुदाय का क्षय कर देनेवाला "महानिर्जर" है और महानिर्जर होने से ही वह पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है, अतः वह महापर्यवसान बन जाता है अर्थात् मोक्षाभिमुख हो जाता है ।

प्रस्तुत सूत्र में आए हुए 'अगिलाए' शब्द का अर्थ है किसी दबाव एवं अरुचि से नही, अपितु आत्म-प्रेरणा एवं सम्मान के भाव से सेवा करनेवाला ।

प्रस्तुत सूत्र का "वैयावच्च" शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । "वैयावच्चं" का सामान्य अर्थ है सेवा, परन्तु सकाम सेवा नही निष्काम सेवा । जिस सेवा के बदले कुछ चाहिए वह सेवा नहीं दासता है । ऐसी सेवा तो सभी करते है, लाखों लोग जो नौकरी पेशा हैं वे सेवक ही तो है, सकाम सेवा जो कर रहे हैं, परन्तु "वैयावच्च" वह सेवा है जिससे सेवाभावी को कुछ भी मिलता नहीं है,

कुछ भी प्राप्त नहीं होता है, हां कुछ कटता अवश्य है, कुछ छूट जाता है, भण्डार मे से कुछ कम हो जाता है अर्थात् कर्म-बन्धन कट जाते है, कर्म पके हुए फल के समान झड़ जाते है और सेवाभावी सब कुछ छोडकर ऐसे ही हल्का होता जाता है जैसे दवाई से रोग हटते जाते है और मनुष्य रोग-भार से मुक्त होता जाता है। दवाई से रोग झड़ते है, कटते हैं, परन्तु दवाई से शक्ति नही मिलती है, रोग अवश्य नष्ट होते हैं। वैयावृत्य से भी कर्म झड़ते है और साधक 'महानिर्जर' बनता जाता है। इसीलिये "वैयावच्च" संयमी पुरुषों की होती है जो स्वयं कर्मनिर्जरा की महासाधना में लगे हुए है, उनकी संयम-साधना के पोषण के लिये यह सेवा होती है, उनसे कुछ पाने के लिये नही। सेवा के लिये सेवा की जाती है, देवलोक की सीढी प्राप्त करने के लिये नही। अत: 'वैयावृत्य" को महानिर्जरा का साधक बताया गया है। सूत्र के प्रथमांश में वैयावृत्य करने के योग्य पांच महा साधक बताये गए है, जैसे कि—

१. आचार्य—जो महापुरुष स्वयं पांच प्रकार के आचारो का पालन करता है और दूसरों से भी पालन करवाता है वह आचार्य कहलाता है। यह दायित्व चतुर्विध श्री सघ के अधिनायक का है, अत: उसे ही आचार्य कहते है। वह अपनी महासाधना से जन-मानस को प्रभावित करने मे सिद्ध-हस्त होता है और साथ ही अनुशासन-कला में भी प्रवीण होता है।

जैन सस्कृति आचार्य के—प्रव्राजनाचार्य, दिगाचार्य, सूत्रोद्देशनाचार्य, सूत्रसमुद्देशनाचार्य और वाचनाचार्य ये पांच रूप मानती है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

(क) प्रव्राजनाचार्य—जो शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुसार त्यागमय जीवन अपनाने के अभिलाषियो को दीक्षित करते हैं।

(ख) दिगाचार्य—जो भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देने में सिद्धहस्त हैं।

(ग) उद्देशनाचार्य—जो किस-किस शिष्य की कैसी-कैसी योग्यता है, इस बात को लक्ष्य में रखकर उनकी योग्यता एवं अभिरुचि के अनुसार आगमों के अध्ययन के लिये आज्ञा देनेवाले हैं।

(घ) समुद्देशनाचार्य—जो आगमों के अन्तर्वर्ती विशेष प्रकरणों को समझने के लिये या आगमो का ज्ञान स्थिर रखने के लिये तथा साधक-वर्ग को संयम में स्थिर रखने के लिये छोटे-छोटे कार्यों के लिये आज्ञा देते है।

(ङ) वाचनाचार्य—जो शिष्यों को स्वयमेव सूत्र और अर्थ का अध्ययन करवाते है।

२. उपाध्याय—जो मुनिराज आगमो का अध्ययन करवाते है और प्रमाण-नय-निक्षेप-अनुगम उत्सर्ग-अपवाद तथा विभिन्न दर्शनो की मान्यता को लक्ष्य मे रखकर भेद-प्रभेदो सहित विषय को स्पष्ट कर साधको के मन को समाहित करते है, उन्हें उपाध्याय कहते है।

३. स्थविर—धर्म में स्थिर करनेवाले को स्थविर कहते हैं। स्थविर तीन प्रकार के होते हैं जिनकी आयु साठ वर्ष की हो गई है, उन्हे वय स्थविर कहा जाता है। जिन की दीक्षा बीस वर्ष की हो चुकी है उन्हे पर्यायस्थविर कहते है, जिन्होने स्थानाङ्ग और समवायाग सूत्रो का क्रमश अच्छी तरह अध्ययन कर लिया है उन्हे श्रुतस्थविर कहा जाता है। इस प्रकार आयु, दीक्षा और अध्ययन की दृष्टि से स्थविरो के भी तीन रूप माने गए हैं।

४. तपस्वी—जिनकी तपस्या निरन्तर चलती रहती है, अर्थात् जिनका समस्त जीवन तपस्यामय बन गया है और जो तपस्या के द्वारा कर्मनिर्जरा का महाप्रयास कर रहे हैं उन्हे ही तपस्वी कहा जाता

है। तपस्वी जीवन में बाह्य तपों की अपेक्षा अन्त तप की ही प्रधानता रहती है।

५. ग्लान--जो रोगग्रस्त है, आतंकित हैं, व्याधि आदि से अशक्त है, कर्मों के उदय से या वात-पित्त और कफ आदि की विषमता से जो शरीर-साधना में असमर्थ है या आघात आदि हो जाने से पीड़ा-ग्रस्त हैं, वे ग्लान हैं। इनकी निस्वार्थ भाव से, रुचि एवं सम्मान-पूर्वक जो वैयावृत्य करता है वह कर्मों की महानिर्जरा एव महापर्यवसान करता है।

महानिर्जरा और महापर्यवसान करने के लिये पाच अन्य साधक भी सेवनीय बताए गए हैं :—

१. नवदीक्षित—नव दीक्षित को आचार-विचार की शिक्षा देना, उसे पढ़ाना, उसके खान-पान रहन-सहन का ध्यान रखना, सयम एव सम्यग्दर्शन में जैसे भी वह स्थिर रह सके उस प्रकार उसकी सेवा करना।

२. कुल—एक गुरु की संतति को कुल कहा जाता है। कुल-सेवा भी आवश्यक है।

३. गण—कुल के समुदाय को गण कहते हैं, और गण-सेवा भी अनिवार्य है।

४. सघ—गणों के समुदाय को सघ कहते है, सघ-सेवा को महा सेवा माना गया है।

५. साधर्मिक—समान धर्म वाला साधु साधर्मिक कहलाता है। इनकी समुचित रीति से सेवा करनेवाला भी कर्मों की महानिर्जरा और महापर्यवसान करता है।

विसांभोगिकता और पाराञ्चित प्रायश्चित्त

मूल—पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे साहम्मियं संभोइयं विसंभोइयं करेमाणे णाइक्कमइ, तं जहा—सकिरिअट्ठाणं पडिसेवित्ता भवइ, पडिसेवित्ता णो आलोएइ, आलोइत्ता णो पट्ठवेइ, पट्ठवेत्ता णो णिव्विसइ, जाइं इमाइं-थेराणं ठिइपकप्पाइं भवंति, ताइं अतियंचिय-अतियंच्चिय पडिसेवेइ। से हंदऽहं पडिसेवामि, किं मे थेरा करिस्संति।

पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे साहम्मियं पारंचियं करेमाणे णाइक्कमइ, तं जहा—सकुले वसइ, सकुलस्स भेदाए अब्भुट्ठित्ता भवइ, गणे वसइ, गणस्स भेयाए अब्भुट्ठेत्ता भवइ, हिंसप्पेही, छिद्दप्पेही, अभिक्खणं पसि-णाययणाइं पउंजित्ता भवइ।११।

छाया—पञ्चभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थः साधर्मिकं साम्भोगिकं विसाम्भोगिकं कुर्वाणो नातिक्रामति, तद्यथा—सक्रियस्थानं प्रतिषेविता भवति, प्रतिषेव्य नो आलोचयति, आलोच्य नो प्रस्थापयति, प्रस्थाप्य नो निर्विशति, यानि इमानि स्थविराणां स्थितिप्रकल्प्यानि भवन्ति तान्यतिक्रम्यातिक्रम्य प्रतिषेवते, तद् हन्त! प्रतिषेवामि, किं मम स्थविराः करिष्यन्ति ?

पञ्चभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थः सार्धमिकं पारञ्चितं कुर्वाणो नातिक्रामति तद्यथा— स्वकुले वसति, स्वकुलस्य भेदाय अभ्युत्थाता भवति, गणे वसति, गणस्य भेदाय अभ्युत्थाता भवति, हिंसाप्रेक्षी, छिद्रप्रेक्षी, अभीक्ष्णमभीक्ष्णं प्रश्नायतनानि प्रयोक्ता भवति।

शब्दार्थ—पंचहिं ठाणेहिं—पाच कारणो से; समणे णिग्गंथे—श्रमण निर्ग्रन्थ, साहम्मिय संभोइय—सार्धमिक सभोगी साधु को, विसंभोइयं—विसंभोगी, करेमाणे णाइक्कमइ—करता हुआ मर्यादा का उल्लंघन नही करता है; तं जहा—जैसे, सकिरिअट्ठाण—जो साधक सक्रिय स्थान का, पडिसेवित्ता भवइ—सेवन करनेवाला है; (परन्तु) पडिसेवित्ता—सेवन करके; णो आलोएइ—आलोचना नही करता, आलोइत्ता—आलोचना करके; णो पट्ठवेइ—प्रायश्चित्त करना प्रारम्भ नही करता; पट्ठवेत्ता—प्रायश्चित्त करना, शुरू करके, णो णिव्विसइ—उसे अच्छी तरह पूर्ण नही करता है, जाइ—जो, इमाइं—ये, थेराणं—स्थविरो के; ठिइपकप्पाइं भवति—स्थिति कल्प हैं, ताइ—उन्हे; अतियच्चिय अतियंचिय—बार-बार अतिक्रमण करके, पडिसेवेइ—सेवन करता है और कहता है, से—उसे, हंद हं—हा! मै, पडिसेवामि—सेवन करता हू, थेरा—स्थविर लोग, मे—मेरा, किं—क्या, करिस्सति—करेंगे?

पचहिं ठाणेहिं—पाच कारणो से, समणे णिग्गथे—श्रमण निर्ग्रन्थ, साहम्मियं—सार्धमिक को, पारचिय—पाराचित प्रायश्चित्त मे नियुक्त, करेमाणे—करता हुआ, णाइक्कमइ—आज्ञा का अतिक्रमण नही करता है, त जहा—जैसे, सकुले—जिस अपने कुल मे, वसइ—वास करता है, सकुलस्स—उस कुल के, भेदाय—भेद के लिये, अब्भुट्ठित्ता भवइ—प्रयत्न करता है, गणे वसइ—जिस गण मे रहता है, गणस्स—उस गण के; भेदाए—भेद के लिये, अब्भुट्ठेत्ता भवइ—प्रयत्न करता है, हिंसप्पेही—जो हिंसा करता है, छिद्दप्पेही—छिद्र देखता है, अभिक्खणं—बार-बार, पसिणायतणाइ—सावद्य प्रश्नो का, पउजित्ता—प्रयोग करनेवाला, भवइ—बनता है।

मूलार्थ—पांच कारणों से यदि श्रमण-निर्ग्रन्थ अपने सार्धमिक साभोगिक साधु को विसाभोगिक—मांडले से बहिष्कृत करता है तो वह सघ की मर्यादा का उल्लंघन नही करता है जैसेकि जो सक्रिय स्थान—पापकारी कर्म का सेवन करता है, पाप-कर्म का सेवन करके आलोचना नही करता, आलोचना करके तदनुसार प्रस्थापना अर्थात् प्रायश्चित्त का प्रारभ नही करता और गृहीत प्रायश्चित्त का भलीभान्ति निर्वाह नही करता और स्थविरों की कल्पस्थिति अर्थात् जो साधु सामाचारियां बनी हुई है उनका बार-बार उल्लंघन करके निषिद्ध कर्म का सेवन करता है और पूछने पर उद्दण्डता से कहता है कि—"अरे हा! मै यह पाप-कर्म सेवन करता हूं, स्थविर मेरा

क्या कर सकते है" ।

पांच कारणों से श्रमण-निर्ग्रन्थ यदि अपने सार्धमिक साधु को पाराञ्चित प्रायश्चित देता है तो वह साधु मर्यादा का अतिक्रमण नहा करता है, जैसे कि जो कुल के अन्दर रहता हुआ भी कुल में भेद डालने का प्रयत्न करता है, गण में रहता हुआ भी गण में भेद डालने का प्रयत्न करता है, हिंसा करता है, दूसरे साथियों के छिद्र देखता है, बार-बार सावद्य (ज्योतिष सामुद्रिक आदि) प्रश्नों का प्रयोग करता है ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में महासाधकों द्वारा कर्म-निर्जरा एवं मोक्षोपलब्धि के लिये किए जानेवाले आचार्यो आदि के वैयावृत्य का वर्णन किया गया है । प्रस्तुत सूत्र में आचार्यों, आदि के विरुद्ध आचरण करनेवाले को दण्डित करने पर भी 'श्रमण' साधु-मर्यादा का उल्लघन नही करता, इस विषय का वर्णन किया गया है। जिस साधु के साथ साधु एक पक्ति मे बैठ कर भोजन करते है वे उसे सांभोगिक कहते है, किन्तु साधु-पक्ति से जिसका वहिष्कार कर दिया जाता है उन्हे विसांभोगिक कहा जाता है । जिनके साथ कभी भी पंक्तिबद्ध भोजन नही किया गया और न ही मिलवर्तन की गई है उसे असाभोगिक कहते हैं । सांभोगिक साधर्मी को पाच कारणो मे से किसी भी एक कारण से विसाभोगिक करते हुए भगवान की आज्ञा का उल्लघन नही होता जैसे कि—

१. जो साधु लोकापवादजनक अकरणीय एवं निन्दनीय दोषों का सेवन करता है ।

२. जो अकरणीय दोषों का सेवन करके गुरु के पास आकर उन अकृत्य कर्मो की आलोचना नही करता है ।

३. जो साधु आलोचना करने पर भी गुरु के द्वारा दिए हुए प्रायश्चित्त को ग्रहण नहीं करता है ।

४. जो साधु प्रायश्चित्त लेने पर भी उसका पूर्ण-रूपेण पालन नही करता है ।

५. स्थविरो ने जो साधु-समाचारी के नियम बनाए हुए है, उनका पुन.-पुनः उल्लंघन करता है । यदि इसे कोई विरक्त साथी कहता है कि इस गण की नियमावली का उल्लघन तुम क्यो करते हो ? तो वह इसके उत्तर में यह कहता है कि मैं इस गण-समाचारी को नहो मानता, अतः मैं इस समाचारी के प्रतिकूल चल रहा हूँ, मैं देखूगा कि स्थविर मेरा क्या कर सकेंगे । यदि स्थविर रुष्ट हो जाएगे तो वे मेरा कुछ भी बिगाड़ नही सकते ।

इन पांच कारणो से साभोगिक को विसाभोगिक बनाते हुए प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन होना नही माना जाता । विसाभोगिक न बनाने से और उसको साथ रखने से अन्य साधुओ के जीवन पर दुष्प्रभाव पड़े बिना नही रह सकता । जैसे गले-सड़े अग का ऑप्रेशन किए विना शेष अग सुरक्षित नही रह सकते वैसे ही उसके सम्मिलित रहते सघ व्यवस्थित नही रह सकता, अतः सघ की रक्षा के लिये दुर्विनीत को विसाभोगिक बना देने मे ही श्रेय है ।

सूत्रकर्त्ता ने जो ठिइपकप्पाइं पद दिया है इसका भाव वृत्तिकार ने अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है जैसे कि—"स्थविरकल्पिकानां स्थितौ समाचारे प्रकल्प्यानि–प्रकल्पनीयानि योग्यानि विशुद्धपिण्डशय्यादीनि स्थितिप्रकल्प्यानि" अर्थात् बहुमत से या सर्व-सम्मति से गण-समाचारी का निर्माण होता है और वह समाचारी देश और काल एवं समयानुकूल परिस्थितियों के अनुसार होती है। इसका उल्लघन करना किसी प्रकार भी योग्य नही है। जो मुनि उनका उल्लघन करता है वह आहार की पक्ति से वहिष्कृत करने योग्य है।

साभोगिक को विसांभोगिक बनाने पर मानसिक कष्ट अवश्य होगा, कष्ट देना ही हिंसा है और निर्ग्रन्थ श्रमण ने हिंसा के त्याग का महाव्रत धारण किया हुआ है, अतः महाश्रमण किसी को विसांभोगिक बनाकर हिंसा कैसे कर सकता है ? शास्त्रकार के मन में यह प्रश्न अवश्य जागृत हुआ होगा, उसका समाधान होना आवश्यक था, प्रस्तुत सूत्र उसी का समाधान है। श्रमण-निर्ग्रन्थ मर्यादाशील है और मर्यादाओ का रक्षक भी, अतः वह देखता है कि कोई दुर्विनीत तथाकथित साधक साधु-जीवन की मर्यादाओ का उल्लघन तो नही कर रहा है, यदि कोई वरिष्ठ मुनिवर संयम शुद्धि के लिए दण्ड देता और संयमी का साथ देता है, तो वह हिंसा नहीं करता, अपितु अहिंसा व्रत की रक्षा करता हुआ, मर्यादाओ की रक्षा के दायित्व का भी पालन करता है।

इस सूत्र के दूसरे अनुच्छेद मे पाराचित प्रायश्चित्त का उल्लेख किया गया है। राजनीति में जैसे सबसे बड़ा दण्ड प्राणदण्ड या आजीवन कारावास है, वैसे ही जो साधु साधना मे सलग्न होकर विषय-कषाय, कलह एव भेद-नीति मे सलग्न रहता है उसे पराचित प्रायश्चित दिया जाता है। वह पंचम स्थान के अनुरोध से पाच प्रकार का कथन किया गया है। सम्भव है कोई मुमुक्षु उक्त दंड को जानकर वैसी प्रवृत्ति न करे इसी दृष्टि से सूत्रकार ने पाच कारणो का उल्लेख किया है जैसे कि—

१. जो साधु जिस कुल या गच्छ मे रह रहा है यदि वह उसी मे भेद या फूट डालने के यत्न करता है।
२. जो साधु जिस गण या गच्छ मे रहता है वह उसमे किसी तरह भेद पड जाए इस अभिप्राय से परस्पर कलह उत्पन्न करता है। कलह उत्पन्न करने की प्रवृत्ति करना महादोष है।
३. जो साधु किसी गृहस्थ या साधु की हत्या करने का षड्यंत्र रचता है।
४. जो साधु किसी को मारने के लिए छिद्र देखता रहता है।
५. जो साधु सावद्य—पाप सहित अनुष्ठान के विषय मे असयमी से पूछताछ करता ही रहता है। जो बाते गृहस्थ से नहीं पूछनी चाहिए, उन्हे उनसे पूछता रहता है। जिन प्रश्नो से साधु के मूलगुण और उत्तरगुण विकृत हो जाते हो ऐसे प्रश्न पूछने वाले और बतानेवाले साधक को परांचित प्रायश्चित्त का भागी बताया गया है।

इनमे से किसी एक भी दोष का सेवन करनेवाला साधु पारांचित प्रायश्चित्त का भागी बनता है। "इसमें साधु को नियत काल के लिये दोष की शुद्धि पर्यन्त साधु वृत्ति पालते हुए गृहस्थ के वेष में रहना पड़ता है।" इससे सिद्ध होता है कुल मे भेद डालना, गण मे भेद डालना, मन मे हिंसा के भाव लाना, किसी की कमिया एवं दोष देखना, जिससे आत्मा धर्म-मार्ग से भटक जाए ऐसे प्रश्न पूछना और हिंसा झूठ, चोरी, दुराचार आदि मे प्रवृत्त कराने वाले उत्तर देना—ये सब बड़े अपराध है और उनके लिये

प्रायश्चित्त भी बड़ा ही बताया गया है, ताकि ऐसे अपराध करने के लिये किसी का साहस ही न हो। अन्यथा गण एवं संघ की रक्षा नहीं हो सकती। संघ को सुदृढ व्यवस्थित रखना ही भगवान की सेवा तथा भक्ति है। प्रथम सूत्र में स्थविर आदि की सेवा बताई गई है और इस सूत्र में प्रकारान्तर से गण-सेवा का उल्लेख हुआ है।

कलह और शान्ति के कारण

मूल—आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि पंच वुग्गहट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—आयरियउवज्झाए णं गणंसि आणं वा, धारणं वा नो सम्मं पउंजेत्ता भवइ, आयरियउवज्झाए णं गणंसि आहारइणियाए किइकम्मं नो सम्मं पउंजित्ता भवइ, आयरियउवज्झाए जे सुत्तपज्जवजाए धारेंति, ते काले णो सम्ममणुप्पवाइत्ता भवइ, आयरियउवज्झाए गणंसि गिलाणसेहवेयावच्चं नो सम्ममब्भुट्ठित्ता भवइ, आयरियउवज्झाए गणंसि अणापुच्छियचारी यावि हवइ नो आपुच्छियचारी।

आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि पंचा अवुग्गहट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—आयरियउवज्झाए गणंसि आणं वा, धारणं वा सम्मं पउंजित्ता भवइ, एवमहारायणियाए सम्मं किइकम्मं पउंजित्ता भवइ, आयरियउवज्झाए णं गणंसि जे सुत्तपज्जवजाए धारेइ, ते काले-काले सम्मं अणुपवाइत्ता भवइ, आयरियउवज्झाए गणंसि गिलाणसेहवेयावच्चं सम्मं अब्भुट्ठित्ता भवइ, आयरियउवज्झाए गणंसि आपुच्छियचारी यावि भवइ, णो अणापुच्छियचारी।१२।

छाया—आचार्योपाध्यायस्य (योः) गणे पञ्च विग्रह-स्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आचार्योपाध्यायौ गणे आज्ञां वा, धारणां वा नो सम्यक् प्रयोक्तारौ भवतः, आचार्योपाध्यायौ गणे यथारात्निकतया कीर्तिकर्म नो सम्यक् प्रयोक्तारौ भवतः, आचार्योपाध्यायौ गणे यानि श्रुतपर्यवजातानि धारयतस्तानि काले-काले नो सम्यगनुप्रवाचयितारौ भवतः, आचार्योपाध्यायौ गणे ग्लानशैक्षवैयावृत्यं नो सम्यगभ्युत्थितारौ भवतः, आचार्योपाध्यायौ गणे अनापृच्छ्यचारिणौ चाऽपि भवतः, नो आपृच्छ्यचारिणौ भवतः।

आचार्योपाध्यायस्य गणे पञ्च अविग्रहस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आचार्योपाध्यायौ गणे आज्ञां वा, धारणां वा सम्यक् प्रयोक्तारौ भवतः, एवं यथारात्निकतया सम्यक

कीर्तिकर्म प्रयोक्तारौ भवतः, आचार्योपाध्यायौ गणे यानि श्रुतपर्यवजातानि धारयतस्तानि काले-काले सम्यगनुप्रवाचयितारौ भवतः, आचार्योपाध्यायौ गणे ग्लान-शैक्षवैयावृत्यं सम्यगभ्युत्थितारौ भवतः, आचार्योपाध्यायौ गणे आपृच्छ्यचारिणौ चाऽपि भवतः, नो अनापृच्छ्यचारिणौ भवतः ।

शब्दार्थ—आयरियउवज्झायस्स णं—आचार्य उपाध्याय के; गणंसि—गण में; पंच वुग्गहट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—पांच कलह के स्थान कथन किए गये है, जैसे; आयरियउवज्झाए णं—आचार्य और उपाध्याय; गणंसि—गच्छ में; आणं वा—आज्ञा का और; धारणं वा—धारणा का; सम्मं पउंजेत्ता—सम्यक् प्रयोग करनेवाले; नो भवइ—नही हैं; आयरियउवज्झाएणं गणंसि—आचार्य उपाध्याय के गण में, अहाराइणियाए—यथारात्निकों के प्रति; किइकम्मं—कीर्त्तिकर्म-वन्दन का; नो सम्मं पउंजित्ता भवइ—सम्यक् प्रकार से प्रयोग नही करते; आयरियउवज्झाए गणंसि—आचार्य उपाध्याय गण में; जे—जो; सुत्तपज्जवजाए धारेइ—श्रुत के पर्याय धारण करते हैं; ते—वे शिष्योंको; काले-काले—यथाकाल, सम्ममणुप्पवाइत्ता—सम्यक् रूप से वाचन देनेवाले, नो भवइ—नही होते हैं; आयरियउवज्झाए गणंसि—आचार्य उपाध्याय गण में; गिलाणसेहवेयावच्च—रोगी और नवदीक्षित के वैयावृत्य का; सम्ममब्भुट्ठित्ता—सम्यक् रूप से प्रयत्न करनेवाले; नो भवइ—नही होते हैं, आयरियउवज्झाए गणंसि—आचार्य-उपाध्याय गण में, अणापुच्छियचारी—विना पूछे विचरने वाले; यावि भवइ—होते हैं; आपुच्छियचारी नो भवइ—पूछ कर विचरने वाले नहीं होते ।

आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि—आचार्य-उपाध्याय के गण मे, पंचवुग्गहट्ठाणा—पाच व्युद्ग्रह के स्थान; पण्णत्ता, तं जहा—प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, आयरियउवज्झाए गणंसि—आचार्य और उपाध्याय गण मे; आणं वा, धारणं वा—आज्ञा और धारण का, सम्मं—सम्यक्, पउंजित्ता—प्रयोग करनेवाले; भवइ—होते है; एवं - इसी प्रकार; आहारायणियाए—यथारात्निको के प्रति, सम्मं—सम्यक्, किइकम्मं—कीर्तिकर्म का, पउंजित्ता भवइ—प्रयोग करनेवाले होते है, आयरियउवज्झाए गणंसि—आचार्य-उपाध्याय गण मे, जे—जो, सुत्तपज्जवजाए धारेइ—श्रुतपर्याय धारण करते हैं; तो—उन को,. काले-काले—यथाकाल, सम्मं—सम्यक्, अणुप्पवाइत्ता भवइ—वाचना देनेवाले होते हैं, आयरियउवज्झाए गणंसि—आचार्य उपाध्याय गण में; गिलाण-सेह वेयावच्चं—रोगी और नवदीक्षित की सेवा के लिये, सम्मं—सम्यक्रूप से; अब्भुट्ठित्ता भवइ—प्रयत्न करते हैं, आयरियउवज्झाए गणंसि—आचार्य-उपाध्याय गण में, आपुच्छियचारी यावि भवइ—गच्छ से पूछ कर विचरने वाले होते हैं, नो अणापुच्छियचारी—बिना पूछे विचरने वाले नहीं होते हैं ।

मूलार्थ आचार्य और उपाध्याय के लिये गण (संघ) में पांच विग्रह-कलह के स्थान वतलाए गए हैं, जैसे—जब आचार्य और उपाध्याय गण में आज्ञा और

धारणा का सम्यक् प्रयोग नहीं करते हैं, आचार्य और उपाध्याय गण में यथारात्निक—बड़े और छोटे के क्रम से वन्दन का प्रयोग नहीं करते, आचार्य-उपाध्याय गण में अधीत श्रुत की यथाकाल शिष्यों को वाचना नहीं देते, आचार्य एवं उपाध्याय गण में रोगी और नव दीक्षित की सेवा का सम्यक् प्रवन्ध नहीं करते हैं और आचार्य तथा उपाध्याय गण को पूछे विना ही दूर देश में विचरते हैं, पूछ कर नहीं विचरते।

आचार्य और उपाध्याय के गण में पांच अविग्रह के स्थान बतलाए गए हैं, जैसे—जव आचार्य और उपाध्याय गण में आज्ञा और धारणा का सम्यक् प्रयोग करते हैं, आचार्य तथा उपाध्याय गण में जव रात्निक वन्दन का प्रयोग करते हैं, आचार्य और उपाध्याय गण में अधीत श्रुत की यथासमय शिष्यों को वाचना देते है, आचार्य-उपाध्याय गण में रोगी एवं नव दीक्षित की सेवा का समुचित प्रवन्ध करते हैं, आचार्य और उपाध्याय गण को पूछकर ही दूर देश में भ्रमणार्थ जाते पूछे नहीं जाते है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में मर्यादा-विरुद्ध आचरण करनेवाले शिष्यों को प्रायश्चित्त आ। देने पर भी आचार्य एवं उपाध्याय की निर्दोषता का वर्णन करने के अनन्तर अव सूत्रकार आचार्य एवं उपाध्याय से सम्वन्धित गण की दुर्व्यवस्था एवं सुव्यवस्था का वर्णन करते है। यद्यपि साधक की निजी साधना ही आत्मोत्थान में सहायक हो सकती है, पर व्यक्ति को समाज से भिन्न रूप में नही देखा जा सकता, अतः वैयक्तिक साधना भी तभी सम्पन्न हो सकती है जव कि साधक को अच्छा साधना-निर्देश प्राप्त हो। साधना-निर्देश आचार्य और उपाध्याय ही दे सकते है, परन्तु उसी दशा में जबकि उनके द्वारा सचालित एव शासित गण सुव्यवस्थित हो, अतः साधक की साधना गण की सुव्यवस्था एवं दुर्व्यवस्था पर भी निर्भर है। गण मे दुर्व्यवस्था कव फैलती है ? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं :—

१ जिस गण में आचार्य एवं उपाध्याय की आज्ञा एवं धारणा का सम्यक्तया पालन नही होता है उस गण में अव्यवस्था एवं कलह जागृत हो जाती है। सूत्र निर्दिष्ट "आणं" का अर्थ है आज्ञा। आज्ञा विधायक शब्द है। जव आचार्य एवं उपाध्याय साधकों को 'तुम्हें ऐसा करना चाहिए।' 'तुम ऐसा करो।' यह आदेश देते हैं—करने का विधान करते हैं, यदि गण में इस विधान का पालन नहीं होता है तो गण अव्यवस्थित एवं अनुशासनहीन हो जाता है।

सूत्रगत 'धारणं' शब्द निवृत्त्यात्मक है—नकारात्मक है। जव आचार्य एवं उपाध्याय साधको को यह आदेश देते है कि 'तुम ऐसा मत करो!' 'तुम्हें यह कार्य नहीं करना चाहिए,' तब वे 'धारणा'

का प्रयोग करते हैं। यहां पर 'धारणा' शब्द इसी विशेष अर्थ का बोधक है। किसी ध्येय पर सतत मन की एकाग्रता' वाला प्रसिद्ध अर्थ यहां अभीष्ट नही है। जब आचार्य एवं उपाध्याय साधकों को किसी अकरणीय कृत्य से रोकते हैं तब भी वे साधक यदि उस अकरणीय कृत्य का परित्याग नही करते हैं तो गण में अव्यवस्था फैल जाती है।

वृत्तिकार ने 'धारणं' शब्द की एक अन्य रूप में भी व्याख्या की है, जैसे कि जब कोई गीतार्थ मुनि अर्थात् साधु-वृत्ति का भली-भान्ति आचरण करनेवाला 'साधु, साधु-वृत्ति को दूषित करनेवाला कोई आचरण हो जाने पर स्वयं ही उसकी आलोचना करता हुआ उसके लिये कोई प्रायश्चित्त लेना चाहता है तो वह अपने गण के किन्ही सामान्य बुद्धि साधकों को किसी विशेष अभिप्राय को व्यंजित करनेवाली रहस्यमयी ध्वन्यात्मक भाषा में पत्र लिखकर किसी दूर प्रदेश में विराजमान आचार्य एवं उपाध्याय के पास भेज देता है तो, वे उस पत्र को पढ़कर जब उसका अभिप्राय समझ लेते है, व उसी प्रकार की गूढ अर्थ को व्यंजित करनेवाली संश्लिष्ट भाषा में उस गीतार्थ मुनि के लिये प्रायश्चित्त-विधान रूप जो आदेश प्रेषित करते हैं, वह आदेश ही आज्ञा है और उनके द्वारा भेजी गई प्रायश्चित्त रूप आज्ञा को स्वेच्छा से पालन करना धारणा है। यदि गण में इस प्रकार की आज्ञा और धारणा का विधिवत् पालन होता है तो गण में सुव्यस्था बनी रहती है, यदि आज्ञा का उल्लंघन होता है, धारणा वृत्ति का पालन नहीं किया जाता है तो गण अव्यस्थित एवं विग्रह-स्थान बन जाता है।'[1]

२. जो मुनि किसी मुनि से दीक्षा में बड़े होते हैं उन्हें जैन-भाषा में 'रात्निक' कहा जाता है। रत्नोंवाला ही रात्निक है। रत्न दो प्रकार के होते हैं—'द्रव्य-रत्न' और भाव-रत्न। प्रवाल, वैडूर्य, हीरक आदि सोलह प्रकार के रत्न प्रसिद्ध हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र को 'भाव-रत्न' कहा जाता है। जो दीक्षा में बडे मुनिराज हैं और साथ ही रत्न-त्रय से संम्पन्न है अथवा रत्न-त्रय की उपलब्धि में लीन हैं उनका कृति-कर्म अर्थात् वन्दन, विनय, सेवा आदि का जब गण मे अभाव होता है तो गण में कलह जन्म ले लेती है। बडों का यथा-क्रम मान-सम्मान न करना और गण में रहने वालों का अनुशासन-विहीन होना उन्हे उन्मत्त बना देता है और उन्मत्तता ही कलह का सबसे बड़ा कारण है।

३ जो आगमों के वेत्ता है वे यदि शिष्यों को अध्यापन नही कराते, तो वे अपने कर्तव्य से विमुख हो जाते हैं और तभी गण में कलह उत्पन्न हो जाता है।

सूत्रकर्ता ने "जे सुत्तपज्जवजाए धारेंति, ते काले-काले णो सम्ममणुप्पवाइत्ता भवइ', यह लिखा है। इसका भाव यह है कि जो सूत्र एवं अर्थ के भावों को जानता है, परन्तु यथाविधि-यथासमय शिष्यों को पढाता नही है, तो उसकी यह कर्तव्य-विमुखता कलह का कारण बन जाती है। व्यवहार सूत्र के दसवे उद्देशक में आगमों के पाठ्यक्रम के विषय मे वर्णन किया गया है। आगमो के अध्यापन के लिये सयमपर्याय, गम्भीरता, उपधानतप, प्रगाढ श्रद्धा और ग्रहण-शक्ति जैसी-जैसी शिष्यो मे पाई जाती है, वैसी-वैसी अध्ययन-पद्धति अपनानी आवश्यक बताई गई है। इससे विपरीत श्रुताध्ययन लाभ

---

१. गूढार्थपदैरगीतार्थस्य पुरत. देशान्तरस्थगीतार्थनिवेदनाय गीतार्थो यदतिचारनिवेदन करोति, सा आज्ञा, असकृद्दालोचनादानेन यत्प्रायश्चित्तविशेषावधारण सा धारणा, तयोर्न सम्यक् प्रयोक्तेति, स. कलहभागिति प्रथमम्।

—वृत्तिकार:

के बदले कलह का कारण बनता है।

४. गण में क्लेश और अशान्ति का चौथा कारण है रोगी और नवदीक्षित की देखभाल एवं सेवा का न होना। रोगी की सेवा न करने से उसमें आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान हो जाने की सभावना रहती है और वह संयम से पतित भी हो सकता है। इसी प्रकार नवदीक्षित को सयम मे स्थिर न करना, उसके साथ दुर्व्यवहार करना, इससे भी गण में कलह उत्पन्न हो सकता है।

५. गच्छ में क्लेश और अशान्ति का पांचवां कारण है विना पूछे काम करना। जो काम विना ही पूछे किया जाता है उसके पीछे अनेक तरह की आपत्तियां एवं विपत्तियां छिपी रहती है। ऐसा करना भी क्लेश एव अशाति का मूल कारण है। गच्छ में रहनेवाले अनुशास्ता और सदस्य सभी का कर्त्तव्य हो जाता है कि शासन की रीति-नीति मे ढील न आने दे। जिस ओर से भी कुछ ढील दिखाई दे उसी ओर से तुरन्त उसकी रोक-थाम कर देनी चाहिए, इसी में सबका कल्याण है।

जिस गच्छ या विरादरी में आज्ञा व धारणा का सम्यक् प्रकार से पालन होता है, यथाविधि वन्दन व्यवहार होता है, यथाविधि, यथासमय श्रुताध्ययन किया व कराया जाता है, रोगी व नव-दीक्षित की परिचर्या सम्यक् प्रकार से होती है, आचार्य एवं उपाध्याय को पूछकर ही सब कार्य किए जाते हैं, उस गण मे सदैव शान्ति की वृद्धि होती है और शान्त वातावरण मे ही साधको की साधना सफल एवं सम्पन्न हो सकती है।

पांच आसन और आर्जव स्थान

मूल—**पंच निसिज्जाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—उक्कुडुई, गोदोहिया, समपायपुता, पलियंका, अद्धपलियंका।**

पंच अज्जवट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—साहु-अज्जवं, साहु-मद्दवं, साहु-लाघवं, साहु-खंती, साहु-मुत्ती।१३।

छाया—पञ्च निषद्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—उत्कुटुका, गोदोहिका, समपादपुता, पर्यङ्का, अर्ध-पर्यङ्का।

पञ्च आर्जव-स्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—साधु-आर्जवं, साधु-मार्दवं, साधु-लाघवं, साधु-क्षान्तिः, साधु-मुक्तिः।

शब्दार्थ—**पंच निसिज्जाओ**—पांच आसन; **पण्णत्ता, तं जहा**—कथन किये गए है, जैसे; **उक्कुडुई**—उकुडू आसन; **गोदोहिया**—गाय दूहने जैसा आसन; **समपायपुता**—वह आसन जिसमें पैर और अण्डकोष भूमि को छूते हों; **पलियंका**—पर्यङ्क आसन; **अद्ध-पलियंका**—अर्ध-पर्यङ्क-आसन।

पंच अज्जवट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—पांच आर्जव के स्थान कथन किये गए हैं, जैसे;

साहु-अज्जवं—श्रेष्ठ सरलता; साहु-मद्दवं—श्रेष्ठ मृदुता, साहु-लाघवं – श्रेष्ठ लाघव; साहु-खंती—श्रेष्ठ क्षमा; साहु-मुत्ती – श्रेष्ठ मुक्ति—निर्लोभता।

मूलार्थ—पांच निषद्या अर्थात् आसन-विशेष वर्णित किये गए है, जैसे—उत्कुटुक आसन, गोदोहिका—गायदूहने जैसा आसन, समपादपुत आसन—जिसमें पैर और अण्डकोष भूमि को छूते हों, पर्यङ्क-आसन—पद्म-आसन, अर्ध-पर्यङ्क-आसन—अर्धपद्मासन।

पांच आर्जव अर्थात् संवर के स्थान वर्णित किये गए है, जैसे—श्रेष्ठ-ऋजुता। श्रेष्ठ-मृदुता, श्रेष्ठ-लघुता, श्रेष्ठ-क्षमा, श्रेष्ठ-मुक्ति अर्थात् निर्लोभता।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे गण-व्यवस्था का वर्णन किया गया है। गण-व्यवस्था का पालन साधनाशील मुनिराज ही कर सकते है। साधना से पूर्व उसकी तैयारी के लिये अनेक प्रकार के साधन अपनाने पड़ते हैं, उन्ही साधनों में आसन भी है, अत: उन साधनो का वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया गया है। पैरो के भार बैठना उत्कुटुकासन, गाय को दोहने की मुद्रा मे बैठना गोदुहासन, चौकड़ी या पालथी लगाकर बैठना समपाद-पूतासन, पद्मासन लगाकर बैठना पर्यंकासन, एक पैर जंघा पर रखकर बैठना अर्धपर्यंकासन है।

हृदय से सरल होकर माया का निग्रह करना आर्जव है, किसी भी गुण या ऋद्धि पर अभिमान न करना, विनम्र व्यवहार रखना मार्दव है, ऋद्धि साता और रस इन तीन गौरवों से हल्का रहना और कर्म-भार से भी हल्का रहना लाघव है। क्रोध का निग्रह करना और दूसरों के अपराधो की उपेक्षा कर देना अर्थात् यह समझ लेना कि जो कुछ अपराधी ने किया है, वही यह कर सकता था, उसने जो कुछ किया है वह अपनी शक्ति के अनुरूप किया है, अत: यह करुणा-पात्र है, इस प्रकार की भावना को और शान्ति को स्थायी रखना क्षान्ति है। लोभ का निग्रह कर सतोष को अपनाना मुक्ति है। इनका सेवन यदि सम्यग्दर्शनपूर्वक किया जाए तो निर्वाण-प्राप्ति निश्चित है। इसीलिये सूत्रकर्त्ता ने यहां साधु शब्द का प्रयोग किया है।

यहा यह स्मरणीय है कि मानव-शरीर में तैजस पुद्गलों के कारण जो तैजस् शक्ति उत्पन्न होती रहती है, उसे शरीर-विज्ञान की भाषा में ऊर्जा कहा जाता है। यह ऊर्जा शरीर में संचित होती रहती है और हाथ-पैरो की अंगुलियों से वह शरीर से बहती भो रहती है। तपस्वी साधको के शरीर मे एवं ब्रह्मचर्यमय जीवन व्यतीत करनेवालो में यह शक्ति अत्यधिक बढ़ जाती है। जैसे किसी नहर का किनारा फूट जाय, या कोई बांध टूट जाय तो उसके पीछे जल की अधिकता के कारण टूटे स्थान से बहनेवाले जल का प्रवाह और भी तीव्र हो जाता है, इसी प्रकार तपःप्रधान जीवन में जब यह शारीरिक ऊर्जा बढ़ने लगती है तो उसके बहने का प्रवाह भी तीव्र हो जाता है। ऐसी दशा में उस प्रवाह का रोकना एवं उस पर नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है।

पद्मासन, सिद्धासन, उत्कुटुक आसन आदि में हाथ-पैरों को ऐसी दशा मे ले जाया जाता है जिससे शरीर में एक वर्तुल निर्मित हो जाता है, वर्तुल मे पड़कर ऊर्जा का प्रवाह शरीर मे ही घूमने

लगता है जिससे साधक की शक्तियां शरीर में ही सुरक्षित हो जाती है। बिजली की मोटरो और पंखों आदि में जो शक्ति उत्पन्न होती है वह विद्युत् के वर्तुलाकार-भ्रमण से ही उत्पन्न होती है। साधक की ऊर्जा भी वर्तुलाकार बनकर साधक में शक्ति का कोष भरने लगती है। अतएव साधक जीवन के लिये अनेक प्रकार के आसनों का विधान किया गया है।

इस सूत्र का दूसरा पक्ष है मार्दव एवं क्षान्ति आदि गुणो का विकास। जब साधक में आसनों आदि के माध्यम से शक्ति का भण्डार बढ़ जाएगा, तो हो सकता है उस समय उसके स्वभाव में उग्रता आ जाए और वह अपनी तपःशक्ति का दुरुपयोग करने लगे। इसलिये शास्त्रकार कहते है कि तपः-शक्ति का संचय करने के अनन्तर साधक को कोमल स्वभाव, क्षमाशील, शान्त एवं क्रोध और अह के भार से मुक्त रहकर अपने आपको सामान्य साधक समझना चाहिए।

तपःशक्ति के प्राप्त होते ही मनुष्य की इच्छा-शक्ति बढ़ जाती है और वह अपनी इच्छा-शक्ति के द्वारा जो चाहे वह प्राप्त कर सकता है, असाध्य को साध्य बना सकता है। इसे ही सिद्धियों का प्राप्त होना कहा जाता है। शास्त्रकार इस समय साधक में 'मुक्ति' नामक विशेष गुण का विकसित होना आवश्यक मानते है। यहा पर 'मुक्त' का अर्थ "लोभ रहित रहना" किया गया है, क्योकि लोभ-वृत्ति के उदित रहने पर साधक अपनी शक्तियो को सासारिक पदार्थों की उपलब्धियो के लिये प्रयुक्त करने लगेगा, अत. उसका वास्तविक ध्येय लुप्त हो जाएगा।

स्मरण रहे कि तेज का स्वभाव ऊपर उठना है, दीपक की ज्योति दीपक को उलटा कर देने पर भी ऊपर की ओर ही जाती है। यदि साधक तप के द्वारा प्राप्त ऊर्जा को सुरक्षित रखेगा तो वह उसके आत्मोत्थान में सहायक होगी और वह अपने ध्येय—निर्वाण की ओर उन्मुख हो सकेगा।

पञ्चविध देव

मूल—**पंचविहा जोइसिया पण्णत्ता, तं जहा—चंदा, सूरा, गहा, नक्खत्ता, ताराओ।**

पंचविहा देवा पण्णत्ता, तं जहा—भवियदव्वदेवा, णरदेवा, धम्मदेवा, देवाहिदेवा, भावदेवा।१४।

छाया—पञ्चविधाः ज्योतिष्काः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चन्द्राः, सूर्याः, ग्रहाः, नक्षत्राणि, ताराः। पञ्चविधाः देवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भविकद्रव्यदेवाः, नरदेवाः, धर्मदेवाः, देवाधिदेवाः, भावदेवाः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच प्रकार के ज्योतिष्क देव कथन किये गए है, जैसे—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारे।

पाच प्रकार के अन्य देव कथन किये गए है, जैसे—भविकद्रव्यदेव—वे व्यक्ति जो अगले जन्म में देव होनेवाले है, नरदेव—चक्रवर्त्ती राजा, धर्मदेव—शुद्ध संयमी साधु, देवाधिदेव—तीर्थंकर, भावदेव—वैमानिक आदि चतुर्विध देव।

विवेचनिका—

आर्जव आदि गुणों से जीव देवगति को प्राप्त करते हैं, अतः सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में आर्जव आदि गुणों के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले देवत्व का परिचय दिया है।

सूत्रकार ने सर्वप्रथम चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारे इन पांच ज्योतिष्क देवो का परिचय दिया है। पृथ्वी के ऊपर विशाल आकाश में चन्द्र सब से निकट है और उसका पृथ्वी पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। वनस्पतियों के रसीय तत्व के उत्पादन में, समुद्र के ज्वार भाटे में, चन्द्र का प्रकाश तो कारण है ही साथ ही मनुष्य की मनोवृत्तियो के रूपान्तरण मे भी इसका प्रभाव प्रत्यक्ष-सिद्ध है। चन्द्र का प्रकाश जीवन में सहायक है, अतः यही प्रथम ज्योतिष्क देव है।

यद्यपि पृथ्वी से सूर्य की दूरी अन्य अनेक नक्षत्रों की अपेक्षा अधिक है, परन्तु प्रभावशीलता की दृष्टि से पृथ्वीलोक से दूरी अधिक होते हुए भी सम्बन्ध विशेष के महत्त्व की दृष्टि से दूसरा ज्योतिष्क देव सूर्य ही है।

यद्यपि हमारी दृष्टि से चन्द्र और सूर्य एक ही हैं, परन्तु केवल ज्ञानी का दृश्य-अदृश्य-दर्शी ज्ञान उन अनेक चन्द्र-सूर्यो के भी दर्शन करता है जिन्हें आज के वैज्ञानिक बड़ी-बड़ी दूरदर्शिनी दूरबीनों से भी प्रत्यक्ष नही करपाते हैं, परन्तु विज्ञान इस तथ्य से सहमत है कि आकाश अनेक चन्द्रो और अनेक सूर्यो से परिपूर्ण है।

मंगल आदि महान् ज्योतिष्क-मण्डलों को ग्रह कहा जाता है, चन्द्र और सूर्य के अनन्तर इन्ही की प्रभावशीलता से हमारा पृथ्वीलोक प्रभावित होता है, अतः सूर्य के अनन्तर इन्ही का परिचय दिया गया है।

अश्विनी, भरणी आदि ज्योति-मण्डल 'नक्षत्र' नामक ज्योतिष्क देव कहे गए है। ये ज्योति-मण्डल पृथ्वी पर प्रभाव ही नही डालते, अपितु ग्रहो के परिभ्रमण मे भी सहायक माने जाते है।

प्रत्येक नक्षत्र के आस-पास कुछ अन्य ज्योति-पुज भी दृष्टिगोचर होते हैं जिन्हें 'तारा' कहा जाता है। उपर्युक्त सभी ज्योति-मण्डल ज्योतिष्क देव के नाम से शास्त्रकार ने उपस्थित किए है। यहां यह भी स्मरणीय है कि प्रत्येक ज्योति-मण्डल में शास्त्रकारों ने दिव्य आत्माओं की सत्ता स्वीकार की है। यद्यपि आज के वैज्ञानिको का एक समूह इसे स्वीकार नही करता, परन्तु दूसरे वैज्ञानिक समूह ने इसकी सत्ता को अस्वीकार करना विज्ञान की भारी भूल बताई है। वह दिन दूर नही है जब वैज्ञानिकों को ज्योति-मण्डलों मे भी दिव्य जीवों की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी।

प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय अंश में सूत्रकार उन देवों का वर्णन करते है जिन्हें पुण्य-पथ पर प्रगति करते हुए तेजस्विता, भव्यता, अलौकिकता, समृद्धि-शीलता एवं दिव्य ज्ञान-सम्पत्तियो की अनन्त रूपो

में उपलब्धि हो चुकी है। उनका परिचय देते हुए पहले भव्यदेव बताए गए हैं।

भविक द्रव्य-देवः—साधना के मार्ग पर चलते हुए वे प्राणी भव्य देव कहलाते हैं जिन्होंने अपने तपोबल से देवलोक की आयु का बन्ध किया है। मानव शरीर के त्यागने के अनन्तर देवलोकों की ओर प्रस्थान करता है और दिव्य देवलोकों की समृद्धियो में रहते हुए भी अपने लक्ष्य की प्राप्ति का परित्याग नही करता। इस प्रकार के महान् साधक इसी शरीर में इतने तेजस्वी प्रतीत होने लगते हैं कि कोटि-कोटि जनता के मस्तक उनके चरणों पर झुक जाते हैं, इन्ही तेजस्वी पुरुषों को भविक-द्रव्य-देव कहा जाता है। चण्डकौशिक जैसे तिर्यञ्च जीव भी भविक द्रव्य देव कहलाते है, क्योंकि वे भी मृत्यु के अनन्तर देवलोक-विहारी देव-शरीर ही धारण किया करते हैं।

नरदेवः—इसका अर्थ है चक्रवर्ती सम्राट, ऐसा महान् शासक जिसके चरणो पर समस्त-पृथिवी-पतियों के मस्तक झुक जाते हों, जिसके पास समस्त भौतिक सम्पत्तियां स्वयं निवास कर रही हों, जिसका शासन अप्रतिहत हो। इस प्रकार तेजस्वी सम्राटों की गणना भी देवों में ही की गई है, क्योंकि वे भी देवों के समान समाज-पूज्य होते हैं।

धर्मदेवः—धर्म को अपने जीवन में उतार कर अपने आदर्श-जीवन एवं आदर्श धर्म-व्यवहार द्वारा जन-जन को मंगलमय धर्म-मार्ग पर प्रेरित करनेवाले महापुरुष धर्म-देव कहलाते है। ये महा-पुरुष भविक देव और नरदेव दोनों के द्वारा पूज्य होते हैं, क्योंकि ये उनके मार्ग को प्रशस्त करनेवाले होते है।

देवाधिदेव—उपर्युक्त तीन देवों के वर्णन में शास्त्रकार ने एक क्रम रखा है। जो भव्य आत्माएं देव-लोकों में जाने को प्रस्तुत हैं, वे आत्माये भविक द्रव्य देव है, जो आत्माएं देवलोकों से आकर चक्रवर्तित्व प्राप्त करती हैं वे नरदेव है, परन्तु जो भव्य-एवं दिव्य आत्माएं देवलोकों से पुनः धरती पर आकर लौकिक ऐश्वर्यों को ठोकर मार देती है और पुनः पूर्वजन्मों की अपेक्षा और भी अधिक धर्म-मार्ग का अनुसरण करने लगती है, वे आत्माएं 'धर्मदेव' रूप बन जाती है, परन्तु जो आत्माए क्रमशः आत्मोत्थान के मार्ग पर बढ़ती रहती है और अन्त में कषायों से मुक्त होकर अन्तराय कर्मों की बाधाओं को हटाकर, सम्पूर्ण कर्म-पाशों से मुक्त होकर आत्म-अवस्थित होकर केवली अवस्था को प्राप्त कर चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करती है, वे महान् एव दिव्य आत्माए तीर्थङ्करपद प्राप्त कर लेती है, ऐसे तीर्थङ्कर ही देवाधिदेव कहलाते है।

भावदेव—यद्यपि टीकाकारों ने उन देवों को भावदेव कहा है जिनके देवगति, आयु, नाम, गोत्र एवं भव-सुख आदि कर्मों का उदय हो चुका है भवन-पति, वान-व्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवों की गणना इन्ही देवों में की गई है।

इस प्रकार सूत्रकार ने देवो के द्विविध पांच-पांच रूपों का सुन्दर परिचय दिया है। ●

पञ्चविध परिचारणा

मूल—पंचविहा परियारणा पण्णत्ता, तं जहा—कायपरियारणा, फासपरियारणा, रूवपरियारणा, सद्दपरियारणा, मणपरियारणा।१५।

छाया—पञ्चविधा परिचारणा प्रज्ञप्तातद्यथा—कायपरि-चारणा, स्पर्श-परिचारणा, रूप-परिचारणा, शब्द-परिचारणा, मनः-परिचारणा।

शब्दार्थ—पंचविहा—पांच प्रकार की; परियारणा पण्णत्ता, तं जहा--परिचारणा कथन की है, जैसे; कायपरियारणा काय-परिचारणा; फासपरियारणा—स्पर्श-परिचारणा; रूवपरियारणा—रूप-परिचारणा; सद्दपरियारणा—शब्द-परिचारणा; मणपरि-यारणा—मन:परिचारणा।

मूलार्थ—पांच प्रकार को परिचारणा अर्थात् मैथुन-क्रिया कथन की गई है, जैसे—काय-परिचारणा, स्पर्श-परिचारणा, रूप-परिचारणा, शब्द-परिचारणा, मन:परिचारणा।१५।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में देवों का परिचय दिया गया है। देवों के जीवन-व्यवहार में क्या कोई वासना का भी स्थान है ? यह प्रश्न स्वाभाविक था, क्योंकि उत्पत्ति-क्रम वासना-मूलक है। अब प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार इसी प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते है—

देव-मैथुन को परिचारणा कहा जाता है। इसकी व्युत्पत्ति है "परियारणत्ति-वेदोदयप्रतीकार, तत्र स्त्रीपुंसयो. कायेन परिचारणा—मैथुनप्रवृत्तिः, कायपरिचारणा, ईशानकल्पं यावत्" अर्थात् जब कर्म का उदय होता है—कामवासना उत्पन्न होती है तब उसके प्रतीकार रूप स्त्री-पुरुष का शारीरिक संबन्ध हो जाना ही परिचारणा कहलाती है।

देवों की परिचारणा पांच प्रकार की होती है—जैसे कि शरीर से, स्पर्श से, रूप से, शब्द से और मन से। भवनपति, वानव्यतर-ज्योतिष्क और ईशानकल्प तक देव काय-परिचारणा करते है अर्थात् शरीर-सम्बन्ध से काम-तृप्ति किया करते हैं। तीसरे और चौथे कल्प मे देवो द्वारा पारस्परिक स्पर्श से ही परिचारणा सुख प्राप्त कर लिया जाता है। पाचवे और छठे कल्प मे रूप से परिचारणा होती है, अर्थात् देव-देवियां एक दूसरे के रूप-दर्शन मात्र से कामतृप्ति की अनुभूति कर लेते है। सातवे और आठवे कल्प में देव केवल शब्द मात्र से परिचारणा करते है। शेष चार कल्प देवलोको में देव केवल मन से ही परिचारणा करते हैं। इन देवो के शुक्र-पुद्गल वैक्रिय-शक्ति से पूर्ण होते है, अत: वे देवियो के सर्वाङ्ग-सुख रूप में परिणत हो जाते हैं।[1]

असुरेन्द्र चमर की पांच महारानियां

मूल—चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो पंच अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—काली, राई, रयणी, विज्जू, मेहा।

---

१. इस विषय का विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के ३४ वें परिचारणा नामक पद मे देखिए।

बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो पंच अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—सुभा, णिसुभा, रंभा, णिरंभा, मयणा ।१६।

छाया—चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य पञ्च अग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—काली, रात्रिः, रजनी, विद्युत्, मेघा ।

बलेः वैरोचनेन्द्रस्य वैरोचनराजस्य पञ्च अग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शुभा, निशुभा, रम्भा, निरम्भा, मदना ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—असुर-कुमारों के राजा असुरेन्द्र चमर की पांच अग्रमहिषियां अर्थात् पट्ट-देविया कथन की गई है, जैसे—काली, रात्रि, रजनो, विद्युत्, मेघा ।

वैरोचन-कुमारों के राजा वैरोचनेन्द्र की पांच अग्रमहिषियां कथन की गई है, जैसे—शुभा, निशुभा, रम्भा, निरम्भा, मदना ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में देव-परिचारणा का वर्णन किया गया है । परिचारणा के लिये स्त्रीत्व की अपेक्षा अनिवार्य है । प्रत्येक देव की देवियों का वर्णन जिस विस्तार की अपेक्षा करता है वह विस्तार शास्त्र-कार को इष्ट नहीं है, अत शास्त्रकार पंचम स्थान के अनुरोध से केवल उन देव-स्वामियों का ही वर्णन करते है जिनकी परिचारणा का आधार केवल पाच पट्टरानिया ही है ।

प्रमुख देवियो अर्थात् पट्टरानियो को अग्रहमहिषी कहा जाता है । असुर-कुमारों के इन्द्र चमर और बली की पांच-पाच अग्रमहिषिया है । चमरेन्द्र की अग्रमहिषी देवियो के नाम काली, रात्रि, जनी विद्युत् और मेघा हैं । बली नामक असुरेन्द्र की अग्र महिषी देवियों के नाम—शुभा, निशुभा, रंभा, निरंभा और मदना है । इनका विस्तृत वर्णन "ज्ञाता-धर्मकथा" सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कध में वर्णित है । वहां पर इन देवियों के पूर्व जन्म, दीक्षा-पर्याय, देवीत्व के रूप में जन्म, इनकी ऋद्धियो इत्यादि विषयों का पूर्ण परिचय दिया गया है । वहां की आयु पूर्ण होने पर इन देवियों के जीव महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य-भव धारण कर निर्वाण-पद प्राप्त करेगे । "वैरोचनेन्द्र" बली का विशेषण है । सभव है उत्तर दिशा की ओर जो असुर-कुमार रहते है, उनकी जाति वैरोचन हो, तभी उसे वैरोचनेन्द्र कहा जाता है ।

इन्द्रों की पंचविध सेनाएं

मूल—चमरस्स णमसुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो पंच संगामिया अणिया, पंच अणियाहिवई पण्णत्ता तं जहा—पायत्ताणिये, पीढ़ाणिये, कुंजराणिये, महि-

साणिए, रहाणिये। दुमे पायत्ताणियाहिवई, सोदामी आसराया पोढाणियाहिवई, कून्थू हत्थिराया कुंजारणियाहिवई, लोहियक्खे महिसाणियाहिवइ, किन्नरे रहाणयाहिवई। बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो पंच संगामियाणिया, पंच संगामियाणीयाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव रहाणिए। महद्दुमे पायत्ताणियाहिवई, महासोदामो आसराया पोढाणियाहिवई, मालं कारो हत्थिराया कुंजराणियाहिवई, महालोहिअक्खो महिसाणियाहिवई, किंपुरिसे रहाणियाहिवई।

धरणस्स णं णागकुमारिंदस्स णागकुमाररण्णो पंच संगामिया आणिया, पंच संगामियाणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव रहाणिए। भद्दसेणे पायत्ताणियाहिवई, जसोधरे आसराया पीढाणियाहिवई, सुदंसणे हत्थिराया कुंजराणियाहिवई, नीलकंठे महिसाणियाहिवई, आणंदे रहाणियाहिवई।

भूयाणंदस्स नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो पंच संगामियाणिया, पंच संगामियाणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव रहाणिए। दक्खे पायत्ताणियाहिवई, सुग्गीवे आसराया पीढाणियाहिवई, सुविक्कमे हत्थिराया कुंजराणियाहिवई, सेयकंठे महिसाणियाहिवई, नंदुत्तरे रहाणियाहिवई।

वेणुदेवस्स णं सुवन्निदस्स सुवण्णकुमाररण्णो पंच संगामियाणिया पंच संगामियाणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव जहा धरणस्स तहा वेणुदेवस्सवि। वेणुदालियस्स जहा भूयाणंदस्स। जहा धरणस्स तहा सव्वेसिं दाहिणिल्लाणं जाव घोसस्स। जहा भूयाणंदस्स तहा सव्वेसिं उत्तरिल्लाणं जाव महाघोसस्स।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो पंच संगामियाणिया, पच संगामियाणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव उसभाणिए। हरिणेगमेसी पायत्ताणियाहिवई, वाऊ आसराया पीढाणियाहिवई, एरावणे हत्थिराया कुंजराणियाहिवई, दामड्ढी उसभाणियाहिवई, माढरो रहाणियाहिवई।

ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरण्णो पंच संगामिया अणिया जाव पायत्ताणिए

पीढाणिए, कुंजराणिए, उसभाणिए, रहाणिए । लहुपरक्कमे पायत्ताणियाहिवई, महावाऊ आसराया पीढाणियाहिवई, पुप्फदंते हत्थिराया कुंजराणियाहिवई, महादामड्ढी उसभाणियाहिवई, महामाढरे रहाणियाहिवई । जहा सक्कस्स णं तहा सव्वेसिं दाहिणिल्लाणं जाव आरणस्स । जहा ईसाणस्स तहा सव्वेसिं उत्तरिल्लाणं जाव अच्चुत्तस्स ।१८।

छाया—चमरस्य खलु असुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य पञ्च सांग्रामिकाणि अनीकानि, पञ्च सांग्रामिका अनीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं, पीठानीकं, कुञ्जरानीकं, महिषानीकं, रथानीकम् । द्रुमः पादातानीकाधिपतिः, सौदामी अश्वराजः पीठानीकाधिपतिः, कुन्थुः हस्तिराजः कुञ्जरानीकाधिपतिः, लोहिताक्षः महिषानीकाधिपतिः, किन्नरः रथानीकाधिपतिः ।

बलेः वैरोचनेन्द्रस्य वैरोचनराजस्य पञ्च सांग्रामिकाणि अनीकानि, पञ्च सांग्रामिका अनीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं यावत् रथानीकम् । महाद्रुमः पादतानीकाधिपतिः, महासौदाम अश्वराजः पीठानीकाधिपतिः, मालङ्कारो हस्तिराजः कुञ्जरानीकाधिपतिः, महालोहिताक्षो महिषानीकाधिपतिः, किम्पुरुषो रथानीकाधिपतिः ।

धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य पञ्च सांग्रामिकाणि अनीकानि, पञ्च सांग्रामिका अनीकाधिपतयः, प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं यावत् रथानीकम् । भद्रसेनः पादातानीकाधिपतिः, यशोधरोऽश्वराजः पीठानीकाधिपतिः, सुदर्शनो हस्तिराजः कुञ्जरानीकाधिपतिः, नीलकण्ठो महिषानीकाधिपतिः, आनन्दो रथानीकाधिपतिः ।

भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य पञ्च सांग्रामिकाणि-अनीकानि, पञ्च सांग्रामिकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पादातानीकं यावत् रथानीकम् । दक्षः पादातानीकाधिपतिः, सुग्रीवोऽश्वराज. पीठानीकाधिपतिः, सुविक्रमो हस्तिराजः कुञ्जरानीकाधिपति, श्वेतकण्ठो महिषानीकाधिपतिः, नन्दोत्तरो रथानीकाधिपतिः ।

वेणुदेवस्य सुपर्णेन्द्रस्य सुपर्णकुमारराजस्य पञ्च सांग्रामिकाणि-अनीकानि, पञ्च सांग्रामिकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकम्; एवं यथा धरणस्य तथा वेणुदेवस्यापि । वेणुदालिकस्य यथा भूतानन्दस्य । यथा धरणस्य तथा सर्वेषां दाक्षिणात्यानां यावत् घोषस्य । यथा भूतानन्दस्य तथा सर्वेषामौत्तराणां यावत् महाघोषस्य ।

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य पञ्च सांग्रामिकाणि अनीकानि, पञ्च सांग्रामिका अनीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं यावत् वृषभानीकम् । हरिणैगमैषी पादातानीकाधिपतिः, वायुः अश्वराज. पीठानीकाधिपति., ऐरावतो हस्तिराजः कुञ्जरानीकाधिपतिः, दामर्द्धिः वृषभानीकाधिपतिः, माठरो रथानीकाधिपतिः ।

ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य पञ्च सांग्रामिकाणि-अनीकानि यावत् पादातानीकं, पीठानीकं, कुञ्जरानीकं, वृषभानीकं, रथानीकम् । लघुपराक्रमः पादातानीकाधिपतिः,

महावायुः अश्वराजः पीठानीकाधिपतिः, पुष्पदन्तो हस्तिराजः कुञ्जरानीकाधिपतिः, महादामर्द्धिः ऋषभानीकाधिपतिः, महामाठरो रथानीकाधिपतिः, यथा शक्रस्य तथा सर्वेषां दाक्षिणात्यानां यावत् आरणस्य। यथा ईशानस्य तथा सर्वेषामौत्तराणां यावत् अच्युतस्य।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—असुरकुमारों के राजा असुरेन्द्र चमर के पांच सांग्रामिक (सेना-समूह) है, एवं पांच साग्रामिक सेना के अधिपति है, जैसे—पदाति-सेना, अश्व-सेना, कुञ्जर-सेना, महिष-सेना, रथ-सेना। द्रुम पदाति सेना का अधिपति है, सौदामी अश्वराज अश्वसेना का अधिपति है, कुन्थु हस्तिराज कुञ्जर सेना का अधिपति है, लोहिताक्ष, महिषसेना का अधिपति है, किन्नर रथसेना का अधिपति है।

वैरोचनों के राजा वैरोचनेन्द्र वलि के पांच सांग्रामिक अनीक हैं, एवं पाच सांग्रामिक अनीकाधिपति हैं, जैसे—पदाति सेना, अश्वसेना, कुञ्जर-सेना, महिषसेना और रथसेना। महाद्रुम पदाति सेना का अधिपति है, महासौदाम अश्वराज अश्वसेना का अधिपति है। हस्तिराज मालंकार कुञ्जर सेना का अधिपति है, महालोहिताक्ष महिष-सेना का अधिपति है, किम्पुरुष रथसेना का अधिपति है।

नागकुमारों के राजा नागकुमारेन्द्र धरण के पांच सांग्रामिक अनीक है, एवं पांच ही सांग्रामिक अनीकाधिपति है, जैसे—पदातिसेना, रथसेना आदि। भद्रसेन, पदाति सेना का अधिपति है, यशोधर अश्वराज अश्वसेना का अधिपति है, हस्तिराज सुदर्शन कुञ्जरसेना का अधिपति है, नील-कण्ठ महिषसेना का अधिपति है, आनन्द रथ-सेना का अधिपति है।

नागकुमारों के राजा नागकुमारेन्द्र भूतानन्द के पांच अनीक है, एवं पांच सांग्रामिक अनीकाधिपति है, जैसे—पैदल-सेना, रथ-सेना आदि। दक्ष पैदल सेना का अधिपति है, सुग्रीव अश्वराज अश्वसेना का अधिपति है, हस्तिराज सुविक्रम कुंजर-सेना का अधिपति है, श्वेतकण्ठ, महिष-सेना का अधिपति है, नन्दोत्तर रथसेना का अधिपति है।

सुपर्ण कुमारों के राजा सुपर्णेन्द्र वेणु देव के पांच सांग्रामिक अनीक हैं,

एवं पांच सांग्रामिक अनीकाधिपति हैं, जैसे—पैदल सेना आदि। जिस प्रकार नागकुमारेन्द्र धरण का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार वेणुदेव का भी है। जिस प्रकार भूतानन्द का वर्णंत है उसी प्रकार वेणुदालिक का भी है। जिस प्रकार नागकुमारेन्द्र धरण का वर्णन है, उसी प्रकार घोष पर्यन्त सब दाक्षिणात्य इन्द्रों के सांग्रामिक आदि समझने चाहिए। जिस तरह नागकुमारेन्द्र भूतानन्द का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार महाघोष पर्यन्त सभी उत्तर दिशा के इन्द्रों के सांग्रामिक आदि समझ लेने चाहिए। देवों के राजा देवेन्द्र शक्र के पांच सांग्रामिक अनीक है, एवं पांच सांग्रामिक अनीकाधिपति है, जैसे—पदाति-सेना से लेकर वृषभ-सेना पर्यन्त। हरिणैगमैषी पदाति सेना का अधिपति है, अश्वराज वायु अश्वसेना का अधिपति है, हस्तिराज ऐरावत कुजर-सेना का अधिपति है, दामर्द्धि वृषभ-सेना का अधिपति है, माठर रथ-सेना का अधिपति है।

ईशान दिशा के देवेन्द्र देवराज के पांच सांग्रामिक अनीक हैं, एवं पांच सांग्रामिक अनीकाधिपति हैं, जैसे—पदाति-सेना, अश्वसेना, गज-सेना, वृषभ-सेना और रथ-सेना। लघुपराक्रम पदाति-सेना का अधिपति है, महावायु अश्वराज अश्वसेना का अधिपति है, पुष्पदन्त हस्तिराज कुंजर-सेना का अधिपति है। महादामर्द्धि वृषभ-सेना का अधिपति है। महामठर रथसेना का अधिपति है। जिस प्रकार शक्र का वर्णन किया गया है उसी प्रकार सब दक्षिण दिशावाले आरण नामक इन्द्र पर्यन्त सभी इन्द्रों का वर्णन जानना चाहिए और जिस तरह ईशानेन्द्र देवराज का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार अच्युतेन्द्र आदि उत्तर दिशावाले इन्द्रों का वर्णन जानना चाहिए।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में देवों की अग्रमहिषियों आदि का वर्णन किया गया है। अत्र उनकी सेनाओं की पंचविधता का वर्णन किया जा रहा है।

देव और असुर परस्पर विपरीत स्वभाव वाले हैं, स्वभाव-वैपरीत्य द्वेष को जन्म देता है और द्वेष के कारण युद्ध अवश्यंभावी हो जाता है। युद्ध उन्माद जागृत करता है, होश विगाड़ देता है, आदमी को पागल बना देता है और आदमी युद्धोन्माद मे युद्धो की योजनाएं वनाने लगता है, षड्यन्त्र रचने

लगता है। तब उसे योद्धाओं की आवश्यकता पडती है, युद्ध-साधनों को जुटाने की चिन्ता लग जाती है। बस इसी चिन्ता में सेनाएं खड़ी की जाती है, सेना का सर्वगामिनी एवं अजेय बनाने के लिये हाथी घोड़े, बैल, रथ पदाति सब एकत्रित होने लगते हैं। इन सबके एकत्रित होते ही शक्ति का उन्माद उफनने लगता है और युद्ध आरम्भ हो जाते हैं। युद्ध-महाहिंसा है। भगवान महावीर बताना चाहते हैं कि देवता भी इस उन्माद से मुक्त नही है, अतः हमें देवत्व इष्ट नही, हमें इष्ट है देवत्व से भी ऊपर-उठना। सभी विनाशशील अस्तित्वों से मुक्त होकर, शाश्वत अस्तित्व ग्रहण करना। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये प्रस्तुत सूत्र में देव-सेनाओं का परिचय दिया गया है।

दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि शास्त्रकार की श्रद्धा यह व्यक्त करना चाहती है कि भगवान महावीर अतीन्द्रिय ज्ञान के धारक थे, वे ससीम दिखते हुए भी असीम थे, पृथ्वी पर बैठे हुए ही उनका ज्ञान लोकालोक को प्रत्यक्ष कर लेता था। देवलोक की स्थिति के सम्बन्ध में किसी हृदय में सम्भवतः कोई प्रश्न उठा हो और प्रभु महावीर की सर्वज्ञ प्रतिभा ने उसे देखा होगा और उसी का उत्तर दिया होगा प्रस्तुत वर्णन के रूप में।

देवलोकों और असुर-लोकों में सेनाओं और सेनापतियों की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं :

राष्ट्र की रक्षा के लिये जिस प्रकार सेनाएं होती हैं उसी तरह भवनों और विमानों की रक्षा के लिये इन्द्रों की पांच-पांच प्रकार की सेनाएं हैं और उनके सेनापति भी हैं। जब देव और असुर कुमारों के परस्पर युद्ध होने का प्रसंग आता है तब उनकी आवश्यकता पड़ती है। जहां-जहां राजनीति है, वहा वहां संघर्ष भी अवश्य है और जहां जहां संघर्ष है वहां वहां सेना का होना अनिवार्य है। सभी इन्द्रो की पांच-पांच प्रकार की सेनाएं हैं, जैसे कि पदाति—पैदल चलनेवाली सेना, पीठानीक—घुड सवार सेना, कुञ्जरानीक—हस्ती सवार सेना, महिषानीक—भैंसे की सवारी करने वाली सेना, रथानीक—रथिक सेना। असुर और देवो की सेनाओं में अन्तर केवल इतना ही है कि वैमानिक देवों की महिषानीक के स्थान पर वृषभानीक है।

क्या देवलोको में भी घोडे 'हाथी' भैसे और वृषभ आदि पशु होते हैं ? यदि देवलोकों में भी पशुओं का अस्तित्व है तो फिर पशुत्व को गर्हित क्यो समझा जाता है, क्यों उसे निन्दनीय माना गया है। वस्तुतः देवलोकों में पशुता का अस्तित्व नही, अपितु युद्धोन्माद के सवार होने पर देव ही हाथी, घोड़े आदि का रूप धारण कर लेते हैं जोकि उस समय उपयोगी होते है। यह कल्पस्थिति बारहवे देवलोक पर्यन्त है, उससे ऊपर के देवलोकों में यह कल्पस्थिति अर्थात् नीति नही है। वे देव राजनीति से उन्मुक्त है, अतः वहां न संघर्ष हैं न युद्ध है। असुरों में एक भेद भैंसा है और वहीं देवो में वृषभ है। इसका कारण यह है कि भैंस जाति मे आलस्य है, उन्माद है और शक्ति की अधिकता है। अतः आलस्य और उन्माद प्रधान असुर भैंसे का ही रूप धारण करते हैं।[1]

---

१. वैदिक संस्कृति मे भगवती दुर्गा का महिषासुर से जो युद्ध प्रदर्शित किया गया है उसमें महिषासुर भैंसे का रूप बनाकर ही आता है और भगवती से लड़ता है। दूसरी ओर देव जाति मे सात्विकता की प्रधानता मानी गई है। देव सत्त्वगुण प्रधान हैं, अतः वे वृषभ का रूप धारण करते हैं। इसीलिये पुराण-संस्कृति बैल को धर्म रूप-मानती है और शंकर को बैल पर सवार होनेवाला कह कर यह कहती है कि जो व्यक्ति धर्मारूढ़ है वही व्यक्ति शंकर बन सकता है, अर्थात् कल्याणकारी रूप धारण कर सकता है।"

सेनापतियों के नाम निर्देश मूलार्थ में किये गए है अन्तर केवल इतना ही है कि असुर-कुमारों के अतिरिक्त शेष भवनपतियों के नव निकाय और सोलह प्रकार के वानव्यन्तर हैं, वे दो भागों में विभाजित है, कुछ दक्षिण की ओर रहते हैं और कुछ-उत्तर की ओर। यदि उनको दाक्षिणात्य तथा उदीचीन कहा जाए तो अधिक उचित होगा।

धरणेन्द्र दाक्षिणात्य नागकुमारों का इन्द्र है। उसके शासन में पांच सेनापतियों के जो जो नाम सूत्रकार ने दिये है, विलकुल वे ही नाम शेष दाक्षिणात्य इन्द्रों के अनुशासन में रहनेवाले पांच-पांच सेनापतियो के भी है। जो उदीचीन हैं उन सेनापतियों के नाम भूतानन्द इन्द्र के सेनापतियों जैसे हैं। सौधर्मेन्द्र के सेनापतियो के जो नाम हैं वे ही तीसरे, पांचवें, सातवे, नौवें और ग्यारहवें देवलोक के सेनापतियों के नाम हैं तथा जो दूसरे ईशानेन्द्र के सेनापतियों के नाम हैं वे ही चौथे, छटे, आठवें, दसवे और वारहवें देवलोक के सेनापतियो के नाम हैं। विषम संख्या वाले देव दाक्षिणात्य हैं और सम ंख्यावाले देव उदीचीन कहलाते हैं।

ज्ञात होता है कि ये नाम व्यक्ति-परक नहीं हैं, पदवी-परक हैं, अतः दक्षिण की परम्परा के सेनापतियों के नामों में समानता का अर्थ है उनकी पदवी प्रकट करनेवाले एक जैसे नाम है।

उत्तर की परम्परा भिन्न है। अतः उत्तर की देव सेनाओं के सेनापतियों के नाम भी समान ही हो सकते हैं।

शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र पार्षद देव-देवियों की स्थिति

मूल—सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो अब्भंतरपरिसाए देवाणं पंच पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तं जहा—ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो अब्भंतरपरिसाए देवीणं पंच पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ।१८।

छाया—शक्रस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य आभ्यन्तरपरिषदः देवानां पञ्च पल्योपमानि स्थिति प्रज्ञप्ता। ईशानस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य आभ्यन्तरपरिषदः देवीनां पञ्च पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—देवराज देवेन्द्र शक्र की आभ्यन्तर परिषद् के देवों की पांच पल्योपम स्थिति वर्णित की गई हैं। देवेन्द्र देवराज ईशान की आभ्यन्तर परिषद् की देवियों की पांच पल्योपम स्थिति वर्णित की गई है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में देव-राष्ट्र के सेना एवं सेनाध्यक्ष आदि सुरक्षात्मक बाह्य जगत् का परिचय दिया गया है। प्रत्येक राष्ट्र युद्ध से पूर्व आन्तरिक परिषदो में, गुप्त समितियो मे एवं विश्वस्त अधिकारियो से विचार-विमर्श अवश्य करता है। अतः अव प्रकरण प्राप्त देवों की विचार-परिषदो एवं परिषद-सदस्यों की आयुस्थिति का परिचय दिया जा रहा है :—

देवों की तीन परिषदें मानी गई है—आभ्यन्तर-परिषद्, मध्यम-परिषद् और बाह्य परिषद्। ठीक वैसे ही जैसे कि आजकल लोक-परिपद् और राज्य-परिषद् आदि की स्थिति है। प्रजातन्त्र राष्ट्र में नर और नारी का समान महत्व एवं समान अधिकार है। अस्तित्व के लिये दो शक्तियों का ऐक्य आवश्यक होता है। नेगेटिव और पाजिटिव अर्थात् ऋण और धन दोनो विद्युत् शक्तियो के मेल से ही प्रकाश एवं शक्ति की सृष्टि होती है। प्रकृति ने नारी में ऋणात्मक ऊर्जा को, पुरुष मे धनात्मक ऊर्जा को प्राधान्य देकर सामाजिक शक्ति के अस्तित्व की स्थापना की है। देव इस तथ्य से परिचित हैं, अतः देवों की सामाजिक व्यवस्था में नारी को पुरुष के समान ही अधिकार एवं महत्व दिया गया है।

भगवान महावीर के उपदेशों में सर्वत्र यह भाव पुष्प से सुरभि के समान उद्‌भूत होता है कि मनुष्य-लोक में नारी को वही महत्व एवं अधिकार प्राप्त होने चाहिए जो पुरुष को प्राप्त हैं, अतः प्रभु महावीर को नारी-लोक का उद्धारक माना जाता है।

प्रस्तुत प्रकरण में वताया गया है कि प्रत्येक इन्द्र और प्रत्येक महर्धिक देव की मन्त्रणा के लिये तीनों परिषदें अवश्य होती हैं और उन परिषदों के निर्णय ही सेनाओ आदि द्वारा क्रियान्वित किए जाते हैं।

शास्त्रकार कहते है कि सौधर्मेन्द्र और आभ्यन्तरिक परिषदो के देवो की स्थिति पाच-पल्योपम है। अर्थात् पांच पल्योपम काल के व्यतीत होने पर उन्हे देव-लोकों का परित्याग कर देना पड़ता है।

पल्योपम एक वहुत वड़ा काल है। वर्षो में इसकी गणना मानव-प्रतिभा की सीमा से वाहर है, अत. उसे शास्त्रकारों ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि—चार कोस लम्वे चार कोस चौडे और चार कोस गहरे किसी वहुत वड़े खड्ड को यदि किसी नवजात शिशु के कोमल वालों के छोटे से छोटे टुकड़े करके उनसे उसे भर दिया जाय और फिर उन वालों के टुकड़ों को सौ-सौ वर्ष के अन्तर से एक एक करके निकाला जाय, इस प्रकार निकालते-निकालते जितने समय मे वह खड्डा खाली हो जाय, उतने समय को एक पल्य कहा जाता है। इस प्रकार के पाच पल्य के काल तक ये देव-देविया देवलोको मे निवास करते हैं।

इतना वड़ा जीवन और वह भी संघर्षो में उलझा हुआ, कही असुर-संग्राम के भय, कही कामावेश के उन्माद और कही अन्य विध्वंसक परिस्थितियां और साथ में पुनः देवलोक छोड़ने का डर ये सव अशान्ति के कारण वहां भी विद्यमान हैं, अतः देवलोक भी मनुष्य का ध्येय नही होना चाहिए। मनुष्य का ध्येय होना चाहिए वह शाश्वत् जीवन, अखण्ड जीवन जहां कुछ भी शेष नहीं रह जाता, मुक्तावस्था—आवागमन से मुक्ति की प्राप्ति।

प्रतिघात-भेद

मूल—पंचविहा पडिहा पण्णत्ता, तं जहा—गइ-पडिहा, ठिइ-पडिहा, बंधण-पडिहा, भोग-पडिहा, बल-वीरिअपुरिसयार-परक्कम-पडिहा ।१६।

छाया—पञ्चविधः प्रतिघातः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—गति-प्रतिघात, स्थिति-प्रतिघातः, बन्धन-प्रतिघातः, बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रम-प्रतिघातः ।

शब्दार्थ—पंचविहा—पांच प्रकार का; पडिहा—प्रतिघात; पण्णत्ता, तं जहा—कथन किया गया है, जैसे; गइपडिहा—देव आदि शुभ गति का पाप-कर्म के कारण प्रतिघात; ठिइपडिहा—अध्यवसाय विशेष के कारण देवादि की स्थिति का प्रतिघात; बंधण-पडिहा—औदारिक आदि नाम-कर्म-रूप शुभ बन्धनो का प्रतिघात; भोगपडिहा—भोग का प्रतिघात; बल-वीरिअपुरुसयार-परक्कम-पडिहा, शारीरिक बल; आत्म-शक्ति, एवं पुरुषकार, पराक्रम का प्रतिघात ।

मूलार्थ—पाच्र प्रकार का प्रतिघात वर्णित किया गया है, जैसे—गति का प्रतिघात, अर्थात् तपश्चरण आदि से प्राप्त होनेव ली देव आदि शुभ गति का पापाचरण करके उसका प्रतिघात करना, शुभ गति का न पासकना । देव आदि गतियों की दीर्घ स्थिति का अध्यवसाय विशेष के द्वारा ह्रास करना स्थिति-प्रतिघात है । नाम कर्मोदय—जन्म-बन्धन आदि का प्रतिघात कर देना बन्धन-प्रतिघात है । प्रशस्त भोगों का प्रतिघात करना, भोग-प्रतिघात है । बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम का प्रतिघात बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रम-प्रतिघात है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में आभ्यन्तरापार्षद् देव-देवियो की स्थिति का वर्णन किया गया है । देवलोक की अवस्थिति अपेक्षाकृत अच्छी हो होती है, परन्तु कभी-कभी जीव ऐसे कर्म कर बैठता है जिससे वह अपने पुण्योपार्जित साधनों को भी खो देता है और उनके द्वारा प्राप्त होनेवाले अभीष्ट प्राप्त नही कर सकता है । इस प्रकार किए कराए पर पानी फेरनेवाले कर्म करने पर अभीष्ट प्राप्तव्य की प्राप्ति मे होनेवाले व्यवधान को प्रतिघात कहा जाता है । अब शास्त्रकार साधक जो भी करे अप्रमत्त हो कर करे, इसी उद्बोध के लिये प्रतिघात का वर्णन करते हैं :—प्राप्तव्य की प्राप्ति मे रुकावट पड़ जाना ही प्रतिघात है । बुराइ में रुकावट पड़ जाना प्रतिघात नही, पुण्य-कार्यों मे व्यवधान हो जाना—बाधा पड़ जाना ही प्रतिघात है । यद्यपि प्रतिघात अनेकविध होते है, तथापि उन सबका अन्तर्भाव निम्न पाच रूपों में ही हो जाता है ।

१. गति-प्रतिघात—किसी गतिशील चेतन पदार्थ का अथवा किसी जड़ पदार्थ का किसी दूसरी वस्तु से टकराकर रुक जाना व्यावहारिक गति-प्रतिघात कहलाता है। जिस आत्मा ने शुभगति के प्राप्त होने योग्य कर्मों का संचय करना था, किन्तु दुष्ट अध्यवसायों के कारण देवगति के योग्य पुद्गलो को नरक-प्राप्ति के योग्य बना डालना नैश्चयिक गति-प्रतिघात है। जैसे कुण्डरीक को प्रव्रज्या-ग्रहण करके संयम-तप की आराधना करते हुए देव-गति प्राप्त होनी थी, परन्तु अशुद्ध परिणामों से उसको नरक-गति प्राप्त हुई। इस प्रकार देवगति का प्रतिघात हो गया, यह प्रतिघात "गति-प्रतिघात" कहलाएगा।

२. स्थिति-प्रतिघात—जिस वस्तु का अस्तित्व सुदीर्घ काल तक रहना है, परन्तु किसी विपरीत तत्त्व के योग से उसकी स्थिति स्वल्पकाल की हो रह जाय, अथवा वह वस्तु सर्वथा नष्ट हो जाय, यह व्यावहारिक स्थिति-प्रतिघात है। कर्मों की शुभ स्थिति बाधकर अशुभ भावों से दीर्घकालीन स्थिति को छोटी स्थिति में परिणत कर देना "नैश्चयिक स्थिति-प्रतिघात है"। जैसे कि आगमकार कहते हैं—"दीहकालठिइयाओ हस्सकालठिइयाओ पकरेइ"।

३. बंधन-प्रतिघात—किसी अभीष्ट वस्तु का, अभीष्ट वस्तु के साथ बंधन न होकर अशुभ वस्तु के साथ बंधन हो जाना व्यावहारिक बंधन-प्रतिघात है। बन्धन नाम-कर्म का एक भेद है। इसके औदारिक बंधन आदि पांच भेद हैं। दुष्ट परिणामों के द्वारा औदारिक आदि प्रशस्त प्रकृतियो का प्रतिघात करना "बन्धन-प्रतिघात है"। उपलक्षण से बंधन शब्द ग्रहण करने पर उसके सहचारी प्रशस्त शरीर, सुन्दर अंगोपाङ्ग, शुभ संहनन, शुभ संस्थान आदि का प्रतिघात भी समझ लेना चाहिए।

४. भोग-प्रतिघात—धन, स्त्री आदि सुख-सामग्री मिलते ही कोई ऐसा कारण बन जाय जिस से भोग सामग्री नष्ट-भ्रष्ट हो जाय, इसे व्यावहारिक भोग-प्रतिघात कहते हैं। प्रशस्त गति-स्थिति-बधन आदि का प्रतिघात होने पर भोग का प्रतिघात होना अनिवार्य है, क्योंकि कारण के अभाव होने पर कार्य का अभाव होना सुनिश्चित है। इसको नैश्चयिक भोग-प्रतिघात कहते हैं।

५. बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रम-प्रतिघात—शारीरिक शक्ति को बल, जीव की शक्ति को वीर्य, पुरुषाभिमान को पुरुषकार, बल और वीर्य के सम्मिलित रूप को पराक्रम कहते है। किसी सशक्त प्रतिद्वन्द्वी के समक्ष या बीमारी आदि के कारण बल का क्षीण हो कर हतोत्साह हो जाना, स्वाभिमान को खो बैठना, व्यावहारिक बल-वीर्य पुरुषकार-पराक्रम प्रतिघात है। गति, स्थिति आदि के प्रतिघात होने पर भोग की तरह प्रशस्त बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रम की प्राप्ति में भी रुकावट हो जाना "नैश्चयिक बल आदि का प्रतिघात है"।

अशुद्ध भावो के द्वारा जीव सुगति, सुस्थिति, सुबंधन, सुभोग, सुबल-वीर्य आदि का प्रतिघात करता है, अतः सदैव शुभ भावो के द्वारा जीवन-यापन करना चाहिए। गति निश्चित होने पर ही स्थिति-बंधन आदि हो सकते है।

पञ्चविध आजीविक

मूल—पंचविहे आजीविए पण्णत्ते, तं जहा—जाइ-आजीवे, कुलाजीवे, कम्माजीवे, सिप्पाजीवे, लिंगाजीवे। २०।

छाया—पञ्चविध आजीवकः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—जात्याजीवकः, कुलाजीवकः, कर्माजीवकः, शिल्पाजीवकः, लिङ्गाजीवकः।

शब्दार्थ—पंचविहे—पाच प्रकार के; आजीविए—आजीविका करनेवाले कथन किये गए है, जैसे; जाइ-आजीवे—ब्राह्मण आदि जाति के द्वारा आजीविका करनेवाला, कुला-जीवे—कुल से आजीविका करनेवाला; कम्माजीवे—कृषि आदि से आजीविका करनेवाला, सिप्पाजीवे—शिल्प के द्वारा आजीविका करनेवाला, लिंगाजीवे—ज्ञान आदि से शून्य केवल साधु-वेष द्वारा आजीविका करनेवाला।

मूलार्थ—पांच प्रकार के आजीविका करनेवाले है, जैसे–ब्राह्मणादि जाति के द्वारा आजीविका करनेवाला जात्याजीवक है। उग्रादि कुल के द्वारा आजीविका करनेवाला कुलाजीवक है। कृषि आदि कर्मो के द्वारा आजीविका करने वाला कर्माजीवक है। वस्त्र बुनना आदि के द्वारा आजीविका करनेवाला शिल्पाजीवकि है। ज्ञान आदि से शून्य केवल वेशमात्र धारण करके आजीविका करनेवाला लिङ्गाजीवक है।

विवेचनिका—

जो कुछ जीव के लिये प्राप्तव्य है उसकी प्राप्ति में होनेवाले व्यवधान को ही प्रतिघात कहा जाता है। लौकिक दृष्टि से जो कुछ जीवन में प्राप्तव्य है उसे ही आजीविका कहा जाता है, अत. अब सूत्रकार आजीविका की पंच-विधता का प्रति-पादन करते है :—कर्म-भूमि मे आकर जीवित रहने के लिये मनुष्य को शरीर के निर्वाह के लिये धन-धान्यादि जीवन-साधनो की आवश्यकता होती है। उन जीवन-साधनों को प्राप्त करने की प्रक्रिया को आजीविका कहा जाता है। जीवित रहने के लिये आजीविका का प्रबन्ध करना ही पड़ता है।

यद्यपि आज के युग मे आजीविका के अगणित स्रोत बन गए है, क्योकि आज के बुद्धिवादी मानव के समक्ष आजीविका ही मुख्यलक्ष्य है और साथ ही वैज्ञानिक प्रगति ने आजीविका के क्षेत्रो को अत्यन्त विस्तृत कर दिया है। ऐसी दशा में आजीविका के रूपो की गणना असम्भव सी प्रतीत होती है, परन्तु समष्टि-प्रधान दृष्टिकोण से विचार करने पर समस्त आजीविका-साधनो को शास्त्रकार द्वारा निर्दिष्ट निम्नलिखित पांच रूपो में ही विभक्त किया जा सकता है। जैसे कि :—

१. **जात्याजीवक**—जो व्यक्ति जातीय आधार पर आजीविका का उपार्जन करते है वे 'जात्या-जीवक' कहलाते है। ब्राह्मण पौरोहित्य कर्म करता है, केवल अपनी जाति के ही आधार पर, क्योकि यह अधिकार किसी और वर्ण को नही दिया गया, अत: ब्राह्मण को जात्याजीवक ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार अपनी जाति-परम्परा के अनुरूप कर्म से जीविका का अर्जन करनेवाले सभी व्यक्ति 'जात्या-जीवक' ही माने जाएगे।

२. कुलाजीवक—जो व्यक्ति अपनी कुल-परम्परा से प्राप्त विद्या आदि द्वारा जीवन साधनों का उपार्जन करते हैं वे कुलाजीवक कहलाते है। जैसे किसी कुल में वशानुक्रम से चिकित्सा का कार्य हो रहा है तो वह व्यक्ति चिकित्सा-शास्त्र का ज्ञान कुल-परम्परा से ही प्राप्त कर लेता है और उसीसे अपना-भरण-पोषण करता है। ऐसे व्यक्ति को 'कुलाजीवक' कहा जाएगा।

३. कर्माजीवक—यहां 'कर्म' शब्द परिश्रम एव मेहनत-मजदूरी का द्योतक है। जो व्यक्ति परिश्रम करके जीवन-निर्वाह करते है, उन्हें 'कर्माजीवक' की श्रेणी में स्थान दिया जाएगा। कृषक वर्ग इसी श्रेणी के आजीवक है।

४. शिल्पाजीवक—शिल्प का अर्थ है निर्माण-विद्या, जिसे आज के युग में कला (आर्ट) एव इजीनियरिंग आदि कहा जाता है। चित्रकार, कलाकार, इजीनियर आदि शिल्पाजीवक की कोटि मे आते हैं, क्योंकि इनकी आजीविका का आधार उनका शिल्पज्ञान ही माना जाता है।

५. लिङ्गाजीवक—वे व्यक्ति जो पाखण्ड, ढोग, रूप-परिवर्तन आदि के द्वारा जनता को धोखा देकर आजीविकोपार्जन करते है उन्हे 'लिङ्गाजीवक' कहा जाता है।

किसी-किसी प्रति में 'लिंग-आजीवक' के स्थान मे 'गण' शब्द का उल्लेख भी मिलता है। गण का अर्थ है मल्लों का समुदाय इससे भी जीवन-निर्वाह होता है।

पंचविध राज-चिन्ह

मूल—पंच रायककुहा पण्णत्ता, तं जहा—खग्गं, छत्तं, उप्फेसं, उपाणहाओ, वालवीअणी।२१।

छाया—**पञ्च राजककुदानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—खड्गः, छत्तं, शेखरकः, उपानहौ, वालव्यजनी।**

शब्दार्थ—**पंच**—पांच; **रायककुहा पण्णत्ता, तं जहा**—राज-चिह्न बताए गये है, जैसे; **खग्गं**—खड्ग; **छत्तं**—छत्र; **उप्फेसं**—मुकुट, **उपाणहाओ**—जूती-जोड़ा; **वालवीअणी**—चंवर।

मूलार्थ—राजा के पांच चिह्न बताए गए है, जैसे—तलवार, छत्र, मुकुट, जूता और चंवर।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में सामान्य जनता की आजीविका के साधनों की ओर संकेत किया गया है, परन्तु राजकीय जीवन इन सबसे भिन्न होता है, राजाकी आजीविका के साधन उपर्युक्त पाचों से स्पष्ट ही पृथक् होते हैं। अतः सूत्रकार राज-चिह्नों के वर्णन-माध्यम से यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि राजा अपने कन्धों पर पांच भारी दायित्व लेकर अपनी आजीविका चलाता है।

यद्यपि जैनागमों में निवृत्ति के स्वरों की प्रधानता रही है और राजा एवं राज-समृद्धि सब प्रवृत्ति-प्रधानता के अन्तिम रूप है, फिर निवृत्ति के गायको को इन वर्णनो की क्या आवश्यकता पड़ी? यह प्रश्न स्वाभाविक है, परन्तु यह ज्ञातव्य है कि प्रवृत्ति निवृत्ति का ही प्रथम रूप है, प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक पहलू वाला सिक्का कभी बना ही नही, बनेगा भी नहीं, बन सकता भी नही, अत: निवृत्ति को समझने के लिये प्रवृत्ति का जानना अनिवार्य है।

प्रवृत्ति-प्रधान जीवन की चरम-सीमा है राज्य-समृद्धि, अतः प्रस्तुत सूत्र में राज्य-समृद्धि के उन चिन्हों का परिचय दिया गया है जो राज्य-समृद्धि प्राप्त व्यक्ति का परिचय देते है।

राज्य का प्रथम-चिह्न है—'खड्ग' अर्थात् तलवार। यद्यपि खड्ग का प्रयोग तत्कालीन जीवन में सामान्य क्षत्रिय भी किया करते थे, परन्तु उनके लिये खड्ग की अनिवार्यता नही थी, राजा के लिये उसकी अनिवार्यता थी। वह राजगद्दी पर खड्ग के बिना आसीन न हो सकता था। खड्ग उसे राज्याभिषेक के समय यह कह कर दिया जाता था कि यह खड्ग तुम्हारे रक्षण-दायित्व का प्रतीक है। प्रजा ने तुम्हे रक्षण का भार समर्पित कर दिया है। जिस दिन तुमने इस दायित्व का पालन न किया उस दिन तुम्हे राज्य-सिंहासन के योग्य न माना जाएगा।

यद्यपि खड्ग हिंसा का प्रतीक भी है, परन्तु राष्ट्र की रक्षा के लिये उसके प्रयोग की छूट धार्मिक परम्पराओं में भी मान्य ही रही है।

दूसरा समृद्धि-चिन्ह है छत्र। राजाओं को छत्र ओढा कर यह दायित्व सौंपा जाता था कि प्रजा छत्र बनकर तुम्हारी रक्षा करेगी, तुम्हें कर देकर समृद्ध बनाएगी, परन्तु तुमने भी प्रजा की इस प्रकार रक्षा करनी होगी जैसे छत्र तुम्हारी धूप-वर्षा और अकस्मात् होनेवाले आक्रमणों से तुम्हारी रक्षा करता है।

उसका तीसरा चिन्ह था 'सुवर्ण-मुकुट'। सूर्य आदि नक्षत्रों से प्राप्त होनेवाली ऊर्जा को सबसे अधिक सुवर्ण ही ग्रहण करता है। राजा के मस्तिष्क पर रखा हुआ यह सुवर्ण उसे अधिकाधिक ऊर्जा देकर तेजस्वी बनाता था। साथ ही सुवर्ण मुकुट पहनाकर उस पर यह दायित्व सौपा जाता था कि तुम्हारे मस्तिष्क में सर्वदा प्रजा के हित के लिये सुवर्ण अर्थात् वैभव-सम्पन्नता के उपायों को खोजने की भावना बनी रहनी चाहिए।

यद्यपि जूता प्रत्येक व्यक्ति पहनता था, परन्तु राजाओ के लिये विशेष प्रकार के जरीदार जूते बनाए जाते थे, सौन्दर्य और सुरक्षा दोनो दृष्टियों को ध्यान में रखकर इन जूतों का निर्माण किया जाता था। वैसा जूता कठोर शासन का भी प्रतीक है।

पांचवा चिन्ह चंवर था, चंवर डुलाने का कार्य प्राय: सुन्दरतम दासियों को दिया जाता था। ये दासिया प्रजा की प्रतीक मानी जाती थीं। अभिप्राय यह होता था कि प्रजा ने तुम्हें सौन्दर्य दिया है, तुम्हे मक्खी और मच्छर तक के आक्रमण से बचाने का उपाय किया है, तुम्हे भी प्रजा को आक्रमणों से बचाना होगा, नगरो, मार्गों और ग्रामों को सुन्दर रूप देना होगा; उसके लिये शीतलवायु का प्रबन्ध करने के लिये सुन्दर उद्यानों का निर्माण करना होगा।

इस प्रकार प्राचीन युग में राजा को इन चिह्नों से युक्त करके उसको उसके दायित्वों के प्रति सजग किया जाता था।

राजाओं का जीवन संघर्षमय होता था, उनको सर्वदा सुरक्षा की चिन्ता रहती थी, क्योंकि समृद्धि संरक्षण की चिन्ता के विना रह नहीं सकती। चिन्ता ही जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। अतः प्राचीन राजाओं को हम राज्य-समृद्धियों के संघर्षों से ऊब कर प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर आते देखते है, अतः प्रवृत्ति का वर्णन भी निवृत्ति का ही एक पक्ष है।

छद्मस्थ परीषह-उपसर्गों को क्यों सहन करे ?

मूल—पञ्चहिं ठाणेहिं छउमत्थे णं उदिन्ने परिस्सहोवसग्गे सम्मं सहेज्जा, तितिक्खेज्जा, अहियासेज्जा, तं जहा–उदिन्नेकम्मे खलु अयं पुरिसे उम्मत्तगभूए, तेण मे एस पुरिसे अक्कोसइ वा, अवहसइ वा, णिच्छोढेई वा, णिब्भंछेइ वा, बंधइ वा, रुंभइ वा, छविच्छेयं करेइ वा, पमारं वा नेइ, उद्दवेइ वा। वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणमच्छिंदइ वा, विच्छिंदइ वा, भिंदइ वा, अवहरइ वा।

जक्खाइट्ठे खलु अयं पुरिसे, तेण मे एस पुरिसे अक्कोसइ वा, तहेव जाव अवहरइ वा।

ममं च णं तब्भववेयणिज्जे कम्मे उइन्ने भवइ, तेण मे एस पुरिसे अक्कोसइ वा, जाव अवहरइ वा।

ममं च णं सम्ममसहमाणस्स, अखममाणस्स, अतितिक्खमाणस्स, अणहियासमाणस्स किं मन्ने कज्जइ ? एगंतसो मे पावे कम्मे कज्जइ।

ममं च णं सम्मं सहमाणस्स जाव अहियासेमाणस्स किं मन्ने कज्जइ ? एगंतसो मे णिज्जरा कज्जइ।

इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं छउमत्थे उदिन्ने परीसहोवसग्गे सम्मं सहेज्जा जाव अहियासेज्जा।२२।

छाया—पञ्चभिः स्थानैः छद्मस्थः खलु उदितान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहेत्, क्षमेत्, तितिक्षेत्, अध्यासीत्, तद्यथा—उदीर्णकर्मा खल्वयं पुरुषः उन्मत्तकभूतः, तेन ममैष आक्रोशति वा, अपहसति वा, निश्छोटयति वा, निर्भर्त्सयति वा, बध्नाति वा रुणद्धि वा, छविच्छेदं करोति वा, प्रमारं वा नयति, उपद्रवयति वा वस्त्रं वा, पतद्ग्रहं वा, कम्बलं वा, पादप्रोञ्छनमाच्छिनत्ति वा, विच्छिनत्ति वा, भिनत्ति वा अपहरति वा।

यक्षाविष्टः खल्वयं पुरुषस्तेन मामेष पुरुष आक्रोशति वा, तथैवा यावत् अपहरति वा ।

मम च तद्भववेदनीयं कर्म उदीरणं भवति, तेन मामेषः पुरुष आक्रोशति वा, यावत् अपहरति वा ।

मम च सम्यगसहमानस्य, अक्षममानस्य, अतितिक्षमाणस्य, अनध्यासमानस्य किं मन्ये क्रियते ? एकान्तशो मया पापं कर्म क्रियते ।

मम च सम्यक् सहमानस्य यावत् अध्यासमानस्य किं मन्ये क्रियते ? एकान्तशो मया निर्जरा क्रियते ।

इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैः छद्मस्थ उदितान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहेत् यावत् अध्यासीत् ।

शब्दार्थ—**पंचहिं ठाणेहिं**—पांच कारणो से, **छउमत्थे णं**—छद्मस्थ, **उदिन्ने**—उदय मे आए हुए; **परीसहोवसग्गे**- परीषह और उपसर्गो को; **सम्मं**—अच्छी तरह; **सहेज्जा**—सहन करे; **खमेज्जा**—क्षमाभाव रखे, **तितिक्खेज्जा**—अदीन रहे, **अहियासेज्जा**—विचलित न हो; **तं जहा**—जैसे, **उदिन्नकम्मे खलु अयं पुरिसे**—यह पुरुष मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय वाला है; **उम्मत्तगभूए**—उन्मत्त-सा हो रहा है; **तेणं**—अत:; **एस पुरिसे**—यह पुरुष; **मे**—मेरे प्रति; **अक्कोसइ वा**—आक्रोश करता है; **अवहसइ वा**—उपहास करता है; **णिच्छोडेइ वा**—हाथ पकडकर धक्का देता है; **णिब्भंछेइ वा**—तिरस्कार करता है, **बंधइ वा**—रज्जु आदि से बाधता है; **रुंभइ वा**—कारागारादि मे बंद करता है, **छविच्छेयं करेइ वा**—शरीर के अवयव हाथ पैर आदि को काटता है; **पमारं वा नेइ**—मूर्च्छा या मृत्यु की ओर ले जाता है; **उद्दवइ वा**—उपद्रव करता है; **वत्थं वा**- वस्त्र; **पडिग्गहं वा**—पात्र; **कंबलं वा**—कम्बल, **पायपुंच्छणं**—रजोहरण, **आच्छिंदइ वा**— छीनता है, **विच्छिंदइ वा**—दूर फेंकता है, **भिंदइ वा**—तोडता है, **अवहरइ वा**—चुराता है; **वा**—शब्द विकल्पार्थक है, **खलु**—निश्चय ही ।

अयं पुरिसे—यह पुरुष; **खलु**—निश्चय ही, **जक्खाइट्ठे**—यक्ष से आविष्ट है, **तेणं**—अत: **एस पुरिसे**—यह पुरुष, **मे**—मुझे, **अक्कोसइ वा**—कोसता है, **जाव**—यावत्, **अपहरइ वा**—वस्त्र-पात्र आदि चुराता है ।

ममं च णं—निश्चय ही मेरा, **तब्भवेयणिज्जे**—तद्भव वेदनीय अर्थात् प्रस्तुत मानव भव मे ही भोगने योग्य, **कम्मे**—कर्म; **उदिन्ने**—उदय, **भवइ**—हो गया है, **जेण**—फलत:; **एस पुरिसे**- यह पुरुष, **मे**—मुझे, **अक्कोसइ**—कोसता है, **जाव**—यावत्, **अवरहइ वा**—वस्त्रादि चुराता है ।

सम्मं—सम्यक् रूप से, **असहमाणस्स**—परीषह और उपसर्गो को न सहते हुए, **अखममाणस्स**—न खमते हुए, **अतितिक्खमाणस्स** - तितिक्षा न करते हुए; **अणहियासमाणस्स**—विचलित हुए, **ममं च णं**—मुझे; **किं मन्ने ?**—क्या; **कज्जइ**—

होता है ? **मे**—मेरे द्वारा; **एगंतसो**—एकान्त रूप से, **पावे कम्मे**—पाप कर्म; **कज्जइ**—किया जाता है।

सम्मं—सम्यग् रूप से; **सहमाणस्स**-सहते हुए; **जाव**—यावत्; **अहियासमाणस्स**—विचलित न होते हुए, **ममं च णं**-मुझे; **किं मन्ने**—क्या; **कज्जइ**—होता है; **मे**—मेरे द्वारा; **एगंतसो**—एकान्त रूप से, **णिज्जरा**—कर्मों की निर्जरा, **कज्जइ**—की जाती है।

इच्चेएहिं—इस प्रकार इन, **पंचहिं ठाणेहिं**—पाच कारणों से; **छउमत्थे**—छद्मस्थ; **उदिन्ने**—उदीर्ण, **परीसहोवसग्गे**—परीषह और उपसर्गों को, **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से; **सहेज्जा**—सहन करे; **जाव**—यावत्, **अहियासेज्जा**—विचलित न हो।

मूलार्थ—पांच कारणों से छद्मस्थ मुनि उदित होनेवाले परीषह और उपसर्गों को सहन करता है, तितिक्षा करता है, विचलित नहीं होता है। जैसे कि—

१. यह पुरुष मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदयवाला है, उन्मत्त सा हो रहा है, अतएव मुझे कोसता है, हंसता है, धक्का देता है, झिड़कता है, बांधता है, कैद मे डालता है, मूर्च्छा या मृत्यु की ओर ले जाता है, उपद्रव करता है तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण छीनता है, दूर फैंकता है, तोडता-फोड़ता है, चुराता है।

२. यह पुरुष भूताविष्ट है, अतएव मुझे कोसता है, यावत् मेरे वस्त्र-पात्र आदि चुराता है।

३. मेरा प्रस्तुत मानव-जन्म में भोगने योग्य कर्म उदय हो गया है, फलत यह पुरुष मुझे कोसता है, यावत् मेरे वस्त्र आदि चुराता है।

४. यदि मैं उदीर्ण परीषह और उपसर्गों को सम्यक् रूप से सहन नही करता हूं, क्षमा नहो करता हूँ, तितिक्षा नही करता हूँ, विचलित हो जाता हूँ तो मुझे इसका क्या फल होगा ? इस दशा में मै निश्चय ही एकान्त रूप से पाप-कर्म का उपार्जन करता हूं।

५. यदि मैं परीषहोपसर्गो को सहन करता हूं, यावत् विचलित नहो होता हूँ, तो मुझे इसका क्या होगा ? इस दशा में निश्चय ही मै एकान्त रूप से निर्जरा करता हूं।

इस प्रकार इन पांच कारणों से छद्मस्थ उदीर्ण परीषह और उपसर्गों को सम्यक्तया सहन करता है, यावत् विचलित नही होता है।

विवेचनिका—

सामान्य वैभव ही नहीं राज्य-समृद्धियों तक को जिनका त्याग ठोकर मार देता है वे ही महा साधक मुनिराज कहलाते हैं, परन्तु मुनि-जीवन के लिये त्याग यदि पहली शर्त है तो दूसरी शर्त है साधनामय जीवन में आनेवाले कष्टों को समभाव से सहन करना। समता प्राप्त करके केवली अवस्था मे पहुंचे हुए महापुरुषों को तो कष्ट की प्रतीति ही नही होती, परन्तु जो अभी साधना के पथ पर बढ़ ही रहे हैं, अभी जिन्हें स्व-पर की प्रतीति बनी हुई है, अभी जो शरीर-विस्मृति के साथ आत्म-अवस्थिति की दशा को प्राप्त नही कर सके ऐसे मुनि छद्मस्थ कहलाते है। कषाय या घनघाती कर्मों को भी छद्म कहते हैं, उसमे स्थित होनेवाली साधनाशील आत्मा ही छद्मस्थ है। छद्मस्थ साधक को यह भान होता है कि मुझे पीड़ा दी जा रही है, फिर भी वह उसे सहन करता है। क्या सोचकर सहन करता है? इसी प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है।

छद्मस्थ साधु उदय में आए परीषह-उपसर्गों को पांच कारणो से कषायों का निग्रह करके समभाव से निर्भय होकर सहन करता है, क्षमा के द्वारा क्षमण करता है, अदीन मन से तितिक्षा करता है, कष्टों से विचलित नही होता है। वे पांच कारण निम्नलिखित है, जैसे कि—

१. यह कष्ट देने वाला पुरुष उदितकर्मा है—इसके मिथ्यात्व से आवेष्टित मोहनीय कर्म उदय में आ रहे हैं, अत: यह शराबी की तरह उन्मत्त सा बना हुआ है, इसी कारण यह पुरुष मुझे **आकोसइ**—गाली दे रहा है, **अवहसइ**—मेरा मज़ाक उड़ा रहा है, **णिच्छोडेइ**—भर्त्सना करता है एव झिड़क देता है, **णिब्भंछेइ**—तिरस्कृत एवं अपमानित करता है, **बंधइ**—रस्सियो आदि से बाधता है, **रुंभइ**—कारागार में बन्द करता है या मेरा मार्ग रोकता है, **छविच्छेयं करेइ**—शरीर के किसी अवयव का छेदन करता है, **पमारं वा नेइ**—मूर्छित करता है या वध्यभूमि मे ले जाता है या मरणान्त दु:ख देता है, **उवद्दवेइ**—विभिन्न प्रकार से उपद्रव करता है तथा **अच्छिन्दइ**—मेरे वस्त्र, पात्र, कंबल तथा रजोहरण आदि उपकरणो को छीनता है, **विच्छिदइ**—जबर्दस्ती लूटता है, **भिदइ**—पात्रों को तोड़ता-फोड़ता है, **अवहरइ**—जबरन उठा ले जा रहा है।

इनमें पहली आठ क्रियाएं शरीरिक यातनाओ से संबन्ध रखती हैं और अंतिम चार क्रियाएं उपकरणों से सम्बन्ध रखती है। परिषह-ग्रस्त मुनि यह जानकर समस्त कष्टो को सहन करता है कि वस्तुत: में इस बेचारे का दोष नही, इसके अशुभकर्म उदय में आए हुए हैं इसी कारण यह मुझे कष्ट दे कर परेशान कर रहा है। इस जैसे और मनुष्य भी तो यहा रहते है, उन्होने मुझे कुछ भी नही कहा, अत यह स्पष्ट है कि इस व्यक्ति के अशुभ कर्म उदय में आए हुए हैं। ऐसा समझकर आए हुए उपसर्ग को मुनि समभाव से सहन करता है।

२. यह पुरुष यक्षाविष्ट है—इस कारण यह मुझे गाली देता है, मेरा मखौल करता है, मेरे उपकरणो को चुराता है और पूर्वोक्त सभी दुर्व्यवहार मेरे साथ करता है। वास्तव में इसका कोई दोष नहीं यक्षावेश ही इससे दुर्व्यवहार करवा रहा है।

३. मेरा असाता-वेदनीय कर्म उदय हो गया है जिसका फल मुझे इसी जन्म में भोगना है। यदि मेरे अशुभ कर्मों का अभी उदय न हुआ होता तो इसकी क्या शक्ति थी कि बिना अपराध के

ही यह मुझे गाली देता, मेरे उपकरणों को चुराता, अथवा अन्य कोई भी दुर्व्यवहार मेरे साथ करता। वस्तुतः इस दुर्घटना में मूलकारण मेरे ही असातावेदनीय कर्म का उदय है। इसका कोई दोष नही। यही समझकर छद्मस्थ मुनि समस्त कष्टों को सहन कर लेता है।

४. कोई छद्मस्थ मुनिराज इस भाव से भी परीषह-उपसर्गों को सहन कर लेते हैं कि इस व्यक्ति को पाप का भय नहीं है जो कि मुझे अपमानित कर रहा है, गाली दे रहा है मेरे उपकरणो को चुरा रहा है और मेरे साथ अकरणीय कृत्य कर रहा है, इस समय मेरा कर्त्तव्य सहन करना है। यदि मैं सहन नही करूंगा क्षमाभाव से वर्दाशत नही करूंगा, दीनता प्रकट करूंगा तो मैं अपने साधु-धर्म से विचलित होजाऊंगा और ऐसी दशा मे मैं एकान्त पाप का ही भागी वनूंगा।

५. यह व्यक्ति मुझे कष्ट देता हुआ पाप कर्म-बांध रहा है जोकि अपराध किए बिना ही मुझे कष्ट दे रहा है। मेरे धर्मोपकरणो को लूट कर मेरे साथ अन्य अनर्थकारी कार्य कर रहा हैं। इस समय मेरा कर्त्तव्य यही है कि इस आए हुए परीषह को सहर्ष सहन करूं, क्षमा धारण करूं, दीनता न प्रकट करूं, इसके द्वारा दिए गए भय से विचलित न होऊं, समता रखूं, ऐसा करने से कर्मों की निर्जरा होगी, कर्मो का भार जितना उतारा जाए उतना ही मेरा भला है। समाधिस्थ रहने से ही उपसर्ग-कष्ट सहन किए जा सकते है, इस प्रकार के कष्टों को सहन करने के लिये ही मैं दीक्षित हुआ हूं, न कि सुख-भोग करने के लिये। समाधिस्थ रहने में ही एकान्त निर्जरा हो सकती है ऐसा समझ कर साधु परीषहो को सहता है।

सूत्रकर्त्ता ने जो "**तब्भववेयणिज्जे कम्मे उइन्ने भवइ**" पद दिया है इसका भाव यह है मनुष्य-भव मे किए हुए कर्म मेरे उदय में आ गए है इसी बात को वृत्तिकार अपने शब्दों मे लिखते हैं '**मानुष्यकेण भवेन जन्मना वेद्यते अनुभूयते यत्तत्तद्भववेदनीयं कर्म उदीर्णं भवति**''।

छद्मस्थ मुनिराज उपर्युक्त पाच कारणो मे से किसी एक कारण का आश्रयण करके समाधिस्थ हो शान्ति एव क्षमा के साथ परीषहो को सहते हैं।

मूल सूत्र मे जो '**आक्कोसइ**' आदि वारह क्रियाएं दी गई है उनका सवध प्रत्येक क्रिया के साथ जोडना चाहिए। 'वा' पद विकल्प-अर्थ में प्रयुक्त है, उक्त बारह क्रियाओ में से किसी एक या दो-तीन कारणो से कोई उपसर्ग दे रहा है उसे दृढ़ता से सहन करता है। सभी एक ही कारण का आश्रयण करके सहते है ऐसी वात नही, कोई साधु किसी कारण से सहता है और कोई किसी कारण से।

निष्कर्ष यह कि पुरुष की अयोग्यता, यक्ष का आवेश, तद्भव-वेदनीय कर्म का उदय, न सहने पर एकान्त पाप कर्म का वध और सहने पर एकान्त निर्जरा इन पांच कारणों से छद्मस्थ आत्मा उपसर्ग सहन करते हैं।

केवली द्वारा परीषह-सहन के कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं केवली उदिन्ने परीसहोवसग्गे सम्मं सहेज्जा जाव अहियासेज्जा, तं जहा—खित्तचित्ते खलु अयं पुरिसे, तेण मे एस पुरिसे अक्कोसइ

वा, तहेव जाव अवहरइ वा।

दित्तचित्ते खलु अयं पुरिसे, तेण मे एस पुरिसे जाव अवहरइ वा।

जक्खाइट्ठे खलु अयं पुरिसे, तेण मे एस पुरिसे जाव अवहरइ वा।

मम च णं तब्भववेयणिज्जे कम्मे उदिन्ने भवइ, तेण मे एस पुरिसे जाव अवहरइ वा।

ममं च णं सम्मं सहमाणं, खममाणं, तितिक्खमाणं, अहियासेमाणं पासेत्ता बहवे अन्ने छउमत्था समणा णिग्गंथा उदिन्ने परीसहोवसग्गे एवं सम्मं सहिस्संति जाव अहियासिस्संति।

इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं केवली उदिन्ने परीसहोवसग्गे सम्मं सहेजा जाव अहियासेज्जा ।२३।

छाया—पञ्चभि· स्थानैः केवली उदीर्णान् (उदितान्) परीषहोपसर्गान् सम्यग् सहते, यावत् अध्यासते, तद्यथा—क्षिप्तचित्तः खल्वयं पुरुषः, तेन मामेष पुरुष आक्रोशति वा, तथैव यावद् अपहरति वा।

दृप्तचित्तः खल्वयं पुरुषः, तेन मामेषः यावत् अपहरति वा।

यक्षाविष्टः खल्वयं पुरुषः, तेन मामेष पुरुषः यावद् अपहरति वा।

मम च खलु तद्भववेदनीयं कर्म उदीर्णं भवति, तेन मामेष पुरुषः यावद् अपहरति वा। मां च खलु सम्यक् सहमानं, क्षममाणं, तितिक्षमाणम्, अध्यासमान दृष्ट्वा बहवोऽन्ये छद्मस्थाः श्रमणा. निर्ग्रन्था उदीर्णान् परीषहोपसर्गानेवं सम्यक् सहिष्यन्ते यावद् अध्यासिष्यन्ते।

इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैः केवली उदीर्णान् परीषहोपसर्गान् सम्यग् सहते, यावत् अध्यासते।

शब्दार्थ—पंचहिं ठाणेहिं—पांच कारणों से; केवली—केवली भगवान् उदिन्ने—उदीर्ण; परीसहोवसग्गे परीषह और उपसर्गो को; सम्मं सहेज्जा—सम्यक् रूप से सहन करता है; जाव—यावत्; अहियासेज्जा—विचलित नही होता है; तं जहा—जैसे; खित्तचित्ते—क्षिप्त चित्त है, खलु—निश्चय ही; अयं पुरिसे—यह पुरुष, तेण—अतः; एस—यह; पुरिसे—पुरुष; मे—मुझे; अक्कोसइ वा—कोसता है, तहेव—तथैव; जाव—यावत्; अवहरइ वा—मेरे वस्त्र-पात्र आदि चुराता है।

अयं पुरिसे—यह पुरुष; खलु—निश्चय ही; दित्तचित्ते—पुत्र-जन्मादि-जन्य हर्षोन्मत्त है; तेण—फलतः; एस पुरिसे—यह पुरुष; मे—मुझे कोसता है; जाव—यावत् अवहरइ वा—चुराता है।

जक्खाइट्ठे—यक्षाविष्ट है; खलु—निश्चय ही; अयं पुरिसे—यह पुरुष; तेण—इस लिये; एस पुरिसे—यह पुरुष; मे—मुझे कोसता है; जाव—मेरे वस्त्रादि; अवहरइ—चुराता है।

ममं च णं—मेरा; तब्भववेयणिज्जे—तद्भव वेदनीय; कम्मे—कर्म; उदिन्ने—उदय भवइ—हो गया है; तेण—इसलिए; एस पुरिसे—यह पुरुष; मे—मुझे कोसता है; जाव—यावत् मेरे वस्त्रादि चुराता है।

ममं च णं—मुझे, सम्म—सम्यक् रूप से; सहमाणं—सहते हुए; खममाणं—क्षमा करते हुए; तितिक्खमाणं- तितिक्षा करते हुए; अहियासेमाणं—अध्यास करते हुए पासित्ता—देखकर; बहवे—बहुत से; अन्ने—अन्य; छउमत्था—छद्मस्थ, समणा-णिग्गंथा—श्रमण—निर्ग्रन्थ, उदिन्ने—उदीर्ण; परीसहोपसग्गे—परीषह और उपसर्गो को; एवं—इसी प्रकार, सम्मं—सम्यक् रूप से; सहिस्संति—सहन करेंगे; जाव-यावत्; अहियासिस्संति—विचलित न होगे, इच्चेएहिं—इस प्रकार, इन पंचहिं-ठाणेहिं पाच स्थानो से; केवली—केवली, उदिन्ने—उदय प्राप्त, परीसहोपसग्गे परीषह और उपसर्गो को, सम्मं सहेज्जा—सम्यक् रूप से सहन करता है; जाव-यावत्; अहियासेज्जा=विचलित नही होता है।

मूलार्थ—पांच कारणों से केवली उदय मे आये हुए परीषह और उपसर्गो को सम्यग् रूप से सहन करता है यावत् विचलित नहीं होता है। जैसे—

१. यह मनुष्य विक्षिप्त चित्र अर्थात् पागल है, अतएव मुझे कोस रहा है, और मेरे वस्त्र-पात्रादि का अपहरण करता है।

२. यह मनुष्य पुत्रादि-जन्म के कारण हर्षोन्मत्त है, अतएव मुझे कोस रहा है, यावत् मेरे वस्त्रादि का अपहरण करता है।

३. यह पुरुष यक्षाविष्ट है, अतएव मुझे कोसता है, यावत् मेरे वस्त्रादि का अपहरण करता है।

४. मेरा तद्भव—प्रस्तुत मनुष्य जन्म में ही भोगने योग्य वेदनीय कर्म उदित हो गया है, अतएव यह पुरुष मुझे कोस रहा है, यावत् मेरे वस्त्रादि का अपहरण करता है।

५. मुझे परीषहोपसर्गो को सम्यग् रूप से सहन करते हुए, क्षमा करते हुए, तितिक्षा करते हुए, अध्यास करते हुए, देखकर दूसरे बहुसंख्यक छद्मस्थ श्रमण निर्ग्रन्थ उदीर्ण परीषहोपसर्गो को सम्यक् रूप से सहन करेंगे, यावत् अध्यास करेंगे अर्थात् विचलित न होंगे।

इस प्रकार इन पांच कारणों से केवली भगवान् उदीर्ण परीषहों एवं उपसर्गो को सम्यक् रूप से सहन करते हैं, यावत् विचलित नहीं होते हैं।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में छद्मस्थ किन-किन कारणों से परीषह उपसर्गों को सहते हैं इसका विवेचन किया गया है, परन्तु परीषह एवं उपसर्गों को केवली महापुरुष भी तो सहते है। उनके द्वारा कष्ट-सहन क्यों किया जाता है ? यह प्रश्न स्वाभाविक था, अतः प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार इसी विषय का विवेचन करते है। केवली शब्द से श्रुत-केवली, अवधि-ज्ञानी, मनःपर्यव-ज्ञानी और केवलज्ञानी सभी सूत्रकार को इष्ट हैं। वे भी पाच कारणों में से किसी एक कारण से परीषहोपसर्गों को सहन करते है। वे पांचों कारण एक साथ नही होते, उन में से यथावसर किसी एक कारण से उन्हें कष्टों को सहर्ष सहन करना पड़ता है। वे पांच कारण निम्नलिखित है—

१. यह पुरुष विक्षिप्त-चित्त है—पुत्र शोक आदि के दुख से इस पुरुष का चित्त खिन्न हो रहा है, अथवा मानसिक एवं मस्तिष्क सम्बन्धी विकृतियों के कारण यह पागल हो गया है, इसलिए यह पुरुष गालिया दे रहा है, मेरा उपहास कर रहा है, मुझे बार-बार झिडक रहा है, मुझे अपमानित कर रहा है, रस्सियों से बांध रहा है, मुझे बन्द कर रहा है, मेरा मार्ग रोक रहा है, मेरे अंग काट रहा और अनेक प्रकार के उपद्रव करता हुआ मेरे वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि साधना-उपकरणों को छीन रहा है, तोड़ रहा है एव उन्हे उठा कर ले जा रहा है।

२. यह पुरुष दृप्त-चित्त है अर्थात् इसे अभिमान हो गया है, पुत्र-जन्म आदि के कारण हर्षोन्मत्त हो रहा है। इसी कारण आक्रोश आदि उपसर्ग देने मे तत्पर है।

३ यह पुरुष यक्षाविष्ट है—जो कुछ यह उपसर्ग दे रहा है, इसमें मुख्य रूप से यक्षावेश ही कारण है, इसीलिये ही यह कष्ट दे रहा है।

४. मेरे ही भोगने योग्य कर्म उदय मे आ गए है उन्ही कर्मो की प्रेरणा से यह पुरुष मुझे कष्ट दे रहा है, इसमें इसका कोई दोष नही है।

५. आए हुए उपसर्गों को मैं सम्यक् प्रकार से सहन करूंगा, अदीन भाव से सहन करते हुए एवं परीषह से विचलित न होते हुए मुझे देखकर वहुत से छद्मस्थ साधु उदय मे आए हुए परीषह-उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से सहेगे, अपराधी को क्षमा करेंगे, कष्टों से विचलित नही होंगे, क्योंकि यह नियम है कि **"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तद् तदेवेतरो जनः"** प्रायः सामान्य जन महापुरुषों का अनुसरण किया करते हैं। और भी कहा है—

जे उत्तमेहिं मग्गो पहओ, सो दुक्करो य सेसाणं।
आयरियम्मि जयंते, तयाणुचरा केण सीएज्जा॥

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के मार्ग पर अन्य साधारण पुरुषों के लिये चलना कठिन है फिर भी वे वे यत्न-पूर्वक उनके अनुगमन में ढील कैसे कर सकते हैं ? अतः उपसर्ग सहना छद्मस्थ और केवली दोनों का मुख्य कर्त्तव्य है, क्योंकि वेदनीयकर्म को बिना भोगे कोई भी आत्मा विमुक्त नही हो सकता।

पांच हेतु, पांच अहेतु और पांच केवली अनुत्तर

मूल—पंच हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—हेउं ण जाणइ, हेऊं ण पासइ, हेउं ण बुज्झइ, हेउं णाभिगच्छइ, हेउं अन्नाण-मरणं मरइ।

पंच हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—हेउणा ण जाणइ, जाव हेउणा अन्नाण-मरणं मरइ।

पंच हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—हेउं जाणइ जाव हेउं छउमत्थ-मरणं मरइ।

पंच हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—हेउणा जाणइ, जाव हेऊणा छउमत्थ-मरणं मरइ।

पंच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउं ण जाणइ, जाव अहेउं छउमत्थ-मरणं मरइ।

पंच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउणा न जाणइ, जाव अहेउणा छउमत्थ-मरणं मरइ।

पंच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउं जाणइ जाव अहेउं केवलि-मरणं मरइ।

पंच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउणा ण जाणइ, जाव अहेउणा केवलि-मरणं मरइ।

केवलिस्स णं पंच अणुत्तरा पण्णत्ता, तं जहा—अणुत्तरे णाणे, अणुत्तरे दंसणे, अणुत्तरे चरित्ते, अणुत्तरे तवे, अणुत्तरे वीरिए।२४।

छाया—पञ्च हेतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हेतुं न जानाति, हेतुं न पश्यति, हेतुं न बुध्यते, हेतुं नाभिगच्छति, हेतुमज्ञानमरणं म्रियते।

पञ्च हेतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हेतुं न जानाति, यावत् हेतुना अज्ञानमरणं म्रियते।

पञ्च हेतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हेतुं जानाति, यावद् हेतुं छद्मस्थ-मरणं म्रियते।

पञ्च हेतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हेतुना जानाति, यावद् हेतुना छद्मस्थ-मरणं म्रियते।

पञ्च अहेतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अहेतुं न जानाति, यावद् अहेतुं छद्मस्थ-मरणं म्रियते।

पञ्च अहेतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अहेतुना न जानाति, यावद् अहेतुना छद्मस्थ-मरणं म्रियते।

पञ्च अहेतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अहेतुं जानाति, यावद् अहेतुं केवलि-मरणं म्रियते।

पञ्च अहेतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अहेतुना न जानाति यावद् अहेतुना केवलि-मरणं म्रियते ।

केवलिनः खलु पञ्च अनुत्तराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अनुत्तरं ज्ञानम्, अनुत्तरं दर्शनम्, अनुत्तरं चारित्रम्, अनुत्तरं तपः, अनुत्तरं वीर्यम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच हेतु कथन किये गए है, जैसे—हेतु को नहीं जानता है, हेतु को नहीं देखता है, हेतु पर श्रद्धान नहीं करता है, हेतु को प्राप्त नही करता है, अध्यवसाय आदि के द्वारा अज्ञान-मरण से मरता है ।

पांच हेतु कथन किये गए हैं, जैसे—हेतु द्वारा नहीं जानता है, यावत् हेतु के द्वारा अज्ञान-मरण से मरता है ।

पांच हेतु कथन किये गए हैं, जैसे—हेतु को जानता है, हेतु को देखता है, यावत् हेतु द्वारा छद्मस्थ-मरण से मरता है ।

पांच हेतु कथन किये गए हैं, जैसे—हेतु के द्वारा जानता है यावत् हेतु के द्वारा छद्मस्थ-मरण से मरता है ।

पाच अहेतु कथन किये गए है, जैसे—अहेतु को नहीं जानता है, यावत् अहेतु से छद्मस्थ-मरण मरता है ।

पाच अहेतु कथन किये गए है, जैसे—अहेतु के द्वारा नहीं जानता है, यावत् अहेतु के द्वारा छद्मस्थ-मरण से मरता है ।

पांच अहेतु कथन किये गए है, जैसे—अहेतु को जानता है, यावत् अहेतु द्वारा केवली-मरण मरता है ।

पाच अहेतु कथन किये गए हैं, जैसे—अहेतु के द्वारा जानता है, यावत् अहेतु के द्वारा केवली-मरण मरता है ।

केवली के पांच अनुत्तर अर्थात् अद्वितीय साध्य है, जैसे—अनुत्तर ज्ञान, अनुत्तर दर्शन, अनुत्तर चारित्र, अनुत्तर तप, अनुत्तर वीर्य ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में केवली महापुरुषों द्वारा परीषहोपसर्गों को सहन करने के कारणों का विश्लेषण किया गया है । अब हेतु और अहेतु के विषय को स्पष्ट करते हुए केवलित्व-प्राप्ति के कौन से साधन हैं

और किन साधनों से आत्मा केवलित्व प्राप्त करते है ? इस विषय का सूत्रकार वर्णन करते हैं :—

इस सूत्र में नौ सूत्रांशों के द्वारा हेतु, अहेतु और साध्य का निर्देश किया गया है । जिससे साध्य का ज्ञान हो उसे हेतु कहा जाता है, वंध और वंध के उपायो को एव मोक्ष और उस के उपायों को भी हेतु ही कहते है । इस संसार का मूल कारण बघ है और बन्ध का मूल कारण आश्रव है । बंध से मुक्त होना ही मोक्ष है और किन किन कारणों की निवृत्ति एवं प्रवृत्ति से जीव मुक्त हो सकता है इन सबका व्यवहार हेतु शब्द से किया जा सकता है । हेतु एवं अहेतु आदि का विश्लेषण इस प्रकार है :—

१. हेउं न जाणइ—जो जीव ससार में परिभ्रमण करानेवाले कारणों को सम्यक् प्रकार से नही जानता है । २ हेउं न पासइ—दु.ख के गर्त्त मे डालने वाले कारणों को सम्यक् प्रकार से नही देखता है । ३. हेउं न बुज्झइ—मोक्ष के उपाय भूत साधनो को श्रद्धा से ग्रहण नही करता है । ४. हेउं णाभिगच्छइ—संसार-सागर से पार करनेवाले साधनों को नही अपनाता है । ५. हेउं अन्नाणमरणं मरइ—अज्ञानतापूर्वक मरण कराने वाले कारणों को अपनाकर ही मरता है ।

छद्मस्थ आत्मा अनुमान के पचावयवों के द्वारा पदार्थो के स्वरूप को जानता है जैसे धूम के द्वारा अग्नि के अस्तित्व का निश्चय किया जाता है । जिससे साध्य का ज्ञान हो, उसे लिंग या साधन कहा जाता है । हेतु का लक्षण है जिसके होने पर निश्चित रूप से साध्य का अस्तित्व पाया जाए और जिसके न होने पर उसके अस्तित्व का अभाव सिद्ध हो वही हेतु कहलाता है । ऐसे सत् अर्थात् वास्तविक हेतु को जो नही जानता है, न देखता है, न उस पर श्रद्धा करता है और न उसे अपनाता ही है वह अज्ञानमरण रूप हेतु को पाकर हो मरता है । अज्ञान-मृत्यु मिथ्यादृष्टि व्यक्तियो की ही हुआ करती है ।

जो हेतु को ही नही जानता वह हेतु से पदार्थो के स्वरूप को कैसे जान सकता है ? वह हेतु से अनुमेय पदार्थ को नही जानता, न ही देखता है, न ही उसके प्रति श्रद्धा करता है, न ही हेतु के द्वारा किसी पदार्थ को जानने का प्रयास ही करता है । वह व्यक्ति भी अज्ञान-मृत्यु को प्राप्त कर जन्ममरण के जाल में उलझा रहता है ।

चार्वाक् दर्शन अनुमान को प्रमाण नही मानता । हेतु अनुमान का ही प्रमुख अग है, परन्तु अज्ञानी जीव का मरण किसी न किसी हेतु से ही होता है, हेतु के दूसरे सूत्रांश तक जो सूत्रकार ने वर्णन किया है उसका सीधा संबध अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि व्यक्तियो से ही सम्बन्धित है । इस स्थान पर नञ् का प्रयोग कुत्सित अर्थ में हुआ है—"नञ् कुत्सार्थत्वादेवासम्यगवगच्छतीत्यर्थः" अर्थात् जो हेतु को वा हेतु के द्वारा साध्य को सम्यक् रूप से नही जानता है । वही अज्ञान-मृत्यु को प्राप्त होता है ।

सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से अब कर्म-रूप हेतु और करण-रूप हेतु का विश्लेषण किया जाता है । सम्यग्दृष्टि आत्माभिमुख होता है, वह कर्म-बन्ध के हेतु और उससे विमुक्त होने के हेतु को भली-भाति जानता है तथा अपने पुनीत अनुभव एवं साधना के द्वारा देखता है, वह मोक्ष और मोक्ष के उपाय रूप साधनों को श्रद्धा से अपनाता है और यथाशक्ति कर्मक्षपण-हेतु रूप संवर एवं निर्जरा के कारणों को अपनाता है । किसी न किसी शुभ हेतु को पाकर ही उसका छद्मस्थ-मरण होता है ।

अनुमान के मुख्य अंग हेतु को भी वह सम्यक् रूप से जानता है, देखता है, उसके प्रति श्रद्धा करता है, सद्हेतु के अभिमुख होता है और जिससे छद्मस्थ-मरण हो सकता है उस हेतु को भी अच्छी तरह जानता है।

अब करण अर्थात् साधन रूप हेतु को लक्ष्य में रखकर विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ जीव परोक्ष पदार्थों को हेतु से जानता है, हेतु से देखता है, हेतु से ही उनके प्रति श्रद्धा करता है, हेतु से ही साध्य को प्राप्त करता है और उसका छद्मस्थ-मरण भी किसी न किसी आन्तरिक एवं बाह्य हेतु से ही होता है। जो हेतु को सम्यक् जानता है, वही वस्तुतः हेतु से पदार्थों को जानने में समर्थ है, वही हेतु के सम्यग् ज्ञान द्वारा छद्मस्थ-मरण प्राप्त करता है। इस विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—जैसे कि **"हेतुहेतुमद्छद्मस्थ-मरणं सम्यग्दृष्टित्वान्ताज्ञानमरणमनुमातृत्वाच्च न केवलि-मरणमिति"** सम्यग्दृष्टि होने से छद्मस्थ-मरण होता है, किन्तु अज्ञान-मरण नही होता है तथा अनुमाता होने से वह केवली मरण नही, क्योंकि केवली अनुमाता नही होता, छद्मस्थ ही अनुमान करनेवाला होता है, अतः वही अनुमाता भी है।

तीसरे सूत्र-भाग में अहेतु के विषय में निरूपण किया गया है। अहेतु का अर्थ होता है हेत्वा-भास, जो हेतु तो नही है, किन्तु हेतु जैसा लगता है, उसे अहेतु कहा जाता है, अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र मोक्ष के लिये अहेतु है। अहेतु किसी भी कार्य के यथार्थ ज्ञान में अकिं-चित्कर होता है। जैसे हेतु को जानना अनिवार्य है, वैसे ही अहेतु को भी। जो अहेतु को नहीं जानता, वह हेतु को भी भली-भांति नही जान सकता। हेतु और अहेतु को सम्यग्दृष्टि जीव ही जानता है, मिथ्यादृष्टि नही। मिथ्यादृष्टि व्यावहारिक हेतु और अहेतु को भी यत्किंचित् ही जान पाता है पूर्णतः नही, जबकि सम्यग्दृष्टि हेतु और अहेतु दोनों को सम्यक् रूप से जानता है। शेष पदो का विवेचन हेतु की तरह ही समझ लेना चाहिए। अंतर केवल इतना ही हे कि निरुपक्रमी आयुष्क का मरण बिना ही हेतु अर्थात् कारण के होता है उसकी मृत्यु में कोई कारण नही होता है।

हेतु का व्यवहार श्रुतज्ञान के अर्थ में होता है, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान में नही, क्योकि ये ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते है। जब उक्त ज्ञान के धारण करनेवाले उसमें उपयोग लगाते हैं, तब वे अनुमान से किसी भी पदार्थ की जानकारी नही करते, अपितु वस्तुतत्व को प्रत्यक्ष रूप से जानते है, अतः वे विना हेतु के ही जानते एवं देखते है।

केवलीमरण भी विना ही हेतु के प्राप्त होता है। यहा हेतु से अभिप्राय निमित्त से है, केवली की आयु अपवर्तनीय एव निरुपक्रमी होती है, अतः केवली का मरण अहेतु अर्थात् बिना किसी निमित्त से होता है, क्योंकि केवली भगवान कर्म-समूह का क्षय कर देते है। जब कारण रूप कर्म ही नही तो मृत्यु का सकारण होना कैसे हो सकता है? अतः केवली भगवान आयुष्य क्षय की अवधि सन्निकट जानकर शरीर का परित्याग कर देते है। केवलीमरण पुनर्जन्म के लिए नही, प्रत्युत अमर होने के लिए होता है।

केवलीपद की अनुवृत्ति से सूत्रकार ने केवली भगवान् में पाए जानेवाले पांच अनुत्तर गुण-रत्नों का उल्लेख किया है। अनुत्तर का अर्थ होता है—सर्वोत्तम—परमप्रधान अर्थात् जिससे बढ़ कर कोई अन्य ज्ञान न हो वह अनुत्तर ज्ञान है। जिससे बढ़ कर कोई अन्य दर्शन न हो वह अनुत्तर दर्शन है। इन दो गुणों को दूसरे शब्दों में केवलज्ञान और केवलदर्शन भी कहते है। आवरण रूप सर्वघाती

कर्मों का सर्वथा क्षय होने से उक्त गुणरत्न आत्मा मे जागृत होते हैं जो कि सदा सर्वदा उस में रहने वाले हैं। मोहनीयकर्म के सर्वथा क्षय होने से आत्मा में अनुत्तर चारित्र और अनुत्तरतप रूप ये दो गुण उत्पन्न होते है। वस्तुतः देखा जाए तो पूर्ण संवर ही अनुत्तर चारित्र है। वह चौदहवें गुणस्थान के अन्तर्गत शैलेशी अवस्था मे होता है; क्योकि परमशुक्ल ध्यान ही पूर्ण संवर है और तप के बारह भेदों में शुक्लध्यान भी एक तप है। उसके चौथे चरण में पहुंचने पर ही वह अनुत्तर तप कहलाता है।[1]

जो कर्म आत्मा की अनन्त शक्ति को प्रकट नही होने देता। उसे वीर्यान्तिराय कहते हैं, उसके सर्वथा क्षय होने से अनुत्तरवीर्य उत्पन्न होता है। इन पांच गुण-रत्नों में से अन्य गुणों का भी समावेश हो जाता है। इससे यह स्वतःसिद्ध हो जाता है कि कर्म-क्षय से उक्त गुण प्रकट होते है, अतः कर्मक्षय करने के लिये साधक को सर्वदा यत्नशील रहना चाहिए।

अरिहन्तों के कल्याणक-नक्षत्र

मूल—पउमप्पहे णं अरहा पंचचित्ते हुत्था, तं जहा—चित्ताहिं चुए, चइत्ता गब्भं-वक्कंते, चित्ताहिं जाए, चित्ताहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, चित्ताहिं अणंते अणुत्तरे णिव्वाघाए, णिरावरणे, कसिणे, पडिपुण्णे, केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने, चित्ताहिं परिणिव्वुए।

पुप्फदंते णं अरहा पंच मूले हुत्था, तं जहा—मूलेणं चुए, चइत्ता गब्भं-वक्कंते। एवं चेव एवमेएणं अभिलावेणं इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ—

पउमप्पमस्स चित्ता[1] मूले पुण होइ पुप्फदंतस्स[2]।
पुव्वाइं आसाढा[3] सीयलस्सुत्तर विमलभद्दवया[4] ॥१॥
रेवइया अणंतजिणो[5], पूसो धम्मस्स[6] संतिणो भरणी[7]।
कुंथुस्स कत्तियाओ[8], अरस्स तह रेवईओ य[9] ॥२॥
मुणिसुव्वयस्स सवणो[10], असिणि णमिणो[11] य नेमिणो चित्ता[12]।
पासस्स विसाहाओ[13], पंच य हत्थुत्तरो वीरो[14] ॥३॥

समणे भगवं महावीरे पंचहत्थुत्तरे होत्था, तं जहा—हत्थुत्तराहिं चुए, चइत्ता गब्भं वक्कंते, हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, हत्थुत्तराहिं जाए, हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए, हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे जाव केवलवरनाणदंसणे समुप्पण्णे।२५।

---

१. इस विषय की स्पष्टता के लिये देखिये भगवती सूत्र शतक २५वां, उद्देशक ७वां।

छाया—पद्मप्रभोऽर्हन् पञ्चचित्रोऽभूत्, तद्यथा—चित्राभिश्च्युतः, च्युत्वा गर्भं व्युत्क्रान्तः, चित्राभिर्जातः, चित्राभिर्मुण्डोभूत्वाऽऽगाराद् अनगारितां प्रव्रजितः, चित्राभिरनन्तमनुत्तरं, निर्व्याघातं, निरावरणं, कृत्स्नं, प्रतिपूर्णं केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पन्नं, चित्राभिः परिनिर्वृतः।

पुष्पदन्तोऽर्हन् पञ्चमूलोऽभूत्, मूलेन च्युतः, च्युत्वा गर्भं व्युत्क्रान्तः, एवं चैव। एवमेतेन अभिलापेन इमा गाथा अनुगन्तव्याः—

पद्मप्रभस्यचित्रा, मूलं पुनर्भवति पुष्पदन्तस्य।
पूर्वाषाढा शीतलस्य, उत्तरा विमलस्य भाद्रपदा ॥१॥

रेवतिकोऽनन्तजिनः, पुष्यं धर्मस्य शान्तेर्भरणिः।
कुन्थोः कृत्तिका, अरस्य तथा रेवती च ॥२॥

मुनिसुव्रतस्य श्रवणम्, अश्विनी नमेश्च नेमेश्चित्रा।
पार्श्वस्य विशाखा, पञ्च च हस्तोत्तरो वीरः ॥३॥

श्रमणो भगवान् महावीरः पञ्चहस्तोत्तरोऽभूत्—हस्तोत्तराभिश्च्युतः, च्युत्वा गर्भं व्युत्क्रान्तः, हस्तोत्तराभिर्गर्भाद् गर्भं संहृतः, हस्तोत्तराभिर्जातः, हस्तोत्तराभिर्मुण्डो भूत्वा यावत् प्रव्रजितः, हस्तोत्तराभिरनन्तमनुत्तरं यावत् केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पन्नम्।

शब्दार्थ—**पउमप्पहे णं**—पद्मप्रभ; **अरहा**—अर्हन्त; **पंचचित्ते**—पांच चित्रा नक्षत्रवाले; **हुत्था**—थे, **तं जहा**—जैसे, **चित्ताहिं चुए**—चित्रा में च्युत होकर; **गब्भं**—गर्भ मे; **वुक्कंते**—प्रविष्ट हुए; **चित्ताहिं जाए**—चित्रा में जन्म लिया; **चित्ताहिं मुंडे भवित्ता**—चित्रा में मुण्डित होकर; **अगाराओ**—गृहस्थवास से; **अणगारियं**—अनगार भाव को, **पव्वइए**—धारण किया; **चित्ताहिं**—चित्रा मे ही; **अणंते**—अनन्त, **अणुत्तरे**—अनुत्तर; **णिव्वाघाए**—निर्व्याघात; **णिरावरणे**—आवरण-रहित; **कसिणे**—कृत्स्न; **पडिपुण्णे**—प्रतिपूर्ण; **केवलवरनाण-दंसणे**—श्रेष्ठ केवलज्ञान और केवलदर्शन; **समुप्पन्ने**—उत्पन्न हुए; **चित्ताहिं**—चित्रा मे; **परिणिव्वुए**—निर्वाण को प्राप्त हुए।

पुप्फदंते णं अरहा—पुष्पदन्त अर्हन् के; **पच मूले हुत्था**—पांच कल्याणक मूल नक्षत्र वाले थे; **मूलेणं**—मूल में; **चुए**—च्युत हुए, **चइत्ता**—च्युत होकर; **गब्भं वुक्कंते**—गर्भ में अवतीर्ण हुए; **एवं चेव**—इसी तरह अन्य भी समझना; एवमेएणं अभिलावेणं इसी तरह इसी अभिलाप से; **इमाओ**—ये, **गाहाओ**—गाथाएं, **अणुगंतव्वाओ**—जान लेनी चाहिये।

पउमप्पभस्स—पद्मप्रभ का; **चित्ता**—चित्रा है, **पुप्फदंतस्स**—पुष्पदंत; **पुण**—फिर, **मूलं होइ**—मूल है; **सीयलस्स**—शीतल का; **पुव्वाइं आसाढा**—पूर्वाषाढा है, **विमलस्स**—विमल का; **उत्तरभद्दवया**—उत्तराभाद्रपदा है; **अणंतजिणो**—अनन्तनाथ जिन;

रेवइया—रेवती नक्षत्र में पांच कल्याणकवाले है; **धम्मस्स**—धर्म का, **पूसो**—पुष्य है; **संतिणो**--शान्ति का; **भरणी**—भरणि है; **कुंथुस्स**—कुंथु का; **कत्तियाओ**—कृत्तिका है; **तह**—तथा; **अरस्स**—अरनाथ का, **रेवइओ**—रेवती है; **मुणिसुव्वयस्स**—मुनिसुव्रत का; **सवणो**—श्रवण है; **णमिणो**—नमि का; **असिणि**--अश्विनी है, **नेमिणो**—नेमि का; **चित्ता**—चित्रा है; **पासस्स**—पार्श्व का; **विसाहाओ**—विशाखा है; **वीरो**—वीर के; **पंचहत्थुत्तरो**—पांचों कल्याणक हस्तोत्तरा नक्षत्रवाले हैं।

समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर; **पंचहत्थुत्तरे हुत्था**—पाच हस्तोत्तरा नक्षत्र वाले थे, **हत्थुत्तराहिं चुए**—हस्तोत्तरामे च्युत हुए, **चइत्ता**—च्युत होकर; **गब्भं**—गर्भ में, **वक्कंते**—अवतरित हुए, **हत्थुत्तराहिं**—हस्तोत्तरा मे; **गब्भाओ गब्भं**—देवानन्दा के गर्भ से त्रिशला के गर्भ मे; **साहरिए**—हरण किए गए; **हत्थुराहिं जाए**—हस्तोत्तरा में उत्पन्न हुए; **हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता**—हस्तोत्तरा में मुण्डित होकर; **जाव**—यावत्; **पव्वइए**—प्रव्रजित हुए, **हत्थुत्तराहिं**—हस्तोत्तरा में, **अणंते**—अनन्त; **अणुत्तरे**—अनुत्तर; **जाव**—यावत्, **केवलवरनाण दंसणे**—श्रेष्ठ केवलज्ञान एवं दर्शन; **समुप्पण्णे**—उत्पन्न हुए।

मूलार्थ— पद्मप्रभ अरिहन्त के पांचो कल्याणक चित्रा नक्षत्र में हुए, जैसे—१ चित्रा नक्षत्र में स्वर्गलोक से च्युत हुए और च्युत होकर गर्भ में अवतरित हुए। २. चित्रा में जन्म ग्रहण किया। ३. चित्रा में दीक्षित हो कर आगारवास से अनगार-भाव को प्राप्त हुए। ४. चित्रा में अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त किया। ५. चित्रा में ही उनका निर्वाण हुआ।

अरिहन्त पुष्पदन्त के पांच कल्याणक मूला नक्षत्र में हुए, जैसे—१. मूला नक्षत्र में ही स्वर्ग से च्युत हुए और च्युत होकर गर्भ में अवतरित हुए। इसी प्रकार शेष कथन भी समझ लेना चाहिए। इसी अभिलाप से ये गाथाएं ज्ञातव्य है—

भगवान् पद्मप्रभ के पांच कल्याणक चित्रा में, पुष्पदन्त के मूल में शीतलनाथ के पूर्वाषाढा में, विमल के उत्तराभाद्रपदा में।

भगवान् अनन्त नाथ के रेवती में, धर्मनाथ के पुष्य में, शान्तिनाथ के भरणी में, कुन्थुनाथ के कृत्तिका में तथा अरनाथ के रेवती में।

भगवान् मुनि सुव्रत के श्रवण में, नमि के अश्विनी में, नेमि के चित्रा

में, पार्श्वनाथ के विशाखा में और भगवान् महावीर के पाच कल्याणक हस्तोत्तरा में हुए थे।

श्रमण भगवान् महावीर के च्यवन आदि पांचों कल्याणक हस्तोत्तरा अर्थात् उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुए थे, जैसे कि-हस्तोत्तरा मेंस्वर्गलोक से च्युत हुए और च्युत होकर गर्भ में अवतरित हुए, हस्तोत्तरा मे एक गर्भ-से दूसरे गर्भ में संहृत हुए, हस्तोत्तरा में जन्म ग्रहण किया, हस्तोत्तरा में मुण्डित होकर यावत् प्रव्रजित हुए, हस्तोत्तरा में अनन्त, अनुत्तर यावत् केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुए।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र के अन्तिम सूत्रांश में केवली भगवान् के पांच अनुत्तर गुणो का अर्थात् उनकी दिव्य आध्यात्मिक सम्पत्तियों का वर्णन किया गया है। अनुत्तर गुण सभी कल्याणकारी है, अतः प्रस्तुन सूत्र में सूत्रकार ने जिस नक्षत्र में जिन-जिन के पाच कल्याणक हुए है उन तीर्थङ्करों के पवित्र नाम और नक्षत्रों का निर्देश किया है। सभी कल्याणक पूर्व जन्मोपार्जित पुण्यानुबधी पुण्य से प्राप्त होते है। उनकी सूचना उनके जन्मकाल से ही प्राप्त हो गई थी, वह जन्मकाल कौन सा था ? अब सूत्रकार इसी जिज्ञासा के समाधान के रूप में अरिहन्तों के पंच कल्याणकों का वर्णन करते हैं।

यद्यपि प्रस्तुत विषय ज्योतिष से सम्बन्धित है, परन्तु ज्योतिष हमारे जीवन-विज्ञान से भिन्न नही है, ज्योतिष वह प्रकाश है जो प्राणीमात्र के जीवन की गति-विधियों का जन्मकालीन नक्षत्रों के आधार पर विश्लेषण करता है।

वर्तमान् जगत मे कुछ ऐसे भी विचारक है जो ज्योतिर्विज्ञान का सबसे बड़ा उपहास उडाया करते थे, परन्तु उन्ही व्यक्तियो ने जब बहुत से डाक्टरो, सेनापतियों और कवियों की जन्म-कुण्डलियों का मिलान किया तो वे अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गए कि सभी लड़ाकू सेनापतियों की कुण्डलियों में मंगलग्रह की स्थिति प्रायः समान नक्षत्र एव समान राशि पर थी। इसी प्रकार प्रायः कवियों की कुण्डलियों में शुक्र की स्थिति समान नक्षत्रो एवं समान राशि पर देखी गई।

यह निश्चित है कि ग्रहों एवं नक्षत्रों का जीवन से पारस्परिक सम्बन्ध है, क्योकि जन्म लेनेवाला प्राणी नक्षत्रों से प्रभावित होता है और जन्म लेनेवाले प्राणी से ग्रह-नक्षत्र प्रभावित होते है, क्योकि प्रभाव एकतरफा नही होता। यदि महावीर किसी विशेष नक्षत्र में जन्म लेने पर उससे प्रभावित होते हैं तो वह नक्षत्र भी महावीर से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। महावीर के कारण सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों के कारण धरती पर उठनेवाले तूफान शान्त हो जाते हैं, शान्ति की धारा बह निकलती है, लोगों की चेतना पर शान्ति का प्रकाश छाने लगता है। यही कारण है, कि भगवान् शान्तिनाथ के जन्म लेते ही महाकाल सा मुह फैलाकर बढ़ती हुई महामारी को शान्त हो जाना पड़ा। भगवान् महावीर के जन्म लेते ही वैशाली में वैभव के प्रवाह फूट पड़े।

जन्मकालीन नक्षत्र हमें जन्म-लेने वाले के अतीत का पूर्ण परिचय देते हैं, अतः जैन ज्योतिर्विदो ने प्रत्येक दिव्यात्मा का अन्य लोको से कब प्रयाण हुआ ? उन्होने कब किसी पुण्यशीला माता के गर्भ मे प्रवेश किया, यह भी जान लेते है और साथ ही जन्म-नक्षत्र से यह भी जान लेते है कि भविष्य में इस प्राणी ने कैसा, क्या करना है ? क्योंकि ज्योतिष केवल ग्रह-नक्षत्रो का अध्ययन ही नही करता, अपितु उनके माध्यम से जीवन के भविष्य को टटोलने के लिये भी महाप्रयास करता है।

कल्याणकारी महापुरुषो का जीवन ससार के लिये कल्याणकारी होता है, अतः उनका देवलोकों से प्रयाण (च्यवन), मा-गर्भ में प्रवेश, पृथ्वी पर आगमन, दीक्षा एवं निर्वाण सभी कल्याणक कहलाते हैं। जैन शास्त्रों ने ज्योतिष की इस अद्भुत घटना पर प्रकाश डाला है कि तीर्थङ्कर के रूप में धरती पर आकर धरती को पावन करनेवाले अध्यात्म शक्तियों से सम्पन्न महापुरुषो के सभी कल्याणक एक परम्परा में बधे हुए समान नक्षत्रों मे हुआ करते है। एक आध में कभी-कभी भिन्नता भी होती है, जैसे भगवान महावीर का पांचवां निर्वाण कल्याणक स्वाती नक्षत्र में हुआ।

यह एक एसी ही घटना है जैसे जब जुड़वां बच्चे पैदा होते है तो उन दोनों को चाहे भिन्न-भिन्न देशो मे पहुंचा दिया जाय फिर भी जब एक को जुकाम होगा तो दूसरी ओर दूसरे बच्चे को भी अवश्य जुकाम हो जाता है, प्रायः ऐसे बच्चों की मृत्यु में तीन दिन, तीन मास का या तीन वर्ष का ही अन्तर होता है। दोनो बच्चो की एक जैसी स्थिति एवं जीवन-यात्रा की नियम-बद्धता जन्म-नक्षत्र के प्रभाव की ही सूचक है। ठीक इसी प्रकार तीर्थङ्करो के पांचों कल्याणकों की प्रायः समान नक्षत्र में अवस्थिति उनकी दिव्यता की परिचायिका है।

कल्याणक पाच होते हैः—पहला कल्याणक वह है जब कोई महर्द्धिक देव का जीव उस देव-आयु की पूर्णता पर किसी क्षत्रिय महारानी के गर्भ में तीर्थङ्कर बनने के लिये अवतरित होता है। यह कल्याणक चौदह महास्वप्नों से सूचित होता है।

दूसरा कल्याणक वह है जब गर्भवास की अवधिपूर्ण होकर तीर्थङ्कर का जन्म होता है।

तीसरा कल्याणक वह है जब कि तीर्थङ्कर निर्ग्रन्थवृत्ति को धारण करने के लिये प्रव्रज्या ग्रहण करते है।

चौथा कल्याणक वह है जब कि उच्चसाधना करते-करते सभी घनघाती कर्मों का सर्वथा क्षय होने पर केकलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न होता है तथा तीर्थ की स्थापना करते हैं।

पांचवां कल्याणक वह है जब तीर्थङ्कर भगवान शेष चार अघाति कर्मों को क्षय करके सिद्ध-पद को प्राप्त करते हैं। सिद्धपद प्राप्त करते ही आत्मा के सभी गुणों की पूर्णता हो जाती है।

छटे तीर्थङ्कर भगवान श्री पद्मप्रभ के पांच कल्याणक चित्रा नक्षत्र में हुए है।
नौवें तीर्थङ्कर श्री पुष्पदन्त (अपर नाम सुविधिनाथ) के पांच कल्याणक मूल नक्षत्र में हुए है।
दसवें तीर्थङ्कर श्री शीतल भगवान के पांचों कल्याणक पूर्वाषाढा नक्षत्र में हुए है।
तेहरवें तीर्थङ्कर श्री विमल भगवान के पांचों कल्याणक उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में हुए हैं।
चौहदवें तीर्थङ्कर श्री अनन्त भगवान के पांचों कल्याणक रेवती नक्षत्र में हुए हैं।

पन्द्रहवे तीर्थङ्कर श्री धर्मजिनेश्वर के पांचों कल्याणक पुण्य नक्षत्र में हुए है।

सोलहवें तीर्थङ्कर श्री शान्ति जिनेन्द्र के पांचों कल्याणक भरणी नक्षत्र में हुए हैं।

सत्रहवें तीर्थङ्कर श्री कुंथु भगवान् के पाचों कल्याणक कृत्तिका नक्षत्र में संपन्न हुए है।

अठाहरवें तीर्थङ्कर श्री अर भगवान् के पांचों कल्याणक रेवती नक्षत्र में सपन्न हुए है।

बीसवें तीर्थङ्कर भगवान्न मुनिसुव्रत के पाचों कल्याणक श्रवण नक्षत्र में संपन्न हुए।

इक्कीसवे तीर्थङ्कर भगवान् नमिनाथ के पाचों कल्याणक अश्विनी नक्षत्र में हुए है।

बाइसवें तीर्थङ्कर श्री अरिष्टनेमि के पांचों कल्याणक चित्रा नक्षत्र में हुए है।

तेईसवें तीर्थङ्कर श्री पार्श्व भगवान् के पांचों कल्याणक विशाखा में हुए हैं।

चौबीसवे तीर्थङ्कर भगवान् महावीर का दसवें देवलोक से जब च्यवन हुआ तब उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था, गर्भसाहरण, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान भी उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही हुए, किन्तु निर्वाणकल्याणक स्वाती नक्षत्र में हुआ।

गर्भ से गर्भ में साहरण रूप आश्चर्यकारिणी क्रिया को कुछ विश धर्माचार्य कल्याणक नही मानते और कछ मानते हैं, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो इस आश्चर्यरूप क्रिया को कल्याणकरूप नहीं दिया जा सकता। यदि यह कहा जाए कि अगर यह घटना कल्याणक नहीं है तो फिर सूत्रकार ने उसे कल्याणकों में ग्रहण क्यों किया? उत्तर सामान्य सा है कि पंचम स्थान के अनुरोध से सूत्रकार ने पांच बोलों का संग्रह एक नक्षत्र में कर दिया है।

प्रत्येक तीर्थंकर के जो कल्याणक कहे गए हैं वे जनता में विशेष धर्म-प्रचार के तथा आत्म-विकास के लिये मार्ग दर्शनार्थ है। यद्यपि वृत्तिकार ने तिथि और मास के विषय में मतान्तर भेद दिखलाए है, किन्तु जो सर्वमान्य मास व तिथियां हैं उन्हींको मान कर धर्मप्रचार करना चाहिए।

सूत्रकर्त्ता ने '**समणे भगवं महावीरे पंच हत्थुत्तरे होत्था**' यह सूत्र दिया है। इसका भाव यह है जिस नक्षत्र के आगे हस्त नक्षत्र हो उसे हस्तोत्तरा कहते है, वह नक्षत्र उत्तराफाल्गुनी है। वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित है "**समणेत्यादि, हस्तोपलक्षिता उत्तरा हस्तो वोत्तरो यासां ताः हस्तोत्तराः—उत्तराफाल्गुन्यः पंचसु च्यवनगर्भहरणादिषु हस्तोत्तरा यस्याः सा तथा**" हस्तोत्तरा नक्षत्र से उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र का बोध होता है।

कल्याणकों के पांच अंक देने से तीर्थंकरों का जीवन-चरित्र सक्षेप में प्रदर्शित किया गया है। जैसे कि देवलोक से च्यवन कर गर्भ में आना, इससे देवलोक की चर्या का दिग्दर्शन कराया गया है। जन्म से गर्भ-रक्षा और कुमारभाव प्रदर्शित किया गया है। दीक्षा-ग्रहण करने से साधु-जीवन का महत्वपूर्ण परिचय मिलता है। केवलज्ञान से केवली के जीवन का परिचय दिया गया है। निर्वाणपद से जीव की शुद्ध दशा का वर्णन किया गया है। इन कल्याणकों का पूर्ण विवरण और तीर्थंकरों के जीवन-चरित "त्रिषष्टि शलाका-पुरुष" नामक चरित्र ग्रंथों में पढ़ने चाहिए।

कल्याणक तिथियों मे और नक्षत्र मे की हुई साधनाएं महत्वपूर्ण मानी जाती है। इस उद्देशक का प्रारम्भ पांच महाव्रतो से हुआ था और समाप्ति पंच कल्याणक नक्षत्रों के वर्णन से हुई है। इससे सिद्ध होता है सयम और तप की सम्यक्तया आराधना करने से जीव तीर्थङ्कर पद को प्राप्त करता है।

निर्णीत तिथि आदि का क्रमिक विवरण इस प्रकार है—

तीर्थङ्कर	च्यवन	जन्म	दीक्षा	केवलज्ञान	मोक्ष
१ ऋषभदेव	आषाढ़ वदि४	चैत्र वदि ८	चैत्र वदि ८	फा. वदि ११	माघ वदि १३
२ अजितनाथ	वै. शुदि १३	माघ शुदि ८	माघ शुदि ९	पौष शुदि ११	चैत्र शुदि ५
३ संभवनाथ	फा. शुदि ८	मार्ग शुदि१४	मार्ग शुदि१५	का. वदि ५	चैत्र शुदि ५
४ अभिनंदन	वै. शुदि ४	माघ शुदि २	माघ शुदि१२	पौ शुदि १४	वै. शुदि ८
५ सुमतिनाथ	श्रा. शुदि २	वै. शुदि ८	वै. शुदि ९	चैत्र शुदि ११	चैत्र शुदि ९
६ पद्मप्रभ	माघ वदि ६	का. वदि १२	का. वदि १३	चैत्र शुदि १५	मार्ग वदि ११
७ सुपार्श्वनाथ	भा. वदि ८	ज्येष्ठशुदि१२	ज्येष्ठ शुदि१३	फा. वदि ६	फा. वदि ७
८ चन्द्रप्रभ	चैत्र वदि ५	पौ. वदि १२	पौष वदि १३	फा. वदि ७	भा. वदि ७
९ सुविधिनाथ	फा. वदि ९	मार्ग. वदि ५	मार्ग वदि ६	का. शुदि ३	भा. शुदि ९
१० शीतलनाथ	वै. वदि ६	माघ वदि १२	माघ वदि १२	पौष वदि१४	वै. वदि २
११ श्रेयांसनाथ	ज्येष्ठ वदि ६	फा. वदि १२	फा. वदि १३	मार्ग वदि३०	श्रा. वदि ३
१२ वासुपूज्यप्रभु	ज्येष्ठ शुदि ९	फा. वदि १४	फा. वदि ३०	माघ शुदि २	आषा. शुदि १४
१३ विमलनाथ	वै शुदि १२	माघ शुदि ३	माघ शुदि ४	पौष शुदि ६	आषा. वदि ७
१४ अनन्तनाथ	श्रा. वदि ७	वै. वदि १३	वै वदि १४	वै. वदि १४	चैत्र शुदि ५
१५ धर्मनाथ	वै शुदि ७	माघ शुदि ३	माघ शुदि १३	पौष शुदि १५	ज्येष्ठ शुदि ५
१६ शांतिनाथ	भा. वदि ७	ज्येष्ठ वदि१३	ज्येष्ठवदि१४	पौष शुदि ९	ज्येष्ठ वदि १३
१७ कुन्थुनाथ	श्रा. वदि ९	वै. वदि १४	वैशा०वदि ५	चैत्र शुदि ३	वैशा० व० ९
१८ अरनाथ	फा. शुदि २	मार्ग शुदि १०	मार्गशुदि११	का शुदि १२	मार्ग शुदि १०
१९ मल्लिनाथ	फा शुदि ४	मार्ग शुदि ११	मार्ग शु. ११	मार्ग शुदि ११	फा शुदि १२
२० मुनिसुव्रत	श्रा. शुदि १५	ज्येष्ठ वदि ८	फा शुदि१२	फा. वदि १२	ज्येष्ठ वदि ९
२१ नमिनाथ	आश्वि. शुदि १५	श्रा वदि ८	आषा वदि ९	मार्ग शुदि११	वै. वदि १०
२२ नेमिनाथ	का. वदि १२	श्रा. शुदि ५	श्रा. शुदि ६	आश्वि०व. ३०	आषा. शुदि ८
२३ पार्श्वनाथ	चैत्र वदि ४	पौष वदि १०	पौष वदि ११	चैत्र वदि ४	श्रा शुदि ८
२४ महावीरस्वामी	आषा.शुदि ६	चैत्र शुदि १३	मार्ग वदि १०	वै शदि १०	का. वदि ३०

ये समस्त तिथियां तीर्थङ्करों के तप.शील पुण्य-जीवन एव महासाधना से प्रभावित है, अतः इन तिथियो में कृत कर्मों का विशेष प्रभावशील होना स्वभाविक है।



पंचम स्थान

द्वितीय उद्देशक

[इस उद्देशक में भिक्षु के लिये नदी सन्तरण और वर्षावास में विहार के विधि-निषेध, पांच अनुद्घातिक प्रायश्चित्त, साधु के लिये अन्तःपुर में प्रवेश के विहित कारण, गर्भधारण करने और न करने के कारण, साधु-साध्वियों को एकत्र स्थिति के अपवाद, अचेलक साधु का सवस्त्र-साध्वियों के साथ निवास के अपवाद आस्रव-द्वार, संवर-द्वार, दण्ड, क्रिया, परिज्ञा, व्यवहार, संयमी एवं असंयमी के जागृत एवं प्रसुप्त, कर्मबन्ध के कारण, कर्म-क्षय के कारण, भिक्षु-प्रतिमाधारी के लिये दत्तियां, उपघात, दुर्लभबोधि और सुलभबोधि के कारण, प्रतिसंलीन, अप्रतिसंलीन, संयम, तृण-वनस्पति-कायिक, आचार-प्रकल्प, वक्षस्कार पर्वत, श्री ऋषभ-देव एवं भरत चक्रवर्ती की ऊंचाई, जागृति के कारण, साधु द्वारा साध्वी-सहायता के अपवाद, आचार्य एवं उपाध्याय के अतिशेष, आचार्य एवं उपाध्याय के गण-व्यवच्छेद के कारण और ऋद्धिमान पुरुष आदि की पंचविधता का वर्णन किया गया है।]

संयमी के पांच नदियों के सन्तरणार्थ विधि-निषेध

मूल—नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा इमाओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वियंजियाओ पंच महण्णवाओ महाणईओ अंतोमासस्स दुक्खुत्तो वा,

तिक्खुत्तो वा, उत्तरित्तए वा, संतरित्तए वा, तं जहा—गंगा, जउणा, सरऊ, एरावई, मही ।

पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ, तं जहा—भयंसि वा, दुब्भिक्खंसि वा, पव्वहेज्ज व णं कोई, दओघंसि वा एज्जमाणंसि महया वा, अणारिएसु ।२६।

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा, निर्ग्रन्थीनां वा, इमा उद्दिष्टाः गणिता व्यञ्जिताः पञ्च महार्णवा महानदीः अन्तरमासस्य द्विकृत्वो वा, त्रिकृत्वो वा, उत्तरीतुं वा, संतरीतुं वा, तद्यथा—गङ्गा, यमुना, सरयूः एरावती, मही ।

पञ्चभिः स्थानैः कल्पते, तद्यथा—भये वा, दुर्भिक्षे वा, प्रव्यथते वा खलु कश्चित्, दकौघे वा आगच्छति महता वा, अनार्येषु ।

शब्दार्थ—नो कप्पइ—नहीं कल्पता है; णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा—निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को; इमाओ—इन; उद्दिट्ठाओ—सामान्य रूप से कथित; गणियाओ—गिनी हुई; वियंजियाओ—प्रसिद्ध; महण्णवाओ—समुद्र के समान महान् जलवाली; पंच महाणईओ—पांच महानदियों को; अंतोमासस्स—एक मास के अन्दर; दुक्खुत्तो वा—दो बार; तिक्खुत्तो वा—तीन बार, उत्तरित्तए वा—बाहु अथवा जङ्घा से तैरना, संतरित्तए वा—नौका आदि से पार करना; तं जहा—जैसे कि; गंगा—गङ्गा; जउणा—यमुना; सरऊ—सरयू; एरावई—एरावती, मही—मही ।

पंचहिं ठाणेहिं—पांच कारणो से उक्त महानदियों को पार करना; कप्पइ—कल्पता है; तं जहा—जैसे कि; भयंसि वा—भय होने पर; दुब्भिक्खंसि वा—दुर्भिक्ष होने पर; कोई—कोई; पव्वहेज्जव णं—दुःख पहुंचाये तो; दओघंसि वा एज्जमाणंसि महयावा—महा जलप्रवाह के आने पर, अणारिएसु—अनार्य—म्लेच्छो का आक्रमण होने पर ।

मूलार्थ—भिक्षु और भिक्षुणियों को अग्र-लिखित गिनी हुई, सुप्रसिद्ध, समुद्र के तुल्य महान् जलवाली पांच महानदियों को एक मास के अन्दर दो बार अथवा तीन बार भुजाओं से तैरकर अथवा नौका आदि से पार करना विहित नहीं है, जैसे—गङ्गा, यमुना, सरयू, एरावती और मही ।

पांच कारणों से उक्त महानदियों को तैरना या पार करना विहित है, जैसे—राजा आदि का भय होने पर, दुर्भिक्ष में भिक्षा का अभाव होने पर, किसी दुर्जन के द्वारा पीड़ा पहुँचाने पर, बड़े वेग से जल-प्रवाह अर्थात् बाढ़ आने पर, म्लेच्छों का आक्रमण होने पर ।

विवेचनिका—

पूर्व उद्देशक में पंच महाव्रतों के पालन रूप साधु-जीवन की साधना के वर्णन से आरम्भ करके साधना के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले मोक्ष तक का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार साधु-जीवन की कुछ विशेष मर्यादाओं पर प्रकाश डालते है।

साधु भी आखिरकार मनुष्य ही है और साथ ही चातुर्मास के अतिरिक्त अन्य आठ मासों में विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर उसके लिये विचरण करते रहने का विधान है। विचरण-मार्ग में उन नदियों का आना स्वाभाविक ही है जिन्हें पारकर वह अन्यत्र विचरण कर सकता है। नदी-जल सचित्त है, अहिंसाव्रती साधु सचित्त जल-पूर्ण उन नदियों को पार करे या नहीं ? पार करे तो किन परिस्थितियों में ? न करे तो किन परिस्थितियों में ? इन प्रश्नों का विधि-निषेधात्मक उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है।

जीवन के सामान्य विहित मार्ग को उत्सर्ग कहा जाता है और विशेष परिस्थितियों में विवशता से ही जो कार्य करने पड़ें उन्हें अपवाद कहा जाता है। जैन साधु के लिये विहित उत्सर्गमार्ग तो यही है कि वह नदियो को पार न करे, परन्तु विशेष परिस्थितियों में वह नदियों को तैर कर या नौका आदि द्वारा पार करके भी अपने महाव्रत की सुरक्षा कर सकता है। जैसे—राजा आदि का भय होने पर, दुर्भिक्ष में भिक्षा का अभाव होने पर, किसी दुर्जन के द्वारा पीड़ा पहुचाने पर, बड़े वेग से जल-प्रवाह अर्थात् बाढ़ आने पर, म्लेच्छो का आक्रमण होने पर।

स्वच्छन्दता एकान्त रूप से संयम की घातिका एवं विनाशिका है। आत्मनिरपेक्ष संयम की आराधना उत्सर्गमार्ग है और आत्म-सापेक्ष संयम की रक्षा अपवाद-मार्ग है।

आगमो में जहा कही किसी बात का निषेध किया गया है, उसे न करना उत्सर्ग मार्ग है। विशेष कारण होने पर जहां कही उसे करने के लिये विधान किया गया हो, वह पाठ अपवादमार्ग को सिद्ध करता है। प्रस्तुत सूत्र के पहले भाग में उत्सर्ग मार्ग का और दूसरे भाग में अपवाद-मार्ग का उल्लेख किया गया है। जैसे कि उत्सर्ग-मार्ग कहता है कि साधु और साध्वियों को गगा, यमुना, सरयू, एरावती और मही इन पांच महानदियों को एक मास में दो बार तीन बार पानी में उतरकर अथवा नौका आदि से तैरना नही चाहिये। अतिजला होने के कारण इन पाच नदियों को महार्णव कहा गया है। पांच नदियों के नाम ग्रहण करने से इस प्रकार की अन्य नदियों का भी उपलक्षण से ग्रहण कर लेना चाहिए।[1]

सूत्रकर्त्ता ने **इमाओ, उद्दिट्ठाओ,** ये दो पद दिए हैं-इनका भाव है कि ये प्रत्यक्षवर्त्ती महानदियां, **गणियाओ**—जो कि संख्या में पांच हैं, **वियंजियाओ**—जिनके गंगा आदि के नाम से उल्लेख किए गए हैं अर्थात् नाम-व्यंजित किए गए है।

---

१. इमाउत्ति सुत्तउत्ता उद्दिट्ठ नईओ गणिय पंचेव।
गंगादि वंजियाओ बहूदय महण्णवाओ य॥
"पञ्चण्हं गहणेणं सेसा वि उ सुइआ महासलिला"
इस गाथा का भाव ऊपर लिखा जा चुका है। (बृहत्कल्प भाष्य)

यहां ऐतिहासिक दृष्टि से एक बात उल्लेखनीय है कि सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में जिन-पाच नदियों के नाम गिनाए हैं उनमें माही नदी विहार में है, गगा, यमुना और सरयू ये तीन नदियां उत्तर प्रदेश में है और एरावती यह नाम पंजाब की प्रसिद्ध नदी रावी का है जो लाहौर के पास बहती है। इन पांच नदियो का उल्लेख करके शास्त्रकार ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि उस समय जैन साधुओं की विहरण-भूमि विहार से लेकर पश्चिमी पंजाब तक थी और इस प्रकार सारा उत्तरी भारत जैन संस्कृति का प्रचार केन्द्र था।

इस विशाल प्रदेश की समुद्र सी विशाल नदियों को तैर कर पार करना प्रत्येक व्यक्ति द्वारा साध्य नही है, अत. ये नदियां प्राय. नौकाओ द्वारा हो पार को जाती थी। तैरकर अथवा अल्पजला नदियो को नाभि तक आनेवाले जल में घुसकर चलते हुए पार करने के विहित मार्ग का संकेत करके यह विधान नदी मात्र के लिये उपस्थित कर दिया गया है।

सूत्र के उत्तर भाग में नदियों को कितनी वार और किन कारणों से पार किया जाय ? इसका निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि एक मास में दो या तीन वार नदी-संतरण नही करना चाहिये। और यदि पार करना पड़े, तो वह भी निम्नलिखित पांच कारणों से ही :—

पहला कारण—किसी अन्यायी राजा का भय होने पर एवं इसी प्रकार की अन्य राजनैतिक परिस्थितियों के बिगड़ जाने पर साधु-साध्वी नदी पार करके अन्यत्र जा सकते है।

दूसरा कारण—जिस प्रदेश में साधु या साध्वी विराजित हों, यदि वहां दुर्भिक्ष पड़ रहा हो, अतः भिक्षा न मिलती हो और नदी से पार भिक्षा मिलनी सुलभ हो, ऐसी अवस्था में साधु-साध्वी नदी पार कर सकते हैं।

तीसरा कारण—यदि कोई विरोधी द्वेष के वशीभूत होकर व्यथा पहुंचाता हो या साधु-साध्वी को पानी मे प्रवाहित करने के लिये उद्यत हो जाए तो ऐसी भयकर परिस्थिति में नदियो को पार करना विहित है।[1]

चौथा कारण—सर्वविरति महात्मा जिस प्रदेश मे विराजनमान है, यदि उस क्षेत्र मे पानी की बाढ़ आ जाए तो उस विपत्ति की दशा में अपनी और संयम की रक्षा के निमित्त नदी पार करना कल्पता है।

पांचवां कारण—यदि कोई अनार्य—म्लेच्छ साधु-साध्वी के जीवन को या संयम को लूटने के लिये अड़ जाए तो अपनी एवं चारित्र के रक्षा के निमित्त किसी भी महानदी को पार करना उसके लिये मर्यादानुकूल है।

यहां यह स्मरणीय है कि छोटी नदी महीने में दो बार और साल भर में नौ बार पार की जा सकती है, किन्तु दसवीं वार पार करने से 'शवल दोष' लगता है, जो कि चारित्र को क्षतिग्रस्त कर देता है, किन्तु महानदी को यदि कोई एक वार पार करे तो वह क्षम्य है, विना कारण दूसरी बार या तीसरी वार उसे पार करे तो स्वच्छन्दता के कारण साधु प्रायश्चित्त का भागी बनता है, परन्तु उपर्युक्त पांच कारणों मे से किसी भी कारण से वह दो या तीन बार भी नदी को पार कर सकता है।

---

१. "पव्वहेज्ज व णं कोई" इस पद को व्याख्या करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं—पव्वहेज्ज त्ति—प्रव्यथते—बाधते अन्त-र्भूतकारितार्थत्वाद्वा प्रवाहयेत् कश्चित् प्रत्यनीकः, तत्रैव गंगादौ प्रक्षिपेदित्यर्थः।

सूत्रकर्त्ता ने जो अणारिएसु—पद दिया है इसका भाव यह है कि अनार्यों द्वारा यदि चारित्र के नाश होने की आशंका हो अथवा अनार्यों द्वारा चारित्र का अपहरण किया जा रहा हो तब भी महा-नदियों को पार करना कल्पता है। चारित्र की रक्षा करना आवश्यक है भले ही, उसकी रक्षा के लिये दो या तीन बार महानदी पार करनी पड़े। यदि सैर-सपाटे के उद्देश्य से साधु-साध्वी किसी नदी को बार-बार पार करते हैं तो वे अपने संयम को दूषित कर देते है।

संयमियों के लिये वर्षावास में विहार का विधि-निषेध

मूल—णो कप्पइ णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा पढमपाउसंसि गामाणुगामं दूइज्जित्तए। पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ, तं जहा—भयंसि वा, दुब्भिक्खंसि वा जाव महया वा अणारिएहिं।

वासावासं पज्जोसवियाणं णो कप्पइ णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा, गामाणुगामं दूइज्जित्तए। पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ, तं जहा—णाणट्ठयाए, दंसणट्ठयाए, चरित्तट्ठयाए, आयरियउवज्झाया वा से विसुंभेज्जा, आयरिय-उवज्झायाणं वा बहिया वेआवच्चं करणयाए।२७।

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रथमप्रावृषि ग्रामानुग्रामं गन्तुं। पञ्चभिः स्थानैः कल्पते, तद्यथा—भये वा, दुर्भिक्षे वा, यावत् महता वा अनार्यैः।

वर्षावासं पर्युषितानां नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा, निर्ग्रन्थीनां वा ग्रामानुग्रामं गन्तुं। पंचभिः स्थानैः कल्पते, तद्यथा—ज्ञानार्थतया, दर्शनार्थतया, चारित्रार्थतया, आचार्योपाध्यायौ विश्रम्भेताम्, आचार्योपाध्यायानां बहिस्तात् वैयावृत्यं करणतया।

शब्दार्थ—णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा—निर्ग्रन्थों को और निर्ग्रन्थियों को; पढमपाउसंसि—प्रथम वर्षा ऋतु में, गामाणुगामं—ग्रामानुग्राम; दुइज्जिए—भ्रमण करना णो कप्पइ—नही कलपता है; पंचहिं ठाणेहिं—पांच कारणो से; कप्पइ—कल्पता है; तं जहा—जैसे; भयंसि वा—भय होने पर; दुभिक्खंसि वा—दुर्भिक्ष होने पर; जाव—यावत्; महया—महान बाढ़ आने पर; अणारिएहिं—अनार्यों का आक्रमण होने पर।

वासावासं—वर्षावास में; पज्जोसवियाणं—निवास करनेवाले, णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा—निर्ग्रन्थों को; गामाणुग्गामं—ग्रामानुग्राम; दुइज्जित्तए—भ्रमण करना; णो कप्पइ—नहीं कलपता है। पंचहिं ठाणेहिं—पांच कारणों से; कप्पइ—कलपता है; तं जहा—जैसे णाणट्ठयाए—ज्ञान के लिये; दंसणट्ठयाए—दर्शन के लिये; चरित्तट्ठयाए—चारित्र के लिये; आयरियउवज्झाया वा—आचार्य और उपाध्याय

से—उसे; वीसुंभेज्जा—विश्वस्त समझते हों रहस्य मन्त्रणा के लिये; आयारियउवज्झायाण—आचार्य और उपाध्यायों के रोग-ग्रस्त हो जाने पर; वहिया—बाहर वेआवच्चं—वैयावृत्य; करणयाए—करने के लिये।

मूलार्थ—साधु अथवा साध्वियों को प्रथम वर्षा ऋतु में एक गांव से दूसरे गांव में विचरना विहित नहीं है, परन्तु पांच कारणों से वे विचरण कर सकते है, भय होने पर, दुर्भिक्ष होने पर, यावत् बाढ़ आने पर, म्लेच्छों का आक्रमण होने पर।

वर्षावास (चौमासा) में अवस्थित साधु अथवा साध्वियों को ग्रामानुग्राम विचरना नहीं कल्पता है। परन्तु पांच कारणों से वे विहार कर सकते हैं, जैसे—ज्ञान के लिये, दर्शन के लिये, चारित्र के लिये, आचार्य और उपाध्याय के शरीर शान्त हो जाने पर अथवा उनका विश्वासपात्र होने के कारण किसी रहस्य मन्त्रणा के लिये; बुलाने पर आचार्य और उपाध्याय अन्य किसी स्थान पर बीमार हों तो उनकी सेवा करने के लिये।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में विहरणशील मुनियों के मार्गावरोध रूप नदियों के सन्तरण नियमों की विवेचना की गई है, परन्तु साधु-साध्वियां वर्षावास में एक ही स्थान पर निवास करते हैं, उस वर्षावास में वे एक निश्चित सीमा से बाहर नही जा सकते, परन्तु किसी भयंकरतम परिस्थिति में यदि उन्हे वहां से चलना आवश्यक ही हो जाय तो, उन्हें क्या करना चाहिए? वही रहना चाहिये अथवा वे अन्यत्र गमन कर सकते है? अब सूत्रकार इसी विषय की विवेचना करते है।

भगवान् महावीर के युग में तथा वैदिक परम्परा में भी संन्यासी के लिये चतुर्मास में एक ही स्थान पर निवास करने का नियम था। गौतम बुद्ध के अनुयायी पहले तो चातुर्मास नही मनाते थे, किन्तु जैन और वैदिक परम्परा को देखते हुए, उन्होंने भी चातुर्मास मनाने की यत्किंचित् रीति-नीति अपनायी; किन्तु वर्तमान में जैन-परम्परा के साधु-साध्वी ही इस परम्परा का पालन कर रहे है, शेष परम्पराओं में चातुर्मास निवास की पद्धति बिल्कुल बंद जैसी ही हो गई है। जैन-परम्परा में जितने भी साधु और साध्विया हैं, वे सब वर्षावास में किसी एक क्षेत्र में ठहरते है, चाहे वह ग्राम हो या नगर, चार महीने वर्षा-काल के एक क्षेत्र में व्यतीत करते है या किसी एक क्षेत्र को केन्द्र मानकर उसके चारों ओर ढाई-ढाई कोस जा-आ सकते है, उससे बाहर न जाने-आने के नियम का पालन करते हैं। इन दिनों उनके लिये गृहस्थ से धागा, रूई, वस्त्र आदि लेना सर्वथा निषिद्ध है। वर्षावास में सर्व-विरति को क्या लेना और क्या नही लेना चाहिये? क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? इस विषय का विस्तृत वर्णन कल्पसूत्र के अन्तर्गत समाचारी प्रकरण में किया गया है।

वर्षावास के चातुर्मास काल को प्रावृट्काल कहते हैं। ऋषि-पंचमी या संवत्सरी के पूर्व वर्षा-काल को प्रथम प्रावृट्काल कहा जाता है। लौकिक पक्ष में श्रावण और भाद्रपद ये दोनों मास प्रावृट् ऋतु के माने जाते हैं। चातुर्मास के प्रारम्भिक पचास दिनो में यदि विहार करना पड़े, तो पांच कारणों से साधु-साध्वियों को अपवादिक स्थिति होने पर विहार करना विहित है, जैसे कि :—

१. किसी प्राणान्त भय के उत्पन्न होने पर या संस्कृति-विरोधी लोगों के द्वारा साधना-उपकरणों के चुराए जाने का भय उपस्थित होने पर वे विहार कर सकते हैं।

२. दुर्भिक्ष आदि के कारण यदि भिक्षा न मिलती हो, तो साधु-साध्वियों के लिये विहार करना विहित है।

३. दुष्ट राजपुरुष आदि यदि ग्राम से बाहर निकाल दें तो उन्हें विहार करना मर्यादा-सिद्ध है।

४. पानी की बाढ आने पर निवास योग्य स्थान के डूब जाने का भय होने पर भी उन्हें विहार करना कल्पता है।

५. किसी महादुष्ट व्यक्ति के द्वारा यदि चारित्रिक पतन की आशंका हो जाये, तो वर्षावास के पहले भाग में भी विहार करना निषिद्ध नही है। रोग आदि कारणों के उपस्थित हो जाने पर भी विहार किया जा सकता है। वर्षावास क्षेत्र में भयंकर संक्रामक रोग फैल गया है या कोई साधु-साध्वी उस रोग से ग्रस्त हो गया है, तो रोग के उपचार के निमित्त विहार करना कल्पता है। इनमें से किसी एक कारण के उत्पन्न होने पर भी वर्षाकाल के प्रथम भाग में विहार करने का विधान अपवाद मार्ग है।

वर्षावास के उत्तर भाग में पर्युपशमना—संवत्सरी के अनन्तर शेष सत्तर दिनों में पांच कारणों से विहार करना कल्पता है, जैसे कि :—

१. किसी आचार्य या आगमवेत्ता ने अनशन—सथारा करना हो और उन्होंने ज्ञान पढ़ने के लिये साधु या साध्वियों को सूचित किया हो, तब चातुर्मास में ज्ञानप्राप्ति के लिये विहार किया जा सकता है। यदि वह शास्त्रीय ज्ञान उक्त आचार्य आदि से ग्रहण न किया गया, तो उसका विच्छेद हो जाएगा, यह सोचकर उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये वर्षाकाल में भी विहार करना कल्पता है, क्योकि परम्परा प्राप्त ज्ञान की सुरक्षा साधु का प्रमुख धर्म है।

२. जो दर्शनशास्त्र का अद्वितीय वेत्ता है, वह संथारा करने से पूर्व यदि साधु और साध्वी सम्यग्दर्शन में सुदृढ हो जाएं इस भावना से दार्शनिक ज्ञान देना चाहता है या दर्शन की प्रभावना करने वालेशास्त्रज्ञान की प्राप्ति की इच्छा से विहार कर सकते हैं, या वर्षावास क्षेत्र में एकान्त मिथ्यादृष्टि लोगों का अधिक प्रभाव हो, वहां रहते हुए यदि संयम नष्ट या दूषित होने की संभावना हो तो विहार करना कल्पता है।

३. जिस क्षेत्र में एषणीय आहार न मिलता हो, जीवों की उत्पत्ति अत्यधिक हो रही हो, स्त्री-पुरुष अपेक्षाकृत अधिक दुराचारी एव भ्रष्टाचारी हों, जहां पर रहकर संयम-साधना करनी कठिन हो तो अपने चारित्र की रक्षा के निमित्त वर्षावास में भी विहार किया जा सकता है।

४. आचार्य या उपाध्याय के शरीर शान्त हो जाने पर अन्य आचार्य या उपाध्याय के न होने पर किसी अन्य गण का आश्रय लेने के लिये अथवा आचार्य और उपाध्याय का विश्वस्त होने के कारण

किसी रहस्य-मंत्रणा के लिये वर्षावास में भी विहार करना कल्पता है।

५. आचार्य या उपाध्याय की आज्ञा होने पर बाहर किसी साधु या साध्वी की सेवा के लिये यदि जाना पड़े तो वर्षाकाल में भी विहार करना विहित है। इन पांच कारणों में से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर ही साधु-साध्वी के लिये वर्षावास में विहार करना कल्पता है।

अहिंसात्मक महाव्रत की रक्षा के लिये, ज्ञान-प्राप्ति के लिये, तप-अनुष्ठान के लिये एवं श्रावक तथा श्राविका संघ को लाभान्वित करने के लिये, प्रवचन-प्रभावना के लिये वर्षावास का विधान है।

सूत्रकर्त्ता ने **वासावासं पज्जोसवियाणं णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा गामाणुगामं दूइज्जित्तए**—अर्थात् वर्षाकाल में वसते हुए निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी को ग्रामानुग्राम विहार करना नही कल्पता है, इसका आशय यह है कि वर्षाकाल चार महीने का होता है। सूत्रकार ने बारह मास के तीन भाग किये हैं जैसे कि ग्रीष्मकाल, हेमंतकाल, वर्षाकाल। आगमकार कहते हैं कि महातपोधन मुनि ग्रीष्म-काल में आतापना लेते है, हेमंतकालमें वस्त्रों का उपयोग नही करते है और वर्षाऋतु में प्रतिसंलीनता तप करते है। इस तरह वे विजितेन्द्रिय एवं सुसमाधि में लीन रहते है।[१]

इस सूत्र से यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि एक वर्ष में तीन चातुर्मास होते है, वर्षावास के अतिरिक्त शेष आठ महीनों में अधिक से अधिक कल्प पर्यन्त सर्वविरति ठहर सकता है। हा, जो वार्द्धक्य से घिरा हुआ है, रोगग्रस्त है, या जिसने दीर्घकालिक तपस्या आरम्भ की हुई है या जो उनकी सेवा करने वाले हैं, वे कल्प उपरान्त भी ठहर सकते है।

वर्षावास—पर्युपशमनाकल्प मे साधु का विधान क्या है? इसके विषय में संक्षेप से एक गाथा में कहा गया है:—

"दव्वट्ठवणऽऽहारे विगई संथार मत्तए लोए।
सच्चित्ते अचित्ते वोसिरणं गहण धारणाइ॥"

अर्थात् चातुर्मास में ऊनोदरी तप, विगयों का त्याग, मर्यादित पाट-पाटले, मर्यादित वस्त्र और मर्यादित पात्र, लोच करना, प्रव्रज्या न देना, वर्षाकाल से पहले ग्रहण किए भस्म आदि का परित्याग करना, नवीन का ग्रहण करना, विहार न करना, चातुर्मास में नवीन वस्त्र पात्र न ग्रहण करना आदि नियमों का ध्यान रखना, उसके सिये आवश्यक होता है। अत. साधु-साध्वी के लिये अन्य दो चातुर्मासों की अपेक्षा वर्षावास चातुर्मास विशेष महत्व पूर्ण माना जाता है।

पञ्च अनुद्घातिक

मूल—**पंच अणुग्घाइया पण्णत्ता, तं जहा—हात्थकम्मकरेमाणे, मेहुणं पडिसेवमाणे, राईभोयणं भुंजमाणे, सागारियपिंडं भुंजमाणे, रायपिंडं भुंजमाणे।२८।**

१. दशवैकालिक सूत्र अध्ययन-३।

छाया—**पञ्च अनुद्घातिका प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हस्तकर्मकुर्वाणः, मैथुनं प्रतिषेवमाणः, रात्रि-भोजनं भुञ्जानः, सागारिकपिंडं भुञ्जानः, राजपिंडं भुञ्जानः।**

शब्दार्थ—**पंच अणुग्घाइया पण्णत्ता, तं जहा**—पाच अनुद्घातिक कथन किये गये है, जैसे; **हत्थकम्मकरेमाणे**—हस्तकर्म करता हुआ; **मेहुण पडिसेवमाणे**—मैथुन सेवन करता हुआ; **राईभोयणं भुंजमाणे**—रात्रि भोजन करता हुआ, **सागारियपिंडं भुंजमाणे**—शय्यातर का भोजन करता हुआ; **रायपिंडं भुंजमाणे**—राजपिण्ड खाता हुआ।

मूलार्थ—पांच व्यक्ति अनुद्घातिक अर्थात् उस प्रायश्चित्त के अधिकारी माने जाते हैं, जिसमें यथाश्रुत तप करना पड़ता है, उसमे किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं की जा सकती, जैसे कि—हस्तकर्म करनेवाला, मैथुन-सेवन करनेवाला, रात्रि-भोजन करनेवाला, शय्यातर का भोजन करनेवाला, और राजपिण्ड का भोजन करनेवाला।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में संयमियों के लिये चातुर्मास में विहार के विधि-निषेधो का वर्णन किया गया है, उसी परम्परा में प्रस्तुत सूत्र सयमियो के लिये अनिवार्य प्रायश्चित्तो का विधान करता है। वह अनिवार्य प्रायश्चित्त ही गुरुप्रायश्चित्त है, उद्घात शब्द का अर्थ है लघु अर्थात् छोटा उपवास आदि का प्रायश्चित्त। जो उद्घात न हो उसे अनुद्घात कहते है। जिस दोष को निवृत्ति के लिये गुरुमासिक या गुरुचौमासिक प्रायश्चित्त किया जाता है, उसे अनुद्घातिक प्रायश्चित्त कहा जाता है। एक महीने की दीक्षा का छेद करना "गुरुमासिक" और चार महीने की दीक्षा का छेद करना "गुरु चौमासी प्रायश्चित्त" कहलाता है। यह प्रायश्चित्त पांच व्यक्तियों को दिया जाता है, जैसे कि—

१. हस्तकर्म—एक सूक्तिकार का कथन है कि 'मदोन्मत्त हाथियो के गण्डस्थलो पर प्रहार करनेवाले शूर मिल सकते हैं, मस्ती में झूमते वनराज सिंह के अयालो को खींच कर उसे वश करने वाले भी हो सकते हैं, परन्तु काम पर विजय पानेवाले बडी कठिनाई से ही मिला करते है।' भगवान महावीर तो कहते हैं—"**उग्गं महव्वयं बंभं धारेयव्वं सुदुक्करं**" ब्रह्मचर्य रूप महाव्रत को धारण करना अत्यन्त दुष्कर है।

प्राणीमात्र में 'काम' को जागृति होती हो है, यौवन के आने पर कामोद्वेग की शरीर में जागृति ऐसे ही स्वाभाविक है जैसे भूख-प्यास और निद्रा आदि के वेग उत्पन्न हुआ करते है। काम हमारी प्राण-शक्ति का ही एक अंग है, यौवन में जब प्राणशक्ति का वेग उद्दाम हो जाता है तो कामोद्वेग की तरंगें भी उसमें स्वभावतः ही उठने लगती हैं। बच्चे में प्राण-शक्ति का रूप प्रारम्भिक होता है, अतः उसमें कामोद्वेग का तीव्र प्रवाह नही होता, यही कारण है बच्चे की प्राणशक्ति में काम-लहरियां नही उठती, बुढ़ापे में प्राण-शक्ति के शिथिल पड़ने पर काम-वेग भी शिथिल हो जाता है।

जब मानवीय प्राणशक्ति बहिर्मुखी हो जाती है, तब वह काम-शक्ति के रूप में प्रवाहित होने लगती है और जब प्राणशक्ति अन्तर्मुखी हो जाती है तो वह आत्म-शक्ति के साथ मिलकर ओज का रूप धारण कर लेती है। प्राणशक्ति को अन्तर्मुखी बनाकर आत्म-केन्द्रित कर लेना ही ब्रह्मचर्य है। यह शक्ति स्वयं में कुछ नही, वह अपने प्रयोक्ता के आधीन है, वह जब चाहे उसे अन्तर्मुखी बना दे और जब चाहे बहिर्मुखी बना दे। जब यह शक्ति बहिर्मुखी हो जाती है तो उस समय वह अपना प्रथम प्रभाव जननेन्द्रिय पर ही डालती है, क्योकि शक्ति का केन्द्रनाभि है। जब यहां से शक्तिधारा अन्तर्मुखी होती है, तब यह शक्तिधारा उस ओर प्रवाहित होने लगनो है जहां चेतना का केन्द्रबिन्दु है, और जब वह नीचे की ओर प्रवाहित होती है तो वह निकटतम होने के कारण कामेन्द्रिय को ही उत्तेजित करती है। जब यह उत्तेजना आदत बन जाती है तो मानव मन नाना दुष्कृत्यो की ओर अग्रसर होने लगता है।

संयमी साधक भी इसका अपवाद नही हो सकता। यदि उससे प्राणशक्ति के सयमित करने मे थोड़ा सा भी प्रमाद हो गया तो उस पर भी कामवेग सवार हो उठेगा। शरीर-शास्त्री कहते है कि कामोद्वेग वैपरीत्य चाहता है, कामोद्वेग मे पुरुष स्त्री को चाहता है, स्त्री पुरुष को चाहती है और यदि सयमी प्राणशक्ति को अन्तर्मुखी कर देता है तो वह स्वयं को चाहता है, आत्मा को चाहता है। इस वैपरीत्य-प्राप्ति की इच्छा में बाधा होने पर हो हस्तमैथुन की ओर प्रवृत्ति हो जाया करती है। हो सकता है किसी समय किसी साधु में भी यह वृत्ति जाग उठे और उसका मन ऐसे कुकृत्य के लिये मचल उठे। तभी उसे सावधान हो कर सोचना चाहिए "मैंने संयमव्रत स्वीकार किया है, अतः मुझे ऐसी वृत्तियों से बचना चाहिए।" पर हो सकता है फिर भी उससे भूल हो जाय, क्योंकि बीज धरती में पडेगा तो अंकुरित होगा ही, कामोद्वेग जागेगा तो अनाचारी वृत्तिया जागेंगी ही, परन्तु यह निश्चित है कामोद्वेग मे रस नही है, उसमें रस को भ्रान्ति मात्र होती है, अतः वीर्य के रूप में प्राणशक्ति के प्रवाहित होते ही कामोद्वेग शान्त हो जाता है और उस समय चित्त में महाग्लानि उत्पन्न होती है। यह ग्लानि अगर स्थायित्व प्राप्त कर ले तो संयम-साधना का पथिक तुरन्त हो अपनी भूल को पहचान जाता है और वह विनीत होकर बडों के समक्ष अपराध-स्वीकृति के लिये प्रस्तुत हो जाता है। अपराध स्वीकृति की अवस्था में वह प्रायश्चित्त करता है, उस समय उसे कौन-सा प्रायश्चित्त करना चाहिए सूत्रकार कहते हैं, उस समय उसे बड़ा प्रायश्चित्त अर्थात् दीक्षा-छेदन रूप प्रायश्चित्त देना चाहिए, जिससे उसे अपनी हीन कर्म-प्रवृत्ति का बोध हर समय होता रहे और वह अप्रमत्त भाव से दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये एवं अपनी प्राण-ऊर्जा को अन्तर्मुखी बनाने के लिये सर्वदा यत्नशील रहे।

२. **मैथुन सेवन**—ऊपर कहा जा चुका है कि कामोद्वेग वैपरीत्य चाहता है। विपरीत चेतना के साथ ऐन्द्रिय सुख ही मैथुन है। सयमी साधक भी तो मानव हो है, अतः यौवन में उसकी प्राण-ऊर्जा के महानद में कामोर्मियों का जागना स्वाभाविक है। कभी-कभी लोक में संयमी-साधक के प्राण-ऊर्जा के महानद में कामोर्मियों को जागृत कर दिया जाता है। शान्त जल में जैसे पत्थर के फेंकते ही उसमे ऊर्मिवर्तुल उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही कभी-कभी सयमी की प्राण-ऊर्जा के महानद में विपरीत चेतना के प्राणी विकारो के पत्थर फेंक कर उसमें कामोर्मियां जागृत कर देते है। तभी तो सुयगडाग सूत्र में कहा गया है —

"सुहुमेणं तं परिक्कम्म, छन्नपएण इत्थिओ मंदा।
उव्वायं पि ताउं जाणंसु, जहा लिस्संति भिक्खुणो एगे ॥" (४।१।२)

बुद्धिहीन नारियां उस सयम-साधक को भी भ्रष्ट कर देती हैं, क्योंकि वे युवतिया भिक्षुओ के वशीकरण की क्रिया को जानती है।

इस प्रकार विकार के पत्थरो से जागृत कामोर्मियों को यदि साधक नियन्त्रित करने में [ ]/ कर जाता है तो धोरे-धोरे वह स्त्री-सहवास की कामना करने लगता है। यह कामना हो तो उसको ब्रह्मचर्य के उच्चशिखर से गिरा देती है। ऐसी गिरावट का अवसर उपस्थित होने पर साधक को सोचना चाहिए कि मुझे शीघ्र ही सावधान हो जाना चाहिए। अन्य था—

"अह से अणुतप्पइ पच्छा, भोच्चा पायस व विसमिस्स।"

विषमिश्रित खीर खानेवाले के समान मुझे परितप्त होना पडेगा। यह परिताप उसे पुन जागृत कर देना है और वह फिसलते-फिसलते भल जाता है और शारीरिक गिरावट से पूर्व ही वह मानसिक विकृति की अवस्था में ही उद्‌बुद्ध होकर सोचता है कि "मैंने शारीरिक दृष्टि से चाहे अपने को सुरक्षित रखा है, परन्तु मन से मैं पाप मे प्रवृत्त हो चुका हूँ।" अतः वह सावधान होकर मानसिक रूप से कृत पाप का प्रायश्चित्त चाहता है, तव उसे दीक्ष-छेदन रूप प्रायश्चित्त ही देना चाहिए, जिससे वाद में दीक्षित होने वालो को वन्दना करता हुआ वह प्रति दिन अपने कृत अपराध की आवृत्ति न होने देने के लिये सावधान रह सके।

३. रात्रिभोजन—भगवान महावीर ने कहा है—"राइभोयणविरओ जीवो भवइ अणासवो" रात्रि भोजन न करनेवाले अनाश्रव हो जाते है। 'अनाश्रव' हो जाने की उपलब्धि महान् उपलब्धि है, क्योकि जब हम घर में अकेले रहते है तो कोई उपद्रव नही होता, समस्त उपद्रव तभी होते है जब हमारे घर में औरो का भी प्रवेश हो जाता है। हमारे जीवन के दो रूप है, एक वाहरी जीवन जिसका दूर तक विस्तार है, जो नाना सम्बन्धों में जकड़ा हुआ है। एक हमारा आन्तरिक जीवन है, इस जीवन मे कोई उपद्रव नहीं है, शान्ति है। जब हमारे आन्तरिक जीवन में अन्यो का प्रवेश हो जाता है तो हमारे अन्तर में उपद्रव ही उपद्रव आरम्भ हो जाते हैं, कभी अन्दर क्रोध आ जाता है, कभी राग आ जाता है, कभी लोभ आ जाता है, कभी अन्य विकार अन्दर घुसकर उपद्रव मचाने लगते हैं। भगवान महावीर कहते हैं—रात्रि भोजन न करने से साधक 'अनाश्रव' हो जाता है, अर्थात् उसके आन्तरिक जीवन मे आने के सभी प्रवेशद्वार बंद हो जाते हैं, तब काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष किसी का भी प्रवेश वहां नही हो पाता। इसके दूसरे पहलू पर विचार करने पर हम यह भी कह सकते है कि रात्रि-भोजन आश्रव है, वह सभी विकारों को अन्दर प्रवेश पाने के लिये द्वार खोल देता है, अतः उस संयमी साधक के लिये रात्रि-भोजन निषिद्ध है जो अन्तर में शान्ति चाहता है, 'निराश्रव' होना चाहता है।

यह सर्वज्ञात सत्य है कि सूर्य के निकलते ही वातावरण में 'प्राणवायु' अर्थात् आक्सीजन बढ जाती है, अतः शरीर में चेतना, जागृति, स्फूर्ति एवं क्षमता बढ़ जाती है। सूर्यास्त होते ही वातावरण मे से प्राणवायु लुप्त होकर प्रदूषितवायु (कार्बनडाई आक्साइड) बढ जाती है। वैज्ञानिक। योग बतलाते है कि वस्तुओ के सड़ने-गलने से 'कार्बनडाई आक्साइड' पैदा होती है और यह जीवन के लिये

हानिकारक है। रात्रि-भोजन करने पर जब पाचन-क्रिया ठीक न हो पाएगी तब अन्दर गए हुए पदार्थ गलें-सड़ेंगे ही, अतः वे प्रदूषित वायु को बढ़ा कर जीवन को खतरे में डाल देंगे।

भोजन को पचाने के लिये प्राणवायु की प्रबलता आवश्यक होती है और वह दिन में ही प्राप्त होती है रात्रि में नही, अतः रात्रि मे भोजन करने से वह ठीक प्रकार से पच नही सकता, जब भोजन पचेगा नही तो रात्रि मे नीद न आएगी. पेट गुड़-गुड़ाता रहेगा, परिणाम स्वरूप शरीर में उपद्रव आरम्भ हो जाएगे, अतः रात्रि-भोजन आश्रवद्वार खोलने वाला है और रात्रि-भोजन का अभाव साधक को 'अनाश्रव' बना देता है।

यह विज्ञान-सिद्ध है कि 'कार्बनडाई आक्साइड' से अग्नि बुझ जाती है। शरीर में इसके बढ़ने से पाचन करनेवाला तापमान मन्द पड़ जाता है, अतः भोजन पचता नही, अपितु अन्दर ही अन्दर सड़ने लगता है, अतः वह प्रदूषित वायु के बढ़ाव का कारण बन कर शरीर में नाना व्याधियों के लिये प्रवेश-द्वार खोल देता है, अतः रात्रि-भोजन अहितकर है।

दिन में अनेक बार भूख लगती है, रात्रि मे आप बारह घण्टे सोए रहे भूख नही लगती, लगे भी कैसे ? भूख लगानेवाली आक्सीजन का--प्राणवायु का अभाव है और बिना भूख के किया हुआ भोजन आश्रवद्वार खोलने का ही तो कारण बनेगा, अतः रात्रि-भोजन को उचित नही माना गया है।

एक और बात भी सोचने योग्य है कि **"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी"** जब सब प्राणी सोते हैं तब सयमी जागता है। एकान्त साधना के लिये रात्रि का समय ही तो उपयुक्त होता है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि भोजन के पेट मे जाते ही शरीर की समस्त शक्तियां उसे पचाने में जुट जाती हैं, अत· मस्तिष्क ढीला पड़ जाता है, इसीलिये भोजन के बाद नीद आने लगती है, सुस्ती छा जाती है, निद्रालु और सुस्त व्यक्ति, साधना मे कैसे लग सकते हैं ? अतः संयमी के लिये तो यह कहा गया है कि वह रात में मन से भी भोजन की इच्छा न करे—"मनसा वि न पत्थए" इसका अभिप्राय यह है कि रात्रि में भोजन तो दूर रहा भोजन की स्मृतिमात्र से मानसिक विकृतियां जाग उठती हैं, क्योकि जब मन भोजन का स्मरण करेगा तो वह भोजन के रस की अनुभूति करने लगेगा, इस अनुभूति में आत्मानुभूति की साधना खो जाएगी, अतः रात्रि-भोजन आत्मानुभूति में बाधक बनकर 'आश्रवी' बन जाएगा, भोक्ता को निराश्रवी नही रहने देगा।

रात्रि-भोजन स्वास्थ्य के लिये अहितकर है, अतः रात्रिभोजन मे आत्म-हिंसा है, आत्मोपलब्धि के लिये यत्नशील साधक को आत्महिंसा को आत्महत्या समझ कर उससे बचना चाहिए। इसीलिये रात्रिभोजन को जैन-संस्कृति ने सर्वथा निषिद्ध माना है।

सयमी साधक यदि भोजन पास में रख लेगा तो उसका भोजन-परिग्रह उसकी मनोवृत्तियो को भोजन के साथ जोड़े रखेगा, मनोवृत्तियों का भोजन के साथ जुड़ना भी भोजन ही है, अतः जैन साधु उतना ही भोजन लाता है जितने का वह सूर्यास्त से पूर्व उपयोग कर सकता है, जिससे कि वह मानसिक भोजन के दोष से भी मुक्त रहकर मुक्ति की साधना कर सके। यदि समस्त प्राण-शक्ति पाचन आदि क्रियाओं से मुक्त होगी, तभी तो वह मनोवृत्तियों को एकाग्र करने में सफल हो सकेगी, अतः ध्यान के लिये भी रात्रि भोजन का अभाव आवश्यक है।

इतना सब कुछ होते हुए भी यदि किसी कारणवशात् संयम-पथ का पथिक साधु रात्रि भोजन कर बैठे, उसे भी अपने जीवन को यदि निराश्रव बनाने की कामना हो, यदि वह समस्त उपद्रवों से रहित शान्त जीवन चाहता हो, तो उसे दीक्षा-छेदनरूप बड़ा प्रायश्चित्त स्वीकार कर लेना चाहिए, जिससे कि वह पुनः इस भूल को दोहराने की गलती न कर सके। उसे यह ज्ञात हो सके कि मैं भोजन के लिये नहीं हूं, अपितु भोजन मेरे लिये है और मेरे लिये भी भोजन ही सब कुछ नही, भोजन से परे भी बहुत कुछ है जिसे भोजन का चिन्तन छोड़ कर ही पाया जा सकता है।

४. शय्यातरपिण्ड का निषेध

यद्यपि आज जैन-समाज के सत्प्रयत्नों से प्रत्येक नगर एवं कसबे में उपाश्रय पौषधशाला, धर्मशालादि, धार्मिक स्थान विद्यमान है, परन्तु इन धर्मस्थानको का स्वामित्व वहां के समाज का ही होता है, अतः साधु को वहां ठहरने के लिये किसी विशेष व्यक्ति से आज्ञा लेनी पड़ती है। जिससे अनगार साधु आज्ञा लेता है, अथवा जो संयमी को रहने के लिये स्थान या मकान की आज्ञा देकर तरने का अधिकारी बन जाता है, उसे'शय्यातर' कहा जाता है। सदाविहारी ग्रामानुग्रामचारी सन्तो को ऐसे ग्राम आदि में भी जाना पड़ता है जहां निवासार्थ उपाश्रय नही होता। ऐसी दशा में उन्हे किसी गृहस्थ के ऐसे स्थान में रहना पड़ता है जो उसकी पारिवारिक स्थिति से सर्वथा भिन्न हो, जिसके स्थान पर साधु ठहरते हैं, जैन भाषा मे उस गृहस्थ को भी 'शय्यातर' ही कहा जाता है और शय्यातर के घर से लिये गए आहार-पानी को 'शय्यातर पिण्ड' कहा गया है। शास्त्रकार ने साधु के लिये 'शय्यातर-पिण्ड' का निषेध किया है। इसके भी अनेक व्यावहारिक एवं मनोवैज्ञानिक कारण हैं। जैसे कि गृहस्वामी के गृह से ही आहार-पानी लेने पर साधु मे प्रमाद आजाएगा और अकर्मण्य बनकर एक ही स्थान पर पड़े रहने की वृत्ति उसमें जागृत होकर संयम में शिथिलता, स्थान एवं भोजन देनेवाले के प्रति राग का जागृत होना भी स्वाभाविक ही है और विरक्त साधु के लिये राग अभिशाप है।

गृहस्वामी के घर से ही आहार लेने पर घरेलू सम्पर्क बढ़ जाता है, ऐसी दशा में गृहस्थ जीवन की गतिविधियो को देखकर विरक्त साधु की मनोभूमि में विकृतियो के बीज पड जाने स्वाभाविक होते है। पडे हुए बीज की सामान्य से आकर्षण जल को पाकर अंकुरित होने की सम्भावना से इनकार नही किया जा सकता, अतः 'शय्यातर-पिण्ड' का शास्त्रकार निषेध करते है।

अनगार साधु के लिये केवल स्थान देने में किसी को हिचक नहीं हो सकती, वह गरीब से गरीब व्यक्ति भी दे सकता है, यदि जन-मानस मे यह विश्वास बैठ जाएगा कि इन साधुओ को कौन ठहराएगा, इन्हे तो स्थान के साथ भोजन भी देना पड़ेगा तो इस भय से गृहस्थो को साधु के लिये विश्राम-स्थान देना भी कठिन हो जाएगा।

अन्य अनेक कारण भी हो सकते हैं, परन्नु प्रमुख कारण यही है कि उसकी निस्पृहता, उसकी वैराग्यशीलता और उसकी पावनता सदा सुरक्षित रहे। यदि किसी समय परिस्थिति-वश वाध्य होकर साधु शय्यातर-पिण्ड ग्रहण कर ले तो उसे शीघ्र ही दीक्षा-छेदन रूप प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेना चाहिए।

५ राज-पिण्ड—

यद्यपि राज-पिण्ड में अशन, पानक, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रोछन की भी गणना की गई है, परन्तु प्रमुखतः राज-पिण्ड का अर्थ है—राजभोग अर्थात् राजा के घर का आहार-पानी। यह सूक्ति सर्व-परिचित है कि "जैसा खाय अन्न वैसे होवे मन।" राजा हिंसावादी होते है एव परिग्रहशील भी होते हैं, उनका वैभव दूसरो के कष्टो की आधारशिला पर टिका होता है. अतः राजगृह का अन्न खाने पर साधु भी उस हिंसा का भागी वन जाता है, उसमें भी परिग्रहशीलता की वृत्ति जागृत हो सकती है।

राजपिण्ड लेने के लिये साधु को राजा के अन्तःकरण मे भी जाना पड़ेगा, वहा का सौन्दर्य, वहां का वैभव और राजमहलो के सुखोपकरण उसकी वैराग्यशीलता पर प्रहार कर सकने हैं, अत. उसे वहां जाना ही नही चाहिए। उसका अन्तःपुर निषेध इसी तथ्य की ओर सकेत करता है।

यदि किसी राजा ने भी श्रावक के वारह व्रत धारण कर लिये हो, वह अतिथि-सविभाग व्रत का निष्ठा से पालन करने लग गया हो, उसका मन वैभव से उपरति प्राप्त कर रहा हो तो ऐसे राजा के द्वारा दिया गया आहार-पानी ग्राह्य भी हो सकता है, परन्तु सामान्यतः साधु को राजपिण्ड का परित्याग ही करना चाहिए। यदि किसी कारणवशात् वह राजपिण्ड ग्रहण करले और फिर उसे अपने कृत अपराध पर पश्चात्ताप होने लगे तो उसे तुरन्त ही दीक्षा-छेदन रूप प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेना चाहिए जिससे वह पुन. राजपिण्ड से वच सके।

श्रमण के लिये अन्तःपुर प्रवेश के आपवादिक कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे रायंतेउरमणुपविसमाणे नाइक्कमइ, तं जहा—नगरं सिया सव्वओ समंता गुत्ते, गुत्तदुवारे, बहवे समणमाहणा णो संचाएंति भत्ताए वा, पाणाए वा, निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, तेसिं विन्नवणट्ठयाए रायंतेउरमणुपविसेज्जा। पाडिहारियं वा पीढ-फलग-सेज्जा-संथारगं पच्चप्पिणमाणे रायंतेउरमणुपवेसेज्जा। हयस्स वा, गयस्स वा दुट्ठस्स आगच्छमाणस्स भीए रायंतेउरमणुपवेसिज्जा। परो वा, णं सहसा वा, वलसा वा, बाहाए गहाय अंतेउरमणुपवेसेज्जा। वहिया व णं आरामगयं वा, उज्जाणगयं वा, रायंतेउरजणो सव्वओ समंता संपरिक्खिवित्ता णं निवेसिज्जा।

इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे जाव णाइक्कमइ।२९।

छाया—पञ्चभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थः राजान्तःपुरमनुप्रविशन् नातिक्रामति, तद्यथा—नगरं स्यात् सर्वतः समन्ताद् गुप्तं, गुप्तद्वारं, बहवः श्रमण-ब्राह्मणाः नो शक्नुवन्ति भक्ताय वा पानाय वा निष्क्रमितुं वा, प्रवेष्टुं
प्रविशेत्। प्रातिहारिकं वा पीठ-फलक-शय्यासंस्तारकं प्रत्यर्पयन् राजान्तःपुरमनुप्रविशेत्। हयाद् वा, गजाद् वा आगच्छतो भीतः राजान्तःपुरमनुप्रविशेत्। परो वा सहसा बलेन वा बाहौ गृहीत्वा अन्तःपुरमनुप्रविशेत्। बहिर्वा आरामगतं वा, उद्यानगतं वा राजान्तःपुरजनः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्य निविशेत्।
इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थो यावत् नातिक्रामति।

शब्दार्थ—**पंचहिं ठाणेहिं**—पाच कारणों से; **समणे णिग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ राजा के अन्त.पुर में; **अणुपविसमाणे**—प्रवेश करता हुआ; **नाइक्कमइ, तं जहा**—जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है, जैसे; **सिया**—यदि; **नगरं**—नगर; **सव्वओ समंता**—सव ओर से—चारों ओर से; **गुत्ते**—बन्द हो; **गुत्तदुवारे**—उसके द्वारवन्द हो, फलत:; **बहवे**—वहुत से, **समणमाहणा**—वौद्ध भिक्षु अथवा ब्राह्मणादि; **भत्ताए वा**—भोजन के लिये; **पाणाए वा**—पानी के लिये; **निक्खमित्तए वा**—बाहर जाने के लिये; **पविसित्तए वा**—बाहर से अन्दर प्रवेश करने के लिये; **णो संचाएंति**—समर्थ नही होते है, तो; **तेसिं**—उनके; **विन्नवणट्ठयाए**—विज्ञापन—निवेदन करने के लिये, **रायंतेउरं**—राजा के अन्तःपुर में; **अणुपवेसेज्जा**—प्रवेश करे; **पाडिहारियं वा**—वापिस लौटाने योग्य; **पीढफलगसेज्जासंथारगं**—चौकी, पट्टा, शय्या और संस्तारक को; **पच्चप्पिणमाणे**—प्रत्यर्पण करता हुआ; **रायंतेउरं**—राजा के अन्त.पुर में; **अणुपवेसेज्जा**—प्रवेश करे। **हयस्स वा**—अश्व से; **गयस्स वा**—हाथी से; **दुट्ठस्से**—अथवा दुष्ट प्रकृति वाले से; **आगच्छमाणस्स**—सम्मुख आते हुए से; **भीए**—भीत होकर; **रायंतेउरं**—राजा के अन्तःपुर में; **अणुपवेसेज्जा**—प्रवेश करे। **परो वा णं**—दूसरा कोई दुर्जन; **सहसा**—सहसा; **बलसा वा**—अथवा बलपूर्वक; **बाहाए**—भुजा; **गहाय**—पकड़ कर; **अंतेउरं**—अन्तःपुर में; **अणुपवेसेज्जा**—प्रवेश करा दे। **बहिया व णं**—नगर के बाहर; **आरामगयं वा**—आराम में उपस्थित अथवा; **उज्जाणगयं वा**—उद्यान में उपस्थित साधु को; **रायंतेउरजणो**—राजा का अन्तःपुर—रनवास; **सव्वओ समंता**—सब ओर से; **संपरिक्खित्ताणं**—घेर कर; **निवेसेज्जा**—पड़ाव डाल दे, तब। **इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं**—इस प्रकार इन पांच कारणों से; **समणे णिग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ; **जाव**—यावत् अन्तःपुर में जाता हुआ; **णाइक्कमइ**—जिनज्ञा का उल्लंघन नही करता है।

मूलार्थ—पांच कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ (जैन मुनि) राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करता हुआ जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है, जैसे कि—

१. यदि नगर सब ओर से प्राकार द्वारा परिवेष्टित हो, उसके द्वार बन्द हों, फलतः बहुत से शाक्यादि श्रमण और ब्राह्मण भोजन-पान के लिये अन्दर से बाहर न जा सकते हो और बाहर से अन्दर न आ सकते हो, तब दयालु निर्ग्रन्थ मुनि, उन जैनेतर भिक्षु एवं ब्राह्मणों के सम्बन्ध में विज्ञा-पन--निवेदन करने के लिये (आहार-पानी आदि की छूट दिलाने के लिये) राजा के अन्त.पुर में प्रवेश कर सकता है।

२. वापिस लौटाने के योग्य पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि प्रत्यर्पण करने के लिये राजा के अन्तःपुर मे प्रवेश कर सकता है।

३. सम्मुख आनेवाले उन्मत्त (दुष्ट) अश्व अथवा गज से भय-भीत हो कर राजा के अन्त.पुर मे प्रवेश कर सकता है।

४. यदि कोई दुष्ट पुरुष सहसा या बलात्कार से मुनि को भुजा से पकड़ कर राजा के अन्तःपुर में ले जावे तो वह वहां जा सकता है।

५. नगर के बाहर आराम मे अथवा उद्यान में उपस्थित मुनि को राजा का अन्त.पुर चारों ओर से घेरा डाल कर पडाव डाल दे, तो वहां राजा के अन्त.पुर मे अवस्थित मुनि जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

इस भांति उक्त पाच कारणो से श्रमण निर्ग्रन्थ यावत् राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे निषेधात्मक कर्म करनेवाले साधु के लिये प्रायश्चित्तो का वर्णन किया गया है। अब प्रायश्चित्त-परम्परा मे इस विषय का वर्णन किया जा रहा है कि आगमकार साधु का अन्तःपुर मे प्रवेश निषिद्ध मानते हैं, फिर भी यदि किसी कारणवश साधु को अन्तःपुर में जाना ही पड़े तो उसके लिये क्या प्रायश्चित्त का विधान होगा ? और किन कारणों से उसका अन्तःपुर में प्रवेश निषिद्ध नहीं है। राजस्त्रियो के निवास-स्थान को अन्त पुर कहते है। वह तीन तरह का होता है—वृद्धाओ का अन्त पुर, तरुणियो का अन्तःपुर और कन्याओ का अन्तःपुर। सभी अन्तःपुरों में साधु का प्रवेश निषिद्ध है, क्योकि अन्त पुर में प्रवेश करने के पीछे अनेक अनर्थ छिपे हुए है। लाभ की कम, परन्तु अनर्थों की अपेक्षा अधिक है, इसीलिये आगमकारो ने साधु का अन्तःपुर में प्रवेश करना निषिद्ध बताया है। किन्तु निम्नलिखित पांच कारणो में से किसी एक कारण से भी यदि साधु अन्तःपुर मे प्रवेश कर जाए, तो वह भगवान जिनेन्द्र देव की आज्ञा का उल्लघन नही करता है। वे पांच कारण निम्नलिखित हैं, जैसेकि—

१. जब कोई नगर प्राकार से घिरा हुआ हो और नगर के प्रवेश-द्वार बिल्कुल बन्द हों, न कोई बाहर से अन्दर आ सकता हो और न अन्दर से बाहर जा सकता हो, तब ऐसे समय में यदि बहुत से श्रमण, माहन आहार-पानी के लिये न नगर से बाहर निकल सकते हों और न बाहर से भीतर प्रवेश कर सकते हों उन श्रमण, माहन आदि की रक्षा के निमित्त करुणा-मूर्ति मुनि अन्तःपुर में बैठे हुए राजा को या अधिकार-प्राप्त रानी को उनकी कठिनाइयों का ज्ञान करवाने के लिये अन्तःपुर में प्रवेश कर सकता है।

मानसिक व्यग्रता के बिना तपस्या करनेवाले को "श्रमण" और अहिंसा का उपदेश करते हुए मूलगुणों और उत्तर गुणों की आराधना करनेवाले को "माहन" कहते है अथवा जैनेतर संन्यासी, तापस आदि को "श्रमण" और ब्राह्मणग्रंथों का अनुसरण करनेवाले ब्राह्मण "माहन" कहलाते है। ऐसी दशा में श्रमणों एवं माहनों की रक्षा के लिये साधु का अन्तःपुर में प्रवेश किसी स्वार्थ से नहीं होता, उसकी प्रेरक शक्ति उसकी अन्तःकरुणा होती है, परोपकारी वृत्ति होती है। करुणा एवं परोपकार साधु के गुण है, अवगुण नही, अतः उनसे प्रेरित होकर उसका अन्तःपुर प्रवेश उचित ही होता है।

जैन धर्म अहिंसा और अनुकम्पा में धर्म मानता है और इन्हीं से वह सर्वोदय की भावना का पोषण करता है।

२. **पडिहारी—प्रातिहारिक**—जिस वस्तु को लेकर सर्वविरति उसे पुनः लौटा देता है, कार्य समाप्त होने पर वापिस करने योग्य ऐसी सभी वस्तुएं पडिहारी कहलाती हैं, जैसे कि चौकी, पट्टा, मकान, फूस इत्यादि वस्तुएं पडिहारो कहलाती हैं। साधु के लिये जिस-जिसकी वस्तुएं है, विहार करने से पहले उन्हे लौटाना जरूरी होता है। प्रातिहारिक वस्तुओ को वापिस करने के लिये मुनि राजा के अन्तःपुर में जा सकता है, क्योंकि जो वस्तु जहां से लाई गई है उसे वापिस वही सौपने का साधु का नियम है। प्रातिहारिक लेने के लिये भी राजा के अन्तःपुर में जाने का निषेध नही है, क्योंकि ग्रहण करने पर ही वापिस करना सम्भव है।

३. राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करने का तीसरा कारण यह है कि यदि कोई दुष्ट एवं उन्मत्त हाथी, घोड़ा, बैल, कुत्ता इत्यादि मारने या काटनेवाला सामने से आ रहा हो तो मुनि राजा के अन्तःपुर मे जा सकता है। क्योंकि ऐसी दशा में अपना बचाव करना मानवमात्र का स्वभाव है, परन्तु बचाव मे पशु को चोट पहुंचने की सम्भवना से इन्कार नही किया जा सकता, अहिंसा-व्रती साधु चोट पहुचाने पर अपनी व्रतनिष्ठा से गिर जाएगा, अतः उसे हिंसा-वृत्ति अपनाने की अपेक्षा अन्तःपुर में प्रवेश करना उचित है। इससे भी वह प्रभु-आज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

४. यदि कोई पुरुष अचानक या भुजबल से पकड कर किसी मुनिराज को राजा के अंत.पुर में ले जाए तो अन्तःपुर में प्रवेश करता हुआ मुनिराज भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नही करता। दया बुद्धि से या शासक की आज्ञा से उसे कोई भी भुजा पकड़ कर अतःपुर में ले जा सकता है। **बलसा**—इस पद में सकार आगमिक है।

५. नगर आदि से बाहर आराम या उद्यान में राजा क्रीड़ा के लिये गया हो और वह अपने परिवार से घिरा हुआ हो, राजा की ओर से वहा शिविर लगे हुए हों, वहां रहे हुए साधु को राजा

का अंतःपुर चारों ओर से घेर कर बैठ जाए या उसे ही चौकी-पट्टा आदि लेने के लिए या देने के लिये उसे अन्तःपुर में प्रवेश करना पड़े तो उसके लिये वह प्रवेश दोष-युक्त नहीं माना जाता।

जो पुष्पों से उपशोभित हो उसे आराम, जो विभिन्न प्रकार के वृक्षों से सुशोभित हो वह उद्यान कहलाता है। यह सब आपवादिक स्थिति है। अपवाद में नियमेन प्रायश्चित्त आता है ऐसा कोई विधान नही है। हां स्वच्छन्दता में नियमेन प्रायश्चित्त लेना आवश्यक होता है, जिसे करना भी जरूरी हो जाता है। अपवाद का सेवन भी स्थविरकल्पी ही करते हैं, जिनकल्पी नही।

गर्भ-धारण करने और न करने के कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिमित्थी पुरिसेण सद्धि असंवसमाणी वि गब्भं धरेज्जा, तं जहा—इत्थी दुव्वियडा दुन्निसण्णा सुक्कपोग्गले अहिट्ठिज्जा। सुक्कपोग्गल-संसिट्ठे व से वत्थे अन्तो जोणीए अणुपवेसेज्जा। सइं वा सा सुक्कपोग्गले अणुपवेसेज्जा। परो व से सुक्कपोग्गले अणुपवेसेज्जा। सीओदगवियडेण वा से आयममाणीए सुक्कपोग्गला अणुपवेसेज्जा। इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं जाव धरेज्जा।

पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धि संवसमाणीवि गब्भं नो धरेज्जा, तं जहा अप्पत्तजोवणा, अइकंतजोवणा, जाइवंझा, गेलन्नपुट्ठा, दोमणसिया। इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं जाव नो धरेज्जा।

पंचहिं ठाणेहिमित्थी पुरिसेण सद्धि संवसमाणीवि नो गब्भं धरेज्जा, तं जहा—निच्चोउया, अणोउया, वावन्नसोया, वाविद्धसोया, अणंगपडिसेवणी। इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिमित्थी पुरिसेण सद्धि संवसमाणीवि गब्भं णो धरेज्जा।

पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धि संवसमाणी वि गब्भं नो धरेज्जा, तं जहा—उउंमि णो णिगामपडिसेविणी यावि भवइ, समागया वा से सुक्क-पोग्गला पडिविद्धंसंति, उदिन्ने वा से पित्तसोणिये, पुरा वा देवकम्मुणा, पुत्तफले वा नो निद्दिट्ठे भवइ। इच्चेएहिं जाव नो धरेज्जा।३०।

छाया—पञ्चभिः स्थानैः स्त्री पुरुषेण सार्द्धं असंवसन्त्यपि गर्भं धारयेत्, तद्यथा—स्त्री दुर्विवृता दुर्निषण्णा शुक्रपुद्गलानधितिष्ठेत्, शुक्रपुद्गलसंसृष्टं वा तस्याः वस्त्रमन्तर्योनौ अनु-

प्रवेशयेत्, स्वयं वा सा शुक्रपुद्गलाननुप्रवेशयेत्, परो वा तस्याः शुक्रपुद्गलाननुप्रवेशयेत्, शीतोदकविकटेन व तस्या आचमन्त्याः शुक्रपुद्गला अनुप्रविशेयुः। इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैर्यावत् धारयेत्।

पञ्चभिः स्थानैः स्त्री पुरुषेण सार्द्धं संवसन्त्यपि गर्भं नो धारयेत्, तद्यथा- अप्राप्तयौवना, अतिक्रान्तयौवना, जातिवन्ध्या, ग्लान्यस्पृष्टा, दौर्मनस्किता। इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैर्यावत् नो धारयेत्।

पञ्चभिः स्थानैः पुरुषेण सार्द्धं संवसन्त्यपि नो गर्भं धारयेत्, तद्यथा—नित्यर्तुका, अनृतुका, व्यापन्नस्रोता, व्याविद्धस्रोता, अनङ्गप्रतिषेविणी। इत्येतैं पञ्चभिः स्थानैः स्त्री पुरुषेण सार्द्धं संवसन्त्यपि गर्भं नो धारयेत्।

पञ्चभिः स्थानैः स्त्री पुरुषेण सार्द्धं संवसन्त्यपि गर्भं नो धारयेत्, तद्यथा—ऋतौ नो निकामप्रतिषेविणी चापि भवति, समागता वा तस्याः शुक्रपुद्गलाः प्रतिविध्वंसंते, उदीर्णं वा तस्याः पित्तशोणितं, पुरा वा देवकर्मणा पुत्र फलं वा नो निर्दिष्टं भवति। इत्येतैर्यावत् नो धारयेत्।

शब्दार्थ—**पंचहिं ठाणेहिं**—पांच कारणों से; **इत्थी**—स्त्री; **पुरिसेण सद्धि**—पुरुष के साथ, **असंवसमाणीवि**—सहवास न करती हुई भी; **गब्भं**—गर्भ को; **धरेज्जा**—धारण कर सकती है; **तं जहा**—जैसे यदि, **इत्थी**—स्त्री, **दुव्वियडा**—परिधान रहित—नग्न; **दुन्निसण्णा**—भद्दे ढग से बैठी हुई हो तो; **सुक्कपोग्गले**—शुक्र-पुद्गलो को **अहिट्ठिज्जा**—योनि में प्रवेश कर ले; **सुक्कपोग्गलसंसिट्ठे वा**—शुक्र-पुद्गलो से युक्त; **वत्थं**—वस्त्र को; **से**—उसकी, **अंतोजोणीए**—योनि के अन्दर, **अणुपवेसेज्जा**—प्रवेश करा दिया जाये; **सइं वा**—अथवा स्वय ही; **सा**—वह, **सुक्कपोग्गले**—शुक्र पुद्गलो को; **अणुपवेसेज्जा**—योनि मे प्रविष्ट कर ले, **परो वा**—दूसरा कोई पुरुप; **से**—उस की योनि में, **सुक्कपोग्गले**—शुक्र-पुद्गलों को; **अणुपवेसेज्जा**—प्रवेश करा दे; **सीओवगवियडेण वा**—तालाब आदि के ठडे जल से; **आयममाणीए**—स्नान करती हुई—अथवा आचमन करती हुई; **से**—उसकी योनि में; **सुक्कपोग्गले**—शुक्र-पुद्गल; **अणुपवेसेज्जा**—प्रवेश कर जाये। **इच्चेएहिं**—इस प्रकार इन, **पचहिं ठाणेहिं**—पाच कारणों से स्त्री; **जाव**—यावत् गर्भ; **धरेज्जा**—धारण कर सकती है।

पंचहिं ठाणेहिं—पांच कारणों से; **इत्थी**—स्त्री; **पुरिसेण सद्धि**—पुरुप के साथ **संवसमाणीबि**—सहवास करती हुई भी, **गब्भं**—गर्भ; **नो धरेज्जा**—नही धारण कर सकती है; **तं जहा**—जैसे, **अप्पत्तजोवणा**—स्त्री अप्राप्त यौवना हो—बालिका हो; **अइकंतजोवणा**—वृद्धा हो; **जाइवंझा**—जन्म से बाझ हो, **गेलन्नपुट्ठा**—रोगग्रस्त हो; **दोमणसिया**—सहवास के समय उसका मन किसी कारण से खिन्न हो। **इच्चेएहिं**—इस प्रकार इन; **पंचहिं ठाणेहिं**—पाच कारणो से स्त्री; **जाव**—

यावत् गर्भ; **नो धरेज्जा**—नही धारण कर सकती।

पंचहिं ठाणेहिं—पांच कारणो से; **इत्थी**—स्त्री; **पुरिसेण सद्धि**—पुरुष के साथ, **संवसमाणीवि**—सहवास करती हुई भी, **नो**—नही, **गब्भं**—गर्भ को, **धरेज्जा**—धारण कर सकती है, **तं जहा**—जैसे, **निच्चोउया**—नित्य ही ऋतुवती रहती हो; **अणोउया**—कभी ऋतुवती ही न होती हो, **वावन्नसोया**—उसका गर्भाशय नष्ट हो गया हो, **वाविद्धसोया**—गर्भाशय शक्तिहीन हो गया हो; **अणंगपडिसेवणी**—स्त्री चिह्न से अतिरिक्त अग से काम सेवन करनेवाली हो। **इच्चेएहिं**—इस प्रकार इन; **पंचहिं ठाणेहिं**—पाच कारणो से; **इत्थी पुरिसेण सद्धि**—स्त्री पुरुष के साथ; **संवसमाणीवि**-सहवास करती हुई भी; **गब्भं नो धरेज्जा**—गर्भ नही धारण कर सकती है।

पंचहिं ठाणेहिं—पाच कारणो से; **इत्थी**—स्त्री; **पुरिसेण सद्धि**—पुरुष के साथ सहवास करती हुई भी गर्भ धारण नही कर सकती है, **तं जहा**—जैसे; **उउंमि**—ऋतु के समय; **णो णिगामपडिसेविणी भवइ**—अति काम वासना का सेवन करते हुए, **सुक्क-पोग्गला**—शुक्रपुद्गल, **पडिविद्धंसंति**—नष्ट हो जाये, **से**—उसको; **पित्तसोणिए**—पित्तप्रधान रक्त का, **उदिन्ने**—उद्रेक हो जाय; **पुरा**—प्राक्कालीन, **देवकम्मुणा**—किसी दैवी प्रकोप के कारण, **पुत्तफले**—पुत्र फल, **नो निदिट्ठे भवइ**—प्राप्त होने वाले न हो। **इच्चेएहिं**—इस प्रकार इन पांच कारणो से, **जाव नो धरेज्जा**-यावत् स्त्री पुरुष के साथ सहवास करती हुई भी गर्भ धारण नही कर सकती है।

मूलार्थ—पांच कारणों से स्त्री पुरुष के साथ संगम न करती हुई भी गर्भ धारण कर सकती है, जैसे—स्त्री नग्नावस्था में भद्दे ढंग से बैठी हुई हो तो वहां रहे हुए शुक्रपुद्गल उसकी योनि मे प्रविष्ट हो जाये। शुक्रपुद्गल से सना हुआ वस्त्र योनि मे चला जाय। वह स्वयं शुक्रपुद्गलो को योनि मे प्रविष्ट करले। दूसरा कोई शुक्रपुद्गलों को योनि मे प्रविष्ट करा दे। तालाब आदि मे शीतल जल से आचमन या स्नान करती हुई योनि मे शुक्रपुद्गल प्रविष्ट हो जाएं। इस भाति उक्त पांच कारणो से स्त्री पुरुष के साथ सहवास न करती हुई भी गर्भ धारण कर सकती है।

पांच कारणों से स्त्री पुरुष के साथ सहवास करती हुई भी गर्भ नही धारण कर सकती है, जैसे—अभी यौवन अवस्था को प्राप्त न हुई हो। यौवन अवस्था बीत चुकी हो। जन्म से वन्ध्या हो। रोगग्रस्त हो। सहवास के समय किसी कारण से उसका मन खिन्न हो। इस भांति उक्त पांच

कारणों से स्त्री पुरुष के साथ सहवास करती हुई भी गर्भ धारण नही कर सकती है।

पांच कारणों से स्त्री पुरुप के साथ सहवास करती हुई भी गर्भ धारण नहीं कर सकती है, जैसे—नित्य ऋतु वाली हो। कभी ऋतुमती न होती हो। उसका गर्भाशय नष्ट हो गया हो। उसके गर्भाशय की शक्ति क्षीण हो गई हो,। असेवनोय अंग के द्वारा काम-वासना की पूर्ति करती हो। इन पाच कारणों से स्त्री पुरुष के साथ सहवास करती हुई भी गर्भ धारण नहीं कर सकती है।

पाच कारणों से स्त्री पुरुष के साथ सहवास करती हुई भी गर्भ धारण नही कर सकती, जैसे—ऋतुकाल में पूर्ण रूप से काम का सेवन करने वाली न हो। योनि में आये हुए शुक्रपुद्गल नष्ट हो जाते हों। पित्त-प्रधान शोणित का उद्रेक हो जाता हो। पूर्व-कृत दैवी प्रकोप हो। अथवा भाग्य में पुत्र प्राप्ति का फल न हो। इस प्रकार इन पांच कारणों से पुरुष का सहवास करती हुई भी स्त्री गर्भ धारण नहीं कर सकती है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में साधु के अन्तःपुर में प्रवेश के वे कारण बताए गए है, जिन कारणों से वह अन्तःपुर में प्रवेश करता हुआ भी आज्ञा का उल्लंघन नही करता। अन्तःपुर का सम्बन्ध स्त्रियों से है, वे स्त्रियां गर्भ धारण कर सन्तानोत्पत्ति किया करती है। उनके गर्भ-धारण का कारण पुरुष का सहवास होता है, परन्तु कभी-कभी वे बिना सहवास के भी गर्भ धारण कर लेती है और कभी सहवास करके भी गर्भ धारण नही कर पाती। कोई राजमहिषी जब अनेक कारणों से गर्भ धारण नही कर पाती तो वह अन्य पुरुष का संसर्ग चाहती है, उस अवस्था में वह अन्त पुर में जानेवाले साधु को भी विचलित करने का प्रयास कर सकती है, अतः साधु का प्रवेश वहा वर्जित कहा गया है। अतएव साधु को सावधान करने की दृष्टि से यहां सूत्रकार स्त्री द्वारा गर्भ धारण कर सकने के और न कर सकने के कारण प्रदर्शित करते है।

कभी-कभी स्त्री पुरुष के साथ सहवास न करने पर भी गर्भ धारण कर लेती है। बिना पुरुष-संयोग के गर्भाधान कैसे हो सकता है? सबसे पहले उन्ही कारणों का विवेचन सूत्रकार ने किया है। पुरुष के साथ संग न करती हुई स्त्री अपनी असावधानी के कारण गर्भ धारण कर सकती है, उसके पांच कारण बताए गए है, जैसे कि—

१. कोई स्त्री गुह्यस्थान को बिना ढके पड़े हुए किसी शुक्र पुद्गल पर आकर बैठ जाए और उसके स्पर्श से अपत्यमार्ग द्वारा पुद्गल अन्दर प्रविष्ट हो जाएं तो वह स्त्री पुरुष के संयोग के बिना ही गर्भ धारण कर लेती है।

२. यदि शुक्रपुद्गल से भरे हुए वस्त्र को अपत्यमार्ग के मध्य मे रख दिया जाय तो आकर्षण द्वारा विना उपयोग से वह गर्भ धारण का कारण हो सकता है।

३ किसी व्यक्ति का शुक्रपुद्गल लेकर अपने ही हाथ से यदि कोई स्त्री अपत्यमार्ग मे डाल दे तो भी वह गर्भ का कारण वन सकता है।

४. पुत्र की आशा से किसी समर्थ पुरुष का शुक्रपुद्गल लाकर यदि कोई श्वश्रू आदि पुत्रवधू के स्मरमंदिर में डाल दे तो वह स्त्री गर्भ धारण कर सकती है।

५ जिस तालाव में वहुत से पुरुष स्नान करते है यदि उस जल में कारण वश किसी पुरुष का शुक्र-पुद्गल गिरा हुआ हो, उसके वाद कोई स्त्री नग्न होकर उसी तालाव में प्रविष्ट हो जाय, स्नान करने लग जाए, उस समय वह शुक्रपुद्गल किसी प्रकार यदि उसके स्मरमंदिर में प्रविष्ट हो जाए तो वह स्त्री विना किसी संयोग से गर्भ धारण कर सकती है।

उपर्युक्त सूत्र से यह भली भाति सिद्ध हो जाता है कि पतिव्रता विधवा स्त्री और कन्या इन को उपर्युक्त पांच कारणों से सदैव सावधान रहना चाहिए। अपने अंगों को सदा संगुप्त रखना चाहिए, वे विना उपयोग वैठना आदि कोई क्रिया न करें, तभी वे कलंक से वच सकती है।

पाच कारणो से स्त्री सहवास करती हुई भी गर्भ धारण नही करती—

१. **अप्राप्त-यौवना**—जव तक मासिकधर्म आना प्रारम्भ नही होता, तव तक उसे अप्राप्त-यौवना ही कहते हैं। सोलह वर्ष की प्रायः प्राप्तयौवना होती है।

२. **अतिक्रान्तयौवना**—जिस स्त्री का यौवन वीत गया हो। ६० वर्ष की आयु वीतने पर एवं मासिक धर्म सर्वथा वंद होने पर स्त्री को अतिक्रात-यौवना कहा जाता है। अतः उक्त दो पदों से यह ध्वनित होता है कि गर्भ-धारण के योग्य केवल यौवन अवस्था ही है। अप्राप्तयौवन और अतिक्रान्त यौवन नही। विचारशील व्यक्ति को चाहिए कि वे पूर्व और पश्चिम अवस्था में व्रह्मचर्य का पालन करे।

३. **जाति-वन्ध्या**—वन्ध्या शब्द का अर्थ होता है निर्वीजा, जो स्त्री गर्भ-धारण करने के सर्वथा अयोग्य है वह जाति वन्ध्या कहलाती है। यह दोष किसी-किसी स्त्री में जन्मजात ही होता है।

४. **ग्लान्यस्पृष्ट**—जो स्त्री रोगग्रस्त रहती है, वह पुरुष से गमन करती हुई भी गर्भ धारण नहीं कर सकती, क्योकि रोग के कारण शुक्रपुद्गल गर्भाशय में तुरन्त विध्वस्त हो जाते हैं, अतः स्वस्थ स्त्री ही गर्भ धारण करने में समर्थ होती है।

५. **दौर्मनस्यका**—जो स्त्री सदैव चिंतातुर रहती है एवं शोकमग्न भी, वह पुरुष से सहवास करती हुई भी गर्भ धारण करने में समर्थ नही होती। विना इच्छा से मैथुन करना, उदासीन रहना, कलह करने में संलग्न रहना, ऐसी कुप्रवृत्तियों में फंसी हुई स्त्री गर्भ धारण नही कर सकती। गर्भधारण करने के लिये हर्षान्वित रहना आवश्यक है। उक्त पांच कारणों से सहवास करती हुई भी स्त्री गर्भा-धान नहीं कर सकती।

गर्भाधान न होने के अन्य पांच कारण :—

१. जो स्त्री नित्य ही रजस्वला बनी रहती है, जिसकी योनि से नित्य ही रक्तस्राव होता रहता है, ऋतु के तीन दिन का कोई परिमाण नही रहता है, इस कारण शुक्रपुद्गल और ओज गर्भाशय में ठहरने नहीं पाते, गर्भाधान होने पर मासिकधर्म विल्कुल वंद हो जाता है।

२. **अनृतुका**—जिस स्त्री का मासिकधर्म का आना प्रौढ-यौवना होने पर भी वन्द हो गया है, मासिकधर्म के प्रारम्भिक दिन से लेकर गर्भाशय का मुख-पद्म पन्द्रह दिन खुला रहता है। पहले के तीन दिन निकाल कर शेष १२ दिन गर्भाधान के लिये श्रेष्ठ होते हैं। गर्भाधान होने पर भी गर्भाशय का मुख-पद्म संकुचित एव वन्द हो जाता है और शेष १५ दिन बिल्कुल वन्द ही हो जाता है। मुखपद्म वन्द हो जाने पर पुरुष के साथ सहवास करने पर भी शुक्रपुद्गल गर्भाशय में प्रविष्ट नही होता है, अतः स्त्री गर्भाधान नहीं करती है।

३. **व्यापन्नस्रोता**—जिस स्त्री का गर्भाशय रोग के कारण विध्वस्त हो गया है, वह स्त्री गर्भ धारण करने के लिये सर्वथा असमर्थ होती है।

४. **व्यादिग्धस्रोता**—जिस स्त्री का गर्भाशय वायु से व्याप्त हो, वह स्त्री भी गर्भ धारण करने के समर्थ नहीं रहती।

५. जो स्त्री कामवासना के उद्रेक से अप्राकृतिक मैथुन सेवन करती है, वह भी गर्भाधान के सर्वथा अयोग्य हो जाती है। मेहन और भग इन मुख्य अंगों को छोड़कर प्रकृति विरुद्ध मैथुन करनेवाली अथवा कामवासना की अधिकता से वेश्या की तरह अन्य पुरुषो के साथ क्रीड़ा करने वाली स्त्री को 'अनंग-प्रतिषेवणी' कहा जाता है। वह भी गर्भधारण करने में असमर्थ है। इन पाच कारणों से पुरुष के साथ सहवास करती हुई भी स्त्री गर्भ धारण नही कर सकती।

गर्भाधान न होने के अन्य पांच कारण—

निम्नलिखित पांच कारणों से स्त्री पुरुष के साथ सहवास भी यदि करती रहे तो भी गर्भधारण नहीं कर सकती, जैसे कि—

१. जो ऋतुकाल में भी पुरुष के साथ अत्यर्थ सगम नही करती अर्थात् प्रमाणोपेत पुरुष का वीर्यपात न मिलने से वह गर्भधारण नही कर सकती।

२. यदि स्मरमदिर में शुक्रपुद्गल सम्यक् प्रकार से प्रविष्ट न हों, अथवा योनि-दोष से उसकी शक्ति नष्ट हो जाए या शुक्रपुद्गल के वाहर निकल जाने से विध्वस्त हो जाए, तो स्त्री गर्भ धारण नही कर सकती।

३. जिस स्त्री का शोणित उत्कट रूप से पित्त-प्रधान वन गया है, उसके ससर्ग से शुक्रपुद्गल वीज रूप न होकर अवीज रूप हो जाता है, इस कारण स्त्री पुरुष से संगम करती हुई भी गर्भ धारण नही कर सकती।

४. गर्भ अवसर से पहले ही जिसका गर्भाशय दैवी प्रकोप से नष्ट-भ्रष्ट हो गया हो, या किसी औषधि विशेष से या आप्रेशन से नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया हो, तब भी स्त्री को गर्भ धारण नही हो सकता।

५. जिस स्त्री ने पूर्व जन्म में पुत्र रूप फल की उपलब्धि के योग्य कर्म न किए हों, अर्थात् जिस दान से पुत्रफल की प्राप्ति हो वह दान यदि न दिया हुआ हो तो वह पुरुष का सहवास करने पर भी पुत्र-फल की प्राप्ति नही कर सकती।

प्रस्तुत सूत्र से सदाचार में प्रवृत्ति, आयुर्वेद द्वारा रोग की निवृत्ति, बालविवाह और वृद्धविवाह का निषेध, पुत्रेच्छा को छोड़कर विषय-वासना का परित्याग, जिस दान से पुत्रफल की प्राप्ति हो उसकी कर्त्तव्यता बताई गई है। साथ ही देवक्रिया को भी कारण बतलाया गया है। शास्त्रकार ने अति विषय सेवन पुत्रफल के लिये अयोग्य सिद्ध किया है, स्वदारा-संतोष व्रती एवं स्वभर्ता सतोष व्रत धारण करने वाले स्त्री-पुरुषों के लिये यह पाठ विशेष अनुमनन के योग्य है।

साधु और साध्वियों की एकत्र स्थिति के अपवाद

मूल-—पंचहिं ठाणेहिं निग्गंथा निग्गंथीओ य एगओ ठाणं वा, सिज्जं वा, निसीहियं वा चेएमाणे णाइक्कमंति, तं जहा—अत्थेगइया निग्गंथा निग्गंथीओ एगं महं अगामियं छिन्नावायं दीहमद्धमडविमणुपविट्ठा, तत्थेगयओ ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा चेएमाणे णाइक्कमइ।

अत्थेगइया निग्गंथा निग्गंथीओ य गामंसि वा, णगरंसि वा जाव रायहाणिसि वा वासं उवागता एगइया जत्थ उवस्सयं लभंति, एगइया णो लभंति, तत्थेगइओ ठाणं वा जाव नाइक्कमंति।

अत्थेगइया निग्गंथा य निग्गंथीओ य नागकुमारावासंसि वा (सुवण्णकुमारावासंसि वा) वासं उवागया, तत्थेगयओ जाव णाइक्कमति।

आमोसगा दीसंति, ते इच्छंति निग्गंथीओ चीवरपडियाए पडिगाहित्तए, तत्थेगयओ ठाणं वा जाव णाइक्कमंति।

जुवाणा दीसंति, ते इच्छंति निग्गंथीओ मेहुणवडियाए पडिगाहित्तए, तत्थेगयओ ठाणं वा जाव णाइक्कमंति।

इच्चेहिं पंचहिं ठाणेहिं जाव नाइक्कमंति।३१।

छाया—पञ्चभिः स्थानैर्निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च एकत्र स्थानं वा, शय्यां वा, निषीदिकां वा कुर्वाणा नातिक्रमन्ति, तद्यथा—अस्त्येका निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्चैकां छिन्नापातां दीर्घाध्वानमटवीमनुप्रविष्टाः, तत्रैकतः स्थानं वा, शय्यां वा, निषीदिकां वा कुर्वाणा नातिक्रमन्ति।

अस्त्येका निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च, ग्रामे वा, नगरे वा यावत् राजधान्यां वा वासमुपागताः, एकका यत्रोपाश्रयं लभन्ते, एकका नो लभन्ते, तत्रैकतः स्थानं वा यावत् नातिक्रमन्ति।
अस्त्येकका निर्ग्रन्थाः निर्ग्रन्थ्यश्च, नागकुमारवासे वा (सुपर्णकुमारवासे वा) वासमुपगतास्तत्रैकतो यावत् नातिक्रमन्ति।

ग्रामोषका दृश्यन्ते, ते इच्छन्ति निर्ग्रन्थीश्चीवरप्रतिज्ञया प्रतिग्रहीतुं, तत्रैकतः स्थानं वा यावत् नातिक्रमन्ति।

युवानो दृश्यन्ते ते इच्छन्ति निर्ग्रन्थीः मैथुनप्रतिज्ञया प्रतिग्रहीतुं, तत्रैकतः स्थानं वा यावत् नातिक्रमन्ति।

इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैर्यावत् नातिक्रमन्ति।

शब्दार्थ—**पंचहिं ठाणेहिं**—पांच कारणों से; **निग्गंथा**—निर्ग्रन्थ, **निग्गंथीओ**—निर्ग्रन्थी—साध्वी, **एगओ**—एक स्थान पर; **ठाणं वा**-स्थिति; **सिज्जं वा**—शयन; **निसीहियं वा**—स्वाध्याय; **चेएमाणे**—करते हुए; **नाइक्कमंति**—जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करते है, **तं जहा**—जैसे; **अत्थेगइया**—एक ही स्थान प्राप्त कर पाए हो तो, **निग्गंथा**—साधु; **निग्गंथीओ**—साध्वी, **एगं**—एक, **महं**—महती; **आगामियं**—ग्राम-शून्य, **छिन्नावायं**—जहां मनुष्यो का आना-जाना नहीं है; **दीहमद्धं**—लम्बे रास्ते वाली; **अडविं**—अटवी में, **अणुपविट्ठा**—प्रवेश किये हुए हों; **तत्थ**—वहा, **एगओ**—एक जगह; **ठाणं वा**—बैठना, **सेज्जं वा**—शयन और **निसीहियं वा**—स्वाध्याय, **चेएमाणे**—करते हुए, **णाइक्कमंति**—जिनाज्ञा का उल्लघन नही करते है।

अत्थेगइया—एक को ही स्थान मिलने पर, **निग्गंथा निग्गंथीओ**—निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी, **गामंसि वा**—ग्राम मे; **जाव**—यावत्, **रायहाणिंसि वा**—राजधानी में, **वासं उवागया**—निवास को प्राप्त हुए हो, **एगइया** एकत्र स्थिति वाले, **जत्थ**—जहां **उवस्सयं**—उपाश्रय, **लभंति**—प्राप्त कर लेते है, **एगइया**—उनमें से एक, **नो लभंति** नही प्राप्त कर पाते है तो, **तत्थ**—वहा, **एगइओ**—एकत्र, **ठाणं वा**—स्थिति, **जाव**—यावत्, **नाइक्कमंति**—जिनाज्ञा का उल्लघन नही करते है।

अत्थेगइया - एक ही स्थान पर, **निग्गंथा निग्गंथीओ**—श्रमण निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी, **नागकुमारवासंसि वा**—नागकुमार के मदिर मे, **सुवण्णकुमारवाससि वा**—सुपर्णकुमार के मदिर मे, **वासं उवागया**—निवास करने को प्राप्त हुए हो, **तत्थ**—वहां; **एगइओ** एकत्र; **जाव**—यावत्, **णाइक्कमंति**—आज्ञा का उल्लघन नही करते हैं।

आमोसगा—चोर, **दीसंति**—दिखलाई दे, **ते**—वे, **निग्गंथी**—साध्वियों के, **चीवर पडियाए**—वस्त्रों की इच्छा से, **पडिगाहित्तए**—छीनना, **इच्छंति**—चाहते हों; **तत्थ**—वहां, **एगइओ**—एक स्थान पर, **जाव**—यावत् रहते हुए, **णाइक्कमंति**—

जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करते हैं।

जुवाणा दीसंति—युवा व्यक्ति दिखलाई देते हैं, **ते**—वे, **निग्गंथी**—साध्वियों को; **मेहुणपडियाए**—मैथुन की इच्छा से, **पडिगाहित्तए**—पकड़ना, **इच्छंति**—चाहते है **इच्चेएहिं**—इस प्रकार इन; **पंचहि ठाणेहिं**—पाच कारणो से; **जाव**—यावत् जिनाज्ञा का, **नाइक्कमंति**—उल्लंघन नही करते हैं।

मूलार्थ—पांच कारणों से निर्ग्रन्थ (साधु) और साध्वियां एकत्र स्थिति, शय्या एवं स्वाध्याय करते हुए भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते है, जैसे—कुछ साधु और साध्वियां एक विशाल ग्राम-रहित निर्जन लम्बे मार्गवाली अटवी में से यात्रा कर रहे हो तो वहां एकत्र स्थिति, शय्या एवं स्वाध्याय करते हुए वे जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करते हैं।

कुछ साधु और साध्विया ग्राम में, नगर में यावत् राजधानी में निवास करने आये हों, उन में से एक उपाश्रय पा गये हों, परन्तु दूसरे न पा सके हों, तो वहां एकत्र स्थिति और स्वाध्याय आदि करते हुए वे जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करते है।

कुछ साधु और साध्वियां नागकुमार के अथवा सुपर्णकुमार के मन्दिर में निवास कर रहे हों, तो वहां एकत्र स्थिति और स्वाध्याय आदि करते हुए जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करते है।

आमोषक अर्थात् चोर आदि वस्त्र लेने की इच्छा से साध्वियों को पकड़ना चाहते हों तो वहां (उनकी रक्षा के लिये) साधु-साध्वियों की एकत्र स्थिति और स्वाध्याय आदि करना जिनाज्ञा के विरुद्ध नही माना जाता है।

(कुछ भ्रष्ट) युवक लोग मैथुन की इच्छा से साध्वियों को पकड़ना चाहे तो वहां एकत्र स्थिति एवं स्वाध्याय आदि करते हुए साधु-साध्वी जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करते है।

इस प्रकार उक्त पांच कारणों से साधु और साध्वी परस्पर एक दूसरे के साथ स्थिति करते हुए जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करते है।

विवेचनिका—

इससे पूर्व के सूत्र में सूत्रकार ने पुरुष-सहवास के विना भी पांच कारणो से नारी गर्भ धारण कर लेती है, इस विषय का विवेचन किया था, जिससे साधु-साध्वियों की एकत्र स्थिति के निषेध का

कारण भी ध्वनित हो रहा था। समादरणीय साध्वियों के लिये मर्यादित एवं ध्वनि-प्रधान भाषा का प्रयोग ही उचित था, अतः शास्त्रकार ने उसे ध्वनित ही किया है, फिर भी साध्वी-जीवन एवं साधु-जीवन में कभी ऐसी आपत्कालीन स्थिति भी आ सकती है जहा साधु-साध्वियों को एक ही स्थान पर रहना पड जाए तो उसी आपत्कालीन परिस्थिति में एक ही स्थान पर रहने के पाच आपवादिक कारणों पर प्रस्तुत सूत्र में प्रकाश डाला गया है।

पांच कारणों के उपस्थित हो जाने पर साधु और आर्याए एक स्थान मे रहते हुए भी भगवान की आज्ञा का उल्लंघन नही करते, वे एक ही स्थान में रहते हुए कायोत्सर्ग, ध्यान, स्वाध्याय एव समाधिस्थ होने की साधना कर सकते है। वे पाच कारण निम्नलिखित है—

१. यदि दुर्भिक्ष पडने पर एक दिशा की ओर से स्थविरकल्पी साधु विहार करते हुए और दूसरी ओर से आर्याएं विहार करती हुईं किसी ऐसी महाटवी मे प्रविष्ट हो गए हो जिसमें न कोई ग्राम है और न कोई नगर है, न किसी यात्री का आवागमन हो, उस अटवी में अकस्मात् यदि सायंकाल एक जगह साधु और साध्विया सम्मिलित हो जाए तो एक ही स्थान में कायोत्सर्ग, धर्मध्यान, समाधि, स्वाध्याय, निद्रामोचन आदि क्रियाएं करते हुए वे भगवान की आज्ञा का उल्लघन नही करते है।

२ यदि साधु और साध्वीवृन्द किसी ग्राम, नगर या राजधानी में अकस्मात् ही विपरीत दिशाओ से आए हो, उनमें से किसी को ठहरने के लिए स्थान मिल गया है और दूसरे वृन्द को न मिल पा रहा हो और विहार का समय न रहा हो तो वे इस स्थिति में एक ही स्थान पर ठहर कर कायोत्सर्ग आदि क्रियाएं करते हुए जिनेन्द्र देव की आज्ञा का उल्लंघन नही करते हैं।

३. यदि साधु और आर्याएं नागकुमार या सुपर्णकुमार के आवास में विपरीत दिशाओं से विहार करते हुए अकस्मात् ही आ पहुचे और उस आवास मे अन्य बहुत से लोग भी आए हुए हो, उनका कोई नायक न हो, या वह आवास सूना ही हो तो साध्वीजन की रक्षा के लिये वे एक स्थान पर रह सकते है और ऐसी दशा में वे एक ही स्थान पर कायोत्सर्ग स्वाध्याय आदि क्रिया करते हुए जिनेन्द्र देव की आज्ञा का अतिक्रमण नही करते।

४ यदि साध्वीवृन्द के पीछे चोर लगे हुए हो और वे उनके वस्त्र आदि छीनने के लिये साध्वियो को पकड़ना चाहते हो तो साध्वीजन की रक्षा के लिये साधु-साध्वी एक स्थान मे रहकर कायोत्सर्ग आदि शुभ क्रियाएं करते हुए मर्यादा का उल्लघन नहीं करते।

५. यदि कोई पुरुष किसी साध्वी के शील भंग करने की इच्छा से उसे पकडना चाहता हो और साध्वी अपने आप को बचाने के लिये शरण चाहती हो और उस समय उधर से अकस्मात् साधु आ पहुंचे तो ऐसे अवसर में साधु-साध्वी की रक्षा के निमित्त एक स्थान में रहकर कायोत्सर्ग, स्वाध्याय आदि करते हुए प्रभु-आज्ञा का उल्लंघन नही करते।

उत्सर्ग-मार्ग मे साधु-साध्वी के लिये एक स्थान में रहकर कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, रहना, सोना आदि सभी क्रियाएं करना निषिद्ध है, किन्तु उपर्युक्त पाच कारणो से साधु-साध्वी एक स्थान में रह-कर कायोत्सर्ग करना, स्वाध्याय करना, रहना, निद्रामोचन करना इत्यादि सभी शुभ क्रियाएं करते हुए भगवान की आज्ञा या साधु-मर्यादा का उल्लघन नही करते। आपवादिक स्थिति में अपवादमार्ग

का अवलंबन लेना भी स्थविर कल्पियो का कर्त्तव्य है ।

वृत्तिकार भी इस विषय मे लिखते है "इदमपवादसूत्रम्" । जो सूत्र मे 'ठाणं' पद दिया है उसका आशय है कायोत्सर्ग और बैठना 'कायोत्सर्गम्-उपवेशनं वा' । जो 'सिज्जं' पद दिया है उसका भाव शयन है । जो 'निसीहियं' पद दिया है उसका भाव स्वाध्याय है तथा जो 'चेएमाणे' पद दिया है उसका अर्थ है करते हुए । जो "अगामिय" पद दिया है उस के दो अर्थ निकलते है—'अग्रामिकां' जिस में कोई ग्राम नही है 'अकामिकां'—विना कामना के जिस अटवी मे प्रवेश किया गया हो । 'आमोसगा' पद से चोर जानने चाहिए । आमुष्णन्ति—इति आमोषका.—चौरा. । "चीवरपडियाए' वस्त्र ग्रहण करने की आशा से । पाचवे अश मे "जुवाणा" यह वहुवचन बहुत निर्ग्रन्थियो का सूचक है ।

साधु का साध्वियों के साथ निवास करने के पांच अपवाद

मूल—**पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे अचेलए सचेलियाहिं निग्गंथीहिं सद्धि समवसमाणे नाइक्कमइ, तं जहा—खित्तचित्ते समणे निग्गंथे निग्गंथेहिं अविज्जमाणेहिं अचेलए सचेलियाहिं निग्गंथीहिं सद्धि समवसमाणे णाइक्कमइ । एवमेएणं गमएणं दित्तचित्ते, जक्खाइट्ठे, उम्मायपत्ते, निग्गंथी पव्वावियए, समणे णिग्गंथेहिं अविज्जमाणेहिं अचेलए सचेलियाहिं णिग्गंथीहिं सद्धि संवसमाणे णाइक्कमइ ।३२।**

छाया—**पञ्चभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थोऽचेलकः सचेलिकाभिर्निर्ग्रन्थीभिः सार्द्धं संवसन् नातिक्रामति, तद्यथा—क्षिप्तचित्तः श्रमणो निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थेष्वविद्यमानेष्वचेलकः सचेलकाभिः निर्ग्रन्थीभिः सार्द्धं संवसन् नातिक्रामति । एवमेतेन गमेन दृप्तचित्तः श्रमणो निर्ग्रन्थः यक्षाविष्टः, उन्मादप्राप्तः, निर्ग्रन्थीप्रव्राजितः श्रमणो निर्ग्रन्थेष्वविद्यमानेषु सचेलिकाभिर्निर्ग्रन्थीभिः सार्द्धं समवसन् नातिक्रामति ।**

शब्दार्थ—**पंचहिं णाणेहिं**—पांच कारणो से, **समणे निग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ, **अचेलए**—अचेलक—नग्न; **सचेलियाहिं**—वस्त्र धारण करनेवाली; **निग्गंथीहिं**—निर्ग्रन्थियो के, **सद्धि**—साथ; **समवमाणे**—रहता हुआ; **नाइक्कमइ**—अतिक्रमण नही करता है; **तं जहा**—जैसे; **खित्तचित्ते**—क्षिप्तचित्त—पागल है यदि; **समणे-निग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ; **निग्गंथेहिं**—दूसरे साधुओ के; **अविज्जमाणेहिं**—विद्यमान न रहने पर, **अचेलए**—अचेलक, **सचेलियाहिं निग्गंथीहिं**—सवस्त्रा निर्ग्रन्थियो के; **सद्धि**—साथ; **संवसममाणे**—रहता है, तो; **णाइक्कमइ**—अतिक्रमण नही करता है । **एवं**—इसी प्रकार; **एवमेएणं गमएणं**—इस गमक से; **दित्तचित्ते**—हर्षादि के कारण दृप्तचित्त; **जक्खाइट्ठे**—यक्षाविष्ट, **उम्मायपत्ते**—उन्माद प्राप्त; **निग्गंथीपव्वाविए**

समाणे—साध्वियों के द्वारा प्रव्राजित अर्थात् दीक्षित होता हुआ; **निग्गंथेहिं**—साधुओं के; **अविज्जमाणेहिं**—विद्यमान न रहने पर; **अचेलए**—अचेलक; **सचेलियाहिं णिग्गंथीहिं**—सचेलक साध्वियों के; **सद्धि**—साथ, **संवसमाणे**—रहता हुआ, **णाइक्कमइ**—अतिक्रमण नही करता है।

मूलार्थ—पांच कारणों से अचेलक अर्थात् नग्न श्रमण निर्ग्रन्थ सचेलक अर्थात् सवस्त्रा साध्वियो के साथ रहता हुआ भी जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है, जैसे—श्रमण निर्ग्रन्थ यदि क्षिप्तचित्त (पागल) हो, तो वह दूसरे साधुओं के आसपास विद्यमान न होने पर सवस्त्रा साध्वियों के साथ रहता हुआ जिन-आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है। इसी प्रकार इसी गमक से अगले पाठ भी समझ लेने चाहिये अर्थात् हर्षोन्मत्त, यक्षाविष्ट, उन्माद को प्राप्त, साध्वो के द्वारा दीक्षित, अचेलक श्रमण यदि आस-पास दूसरे साधु विद्यमान न हो, तो सवस्त्रा साध्वियों के साथ रहता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में साधु-साध्वियो के एकत्र अवस्थान की आपवादिक स्थिति का वर्णन किया गया है उसी परम्परा में पुनः प्रस्तुत सूत्र में साधु-साध्वियों की एकत्र स्थिति के आपवादिक नियमों का शास्त्र-कार उल्लेख कर रहे हैं।

किसी विशेष कारण के उपस्थित होने पर ही अपवाद-मार्ग मे प्रवृत्ति हुआ करती है। जैसे ग्रीष्म-काल में कम्वल ओढने की स्वभावतः आवश्यकता नही होती, यही उत्सर्ग-मार्ग है, किन्तु ओले बरसने पर जैसे ग्रीष्म-काल मे भी कम्वल ओढना पड़ता है, वैसे ही कभी-कभी संयमी के समक्ष आप-वादिक परिस्थितियां भी आ जाया करती है। उस समय यदि अपवाद का अवलम्वन न किया जाए तो जीवन-यात्रा भी असम्भव हो जाती है, परन्तु कर्तव्य-विमुखता को अपवाद मान कर चलते रहने पर जीवन और समाज में शिथिलता आ जाती है, अतः साधक के सामने चारित्र-शुद्धि और व्यवहार-शुद्धि का लक्ष्य सदैव बना रहना चाहिए। उसके लिये दोनों का ही पालन करना आवश्यक होता है। दोनों के समन्वय में किसी को कोई विरोध नहीं है, किन्तु कभी-कभी चारित्र-शुद्धि को प्रमुखता देते हुए व्यवहार-शुद्धि को गौण कर दिया जाता है, उसी स्थिति को अपवाद कहा गया है। ऐसी आपवादिक स्थिति में पांच कारणो से श्रमण निर्ग्रन्थ साध्वियो के साथ रहता हुआ भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है। जैसे कि :—

१. **क्षिप्तचित्त**—गुरु शिष्य चले जा रहे है, उनमें से किसी स्थान पर गुरु का शरीर शान्त हो जाता है और शिष्य-दीक्षा पर्याय में बहुत छोटा है और उसकी आयु भी कम है। उसी समय अकस्मात्

उधर से साध्वी वृन्द वही आ पहुचा, उन्होने उस निर्ग्रन्थ को समझाया और शोक-मुक्त किया ऐसी दशा मे जहां तक अन्य कोई श्रमण निर्ग्रन्थ न मिले वहां तक वह साधु साध्वियो के साथ रहता हुआ शास्त्र-आज्ञा का उल्लघन नही करता। तब तक उसका अकेला रहना उचित नही। जब तक कि वह स्ववशो न बन जाए तब तक उसके शोक और किंकर्त्तव्यविमूढता को दूर करने के किये तथा सयमी जीवन को स्थिर रखने के लिये उसका साध्वियो के साथ रहना भी समुचित है।

२ दृप्तचित्त—जो साधु अतिहर्ष से पागल-सा हो रहा है या गर्वित हो रहा है, संभव है गुरु के देवलोक मे गमन कर जाने पर वह देव रूप में स्वर्ग से दर्शन देने आया हो और शिष्य को या साथी साधु को "तेरा भावी जीवन प्रत्येक दृष्टि से समुज्ज्वल और समुन्नत होगा" ऐसा कहकर अन्तर्धान हो गया हो और उससे वह दृप्तचित्त वाला हो रहा हो, वह यदि जहा तक अन्य साथी साधु न मिले वहा तक साध्वियो के साथ रहे या साध्वियां उसे साथ रखें तो वे भगवान की आज्ञा का उल्लघन नही करते, क्योकि वह दीक्षा और वय में अभी कच्चा है। उसे अकेला न रहने देना ही उचित है।

३. यक्षाविष्ट—यदि कोई साधु गुरु-आज्ञा से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए देवाधिष्ठित हो जाए और दूसरी ओर वही पर अकस्मात् साध्वीवृन्द आ पहुचे तो उसकी सार-सभाल करने के लिये तथा उसके सयम की रक्षा के लिये साध्वी-वृन्द उसे साथ रखे या "वह कह दे कि मुझे अमुक साधु के पास छोड़ दीजिए।" तो उसे साथ रखते हुए या वह किसी निश्चित समय के लिये उनके साथ रहे तो वह भगवान की आज्ञा का उल्लंघन नही माना जाता। सयम की रक्षा करना, सयम मे स्थिर करना भी सर्वविरति का परम कर्तव्य है।

४. उन्मादप्राप्त—यदि कोई साधु शोक से या वायु के प्रकोप से पागल जैसा हो रहा हो, उधर से अकस्मात् साध्वी वृन्द वहां आ पहुंचे और वह उनसे कहता है कि मुझे "अमुक साधु के पास जाना है" तो साध्वी वृद उसकी और उसके सयम की रक्षा का ध्यान रखते हुए साथ ले जाए तब वह उनके साथ रहता हुआ भी आज्ञा का उल्लघन नही करता।

५. निर्ग्रन्थो-प्रव्रजित—किसी वैरागन माता ने या बड़ी बहन ने स्वयं दीक्षा लेते हुए ऐसे पुत्र या छोटे भाई को भी साथ ही दीक्षित किया है, जो वय से और दीक्षा से लघु है उसे तब तक साध्वी वृन्द साथ रख सकता है जब तक कि दूसरे श्रमण निर्ग्रन्थ न मिल जाएं। ऐसा करते हुए तथा साधु उनके साथ रहते हुए मर्यादा कर भग नही करता। नवदीक्षित की सार-संभाल करना उतना ही जरूरी है जितना कि शिशु का पालन आवश्यक होता है।

क्षिप्तचित्त, दृप्तचित्त, यक्षाविष्ट तथा उन्मादप्राप्त ये चार सूत्र तो अनुकंपा और परोपकार के सूचक है, क्योकि वैयावृत्य अर्थात् सेवा अनुकंपा के आधार से ही हो सकती है। पांचवा सूत्र दीक्षा विषयक है, वह ऐहलौकिक और पारलौकिक हित के लिये कथन किया गया है। चौथे भंग मे 'उन्माद' शब्द से कामवासना से अधिकृत नही, अपितु वातादि के क्षोभ से जानना चाहिए।

यद्यपि प्रस्तुत सूत्र मे साधु का विशेषण 'अचेलक' दिया हुआ है, परन्तु उसका अभिप्राय स्वल्प वस्त्र साधु ही है, सर्वथा नग्नता व्यवहारानुकूल नही है। उन्माद की अवस्था में यदि शरीर स्मृति से रहित साधु निर्वस्त्र भी हो तो भी वह साध्वियो के साथ रह सकता है। साध्वी नियमित रूप से वस्त्र धारण करती है, अतः उसे सचेलिका कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में साधु के साथ एक वचन और साध्वियों के साथ बहुवचन का प्रयोग किया गया है, जिससे यह ध्वनित होता है कि एक साधु उपर्युक्त दशाओ में अनेक साध्वियों के साथ रह सकता है, अकेली साध्वी के साथ नही।

पञ्चविध आस्रव-द्वार, सवर-द्वार और दण्ड

मूल—पंच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा—मिच्छत्तं, अविरई, पमाए, कसाया, जोगा।

पंच संवरदारा पण्णत्ता, तं जहा—सम्मत्तं, विरई, अपमाओ, अकसाइत्त-मजोगित्तं।

पंच दंडा पण्णत्ता, तं जहा—अट्ठादंडे, अणट्ठादंडे, हिंसादंडे, अकम्हा दंडे, दिट्ठीविप्परियासियादंडे।३३।

छाया—पंच आस्रवद्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मिथ्यात्वम, अविरतिः, प्रमादः, कषायाः, योगाः।

पंच संवरद्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—सम्यक्त्व, विरतिः, अप्रमादः, अकषायित्वम्, अयोगित्वम्।

पञ्च दण्डाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—अर्थदण्ड, अनर्थदण्डः, हिंसादण्डः, अकस्माद्दण्डः, दृष्टिविपर्यासित-दण्डः।

शब्दार्थ—**पंच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा**—पांच आस्रव के द्वार—मार्ग कथन किये गए है, जैसे, **मिच्छत्तं**—मिथ्यात्व; **अविरई**—अविरति; **पमाए**—प्रमाद; **कसाया**—कषाय और; **जोगा**—योग।

पंच संवरदारा पण्णत्ता, तं जहा—पाच सवर के द्वार कथन किये गए है, जैसे; **सम्मत्तं**—सम्यक्त्व; **विरई**—विरति; **अपमाओ**—अप्रमाद, **अकसाइत्तं**—अकषायित्व, **अजोगित्तं**—अयोगित्व।

पच दंडा पण्णत्ता, तं जहा—पाच दण्ड कथन किये गए है, जैसे, **अट्ठादंडे**—अर्थ-दण्ड; **अणट्ठादंडे**—अनर्थ-दण्ड; **हिंसादंडे**—हिंसा-दण्ड, **अकम्हादंडे**—अकस्मात् दण्ड, **दिट्ठीविपरियासिया दंडे**—मित्र को शत्रु समझते हुए मारना दृष्टि विपर्यास दण्ड है।

मूलार्थ—पांच आस्रव-द्वार वर्णित किये गए है, जैसे—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग।

पांच संवर-द्वार कथन किये गए है, जैसे—सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषायित्व और अयोगित्व ।

पांच दण्ड वर्णन किये गए है, जैसे—अर्थदण्ड—किसी प्रयोजन को लेकर प्राणी की हिंसा करना, अनर्थ-दण्ड—बिना प्रयोजन व्यर्थ ही किसी प्राणी की हिंसा करना, सर्पादि से भयभीत होकर उनको मारना हिंसा-दण्ड है, अन्य को मारने के लिये वाण आदि छोड़ना, किन्तु वह जिसके लिये छोड़ा गया है उसे न लग कर अकस्मात् ही किसी दूसरे को लग जाय तो वह अकस्मात् दण्ड है । शत्रु के भ्रम से मित्र की हो मार देना दृष्टि-विपर्यास दण्ड है ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्रो में आपवादिक परिस्थितियो का वर्णन किया गया है । यदि कोई साधक आपवादिक मार्ग की स्थिति न होने पर भी उसे आपवादिक स्थिति मान कर जिनाज्ञा का उल्लंघन करता है तो वह आस्रव-द्वारों का उद्घाटन करता है, भूल मालूम होने पर आस्रव-द्वारो को अवरुद्ध करने का प्रयास भी करता है और जीव-हिंसा हेतु दण्ड ग्रहण करने के लिये भो मनुष्य प्रस्तुत हो जाता है, अतः अब शास्त्रकार इसी विषय का वर्णन करते है ।

आस्रव और उसके भेद—

आस्रव दो प्रकार का होता है—द्रव्य-आस्रव और भावास्रव । जीव का कार्मण पुद्गलो के सन्निकट हो जाना द्रव्यास्रव है । प्रमादपूर्ण योगो से अथवा रागद्वेप आदि भावो के प्रवाह का नाम भावास्रव है । इन दोनो मे जन्य-जनक भाव सबंध है । आस्रव-द्वार पाच प्रकार के होते हैं जैसे कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये कर्मो के प्रवेश-द्वार है । इन से हो कर्मों का वध होता है । तत्त्व मे अतत्त्व बुद्धि और अतत्त्व में तत्त्व-बुद्धि तथा शास्त्र-मर्यादा के विरुद्ध आचरण को मिथ्यात्व कहा जाता है, पापो से निवृत्ति न पाना और भोगासक्ति को प्रधानता देना अविरति है, धर्म से विमुख होकर जीवन व्यतीत करना और स्वकर्त्तव्य-विमुख रहना प्रमाद है, क्रोध, मान, माया और लोभ पर नियंत्रण न करना कषाय है और मन वचन तथा काय को वश मे न करना एवं इन्द्रियों का निग्रह न करना योगास्रव है ।

संवर और उसके भेद—

आस्रव के द्वारो को रोकना सवर है, जैसे द्वार खुले रहने से मकान मे धूल आदि आने लग जाते है और द्वार वंद हो जाने से वायु और मिट्टी आदि सवका निरोध हो जाता है, इसी प्रकार कर्मों के सभी प्रवेश द्वारो को रोकना संवर है । मिथ्यात्व द्वार के रोकने से आत्मा मे सम्यक्त्व गुण उत्पन्न होता है । जव तक जीव सम्यक्त्व गुण में अवस्थित रहता है, तव तक मिथ्यात्व का आस्रव सर्वथा वद ही रहता है । तत्त्वज्ञान में श्रद्धा रख कर आत्मानुभूति करना ही सम्यक्त्व कहलाता है । हिंसा, झूठ,चोरी,

मैथुन और परिग्रह इनसे सर्वथा निवृत्ति पाना ही विरति-संवर है। विरति अवस्था में ऊपर कहे हुए पापों का सेवन नहीं होता, इसलिये अविरति से होनेवाला आस्रव तब तक बंद रहता है, जब तक कि विरति के परिणाम बने रहते हैं। प्रमाद का अभाव ही अप्रमाद कहलाता है। धर्म से सम्बन्ध तोड़ लेना ही प्रमाद है और धर्म से किसी भी क्षण में सम्बन्ध विच्छेद न करना ही अप्रमाद-संवर है। अप्रमाद अवस्था मे प्रमाद-आस्रव के लिये कोई भी स्थान नही है। कषायभाव का अभाव ही अकषाय-संवर है। योगो का सर्वथा निरोध करना ही अयोग-संवर है। सम्यक्त्व सवर का फल है—उत्कृष्ट देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन मात्र ससार शेष रह जाना। विरति सवर का फल है—उत्कृष्ट १५ जन्म शेष रह जाना। अप्रमाद-संवर और अकषाय-सवर का फल है उत्कृष्ट उसी भव मे केवल-ज्ञान का हो जाना। अयोग सवर का फल है—उसी समय मोक्ष हो जाना। इस प्रकार पाच सवरो का फल आगमो में स्पष्ट रूप से वर्णित है।

दंड और उसके भेद—

जिससे प्राणी दंड का भागी बने उसे दंड कहते है। दण्ड भी पाच प्रकार के होते हैं, जैसे कि त्रस और स्थावर जीवों को अपने लिये या दूसरो के लिये दंडित करना अर्थ-दण्ड कहलाता है। जिससे न अपना स्वार्थ सिद्ध हो और न दूसरे का ही उपकार हो इस प्रकार की हिंसा को 'अनर्थ-दण्ड' कहते है। शत्रुता सिद्ध होने से या शत्रुता की संभावना से किसी को मारना 'हिंसा-दण्ड' है। मारने का उद्देश्य तो किसी अन्य का था, मारा गया कोई अन्य ही, अथवा बिना ही संकल्प के किसी की हत्या हो जाना 'अकस्मात् दण्ड' है। भ्रान्ति या गलतफहमी से किसी की हत्या कर देना या किसी को हानि पहुंचा देना 'दृष्टिविपर्यास दण्ड' है। सभी प्रकार के दण्ड से मुक्त होना ही पूर्ण अहिंसा है।

विविध दृष्टियों से क्रिया का विश्लेषण

मूल—पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आरंभिया, परिग्गहिया, माया-वत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया, मिच्छादंसणवत्तिया।

मिच्छदिट्ठियाण नेरइयाणं पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—जाव मिच्छा-दंसणवत्तिया। एवं सव्वेसिं निरंतरं जाव मिच्छद्दिट्ठियाणं वेमाणियाणं, नवरं विगलिंदिया मिच्छद्दिट्ठी णं भण्णंति, सेसं तहेव।

पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—काइया, अहिगरिणिया, पाओसिया, पारियावणिया, पाणाइवायकिरिया। णेरइयाणं पंच एवं चेव निरंतरं जाव वेमाणियाणं।

पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—दिट्ठिया, पुट्ठिया, पाडोच्चिया, सामंतोवणिवाइया, साहत्थिया। एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णेसत्थिया, आणवणिया, वेयारणिया अणाभोगवत्तिया, अणवकंखवत्तिया । एवं जाव वेमाणियाणं ।

पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पेज्जवत्तिया, दोसवत्तिया, पओग-किरिया, समुदाणकिरिया, ईरियावहिया । एवं मणुस्साणं वि, सेसाणं नत्थि ।३४।

छाया—पञ्च क्रियाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्ययिकी, अप्रत्याख्यानक्रिया, मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी ।

मिथ्यादृष्टीनां नैरयिकाणां पञ्च क्रियाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—यावत् मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी । एवं सर्वेषां निरन्तरं यावत् मिथ्यादृष्टिकानां वैमानिकानां, नवरं विकलेन्द्रियाः मिथ्यादृष्टयो न भण्यन्ते, शेषं तथैव ।

पञ्च क्रियाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी, प्राणातिपातक्रिया । नैरयिकाणां पञ्च पञ्च एवं चैव निरन्तरं यावत् वैमानिकानाम् ।

पञ्च क्रियाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—दृष्टिका, स्पृष्टिका, प्रातीतिका, सामन्तोपनिपातिका, स्वहस्तिका । एवं नैरयिकाणां यावत् वैमानिकानाम् ।

पञ्च क्रियाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैसृष्टिकी, आज्ञपनिका, वैदारणिका, अनाप्रत्ययिकी, अनवकांक्षाप्रत्ययिकी । एवं यावत् वैमानिकानाम् ।

पञ्च क्रिया प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रेमप्रत्ययिकी, द्वेषप्रत्ययिकी, प्रयोगक्रिया, समुदानक्रिया, ऐर्यापथिकी । एव मनुष्याणामपि, शेषाणां नास्ति ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच क्रियाये कथित की गई है, जैसे—आरम्भिकी, आरम्भ अर्थात् हिंसा से होनेवाली क्रिया । पारिग्रहिकी, परिग्रह से होनेवाली क्रिया । मायाप्रत्ययिकी, माया से सम्बन्ध रखनेवाली क्रिया । अप्रत्याख्यान-क्रिया, प्रत्याख्यान न करने से होनेवाली क्रिया । मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी, मिथ्यादर्शन से होने वाली क्रिया ।

मिथ्यादृष्टि नारको की पांच ही क्रियाये होती है, जैसे—आरम्भिकी यावत् मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी । इसी प्रकार सभी दण्डकों के सम्बन्ध में जानना चाहिए, निरन्तर मिथ्यादृष्टि वैमानिक देवों तक की भी पांच क्रियाये होती है । इतना विशेष है कि विकलेन्द्रिय दण्डकों मे मिथ्यादृष्टि पद नहीं, शेष सभी क्रियाएं उन्ही दण्डकों के समान है ।

पांच क्रियाये कथन की गई है, जैसे—कायिकी, काया से होनेवाली। आधि-करणिकी—शस्त्रों से होनेवाली। प्राद्वेपिकी—द्वेष एवं मत्सर से होनेवाली। पारितापनिकी—दूसरों को पोड़ा पहुँचाने से होनेवाली। प्राणातिपातक्रिया—किसी प्राणी के प्राणो का घात (नाश) कर देने से होनेवाली क्रिया। नारकों की ये पाच क्रियाये होती है। निरन्तर वैमानिक दण्डक तक इसी प्रकार क्रियाएं जाननी चाहिए।

पांच क्रियाये कथन की गई है, जैसे दृष्टिका—दृष्टि के विकार से होने वाली। स्पृष्टिका—स्पर्शन के विकार से होनेवालो क्रिया। प्रातीतिकी—बाहर के निमित्त-विशेष से होनेवाली। सामन्तोपनिपातिकी-मेले आदि में सामूहिक रूप से होनेवाली क्रिया। स्वहस्तिका—अपने हाथ से होनेवाली। इसी प्रकार नारक जीवों की पाच क्रियाये जाननी चाहिये, यावत् वैमानिक देवो के दण्डक तक यही क्रिया-व्यवस्था है।

पांच क्रियायें कथन की गई है, जैसे—नैसृष्टिकी—पत्थर आदि फैंकने से होने वाली। आज्ञापनिका—आज्ञा प्रदान करने पर होनेवाली। वैदारणिका—विदारण अर्थात् छेदन-भेदन करने से होनेवाली। अनाभोगप्रत्ययिकी—अज्ञानता से अनजानपने में होनेवाली। अनवकाक्षाप्रत्ययिकी, अर्थात् स्व-पर जीवन की अपेक्षा किये बिना दुःसाहस से होनेवाली क्रिया। इसी प्रकार यावत् वैमानिको तक क्रिया-व्यवस्था जाननी चाहिए।

पांच क्रियाये कथन की गई है, जैसे—प्रेमप्रत्ययिकी-रागभाव से होनेवाली। द्वेषप्रत्ययिकी—द्वेष भाव से होने वाली। प्रयोगक्रिया—मन आदि की दुश्चे-ष्टाओं से होनेवाली। समुदानक्रिया—सामूहिक रूप से होनेवाली क्रिया। ईर्यापथिकी—गमनागमन से सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाविशेष। इसी भाति मनुष्यों को भी, अन्य जीवो को नही।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में आस्रव, सवर और दण्ड की पच-विधता का वर्णन किया गया है। आस्रव का मूल कारण नानाविध वे क्रियाए है जो मनुष्य ही नहीं चौबीस दण्डको मे रहे हुए जीवो द्वारा भी हुआ करती हैं, अत अब सूत्रकार क्रिया के नाना रूपो का वर्णन कर रहे है।

यद्यपि क्रिया का सामान्य अर्थ है 'करना', परन्तु प्रस्तुत प्रकरण मे क्रिया शब्द दोष-विधायक कर्मों की द्योतक है। ये क्रियाएं चौबीसो दण्डको में रहनेवाले जीवो के द्वारा होती रहती है। जीव-भेद से क्रिया-भेद भी हो जाना अनिवार्य है, अत. इस विषय का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करके उसके पच्चीस प्रकारो का वर्णन किया गया है।

जिस-जिस क्रिया का जिस-जिस दण्डक मे अवतरण संभव हो सकता है, उसमे उसका समवतार प्रदर्शित किया गया है।

१. प्रथम प्रकार की पांच क्रियाएं—

१. **आरंभिया**—इन्द्रियों की पोषणा के लिये, शरीर को सुख पहुंचाने के लिये, आजीविका के लिये, अपनी मान-मर्यादा के लिये होनेवाली हिसा तथा असावधानी से होनेवाली जीव-हिंसा को 'आरम्भिया क्रिया' कहते है।

२. **परिग्गहिया**—जिस-जिस वस्तु पर जीव का ममत्व भाव है उससे लगनेवाली क्रिया परिग्गहिया कहलाती है। ममत्व जीव पर भी होता है और अजीव पर भी, कनक पर भी और कामिनी पर भी, क्षेत्र पर भी और वस्तु पर भी, मनुष्य पर भी और पशु पर भी, धन पर भी और धान्य पर भी। जिस पर भी ममत्व है वही परिग्रह है। परिग्रह-प्रेरित सभी क्रियाए 'परिग्गहिया' है।

३ **मायावत्तिया**—कपट भाव से की जानेवाली क्रिया। जैसे अशुभ भावो को छिपाकर शुभ भाव प्रकट करना, दोषो को छिपाकर अपने आपको निर्दोष दर्शाना, दूसरे को धोखा देना इत्यादि क्रियाए 'मायावत्तिया' कहलाती हैं।

४ **अपच्चक्खाणी**—वह क्रिया जिससे जीव न तो मूलगुण पच्चक्खाणी बन सके और न उत्तर-गुण पच्चक्खाणी, किसी भी पाप का त्याग न कर सके उसे 'अपच्चक्खाणी' क्रिया कहा जाता है।

५. **मिच्छादंसणवत्तिया**—सम्यक् तत्त्वों पर श्रद्धा न करने से और अतत्त्वो मे श्रद्धा करने से सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर श्रद्धा न करने से तथा कुदेव, कुगुरु और कुधर्म पर श्रद्धा करने से दोनो रूप मे 'मिथ्यादर्शनी' क्रिया जन्म लेती है।

इन मे से मिथ्यादृष्टि को नियमेन पांच ही क्रियाएं लगती है। अविरति-सम्यग्दृष्टि को अन्तिम चार क्रियाए लगती है, मिथ्यात्व क्रिया टल जाती है। आदि की दो क्रियाओ को छोड़कर शेष तीन क्रियाए श्रावक को लगती हैं। आदि की तीन क्रियाओ को छोडकर शेप दो क्रियाए अयत्नशील साधु को लगती है। अन्तिम क्रिया अप्रमत्त संयत को लगती है। एकान्त मिथ्यादृष्टि जीव जिस दडक मे भी हैं, सब को नियमेन पाचो क्रियाएं लगती हैं। जिन जीवों में चार क्रियाए पाई जाती है उनका यहा वर्णन नही किया गया है, इसलिये विकलेन्द्रियों के दण्डक वर्जित किए गए है, क्योंकि अपर्याप्तकाल मे किसी-किसी जीव मे सास्वादन सम्यक्त्व पाया भी जाता है।

२. द्वितीय प्रकार की पांच क्रियाएं —

१. **काइया**—काया से होने वाली क्रिया को 'काइया' क्रिया कहते हैं।

२. **अहिगरिणिया**—अधिकरण का अर्थ है—शस्त्र-अस्त्र। उनका निर्माण करने से या उनके प्रयोग से जो क्रिया लगती है उसे 'अहिगरिणिया' कहते हैं।

३. पाओसिया—द्वेष एव मात्सर्य से होनेवाली क्रिया 'पाओसिया' कहलाती है।

४. परियावणिया—दूसरे को परितापना अर्थात् पीड़ा पहुंचाने से होनेवाली क्रिया।

५. पाइवायकिरिया—दूसरो के हनन से होनेवाली क्रिया।

ये पाच प्रकार की क्रियाये नारकी से लेकर वैमानिक देव पर्यन्त चौबीस दण्डको के प्राणियो द्वारा होती है। अप्रमत्त सयत महासाधक को एवं केवलो महापुरुषो को ऊपर कही हुई पांच क्रियाओं में से एक भी नही लगती, वे इन से मुक्त रहते है, शेष सभी जीवों को उक्त क्रियाएं लगती हैं, उनसे कर्मों का बंध होता है।

३. तीसरे प्रकार की पांच क्रियाएं—

१. दिट्ठिया—रागद्वेष-पूर्वक किसी जीव या अजीव को देखने से होनेवाली क्रिया।

२. पुट्ठिया—किसी जीव या अजीव को राग-द्वेष-पूर्वक छूने या स्पर्श करने से होनेवाली क्रिया।

३. पाडोच्चिया—जीव एव अजीव के निमित्त से उत्पन्न रागद्वेषादि के कारण होनेवाली क्रिया।

४. सामंतोवणिवाइया—भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर इकट्ठे हुए लोगो के द्वारा घोड़े आदि किसी प्राणी की और रथ आदि किसी जड़ पदार्थ की प्रशसा सुनकर उनके स्वामी जिस क्रिया-बन्धन में बंधते हैं उसे 'सामन्तोपनिपातिका' क्रिया कहा जाता है।

५ साहत्थिया—किसी जीव को अपने हाथो से मारने से एव प्रताड़ित करने से होनेवाली क्रिया 'स्वहस्तिका' कहलाती है।

ये पाच क्रियाए भी अप्रमत्त संयत महासाधकों और केवली महापुरुषों को छोड़कर शेष सभी दण्डकों मे रहनेवाले प्राणियो के द्वारा होती है और उन्हें कर्म-जाल मे बांधती है।

४. चौथे प्रकार की पांच क्रियाएं—

१, नेसत्थिया—किसी वस्तु को असावधानी पूर्वक फेंकने से जो पाप-क्रिया जन्म लेती है, वह क्रिया 'नैसृष्टिकी' कहलाती है।

२. आणवणिया—किसी वस्तु को भेजने या मगवाने के लिये किसी असयत वृत्तिवाले व्यक्ति को आज्ञा देने से या पाप कराने को अनुमति देने से जो पापक्रिया जन्म लेती है वह 'आज्ञापनिका' कहलाती है।

३. वेयारणिया—किसी जीव को जाने या अनजाने में चीरने से जो पाप-क्रिया जन्म लेती है उसे 'वैदारणिका' क्रिया कहा जाता है।

४. अणाभोगवत्तिया—जीवनोपयोगी वस्तुओ को असावधानी से उठाने-धरने पर जीव-हत्या-जन्य जो पाप-क्रिया जन्म लेती है वह 'अनाभोग-प्रत्ययिकी' क्रिया कहलाती है।

५. अणवकखवत्तिया—अपने प्राणो की परवाह न करके दूसरो की हत्या या हानि पहुंचाने के लिये की जानेवाली पापात्मिका क्रिया 'अनवकाक्ष-प्रत्ययिकी' कहलाती है। ये क्रियाए भी अप्रमत्त-

संयत महासाधक और केवली महापुरुषों के अतिरिक्त शेष सभी दण्डको मे रहनेवाले प्राणियो के द्वारा हो जाया करती है।

५. पांचवें प्रकार की पांच क्रियाएं—

१ पेज्जवत्तिया—दूषित प्रेम एवं माया और लोभ से उत्पन्न होनेवाली क्रिया 'प्रेम-प्रत्ययिकी' कहलाती है।

२. दोसवत्तिया— ईर्ष्या, क्रोध और मान के कारण उत्पन्न वन्ध के लिये कारण-भूत क्रिया 'दोषप्रत्ययिकी' मानी जाती है।

३. पयोगकिरिया—शास्त्र-विरुद्ध एव धर्मविरुद्ध कार्य मे मन, वचन और काय की प्रवृत्ति से जन्म लेनेवाली क्रिया 'प्रयोग-प्रत्ययिकी' कहलाती है।

४. समुदाणकिरिया—अनेक मनुष्यो के जोवन मे एक साथ एक समान पाप-प्रवृत्ति के कारण जो पाप-क्रिया उत्पन्न होती है, जैसे—किसी खेल, तमाशे, नाटक, चित्रपट आदि को देखते हुए दर्शको मे जो पाप-प्रवृत्ति जागृत होती है, वह 'समुदान' क्रिया कहलानी है। ऐसी क्रिया का फल प्राय. ऐसे प्राणी समानकाल में ही भोगा करते हैं।

५ ईर्यावहिया— केवल शारीरिक प्रवृत्तियो से होनेवाली क्रिया जो अप्रमत्त सयतो को भी ११वे, १२वे और १३वे गुणस्थान मे भी लग जाया करती है, उसे 'ऐर्यापथिकी क्रिया' कहा जाता हे।

इन पाच क्रियाओ मे से पहली चार क्रियाए चौवीस दण्डको के सभी प्राणियो द्वारा होती है, किन्तु मनुष्य के द्वारा ये पांचो क्रियाएं होती है।

ये पच्चीस क्रियाए आस्रवरूपा हैं, अतः ये आत्मा को कर्म-बन्धनो मे बांध कर उसकी मोक्ष-प्रवृत्ति में वाधाए उपस्थित करती हैं, अतः साधक को चाहिए कि वह इन अशुभ क्रिया-प्रवृत्तियो से वचने का प्रयास करे।

एकेन्द्रिय आदि जीवो मे जो क्रियाए कथन की गई है, वे केवल उनके संकल्प और पूर्वजन्मो की अपेक्षा से ही जाननी चाहिए। वृत्तिकार का भी इस विषय में यही अभिमत है "इहैकेन्द्रियादीनामविशेषेण क्रियोक्ता, सा च पूर्वभवापेक्षया सर्वापि सम्भवतीलि भावनीयम्"। क्रियाओ का विस्तृत वर्णन द्वितीय स्थान मे किया जा चुका है, किन्तु पाच क्रियाए किस-किस दडक मे कितनी-कितनी पाई जाती है ? इस विषय की स्पष्टता के लिए पुनः उनका यहां उल्लेख हुआ है।

सूयगडाग सूत्र के दूसरे स्कन्ध के दूसरे अध्ययन में प्रकारान्तर से तेरह क्रिया-स्थान प्रतिपादित किए गए है, जिनमें पाच तो पहले सूत्र के अनर्गत दंडरूप में वर्णित हैं, उनके अतिरिक्त आठ क्रिया-स्थानो का वर्णन पाठको की जानकारी के लिये संक्षेप में प्रस्तुत करना भी आवश्यक है—

१. मोसवत्तिए—अपने स्वार्थ के लिये, परिवार के लिये, एवं स्वजन संवधियो के लिये झूठ वोलना, दूसरो से झूठ बोलवाना, झूठ वोलने वाले का समर्थन करना, झूठ का उपदेश करना यह प्रथम क्रियास्थान है।

२. अदिण्णादाणवत्तिए—अपने लिये चोरी करना, दूसरे के लिये या जाति-बन्धुओं के लिये चोरी करना, दूसरे से चोरी कराना, चोर का समर्थन करना, चोर को सहायता देना, चोरी का माल

लेना, बिना आज्ञा से किसी वस्तु को उठाना रूप द्वितीय क्रिया-स्थान है।

३ **अज्झत्थवत्तिए**—आर्त्तध्यान में मग्न रहना, बिना ही कारण और बिना ही किसी के कहे किसी की बुराई सोचना, शकाशील रहना, शोक-मग्न रहना यह तृतीय क्रिया-स्थान है।

४. **माणवत्तिए**—आठ मद-स्थानो का सेवन करना, जाति आदि का अभिमान करना, प्रत्येक दृष्टि से अपने को उच्च और दूसरे को नीच समझना यह चतुर्थ क्रिया स्थान है।

५. **मित्तदोसवत्तिए**—माता, पिता, पुत्र-भ्राता, स्वजन आदि को स्वल्प सा अपराध होने पर भी भयंकर 'यातना' देना, उन्हे दण्डित करना, उन्हे शत्रु रूप से देखना, उनसे वैर-विरोध बढाना, यह पाप-क्रिया का पांचवां स्थान है।

६. **मायावत्तिए**—दूसरों को माया-जाल में फंसाना, छल-कपट का व्यवहार करना, दूसरे को छल-कपट द्वारा पथ-भ्रष्ट करना, पाप-क्रिया का छटा स्थान है।

६. **लोभवत्तिए**—लोभ के वशीभूत होकर संतोष की मर्यादा का उल्लंघन करना, पापाचरण करना, पाप-क्रिया का सातवां स्थान है।

८. **इरियावहिए**—केवल योग से होने वाली क्रिया ईर्यापथिकी क्रिया कहलाती है, उससे साता वेदनीय कर्म का ही बन्ध होता है, वह भी एक सामयिक ही। अन्य कर्मों का बंध नही होता। यह क्रिया उपशान्त-मोह, क्षीण-मोह और सयोगी केवली इन तीन गुण-स्थानो में पाई जाती है। १३ गुणस्थान सक्रिय है और १४ वा गुण स्थान अक्रिय है। इन आठ क्रियाओं का विस्तृत वर्णन सुयगडाग-सूत्र में ही प्राप्त होता है।

पञ्च परिज्ञाएं

मूल—पंचविहा परिन्ना पण्णत्ता, तं जहा—उवहिपरिन्ना, उवस्सयपरिन्ना, कसाय-परिन्ना, जोगपरिन्ना, भत्तपाणपरिन्ना।३५।

छाया—**पञ्चविधा परिज्ञा प्रज्ञप्ता तद्यथा—उपधिपरिज्ञा, उपाश्रयपरिज्ञा, कषायपरिज्ञा, योगपरिज्ञा, भक्तपानपरिज्ञा।**

शब्दार्थ—**पंचविहा**—पांच प्रकार की; **परिन्ना पण्णत्ता, तं जहा**—परिज्ञा कथन की गई है, जैसे कि, **उवहिपरिन्ना**—भाण्डोपकरण रूप उपधि की परिज्ञा; **उवस्सयपरिन्ना**—उपाश्रय की परिज्ञा, **कसायपरिन्ना**—कषाय की परिज्ञा; **जोगपरिन्ना**—योग परिज्ञा, **भत्तपाणपरिन्ना**—भक्त-पान की परिज्ञा।

मूलार्थ—पांच प्रकार की परिज्ञा (वस्तु स्वरूप का ज्ञान और ज्ञान पूर्वक उसका प्रत्याख्यान) कथन की गई है, जैसे—उपधि-परिज्ञा, उपाश्रय-परिज्ञा, कषाय-परिज्ञा, योग-परिज्ञा, भक्त-पान-परिज्ञा।

विवेचनिका—

कर्मों के वंध का कारण अशुभ-क्रिया है। कर्मों से छुटकारा कैसे हो सकता है ? प्रस्तुत सूत्र में निर्जरा की साधनभूत परिज्ञाओं का वर्णन किया गया है। परिज्ञा का अर्थ होता है—वस्तु के स्वरूप को पहले ज्ञान के द्वारा जानना और फिर उसे प्रत्याख्यान के द्वारा छोड़ना। यह परिज्ञा दो तरह की होती है, द्रव्य से और भाव से। सांसारिक पदार्थों को चिन्तन-मनन पूर्वक एव पूर्वकृत प्रत्याख्यान का ध्यान न रख कर परित्याग करना द्रव्यपरिज्ञा है, मर्यादा एवं पूर्वकृत प्रत्याख्यान के चिन्तन-मनन सहित परित्याग करना भाव-परिज्ञा है। 'भावपरिन्नजाणेण पच्चक्खाणं च भावेण'' अर्थात् भाव से पदार्थ को जानना और भाव से ही उसका परित्याग करना भाव-परिज्ञा है। अन्तर्मुखी आत्मा की दो दशाए होती हैं—साधकदशा और सिद्धदशा। साधक दशा में पांच परिज्ञाओ का विवरण निम्नलिखित है जैसे कि—

१, **उपधिपरिज्ञा**—संयम के लिये उपयोगी वाह्य सामग्री को उपधि कहते हैं। मुखपत्ती, रजोहरण वस्त्र-पात्र आदि सवको उपधि कहा जाता है। अशुभ, सदोष उपधि का त्याग करना शुभ एवं निर्दोष उपधि का संयममय जीवन के निर्वाह के लिये ग्रहण करना, वह भी मर्यादित ही, उसे "उपधि-परिज्ञा" कहा जाता है।

२ **उपाश्रयपरिज्ञा**—अकल्पनीय, सदोष उपाश्रय का परित्याग करना और सयम एवं ब्रह्मचर्य के लिये उपयुक्त उपाश्रय का ग्रहण करना "उपाश्रय-परिज्ञा" है। उपाश्रय शब्द की व्युत्पत्ति भी यही कहती है—"**उपाश्रीयते सेव्यते संयम-आत्मपालनतया इत्युपाश्रयः**" अर्थात् जिस मकान का सेवन आत्म-रक्षा और सयम-रक्षा के लिये किया जाता है, वह उपाश्रय कहलाता है।

३. **कषायपरिज्ञा**—जिस कषाय से कुल में, गण मे या संघ में विभेद हो, कलह, तू-तू मैं-मैं वढ जाए, जिस कषाय से दूसरो को हानि पहुंचे, या दूसरो को अखरे, सयम एव स्वाध्याय मे वाधा पड़े, असमाधि उत्पन्न हो जाए, उसका परित्याग करना जिससे शान्ति, व्यवस्था और शुद्धीकरण की प्रक्रिया वनी रहे।

४. **योग-परिज्ञा**—योग का अर्थ है—मन, वचन, काय, की अशुभ प्रवृत्ति तथा इन्द्रिय विषयो के प्रति आसक्ति। इससे साधक के हृदय मे लोभ वढता है, नाना सांसारिक पदार्थो के प्रति आकर्षण वढ़ता है, साथ ही नानाविध सम्वन्धो के विस्तार की कामना जागृत होती है। अशुभ योगों से निवृत्त होकर शुभ मे प्रवृत्त होना ही 'योग-परिज्ञा' है।

५. **भत्त-पान-परिज्ञा**—"जैसा खाए अन्न वैसा होवे मन" यह उक्ति साधक के लिये खान-पान के विवेक की महत्ता पर प्रकाश डाल रही है। साधु को यह जानना चाहिए कि उसके लिये कौन से भक्ष्य एवं पेय पदार्थ ग्रहणीय हैं और किसका उसे परित्याग करना चाहिए,। इस विषय का पहले अच्छी प्रकार से ज्ञान प्राप्त करके शुद्ध आहार-पानी के ग्रहण की प्रतिज्ञा एव अशुद्ध तथा अनेषणीय आहार-पानी के परित्याग को अपनाना 'भत्त-पान-परिज्ञा' कहलाती है।

इस प्रकार साधक-जीवन के लिये विवेक प्रत्याख्यान की महत्ता प्रस्तुत सूत्र मे प्रदर्शित की गई है।

पंचविध व्यवहार

मूल—पंचविहे ववहारे पण्णत्ते, तं जहा—आगमे, सुए, आणा, धारणा, जीए। जहा से तत्थ आगमे सिया, आगमेणं ववहारं पट्ठवेज्जा। णो से तत्थ आगमे सिया, जहा से तत्थ सुए सिया, सुएणं ववहारं पट्ठवेज्जा। णो से तत्थ सुए सिया, एवं जाव जहा से तत्थ जीए सिया, जीएणं ववहारं पट्ठवेज्जा। इच्चेएहिं पंचहिं ववहारं पट्ठवेज्जा—आगमेणं जाव जीएणं। जहा-जहा से तत्थ आगमे जाव जीए, तहा-तहा ववहारं पट्ठवेज्जा। से किमाहु भंते! आगमबलिया समणा निग्गंथा! इच्चेयं पंचविहं ववहारं जया-जया जहिं-जहिं, तया-तया तहिं-तहिं अणिस्सिओवस्सियं सम्मं ववहारमाणे समणे णिग्गंथे आणाए आराहए भवइ।३६।

छाया—पञ्चविधो व्यवहारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—आगमः, श्रुतम्, आज्ञा, धारणा, जीतम्। यथा तस्य तत्र आगमः स्यात्, आगमेन व्यवहारं प्रस्थापयेत्। नो तस्य तत्र आगमः स्यात्, यथा तस्य तत्र श्रुतं स्याद् श्रुतेन व्यवहारं प्रस्थापयेत्। नो तस्य तत्र श्रुतं स्यात्, एवं यावद् यथा तस्य तत्र जीतं स्याद् जीतेन व्यवहारं प्रस्थापयेत्। इत्येतैः पञ्चभिर्व्यवहारं प्रस्थापयेत्—आगमेन यावज्जीतेन। यथा-यथा तस्य तत्र आगमो यावद्-ज्जीतं तथा-तथा व्यवहारं प्रस्थापयेत्। अथ किमाहुः भदन्त! आगमबलिका श्रमणाः निर्ग्रन्थाः। इत्येतं पञ्चविधं व्यवहारं यदा-यदा, यत्र-यत्र, तदा-तदा, तत्र-तत्र अनिश्रितोपाश्रितं सम्यग् व्यवहरन् श्रमणो निर्ग्रन्थ आज्ञया आराधको भवति।

शब्दार्थ—पंचविहे—पाच प्रकार का, ववहारे पण्णत्ते, तं जहा—व्यवहार कथन किया गया है, जैसे, आगमे—आगम; सुए—श्रुत; आणा—आज्ञा, धारणा—धारणा, जीए—जीत। जहा—जिस प्रकार; से—उसको, तत्थ—वहां, आगमे—आगम; सिया होवे तो; आगमेणं—उस आगम से (केवल, मनःपर्यव, अवधि, चतुर्दश पूर्व, दशपूर्व, नव पूर्व से), ववहारं—व्यवहार को; पट्ठवेज्जा—प्रस्थापित करे, यदि; तत्थ—वहा; आगमे—आगम; णो—नही; से—उस व्यवहार करने वाले को, सिया—होवे तो; जहा—जैसा कि; से—उसको, तत्थ—वहां, सुए सिया—श्रुत होवे तो, सुएणं—श्रुत से; ववहारं पट्ठवेज्जा—श्रुत से व्यवहार को प्रस्थापित करे, यदि, तत्थ—वहा, से—उसे; सुए णो सिया—श्रुत न होवे; एवं—इसी प्रकार, जाव—यावत् आज्ञा, धारणा के सम्बन्ध मे जानना; जहा—जिस प्रकार; तत्थ—वहां, से—उसको; जीए सिया—जीत व्यवहार हो तो; जीएणं ववहारं पट्ठवेज्जा—जीत से व्यवहार को प्रस्थापित करे। इच्चेएहिं—इस

प्रकार इन; **पंचहिं**—पांचों से; **ववहारं पट्ठवेज्जा**—व्यवहार को प्रस्थापित करे। **आगमेणं जाव जीएणं**—आगम से यावत् जीत से; **जहा-जहा**—जैसे-जैसे; **से**—उसको; **तत्थ**—वहां; **आगमे जाव जीए**—आगम यावत् जीत हो; **तहा-तहा**—वैसे-वैसे; **ववहारं**—व्यवहार को; **पट्ठवेज्जा**—प्रस्थापित करे। **से किमाहु भंते**—हे भगवन् ! यह कैसे कहा है कि; **आगमबलिया समणा निग्गंथा**—श्रमण निर्ग्रन्थ आगम से बलवान् होते है ? **इच्चेयं**—इस प्रकार; **पंचविहं ववहारं**—पाच प्रकार के व्यवहार को; **जया-जया**—यदा-यदा; **जहिं-जहिं**—जहां-जहां, **तया-तया**—तदा-तदा; **तहिं-तहिं**—वहां-वहां; **अणिस्सिग्रोवस्सियं**—पक्षपातरहित; **सम्मं**—सम्यक्; **ववहारेमाणे**—व्यवहार करता हुआ, **समणे णिग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ; **आणाए**—आज्ञा का; **आराहए**—आराधक; **भवइ**—होता है।

मूलार्थ—पांच प्रकार का व्यवहार अर्थात् मुमुक्षुओं का प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप मार्ग कथन किया गया है, जैसे–आगम, श्रुत अर्थात् आचाराङ्ग आदि, आज्ञा, धारणा, जीत अर्थात् परम्परा-व्यवहार।

जिस व्यवहार-कर्त्ता के पास जितना आगम-ज्ञान हो, वहां उसे उस आगम से व्यवहार प्रस्थापित करना चाहिये। यदि आगम न हो तो वहां जो श्रुत हो, उस श्रुत से व्यवहार प्रस्थापित करना चाहिये। यदि श्रुत भी न हो, तो वहां जैसा आज्ञा एवं धारणा का व्यवहार हो, उस आज्ञा एवं धारणा से व्यवहार करना चाहिये। यदि ये भी न होवें तो जैसे कि जीत हो उस जीत से व्यवहार करना चाहिये।

इस भांति इन पांचों के द्वारा व्यवहार की व्यवस्था करनी चाहिये, आगम से लेकर जीत तक व्यवहार-विधियां है। जैसा-जैसा व्यवहार कर्त्ता के पास आगम से लेकर जीत आदि तक हो, वहा वैसा-वैसा व्यवहार प्रस्थापित करना चाहिये।

भगवन् ! उक्त पांच व्यवहारों में कौन सा व्यवहार वलवान् है ? श्रमण-निर्ग्रन्थों का प्रमुख वल-आगम ही है। इस प्रकार उक्त पंचविध व्यवहार को जब-जव, जहां-जहां, तव-तव, वहां-वहा पक्षपात-रहित सम्यक् रूप से अपने व्यवहार में लाता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ प्रभु की आज्ञा का आराधक होता है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में परिज्ञा का वर्णन किया गया है। परिज्ञा का ज्ञान व्यवहार-कुशल व्यक्ति को ही होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे शास्त्रीय व्यवहार का दिग्दर्शन कराया गया है। यद्यपि व्यवहार शब्द के अनेक अर्थ हैं, जैसे एक दूसरे से बर्ताव, आचरण, व्यापार-धन्धा आदि, किन्तु इस प्रसग में यह अर्थ घटित नहीं होते। प्रस्तुत प्रकरण मे इसका पारिभाषिक अर्थ है दोषों के नाशार्थ किया जानेवाला प्रायश्चित्त विधान तथा मोक्ष-पथ के पथिक के लिये प्रवृत्ति-निवृत्ति का कारणभूत ज्ञान-विशेष। जिसका निर्णय किसी ज्ञान-समृद्ध व्यक्ति के द्वारा हो सकता है। प्रायश्चित्त को क्रियात्मक रूप देने के लिये व्यवहार का परिज्ञान आवश्यक है। वह व्यवहार पाँच प्रकार का होता है जैसे कि—

१. **आगम-व्यवहार**—केवलज्ञान, मन.पर्यवज्ञान, अवधिज्ञान, चौदहपूर्व, दसपूर्व और नौ पूर्वों का ज्ञान आगम कहलाता है। उपर्युक्त ज्ञान संपन्न मुनिवरों के युग मे आगम-व्यवहार होता है। आगमों के वास्तविक अभिप्राय एवं उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग के ज्ञाता आचार्यों द्वारा प्रवृत्त हुआ प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार भी आगम-व्यवहार है। आगमोक्त व्यवहार के आधार पर साधना-पथ पर बढनेवाले साधक आगम-व्यवहारी युगप्रवर्त्तक माने जाते है।

२. **श्रुत-व्यवहार** - जिस युग में न केवलज्ञानी हो, न मन पर्यवज्ञानी, न अवधिज्ञानी, न चौदह पूर्वधर, न दसपूर्वधर और न नव पूर्वधर हों, केवल आचाराङ्ग आदि ग्यारह अङ्गो के एव एक से लेकर कुछ न्यून नव पूर्वो के वेत्ता हो, उस युग में सूत्रव्यवहार से काम लिया जाता है। सूत्रो द्वारा निर्दिष्ट व्यवहार श्रुतव्यवहार कहलाता है। उस युग मे जो साधकों में प्रवृत्ति और निवृत्ति की भावना जागृत की जातीं है, वह सूत्र-व्यवहार के आधार पर ही हुआ करती है। इसलिये उसे श्रुत-व्यवहार कहा जाता है।

३. **आज्ञा-व्यवहार**—जिस युग में पूर्वो का ज्ञान भी लुप्त हो जाता है तथा शेष ग्यारह अगो का ज्ञान भी सर्व-गम्य एवं सर्व-सुलभ नही रह जाता है, उस युग मे आत्मशुद्धि के लिये आचार्य, उपाध्याय, स्थविर या प्रवर्त्तक जिस व्यवहार को लेकर चलते है, जिसको लक्ष्य मे रखकर साधको को प्रवृत्ति-निवृत्ति की आज्ञा देते है, उसी आज्ञा को आज्ञा-व्यवहार कहा जाता है। दो गीतार्थ दृढ-संयमी मुनि एक दूसरे से सर्वथा दूर देश में रह रहे हों और शरीर के क्षीण हो जाने के कारण वे एक दूसरे को मिलने मे असमर्थ हो, उनमे से किसी एक से प्रायश्चित्त के योग्य कार्य हो जाने पर वह साधु योग्य गीतार्थ शिष्य के न होने पर मति और धारणा मे अकुशल, अगीतार्थ शिष्य को आगम की साकेतिक एव गूढ़ भाषा में अपने अतिचार अर्थात् दोष कहकर या लिखकर उसे अन्य गीतार्थ मुनि के पास भेजता है और उसके द्वारा आलोचना करता है। साकेतिक भाषा मे कही हुई या लिखी हुई आलोचना के आधार पर वे मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, संहनन और धैर्यबल का विचार करके स्वय हो आ जाए या योग्य गीतार्थ शिष्य को समझाकर भेज दे या वैसा गीतार्थ शिष्य न हो तो आलोचना का सदेश लानेवाले के द्वारा ही आगम की साकेतिक भाषा में अतिचार की शुद्धि के लिये जो प्रायश्चित्त देते है, वह आज्ञा-व्यवहार है। गीतार्थ मुनि जैसी आज्ञा दें, उसी को तीर्थङ्कर भगवान की आज्ञा मानकर साधक को प्रवृत्ति-निवृत्ति करनी चाहिये।

४. धारणा-व्यवहार—गीतार्थ स्थविर मुनीश्वरो के पास रहते हुए साधक ने उनके द्वारा जैसे-जैसे कर्मो पर जैसा-जैसा प्रायश्चित्त देते हुए देखा हो, उन सव को स्मृनि में रखकर जब कभी प्रायश्चित्त देने का कारण उपस्थित हो, तव पूर्व स्मृति के आधार पर प्रायश्चित्त आदि देना "धारणा-व्यवहार" कहलाता है। स्थविरों ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जिस आधार से जो प्रायश्चित्त दिया है उसी धारणा से वैसे अपराध मे जैसे भी शुद्धीकरण हो सके वैसा प्रायश्चित्त देना चाहिए। धारणा के आधार पर दूसरो को प्रवृत्ति-निवृत्ति की ओर लगाना ही धारणा-व्यवहार है।

५. जीत-व्यवहार—जीत का अर्थ होता है—प्रायश्चित्त से संबंध रखने वाली प्रचलित प्रथा अर्थात् जैन-सूत्रो मे प्रदर्शित परम्परा के अनुसार या किसी भिन्न रीति-नीति से प्रायश्चित्तों का परम्परागत आचार। अनेक गीतार्थ मुनियो द्वारा की हुई मर्यादा के अनुसार प्रवृत्ति-निवृत्ति में साधकों को प्रवृत्त करना जीत-व्यवहार है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रतिसेवन, धृति, सहनन, व्यक्ति और उसकी अपराध-भावना को देखकर प्रायश्चित्त देना चाहिए। जो व्यवहार वहुत आचार्यों द्वारा आचरित हो, श्री संघ भी वरावर उसकी आराधना कर रहा हो वही "जीत-व्यवहार" है।

जिस समय आगम हो, उस समय आगम-व्यवहार को स्थापित करे, उसके न होने पर श्रुत-व्यवहार, उसके न होने पर आज्ञा-व्यवहार और उस के न होने पर धारणा-व्यवहार और उसके न होने पर जीत-व्यवहार के द्वारा ही कार्य करना चाहिए। आगम-व्यवहारों मे भी केवलज्ञान से जाना हुआ व्यवहार सवसे वलवान है, उसकी अपेक्षा से मन.पर्यवज्ञान न्यून वली है, अवधिज्ञान उससे भी न्यून वली है। इसी क्रम से चौदह पूर्वो का ज्ञान, दस पूर्वो का ज्ञान एवं नौ पूर्वों का ज्ञान क्रमशः न्यून वली माने गए हैं, किन्तु अन्य सभी व्यवहारो की अपेक्षा से आगम-व्यवहार आत्मशुद्धि के लिये श्रेष्ठ व्यवहार हैं। इस लिये सूत्रकार ने कहा है—**"से किमाहु भन्ते ! आगमवलिया समणा निग्गंथा ?"** इस से सिद्ध होता है आगम व्यवहार वाले श्रमण निर्ग्रन्थ धर्म-नीति की अपेक्षा से सर्वोत्कृष्ट माने जाते हैं। उस मे पक्षपात या तर्क वितर्क करने का कोई स्थान ही नही है।

आगम-युग के साधक ही सिद्धगति को प्राप्त कर सकते है, शेष श्रुत-व्यवहार आदि के युगों मे जीव आराधक तो वन सकता है, किन्तु उसी जन्म में सिद्ध-गति को प्राप्त नही कर सकता, क्योकि उसकी पूर्णतया शुद्धि नही हो सकती। आज के युग मे आगम-व्यवहारी नही है। शेष चार व्यवहारो से ही कार्य चलाया जा रहा है। आगम-व्यवहारियों में भी "जुगंतकडभूमि" तक जीव मुक्त हो सकता है, उसके वाद आगम-व्यवहारी भी उस भव मे सिद्धगनि को प्राप्त नही कर सकता। दूसरे या तीमरे भव मे मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

सूत्रकार ने **"जया-जया, जहिं-जहिं, तया-तया, तहिं-तहिं अणिस्सिओवस्सियं सम्म व्यवहारमाणे समणे णिग्गंथे आणाए आराहए भवइ"** कहा है, उस से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि तव-तव, उस-उस प्रयोजन के होने पर आशसा-रहित तटस्थ होकर सम्यक् प्रकार से व्यवहार करते हुए ही श्रमण निर्ग्रन्थ प्रभु की आज्ञा का आरावक हो सकता है।

'अणिस्सिओवस्सियं' इस पद का सस्कृत रूप **'अनिश्रितोपाश्रित'** होता है। शिष्य के रूप में स्वीकृत को निश्रित, और वही शिष्य सेवाभावी एव निकटतम रहने के कारण उपाश्रित' कहलाता है। न्याय करते हुए किसी का भी पक्षपात नही होना चाहिए। आहार आदि की लिप्सा से और

जिस शिष्य से वह आहार अंगीकार किया गया है; उससे अनासक्त रहते हुए ही मुनिराजों को प्रायश्चित्त आदि का निर्णय देना चाहिए। अपने पक्ष से राग न करना और परपक्ष से द्वेष न करना भी "अनिश्रितोपाश्रित" कहलाता है, क्योकि निश्रित राग का पर्यायवाची शब्द है और उपाश्रित द्वेष का, इन दोनो से तटस्थ रहकर ही व्यवहारो का पालन हो सकता है।

व्यवहारो का मुख्योद्देश्य साधक की शुद्धि और चतुर्विध सघ में शान्ति-स्थापना ही होता है। यह निष्पक्ष व्यवहार न्यायशील मुनीश्वर ही कर सकते है। न्याय करने से ही अपना और दूसरो का कल्याण होता है।

जैन संस्कृति का प्रमुख लक्ष्य अपनी और अपने साथियो एवं आश्रितो की आत्मशुद्धि ही है, अत: उसने नाना रूपों में आत्मशुद्धि के विधानो को साधकों के समक्ष रक्खा है, परन्तु सर्वत्र प्रभु-आज्ञा का ध्यान रखना उसके लिये अनिवार्य है।

सयमी-असंयमी पुरुष के लिये पंचविध जागृत और सुप्त

मूल—संजयमणुस्साणं सुत्ताणं पंच जागरा पण्णत्ता, तं जहा—सद्दा, जाव फासा।

संजयमणुस्साणं जागराणं पंच सुत्ता पण्णत्ता, तं जहा—सद्दा, जाव फासा।

असंजयमणुस्साणं सुत्ताणं वा, जागराणं वा पंच जागरा पण्णत्ता, तं जहा—सद्दा, जाव फासा ॥ ३७॥

छाया—संयतमनुष्यानां सुप्तानां पञ्च जागरा: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शब्दा: यावत् स्पर्शा:।
संयतमनुष्याणां जागराणां पञ्च सुप्ता: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शब्दा यावत् स्पर्शा:।
असयतमनुष्यानां सुप्तानां वा, जागराणां वा पञ्च जागरा. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शब्दा: यावत् स्पर्शा:।

शब्दार्थ—संजयमणुस्साणं—सयमी मनुष्य, सुत्ताणं—सोये हुओं के; पंच—पांच; जागरा पण्णत्ता, तं जहा—जागृत कथित किये गये है, जैसे; सद्दा जाव फासा—शब्द यावत् स्पर्श।
संजयमणुस्साणं—सयमी मनुष्यो के; जागराणं—जागृतो के; पंच—पांच; सुत्ता—सुप्त; पण्णत्ता, त जहा—कथन किये गए है, जैसे; सद्दा जाव फासा—शब्द से लेकर यावत् स्पर्श तक।
असंजयमणुस्साणं सुत्ताणं वा जागराणं—असयमी मनुष्यों के सुप्त अथवा जागृतो के; पंच जागरा पण्णत्ता, तं जहा—पाच जागृत कथन किये गए है, जैसे; सद्दा जाव फासा—शब्द से लेकर यावत् स्पर्श तक।

मूलार्थ—संयमी मनुष्य-साधु यदि सुप्त हों, तो उनके पांच जागृत अर्थात् कर्मबन्ध

के कारण माने गए है, जैसे—शब्द से लेकर स्पर्श तक ।

संयमी मनुष्य यदि जागृत हों, तो उनके पांच सुप्त अर्थात् कर्म-बन्धन न करनेवाले कथन किये गए है, जैसे—शब्द से लेकर स्पर्श तक ।

असयमी मनुष्य चाहे सुप्त हो या जागृत, उनके पाच जागृत ही रहते है, जैसे—शब्द से लेकर स्पर्श तक पांच ।

विवेचनिका --

पाच व्यवहारो का यथार्थ रूप से पालन वे श्रमण निर्ग्रन्थ ही करते है, जो संयम-साधना में लीन रहते है और संयम-शुद्धि की अभिलाषा रखते है। सयम-साधना तभी सफल हो सकती है, जबकि संयमाराधक सदा सावधान रहे, जागृत रहे, सोए नही। अतः प्रस्तुत सूत्र में संयत और असंयत सुप्त और जागृत अवस्था का वर्णन किया गया है। सयत की सुप्तदशा वह कहलाती है, जिस समय मे वह प्रमाद का सेवन करता है। मद्य, विषय, कषाय, विकथा और निद्रा इन पांच प्रमादों मे से जब किसी का भी सेवन किया जाए, वह प्रमाद ही है। जितने भी प्रमादी संयत है, उनकी पांच इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ग्रहण करने के लिये सदा उद्यत एव जागरूक रहती है, किन्तु जो संयत अप्रमादी है, उनके पांच विषय सुप्त रहते हैं। प्रमाद-काल मे कर्मो का वन्ध होता है और अप्रमाद-काल में कर्मो का क्षय होता है। अप्रमत्त सयत चाहे सो भी जाए, किन्तु वह शब्दादि विषयो का त्यागी कहलाता है। इससे विपरीत असंयत मनुष्य भले ही जागता हो या सुप्त फिर भी त्याग-भावना एव विवेक न होने से उसके लिये शब्द आदि पांच विषय सदैव जागृत ही रहते है और उसे प्रभावित करते ही रहते है। जैसे सिंह, चोर और क्षण-क्षण मे दुराचारी व्यक्ति प्रगाढ निद्रा मे सोए पड़े हो, तव भी सिंह हिंसक ही है, चोर-चोर ही है और दुराचारी-दुराचारी है। उनको दयालु, ईमानदार और सदाचारी नही कहा जा सकता। वैसे ही त्याग के अभाव मे यदि असयत सोए पडे है, तब भी उन्हे जितेन्द्रिय नही कहा जा सकता, जागृत अवस्था में तो वे इन्द्रियों के दास ही होते है, क्योकि असंयत का जीवन सर्वदा प्रमाद मे ही बीतता है।

जिस साधक ने शब्द आदि पांच विषयों को वश मे कर लिया है वह अप्रमत्त संयत है। जिसके भाव कभी-कभी शब्दादि पाच विषयो के कारण लडखड़ा जाते है वह प्रमत्त संयत है और जो शब्द आदि पांच विषयो के वहाव मे निरन्तर वह रहा है, वह असंयत मनुष्य कहलाता है। सिद्ध पथ का अधिकारी वही हो सकता है जो सयतेन्द्रिय है। जिसने अच्छी तरह इन्द्रियो को सयत नहीं किया वह प्रमत्त-सयत है। जिसने इन्द्रियो की वागडोर खुली छोड़ी हुई है वह असयत है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में जागृति का अर्थ है विषयो से बचाव के लिये सावधान रहना, उनसे अपनी रक्षा करते रहना। साथ ही मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के माध्यम से सूत्रकार ने यह भी वताया है कि विषयासक्त चाहे जागृत भी रहे, अर्थात् ऊपर से विषयासक्ति के परित्याग और विरक्ति को भी प्रकट करे, तो भी समझना चाहिए कि उसके अन्तर में विषयासक्ति विद्यमान है। जब तक आन्तर का विवेक स्वच्छ न होगा, तब तक सिद्ध पद के लिये वाह्य प्रदर्शन सर्वथा व्यर्थ है। ●

कर्मबन्ध और कर्मक्षय के कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं जीवा रयं आइज्जंति, तं जहा–पाणाइवाएणं जाव परिग्गहेणं ।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा रयं वमंति तं जहा–पाणाइवायवेरमणेणं जाव परिग्गहवेरमणेणं ।३८।

छाया—पञ्चभिः स्थानैर्जीवा रजः (कर्म) आददति, तद्यथा—प्राणातिपातेन यावत् परिग्रहेण । पञ्चभिः स्थानैर्जीवा रजो वमन्ति, तद्यथा—प्राणातिपातविरमणेन यावत् परिग्रह-विरमणेन ।

शब्दार्थ—पंचहिं ठाणेहिं—पांच स्थानो से; जीवा—जीव; रयं—कर्म; आइज्जंति—बांधते हैं, तं जहा—जैसे; पाणाइवाएणं—प्राणातिपात अर्थात् जीव हिंसा से; जाव—यावत्; परिग्गहेणं—परिग्रह से ।

पंचहिं ठाणेहिं—पांच कारणों से; जीवा—जीव; रयं वमंति—रज—कर्म को क्षय करते है, तं जहा—जैसे, पाणाइवायवेरमणेणं—प्राणातिपात से विरति करने से; जाव—यावत्; परिग्गहवेरमणेणं—परिग्रह विरति होने से ।

मूलार्थ—पांच कारणों से जीव कर्मों को बांधते है, जैसे–प्राणातिपात से यावत् परिग्रह से ।

पांच कारणों से जीव कर्म-क्षय करते है, जैसे–प्राणातिपात अर्थात् हिंसा का परित्याग करने से और असत्य, विषयासक्ति, स्तेय और परिग्रह का त्याग करने से ।

विवेचनिका—

रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शादि इन्द्रिय विषयों की पूर्ति के लिये मनुष्य की हिंसा आदि में प्रवृत्ति होती है, अत: अब सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र मे कर्मबन्ध के कारणभूत हिंसा, स्तेय आदि कारणो पर प्रकाश डालते हुए कहते है कि कर्मों का उपार्जन पाच कारणो से होता है—जीव-हिंसा करने से, असत्य के प्रयोग से, चोरी करने से, मैथुन सेवन से और सासारिक पदार्थों में ममत्व रखने से । आत्मा के अतिरिक्त शेष सभी पदार्थ हेय है, उन्हे ग्राह्य समझना ही परिग्रह है । परिग्रह सभी पाप-प्रवृत्तियो का मूल कारण है ।

उपर्युक्त तथ्य के विपरीत पांच कारणों से जीव कर्मबन्ध को तोड़ता है—हिंसा के सर्वथा

परित्याग से, असत्याचरण के सर्वथा परित्याग से, चोरी के परिवर्जन से, ब्रह्मचर्य की गुप्ति से, इच्छा, संग्रह एवं ममत्व रूप परिग्रह के परिवर्जन से। इन साधनाओं द्वारा कर्मों के प्रवेश-द्वारों को रोका जाता है और बद्ध कर्मों का क्षय किया जाता है। जब पाच तरह के पापों का ज्ञान पूर्वक त्याग किया जाता है, तब आत्मा विकास की पराकाष्ठा को पाकर निर्वाणपद की प्राप्ति करलेता है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि उक्त पांच आस्रवों मे प्रवृत्ति करने से कर्मवंध और निवृत्ति से कर्मों का क्षय होता है, अतएव इन के त्याग में ही मानव का हित है।

पांच मासिक भिक्षु-प्रतिमा धारक मुनिके लिये पांच दत्तियां

मूल—पंच मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पंति पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणगस्स।३९।

छाया—**पञ्चमासिकीं भिक्षु प्रतिमां प्रतिपन्नस्य अनगारस्य कल्पन्ते पञ्च दत्तीः भोजनस्य प्रतिगृहीतुं पंच पानकस्य।**

शब्दार्थ—**पंचमासियं णं**—पाच मासवाली; **भिक्खुपडिमं**—भिक्षु प्रतिमा को, **पडिवन्नस्स**—स्वीकार करनेवाले; **अणगारस्स**—अनगार के लिये, **भोयणस्स**—भोजन की, **पच दत्ती**—पांच दाते; **पडिगाहेत्तए**—लेनी, **कप्पंति**—कल्पती है अर्थात् उसके लिये ग्रहणीय है; **पंच पाणगस्स**—पानी की भी पांच ही दत्तियां उसे ग्रहण करनी चाहिए।

मूलार्थ—पांच मास की भिक्षु-प्रतिमा को धारण करनेवाले भिक्षु को भोजन की और जल की केवल पांच-पांच दत्तियां ही ग्रहण करनी कल्पती है अर्थात् उसके लिये ग्राह्य है।

विवेचनिका—

हिंसा, झूठ, चोरी मैथुन और, परिग्रह का सर्वथा परित्याग करनेवाला महा साधक ही भिक्षु कहलाता है। पूर्वसूत्र मे हिंसा आदि को कर्मबन्ध का कारण बता कर उनसे विरक्त होने का प्रयास भिक्षु के लिये आवश्यक वताया गया है। उस भिक्षु के लिये कर्मद्वारो का अवरोध करने के लिये अन्न-जल ग्रहण की मर्यादा आवश्यक है, अतः अत्र सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र में उस मर्यादा का वर्णन करते हैं। जिस भिक्षु ने कर्म-वन्ध मे मुक्त होने के लिये पचमासिक भिक्षुप्रतिमा अंगीकार की हुई है उसे भोजन और पानक की पांच-पाच दत्तियां ही ग्रहण करनी होती है। श्रद्धा-शील श्रावक-श्राविका के द्वारा जव साधु-पात्र मे एक ही वार अविच्छिन्न रूप से जितना पदार्थ डाला जाय तव उसे एक दत्ति कहा जाता है। इस प्रकार की पांच-पाच दत्तियां हो उसे ग्रहण करनी होती है अधिक नही। यह प्रतिमा चारित्र-दृढ़ता

की पराकाष्ठा प्राप्त करने के लिये धारण की जाती है, जिससे शीघ्र ही कर्म-बन्ध से मुक्ति प्राप्त हो सके। दशाश्रुत-स्कन्धसूत्र में भिक्षु की बारह प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है जो कि त्यागवृत्ति का एक महान् आदर्श है। इस त्याग-वृत्ति से आत्मा अपने निज स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

"भिक्खुपडिमं" इस पद से यह सिद्ध होता है कि श्रमणोपासक की प्रतिमाएं भिक्षु प्रतिमाओं से भिन्न है।

उपघात और विशोधि

मूल—**पंचविहे उवघाए पण्णत्ते, तं जहा—उग्गमोवघाए, उप्पायणोवघाए, एसणोवघाए, परिकम्मोवघाए परिहरणोवघाए।**

पंचविहा विसोही पण्णत्ता, तं जहा—उग्गमविसोही, उप्पायणविसोही, एसणाविसोही, परिकम्मविसोही, परिहरणविसोही।४०।

छाया—पञ्चविध उपघातः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—उद्गमोपघातः, उत्पादनोपघातः, एषणोपघातः, परिकर्मोपघातः, परिहरणोपघातः।

पञ्चविधा विशोधिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—उद्गमविशोधिः, उत्पादनविशोधिः, एषणाविशोधिः, परिकर्मविशोधिः, परिहरणविशोधिः।

शब्दार्थ—**पंचविहे**—पांच प्रकार का; **उवघाए पण्णत्ते, तं जहा**—उपघात अर्थात् अशुद्धत्व कथन किया गया है, जैसे, **उग्गमोवघाए**—उद्गमसम्बन्धी उपघात; **उप्पायणोवघाए**—उत्पादन-सम्बन्धी उपघात; **एसणोवघाए**—एषणा सम्बन्धी उपघात, **परिकम्मोवघाए**—परिकर्म अर्थात् वस्त्र-पात्रादि सम्बन्धी उपघात, **परिहरणोवघाए**—परिभोग-सम्बन्धी उपघात।

पंचविहा विसोही पण्णत्ता, तं जहा—पांच प्रकार की विशुद्धि कथन की गई है, जैसे—उद्गम-सम्बन्धी विशुद्धि, **उप्पायणविसोही**—उत्पादनसम्बन्धी विशोधि, **एसणाविसोही**—एषणासम्बन्धी विशोधि, **परिकम्म-विसोही**—परिकर्म-विशोधि, **परिहरणविसोही**—उपभोगसम्बन्धी विशोधि।

मूलार्थ—पांच प्रकार का उपघात वर्णित किया गया है, जैसे—उद्गमसम्बन्धी उपघात, उत्पादनसम्बन्धी-उपघात, एषणा-सम्बन्धीउपघात, परिकर्म अर्थात् वस्त्र-पात्रादिसम्बन्धी उपघात, परिहरणसम्बन्धी उपघात।

पांच प्रकार की विशोधि वर्णित की गई है, जैसे—उद्गम-विशोधि, उत्पादन-विशोधि, एषणा-विशोधि, परिकर्म-विशोधि एवं परिहरण-विशोधि।

विवेचनिका—

दत्तियों आदि की मर्यादा चारित्र-शुद्धि में सहायक होती है और मर्यादा-विहीनता अशुद्ध संस्कारों को जन्म देती है, अतः प्रस्तुत सूत्र में उपघात अर्थात् अशुद्धता और विशोधि अर्थात् विशुद्धता का वर्णन किया गया है। जिस कारण से चारित्र की विराधना अर्थात् संयम मे अशुद्धता होती है उसे सकारण उपघात कहा जाता है। उपघात से संयम दूषित हो जाता है। दूषित वस्तु कोई भी हो, वह साधक जीवन के लिये हानिकारक है। आध्यात्मिक दृष्टि से उपघात भी साधना-सिद्धि मे बाधक है। चारित्र में जो-जो बाधक तत्व हैं, उनसे निवृत्ति पाना या उन से दूर रहना ही साधना-पथ पर प्रगति है। पांच प्रकार के उपघातो का विवरण निम्नलिखित है —

१. उद्गमोपघात—आहार आदि की उत्पत्ति से संबन्ध रखनेवाले भिक्षा-दोष, आधाकर्म आदि सोलह भोजन-पानी के दोष उद्गमोपघात कहलाते हैं जो कि भिक्षु के लिये सदैव वर्जनीय है। जो भोजन-पानी साधु के निमित्त से बना हुआ है उसे यदि कोई साधु ग्रहण करता है तो उसे उद्गम-उपघात दोष का भागी बनना पड़ता है। इस प्रकार का भोजन-पानी भिक्षु के लिये सर्वथा अकल्पनीय अर्थात् त्याज्य है। सदोष आहार ग्रहण व सेवन करने से चारित्र क्षत-विक्षत एवं दूषित हो जाता है।

२. उत्पादनोपघात—यदि स्वयं प्रेरणा एवं सहयोग देकर गृहस्थ के द्वारा भोजन पानी तैयार करवाकर ग्रहण किया जाता है तो साधु को उत्पादनोपघात दोष का भागी बनना पड़ता है। दीनता से, गृहस्थ के कार्य में सहयोग देने से या कषाय की उदीरणा करके गृहस्थ द्वारा आहार-पानी लेने से जो साधु को दोष लगता है उसे उत्पादनोपघात कहते है। इस दोष के धात्री आदि सोलह भेद है। अनुचित रीति से यदि साधु गृहस्थ से भोजन-पानी ग्रहण करता है, तो वह उसके साधुत्व की मर्यादा के सर्वथा विरुद्ध माना जाता है।

३. एषणोपघात—जो दोष देनेवाले गृहस्थ और लेनेवाले साधु दोनो के द्वारा लगे, उसे 'एषणोपघात' कहा जाता है। इसके शंकित आदि दस भेद है। उनमे से किसी एक दोष के सेवन करने से साधुता दूषित हो जाती है, अतः 'एषणोपघात' भी चारित्र मे बाधक होने से मुनि-जीवन के लिये वर्जनीय है।

४. परिकर्मोपघात—विधि-विधान की उपेक्षा करके वस्त्र-पात्र आदि को संवारना, छेदन, सीवन आदि क्रिया करना परिकर्म है, उससे लगनेवाला दोष 'परिकर्मोपघात' कहलाता है। विभूषा के निमित्त किसी भी वस्त्र को छोटे से बड़ा बनाना और बडे से छोटा बनाना, धोना, तीन सीवन से अधिक सीना, तीन थिगलों से अधिक सीना, तारकशी करना, कसीदा निकालना, कढाई करना इत्यादि रूपो मे 'वस्त्र-परिकर्म-उपघात' है। इसी प्रकार विभूषा के निमित्त पात्रों को सुसज्जित करना 'पात्र-परिकर्मोपघात' है। इनका विस्तृत वर्णन आचाराङ्ग सूत्र के वस्त्रैषणा और पात्रैषणा नामक अध्ययनों मे द्रष्टव्य है। सदोष-निर्दोष वस्त्र-पात्र कौन-कौन से है? कौन से कल्पनीय है और कौन से अकल्पनीय हैं? इनका ज्ञान होने से ही दोषों से निवृत्ति की जा सकती है।

निवास-स्थान के विषय में परिकर्मोपघात उसे कहते हैं जो—साधु के निमित्त से किसी स्थान को चूने से लीपा गया हो, डांस-मच्छरों के विनाश के लिये वहां कोई कीटाणुनाशक द्रव्य छिडका गया हो, धूप से सुगंधित किया गया हो, दीपक या बिजली से प्रकाशमान किया गया हो, भूत आदि के लिये

बलि दी गई हो, गोबर से लीपा गया हो, जल का छिड़काव किया गया हो, इस प्रकार से संवारे हुए मकान में ठहरना परिकर्मोपघात है। इस प्रकार का निवास-स्थान अकल्पनीय होने से परिवर्जनीय है।

५. **परिहरणोपघात**—जो उपधि अर्थात् साधनोपकरण साधु के लिये अकल्पनीय है, उसे ग्रहण करना, जैसे कि जो व्यक्ति साधुवेश छोड़कर चला गया उसके यदि वस्त्र-पात्र पड़े हों या जो साधु विना आज्ञा के विचरता रहा हो, जिसका जीवन प्रतीतिकारी न रहा हो, कारण वश यदि वह मृत्यु को प्राप्त हो जाय तो उसके जो भी वस्त्र-पात्र हों उन्हे ग्रहण करना 'परिहरणोपघात' दोष है। अप्रतीतिकारी एकाकी साधु जिस मकान मे ठहरा हुआ था, उसके बाद वह विहार कर जाय और तत्काल ही वहा सयमी साधु पहुंच जाए, तो उसके लिये उस मकान में ठहरना उचित नही कहा गया है। चातुर्मास के पश्चात् दो चतुर्मास अन्यत्र स्थान में बिना ही व्यतीत किए अकारण उसी स्थान में चातुर्मास करने से कालातिक्रान्त क्रिया लगती है। यह दोष भी इसी के अन्तर्गत है। बिना विधि के भोजन पानी का ग्रहण करना, उसका उपभोग करना, अविधि से परिष्ठापन करना, ये सब दोष 'परिहरणोपघात' मे ग्रहण किए जाते है।

जिस प्रकार उपघातो का वर्णन किया गया है, उससे विपरीत विशुद्धि के विषय मे भी जान लेना चाहिए। जैसे उद्गमविशुद्धि, उत्पादन-विशुद्धि, एषणा-विशुद्धि, परिकर्म-विशुद्धि और परिहरण-विशुद्धि। इन पाच प्रकार की विशुद्धियो से चारित्र की पूर्णतया आराधना की जा सकती है। उद्गम, उत्पादन और एषणा इन तीन पदो से आहार का विषय वर्णन किया गया है। परिकर्मपद से वस्त्र-पात्र आदि का ग्रहण होता है और परिहरण पद से सब प्रकार की उपधि का ग्रहण, क्षेत्र से उपाश्रयादि, काल से चातुर्मास आदि साधु के ग्रहण करने योग्य एवं अयोग्य पदार्थों का ग्रहण किया गया है। अत: उपघात और विशुद्धि पदों से क्रमशः चारित्र की विराधना और आराधना का स्पष्ट रूप से वर्णन हुआ है। उपघात को छोड़कर विशुद्धि के आश्रित होकर चारित्र की सम्यक्तया आराधना करनी चाहिए।

दुर्लभ-बोधि और सुलभबोधि के पांच कारण

मूल—पंचहि ठाणेहि जीवा दुल्लभबोहियत्ताए कम्मं पकरेंति, तं जहा—अरहंताणं अवन्नं वयमाणे, अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वयमाणे, आयरियउवज्झायाणं अवन्नं वयमाणे, चाउवन्नस्स संघस्स अवन्नं वयमाणे, विवक्कतवबंभचेराणं देवाणं अवन्नं वयमाणे।

पंचहि ठाणेहि जीवा सुलभबोहियत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—अरहंताणं वन्नं वयमाणे जाव विवक्कतवबंभचेराणं देवाणं वन्नं वयमाणे।४१।

छाया—पञ्चभिः स्थानैर्जीवा दुर्लभबोधिकतायै कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—अर्हतामवर्णं वदन्, अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्य अवर्णं वदन्, आचार्योपाध्यायानामवर्णं वदन्, चातुर्वर्णस्य संघस्यावर्णं वदन्, विपक्वतपो ब्रह्मचर्याणां देवानामवर्णं वदन्।

पञ्चभिः स्थानैर्जीवाः सुलभबोधिकतायै कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—अर्हतां वर्णं वदन् यावत् विपक्वतपोब्रह्मचर्याणां देवानां वर्णं वदन् ।

शब्दार्थ—**पंचहिं ठाणेहिं**—पांच कारणो से; **जीवा**—जीव; **दुल्लभबोहियत्ताए**—दुर्लभ बोधि के लिये; **कम्मं पकरेंति, तं जहा**—कर्म करते हैं, जैसे, **अरहंताणं**—अरिहन्तों के, **अवन्नं**—अवर्ण अर्थात् निन्दा-वचन; **वयमाणे**—बोलता हुआ, **अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स**—अरिहन्तों के द्वारा प्ररूपित धर्म का, **अवन्नं**—निन्दा-वचन, **वयमाणे**—कहता हुआ, **आयरियउवज्झायाणं**—आचार्य और उपाध्यायो का, **अवन्नं**—निन्दा-वचन, **वयमाणे**—बोलता हुआ; **विवक्कतववंभचेराण**—जिनका पूर्व जन्म उपार्जित तप और ब्रह्मचर्य परिपक्वभाव को प्राप्त हो चुका उन-उन, **देवाणं**—देवो की, **अवन्नं**—निन्दा, **वयमाणे**—बोलता हुआ।

पंचहिं ठाणेहिं—पांच कारणों से; **जीवा**—जीव, **सुलभबोहियत्ताए**—सुलभबोधि के लिये, **कम्मं पगरेंति**—कर्म करते है, **तं जहा**—जैसे, **अरिहताणं**—अरिहन्तो के; **वन्नं वयमाणे**—वर्ण अर्थात् स्तुति-वचन बोलता हुआ, **जाव**—यावत्, **विवक्कतववंभचेराणं**—परिपक्व तप और ब्रह्मचर्य का फल भोगने वाले, **देवाणं वन्नं वयमाणे**—देवो की स्तुति करते हुए।

मूलार्थ—पांच कारणों से जीवात्मा दुर्लभबोधि अर्थात् जिन-धर्म की कठिनता से प्राप्ति के लिये कर्म करते है, जैसे—अरिहन्तों की निन्दा करने से, अरिहन्तों द्वारा प्ररूपित धर्म की निन्दा करने से, आचार्य और उपाध्यायो की निन्दा करने से, चतुर्विध संघ की निन्दा करने से, परिपक्व तप एवं ब्रह्मचर्य-फल प्राप्त देवों की निन्दा करने से।

पांच कारणों से जीवात्मा सुलभबोधि अर्थात् जिन-धर्म की सुविधा से प्राप्ति के लिये कर्म करते है, जैसे—अरिहन्तों की स्तुति करने से, यावत् परिपक्व तप एव ब्रह्मचर्य फलप्राप्त देवो की स्तुति करने से।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में उपघात से अधार्मिकता की वृद्धि और विशुद्धि से जीवो की धार्मिकता के विकास का वर्णन किया गया है। धार्मिकता के विकास से वोधि की सुलभता और अधार्मिकता के विकास से वोधि की दुर्लभता हो जाती है, अतः अव सूत्रकार प्रसंग-प्राप्त दुर्लभ-वोधिता का वर्णन करते है।

कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। यदि कारण मिट्टी है तो घट भी मिट्टी का ही होता है, यदि कारण स्वर्ण है तो घट भी स्वर्ण का ही होता है। इसी प्रकार अशुभ कारणो से अशुभ प्रकृति का बंध होता है और शुभ कारणो से शुभ प्रकृतियों का बन्ध हुआ करता है। अशुभ कर्मों के उदय से जीव अशुभ कर्मो मे सलग्न होते हैं, वे सत् एव एकान्त गुणो में भी असत् एवं दोषो की कल्पना

किया करते है, उनका दृष्टिकोण प्रत्येक दृष्टि से अशुभ होता है। जिन कारणो से जिन-धर्म का मिलना दुष्प्राप्य हो जाए, उसे दुर्लभवोधित्व कहते है। जिन कारणो से जीव दुर्लभबोधि के योग्य कर्मों का उपार्जन करते हैं, वे कारण पाच है। जैसे कि—

१. **अरताहंताणं अवन्नं वयमाणे**—अरिहत भगवन्तो की निन्दा करने से जीव दुर्लभवोधि के योग्य कर्मों का उपार्जन करते है। अवर्ण शब्द का अर्थ है निन्दा। अरिहन्तों के अस्तित्व से इन्कार करना, सर्वथा निर्दोष होते हुए भी उनमें दोष देखना। जैसे कि जब अरिहन्तो को गर्भ में ही तीन ज्ञान होते है, तब वे ससार में क्यों रहते है ? और राज्य क्यो करते है ? तथा वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी कैसे माने जा सकते है ? शंकाशील हृदय मे उठने वाली इस प्रकार की शकाए निन्दा ही है और वे निन्दाएं अशुभ कर्मो के बन्ध का कारण बन जाती हैं।

२. **अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वयमाणे**—अरिहन्त-भाषित धर्म का अवर्णवाद करने से जीव दुर्लभवोधि वनते हैं। केवलि-भाषित-धर्म दो तरह का है—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। उनमें जो श्रुतधर्म है वह आप्त-प्रणीत नहीं है, श्रुत-साहित्य अर्द्धमागधी भाषा में होने से प्रमाणित नही माना जा सकता इत्यादि रूपों में निन्दा करना, चारित्र-धर्म की निंदा करना, जैसे चारित्र धर्म से तो दान देना ही श्रेष्ठ है, क्योकि सर्वथा निवृत्ति करने से जनता का कोई उपकार नही होता। इस प्रकार के वचन वोलना केवलिभाषित धर्म की निंदा है। जिनधर्म को निंदा करने से जीव दुर्लभबोधि के योग्य कर्मो का उपार्जन करते है। चारित्रशील, वृद्ध, वाल, स्त्री आदि के उपकार के लिये श्रुत का निर्माण प्राकृत भाषा में हुआ है। चारित्रधर्म से निर्वाण की प्राप्ति होती है, अतः चारित्र-धर्म और श्रुत-धर्म दोनों सर्वहितकारी हैं और सभी की उन्नति के विधायक हैं।

३. **आयरिय-उवज्झायाणं अवन्नं वयमाणे**—आचार्य एवं उपाध्यायों का अवर्णवाद करने से। लोगो में उनकी बुराई करना, अपकीर्ति में सहयोग देना, धृष्टता से उन्हें दुर्वचन वोलना, जनता मे उनके अवगुण प्रकट करना इत्यादि अवर्णवाद ही है। इससे भी जीव दुर्लभबोधि वनते है।

४. **चाउवन्नस्स संघस्स अवन्नं वयमाणे**—'चाउवन्नस्स' अर्थात् 'चातुर्वर्णस्य' इस शब्द मे 'वर्ण' का अर्थ है 'प्रकार'।[1] श्रमण, श्रमणी, श्रावक-श्राविका रूप चार अगो वाले सघ की निंदा करने पर वोधि अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। सघ को भगवान का रूप कहा गया है, अतः सघ की निन्दा भगवान् की ही निंदा है। निन्दा सम्बन्ध का विच्छेद करनेवाली है, यह निषेधात्मिक वृत्ति है, विधायिका वृत्ति नही, अत यह ज्ञान के महास्रोत भगवान् से सम्बन्ध का विच्छेद करके साधक को आत्म-ज्ञान से दूर ले जाती है, उस दशा में बोधि अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ हो जाना स्वाभाविक है, अतः श्रीसंघ की निन्दा करनेवाले को दुर्लभवोधि कहा गया है।

५. **विवक्कतववंभचेराणं देवाणं अवन्नं वयमाणे**—जिन महासाधको ने पूर्व जन्मो में सयम-तप एव ब्रह्मचर्य की आराधना की है और उन्हे आराधना के वल पर देवगति को प्राप्त किया है, ऐसे साधना-समृद्धि-सम्पन्न देवो की निंदा करना, सम्यग्दृष्टि देवो की सत्ता को न मानना भी दुर्लभ-बोधि-कता का कारण है और इससे जीव के लिये जन्म-जन्मान्तरो तक जिन-धर्म का मिलना दुष्प्राप्य हो

---

१. चत्वारो वर्णाः—प्रकाराः श्रमणादयो यस्मिन् सः—इति वृत्तिकारः

जाता है, अतः देव-निन्दा से भी जीव दर्शन-मोहनीय कर्म का बन्ध करते है और इस कर्म के उदय होने पर कुमार्ग में ही जीवो को भटकना पड़ता है।

सुलभबोधिता—

जिन जीवो को जिन-धर्म की प्राप्ति इस जन्म मे अथवा जन्मान्तर मे सुलभ है, उन्हे सुलभ-बोधि कहा जाता है। सुलभ-बोधिता के भी पांच कारण हैं—जैसे कि अरिहन्त भगवान की स्तुति करने से, उनके चरणो मे श्रद्धा-भक्ति रखने से जीव सुलभ-बोधि बनता है। स्तुति वह विधायिका महाशक्ति है जिसका अर्थ है—महिमा का गान। जैसे कि—

जियरागदोसमोहा सव्वन्नू तियसनाहकयपूया।
अच्चंतसच्चवयणा सिवगइगमणा जयंति जिणा॥

अर्थात् जिन महापुरुषो ने राग-द्वेष, मोह आदि जीत लिए है सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी है, इन्द्रों के द्वारा जिनकी महिमा का गान किया गया है, जिन के वचन एकान्त सत्य हैं, जिनके चरण मोक्ष-द्वार तक पहुंच चुके हैं, उन भगवान् जिनेन्द्र देव की जय हो। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करने से जीव सुलभबोधि बनता है। केवलीभाषित धर्म की स्तुति इस प्रकार की जाती है जैसे कि—

वत्थुपयासणसूरो अइसयरयणाणसायरो जयइ।
सव्व जय जीव बंधुरबंधू दुविहो वि जिणधम्मो॥

अर्थात् जो धर्म वस्तुओ को प्रकाशित करने में सूर्य के समान है, अतिशयगुण-रत्नो का महासमुद्र है, जगत् के सभी प्राणियों का दिव्य बधु है, गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म अथवा श्रुतधर्म और चारित्रधर्म रूप केवलिभाषित धर्म सर्वोत्कर्ष वाला होने से विजयशील है। इस प्रकार केवलिभाषित धर्म की स्तुति करते रहने से जीव सुलभबोधि बनता है।

आचार्य और उपाध्याय की स्तुति इस प्रकार की जाती है, जैसे कि—

तेसिं नमो तेसिं नमो, भावेण पुणो वि तेसिं चेव नमो।
अणुवकय परहियरया, जे नाणं देंति भव्वाणं॥

अर्थात् उन आचार्य एवं उपाध्यायो को मन वचन और काय से पुनः पुन भावपूर्वक नमस्कार हो, जो बिना किसी इच्छा के परहित में तत्पर है, भव्य आत्माओ को निर्मल ज्ञान देते है। इस प्रकार उनकी स्तुति-श्लाघा करने से जीव सद्गुणो का पात्र बनता है और सुलभबोधिता के योग्य हो जाता है।

चतुर्विध श्रीसघ की स्तुति इस प्रकार की जा सकती है, जैसे कि—

एयम्मि पूइयम्मि नत्थि तयं जं न पूइयं होइ।
भुवणे वि पूअणिज्जो न गुणी संघाओ जं अन्नो॥

अर्थात् चतुर्विध श्रीसघ के पूजे जाने पर ऐसा कोई पूज्य नही रह जाता है जिस की पूजा करनी शेष रह गई हो। विश्व में श्रीसघ से अन्य कोई पूजनीय गुणी हो यह सम्भाव्य नही है। इस तरह चतुर्विध श्रीसघ की स्तुति करता हुआ जीव सुलभबोधि बनता है।

सम्यग्दृष्टि देवों का वर्णवाद अर्थात् स्तुति इस प्रकार की जा सकती है, जैसे कि—

धण्णा खलु ते देवा विसयविमोहावि हंत जिण सविहे।
धम्मं सुणंति सम्मं तित्थपभावं च कुव्वंति॥

अर्थात् वे धन्य है जो विषयों से विमुख रहकर जिनेन्द्र देव के समीप सम्यक् प्रकार से धर्म-उपदेश सुनते हैं और तीर्थ की प्रभावना करते हैं।

इस प्रकार देवों की स्तुति करता हुआ जीव सुलभबोधि बनता है। निंदा का परिणाम 'दुर्लभबोधिता' और स्तुति का परिणाम 'सुलभबोधिता' है।

प्रतिसंलीन और संवर

मूल—पञ्च पडिसंलीणा पण्णत्ता, तं जहा—सोइंदियपडिसंलीणे जाव फासिंदियपडिसंलीणे।

पञ्च अप्पडिसंलीणा पण्णत्ता, तं जहा—सोइंदिय-अप्पडिसंलीणे जाव फासिंदिय-अप्पडिसंलीणे।

पञ्चविहे संवरे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदियसंवरे जाव फासिंदियसंवरे।

पञ्चविहे असंवरे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदिय-असंवरे जाव फासिंदिय-असंवरे।४२।

छाया—पञ्च प्रतिसंलीनाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियप्रतिसंलीनो यावत् स्पर्शेन्द्रिय-प्रतिसंलीनः।

पञ्च अप्रतिसंलीनाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियाप्रतिसंलीनो यावत् स्पर्शेन्द्रियाप्रतिसंलीनाः।

पञ्चविधः संवरः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रिय-संवरो यावत् स्पर्शेन्द्रिय-संवरः।
पञ्चविधोऽसंवरः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियासंवरो यावत् स्पर्शेन्द्रियासंवरः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच इन्द्रिय-निग्रह कथन किये गए है, जैसे कि—श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह यावत् स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह।

पांच इन्द्रिय-अनिग्रह कहे गए है, जैसे कि श्रोत्रेन्द्रिय-अनिग्रह यावत् स्पर्शनेन्द्रिय-अनिग्रह।

पांच संवर बताए गए है, जैसे कि—श्रोत्रेन्द्रिय-संवर यावत् स्पर्शेनेन्द्रिय, संवर।

पांच असंवर अर्थात् आस्रव बताए गए है; जैसे कि—श्रोत्रेन्द्रिय-असंवर यावत् स्पर्शेनेन्द्रिय-असंवर।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में 'सुलभ-बोधि' और 'दुर्लभ-बोधि' का परिचय दिया गया है और साथ ही सुलभ बोधिता और दुर्लभबोधिता के कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। अब सूत्रकार उसी विषय का प्रकारान्तर से वर्णन करते है।

'लीनता' का अर्थ है—'अपने आपको खो देना, 'तल्लीनता' का अर्थ है अपने आपको दूसरे में विलीन कर देना। 'संलीनता' का अर्थ है—अपने आपको चारों ओर से समेट कर अपने को अपने मे लीन कर देना अर्थात् आत्म-अवस्थित हो जाना। चौथा शब्द है 'प्रतिसलीनता' इसका अर्थ है अपनी वृत्तियों को एव चेतना को बाहर से अन्दर लाकर उन्हे अपने आप में लीन करने का प्रयत्न करना।

इन्द्रिय-वृत्तियो की विवेचना में प्राय: अन्यत्र 'रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श' यह क्रम रखा गया है, क्योंकि प्रायः यह देखा गया है कि जब हम पहले नेत्रेन्द्रिय के द्वारा किसी वस्तु या जीव के रूप को देख लेते है उसके अनन्तर ही रस आदि के प्रति आकर्षण जागृत होता है। परन्तु भगवान महावीर 'शब्द' एवं शब्द-ग्राहिका श्रोत्रेन्द्रिय को प्राथमिकता देते है, क्योंकि आंखे सामान्य रीति से बंद की जा सकती है और तब रूप का आकर्षण समाप्त हो जाता है, किन्तु कानो को सामान्यरूप से बंद नहीं किया जा सकता। आखे बद करके ध्यान लगाना आरम्भ करने पर भी कानो मे शब्द पड़ते ही है और कानो मे शब्दो के आते ही कल्पित रूप मन के समक्ष उपस्थित हो जाता है, अत: साधक को सर्व प्रथम कर्ण-निग्रह अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय से सम्बन्ध तोडना चाहिए। इसके टूटते ही रूप आदि की परम्परा स्वत ही टूटने लगती है। भगवान महावीर ने इतनी अधिक श्रोत्रेन्द्रिय प्रति-सलीनता की साधना करली थी कि कानो मे कीलिया ठुक जाने पर भी उनकी महाचेतना उन कानों तक लौटी ही नही, वे प्रतिसलीन ही बने रहे।

श्रोत्रेन्द्रिय-प्रति सलीनता की साधना के अनन्तर रूपाकर्षण की समाप्ति के लिये नेत्रेद्रिय प्रति-सलीनता की साधना होनी चाहिए। तदनन्तर क्रमश रसाकर्षण की समाप्ति के लिये जिव्हेन्द्रियप्रति-सलीनता की तथा गन्ध-प्रवाह से मुक्ति पाने के लिये घ्राणेन्द्रिय-प्रतिसलीनता की साधना होनी चाहिए। किसी भी पदार्थ के विषय में सुनते ही पहले उसकी ओर दृष्टि जाती है, फिर उसकी गन्ध के लिये आकर्षण पैदा होता है, गन्ध अच्छी लगने पर मन उसका रस लेना चाहता है और उसमे रसकी उत्तमता उपलब्ध होने पर उस पदार्थ को छूना चाहता है, उसका स्पर्श करना चाहता है, अत: शब्देन्द्रिय को प्रथम स्थान देकर अन्त मे स्पर्शेन्द्रिय-प्रतिसलीनता को स्थान दिया गया है।

जब साधक प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय से सम्बन्ध तोड़ लेता है तब उसकी ज्ञानधारा बाह्य जगत से

मुक्त हो जाती है और इसी मुक्तावस्था में साधक की ज्ञानधारा का प्रवाह अन्तर्मु खी हो जाता है, यह अन्तर्मु खता ही संलीनता है। बाह्य विषयो से मुक्तज्ञान को ही सम्यक् ज्ञान कहा जाता है, क्योंकि वही ज्ञान स्व-स्वरूप की उपलब्धि के लिये यत्नशील हो सकता है और स्व-स्वरूप की उपलब्धि से सम्पन्न महासाधक ही 'सुलभ-बोधि' कहलाता है।

इसके विपरीत जिसकी चेतना बहिर्मु खी है वह अप्रतिसंलीन है। अप्रतिसंलीनता की भी पांच अवस्थाएं है, श्रोत्रेन्द्रिय-अप्रतिसंलीनता, नेत्रेन्द्रिय-अप्रतिसंलीनता, जिव्हेन्द्रिय-अप्रतिसंलीनता। घ्राणेन्द्रिय-अप्रति संलीनता और स्पर्शनेन्द्रिय अप्रतिसलीनता। इन्हीं के आधार पर अप्रतिसंलीनों के पांच रूप उपस्थित किए गए हैं।

यद्यपि विषयानुभूति में सभी इन्द्रियां एक दूसरे की सहायक हैं और विषयानुभूति की तीव्रता में पांचों ज्ञानेन्द्रिया सम्मिलित होकर कार्य करती है, फिर भी साधना-अवस्था में जब एक साधक ध्यानावस्थित होकर बैठा है, उसकी आखें बन्द है, वह सुगन्ध, दुर्गन्ध के ज्ञान की रसानुभूति और स्पर्श की सुखद अथवा दुखद अनुभूतियो से दूर है, परन्तु तभी उसके कानों में कोई गीत की कड़ी आ पहुंची और उसकी चेतना आत्म-पथ का परित्याग करके श्रोत्रेन्द्रिय के साथ जुड जाएगी, उस अवस्था में उसे श्रोत्रेन्द्रिय-अप्रतिसंलीन कहा जाएगा। इसी प्रकार किसी के आकर्षक रूप को देखकर जब उसकी चेतना रूप में तल्लीन हो जाती है, तब वह पास के गीत भी नही सुन पाती, उसको ग्रीष्म की लूएं और बर्फानी हवाओ की भी प्रतीति नही होती, इस दशा में उसे नेत्रेन्द्रिय-अप्रति-संलीन कहा जाता है।

यद्यपि प्रतिसलीनता और संवर शब्द मिलते-जुलते अर्थ की अभिव्यक्ति करते है, फिर भी इन मे सूक्ष्म भेद है। प्रतिसलीनता का अर्थ है जो कुछ अपने से भिन्न है, जो कुछ बाहर से आया हुआ है, जिसकी अनुभूति के लिये चेतना इन्द्रियो की गुलाम वनी हुई है उससे अपने आपको विमुख करना, तोडना और संवर का अर्थ है स्व-स्वरूप की स्वीकृति को अपने से जोड़ना। प्रतिसंलीनता बाहर से सम्बन्ध तोड़ती है और सवर अन्दर से सम्बन्ध जोड़ता है। इस प्रकार प्रथम प्रक्रिया तोड़ने को है और दूसरी प्रक्रिया जोड़ने की है। श्रोत्रेन्द्रिय-संवर का अर्थ है श्रोत्रेन्द्रिय से चेतना का सम्बन्ध टूट जाने पर उसे पुन: आत्मा के साथ जोड़ना। अतः मनः-प्रक्रिया के ज्ञाता शास्त्रकार ने प्रतिसलोन । और संवर को एवं उनको विरुद्ध अवस्थाओं को एक साथ प्रकट किया है। 

संयम और उसके भेद

मूल—पंचविहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा—सामाइयसंजमे, छेओवट्ठावणियसंजमे, परिहारविसुद्धियसंजमे, सुहुमसंपरायसंजमे, अहक्खायचरित्त संजमे ।४३।

छाया—पञ्चविधः संयमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—सामायिकसंयमः, छेदोपस्थापनीयसंयमः, परिहार-विशुद्धिकसंयम, सूक्ष्मसपरायसंयमः, यथाख्यातचारित्रसयमः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच प्रकार का संयम कथन किया गयाहै, जैसे—सामायिक संयम, छेदोपस्थापनीय संयम, परिहारविशुद्धिक संयम, सूक्ष्मसंपराय सयम, यथाख्यात संयम ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में संवर का वर्णन किया गया है, संवर सयम का ही एक रूप है, अतः प्रस्तुत सूत्र में परम्परा प्राप्त संयम की पंचविधता का वर्णन किया गया है। जिससे अपने को और दूसरे को शान्ति प्राप्त हो अथवा जिससे ज्ञान-पूर्वक पाप-क्रियाओ से सर्वथा निवृत्ति हो, वही संयम है—**'संयमनं संयमः ।'** जिस अनुष्ठान से सभी जीवो की रक्षा हो, उसे भी सयम ही कहा जाता है। इस संयम के भी पांच रूप हैं, जैसे कि—

१. **सामायिक-संयम**—सभी पाप-मय व्यापारो का त्याग करना और आध्यात्मिक साधना में सहायक व्यापारो में प्रवृत्ति करना सामायिक संयम है, वे साधनाएं भी सामायिक-संयम के अन्तर्गत आती हैं, जिनसे प्रतिक्षण होनेवाली कर्म-निर्जरा के कारण जीव की मानसिक शुद्धि होती है। उस ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र रूप रत्नत्रय की उपलब्धि को भी सामायिक-संयम कहा जाता है जिससे भव-भ्रमण समाप्त होता है, सभी प्रकार के दुःखों का नाश होता है और अनिर्वचनीय सुख की उपलब्धि होती है।

२ **छेदोपस्थापनीय-संयम** - पूर्व पर्याय का छेदन करके शिष्य को पुन· पाच महाव्रतों मे नियुक्त करना छेदोपस्थापनीय संयम है। यह संयम भरत और ऐरवत क्षेत्रों में प्रथम और चरम तीर्थङ्करो के तीर्थ में ही होता है। शेष २२ तीर्थङ्करों और महाविदेह क्षेत्र में विचरने वाले तीर्थङ्करो के तीर्थ मे यह संयम नही पाया जाता।

यह सयम दो प्रकार का होता है। जब एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जानेवाले सर्वविरतियों के लिये जो महाव्रतो का आरोपण होता है तब वह "निरतिचार छेदोपस्थापनीय" है, जैसे कि भगवान पार्श्वनाथ के शासन के साधु जब भगवान महावीर के शासन मे आए थे तब उन्हे पुन पाच महाव्रतों से दीक्षित किया गया था। इसी प्रकार एक सप्ताह के अनन्तर जो नव-दीक्षित को छेदोपस्थापनीय सयम दिया जाता है वह भी इसी कोटि का होता है। जब कोई साधक मूलगुणो को किसी प्रकार दूषित कर देता हो तो उसे पुनः महाव्रतो से सम्पन्न किया जाता है वह सयम 'सातिचार छेदोपस्थापनीय' होता है।

३ **परिहारविशुद्धि-संयम**—यदि किसी संयमी साधक द्वारा कोई संयम-विरुद्ध कार्य हो जाता है तो उसके दोष की निवृत्ति के लिये जो विशेष रूप से शुद्धीकरण की प्रक्रिया अपनाई जाती है, जिसमें आपवादिक स्थिति के लिये कोई स्थान नही रह जाता वह परिहारविशुद्धि-संयम कहलाता है। यह कल्पस्थिति इस प्रकार प्रसिद्ध है—वे नव साधु जिनका अध्ययन कम से कम नौवे पूर्व की तीसरी वस्तु पर्यन्त हो, जो दीक्षास्थविर हो, वे इस सयम को धारण कर सकते है। ऐसे संयमी आचार्य-उपाध्याय की शुभ आज्ञा को पाकर गच्छ से बाहर निकलकर १८ मास पर्यन्त विशेष विधि-

विधान के अनुसार तप करते है, जैसे कि—चार साधु छः मास तक तप करते है, चार साधु तपस्वियों की वैयावृत्य अर्थात् सेवा करते है और उनमे से एक वाचनाचार्य होकर ठहरता है। दूसरी बार की षाण्मासिक साधना में वैयावृत्य करनेवाले साधु तप करते है और तप करनेवाले साधु वैयावृत्य में सलग्न होते हैं, किन्तु वाचनाचार्य वही रहता है जो पहले था। तीसरे छः महीने में वाचनाचार्य स्वयं तप करता है, शेष आठ मे से एक वाचनाचार्य बनता है और सात मुनिवर वैयावृत्य करते है। इस प्रकार यह सयम साधना १८ महीनो में पूर्ण होती है।[1]

४. **सूक्ष्मसंपराय-संयम**—यहा सूक्ष्म शब्द से लोभ और संपराय शब्द से कषाय का ग्रहण किया जाता है। जब सूक्ष्म रूप से लोभ का उदय हो और शेष कषायों का उदय न हो, तब उसे सूक्ष्मसंपराय संयम कहते हैं। यह संयम दसवें गुणस्थान में होता है। ग्यारहवें या बारहवें गुणस्थान के अभिमुख संयमी के परिणाम विशुद्धचमान होते है, किन्तु दसवें गुणस्थान से प्रतिपाती होते हुए जब संयमी नौवे गुणस्थान के अभिमुख होता है तब उसके भाव संक्लिश्यमान होते है।

५. **यथाख्यात-संयम**—इसका शाब्दिक अर्थ है—जिसकी कथनी और करणी संतुलित हो, जैसे कहता है, वैसे ही करता है। इसके अधिकारी पूर्ण सत्यवादी, उत्तम सहननवाला, छद्मस्थ और केवली दोनो ही होते है। इस सयम में कषायों का उदय नही होता। ११वे, १२वे, १३वे और १४वे गुणस्थान मे ही यथाख्यात-संयम पाया जाता है। निर्वाण-प्राप्ति में सहायक यही मुख्य सयम है। इसकी आराधना से जीव आत्म-विकास करते हुए अक्षय मोक्ष पद की प्राप्ति कर सकते हैं।

एकेन्द्रिय जीवाश्रित संयम-असंयम

मूल—**एगिंदिया णं जीवा असमारभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ, तं जहा—पुढविकाइयसंजमे जाव वणस्सइकाइयसंजमे।**

एगिंदिया णं जीवा समारभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ, तं जहा—पुढविकाइय-असंजमे जाव वणस्सइकाइय-असंजमे।४४।

छाया—एकेन्द्रियान् जीवान् असमारभमानस्य पञ्चविधः संयमः क्रियते, तद्यथा—पृथिवीकायिक-संयमो यावत् वनस्पतिकायिकसंयमः।

---

1. इह च नवको गणो भवति, तत्र चत्वारः परिहारकाः, अपरे तु तद्वैयावृत्यकराश्चत्वार एवानुपरिहारकाः, एकस्तु कल्पस्थितो वाचनाचार्यो गुरुभूत इत्यर्थः, एतेषां च निर्विशमानकानामय परिहारः, ग्रीष्मे जघन्यादीनि चतुर्थषष्ठाष्टमादीनि, शिशिरे तु षष्ठाष्टमदशमानि, वर्षास्वष्टमदशमद्वादशानि, पारणके चायाम, इतरेषा सर्वेषामायाममेव। एवमेते चत्वारः षण्मासान्, पुनरन्ये चत्वार षडेव पुनर्वाचनाचार्यः, षडिति सर्व एवायमष्टादशमासिकः कल्प इति;

इतिवृत्तिकार।

एकेन्द्रियान् जीवान् समारभमानस्य पञ्चविधोऽसंयमः क्रियते, तद्यथा—पृथिवीकायिका-संयमो यावत् वनस्पतिकायिकासंयमः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—एकेन्द्रिय जीवों का समारम्भ अर्थात् हिंसा न करनेवाला पांच प्रकार का संयम करता है, जैसे—पृथिवीकाय का संयम यावत् वनस्पतिकाय का संयम ।

एकेन्द्रिय जीवों का समारम्भ करनेवाला पांच प्रकार का असंयम करता है, जैसे—पृथिवी काय का असंयम यावत् वनस्पति काय का असंयम ।

विवेचनिका—

संयम-प्रकरण के अन्तर्गत प्रस्तुत सूत्र में भी सयम का ही वर्णन किया गया है। जो व्यक्ति एकेन्द्रिय जीवों अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, और वनस्पति कायिक जीवो का समारम्भ अर्थात् हिंसा नही करते, वे पाच प्रकार के संयम का पालन करते हैं, जैसे कि पृथिवीकाय-सयम, अप्-कायसयम, तेजस्काय-संयम, वायुकाय-संयम और वनस्पतिकाय-सयम, अर्थात् ऐसे साधक एकेन्द्रिय जीवो से सम्बन्धित अहिंसा-व्रत का पालन करते है।

जो एकेन्द्रिय जीवों का समारम्भ—हिंसा करते है, उनका असंयम भी पाच प्रकार का होता है। जैसे कि पृथ्वीकाय-असयम, अप्काय-असयम, वायुकाय-असयम, तेजस्काय-असयम और वनस्पति-काय-असंयम।

संयम से उत्थान होता है और असयम से पतन। इस सूत्र में अहिंसा और हिंसा को क्रमशः संयम और असंयम बतलाया गया है। अहिंसा और संयम दोनो जैनधर्म के प्राण है, प्राणों की रक्षा करना ही प्राणी की रक्षा है।

जैन संस्कृति का अहिंसा स्वर अत्यन्त व्यापक है, अतः वह पृथ्वीकाय आदि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों तक की हिंसा के परित्याग को सयम कह कर संयमी के लिये महान् जीव-रक्षा का विधान करता है। आधुनिक विज्ञान के विकास से पूर्व जैन संस्कृति ने ही वनस्पतियो आदि में प्राणो के दर्शन करके जीव-विज्ञान के विकास में प्रथम योग दान दिया है।

इन्द्रियाधिष्ठित संयम-असंयम

मूल—पंचिंदिया णं जीवा असमारंभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ, तं जहा—सोइंदियसंजमे जाव फासिंदियसंजमे ।

पंचिंदिया णं जीवा समारभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ, तं जहा—सोइंदिय-असंजमे जाव फासिंदिय-असंजमे ।

सव्वपाण-भूय-जीव-सत्ताणं असमारंभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ, तं जहा—एगिंदियसंयमे जाव पंचिंदिय-संजमे ।

सव्वपाण-भूय-जीव-सत्ताणं समारंभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ, तं जहा—एगिंदिय-असंजमे जाव पंचिंदिय-असंजमे ।४५।

छाया—पञ्चेन्द्रियान् जीवान समारभमाणस्य पञ्चविधः संयमः क्रियते, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रिय-संयमो यावत् स्पर्शेन्द्रियसंयमः ।

पञ्चेन्द्रियान् जीवान् समारभमाणस्य पञ्चविधोऽसंयमः क्रियते, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रिया-संयमो यावत् स्पर्शेन्द्रियासंयमः ।

सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वान्यसमारभमाणस्य पञ्चविधः संयमः क्रियते, तद्यथा—एकेन्द्रियसंयमो यावत् पञ्चेन्द्रियसंयमः ।

सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वानि समारभमाणस्य पञ्चविधोऽसंयम क्रियते, तद्यथा—एकेन्द्रियासंयमो यावत् पञ्चेन्द्रियासंयमः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पञ्चेन्द्रिय जीवों का समारम्भ अर्थात् हिंसा न करने वाला व्यक्ति पांच प्रकार का संयम करता है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय के संयम से लेकर स्पर्शेन्द्रिय के संयम तक ।

पञ्चेन्द्रिय जीवों का समारम्भ अर्थात् हिंसा करनेवाला व्यक्ति पांच प्रकार का असंयम करता है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय के असंयम से लेकर स्पर्शनेन्द्रिय के असंयम तक ।

सर्व प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों का समारम्भ न करनेवाला व्यक्ति पांच प्रकार का संयम करता है, जैसे—एकेन्द्रिय के संयम ले लेकर पञ्चेन्द्रिय के संयम तक ।

सर्व प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों का समारम्भ अर्थात् हिंसा करनेवाला पांच प्रकार का असंयम करता है, जैसे—एकेन्द्रिय के असंयम से लेकर पञ्चेन्द्रिय के असंयम तक ।

विवेचनिका—

संयम का प्रकरण होने से प्रस्तुत सूत्र में भी सयम और असयम का ही वर्णन किया गया है। पचेन्द्रिय जीवो को कष्ट न देने से एवं उनकी हत्या न करने से पाच प्रकार के सयम का पालन किया जाता है, जैसे कि किसी के द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय की रक्षा करना श्रोत्रेन्द्रिय-संयम है। किसी के द्वारा चक्षुरिन्द्रिय की रक्षा करना चक्षुरिन्द्रिय संयम है, किसी के द्वारा घ्राणेन्द्रिय की रक्षा करना घ्राणेन्द्रिय संयम है, किसी के द्वारा रसनेन्द्रिय को रक्षा करना रसनेन्द्रिय सयम है और किसी के द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय की रक्षा करना स्पर्शनेन्द्रिय संयम है, अर्थात् किसी भी इन्द्रिय को नष्ट न करना उसे साता पहुचाना संयम है, क्योकि पांच ज्ञानइन्द्रियां भी प्राण ही है। प्राण सभी जीवो को प्रिय हैं। अतः प्राणियों की इन्द्रियो की रक्षा करना प्राण-रक्षा है, यह रक्षा संयम का ही एक रूप है। इससे विपरीत आचरण करना असंयम है।

समस्त प्राणी-भूत-जीव-सत्त्वो को कष्ट देना, उनकी हिंसा करना, उन्हें परितप्त करना आदि क्रियाओ से निवृत्ति रूप पाच प्रकार का सयम होता है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवो तक इस सयम की मर्यादा है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों को प्राणी कहते है, वनस्पतिकाय को भूत, पचेन्द्रिय जीवों को जीव कहा जाता है और इनके अतिरिक्त शेष पृथिवी कायिक आदि चार स्थावरो को सत्त्व कहते है। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सभी जीव जीना चाहते है, उनकी हिंसा न करना, उन्हे पीड़ित न करना और उन्हे साता पहुंचाना सयम है।

हिंसा से कर्मों का बध होता है और प्राणियो के साथ वैर बढ़ता है। जो समाधि और विवेक-साधना में संलग्न है, वे सयम जैसे श्रेय-मार्ग को छोड़कर असयम के त्याज्य-मार्ग पर कभी नही जाते है।

पचविध तृण-वनस्पति-कायिक

मूल—पंचविहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता, तं जहा—अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया, खंधबीया, बीयरुहा ।४६।

छाया—पञ्चविधास्तृण-वनस्पतिकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अग्रबीजाः, मूलबीजाः, पर्वबीजाः, स्कन्धबीजाः, बीजरुहाः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच प्रकार के बादर अर्थात् स्थूल वनस्पतिकायिक जीव कथन किये गए है, जैसे—अग्रबीज—जिनका अग्रभाग ही बीज हो कोरण्टक आदि। मूलबीज—जिनका मूलभाग ही बीज हो उत्पलकन्द आदि। पर्वबीज—जिनका पर्व-

भाग अर्थात् गांठ ही बीज हो बांस, ईख आदि। स्कन्धबीज–जिनका स्कन्ध-भाग अर्थात् पेड़ी ही बीज हो, शल्लकी आदि। बीजरुह–जो बीज से ही बोने पर उत्पन्न होते हों, बरगद आदि।

विवेचनिका–

भूत शब्द और वनस्पति शब्द दोनों वनस्पति-कायिक जीवो के पर्यायवाची नाम है। इस लिये प्रस्तुत सूत्र में तृण-वनस्पति-काय के पाच भेदो का वर्णन किया गया है। स्थूल वनस्पति कोई अग्रबीज वाली होती है, जैसे कोरंट आदि, मूलबीज कमलकंद आदि, पर्वबीज ईख आदि, स्कन्धबीज वट आदि, बीजरुह शल्लकी आदि।[1]

वैसे तो आयुर्वेद शास्त्र में वनस्पतियो का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, आजकल तो वनस्पति शास्त्र के रूप में विशेष एव सर्वथा पृथक् रूप मे इस विषय के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा विस्तृत हो रही है। परन्तु इस विषय का प्रथम विवेचन हमें जैनागमो के द्वारा ही प्राप्त होता है, वनस्पतियो का प्रस्तुत विभागीकरण इसका साक्षी है।

पंचविध आचार

मूल—पंचविहे आयारे पण्णत्ते, तं जहा–णाणायारे, दंसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, वीरियायारे।४७।

छाया—पञ्चविध आचारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ज्ञानाचारः, दर्शनाचारः चारित्राचारः, तप-आचारः, वीर्याचारः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच प्रकार का आचार वर्णित किया गया है, जैसे–ज्ञानाचार, दर्शनाचार चारित्राचार, तप-आचार, वीर्य-आचार।

विवेचनिका–

वनस्पति आदि जीवो की रक्षा आचार का ही एक रूप है, इसलिये प्रस्तुत सूत्र में परम्परा-प्राप्त पांच प्रकार के आचारों का निर्देश किया गया है।

श्रुतज्ञान की प्राप्ति अर्थात् आगमो का अध्ययन चौदह अतिचारों को छोड़कर ही करना

1. इनका विस्तृत स्वरूप सूयगडाङ्ग सूत्र के आहार-परिज्ञा नामक अध्ययन मे देखिए।

चाहिए और साथ ही आगमज्ञान सम्मान के साथ प्राप्त करना चाहिए, यही 'ज्ञानाचार है'।

शंका आदि दोषों से रहित होकर शुद्ध सम्यग्दर्शन की आराधना करना ही 'दर्शनाचार्य' है। समिति, गुप्ति रूप भेदों सहित सम्यक्तया चारित्र की आराधना करना 'चारित्राचार' है। अनशन आदि वारह भेदो सहित सम्यक् रूप से तप की आराधना करना 'तपाचार' है।

उक्त चार प्रकार के आचारों का पालन करने के लिये दृढप्रतिज्ञ होना और अपनी शक्ति के अनुरूप प्रत्येक आचार के पालन के लिये यत्नशील रहना 'वीर्याचार' है।

इस सूत्र मे निर्ग्रन्थ प्रवचन के विराट रूप का सामान्य रूप से प्रदर्शन किया गया है। ज्ञानाचार में प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण और नय निक्षेप, लक्षण आदि विपय समाविष्ट हो जाते है। इतना ही नही, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इस त्रिपदी का भी इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। दर्शनाचार मे सम्यग्दर्शन की आराधना का और मिथ्यादर्शन एवं मिश्रदर्शन की निवृत्ति का समावेश हो जाता है। संयम और संयमासंयम इनको चारित्राचार का ही अंग समझना चाहिए। तपाचार मे सकाम निर्जरा का तथा वीर्याचार में आत्मा के आत्मभूत लक्षण रूप शक्ति और उपयोग के विषय का अन्तर्भाव माना जाता है। इस प्रकार पाच आचारो के विषय जानने चाहिए। यद्यपि वीर्याचार के पंडितवीर्य और बाल-पंडित वीर्य, इस तरह दो भेद है, तदपि इस स्थान पर केवल सम्यग्दर्शन पूर्वक वीर्याचार का ही ग्रहण किया गया है।

आचार-प्रकल्प

मूल—**पंचविहे आयारपकप्पे पण्णत्ते, तं जहा—मासिए उग्घाइए, मासिए अणुग्घाइए, चउमासिए उग्घाइए, चाउम्मासिए अणुग्घाइए, आरोवणा।**

आरोवणा पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—पट्ठविया, ठविया, कसिणा, अकसिणा, हाडहडा।४८।

छाया—पञ्चविध आचारप्रकल्पः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—मासिक उद्घातिकः, मासिकोऽनुद्घातिकः, चातुर्मासिक उद्घातिकः, चातुर्मासिकोऽनुद्घातिकः, आरोपणा।

आरोपणा पञ्चविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा प्रस्थापिता, स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना, हाडहडा।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच प्रकार का आचार प्रकल्प वर्णित किया गया है, जैसे—उद्घातिकमासिक, अनुद्घातिकमासिक, उद्घातिक चातुर्मासिक, अनुद्घातिक

चातुर्मासिक, आरोपणा—मायापूर्वक आलोचना करने से मिलनेवाला प्रायश्चित्त। आरोपणा पांच प्रकार की है; जैसे—प्रस्थापिता, स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना, हाडहडा।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में पांच आचारों का वर्णन किया गया है। पांच आचारों में से किसी भी आचार में लगे हुए दोष की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त का करना अनिवार्य होता है। निशीथसूत्र में कथित आधार से जो प्रायश्चित्त दिया और लिया जाता है उसीका निर्देश प्रस्तुत सूत्र में किया गया है। आचाराग सूत्र के अंतर्गत निशीथ नामक अध्ययन को आचार-प्रकल्प कहते हैं। निशीथ-अध्ययन आचारांग सूत्र की पंचम चूलिका है। इसके २० उद्देशक है। उस चूलिका में पांच प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन प्राप्त होता है। वृत्तिकार आचार-प्रकल्प का अर्थ निशीथ अध्ययन ही करते हैं, जैसे कि—

"आचारस्य—प्रथमाङ्गस्य पदविभागसमाचारी लक्षणप्रकृष्टकल्पाभिधायकत्वात् प्रकल्पः आचारप्रकल्प—निशीथाध्ययनम्।"

निशीथसूत्र के अतर्गत कुछ उद्देशकों में लघुमासिक प्रायश्चित्त का, कुछ उद्देशकों में गुरुमासिक प्रायश्चित्त का, कुछ उद्देशको में लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का, कुछ उद्देशकों में गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त का तथा आरोपणा का विधान किया गया है। 'उग्घाइए' पद लघु अर्थ में रूढ है और 'अणुग्घाइए' पद गुरु अर्थ मे। जो प्रायश्चित्त खण्ड-खण्ड करके दिया जाए वह उद्घातिक और जो प्रायश्चित्त एक साथ दिया जाए, वह अनुद्घातिक कहलाता है। मास के आधे १५ दिन और मासिक प्रायश्चित्त के पूर्ववर्ती २५ दिन के आधे साढे बारह दिन इन दोनों सख्याओं को जोड़ने से साढे सत्ताईस दिन होते है इस तरह भाग करके जो एक मास का प्रायश्चित्त दिया जाता है वही अनुद्घातिक है। वृत्तिकार भी इसी प्रकार लिखते है, जैसे कि—

"अद्धेण छिन्नसेसं पुव्वद्धेण तु संजुयं काउं।
देज्जाहि लहुयदाणं गुरुदाणं तत्तियं चेव॥"

"एतद्भावना मासिकतपोऽधिकृत्योपदर्श्यते—मासस्यार्द्धच्छिन्नस्य शेषं दिनानां पञ्चदशकं तन्मासापेक्षया च पूर्वस्य—पञ्चविंशतिकस्यार्द्धेन सार्धद्वादशकेन संयुत कृतं सार्द्धसप्तविंशति भवतीति।"

गुरुमासिक प्रायश्चित्त तीस दिन का होता है और गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त पूरे १२० दिन का होता है, इससे न्यून अधिक नही।

प्रायश्चित्तों के ऊपर जो प्रायश्चित्त ६ मास पर्यंन्त लगातार दिया जाता है उसे आरोपणा कहा जाता है। दीक्षा-छेदन करके भी प्रायश्चित्त दिया जाता है और तप करवा कर भी।

आरोपणा के पाच भेद हैं, जैसे कि प्रस्थापिता, स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना और हाडहडा। इन का विवरण निम्नलिखित है—

१. प्रस्थापिता—आरोपित किए हुए प्रायश्चित का पालन यथाशीघ्र करना या करवाना अथवा दोषों से शीघ्रातिशीघ्र निवृत्ति पाने के लिये ग्रहण किए प्रायश्चित्त को कार्यान्वित करना प्रस्थापित प्रायश्चित्त है।

२. स्थापिता—जो आरोपणा प्रायश्चित्त दिया गया है, उस का वैयावृत्य अर्थात् सेवा आदि विशेष कारणो से उसी समय यदि उसका पालन न कर सके तो भविष्य के लिये उसे स्थापित करना और पुनः अनुकूल समय आने पर उसका आचरण करवाना स्थापित प्रायश्चित्त है।

३. कृत्स्ना—एक साथ पूर्ण प्रायश्चित्त देना, जैसे कि तीर्थ में उत्कृष्ट छ मास तक तप करने का विधान है। यदि अमुक मुनि के लिये छः मास से अधिक का गुरुमास प्रायश्चित्त आवश्यक हो तो उसको छ. मास तक पृथक् तप आदि करने के लिये नियुक्त करना कृत्स्ना आरोपणा है। यद्यपि सभी प्रकार के तपो के लिये क्रोध और माया रहित होना आवश्यक होता है, तथापि इस तप मे क्रोध और माया से रहित होना विशेष रूप से अनिवार्य है।

४. अकृत्स्ना—दोषों की बहुलता से आरोपणा प्रायश्चित्त का कुल जोड यदि छ: मास से कही अधिक बैठता हो तो जिस प्रायश्चित्त मे न्यूनता हो सकती है या एक जैसे अनेक दोषो का समावेश एक में करके जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, उसे अकृत्स्ना आरोपणा कहते है।

५. हाडहडा—जिस साधक को जो लघु, गुरुमासिक आदि का प्रायश्चित्त आता हो तो उसको वही तप शीघ्रता से प्रदान करना हाडहडा प्रायश्चित्त है[1]।

उक्त भेदों से यह सिद्ध होता है कि छेदरूप या तप रूप प्रायश्चित्त का विधान ज्ञान, दशन और चारित्र की विशुद्धि के लिये किया गया है, किन्तु देश, काल, शक्ति, सहनन, सयम-विराधना, काय, इन्द्रिय, जाति और गुणोत्कर्ष इन सब बातों को देखकर ही यह प्रायश्चित्त दिया जाता है।

प्रायश्चित्त दण्ड नहीं, आत्म-विशुद्धि की तपोमयी प्रक्रिया है, साधक को उसके दोषो का ज्ञान करवा कर उनसे उसे मुक्त करना है, अत. साधक की शक्ति आदि के अनुरूप उसे अनेकविध प्रायश्चित्त देने पड़ते है, यही कारण है कि जैनागम प्रायश्चित्तो की अनेकविधता पर प्रकाश डालते है।

वक्षस्कार पर्वत एवं द्रह

मूल—जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमे णं सीयाए महानईए उत्तरेणं पंच वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—मालवंते, चित्तकूडे, पम्हकूडे, णलिण-कूडे, एगसेले।

---

1. इन प्रायश्चित्तों का पूर्ण विवरण निशीथ सूत्र के २०वे उद्देशक मे देखना चाहिए।

जंबूमंदरस्स पुरओ सीयाए महानईए दाहिणेणं पंच वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—तिकूडे, वेसमणकूडे, अंजणे, मायंजणे, सोमणसे।

जंबूमंदरस्स पच्चत्थिमेणं सीओयाए महाणईए दाहिणेणं पंच वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—विज्जुप्पभे, अंकावई, पम्हावई, आसीविसे, सुहावहे। जंबूमंदरपच्चत्थिमेणं सीओयाए महाणईए उत्तरेणं पंच वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—चंदपव्वए, सूरपव्वए, णागपव्वए, देवपव्वए, गंधमायणे।

जंबूमंदरदाहिणेणं देवकुराए कुराए पंच महद्दहा पण्णत्ता, त जहा—निसहद्दहे, देवकुरुद्दहे, सूरद्दहे, सुलसद्दहे, विज्जुप्पभद्दहे।

जंबूमंदरउत्तरकुराए कुराए पंच महद्दहा पण्णत्ता, तं जहा—नीलवंतद्दहे, उत्तरकुरुद्दहे, चंदद्दहे, एरावणद्दहे, मालवंतद्दहे।

सव्वेऽवि णं वक्खारपव्वया (तेणं) सीयासीओयाओ महाणईओ मंदरे वा पव्वयंतेणं पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेण, पंचगाउयसयाइं उव्वेहेणं। धायइसंडे दीवे पुरच्छिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं पंच वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—मालवंते। एवं जहा जंबूद्दीवे तहा जाव पुक्खरवरदीवड्ढपच्चत्थिमद्धे वक्खारा, दहा य उच्चत्तं भाणियव्वं। समयक्खेत्ते णं पंच भरहाइं, पंच एरवयाइं। एवं जहा चउट्ठाणे बिईयउद्देसे तहा एत्थ वि भाणियव्वं जाव पंच मंदर, पंचमंदरचूलियाओ, णवरं उसुयारा णत्थि।४९।

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्ये सीताया महानद्या उत्तरेण पच वक्षस्कारपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—माल्यवान्, चित्रकूटः, पद्मकूट., नलिनकूट., एकशलः।

जम्बूमंदरस्य पुरतः सीताया महानद्याः दक्षिणेन पञ्च वक्षस्कारपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—त्रिकूटः, वैश्रमणकूट., अञ्जनः, मात्राञ्जन., सौमनसः।

जम्बूमन्दरस्य पश्चिमे सीतोदाया महानद्याः, दक्षिणेन पञ्चवक्षस्कारपर्वता. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—विद्युत्प्रभः, अङ्कावती, पद्मावती, आशीविशः, सुखावहः।

जम्बूमन्दरपश्चिमे सीतोदाया महानद्या उत्तरेण पञ्चवक्षस्कारपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चन्द्रपर्वतः, सूरपर्वतः, नागपर्वतः, देवपर्वतः, गन्धमादनः।

जम्बूमन्दरदक्षिणेन देवकुरायां कुरायां पञ्च महाद्रहाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—निषधद्रहः, देवकुरुद्रहः, सूरद्रहः, सुलसद्रहः, विद्युत्प्रभद्रहः।

जम्बूमन्दरोत्तरकुरायां कुरायां पञ्च महाद्रहाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नीलवद्द्रहः, उत्तरकुरुद्रहः, चन्द्रद्रहः, एरावणद्रहः, माल्यवद्द्रहः।

सर्वेऽपि वक्षस्कारपर्वताः (तेन) सीतासीतोदे मन्दरो वा पर्वतस्तेन पञ्च योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन, पञ्चगव्यूतिशतान्युद्वेधेन।

धातकीषंडे द्वीपे पूर्वार्द्धे मन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्ये सीताया महानद्या उत्तरेण पञ्च वक्षस्कारपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—माल्यवान्०। एवं यथा जम्बूद्वीपे तथा यावत् पुष्करवरद्वीपार्द्धपश्चिमार्द्धे वक्षस्काराः द्रहाश्च उच्चत्वं भणितव्यम्। समयक्षेत्र पञ्च भरता., पञ्चैरवतानि। एवं यथा चतुःस्थानके द्वितीयोद्देशके तथाऽत्रापि भणितव्यम्, यावत् पञ्चमन्दराः, पञ्च मन्दरचूलिकाः, नवरं इषुकारा न सन्ति।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में मेरुपर्वत के पूर्व में सीता महानदी के उत्तर की ओर पांच वक्षस्कार पर्वत वर्णन किये है, जैसे—माल्यवान्, चित्रकूट, पद्मकूट, नलिनकूट, एकशैल।

जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के पूर्व में सीता महानदी के दक्षिण की ओर पांच वक्षस्कार पर्वत वर्णन किये है, जैसे—त्रिकूट, वैश्रमणकूट, अञ्जन, मातञ्जन, सौमनस।

जम्बूद्वीप में मन्दर पर्वत के पश्चिम में सीतोदा महानदी के दक्षिण की ओर पांच वक्षस्कार पर्वत वर्णित किये गए है, जैसे—विद्युत्प्रभ, अङ्कावती, पद्मावती, आशीविष, सुखावह।

जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के पश्चिम में सीतोदा महानदी के उत्तर की ओर पांच वक्षस्कार पर्वत वर्णन किये हैं, जैसे—चन्द्रपर्वत, सूर्यपर्वत, नागपर्वत देव पर्वत, गन्धमादन।

जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के दक्षिण में देवकुरु नामक अकर्मभूमि में पांच महाद्रह वर्णन किये हैं, जैसे—निषधद्रह, देवकुरुद्रह, सूरद्रह, सुलसद्रह, विद्युत्प्रभद्रह।

जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के उत्तर में उत्तरकुरु नामक अकर्मभूमि मे पाच

महाद्रह कथन किये है, जैसे—नीलवन्तद्रह, उत्तरकुरुद्रह, चन्द्रद्रह। ऐरावद्द्रह, माल्यवान् द्रह।

जम्बूद्वीपान्तर्गत सब के सब वक्षस्कार पर्वत, सीता, सीतोदा एवं मेरु पर्वत के पास है और पांच सौ योजन भूमि से ऊंचे एवं पांच सौ गव्यूत (दो हजार धनुष परिमित क्षेत्र) भूमि से नीचे है।

धातकीषण्ड द्वीप के पूर्वार्द्ध में, मेरुपर्वत के पूर्व मे, सीता महानदो के उत्तर की ओर पांच वक्षस्कार पर्वत कथन किये है, जैसे—माल्यवान् आदि। जिस प्रकार जम्बूद्वीप के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार यहां पर भी जानना।

पुष्करार्द्धद्वीप के भी पूर्व और पश्चिम अर्धभाग मे वक्षस्कार, द्रह और वक्षस्कारों का ऊंचापन आदि सब जम्बूद्वीप के समान ही कहना चाहिए। पांच भरत और पांच ऐरावत समयक्षेत्र है। जिस प्रकार चतुर्थ स्थान के द्वितीय उद्देशक में वर्णन किया गया है, उसी प्रकार यहां पर भी कहना चाहिए, यावत् पांच मेरुपर्वत की चूलिकाये जाननी। इतनी विशेषता है कि वहां इषुकार नहीं है।

विवेचनिका—

संयमशील साधक मनुष्यक्षेत्र में ही होते है और वह जम्बूद्वीप मनुष्य-क्षेत्र के अंतर्गत भी है, अतः अब सूत्रकार संयमशीलों के क्षेत्र जम्बूद्वीप की भौगोलिक स्थिति का परिज्ञान कराते है। इस सूत्र में वीस वक्षस्कार नामक पर्वतों का नामोल्लेख किया गया है, उन्ही पर्वतों को गजदंत भी कहा जाता है। ये विशेष प्रकार के पर्वत हैं। इनका नाम वक्षस्कार इस लिये पड़ा है कि वे दो पर्वत मिलकर अपने मध्य में क्षेत्र-विशेष को गोप्य करते हैं। माल्यवान् पर्वत के चारों दिशाओं में चार वक्षस्कार पर्वत हैं। वे जम्बूद्वीप के मेरु से पूर्व की ओर तथा सीता महानदी के उत्तर की ओर अवस्थित हैं। इसी प्रकार त्रिकूट आदि पांच वक्षस्कार पर्वत सीता महानदी के दक्षिण की ओर अवस्थित हैं। जम्बूद्वीप के मेरु से पश्चिम की ओर शीतोदा महानदी के दक्षिण की ओर विद्युत्प्रभ आदि पाच वक्षस्कार पर्वत हैं। इसी प्रकार शीतोदा महानदी के उत्तर की ओर चन्द्र पर्वत आदि वक्षस्कार पर्वत अवस्थित हैं। इस प्रकार चार सूत्रांशों के द्वारा सूत्रकार ने २० वक्षस्कार पर्वतों का वर्णन किया है।

जम्बूद्वीप के अन्तर्गत मेरु से दक्षिण की ओर देवकुरु क्षेत्र में पाच महाह्लद हैं, जिनके शाश्वत नाम निषधह्लद, देवकुरुह्लद, सूर्यह्लद, सुलसह्लद और विद्युत्प्रभह्लद हैं। उसी मेरु से उत्तर की ओर पांच महाह्लद हैं, जिनके नाम नीलवंत, उत्तरकुरु, चन्द्र, एरावण और मालवंत ह्लद है। इन दस महाह्लदों से अनेक महानदियां प्रवाहित होती है।

सभी वक्षस्कार पर्वत शीता और शीतोदा महानदी के दक्षिण और उत्तर दिशा की ओर है, ये सभी पर्वत मेरुपर्वत के समोप है और पाच सौ योजन ऊचे तथा पाच सौ कोस की गहराई तक अवस्थित है।

इसी प्रकार धातकी खड द्वीप के पूर्वार्द्ध में मेरुपर्वत से पूर्व की ओर जैसे—शीता महानदी के उत्तर दिशा मे पाच वक्षस्कार पर्वतो का वर्णन किया गया है, वैसे ही अन्य भी पाच-पाच वक्षस्कारो का वर्णन जानना चाहिए।

इसो प्रकार धातकीखड के पश्चिमार्द्ध के विषय में भी जान लेना चाहिए। पुष्कराद्ध का सभी वर्णन धातकीखड की तरह ही निर्विशेष समझना चाहिए।

ढाई द्वीप मे कर्म-भूमि और अकर्म-भूमि, वर्षधरपर्वत, शीता, शीतोदा आदि महानदियां मंदर पर्वत सब पाच-पांच है। जैसे चौथे स्थान के दूसरे उद्देशक में वर्णन किया गया है वैसे ही यहा पर भी जान लेना। किन्तु इषुकार पर्वतो का वर्णन यहा नही करना चाहिए, क्योकि वे कुल चार ही है, पाच नही। इनका पूर्ण विवरण जम्बूद्वोपप्रज्ञप्ति सूत्र मे किया गया है। वहा पर पर्वतों के नाम, ऊचाई, गहराई, लम्बाई, चौड़ाई, कूट, देवो के स्थान, उनकी राजधानिया, देवो की ऋद्धि इत्यादि विषय वर्णित है। पर्वत-मालाए नदिया और क्षेत्र ये सब द्रव्य से शाश्वत है और पर्याय से नाशवान् हैं।

इस प्रसग मे यह शका हो सकती है कि इस अध्यात्म-प्रधान शास्त्र मे पर्वत, नदी, क्षेत्र आदि के वर्णन करने को क्या आवश्यकता थो ? इस शका के समाधान में कहा जा सकता है कि ये सब ज्ञेयरूप होने से ज्ञान के विषय है, अत: लोक-स्वरूप की भावना को जगाने के लिये इनकी अत्यन्त आवश्यकता है। आत्मा को लोकस्वरूप-भावना से पवित्र करना चाहिए। उक्त स्थानो में प्रत्येक जोव ने अनन्त-अनन्त वार जन्म-मरण किए है, किन्तु आत्म-विकास के बिना इस भूमि से मुक्त होकर निर्वाण पद की प्राप्ति नही हो सकती।



श्री ऋषभदेव एवं चक्रवर्ती भरत की ऊंचाई

मूल—उसभेणं अरहा कोसलिए पंच धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था। भरहे णं राया चाउरंतचक्कवट्टी पंच धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं हुत्था। बाहुबलीणमणगारे एवं चेव। बंभी णामज्जा एवं चेव। एवं सुंदरीवि।५०।

छाया—ऋषभोऽर्हन् कौशलिकः पञ्चधनुः शतान्युर्ध्वमुच्चत्वेनाभूत्। भरतो राजा चातुरन्त-चक्रवर्ती पञ्च धनुः शतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेनाभूत्। बाहुबलि अनगार एवञ्चैव। ब्राह्मी नाम आर्यैवञ्चैव। एव सुन्दर्यपि।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—कौशलदेशोत्पन्न अरिहन्त श्री ऋषभदेव पांच सौ धनुप ऊंचे थे। चक्रवर्ती राजा भरत भी पांच सौ धनुष ऊंचे थे। बाहुबली अनगार, ब्राह्मी और सुन्दरी आर्या भी पांच सौ धनुष ऊंचे थे।

ववेचन्निका—

वर्तमान तीर्थङ्करों की चौबीसी में ढाईद्वीप के अन्तर्गत जम्बूद्वीप में भगवान् श्री ऋषभदेव जी ने ही राज्य-व्यवस्था एवं संयम-परायणता का आरम्भ किया था, अतः संयम और जम्बूद्वीप का वर्णन करने के अन्तर भगवान् ऋषभदेव जी की एवं उनके परिवार की शारीरिक उच्चता का वर्णन किया जाता है।

ढाई द्वीप के अन्तर्गत इस भरत क्षेत्र में कोशल देश में उत्पन्न हुए अर्हद् भगवान् ऋषभदेव की अवगहना अर्थात् शारीरिक ऊंचाई पांच सौ धनुष की थी। इसी प्रकार चक्रवर्ती भरत, अनगार बाहुबली भी पाच सौ धनुष की अवगहना वाले थे। आर्या, ब्राह्मी और सुन्दरी को ऊचाई भी पाच सौ धनुष की थी। ये सब व्यक्ति भगवान् ऋषभदेव के संसारी पक्ष के पुत्र और पुत्रिया थे। इन सब को अवगहना अर्थात् ऊंचाई बराबर थी। यह तथ्य सूत्रकार ने तीसरे आरे के तीसरे भाग में होनेवाले जीवों के विषय में कहा है। इस से अधिक अवगहनावाले जीव सिद्ध-गति प्राप्त नही कर सकते, क्योंकि यह उत्कृष्ट अवगहना कर्मभूमिज मनुष्यों की कथन की गई है। निर्वाण-पद के अधिकारो केवल कर्मभूमिज मनुष्य ही है, क्योकि मानवता एक चौराहा है, यहां किसी भी ओर जाने के लिये इसी चौराहे पर लौटना पड़ता है, विना लौटे दूसरे मार्ग पर जाया ही नही जा सकता। यदि कोई व्यक्ति पुण्योत्कर्ष के कारण देवलोकों मे पहुंच गया है तो उसे मोक्ष की ओर जाने के लिये वापिस मानवता के चौराहे पर लौटना ही पड़ेगा। इसी प्रकार अन्य गतियों से भी मोक्षार्थी मानवता के चौराहे पर लौटकर ही मोक्ष की ओर गमन कर सकता है। 

जागृति के पांच कारण

मूल—पंचहिं ठाणेहिं सुत्ते विबुज्झेज्जा, तं जहा-सद्देणं, फासेणं, भोयण-परिणामेणं, णिद्दक्खएणं, सुविणदंसणेणं।५१।

छाया—पञ्चभिः स्थानैः सुप्तो विबुद्धयेत्, तद्यथा—शब्देन, स्पर्शेन, भोजनपरिणामेन, निद्रा-क्षयेन, स्वप्नदर्शनेन।

शब्दार्थ—**पंचहिं ठाणेहिं**—पांच कारणो से; **सुत्ते**—सोता हुआ; **विबुज्झेज्जा**—जाग उठता है; **तं जहा**—जैसे; **सद्देणं**—शब्द से; **फासेणं**—स्पर्श से, **भोयणपरिणामेणं**—

भोजन के परिणाम से; **णिद्दक्खएणं**—निद्रा के क्षय से; **सुविणदंसणेणं**—स्वप्न-दर्शन से।

मूलार्थ—पांच कारणों से सोता हुआ प्राणी जाग उठता है, जैसे—शब्द से, स्पर्श से, भोजन के परिणाम से, निद्रा-क्षय होने से और स्वप्न देखने से।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में जिन दिव्य विभूतियों के नामो का उल्लेख किया गया है, वे सब प्रबुद्ध अर्थात् जागरूक थे। प्रबुद्ध दो प्रकार के होते है—द्रव्य-प्रबुद्ध और भाव-प्रबुद्ध। निद्रा का सर्वथा नष्ट हो जाना द्रव्य-प्रबुद्धता है और मोहावेश का सर्वथा नष्ट हो जाना, जिससे जीव में सादि-अनन्त जागरूकता उत्पन्न होती है वह भाव-प्रबुद्धता कहलाती है। द्रव्य-निद्रा में सोए हुए जीव पाच कारणो से जाग उठते है, जैसे कि शब्द सुनने से नीद खुल जाती है, किसी के द्वारा स्पर्श करने से भी नीद टूट जाती है, भूख लगने पर भी नीद उड़ जाती है, निद्रा का समय पूरा होने से भी जागृति आ जाती है और किसी अद्भुत एवं चमत्कृत स्वप्न को देखने से भी लोग जाग उठते है। द्रव्य-निद्रा से जागने के उपर्युक्त कारण ही हो सकते है।

यद्यपि इस सूत्र मे भाव-निद्रा का वर्णन नही किया गया, केवल द्रव्य-निद्रा ही इस सूत्र का लक्ष्य है, फिर भी भावनिद्रा का अभिप्राय इस सूत्र में ध्वनित हो रहा है।

दर्शनावरणीय कर्म के उदय से मोह-निद्रा की उत्पत्ति होती है और निद्रा में जब कोई व्यक्ति सो जाता है तो उसका साधना-पथ अन्धकाराच्छन्न हो जाता है। शास्त्रों के श्रवण से (शब्द), गुरु चरणों एवं सन्तजनो के वरद हस्त के स्पर्श से, शुद्ध आहार को ग्रहण करने से, दर्शनावरणीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से और ससार की विनाशशीलता को स्वप्न जैसा देखने से साधक इस निद्रा से जाग जाता है और तब वह अप्रमत्त होकर साधनालोक मे विचरण करने लगता है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में द्रव्य-निद्रा और भाव-निद्रा दोनों से जागृत होने के कारणो का स्पष्टीकरण किया गया है।

साधु द्वारा साध्वी को सहारा लगाने के पांच अपवाद

मूल—**पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे णिग्गंथिं गिण्हमाणे वा अलंबमाणे वा णाइक्कमइ, तं जहा—निग्गंथिं च णं अन्नयरे पसुजाइए वा पक्खिजाइए ओहाएज्जा, तत्थ णिग्गंथे णिग्गंथिं गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ।**

णिग्गंथे णिग्गंथिं दुग्गंसि वा, विसमंसि वा पक्खलमाणिं वा, पवडमाणिं वा, गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ।

णिग्गंथे णिग्गंथिं सेयंसि वा, पंकंसि वा, पणगंसि वा, उक्कसमाणिं वा, उवुज्झमाणिं वा, गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ।

णिग्गंथे णिग्गंथिं नावं आरुभमाणे वा, ओरोहमाणे वा णाइक्कमइ ।

खेत्तइत्तं, दित्तइत्तं, जक्खाइट्ठं, उम्मायपत्तं, उवसग्गपत्तं, साहिगरणं, सपायच्छित्तं जाव भत्तपाणपडियाइक्खियं अट्ठजायं वा णिग्गंथे णिग्गंथिं गेहण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ।५२।

छाया—पञ्चभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं गृह्णन् वा अवलम्बमानो वा नातिक्रामति, तद्यथा—निर्ग्रन्थीं चान्यतरः पशुजातीयो वा, पक्षिजातीयो वा उपहन्यात्, तत्र निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं गृह्णन् वा, अवलम्बमानो वा नातिक्रामति ।

निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं दुर्गे वा, विषमे वा, प्रस्खलन्तीं वा, प्रपतन्तीं वा, गृह्णन् वा, अवलम्बमानो वा नातिक्रामति ।

निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं सेके वा, पंके वा, पनके वा, उदके वा, अपकसन्तीं वा, अपोह्यमानां वा, गृह्णन् वा, अवलम्बमानो वा नातिक्रामति ।
निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं नावमारोहयन् वा, अवरोहयन् वा नातिक्रामति ।

क्षिप्तचित्तां, दृप्तचित्तां, यक्षाविष्टां, उन्मादप्राप्तां, उपसर्गप्राप्तां, साधिकरणां, सप्रायश्चित्तां यावत् भक्त-पानप्रत्याख्याताम्, अर्थजातां वा निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थी गृह्णन् वा, अवलम्बमानो वा नातिक्रामति ।

शब्दार्थ—पंचहि ठाणेहिं समणे निग्गंथे—पांच कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ, निग्गंथि—साध्वी को, गिण्हमाणे वा—ग्रहण करता हुआ, अवलंबमाणे वा—अथवा हाथों से सहारा देता हुआ, णाइक्कमइ—जिनाज्ञा का उल्लघन नही करता; तं जहा—जैसे कि, निग्गंथिं च ण—निर्ग्रन्थी पर, अन्नयरे—कोई एक; पसुजाइए वा—पशुजातीय अथवा, पक्खिजाइए वा—पक्षिजातीय प्राणी, ओहाएज्जा—आक्रमण कर रहा हो, तत्थ—वहां; निग्गंथे—निर्ग्रन्थ; निग्गंथि निर्ग्रन्थी को; गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा—ग्रहण करता हुआ और सहारा देता हुआ, नाइक्कमइ—जिनाज्ञा का उल्लघन नही करता ।

णिग्गंथे णिग्गंथि—निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को; दुग्गंसि वा—दुर्ग पर, विसमंसि वा—ऊंची-नीची भूमि पर; पक्खलमाणिं वा—फिसलती हुई अथवा, पवडमाणिं वा—गिरती हुई को, गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा—पकड़ता हुआ और सहारा देता हुआ; नाइक्कमइ—जिनेश्वर की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ।

णिग्गंथे णिग्गंथि—निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को, सेयंसि वा—सजल कर्दम में; पंकंसि

वा—कीचड में, **पणगंसि वा**—पनक अर्थात् पतले कीचड़ में; **उक्कसमाणिं वा**—धंसती हुई को अथवा, **उवुज्झमाणिं वा**—किसी के द्वारा ले जाती हुई को; **गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा**—पकड़ता हुआ या सहारा देता हुआ, **नाइक्कमइ**—जिनदेव की आज्ञा का उल्लघन नही करता है।

निग्गंथे निग्गंथिं—निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को; **नावं**—नौका पर; **आरुभमाणे वा**—चढ़ाता हुआ या नाव से; **आरोहेमाणे वा**—उतारता हुआ; **णाइक्कमइ**—जिन-आज्ञा का उल्लंघन नही करता है।

खेत्तइत्तं—क्षिप्तचित्त; **दित्तइत्तं**—दृप्तचित्त; **जक्खाइट्ठं**—यक्षाविष्ट, **उम्मायपत्तं**—उन्माद-प्राप्त, **उवसग्गपत्तं**—उपसर्ग-प्राप्त, **साहिगरणं**—कलह-प्राप्त, **सपायच्छित्तं**—प्रायश्चित्त करती हुई; **जाव**—यावत्; **भत्तपाणपडियाइक्खियं**—आहार-पानी का प्रत्याख्यान कर संथारे में स्थित, **अट्ठजायं वा**—पति आदि के द्वारा संयम भाव से डिगाई जाती हुई को; **निग्गंथे निग्गंथिं**—निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को, **गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा**—पकड़ता हुआ या सहारा देता हुआ, **नाइक्कमइ**—प्रभु-आज्ञा का उल्लंघन नही करता।

मूलार्थ—पांच कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ, निर्ग्रन्थी अर्थात् साध्वी को पकड़ता हुआ एवं सहारा देता हुआ जिनाज्ञा का उल्लघन नही करता है, जैसे—यदि आर्या पर कोई पशुजातीय किंवा पक्षिजातीय प्राणी आक्रमण कर रहा हो तो निर्ग्रन्थ मुनि आर्या को पकड़ता हुआ एवं सहारा देता हुआ जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है।

निर्ग्रन्थ मुनि दुर्ग अथवा विषम भूमि पर फिसलती हुई अथवा गिरती हुई आर्या को पकड़ता हुआ अथवा सहारा देता हुआ जिनाज्ञा का उल्लघन नही करता है।

निर्ग्रन्थ मुनि यदि नाव पर चढती हुई अथवा उतरती हुई आर्या को चढाता है अथवा उतारता है तो जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करता है।

क्षिप्तचित्त, दृप्तचित्त, यक्षाविष्ट, उन्मादप्राप्त, उपसर्गप्राप्त, साधिकरण अर्थात् कलहग्रस्त, सप्रायश्चित्त अर्थात् किसी घोर प्रायश्चित्त को प्राप्त, भोजन-पान आदि का परित्याग कर संथारा करती हुई आर्या को यदि पकड़ता है, हाथ आदि का सहारा देता है तो वह निर्ग्रन्थ मुनि जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में द्रव्य-निद्रा एवं भाव-निद्रा का उल्लेख किया गया है। निद्रा पर विजय प्राप्त करनेवाला संयमशील साधक सर्वदा अप्रमत्त रहता है और अप्रमत्त अवस्था में उसके लिये नारी-स्पर्श सर्वथा निषिद्ध है। फिर भी वह आपत्कालीन धर्म के रूप मे यदि करुणा से प्रेरित होकर साधनाशीला साध्वी का निम्नलिखित अवस्थाओ मे स्पर्श करता है तो भी वह अप्रमत्त साधक जिन-देव की आज्ञा का उल्लंघन नही करता है, जैसे कि—

यदि वह देखे कि कोई उन्मत्त साड आदि पशु या गृद्ध आदि पक्षी किसी साध्वी को मारने के लिये आक्रमण कर रहा है या करना चाहता है उस समय वह एक संयम-परायणा साध्वी की रक्षा के लिये करुणा-प्रेरित होकर यदि उसे हाथ का सहारा देकर उसे बचाता है तो उस दशा में वह नारी-स्पर्श के दोष का भागी नही बनता है, क्योकि ऐसी दशा मे साध्वी की रक्षा करना जिनेन्द्र आज्ञा के अनुकूल है।

यदि किसी समय कोई साध्वी दुर्ग या विषमस्थान से फिसल रही हो या गिर रही हो तो उस दशा मे साधु उसे बचाने के लिये उसे हाथ का सहारा देकर उसकी रक्षा करता है तो वह मर्यादा का भग नही करता है।

यद्यपि दुर्ग का सामान्य अर्थ किला ही होता है, परन्तु जैन परम्परा के साहित्य में उस स्थान को भी दुर्ग कहा जाता है जहा पर सामान्य गति से चलना कठिन हो जाता है। इस दृष्टि से तीन प्रकार के दुर्ग बताए गए है, जैसे कि वृक्ष-दुर्ग, श्वापद-दुर्ग और मनुष्य-दुर्ग। जो मार्ग वृक्षो की अधिकता के कारण दुर्गम बन गया हो उस स्थान को वृक्ष-दुर्ग कहा जाता है, जहा पर हिंसक जीवो की अधिकता के कारण मार्ग अगम्य हो गया हो वह स्थान श्वापद-दुर्ग कहा जाता है और जहा पर हिंसक नर-भक्षी मानव जातियो के निवास के कारण लोगो का आवागमन दुस्साध्य हो गया हो उस स्थान को मनुष्य-दुर्ग कहा जाता है। ऐसे किसी भी दुर्गम स्थान मे भ्रमण करती हुई साध्वी किसी विपत्ति से घिर जाय और सयमशील साधु उसकी प्राण-रक्षा के लिये करुणाभाव से यदि उसका स्पर्श करता है तो वह अपनी साधुवृत्ति से भ्रष्ट नही होता है, क्योकि उस दशा मे उसकी रक्षा करना साधु का विहित कर्तव्य है।

यदि कोई साध्वी कीचड़ या दलदल मे फंस गई हो या नदी मे बह रही हो उस दशा मे कोई संयमी साधु उसे हाथ से सहारा देकर बचाता है तो वह साधुवृत्ति को दूषित नही करता है।

नौका पर चढ़ती हुई या उससे उतरती हुई साध्वी को यदि गिरने का भय हो तो उस समय साधु उसकी रक्षा के लिये हाथ से सहारा दे सकता है।

जो साध्वी राग से, भय से या अपमान से क्षिप्तचित्तवाली हो गई हो, अति सम्मान के कारण दृप्त चित्तवाली हो रही हो, यक्षावेश आदि के कारण सुध-बुध खो बैठी हो, वायु के प्रकोप के कारण उन्मत्त हो गई हो, उपसर्गो से घिरी हुई हो, किसी मानसिक चिंता से खिन्न हो रही हो, कलह के लिये उपस्थित हो रही हो, या कठोर प्रायश्चित्त लेने के कारण उसका चित्त व्यथित हो, जीवन

भर के लिये भोजन-पानी का त्याग किए बैठी हो, किसी के द्वारा प्रयुक्त मंत्र-तन्त्र आदि के कारण अपने आपे से बाहर हो रही हो अथवा किसी दुष्ट पुरुष या म्लेच्छ आदि के द्वारा सयम से डिगाई जा रही हो, ऐसी साध्वी की सब तरह से रक्षा करता हुआ साधु प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन नही करता है।

ये पाच कारण अपवादमार्ग का आश्रय लेकर प्रतिपादित किए गए है। सूत्रकार ने "**पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे णिग्गंथि गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ**" इन पदो से यह सिद्ध किया है कि किसी भी समय उक्त स्थितिया उत्पन्न हो जाने पर धर्म-भावना और साध्वीरक्षा की बुद्धि से अपवाद का सेवन करता हुआ भी साधु प्रभु-आज्ञा के विरुद्ध नही चलता है।

प्रस्तुत सूत्र में आए हुए **ओहाएज्जा**—पद का सस्कृत रूप है **'उपहन्यात्'**। यदि कोई पशु या पक्षी जातीय जीव मारने को आए तो साधु आर्या को बचा सकता है। यह कारण किसी भी समय मार्ग में गमन करते हुए उपस्थित हो सकता है। दूसरा, तीसरा एव चौथा कारण भी मार्ग मे चलते हुए उपस्थित हो सकता है। पचम अपवाद किसी एक क्षेत्र मे रहते हुए भी सभव है। ये सब कारण अपवाद मार्ग की दृष्टि से कथन किए गए है।

स्वधर्मियो की रक्षा का विधान सूत्रकर्त्ता स्वय ही पहले कर चुके है।

'भत्तपाणपडियाइक्खिय' से ध्वनित कारण का अभिप्राय यह है कि अनशन करने पर यदि और कोई आर्या सथारा करती हुई आर्या के पास न हो तो उस दशा मे साधु उसकी सेवा एव रक्षा कर सकता है। **'अट्ठजायं'** सूत्रस्थ इस पद की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं—

"अर्थं—कार्यंसुतप्रव्राजनतः स्वकीयपरिणेत्रादेर्जातं यया—सार्थजाता पतिचौराविना संयमाच्चाल्यमानेत्यर्थस्तां वा।

इस व्याख्या से ध्वनित होता है कि साध्वी के सयम की रक्षा ही आपवादिक स्थिति ग्रहण करने मे प्रधान कारण है।

आचार्य उपाध्याय के पांच अतिशय

मूल—**आयरिय-उवज्झायस्स णं गणंसि पंच अइसेसा पण्णत्ता, तं जहा—आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सगस्स पाए णिगिज्झिय-णिगिज्झिय पप्फोडेमाणे वा, पमज्जेमाणे वा णाइक्कमइ।**

आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सगस्स उच्चार-पासवणं विगिंचमाणे वा, विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ।

आयरिय-उवज्झाए पभू इच्छा वेयावडियं करेज्जा, इच्छा णो करेज्जा।

आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सगस्स एगरायं वा, दुरायं वा एगागी वस-

माणे वा णाइक्कमइ ।

आयरिय-वज्झाए बाहिं उवस्सगस्स एगरायं वा, दुरायं वा वसमाणे णाइक्कमइ ।५३।

छाया—आचार्योपाध्याययोः गणे पञ्च अतिशेषाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आचार्योपाध्यायौ अन्तरुपाश्रयस्य पादौ निगृह्य-निगृह्य प्रस्फोटयन्तौ वा, प्रमार्जयन्तौ वा नातिक्रामतः ।

आचार्योपाध्यायौ अन्तरुपाश्रयस्य उच्चारप्रस्रवणं विमोचयन्तौ वा, विशोधयन्तौ वा नातिक्रामतः ।

आचार्योपाध्यायौ प्रभू इच्छा वैयावृत्यं कुर्याताम्; इच्छा नो कुर्याताम् ।

आचार्योपाध्यायौ अन्तरुपाश्रयस्य एकरात्रं वा, द्विरात्रं वा एकाकिनौ वसन्तौ नातिक्रामतः ।

आचार्योपाध्यायौ बहिरुपाश्रयाद् एकरात्रं वा, द्विरात्रं वा वसन्तौ नातिक्रामतः ।

शब्दार्थ—आयरिय-उवज्झायस्स णं—आचार्य और उपाध्याय के, गणंसि—गण मे; पंच अइसेसा पण्णत्ता, तं जहा—पांच अतिशेष कथन किये गए है, जैसे कि, आयरिय-उवज्झाए—आचार्य और उपाध्याय; उवस्सगस्स अंतो—उपाश्रय के अन्दर, पाए—पैरों को; णिगिज्झिय णिगिज्झिय—पकड-पकड कर दूसरे साधुओ से या स्वय, पप्फोडेमाणे वा—ओघे से झाडते हुए, पमज्जेमाणे वा—तथा पोछते हुए, णाइक्कमइ—जिनाज्ञा का उल्लघन नही करते है ।

आयरिय-उवज्झाए—आचार्य तथा उपाध्याय; अंतो उवस्सगस्स—उपाश्रय के अन्दर; उच्चारपासवणं—उच्चार एव प्रस्रवण का, विगिंचमाणे वा—त्याग करते हुए; विसोहेमाणे—शोधन करते हुए, णाइक्कमइ—जिनाज्ञा का उल्लघन नही करते है, आयरियउवज्झाए—आचार्य और उपाध्याय, पभू—समर्थ है कि, इच्छा—उनकी इच्छा है कि वे, वेयावडियं—वैयावृत्य, करेज्जा—करे; इच्छा—इच्छा है, णो करेज्जा—न करे ।

आयरियउवज्झाए—आचार्य और उपाध्याय, अंतो उवस्सगस्स—उपाश्रय के अन्दर, एगरायं वा—एक रात तक; दुरायं वा—दो रात तक, एगागी—एकाकी; वसमाणे—रहते हुए; णाइक्कमइ—आज्ञा का उल्लंघन नही करते ।

आयरियउवज्झाए—आचार्य एवं उपाध्याय, उवस्सगस्स बाहिं—उपाश्रय के बाहर; एगरायं वा—एक रात अथवा, दुरायं वा—दो रात्रि, वसमाणे वा—रहते हुए, णाइक्कमइ—जिनाज्ञा का उल्लघन नही करते हैं ।

मूलार्थ—आचार्य और उपाध्याय के गण में पाच अतिशेष अर्थात् अतिशय वर्णन

किये गए हैं, जैसे—आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के भीतर पैरों को पकड़-पकड़ कर रजोहरण से झाड़ते हुए वा पोंछते हुए जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करते है।

आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर उच्चार-प्रस्रवण का त्याग करते हुए अथवा शोधन करते हुए जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करते है।

आचार्य एवं उपाध्याय की इच्छा पर निर्भर है कि वे दूसरो की वैया-वृत्य करे अथवा न करे।

आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर एक रात्रि अथवा दो रात्रि तक एकाकी निवास करते हुए जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करते है।

आचार्य एवं उपाध्याय उपाश्रय के बाहर एक रात्रि अथवा दो रात्रि तक निवास करते हुए जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करते है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे सामान्य साधु-वर्ग के लिये आपवादिक नियमो का उल्लेख किया गया है, प्रस्तुत सूत्र मे शास्त्रकार विशेष रूप से आचार्य और उपाध्याय के लिये आपवादिक नियमो का उल्लेख कर रहे हैं। अन्य साधुओं की अपेक्षा आचार्य और उपाध्याय के पाच अतिशय होते है। गण मे निवास करते हुए भी उनकी विलक्षणता निराली ही होती है, उनका अपवाद मार्ग भी अतिशयपूर्ण ही होता है, जैसे कि—

सामान्यतः साधु जब कही बाहर से आते है तब उपाश्रय मे प्रवेश करने से पहले बाहर ही पैरो को पोंछते है और वस्त्र आदि से प्रमार्जन करते हैं। आचार्य एवं उपाध्याय भी उपाश्रय से बाहर ही खड़े रहते हैं, दूसरे साधु उनके पैरो का प्रमार्जन एवं प्रस्फोटन करते हैं, किन्तु अन्य साधुओ की तरह आचार्य एवं उपाध्याय पाद-प्रोछन के बिना ही यदि उपाश्रय के अन्दर आ जाते है और अन्दर आकर अन्य साधुओं से पैरो को पुछवाते है और धूलि आदि झड़वाते हैं तो वे आज्ञा के विराधक नही होते हैं। वे जैसा उचित समझे वैसा कर सकते हैं।

साधु के लिये उत्सर्ग-मार्ग यह है कि वह मलमूत्र आदि के विसर्जन के लिये मकान से बाहर जाए, किन्तु आचार्य उपाध्याय यदि उपाश्रय मे रहते हुए ही लघुनीति (लघुशंका) या बड़ी नीति (मल विसर्जन) परठाते हैं अर्थात् मल-मूत्र का विसर्जन करते है तथा पैर आदि मे लगी हुई अशुचि को हटाते हैं, तो वे साधु की मर्यादा उल्लंघन नही करते है। मल-त्याग करने के लिये नगर से बाहर जाने पर कई प्रकार के दोष उत्पन्न होने की सभावना हो जाती है और पुनः-पुन. गमन-आगमन से जनता के हृदय की श्रद्धा का भी अभाव होने लग जाता है। प्रतिष्ठा-भङ्ग होने से उनके वचन भी प्रायः आदेय नही रह सकते, क्योकि विनय-भग होने से गृहस्थो के मन मे विद्यमान सम्मान न्यून हो जाता है, अतः आचार्य एवं उपाध्याय मल-त्याग उपाश्रय में ही करते हुए जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करते। यह आचार्य और

उपाध्याय की इच्छा पर निर्भर है कि वे समर्थ होने पर भी भोजन-पानी के द्वारा अन्य साधुओं की सेवा करें, अथवा न करें क्योंकि वैयावृत्य का अर्थ निर्दोष भोजन-पानी की गवेषणा करना और ग्रहण किए हुए को साधुओं के लिये देना है, इस प्रकार के वैयावृत्य को कर्म-निर्जरा का कारण माना गया है, किन्तु यह वरिष्ठ मुनिराज की इच्छा पर निर्भर है, क्योंकि आचार्य एवं उपाध्यायों का भिक्षाटन के लिये फिरना उचित नही है और न ही जनता में प्रिय लगना है। अन्य भी कई प्रकार के दोषों की संभावना रहती है, इसमे शिष्यो के प्रति लोगों के मन में अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, जैसे कि सशक्त शिष्य तो उपाश्रय मे सुखपूर्वक बैठे हुए है और आचार्य-उपाध्याय भिक्षा के लिये भ्रमण कर रहे है। वृद्धो की पूजाप्रतिष्ठा विनय-भाव से ही हो सकती है। यह कथन भी उत्सर्गमार्ग की अपेक्षा से कहा गया है। यदि अन्य साधु रोग आदि से ग्रस्त हो या किसी अनन्य उपासक की विनीत प्रार्थना हो तो आचार्य-उपाध्याय भी भिक्षा के लिये जा सकते हैं।

आचार्य-उपाध्याय उपाश्रय के भीतर एकाकी एक या दो रातों तक रहते हुए प्रभु-आज्ञा का उल्लघन नही करते। किसी विशिष्ट कारण के उपस्थित होने पर एकान्त-साधना के लिये वे एकाकी रह सकते है, क्योकि उनके पास साधना-बल का होना आवश्यक है।

आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय से बाहर एक या दो रात पर्यन्त अकेले रहते हुए भी प्रभु-आज्ञा का उल्लंघन नही करते है। सघ-रक्षा, शासन-प्रभावना अथवा किसी विशेष साधना के लिये यदि उन्हें बाहर रहना पड़े तो वे रह सकते है। आचार्य-उपाध्याय को छोड़कर अन्य साधुओ को उपाश्रय के भीतर या किसी उद्यान आदि मे एकाकी रहना निषिद्ध है, वरिष्ठ मुनिवरों को ही एकाकी रहने का अधिकार है। विशेप पर्व के दिनो में एक अहोरात्र एकाकी रहने का विधान है, अधिक नही।

'आयरिय-उवज्झायस्स' इस सूत्र पद की वृत्ति करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है **"आचार्यश्चासावुपाध्यायश्चेत्याचार्योपाध्यायः, स हि केषाञ्चिदर्थदायकत्वादाचार्योऽन्येषां सूत्रदायकत्वादुपाध्याय इति, तस्य आचार्योपाध्याययोर्वा, न शेषसाधूनाम्"**। जिस उपाध्याय को आचार्य-पद से भी विभूषित किया गया हो, उसे आचार्योपाध्याय कहते है, अथवा किन्ही को अर्थ-दायक होने से आचार्य और किन्ही को सूत्रदायक होने से वे ही उपाध्याय है अथवा आचार्य और उपाध्याय ये दो पद अलग-अलग भी समझने चाहिए। शेप साधुओं के लिये यह नियम नही है। 

पद-परित्याग के कारण

मूल—**पंचहिं ठाणेहिं आयरिय-उवज्झायस्स गणावक्कमणे पण्णत्ते, तं जहा—**

आयरियउवज्झाए गणंसि आणं वा, धारणं वा नो सम्मं पउंजित्ता भवइ।

आयरियउवज्झाए गणंसि अहारायणियाए किइकम्मं वेणइयं णो सम्मं

पउंजित्ता भवइ ।

आयरिय-उवज्झाए गणंसि जे सुयपज्जवजाए धारिंति, ते काले नो सम्म-मणुपवाइत्ता भवइ ।

आयरिय-उवज्झाए गणंसि सगणियाए वा परगणियाए वा निग्गंथीए बहिल्लेसे भवइ ।

मित्ते णाइगणे वा से गणाओ अवक्कमेज्जा, तेसिं संगहोवग्गहट्ठयाए गणावक्कमणे पण्णत्ते ।५४।

छाया—पञ्चभिः स्थानैराचार्योपाध्याययोर्गणापक्रमणं प्रज्ञप्त, तद्यथा—आचार्योपाध्यायौ गणे आज्ञां वा, धारणां वा नो सम्यक् प्रयोक्तारौ भवतः ।

आचार्योपाध्यायौ गणे यथारात्निकतया कृतिकर्म वैनयिकं नो सम्यक् प्रयोक्तारौ भवतः ।

आचार्योपाध्यायौ गणे यानि श्रुतपर्यवजातानि धारयन्ति, तानि काले नो सम्यगनुप्रवाचयितारौ भवतः ।

आचार्योपाध्यायौ गणे स्वगणसम्बन्धिन्यां वा, परगणसम्बन्धिन्यां वा निर्ग्रन्थ्यां बहिर्लेश्यौ भवत. ।

मित्रं ज्ञातिगणो वा तयो गणादपक्रामेत्, तेषां संग्रहोपग्रहार्थतायै गणापक्रमणं प्रज्ञप्तम् ।

शब्दार्थ—पंचहिं ठाणेहिं—पाच कारणो से; आयरिय उवज्झायस्स गणावक्कमणे पण्णत्ते, त जहा—आचार्य और उपाध्याय को गण से अपाक्रमण करना विहित बतलाया है, जैसे, आयरिय उवज्झाए गणंसि—आचार्य वा उपाध्याय गण में, आणं वा—आज्ञा और; धारणं वा—धारणा को; सम्मं—सम्यक् प्रकार से, पउजित्ता—प्रयुक्त, नो भवइ—नही कर सकते हो ।

आयरियउवज्झाए गणंसि—आचार्य और उपाध्याय गण में, अहारायणियाए—बडे छोटे के क्रम से; वेणइयं किइकम्मं—विनय सम्बन्धी वन्दना का, सम्मं—सम्यक् रूप से; नो नही; पउंजित्ता भवइ--प्रयोग कर सकते हों ।

आयरियउवज्झाए— आचार्य और उपाध्याय, गणंसि—गण मे, जे—जिन; सुय-पज्जवजाए —श्रुत-पर्यायों को, धारिंति – धारण करते है; ते—उनका; काले—यथावसर, सम्मं—सम्यक् रूप से; नो—नही, अणुपवाएत्ता भवइ—वाचन करांते हो ।

आयरियउवज्झाए गणंसि—आचार्य और उपाध्याय गण में; **सगणियाए वा**—अपने गण की या; **परगणियाए वा**—दूसरे गण की; **निग्गंथीए**—आर्या पर; **बहिल्लेसे भवइ**—आसक्त हो जायें।

मित्ते—मित्र; **णाइगणे वा**—ज्ञाति-गण; **से**—उनके; **गणाओ**—गण से; **अवक्कमेज्जा**—अपक्रमण कर गये हो तो; **तेसिं**—उनके; **संगहोवग्गहट्ठयाए**—संग्रह और उपकार के लिये; **गणावक्कमणे**—गण से अलग हो जाना; **पण्णत्ते**—बतलाया है।

मूलार्थ—पांच कारणों से आचार्य और उपाध्याय को गच्छ से बाहर निकलना कथन किया गया है, जैसे—

आचार्य और उपाध्याय गण में आज्ञा और धारणा का भली-भान्ति प्रचलन न करते हों।

आचार्य और उपाध्याय गण में यथारात्निक (छोटे-बड़े के क्रम से) विनय सम्बन्धी कृतिकर्म—वन्दन का सम्यक् प्रयोग न करते हों।

आचार्य और उपाध्याय गण में जितने भी श्रुत-पर्याय धारण किए हुए हों, वे शिष्यों को अच्छी तरह अध्ययन न कराते हों।

आचार्य और उपाध्याय गण में रहते हुए अपने गण की अथवा अन्य गण की आर्या पर आसक्त हो गए हो।

मित्र और ज्ञातिजन यदि किसी विशेष स्थिति में गण से अपक्रमण कर गये हों तो उनको पुनः स्वीकार अथवा उपकृत करने के लिये आचार्य और उपाध्याय के लिये गण अपक्रमण करना विहित बतलाया गया है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में आचार्य और उपाध्याय को आपवादिक नियमों के पालन की आज्ञा देते हुए उन्हें महत्त्व दिया गया है किन्तु आचार्य और उपाध्याय के आचार में शिथिलता आने पर उनके परित्याग का भी विधान है—

यद्यपि साधु और साध्वियों को तथा आचार्य या उपाध्याय को गच्छ मे ही रहना चाहिए, यही विहित मार्ग है, तथापि निम्नलिखित पांच कारणो मे से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर आचार्य और उपाध्याय गण को छोड़ सकते हैं, यह उनके लिये अपवादमार्ग है। जिस गच्छ में ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि नही होती हो, वह गच्छ उपादेय नहीं माना जा सकता। इससे शासक की अकुशलता ही सिद्ध होती है, क्योकि यदि गच्छ में रहनेवाले साधक अविनीत होगे तो उसका

कारण संघ-शासकों की अकुशलता ही समझी जाती है। गण-परित्याग के पांच कारण निम्नलिखित हैं।

१. जव गण में आचार्य और उपाध्याय के द्वारा आज्ञा वा धारणा का प्रचलन सम्यक् प्रकार से न किया जा रहा हो, गच्छ में अविनीतता बढ रही हो, तव साधु-साध्वी गच्छ से पृथक् हो सकते हैं। अथवा यदि गच्छ अविनीत हो और आचार्य उपाध्याय की इच्छानुसार प्रवृत्ति एव निवृत्ति धर्म को स्वीकार न किया जा रहा हो, तव आचार्य एव उपाध्याय भी गच्छ को छोड़कर पृथक् हो सकते है।

२. गच्छ में यदि यथाविधि वदना व्यवहार न होता हो, छोटे साधु ज्येष्ठ मुनियो को सम्यक् प्रकार से कृतिकर्म—वन्दन-सम्मान वहुमान न करते हो, तथा आचार्य व उपाध्याय अपने पद के अभिमान से जो दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ मुनि हैं उनकी विनय-वन्दना न करते हों, तो साधु उस गच्छ से पृथक् हो सकते हैं। वृत्तिकार भी इसी प्रकार लिखते हैं—**गणविपये यथारत्नाधिकतया—यथाज्येष्ठ कृतिकर्म तथा वैनयिकं—विनयं "नो" नैव सम्यक् प्रयोक्ता भवति, आचार्यसम्पदा साभिमानत्वात्, यतः आचार्येणापि प्रतिक्रमणक्षामणादिषूचितानामुचितविनयः कर्त्तव्य एवेति द्वितीयम्।**

३. गण मे जो श्रुतघर एव विद्वान् साधु है, वे यथासमय साधुओ को अकुशलता के कारण यदि सूत्रों का अध्ययन न करा सकते हों तो ऐसी दशा में आचार्य-उपाध्याय को चाहिए कि गण से पृथक् हो जाएं। क्योंकि गण में जितना अध्ययन-अध्यापन ठीक तरह से होता रहता है, उतना ही साधु-वर्ग का संयम सुदृढ़ रहता है। दूसरों की निंदा-चुगली का अवसर भी नही रह जाता और ज्ञान-दर्शन भी निर्मल हो जाते हैं। अत. आगमों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा निरन्तर चलती रहने से ही गच्छ विकासोन्मुख हो सकता है।

४. जिस आचार्य या उपाध्याय के गण में सदाचार का पालन पूर्णतः न हो रहा हो तथा स्वगच्छ या परगच्छ की साध्वियो का संयम सुरक्षित न रह पा रहा हो अथवा उनका निजी अन्तकरण सयम से वाहर हो रहा हो, उनके मन मे आसक्ति का विस्तार हो रहा हो, अथवा साधु-साध्वियो के पारस्परिक सम्वन्ध कलुषित हो रहे हो, ऐसी दशा में आचार्य एवं उपाध्याय के लिए गण को छोड़कर अलग हो जाना विहित है। उस दशा मे गण-परित्याग को अनुचित नही माना जा सकता। आचार्य-उपाध्याय भी ऐसी परिस्थिति में गण को छोडकर अलग हो सकते हैं।

५. यदि आचार्य एव उपाध्याय आदि के मित्र या ज्ञातीय मुनि पहले किसी कारण से गण को छोड़कर पृथक् हो गए हो तो उन्हे पुनः अपने गच्छ मे लाने के लिये उनके सयमित जीवन से सघ को उपकृत करने के लिये आचार्य और उपाध्याय भी गच्छ को छोड़कर जा सकते है।

उपर्युक्त पांच कारणो मे से पहला कारण अविनीत गण से सवन्ध रखता है। दूसरा कारण आचार्य उपाध्याय एव साधुवृत्ति मे अहभाव को वृद्धि से सम्बन्ध रखता है। तीसरा कारण गण में सम्यक्तया श्रुताभ्यास न कराना, श्रुतज्ञान के प्रचार की वाधा से तथा चौथा कारण मोहनीय कर्म. के उदय से होनेवाली अनुचित आसक्ति के निवारणार्थ प्रस्तुत किया गया है। पाचवां कारण मित्र या ज्ञाति मुनियों के गुण से संबंध रखना है। इसमे गच्छ और आचार्य के अशुभ कर्मो का उदय ही जानना चाहिए।

संग्रह शब्द से सस्कारी शिष्यो और संयम उपयोगी उपकरणो का संग्रह एकत्र करने का अर्थ जानना और उपग्रह शब्द से वस्त्र आदि उपकरण देकर उनकी रक्षा करना सिद्ध होता है।

जिसका अन्त:करण संयम से विमुक्त हो, वह बहिर्लेश्य है कहा भी है—

"बहिल्लेसे भवइ" अर्थात् तथाविधाशुभकर्मवशवर्तितया सकलकल्याणाश्रयसंयमसौधमध्याद् बहिर्लेश्या—अन्त:करण यस्यासौ बहिर्लेश्य: इति वृत्तिकार: ।

ऋद्धिमान् महामानव

मूल—पंचविहा इड्ढीमंता मणुस्सा पण्णत्ता, तं जहा—अरहंता, चक्कवट्टी, बलदेवा, वासुदेवा, भावियप्पाणो अणगारा ।५५।

छाया—पञ्चविधाः ऋद्धिमन्तो मनुष्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अर्हन्तः, चक्रवर्तिनः, बलदेवाः, वासुदेवाः, भावितात्मानोऽनगाराः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच प्रकार के ऋद्धिमान् मनुष्य वर्णित किये गए है, जैसे—अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और भावितात्मा अनगार ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में गच्छ-त्याग की मर्यादाओं का वर्णन किया गया है। केवल इसलिये कि गच्छ मर्यादाओ को जानकर संयमशील बना रहे, सयमशीलता से समृद्धियों की उपलब्धि होती है, अतः प्रस्तुत सूत्र में लब्धि-सम्पन्नता से युक्त विभूतियों का परिचय दिया गया है।

ऋद्धि-लब्धि मनुष्य को समुन्नत बनाती है। शुभ कर्मों के उदय से, अशुभ कर्मों के क्षय से क्षयोपशम से और उपशम एवं शुभ परिणामो से जीवों को अनेक प्रकार की लब्धियां प्राप्त होती हैं। लब्धिया अट्ठाईस प्रकार की बताई गई हैं, जैसे कि आमर्शौषधि, विप्रुडोषधि, जल्लौषधि, श्लेष्मौषधि, सर्वौषधि, सभिन्न-श्रोत्रलब्धि, अवधिज्ञान, ऋजुमतिज्ञान, विपुलमतिज्ञान, चारणलब्धि, आशीविष-लब्धि, केवलज्ञान, गणधर-लब्धि, पूर्वधर लब्धि, अर्हन्त पद, चक्रवर्ती पद, बलदेव लब्धि, वासुदेव लब्धि, क्षीराश्रव-मध्वाश्रव-सर्पिषाश्रव, कोष्ठकबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारिणी बुद्धि, तेजोलेश्या, आहारक-लब्धि, शीतलेश्या, वैक्रिय-लब्धि, अक्षीणमहानसी, पुलाकलब्धि। इन ऋद्धियों से मनुष्य ऋद्धिमान कहलाते हैं।

तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव तो ऋद्धिमान होते ही हैं, किन्तु भावितात्मा अनगार भी ऋद्धिमान हुआ करते हैं। जिसका अन्तःकरण सद्वासना से वासित है, वह अनगार भावितात्मा है। भावितात्मा अनगार अनेक लब्धियों के स्वामी होते हैं। लब्धियों से प्रभावित होकर देवता भी उनके चरणों में नतमस्तक हो जाते हैं। ऋद्धिमान् महामानव मंगलकारी होते हैं इसी कारण इस उद्देशक के अंतिम सूत्र मे ऋद्धिमानों का वर्णन किया गया है।

पंचम स्थान

तृतीय उद्देशक

प्रस्तुत उद्देशक में अस्तिकाय, गति, इन्द्रियार्थ, मुण्डन, बादर द्रव्य, निर्ग्रन्थ, निर्ग्रन्थों के वस्त्र और रजोहरण, निश्रास्थान, निधि, शौच, छद्मस्थ-ज्ञान, लोकस्थ बादरद्रव्य, नारकपुरुष, मत्स्य, वनीपक अचेलक,प्रशस्तता, उत्कल, समिति, संसार-समापन्नक जीव, धान्य-उत्पत्ति-शक्ति-स्थिति, संवत्सर, जीवों के निर्याणमार्ग, छेदन, आनन्तर्य, अनन्त ज्ञान, ज्ञानावरणीय कर्म, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, सूत्रवाचना, देव-विमान, गंगा की पांच महानदियों कुमार-वास-प्रवजित तीर्थङ्करों, चमर-चञ्चा की पांच सभाओं, पांच नक्षत्रों वाले तारों और पापकर्म-संचित-पुद्गलों आदि की पंच विधता का वर्णन किया गया है।

पंचास्ति-काय के भेदानुभेद

मूल—पंच अत्थिकाया पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अहम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए।

धम्मत्थिकाए—अवन्ने, अगंधे, अरसे, अफासे, अरूवी, अजीवे, सासए, अवट्ठिए, लोगदव्वे। से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ, गुणओ। दव्वओ णं—धम्मत्थिकाए एगं दव्वं, खेत्तओ लोगपमाणमेत्ते। कालओ ण कयाइ णासी, ण कयाइ ण भवइ, ण कयाइ ण भविस्सइत्ति, भुवि भवइ य भविस्सइ य, धुवे, णिइए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, णिच्चे। भावओ—अवन्ने, अगंधे अरसे, अफासे। गुणओ गमणगुणे य।

अहम्मत्थिकाए—अवन्ने एवं चेव, णवरं गुणओ—ठाणगुणे।

आगासत्थिकाए—अवन्ने एवं चेव, णवरं खेत्तओ—लोगालोगप्पमाणमित्ते। गुणओ—अवगाहण गुणे। सेसं तं चेव।

जीवत्थिकाए णं—अवन्ने, एवं चेव, णवरं दव्वओ णं जीवत्थिकाए अणंताइं दव्वाइं, अरूवि, जीवे, सासए। गुणओ—उवओगगुणे, सेसं तं चेव। पोग्गलत्थिकाए—पंचवन्ने, पंचरसे, दुग्गंधे, अट्ठफासे, रूवी, अजीवे, सासए, अवट्ठिए जाव दव्वओ णं—पोग्गलत्थिकाए अणंताइं दव्वाइं। खेत्तओ—लोगप्पमाणमेत्ते। कालओ—ण कयाइ णासि जाव णिच्चे। भावओ वन्नमंते, गंधमंते, रसमंते, फासमंते। गुणओ गहणगुणे।५६।

छाया—पञ्चास्तिकायाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—धर्मास्तिकाय., अधर्मास्तिकायः, आकाशास्तिकायः, जीवास्तिकायः, पुद्गलास्तिकायः। धर्मास्तिकायः—अवर्ण॰, अगन्धः, अरसः, अस्पर्शः, अरूपी, अजीवः, शाश्वतः अवस्थितो लोकद्रव्यम्। स समासतः पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः भावतः, गुणतः। द्रव्यतः—धर्मास्तिकाय एकं द्रव्यम्। क्षेत्रतः—लोकप्रमाणमात्रः। कालतो न कदाचिन्नासीत्, न कदाचिद् भवति, न कदाचिन्न भविष्यति, इति अभूत्, भवति, च भविष्यति च, ध्रुवः, नियतः, शाश्वतः, अक्षयः, अव्ययः, अवस्थितः, नित्यः। भावतः—अवर्णः, अगन्धः, अरसः, अस्पर्शः। गुणतः—गमनगुणश्च।

अधर्मास्तिकाय —अवर्णः एवं चैव, नवरं गुणतः—स्थानगुणः।

आकाशास्तिकायः—अवर्ण एवञ्चैव, नवरं क्षेत्रतः—लोकालोकप्रमाणमात्रः। गुणतः—अवगाहणागुण, शेषं तच्चैव।

जीवास्तिकायः—अवर्णः, एवञ्चैव, नवरं द्रव्यं—जीवास्तिकायोऽनन्तानि द्रव्याणि, अरूपी, जीवः, शाश्वतः, गुणतः—उपयोगगुण॰, शेषं तच्चैव।

पुद्गलास्तिकाय॰—पञ्चवर्ण, पञ्चरस, द्विगन्धः, अष्टस्पर्शः, रूपी, अजीवः, शाश्वतः, अवस्थितो यावत् द्रव्यतः—पुद्गलास्तिकायो—अनन्तानि द्रव्याणि। क्षेत्रतः—लोकप्रमाणमात्रः। कालत.—नकदाचिन्नासीद् यावन्नित्यः। भावतः—वर्णवान्. गन्धवान, रसवान्, स्पर्शवान्। गुणतः—ग्रहणगुण॰।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—अस्तिकाय पाच वर्णित किये गए है, जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशा तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय।

धर्मास्तिकाय अवर्ण है, अगन्ध है, अरस है, अस्पर्श है, अरूपी है, अजीव है, शाश्वत है, अवस्थित है, लोक-परिमाणमात्र द्रव्य है। वह सक्षेप से पाच प्रकार का है, जैसे—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से और गुण से। द्रव्य से धर्मास्तिकाय एक है, क्षेत्र से लोक प्रमाण मात्र है, काल से ऐसा नही कि भूत काल मे नही था, वर्तमानकाल में नही है, भविष्यकाल में नहो होगा, प्रत्युत भूतकाल में था, वर्तमान में है भविष्यकाल में होगा, ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है, नित्य है। भाव से अवर्ण है, अगन्ध है, अरस है, अस्पर्श है। गुण से वह गति गुण वाला है।

अधर्मास्तिकाय अवर्ण है। शेष वर्णन धर्मास्तिकाय के समान समझना, किन्तु इतनी विशेषता है कि गुण की दृष्टि से वह स्थिति-गुण वाला है।

आकाशास्तिकाय अवर्ण है। शेष वर्णन धर्मास्तिकाय के समान समझना। इतना विशेप है कि क्षेत्र से लोकालोक प्रमाण है। गुण से वह अवगाहन गुण वाला है। शेष वर्णन पूर्ववत् ही समझ लेना चाहिए।

जीवास्तिकाय अवर्ण है। शेष वर्णन पूर्व की भांति समझना। इतना विशेष है कि द्रव्य से जीवास्तिकाय अनन्त द्रव्य है, अरूपी हैं, जीव है, शाश्वत है। गुण से उपयोग गुणवाले है। शेष वर्णन पूर्व वर्णन की भांति समझना चाहिए।

पुद्गलास्तिकाय पांचवर्ण वाला है, पाच रस वाला है, दो गन्ध वाला है, आठ स्पर्श वाला अजीव है, शाश्वत है, अवस्थित है, यावत् द्रव्य से पुद्गलास्तिकाय अनन्त द्रव्य है। क्षेत्र से लोक प्रमाण है। काल से ऐमा नही कि पुद्गल पहले कभी नहीं था, यावत् नित्य है। भाव से वर्ण वाला है, गन्धवाला है, रस वाला है, स्पर्श वाला है। गुण से इन्द्रिय ग्राह्य है।

विवेचनिका—

दूसरे उद्देशक मे प्रायः जीव-धर्म का निरूपण किया गया है, परन्तु अजीव के विना जीव का ज्ञान अपूर्ण है, अतः इस तीसरे उद्देशक में सूत्रकार जीव और अजीव दोनो के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में पांच अस्तिकायों की विवेचना की गई है। सप्रदेशी द्रव्यों को अस्तिकाय कहते

हैं। सूत्रकार ने सबसे पहले धर्मास्तिकाय पद का प्रयोग किया है, क्योंकि धर्म शब्द प्रत्येक दृष्टि से मांगलिक है-।

जीव का प्रतिपक्षी जैसे अजीव है, वैसे ही धर्म का प्रतिपक्षी अधर्म है, अतः अस्तिकाय का दूसरा पद अधर्मास्तिकाय है। दोनो का आधारभूत द्रव्य आकाशास्तिकाय है, अतः तीसरा द्रव्य आकाशास्तिकाय है। उसका आधेय जीवास्तिकाय है, इसलिये आकाशास्किाय के बाद जीवास्तिकाय का वर्णन किया गया है। पुन उसका उपग्राहक पुद्गलास्तिकाय है, इस कारण उसका ग्रहण अंत में किया गया है। इस प्रकार परम्परा बद्ध पंचास्तिकाय का नामोल्लेख वैज्ञानिक है।

१ धर्मास्तिकाय—गति परिणाम वाले जीव और पुद्गलों की गति में जो सहायक हो, उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। जैसे पानी मछली की गति में सहायक होता है, वैसे ही धर्मास्तिकाय भी जीव और अजीव द्रव्य की गति मे सहायक माना गया है। वह ऐसा द्रव्य है जिसकी सख्या एक है। क्षेत्र से वह लोकप्रमाण है अर्थात् लोकाकाश के समान असख्यात प्रदेशी है। काल की दृष्टि से—वह सदाकाल भावी है, आदि-अन्त से रहित है। भाव अर्थात् सत्ता की दृष्टि से—वह द्रव्य वर्ण, गध, रस और स्पर्श से रहित है। गुण की दृष्टि से—गतिशील द्रव्यों अर्थात् जीव और पुद्गलो की गति मे सहायक होना ही इसका गुण है।

२. अधर्मास्तिकाय—जीव और पुद्गलों की स्थिति मे सहायक द्रव्य को अधर्मास्तिकाय कहा जाता है। सख्या की दृष्टि से वह एक है, क्षेत्र की दृष्टि से—लोक प्रमाण है, काल की दृष्टि से—आदि अन्त रहित शाश्वत द्रव्य है, भाव की दृष्टि से—वर्ण, गध, रस और स्पर्श से सर्वथा रहित है। गुण की दृष्टि से— स्थितिस्वभाव वाला है, जैसे विश्राम चाहनेवाले थके हुए पथिक के ठहरने में छायादार वृक्ष सहायक होता है, वैसे ही वह द्रव्य भी जीव और पुद्गल की स्थिति मे सहायक है।

३. आकाशास्तिकाय—जो जीव आदि द्रव्यो की गति एवं स्थिति का आधार है, अर्थात् अन्य सभी द्रव्यो को ठहरने के लिये अवकाश देता है, उस द्रव्य-विशेष को आकाशास्तिकाय कहा जाता है। वह भी सख्या की दृष्टि से एक ही है, क्षेत्र की दृष्टि से—वह लोक-अलोक सर्वत्र व्याप्त है, काल की दृष्टि से—द्रव्य अनादि अनन्त है और भाव की दृष्टि से—वर्ण, गध, रस और स्पर्श से सर्वथा रहित है। जीव और अजीव को अवकाश देना ही इसका गुण है।

४ जीवास्तिकाय—जिसमें उपयोग और वीर्य दोना पाए जाते है वह जीवास्तिकाय है। इस में सभी जीवो का समावेश हो जाता है। द्रव्य से—वह अनन्त द्रव्यरूप है, क्योंकि अलग-अलग द्रव्य रूप जीव अनन्त है, क्षेत्र से—लोक परिमाण है, एक जीव की अपेक्षा असख्यात प्रदेशी है, काल की दृष्टि से—वह अनादि अनन्त है, भाव की दृष्टि से—वह वर्ण, गध, रस और स्पर्श से सर्वथा रहित है। गुण से—चेतना गुणवाला है।

५. पुद्गलास्तिकाय—जो इन्द्रियों का विषय है, या जो इन्द्रियों के द्वारा विषय होने का सामर्थ्य रखता है, वह पुद्गलास्तिकाय है। द्रव्य से वह अनन्त है, क्षेत्र से—लोक परिमाण है, काल से—सदाकाल भावी है, भाव से—वण, गध, रस और स्पर्शवाला रूपी एव मूर्तिमान है, गुण से—सड़न गलन पड़न एवं पूरण स्वभाव वाला है।

पहले चार अस्तिकाय अरूपी एवं अमूर्त हैं।

धर्मास्तिकाय के साथ काल की अपेक्षा सूत्रकार ने जो सात विशेषण जोडे हैं, वे विशेषण मननीय हैं। जैसे कि धुवे, निइए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे इनका अर्थ निम्नलिखित है—धुवे—त्रैकालिक द्रव्य है। निइए—सर्वदा एक समान रहने वाला, सासए—सदैव काल रहने वाला, अक्खए—क्षय न होने वाला, अव्वए—पर्याय अपगम होने पर भी अविनाशी, अवट्ठिए—उत्पाद और व्यय होने पर भी अवस्थित, निच्चे—उपर्युक्त विशेषणो से संपन्न होने से नित्य है। उपरोक्त सात कारणों से धर्मास्किाय सदा रहने वाला है।

इसी प्रकार शेष चार अस्तिकायों के विषय में भी जान लेना चाहिए। अथवा जैसे देवराजा के इन्द्र, शक्र, पुरंदर इत्यादि नाम पर्यायवाची है, वैसे ही ध्रुव आदि शब्द भी नाना देशों के शिष्यो को बोध कराने के लिये कहे गए हैं। ये सब नित्य के पर्यायवाची नाम है।

प्रवाह की अपेक्षा से ये पंचास्तिकाय अनादि अनन्त हैं, किन्तु पर्याय की अपेक्षा सादिसान्त भी कहे जा सकते हैं। लोक पचास्तिकाय रूप है, इसलिये इसे लोक कहते हैं। जहा केवल आकाश ही आकाश हो, अन्य कोई द्रव्य न हो उसे अलोक कहा जाता है। पंचास्तिकाय के वर्णन के प्रसग में यह शंका होनी स्वाभाविक है कि पंचास्तिकाय मे काल द्रव्य की गणना नही की गई, इसका क्या कारण है ? इस शका को समाहित करने के लिये कहा जा सकता है कि प्रदेशों के अभाव होने से काल द्रव्य को पंचास्तिकाय में ग्रहण नही किया गया। केवल उपचार मात्र से ही इसे कालद्रव्य कहा गया है।

अनुयोगद्वार सूत्र मे काल द्रव्य के दो भेद दिए गए हैं, जैसे कि प्रदेश-निष्पन्न और विभाग-निष्पन्न, समय की स्थिति आदि को अपेक्षा प्रदेश-निष्पन्न और चन्द्र सूर्य की गति से समय का विभाग करना जैसे मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, सवत्सर आदि विभाग निष्पन्न कहलाता है। इसका विशद वर्णन द्वितीय स्थान मे किया जा चुका है।

जैन आगमों में "गुणतो अवगाहणागुणे" आकाश का अवगाहनागुण वर्णित किया गया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि शब्द आकाश का गुण नही है, क्योकि शब्द इन्द्रिय ग्राह्य है। जो जो इन्द्रिय ग्राह्य है, वह पुद्गल है, अतः शब्द का समावेश पुद्गलास्तिकाय में ही हो जाता है।

पंचविधा गति

मूल—पंच गईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णिरयगई, तिरियगई, मणुयगई, देवगई, सिद्धिगई।५७।

छाया—पञ्च गतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—निरयगतिः, तिर्यग्गतिः, मनुजगतिः, देवगतिः, सिद्धिगतिः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच गतियां प्रतिपादित की गई है, जैसे—नरक-गति, तिर्यञ्च-गति, मनुष्य-गति, देव-गति, सिद्धि-गति ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में पंचास्तिकाय के प्रसंग में सर्वप्रथम गति-लक्षणवाले धर्मास्तिकाय का वर्णन किया गया है। धर्मास्तिकाय के सहयोग से होनेवाली जीव-गति की अनेकरूपता प्रदर्शित करने के हेतु सूत्रकार गति का वर्णन करते हैं—

गति शब्द का सामान्य अर्थ है चलना, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में गति शब्द का पारिभाषिक अर्थ है—ऋजुगति या वक्रगति से जीव को अगले जन्म तक पहुंचानेवाली विशेष प्रकार की क्रिया। गति-नाम कर्म के उदय होने पर कार्मण-काययोग से हो जीव गति करता हुआ भावी जन्म धारण किया करता है, जिसके द्वारा जीव भवान्तर में जाता है वह गति नाम-कर्म का ही फल है। यह कर्म-प्रकृति जीव को नरक लोक में, तिर्यञ्च गति में, देवलोक और मनुष्य लोक तक पहुचाया करती है। गति के पांच रूप माने गए हैं :—

१. जन्मान्तर-गति—ऋजु एवं वक्रगति से जीव को अगले भव तक पहुचानेवाली क्रिया को जन्मान्तर-गति कहते हैं। वृत्तिकार कहते हैं—**"गम्यते वा अनया कर्म-पुद्गलसंहृत्येति गतिः—नामकर्मोत्तर प्रकृतिरूपा"**—अर्थात् नामकर्म के उदय से और कार्मणकाय योग से जो गति होती है वही जन्मान्तर-गति है।

२. देशान्तर-गति—जो प्राणी पंखों से, पैरो से, छाती के बल सरक कर या किसी यान-विशेष द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाते है, वह गमन रूप क्रिया भी एक गति है। पाच या छः पर्याप्तियों से पर्याप्त जीव जो गमन रूप क्रिया करते है, वह देशान्तर-गति है। यह गति जिस भव में जीव रहा हुआ है, उसी मे होती है।

३. भवोपपातगति—जीव ने जिस भव के योग्य कर्मों का बन्ध किया हुआ है, उन कर्मों के उदय-क्षण से लेकर अन्तिम क्षण पर्यन्त उसी भव में निवास करना 'भावोपपात-गित'। इस गति के भी चार भेद है—नरक भवोपपातगति, तिर्यंच भवोपपातगति, मनुष्यभवोपपातगति और देव भवोपपात-गति। इसमे चौबीस दडको के सभी जीव समाविष्ट हो जाते है।

४. कर्मच्छेदन-गति—कर्मों के बंधन से मुक्त होते ही जो गति होती है वह एक सामयिक होती है। जब जीव कर्मों से सर्वथा विमुक्त हो जाता है तब उसकी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति होती है। सिद्धात्मा की गति तो होती है, परन्तु उसकी आगति नही होती, जबकि ससारस्थ जीवों को गति और आगति दोनों ही होती हैं। जो गति कृतकृत्य होकर सिद्धिगति के लिये होती है वह सिद्धि-गति कहलाती है। इसे पचम गति भी कहते है। सिद्धिगति सादि-अनंत होने के कारण आगति से सर्वथा रहित है।

५, विहायगति—आकाश में चलने की क्रिया या शक्ति। इसके सत्रह भेद हैं, जैसे कि स्पृश्यमान गति, अस्पृश्यमान गति, उपसंपद्यमान गति, अनुपसंपद्यमान-गति, पुद्गलगति, मण्डूकगति, नाव-गति,

नयगति, छायागति, छायानुपात गति, लेश्यागति, लेश्यानुपात गति, उद्देश्यप्रविभक्त गति, चतुःपुरुष-प्रविभक्त गति, वक्रगति, पंकगति, बन्धनविमोचन गति। इन सत्रह प्रकार की गतियों की व्याख्या जानने के लिए देखिए प्रज्ञापना सूत्र का सोलहवा पद।

प्रस्तुत सूत्र मे नरकगति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति, देव गति और सिद्धिगति का वर्णन इसी उद्देश्य से किया गया है, ताकि मानव इनका स्वरूप जानकर अपने जाने का मार्ग स्वय ही निर्धारित कर सके।

इन्द्रियार्थ और मुण्डन

मूल—पंच इंदियत्था पण्णत्ता, तं जहा—सोइंदियत्थे जाव फासिदियत्थे।

पंच मुंडा पण्णत्ता, तं जहा—सोइंदियमुंडे जाव फासिंदियमुंडे।

अहवा पंच मुंडा पण्णत्ता, तं जहा—कोहमुंडे, माणमुंडे, मायामुंडे, लोभमुंडे, सिरमुंडे।

छाया—पञ्चेन्द्रियार्थाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियार्थो यावत स्पर्शनेन्द्रियार्थः।

पञ्च मुण्डाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियमुण्डो यावत् स्पर्शनेन्द्रियमुण्डः।

अथवा पञ्चमुण्डाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्रोधमुण्डः, मानमुण्डः, मायामुण्डः, लोभमुण्डः, शिरोमुण्डः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच इन्द्रियों के अर्थ अर्थात् विषय वर्णन किये गए हैं, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय का अर्थ, घ्राणेन्द्रिय का अर्थ, जिह्वेन्द्रिय का अर्थ, नेत्रेन्द्रिय का अर्थ और स्पर्शनेन्द्रिय का अर्थ।

पांच मुण्ड अर्थात् राग-द्वेष का त्याग करनेवाले कहे गये हैं, जैसे श्रोत्रेन्द्रिय से मुण्ड अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय के विषय के प्रति राग-द्वेष की भावना से रहित त्यागी यावत् स्पर्शनेन्द्रिय से मुण्ड।

अथवा पांच मुण्ड कथन किये गए हैं, जैसे—क्रोध से मुण्ड अर्थात् रहित, मान से रहित, माया से रहित, लोभ से रहित और शिर से मुण्डित।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में पांच गतियों का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने अन्तिम लक्ष्य-रूपा सिद्धि-गति का

वर्णन किया है। वह सिद्धि-गति तभी प्राप्त हो सकती है जब साधक इन्द्रिय-विषयों अर्थात् शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श के दुष्परिणाम को जाने, इन्हे विजित करे और इन्द्रिय-निग्रह के साथ-साथ कषाय-निग्रही बन कर साधना करे, इसलिये प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार पाच इन्द्रिय-विषय, इन्द्रियनिग्रह और कषाय-जय आदि साधनाओं की ओर सकेत करते हैं।

जिस साधन के द्वारा आत्मा बाहरी पदार्थो के भिन्न-भिन्न गुणों का भिन्न-भिन्न रूपों में अनुभव करता है अथवा शरीर के वे अवयव जिनके द्वारा यह आत्मा विषयो का ज्ञान प्राप्त करता है उन शारीरिक अवयवो को ज्ञान-इन्द्रिय कहा जाता है। इन्द्रियां दो प्रकार की होती है, जैसे कि द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय भी दो प्रकार की होती है, निर्वृ ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय। निर्वृ ति का अर्थ है रचना यह इन्द्रियाकार रचना पुद्गलो में भी होती है और आत्मप्रदेशो मे भी। निर्वृ ति इन्द्रिय भी दो तरह की होती हैं, बाह्य और आभ्यंतर। बाह्य निर्वृ ति से इन्द्रियाकार पुद्गल-रचना ग्रहण की जाती है और आभ्यन्तर निर्वृ ति से इन्द्रियाकार आत्मप्रदेश ग्रहण किए जाते हैं। यद्यपि प्रत्येक इन्द्रिय से सम्बद्ध ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम सर्वाङ्ग होता है, तदपि अगोपांगनाम कर्म के उदय से पुद्गल-प्रचय-समूह रूप जिस द्रव्येन्द्रिय की रचना होती है वही के आत्म-प्रदेशो में उस-उस इन्द्रिय को काय करने की क्षमता होती है। उपकरण का अर्थ है उपकार का प्रयोजक साधन। यह भी बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है—चक्षु-इन्द्रिय मे जो कृष्ण-शुक्ल मंडल है वह आभ्यन्तर उपकरण है और पलकें भौए आदि बाह्य उपकरण हैं। इसी प्रकार श्रोत्र आदि अन्य इन्द्रियो के विषय मे भी समझना चाहिए।

भावेन्द्रिय के भी दो भेद है लब्धि और उपयोग। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर पदार्थों के जानने की महती शक्ति को 'लब्धि-भावेन्द्रिय' कहा जाता है तथा ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम होने पर आत्मा के व्यापार को 'उपयोग-भावेन्द्रिय' कहते है। जिस ओर ज्ञान-शक्ति का उपयोग होगा उसी ओर के पदार्थों का ज्ञान होता है दूसरी ओर वह लब्धि के रूप में रहता है। कल्पना कीजिए एक मनुष्य दस भाषाओं का ज्ञाता है, परन्तु बोलने या लिखने के समय उसकी ज्ञान-शक्ति एक ही भाषा पर केन्द्रित हो जाती है। एक साधक ध्यानावस्थित होकर गुरुमुख से शास्त्र-श्रवण कर रहा है, उस समय उसकी श्रवण-शक्ति एक ही श्रवण-विषय पर केन्द्रित रहती है, अर्थात् उसका उपयोग एक विषय तक सीमित हो जाता है, शेष श्रवण-विषय उपयोग-लब्धि के रूप में विद्यमान रहते हैं। सभी इन्द्रियो के विषय मे यही सिद्धान्त है।

पांच इन्द्रियों के पांच विषय—

श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है शब्द, वह तीन प्रकार का होता है—जैसे कि जीव-शब्द, अजीव-शब्द और मिश्रशब्द। चक्षु-इन्द्रिय का विषय है रूप। रूप पांच प्रकार का होता है—काला, नीला, पीला, लाल और सफेद, शेष रग इन्ही के मिश्रण से बनते हैं। घ्राणेन्द्रिय का विषय है गंध, वह दो तरह का होता है जैसे कि सुगध और दुर्गन्ध, इनसे अतिरिक्त तीसरी तरह का कोई गध नही है। रसनेन्द्रिय का विषय है रस, वह पाच प्रकार का होता है, तिक्त, कटु, कसैला, खट्टा और मीठा। शेष रसो का अंतर्भाव इन मे ही हो जाता है। स्पर्शनेन्द्रिय का विषय है स्पर्श, वह आठ प्रकार का होता है—जैसे कि कर्कश, कठोर,

खुरदरा, सुकोमल, हल्का, भारी, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। इनका ज्ञान स्पर्शनेन्द्रिय अर्थात् त्वचा के द्वारा होता है। ३+५+२+५+८ इस प्रकार क्रमश इन्द्रियों के कुल २३ विषय हैं। इन्द्रिया ग्राहिका हैं और विषय ग्राह्य हाते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने अभीष्ट विषय की लालसा मे लीन है, इन्द्रिया इन्हे चाहती हैं, अत: ये इन्द्रियो के लिये अभीष्ट है। इसीलिये इन्हे इन्द्रियार्थ कहा जाता है। यहा यह स्मरणीय है कि आंखे बन्द कर लेने पर स्थूल रूप से विषय-निग्रह हो जाता है, परन्तु अन्तश्चेतना उनसे विरक्त नही हो पाती है तो इस इन्द्रिय-निग्रह का कोई महत्व नही है, अत: भावेन्द्रिय का निग्रह भी आवश्यक है। जिस समय विषय-चिन्तन सर्वथा निरुद्ध हो जाता है, वही वस्तुत: इन्द्रिय-निग्रह की साधना मानी गई है।

इन्द्रिय-मुण्ड—

मनुष्य को इन्द्रिया पुण्य के उदय से तथा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती हैं। पुण्यशील ही विकलागता के कष्टो से मुक्त रहते हैं, अत कोई भी इन्द्रिय बुरी नहीं हैं, सभी अच्छी हैं, आत्मकल्याण में सहायक होने से उपकारी भी हैं, परन्तु उसी दशा मे जबकि उन्हे विषयो मे आसक्त न होने दिया जाए, आसक्ति को दूर करना हो "मुण्ड" कहलाता है। जब इन्द्रियो को अभीष्ट विषय मिलते हैं, तब उनका उन विषयो मे राग का होना स्वाभाविक हो जाता है और अनिष्ट विषयो के मिलने पर द्वेष का आवरण चेतना पर छा जाता है। इनसे मध्यस्थ रहना ही समाधि है। इष्ट-अनिष्ट, जड़-चेतन पदार्थों की बातें सुनते हुए, देखते हुए, सूंघते हुए, चखते हुए और स्पर्श करते हुए राग-द्वेष न करना ही वास्तव मे सतोष है, साधुता और मुण्डित्व है।

कषाय-मुण्ड—

साधक के लिये जैसे विषयो से निवृत्त होना जरूरी है वैसे ही कषायो से निवृत्त होना भी आवश्यक है। क्रोध, मान, माया और लोभ दूसरो के लिये तो घातक है, ही किन्तु साधक के अपने जीवन को भी ये दूषित करनेवाले हैं, प्रगति में बाधक हैं तथा दुर्गति की ओर ले जाने वाले हैं, अत: उन्हे ताल-पुट विष के समान जानकर छोड़ देना चाहिए। उन्हे अन्त.करण से दूर करना भावमुण्ड माना जाता है। पाच इन्द्रियों को वश करने से तथा चार कषायो के निग्रह करने से ही सिर से मुण्डित होना लाभदायक है। विषय और कषायो से निवृत्ति पाए बिना शिर:मुंडन साधना का साधक नही हो सकता। इसी लिये उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है—'न वि मुण्डिएण समणो'—केवलशिर का मुण्डन कर लेने से कोई श्रमणत्व प्राप्त नही कर सकता है। 'समयाए समणो होइ' समभाव अर्थात् कषाय-निग्रह करके सब जीवों से समता का व्यवहार हो उस श्रमणत्व मे सहायक है, जिसे प्राप्त कर जीव मोक्षोन्मुख हो सकता है।

बादर द्रव्य

मूल—अहेलोएणं पंच बायरा पण्णत्ता, त जहा—पुढविकाइया, आउकाइया,

वाउकाइया, वणस्सइकाइया, ओराला तसा पाणा ।

उड्ढलोए णं पंच बायरा पण्णत्ता, तं जहा—एवं तं चेव ।

तिरियलोए णं पंच बायरा पण्णत्ता, तं जहा—एगिंदिया जाव पंचिंदिया ।

पंचविहा बायर तेउकाइया पण्णत्ता, तं जहा—इंगाले, जाले, मुम्मुरे, अच्ची, अलाए ।

पंचविहा बायरवाउकाइया पण्णत्ता, तं जहा—पाईणवाए, पडीणवाए, दाहिणवाए, उदीणवाए, विदिसवाए ।

पंचविहा अचित्ता वायुकाइया पण्णत्ता, तं जहा—अक्कंते, धंते, पीलिए, सरीराणुगए, संमुच्छिमे ।५८।

छाया—अधोलोके पञ्च बादराः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिकाः, अप्कायिकाः, वायुकायिकाः, वनस्पतिकायिकाः, उदारास्त्रसाः प्राणाः ।

ऊर्ध्वलोके पञ्च बादराः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एवं तच्चैव ।

तिर्यग्लोके पञ्च बादराः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकेन्द्रिया यावत् पञ्चेन्द्रियाः ।

पञ्चविधाः बादरतेजस्कायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अङ्गारः, ज्वाला, मुर्मुरः, अर्चिः, अलातम् ।

पञ्चविधाः बादरवायुकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्राचीनवातः, प्रतीचीनवातः, दक्षिण वातः, उदीचीनवातः, विदिग्वातः ।

पञ्चविधा अचित्ता वायुकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आक्रान्तः, ध्मातः, पीडितः, शरीरानुगतः, सम्मूर्च्छिमः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—अधोलोक में पाच बादर-स्थूल द्रव्य बतलाये गए है, जैसे—पृथिवीकायिक, अप्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, उदार अर्थात् प्रधान त्रस-प्राणी ।

ऊर्ध्वकोक में पांच बादर द्रव्य कथन किये गए हैं, जैसे—अधोलोक के समान ही पांचो के नाम समझ लेने चाहिए ।

निर्यग्लोक में पांच बादर कथन किये गए है, जैसे—एकेन्द्रिय जाति से लेकर पचेन्द्रिय जाति तक ।

पांच प्रकार के बादर तेजस्कायिक होते हैं, जैसे—अंगार, ज्वाला, मुर्मुर, अर्चि, और अलात।

पाच प्रकार के बादर वायुकायिक कथन किये गए हैं, जैसे—पूर्व का वायु, पश्चिम का वायु, दक्षिण का वायु, उत्तर का वायु, विदिशाओं का वायु।

पांच प्रकार के अचित्त अर्थात् जीव-रहित वायुकायिक वर्णन किये गए है, जैसे—पैरों को भूतल पर रखने से उत्पन्न वायु, धौकनी आदि के धौकने से उत्पन्न वायु, पीडित—जल से भीगे हुए वस्त्र को निचोड़ने से उत्पन्न वायु और पंखा आदि करने से उत्पन्न वायु जिस को सम्मूर्च्छिम कहा जाता है।

विवेचनिका—

जितना भी दृश्यमान जगत् है वह सब बादर द्रव्य ही है। सचित्त बादर द्रव्य कौन-कौन से हैं और वे कहा-कहां पाए जाते हैं? इस विषय का स्पष्टीकरण प्रस्तुत सूत्र में मिलता है। जिन जीवो ने विषय-कषायो से मुक्ति नही पाई वे जीव एकेन्द्रिय आदि जातियो मे जन्म-मरण करते रहते हैं। सूक्ष्म स्थावर तो लोक भर मे व्याप्त हैं, किन्तु स्थूलरूपधारी पृथिवीकायिक, अप्कायिक, वायुकायिक, वनस्पति-कायिक और उदार त्रस प्राणो अधोलोक मे, मध्यलोक मे ऊर्ध्वलोक मे तथा विदिशाओ में भी पाए जाते हैं। यद्यपि अधोलोक मे बादर तेजस्कायिक जीव भी पाए जाते हैं, परन्तु अल्पतर होने से उनकी गणना नही की गई।

सूत्रकर्त्ता ने "ओराला तसा पाणा" पद दिया है, इसका भाव यह है कि आगमो में तेजस्कायिक और वायुकायिक को भी त्रस कहा गया है, अत. उनसे भिन्नता प्रदर्शित करने के लिये ओराला पद रखा गया है। 'ओराला' का अर्थ है द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीव। रत्नप्रभादि सात पृथिवियो के सभी प्रस्तटों तथा भवनों मे केवल सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय वैक्रिय शरीरी हो पाए जाते हैं, ऊर्ध्वलोक अन्तर्गत मेरु पर्वत के नदनादि वनो में द्वीन्द्रिय आदि त्रस प्राणी पाए जाते है, किन्तु विमानो मे देवजाति का ही निवास है। असञ्ज्ञी द्वीन्द्रिय आदि विकलेन्द्रिय प्राणी वहां नहीं हैं।

मध्यलोक में एकेन्द्रिय जीवो से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त पाचों जातियों के जीव पाए जाते हैं। "एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म" के उदय से तथा तदावरण के क्षयोपशम से जीव को एकेन्द्रिय जाति प्राप्त होती है। उसी को एकेन्द्रिय जाति कहते हैं। एकेन्द्रिय जीवों में स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है, पृथिवी आदि पांच स्थावर जीवो की गणना एकेन्द्रिय जाति में ही की जाती है। द्वीन्द्रिय जाति में स्पर्शना और रसना ये दो इन्द्रियां होती हैं। त्रीन्द्रिय जाति में स्पर्शना, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां होती हैं। चतुरिन्द्रिय जाति में स्पर्शना, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां पाई जातीं हैं। पंचेन्द्रिय जाति में चार पहली और पाचवी श्रोत्रेन्द्रिय ये पाच इन्द्रियां पाई जाती हैं। मध्यलोक मे एकेन्द्रिय जीवो से लेकर पञ्चे-

न्द्रिय जीवों तक सभी जीव निवास करते है।

बादर तेजस्कायिक पाच प्रकार के होते है, जैसे कि इंगाले—कोयले के रूप में अग्नि, ज्वाला—छिन्न-मूल अग्नि-शिखा, मुर्मुर—भस्ममिश्रित कणरूप अग्नि, अर्चि—अच्छिन्न-मूला-अग्नि शिखा और अलायं—जलता हुआ काष्ठ या भट्ठे की अग्नि। ये सब बादर तेजस्कायिक है।

पांच प्रकार के स्थूल वायुकायिक जीव हैं, पूर्वदिशा से चलनेवाला वायु, पश्चिम दिशा से चलनेवाला वायु, दक्षिण दिशा से चलनेवाला वायु, उत्तर दिशा से चलनेवाला वायु और विदिशा—अग्नेय आदि कोणों से चलने वाली हवा।

पांच प्रकार का वायु अचित्त माना जाता है, जैसे कि अक्कंते—पैरों की आहट से या करतल-ध्वनि से उत्पन्न होने वाली हवा, धंते—धौंकनी-मशक या फुटबाल आदि में भरी हुई हवा, पीलिए—गीले वस्त्र आदि के पीडने से उत्पन्न हुई हवा, शरीर में रही हुई या उत्पन्न हुई हवा, जैसे कि श्वासोच्छ्वास, छींक, डकार से निकलने वाली वायु, अपानवायु, समानवायु, व्यानवायु वायुजनक खान-पान से उत्पन्न होने वाली वायु ये सब अचित्त होती हैं। सम्मुच्छिमे—पंखे आदि से उत्पन्न होने वाली हवा भी अचित्त होती है। वायु का शस्त्र वायु ही है। अचित वायु से सचित्त वायु की विराधना होती है। जो वायु पहले अचित्त था वह सचित्त भी हो जाता है। इस वर्णन से शास्त्रकार का आशय जीव-ज्ञान है, क्योकि ज्ञान होने पर ही उनकी रक्षा की जा सकती है। निर्ग्रन्थ-प्रवचन का आविर्भाव जीवों की रक्षा व दया के लिये ही हुआ है, अतः जीव-ज्ञान प्राप्त करके जीवो की रक्षा के लिये यत्नशील रहना चाहिए।

बादर वायुकाय का सचित्त और अचित्त दोनो प्रकार से वर्णन किया गया है। बादर तेजस्काय केवल मनुष्य क्षेत्र में ही होता है, अतः उसका विशेष वर्णन नही किया गया, किन्तु सूक्ष्म तेजस्काय सभी लोको में व्याप्त है।[1]



पञ्चविध निर्ग्रन्थ और उनके भेद

मूल—पंच निग्गंथा पण्णत्ता, तं जहा—पुलाए, बउसे, कुसीले, णिग्गंथे, सिणाए।

पुलाए पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—णाणपुलाए, दंसणपुलाए, चरित्तपुलाए, लिंगपुलाए, अहासुहुमपलाए नामं पंचमे।

बउसे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—आभोगवउसे, अणाभोगवउसे, संवुडबउसे, असंवुडबउसे, अहासुहूमबउसे नामं पंचमे।

कुसीले पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—णाणकुसीले, दंसणकुसीले, चरित्तकुसीले,

---

1. विशेष वर्णन के लिये देखिए श्री प्रज्ञापना सूत्र।

लिंगकुसीले, अहासुहुमकुसीले नामं पंचमे ।

नियंठे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा–पढमसमयनियंठे, अपढमसमयनियंठे, चरिमसमयनियंठे, अचरिमसमयनियंठे, अहासुहुमनियंठे ।

सिणाए पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा–अच्छवी, असवले, अकम्मंसे, संसुद्ध-णाणदंसणधरे, अरहा जिणे केवली, अपरिस्सावी ।५६।

छाया—पञ्च निर्ग्रन्थाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पुलाकः, बकुशः, कुशीलः, निर्ग्रन्थः, स्नातः ।

पुलाकः पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ज्ञानपुलाकः, दर्शनपुलाकः, चारित्रपुलाकः, लिङ्ग-पुलाकः, यथासूक्ष्मपुलाकनाम पञ्चमः ।

बकुशः पञ्चविध प्रज्ञप्तस्तद्यथा—आभोगबकुशः, अनाभोगबकुशः, संवृतबकुशः, असंवृतबकुशः, यथासूक्ष्मबकुशो नाम पञ्चमः ।

कुशीलः पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ज्ञानकुशीलः दर्शनकुशीलः, चारित्रकुशीलः, लिङ्गकुशीलः, यथासूक्ष्मकुशीलो नाम पञ्चमः ।

निर्ग्रन्थः पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रथमसमयनिर्ग्रन्थः अप्रथमसमयनिर्ग्रन्थः, चरम-समयनिर्ग्रन्थः, अचरमसमयनिर्ग्रन्थः, यथासूक्ष्मनिर्ग्रन्थः ।

स्नातः पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अच्छवि, अशबलः, अकर्मांशः, संशुद्धज्ञानदर्शन-धरोऽर्हन् जिनः केवली, अपरिश्रावी ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच निर्ग्रन्थ वर्णन किये गए है, जैसे–पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नात ।

पुलाक पांच प्रकार के वर्णित किए गए है, जैसे–ज्ञानपुलाक, दर्शन-पुलाक, चारित्र-पुलाक, लिङ्ग-पुलाक, और यथासूक्ष्म-पुलाक नामक पञ्चम ।

बकुश पांच प्रकार के कहे गए हैं, जैसे–आभोग-बकुश, अनाभोग-बकुश, संवृत-बकुश, असंवृत-बकुश और पांचवां यथासूक्ष्म-बकुश ।

कुशील पांच प्रकार के होते हैं, जैसे–ज्ञानकुशील, दर्शन-कुशील, चारित्र-कुशील, लिङ्ग-कुशील, पांचवां यथासूक्ष्म-कुशील ।

निर्ग्रन्थ पांच प्रकार के होते हैं, जैसे–प्रथम समय का निर्ग्रन्थ, अप्रथम समय का निर्ग्रन्थ, चरम समय का निर्ग्रन्थ, अचरम समय का निर्ग्रन्थ

और यथासूक्ष्म निर्ग्रन्थ ।

स्नात भी पांच प्रकार के होते है, जैसे—अच्छवि, अशबल, अकर्मांश, विशुद्ध ज्ञान-दर्शन के धारक अर्हन् जिन केवली अपरिश्रावी ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे सूक्ष्म और बादर जीवों का वर्णन किया गया है। उन जीवो की रक्षा निर्ग्रन्थ मुनीश्वर करते हैं, अत प्रस्तुत सूत्र मे पाच प्रकार के निर्ग्रन्थों का तथा उनके पाच-पाच रूपो का वर्णन किया गया है। अरिहन्त भगवान की वाणी पर दृढ श्रद्धा रखते हुए जिसने संसार का परित्याग कर सम्यक् चारित्र को अगीकार किया है, अथवा जो ग्रन्थ अर्थात् धन-धान्यादि बाह्य ग्रन्थ (बाह्य परिग्रह) और मिथ्यात्व आदि आन्तरिक ग्रन्थ (आन्तरिक परिग्रह) से मुक्त हैं, उन्हे निर्ग्रंथ कहा जाता है। निर्ग्रन्थ शब्द जैन मुनियो के लिये हो प्रयुक्त होता है। क्रिया-भेद से ये निर्ग्रथ पाच प्रकार के होते हैं, जैसे कि पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नात। इन में से कुशील निर्ग्रन्थ के दो भेद किए गए है, प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील। इस प्रकार निर्ग्रंथो के कुल छ भेद होते है। पुनः प्रत्येक निर्ग्रंथ के पाच-पांच भेद सूत्रकार ने प्रदर्शित किए है, उनका विवरण निम्नलिखित है—

१. पुलाक साधु—

दानो से रहित अखड धान्य की भूसी को या कदन्न विशेष को भी पुलाक कहा जाता है। जैसे पुलाक भीतर से निस्सार होता है वैसे ही जो तप और श्रुत के प्रभाव से किसी दूसरे को तथा सयम को निस्सार अर्थात् सत्त्वहीन बना सकता है उसे पुलाक साधु कहा जाता है। यह चतुर्विध श्रीसघ के हित एवं रक्षा के लिये यान-वाहन सहित आततायी चक्रवर्ती की सेना को भी अपनी लब्धि से नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है। इस प्रकार चक्रवर्त्ती के मान को मर्दन करने की सिद्धि वाला साधु लब्धिपुलाक कहा जाता है, और ज्ञान आदि के अतिचारो का सेवन करनेवाला साधु "प्रतिसेवापुलाक" कहलाता है। वह साधु पाच आचारो को निस्सार कर देता है, अतः उसे प्रतिसेवा-पुलाक कहा गया है। प्रतिसेवा-पुलाक के भी पाच रूप माने गए हैं।

णाणपुलाए—चौदह प्रकार के अतिचारो से श्रुतज्ञान को मलिन एव दूषित कर श्रुत-ज्ञान को निस्सार करनेवाला साधु 'ज्ञान पुलाक' कहलाता है।

दसणपुलाए—कुदृष्टियो के सस्तव से, मिथ्याशास्त्रो के अध्ययन से, सम्यक्त्व को निस्सार करनेवाले साधु को 'दर्शन पुलाक' कहा गया है।

चरित्तपुलाए—मूलगुणो मे या उत्तरगुणो में दोष लगानेवाले साधु 'चरित्त पुलाक' कहलाते हैं।

लिंग पुलाए—आगमो मे जो साधुवेष कथन किया गया है, उस से भी अधिक वेष ग्रहण करने वाला या बिना ही कारण से अन्य वेष धारण करनेवाला साधु 'लिंगपुलाक" कहलाता है। वृत्तिकार भी लिखते है—"यथोक्तलिङ्गाधिकग्रहणात्, निष्कारणेऽन्यलिङ्गकरणाद्वा ।"

अहासुहुमपुलाए—केवल मन से अकल्पनीय पदार्थों को ग्रहण करने की इच्छा करनेवाला साधु

'यथासूक्ष्म पुलाक' कहलाता है। केवल वेष मात्र के साधु को भी 'लिंगपुलाक' कहा जा सकता है।

२. वकुश साधु—

जिस साधु का सयम गुण और दोषो के मिले-जुले रूप के कारण चित्र-विचित्र है, वही बकुश साधु है। शुद्धि और दोषो से मिला हुआ चारित्र अनेक प्रकार का होता है। सौंदर्य-लालसा से हाथ, पैर, मुह आदि धोने वाला आख, कान, नाक आदि अवयवो से अनावश्यक मैल दूर करनेवाला, दातोन करनेवाला, केश आदि संवारनेवाला, शारीरिक विभूषा करनेवाला साधु 'शरीर बकुश' साधु कहलाता है। ऐसे ही वस्त्र, पात्र, दड आदि को वारनिश-सफेदे आदि के द्वारा विभूषित करनेवाला साधु 'उपकरण बकुश" कहलाता है। उसका चारित्र कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध मिश्ररूप होने से बकुश कहा गया है। उपर्युक्त दोनो प्रकार के साधु-मर्यादा बाह्य वस्त्र-पात्र रखनेवाले, ऋद्धि और यश के इच्छुक, साताप्रिय और रस-लोलुपी होते है, अतः वे दिनचर्या एव रात्रिचर्या के शुभ अनुष्ठानो मे सावधान नही रह सकते। इस प्रकार के साधु ही बकुशनिर्ग्रंथ कहलाते है। वे पाच प्रकार के होते हैं। उनका विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि—

आभोगबउसे—आभोग का अर्थ है—जानबूझ कर दोष लगाना, शरीर एवं उपकरणो की विभूषा करना, साधु मर्यादा के विरुद्ध है, यह जानते हुए भी शरीर की विभूषा तथा उपकरणो की विभूषा करनेवाला साधु अपने चारित्र को दूषित कर देता है। ऐसे साधु आभोगबकुश कहलाते है।

अणाभोगबउसे—जिसको इस बात का ज्ञान नही कि शरीर या उपकरणो की विभूषा करना साधु-मर्यादा के विरुद्ध है, केवल अनजानपने मे चारित्र को दूषित करनेवाले साधु 'अनाभोग-बकुश' निर्ग्रंथ कहलाते है।

संवुडबउसे—जो साधु छिपकर शरीर विभूषा, स्नान आदि करते है तथा उपकरण विभूषा, वस्त्र आदि का प्रक्षालन करते हैं इस तरह छिपकर चारित्र मे दोष लगानेवाले साधु 'सवृत्त बकुश' कहलाते हैं।

असंवुडबउसे—प्रकट रूप मे विभूषा के निमित्त दोष सेवन करनेवाले साधु 'असवृत्त बकुश' कहलाते हैं।

अहासुहुमबउसे—मूलगुण के सम्बन्ध मे प्रकट या प्रच्छन्न रूप से दोष सेवन करनेवाले, प्रमाद सेवन करनेवाले साधु 'यथासूक्ष्म बकुश' कहलाते हैं, अर्थात् शरीर और उपकरणो के निमित्त जिन दोषो का सेवन किया जाता है उन दोषो का अन्तर्भाव बकुश में हो जाता है।

३ कुशील साधु—

विषय और कषाय सेवन करने से जो साधु संयम को दूषित करता है उसे 'कुशील साधु' कहते हैं। कुशील के दो भेद हैं—प्रतिसेवना कुशील और कषाय-कुशील। जो साधु चारित्र पालन की प्रतिज्ञा लेकर भी जितेन्द्रिय नही हैं। पिंड-विशुद्धि, समिति, गुप्ति, भावना, तप, प्रतिमा आदि मूलगुणों एव उत्तर-गुणो की विराधना करने से सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाला 'कुशील' साधु कहलाता है। इन्द्रियो के वशीभूत होकर कभी मूलगुणों मे और कभी उत्तरगुणो में दोष लगानेवाले साधु 'प्रति-

सेवना कुशील' कहलाते हैं। और जो साधु इन्द्रियों के वशीभूत होकर चारित्र को दूषित तो नही होने देते, परन्तु संज्वलन कषाय से जिनके चारित्र मे यदा कदा-दोष लग जाते हैं, वे साधु कषाय-कुशील कहे जाते हैं, अथवा जो साधु इन्द्रियो के वशीभूत होकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप सम्बन्धी और यथा-सूक्ष्म दोषो का सेवन करते हैं, वे 'प्रतिसेवनाकुशील' है और जो कषायों के उदय के कारण सयम में दोष लगाते है वे साधु 'कषायकुशील' हैं। कुशील निर्ग्रन्थ भी पाच प्रकार से चारित्र को दूषित करता है,अतः, उसके भी पांच रूप माने गए है।

णाणकुसोले—क्रोध के वशीभूत होकर विवाद के लिए विद्या का प्रयोग करनेवाला, ज्ञान की किसी जटिल समस्या को उलझन के कारण क्रोध के आवेश मे आने वाला, कपट के साथ विद्याए पढने वाला, अपनी विद्या पर अभिमान करनेवाला, ज्ञानी एव ज्ञान के साधनो की अवहेलना करनेवाला, साधु 'ज्ञानकुशील' कहलाता है।

दसणकुसीले—शंका-कांक्षादि अतिचारो से सम्यक्त्व को मलिन करना, मैं दर्शन ग्रन्थों का अद्वितीय वेत्ता हूँ, मैं शास्त्रार्थ करने में निपुण एवं अजेय हूं, यह समझते हुए दार्शनिक विद्या का अभिमान करना, माया से वादी को निग्रह-स्थान में लाकर पराजित करना, लोभ के वशीभूत होकर सम्यग्दर्शन में दोष लगाना, इस तरह के दर्शन-सम्बन्धी दोष सेवन करनेवाला साधु 'दर्शनकुशील' कहलाता है।

चरित्तकुसीले—सज्वलन कषाय के आवेश में किसी को शाप देना, परीक्षा के बहाने कपट करना, अपनी उच्च क्रिया पर अभिमान करना, शिष्यादि के लोभ से चारित्र मे दोष लगाना, इस प्रकार संज्वलन कषायवश चारित्र में दोष लगाने वाला साधु 'चारित्र कुशील' कहलाता है।

लिंगकुसीले—संज्वलन कषाय वश अन्य लिंग को धारण करनेवाला साधु अथवा कुशीलियों के वेष को धारण करनेवाले साधु को लिंगकुशील कहते है।

अहासुहूमकुसीले—जो मन से कषाय प्रवृत्ति करता हुआ भो वाणी और शारीरिक क्रियाओं से उसे प्रकट नही करता, अर्थात् सूक्ष्मरूप से मनोमालिन्य रखनेवाला साधु 'यथासूक्ष्मकुशील' कहलाता है। अपने साधु जीवन मे अप्रशस्त लेश्याओ को स्थान देने वाला साधु भी कषायकुशील कहलाता है।

४. निर्ग्रन्थ—

ग्रन्थ मोह का पर्यायवाची शब्द है। जो छद्मस्थ अवस्था में ही मोह से रहित हो गया है, उसे निर्ग्रन्थ कहा जाता है। उपशान्तमोह गुणस्थान और क्षीण-मोह गुणस्थान को स्थिति मे पहुचे हुए साधना-सम्पत्ति-विभूषित मुनि निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। ये निर्ग्रन्थ मुनि भी पांच प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

पढम समय नियंठे—उपशान्तमोह या क्षीणमोह गुणस्थान मे पहुचे हुए अभी जिसे पहला ही समय[1] हुआ है वह 'प्रथमसमयनिर्ग्रन्थ' है।

अप्रथमसमयनियंठे—उपशान्तमोह या क्षीणमोह गुणस्थान मे पहुंचे हुए जिसे अनेक समय हो

---

१. एक बार आंख झपकने में जितना काल व्यतीत होता है जैन संस्कृति उतने काल मे असख्यात समय मानती है।

गए है वह निर्ग्रंथ 'अप्रथम समय निर्ग्रन्थ' कहलाता है।

चरमसमयनियठे—जिस साधक की स्थिति उस गुणस्थान मे एक ही समय शेष रह गई है वह 'चरमसमय निर्ग्रन्थ' कहलाता है।

अचरमसमयनियठे - उक्त दो गुणस्थानो में से किसी एक में प्रविष्ट हुए जिसकी स्थिति अभी अनेक समय तक है, वह 'अचरम-समयनिर्ग्रंथ' कहलाता है। ये दोनो भेद पश्चात् आनुपूर्वी से कथन किए गए है।

अहासुहूमनियठे—उपशान्तमोह गुणस्थान मे पहले समय से लेकर अतिम समय तक जो अवस्थित परिणामी है उसे 'यथासूक्ष्म-निर्ग्रन्थ' कहा जाता है।

५. स्नात निर्ग्रन्थ—

जो निर्ग्रन्थ मुनीश्वर कर्ममल को दूर कर शुद्ध एवं निर्लेप हो गए हैं वे स्नात निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। चार घनघाती कर्मो को क्षय करके जिन्होने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है। जिस ज्ञान को पाकर फिर अन्य किसी ज्ञान को पाने की आवश्यकता नही रहती, वह केवलज्ञान शुक्लध्यान के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। सयोगी और अयोगी के भेद से स्नात भी दो तरह के होते हैं। तेरहवे और चौदहवें गुणस्थान मे रहे हुए महासाधक निर्ग्रन्थ स्नात कहलाते हैं, वे नियमेन केवलज्ञानी होते है। वे भी पांच विशेषणो से युक्त होते है, जैसे कि—

अच्छवि—छवि का अर्थ है—शरीर। जब वे महासाधक शरीर के योग का निरोध करके चौदहवें गुणस्थान मे पहुच जाते हैं, तब शरीर होते हुए भी अयोगी होते है, इसलिये वे अच्छवि कहलाते है।

असबले—जिन का चारित्र सर्वथा निर्दोष है शबलित नही, उन्हे अशबल कहते है।

अकम्मंसे—घाती कर्मो के क्षय होने पर स्नात अकर्मांश कहलाते है।

संसुद्धणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली—पूर्ण विकसित शुद्ध निर्दोष ज्ञानदर्शन के धारक होने से अरिहत, विकारो के विजेता होने से जिन, केवलज्ञानी होने से केवली कहलाते हैं।

अपरिस्सावी—काययोग के सर्वथा निरोध कर लेने पर, जब स्नात निष्क्रिय हो जाता है और कर्म-प्रवाह का सर्वथा निरोध कर देता है, तब वह स्नात अपरिश्रावी कहलाता है।[1]

कल्पनीय वस्त्र एवं रजोहरण

मूल—कप्पइ णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा पंच वत्थाइं धारित्तए वा, परिहरित्तए वा, तं जहा—जंगिए, भंगिए, साणए, पोत्तिए, तिरीडपट्टए णामं

१. 'निर्ग्रन्थ' के विस्तृत वर्णन के लिये देखिए भगवती सूत्र शतक २५, उद्देशक ६।

पंचमए ।

कप्पइ णिग्गंथाण वा, णिग्गथीण वा पंच रयहरणाइं धारित्तए वा परि-हरित्तए वा, तं जहा—उण्णिए, उट्टिए, साणए, पच्चापिच्चयए, मुंजापि-च्चिए णामं पंचमए ।६०।

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा, निर्ग्रन्थीनां वा पञ्च वस्त्राणि धारयितुं वा, परिधातुं वा, तद्यथा—जाङ्गमिकं, भाङ्गिकं, सानकं, पोतक, तिरीटपट्टकं नाम पञ्चमम् ।
कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा पञ्च रजोहरणानि धारयितुं वा, परिधातुं वा, तद्यथा—औणिकम्, औष्ट्रिकं, सानक, वल्वजीयं, मुञ्जविच्छितं नाम पञ्चमम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—साधु और साध्वियो के लिये पाच प्रकार के वस्त्र धारण करने और परिधान करने विहित है, जैसे—जाङ्गमिक जंगम अर्थात् पशुओं की ऊन से निर्मित, भाङ्गिक—अलसी आदि के वस्त्र, सानक—सन का वस्त्र, अरंडी आदि और कार्पास—निर्मित अर्थात् सूती ।

साधु और साध्वियों को पाच प्रकार के रजोहरण धारण और उपयोग मे लाने विहित है, जैसे—ऊन का बना हुआ, ऊंट की ऊन का बना हुआ, सन का बना हुआ, तृण विशेष का बना हुआ और मूज का बना हुआ ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र के अन्तिम अंश में 'निर्ग्रन्थ' का वर्णन किया गया है, वे निर्ग्रन्थ मुनिवर भी अपने सयम की सुरक्षा के लिये वस्त्र रजोहरण आदि धर्मोपकरण रखते हैं। वे निर्ग्रन्थ कौन से वस्त्र एवं कैसे रजोहरण रख सकते है, इस जिज्ञासा के समाधान के लिये प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु और साध्विया पाच प्रकार के वस्त्र एव रजोहरण उपयोग में ला सकते है, जैसे कि—

जंगिए—त्रस जीवो के रोम अर्थात् ऊन आदि से बने हुए जागमिक वस्त्र ।

भगिए—अलसी का बना हुआ भागिक वस्त्र ।

साणए—सन का बना हुआ सानक वस्त्र ।

पोत्तिए—रूई का बना हुआ पोतक वस्त्र ।

तिरीडपट्टए—तिरीड वृक्ष के बल्कल अर्थात् छाल से बने हुए तिरीडपट्टक वस्त्र ।

इनमे से किसी भी तरह का वस्त्र उपयोग में ला सकते है। उत्सर्ग-मार्ग में तो कार्पासिक और औणिक ये दोनों प्रकार के वस्त्र ग्रहण करने का विधान है। पांचों का विधान तो केवल अपवाद-मार्ग में

किया गया है। साधु के हृदय में जब कभी वस्त्र ग्रहण करने की इच्छा हो तो उसके लिये अल्पमूल्य वाला वस्त्र ग्रहण करना ही उचित होता है, बहुमूल्य वस्त्र नही। अधिक कीमती वस्त्र रखना अथवा मर्यादा से अधिक वस्त्र रखना परिग्रह है। निष्परिग्रह के लिये परिग्रह से बचना अनिवार्य है।

जिसके द्वारा रज दूर की जाए उसे रजोहरण कहते हैं, कहा भी है—

हरइ रय जीवाणं बज्झं अब्भंतरं च जं तेणं।
रयहरणं ति पवुच्चइ कारण-कज्जोवयाराओ॥

रज को हरण करनेवाले धर्म-उपकरण को रजोहरण कहते हैं। वह द्रव्य से मृण्मयरज का हरण करता है और भाव से कर्म-रज को दूर करता है। अतः कारण में कार्य का उपचार करके ऐसा कहा गया है। साधु के मुख्य दो चिह्न हैं—मुखवस्त्रिका और रजोहरण। दोनों ही जीव-रक्षा के साधन एवं चिह्न है, जिससे अहिंसा की पुष्टि हो वही चिह्न श्रेयस्कर होता है, क्योंकि साधु का जीवन आमूल-चूल अहिंसामय ही होता है।

साधु या साध्वी वृंद को पाच मे से किसी एक प्रकार का रजोहरण रखना विहित है। जैसे कि—ऊन का बना हुआ औणिक रजोहरण, ऊट के रोमो से बना हुआ औष्ट्रिक रजोहरण, सन का बना हुआ सानक रजोहरण, बल्वज—तृण विशेष से बना हुआ रजोहरण और कुटे हुए मुंज से बना हुआ रजोहरण। उत्सर्ग मार्ग मे औणिक या औष्ट्रिक रोमो से बना हुआ रजोहरण उपयोग मे लाना उचित बताया गया है, किन्तु शेप तीन तरह के रजोहरण अपवाद मार्ग मे ग्रहण किए जाने चाहिए।

धारित्तए—इस पद का अर्थ है ग्रहण करना, परिहरित्तए—पद का अर्थ है उपयोग में लाना। सूत्रकर्त्ता ने उक्त-पाच प्रकार के वस्त्रो वा रजोहरणो का वर्णन किया है। जहा जिस प्रकार की गण समाचारी हो, उसके अनुसार ही ये ग्रहण किए जाने चाहिए। विकलेन्द्रिय जीवो के अवयवो से बने हुए रेशमी वस्त्र व्यवहार पक्ष मे भी साधु के लिये अग्राह्य हैं।

धर्मात्मा के आश्रय-स्थान

मूल—**धम्मं चरमाणस्स पंच णिस्साठाणा पण्णत्ता, तं जहा—छक्काए, गणे, राया, गिहवई, सरीरं।६१।**

छाया—**धर्मं चरतः पञ्च निश्रास्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—षट्कायः, गणः, राजा, गृहपतिः, शरीरम्।**

शब्दार्थ—**धम्मं चरमाणस्स**—धर्म का आचरण करने वाले के लिये; **पंच**—पाच; **णिस्साठाणा**—आलम्बन के स्थान; **पण्णत्ता, त जहा**—प्रतिपादन किये गए हैं, जैसे; **छक्काए**—षट्काय, **गणे**—गण; **राया**—राजा; **गिहवई**—गृहपति और; **सरीर**—शरीर।

मूलार्थ—धर्म का आचरण करनेवाले साधक के लिये पांच आश्रय-स्थान वर्णन किये गए हैं, जैसे–षट्काय, गण, राजा, गृहपति और शरीर।

विवेचनिका –

पूर्व सूत्र मे साधु और साध्वियों के संयम-पालन में सहायक रजोहरण और वस्त्रों का वर्णन किया गया है। रजोहरण और वस्त्रादि के समान ही कुछ अन्य कारण भी धर्म मे सहायक होते हैं। अब सूत्रकार उन्ही कारणो का वणन प्रस्तुत करते हैं।

जो साधक श्रुत और चारित्ररूप धर्म का पालन करनेवाले हैं उनके पांच निश्रास्थान अर्थात् आलम्बन-स्थान प्रस्तुत सूत्र मे प्रतिपादित किए गए है। जिस प्रकार पक्षी को उड़ान लगाने के लिये आकाश आश्रय स्थान है, इसी प्रकार सयमियों के लिये पांच आश्रय-स्थान है, क्योंकि सुदृढ आश्रय के आधार पर ही वे अपनी धार्मिक क्रियाए सुखपूर्वक कर सकते हैं, जैसे कि—

१, छक्काए—छ काय जीव साधनाशील सयमी की साधना में उपकार करनेवाले है, जैसेकि पृथिवी-काय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। ये छ काय जीव यदि अनुकूल हैं, तभी साधनाशील जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो सकता है। सोना, बैठना, खडे होना, चलना, कायोत्सर्ग, संथारा इत्यादि सभी क्रियाए पृथिवी पर ही होती है। मिट्टी के बने हुए पात्र इत्यादि पदार्थ भी धार्मिक वृत्ति के अनुसार साधक के लिये उपकारी है। प्यास शान्त करने के लिये, हाथ आदि अग धोने के लिये, वस्त्र और पात्र धोने के लिये, शुद्धि या आचमन के लिये और इसी प्रकार के अन्य नाना कार्यों के लिये जल की आवश्यकता रहती है, परन्तु वह यदि धार्मिक मर्यादा के अनुसार मिलता हो तो अप्काय भी साधना का आलम्बन ही है। अग्नि के द्वारा गर्म की हुई वस्तुएं, भस्म, भोजन आदि कार्यो के लिये तेजस्काय भी धार्मिक जीवन साधना में सहायक होता है। रोमाहार, श्वासोच्छ्वास, आदि मे सहायक वायु भी सयमियो का आलबन है। चौकी, पट्टा, फूस, पात्र, भोजन, औषध-भेषज, दण्ड, कपास के बने हुए वस्त्र, रूई, धागा इत्यादि रूपो में वनस्पतिया भी धार्मिक जीवन-साधना में सहायक होती हैं। यह ठीक है कि संयमशील साधु उनका प्रयोग विधि एव मर्यादा के अनुकूल ही करता है। उनका मर्यादानुकूल सेवन भी तो सयम साधना मे सहायक होता है। चर्म, अस्थि, दत, नख, रोम, सींग, गोबर, गोमूत्र, दूध, दही, घी, मक्खन, ऊनी वस्त्र, रजोहरण इत्यादि पदार्थ देकर पचेन्द्रिय जीव भी अध्यात्म-साधको की साधना मे सहायता देते हैं। इसी प्रकार विकलेन्द्रिय जीव मनुष्य और देव भी यदि सयमी के अनुकूल बन जाए तो वे भी धार्मिक क्रियाओं के लिये सहायक बन जाते हैं। अतः षट्कायो के आश्रय की संयमियों को अत्यन्त आवश्यकता रहती है।

२. गणे—साधक का दूसरा आश्रय गच्छ है। गुरु का परिवार गच्छ कहलाता है। उस में रहते हुए साधक गुरुजनो एव अन्य साधको की सहायता द्वारा महानिर्जरा कर सकता है। गच्छ में रहने पर शास्त्रो के अध्ययन-अध्यापन, सेवा, विनय, आदि में दोष लगने की संभावना नही होती। एक दूसरे की साधना-निष्ठा एव विनय को देखने से गच्छ वासी मुनि नियम-पूर्वक अपनी सावना को क्रिया-

कांड के द्वारा सिद्ध कर सकता है, अतः संयम-पालन के लिये गच्छ भी एक आश्रय है। इसके बिना संयम पालन करना प्रत्येक साधक के लिये दुःशक्य है।

३. राया—राजा भी धर्म में सहायक होता है, क्योकि धर्म-परायण राजा साधुओ एवं सज्जनो की रक्षा और दुष्टो को दड देता है। धर्म-क्रियाएं करने के लिये राजा का आश्रय भी आवश्यक है। राजनीति की व्यवस्था ठीक होने पर ही धर्मनीति चल सकती है। जिस देश में अराजकता बढ जाती है उस देश मे सज्जनो को या साधुओं को निवास करना कठिन हो जाता है।

४. गिहवई—साधु की साधना के लिये मकान आदि देने वाला व्यक्ति 'गृहपति' कहलाता है। गृहपति साधुओ को ठहरने के लिये स्थान देकर उनके सयम-पालन में सहायक बनता है। जिसने मुनिवरो को ठहरने के लिए उपाश्रय दिया है उसने उन्हे सब कुछ दे दिया है, क्योकि उपाश्रय मे रहकर ही सयम-क्रियाए सुख-पूर्वक पालन की जा सकती है। कहा भी है—

धृतिस्तेन दत्ता मतिस्तेन दत्ता, गतिस्तेन दत्ता, सुखं तेन दत्तम्।
गुणश्रीसमालिङ्गितेभ्यो वरेभ्यो, मुनिभ्यो मुदा येन दत्तो निवासः॥
जो देइ उवस्सयं जइवराणं तव नियम जोग जुत्ताण।
तेणं दिन्ना वत्थन्नपाणं सयणासण विगप्पा॥

अर्थात् जिसने प्रसन्नता का अनुभव करते हुए साधु के लिये निवास-योग्य स्थान दे दिया है, उसने मानो उसे धृति, मति, गति और सुख आदि सब कुछ दे दिया है। दूसरी गाथा में भी कहा गया है कि तपोनिधान मुनीश्वरो को स्थान देने वाले गृहपति ने मानो उन्हे वस्त्र, अन्न-जल शयन आसन आदि सब कुछ ही दे दिया है। अत. गृहपति भी साधनाशील की साधना का आलम्बन है।

५. सरीरं—शरीर तो धर्म का प्रमुख साधन है। अतएव कहा गया है—शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्—शरीर के स्वस्थ रहने से ही सभी धर्म-क्रियाए सुख पूर्वक चल सकती है। जैसे पर्वत से जल झरता है वैसे ही शरीर से धर्म-भाव प्रवाहित होता है।[1] आध्यात्मिक साधना के लिये धर्म-परायण रहकर शरीर की रक्षा भी अवश्य ही करनी चाहिए।

सयमी पुरुषो को उक्त पाच आश्रयो के द्वारा अपने करणीय कार्य की सिद्धि करनी चाहिए। निम्नलिखित श्लोक मे भी पाच आश्रय स्थानो के नामोल्लेख किए गए हैं जैसे कि—

"धर्मं चरतः साधोर्लोकनिश्रापदानि पञ्चैव।
राजा गृहपतिरपरः षट्काया गणशरीरे च॥"

षट्काय जीव, गण, गृहपति, शरीर और शासक इन पाचों को साधक के लिये आश्रय-स्थान कह कर शास्त्रकार ने "परस्परं भावयन्तः श्रेय. परमवाप्स्यथ" एक दूसरे को सहायता देते हुए ही परमश्रेय को प्राप्त कर सकोगे की भावना को जहा व्यक्त किया है वहा साधु के लिये यह भी निर्देश किया है कि उसे सर्वथा लोक-विमुख नही हो जाना चाहिए, क्योकि उपर्युक्त पाच आश्रयो मे प्रायः ससार का सभी कुछ आ जाता है जो कि उसकी साधना मे सहायक हो सकता है।

---

१. शरीर-धर्म सयुक्त रक्षणीय प्रयत्नतः।
शरीराच्छ्रवते धर्मः पर्वतात्सलिल यथा॥

पांच निधियां

मूल—पंच णिही पण्णत्ता, तं जहा—पुत्तनिही, मित्तनिही, सिप्पनिही धणणिही, धन्नणिही ।६२।

छाया—पञ्च निधय. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पुत्रनिधिः, मित्रनिधिः, शिल्पनिधिः, धननिधिः, धान्य-निधिः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच प्रकार की निधिया अर्थात् कोष कथन किये गए है, जैसे—पुत्रनिधि, मित्रनिधि, शिल्प-निधि, धन-निधि, धान्य-निधि ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में साधु के आश्रय-स्थानो का वर्णन किया गया है। अब शास्त्रकार श्रावक के जीवन के लिये आश्रय रूप उन निधियो का वर्णन करते है जिनका उसे लोकाचार की रक्षा के लिये आश्रय लेना पड़ता है।

निधि शब्द का अर्थ है "नितरां धीयते—स्थाप्यते यस्मिन् स निधिः" अर्थात् रत्न स्वर्ण आदि विशिष्ट पदार्थों को सुरक्षित एव सचित रखने के स्थान को निधि कहा जाता है और वे व्यक्ति भी निधि माने जाते है जिन पर मानव की अभिलाषाए केन्द्रित होती है, जिन्हे वह जीवन का आधार मानता है और समझता है कि मैं इनका सम्बल लेकर ही जीवन-यापन कर सकता हू। पुत्र, मित्र आदि को इसी आशय से निधि कहा गया है। ऐसी निधिया पाच है, जैसे कि—

१ पुत्रनिधि—ससार-पक्ष मे सुयोग्य और विनीत पुत्र निधि है, क्योकि 'कुल पुनातीति पुत्रः' जो कुल को पवित्र करता है वही पुत्र है। कुल की वृद्धि पुत्र के बिना नही हो सकती। साथ ही वह वृद्धावस्था में द्रव्योपार्जन के द्वारा माता-पिता का परिपोषक होता है और धार्मिक क्रियाओ मे सहायक भी हुआ करता है। इसीलिये अनुभवी नीति-विज्ञो ने कहा है—

"जन्मान्तरफल पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।
सन्ततिः शुद्धवश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥"

अर्थात् तप और दान से उत्पन्न पुण्य तो परलोक मे सुखरूप होता है, किन्तु शुद्धवंश में उत्पन्न हुई सन्तति लोक और परलोक दोनो लोको मे सुख एवं कल्याण करनेवाली होती है।

२. मित्रनिधि—जो सब बातो मे सहायक एवं शुभचिंतक हो वह मित्र है। जो दुःख में सहायक तथा दुर्व्यसनो से बचाने वाला हो, धर्म-क्रियाओ मे सहायक हो, दुःख-सुख का साथी हो, अर्थ काम और धर्म का साधक हो ऐसे व्यक्ति को ही मित्र कहा जाता है। मित्र के विषय में एक कवि ने कहा है—

"कुतस्तस्यास्तु राज्यश्रीः कुतस्तस्य मृगेक्षणाः।
यस्य शूरं विनीतं च नास्ति मित्रं विचक्षणम् ॥"

अर्थात् उस व्यक्ति को राज्यलक्ष्मी कहां प्राप्त हो सकती है और उसको मृगनयनी अत्यन्त सुन्दरिया कहां मिल सकती हैं ? जिसका कि कोई शूर, विनीत और विचक्षण मित्र नही है।

३ शिल्पनिधि—जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं को अत्यधिक उपयोगी एव सुन्दर बनाने की विद्या को शिल्प कहा जाता है। कपड़ा ओढ़ कर भी काम चलाया जा सकता है, शरीर पर उसे लपेट कर भी लोक-लाज की रक्षा की जा सकती है, परन्तु उसी वस्त्र को कुशल शिल्पी (दर्जी) साज-संवार कर सुन्दर रूप दे देता है। जंगल में और वाग मे शिल्प-सौन्दर्य का ही तो अन्तर होता है।

लोक-व्यवहार सौदर्य-प्रिय है, अतः वह शिल्प का अर्थात् शिल्प द्वारा निर्मित वस्तुओ का निरन्तर संग्रह करता रहता है, अतएव शिल्प भी उसके लिये निधि अर्थात् संग्रहणीय है।

उपलक्षण से विद्या भी निधि है। विद्या से सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। जीवन-निर्वाह भी सुख-पूर्वक विद्या से ही हो सकता है, इससे समाज में प्रतिष्ठा भी बढ़ती है। नीति विज्ञों का कथन है—

"विद्यया राजपूज्यः स्याद् विद्यया कामिनीप्रियः।
विद्या हि सर्वलोकस्य वशीकरणकारणम् ॥"

विद्या से मनुष्य राज्य-पूज्य एवं लोकमान्य बन सकता है, विद्या सर्वलोक को वश करने का वशीकरण मंत्र है, अतः विद्या मनुष्य की बहुत बड़ी निधि है।

४. धननिधि—भूगर्भ में स्थापित, व्यापार में लगाया हुआ. तथा चल सम्पत्ति और अचल-संपत्ति के रूप में मणि, मोती, रत्न, राजमुद्रा, चांदी, सोना और रुपया पैसे इत्यादि सब धन के ही अनेक रूप हैं। धन को सबसे अधिक संग्रहणीय माना गया है क्योकि—

"यस्यार्थस्तस्य मित्राणि, यस्यार्थस्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थः सः पुमांल्लोके, यस्यार्थः स च पण्डित ॥"

जिसके पास धन है उसके ससार में अनेक मित्र बन जाते हैं, बन्धु-बान्धव भी उसे ही अपना बन्धु कहते हैं, धन से ही मनुष्य,मनुष्य माना जाता है और धनवान को ही यहां पण्डित अर्थात् बुद्धिमान समझा जाता है। अतः धन भी लोक-जीवन के लिये अत्यन्त उपकारी एवं संग्रहणीय होने से निधि है।

५. धान्य-निधि—यहां धान्य शब्द अन्न मात्र का उपलक्षण है। "अन्न वै प्राणा." अन्न ही प्राण है, इस उक्ति के अनुसार अन्न के विना जीवन-निर्वाह असम्भव नहो तो कठिन अवश्य है। अन्न जीवन है और जीवन सबके लिये प्रिय एवं रक्षणीय है, अतः अन्न को लोक में सबसे अधिक सग्रहणीय माना जाता है। इसलिये उसे पांचवी निधि कहा गया है। ये पांच निधियां लौकिक पक्ष के आश्रित हो कर ही कही गई हैं।

निधियां दो प्रकार की होती है, द्रव्य-निधि और भाव-निधि। द्रव्य से दस प्रकार के पुत्र और भाव से विनीत एवं कुशल अनुष्ठान करनेवाला सुशिष्य भी निधि है। मित्र शब्द से, माता-पिता, स्त्री-पुत्र, स्वजन-संबंधी सभी द्रव्य मित्र माने जाते हैं तथा हित-शिक्षक एवं शुभ-चिंतक साधु भाव-मित्र हैं। अनेक

प्रकार के विज्ञान और कला-कौशल ये सब द्रव्य-शिल्प है, वाद-लब्धि, कथा-लब्धि, शासन-लब्धि, मंत्रसिद्धि, विद्यासिद्धि इत्यादि सब भाव-शिल्प है। क्षेत्र, वस्तु, पशु, स्वर्ण आदि द्रव्यधन है और आध्यात्मिक लब्धियों का प्राप्त होना भाव-धन है। गेहूं आदि द्रव्य धान्य है, सत् शिक्षा, संतोष, धर्मोपदेश इत्यादि सब भाव-धान्य है। अतः लोकोत्तरिक निधियां भी प्रस्तुत सूत्र में समाविष्ट हो जाती है।

बाह्य और आन्तरिक शौच

मूल—सोए पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—पुढविसोए, आउसोए, तेउसोए, मंतसोए, बंभसोए ।६३।

छाया—शौचः पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पृथिवी-शौचः, अप्-शौचः, तेजश्शौचः, मन्त्र-शौचः, ब्रह्म-शौचः ।

शब्दार्थ—**सोए पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा**—शौच पाच प्रकार का कथन किया गया है, जैसे, **पुढविसोए**—पृथिवी शौच, **आउसोए**—जल-शौच, **तेउसोए** तेजःशौच; **मंतसोए**—मन्त्र-शौच और; **बंभसोए**—ब्रह्मचर्य-शौच ।

मूलार्थ—शौच पांच प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे—पृथ्वी-शौच, जल-शौच, तेजः-शौच, मन्त्र-शौच और ब्रह्मचर्य-शौच ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे पांच निधियो का वर्णन किया गया है। निधिया वही निवास करती हैं जहां पवित्रता है, शुद्धि है, शौच है। अतः सूत्रकार निधियो की प्राप्ति के लिये आवश्यक 'शौच' का वर्णन करते हैं।

शौच का अर्थ होता है शुद्धि अर्थात् पवित्रता। द्रव्य-शौच और भाव-शौच के रूप में शौच के पाच रूपों का उल्लेख किया गया। इनमें प्रथम चार द्रव्य-शौच है और पाचवा भाव शौच है। सर्व प्रथम द्रव्य शौच के चारो रूपों का परिचय दिया जाता है :—

१. **पृथिवी-शौच**—जो शरीर में घृणास्पद मल हो या पात्र मे जूठन आदि हो उसे मिट्टी से साफ करना, मिट्टी से हाथ धोना, मिट्टी का लेप करना आदि पृथ्वी शौच है। इस शौच का उद्देश्य दूषित विषाक्त एवं दुर्गन्धित पदार्थो से बचना है, जिससे साधना मे विघ्न-बाधा न हो।

२. **अप्-शौच**—जल द्वारा शरीर को, हाथो को, पैरो को वस्त्रो को या भूमि को साफ करना, पात्रादि को पानी से धोकर उसकी मलिनता को दूर करना जल-शौच है।

३. तेज.शौच—धातु-पात्रों को भस्म से मांजकर शुद्धि की जाती है, रत्नकवल को अग्नि में डालकर शुद्ध किया जाता है, किसी धातु में यदि विजातीय तत्त्व मिला हुआ हो तो उसे अग्नि में डाल कर ही शुद्ध किया जाता है। कुछ खाने-पीने के पदार्थ भी अग्नि द्वारा शुद्ध होते हैं।

४. मन्त्र-शौच—मन्त्र से होने-वाली शुद्धि जैसे किसी अस्पृश्य को मन्त्र के द्वारा शुद्ध किया जाता है। किसी मकान एवं स्थान आदि को भी मन्त्र के द्वारा शुद्ध किया जाता है जिससे कि वह व्यन्तर आदि देवों के प्रकोपादि से शान्त एवं पवित्र हो सके।

यद्यपि मन्त्र-शौच को द्रव्य शौच माना गया है, परन्तु इसे भाव-शौच भी कहा जा सकता है, क्योंकि मन्त्र-जप से मानसिक शुद्धि प्रसिद्ध है। जब मनुष्य का मन अपवित्र होता है तो बाहरी पवित्रता का भी ध्यान नहीं रहता, प्रायः मानसिक दूषणों से युक्त लोगों को पवित्रता से दूर रहते ही देखा गया है। मन्त्र मानसिक शुद्धि का विधायक है, अत मन्त्र-शौच को भाव-शौच भी कहा जा सकता है।

५. ब्रह्मशौच—आन्तरिक मल को दूर करनेवाले अहिंसा, सत्य, अस्तेय, संतोष, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-संयम, कषाय-निग्रह और तप आदि साधनों को ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म के द्वारा होनेवाली आत्म-शुद्धि को ब्रह्म-शौच कहा जाता है।

उपर्युक्त पांच प्रकार के शौच का वर्णन एक अन्य प्रकार से भी प्राप्त होता है, जैसे कि—

"सत्य शौचं तपः शौचं शौचमिन्द्रियनिग्रह।
सर्वभूतदयाशौचं जलशौचञ्च पञ्चमम्॥"

सत्य, तप, इन्द्रिय-निग्रह और प्राणी मात्र पर करुणा ये चार भाव-तप है, क्योंकि इनसे भावनाएं शुद्ध होती हैं और पांचवां जल-शौच है जो बाहरी शुद्धि का विधायक है। लौकिक दृष्टि से सात प्रकार के शौच माने गए हैं जो निम्न लिखित चार श्लोकों मे वर्णित है, जैसे कि—

"सप्त स्नानानि प्रोक्तानि स्वयमेव स्वयंभुवा।
द्रव्य-भाव-विशुद्ध्यर्थमृषीणां ब्रह्मचारिणाम् ॥१॥

आग्नेयं वारुणं ब्राह्मं वायव्यं दिव्यमेव च।
पार्थिवं मानसं चैव स्नानं सप्तविधं स्मृतम् ॥२॥

आग्नेयं भस्मना स्नानमवगाह्य तु वारुणं।
आपोहिष्ठामयं ब्राह्मं वायव्यं तु गवां रज ॥३॥

सूर्यदृष्टं तु यद्दृष्टं तद्दिव्यमृषयो विदु।
पार्थिवं तु मृदा स्नानं, मन शुद्धिस्तु मानसम् ॥४॥

अर्थात् ऋषियों और ब्रह्मचारियों की मानसिक और बाह्य शुद्धि के लिये स्वयंभू ने सात स्नान बतलाए है, जैसे कि—आग्नेय, वारुण, ब्राह्म, वायव्य, दिव्य, पार्थिव और मानस।

भस्म से स्नान करना आग्नेय स्नान है, जल से स्नान करना वारुणस्नान है, जो स्नान मंत्र से किया जाता है वह ब्राह्मस्नान माना जाता है, गोधूलि से होनेवाला स्नान वायव्य स्नान कहलाता है,

सूर्य की आतापना लेनी दिव्यस्नान है, मिट्टी से होने वाला स्नान पार्थिव स्नान है और मन की के लिये तप, स्वाध्याय, सयमशीलता, अहिंसा आदि के रूप मे भावनाओं की पावनता रूप जल से जानेवाला स्नान **मानस-स्नान** कहलाता है।

इस विषय में शंका उत्पन्न हो सकती है कि वायु और सूर्य की किरणो से जो ऋषियो ने कहा है उसका उल्लेख प्रस्तुत सूत्र मे क्यों नही किया गया? समाधान मे कहा जा सकता है कि दोनो प्रकार के शौच कथित पाच शौचों मे ही समाविष्ट हो जाते हैं, क्योकि सूर्य का विमान पृथिवीम उसकी किरणे शुचि रूप होने से पार्थिव शौच मे ही परिणित होती हैं। जैसे लोग मिट्टी के लेप से की शुद्धि करते है वैसे ही यथोचित स्थान पर सूर्य की रश्मियो से शुद्धीकरण माना जाता है। वायु का अन्तर्भाव तेज:-शौच मे हो जाता है, क्योकि वायु के विना अग्नि प्रदीप्त नही होती, अग्नि का वायु के विना नही रह सकता। आगमकार भी इस विषय में कहते हैं—

इंगाल कारियाए णं भंते! अगणिकाए केवइयं कालं संचिट्ठइ? गोयमा! जहन्नेणं मुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि राइंदियाइं, अन्ने वि तत्थ वाउयाए वक्कमइ, न विणा वाउयाएणं . . उज्जलइ।[1]

अर्थात् अग्नि का वायु से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, अत: तेजस्काय के ग्रहण करने से वायुक का स्पर्श सदा-सर्वदा रहना ही है। उसके विना किसी का कोई काम नही चलता है। यदि गो-र को शुद्धि का कारण माना जाए तो वह भी मिट्टी ही है, मिट्टी के अतिरिक्त रज कोई अन्य पदा नही है। पृथिवी-शौच का वर्णन सूत्रकार ने स्वय कर दिया है, अत. शौच की पचविधता कही जा सकती है।

असीम और निःसीम ज्ञान

मूल—पंच ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं ण जाणइ, ण पासइ, तं जहा—ध ि त्थिकायं, अधम्मत्थिकायं, आकासत्थिकायं, जीवं असरीरपडिबद्धं, . णुपोग्गलं। एयाणि चेव उप्पन्ननाणदंसणधरे, अरहा जिणे केवली . . भावेणं जाणइ, पासइ, धम्मत्थिकायं जाव परमाणुपोग्गलं।६४।

छाया—पञ्चस्थानानि छद्मस्थः सर्वभावेन न जानाति, न पश्यति, तद्यथा . . . अधर्मास्तिकायम्, आकाशास्तिकायं, जीवमशरीरप्रतिबद्धं, परमाणुपुद्गलम्। . चैवोत्पन्नज्ञानदर्शनधरोऽर्हन् जिन. केवली सर्वभावेन जानाति, पश्यति, . . . यावत् परमाणुपुद्गलम्।

---

1. भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशक पहला सूत्र ५६२

शब्दार्थ—**पंच ठाणाइं**—पांच स्थानों को, **छउमत्थे**—छद्मस्थ; **सव्वभावेण**—पूर्ण रूप से, **ण जाणइ**—नहीं जानता, **ण पासइ**—नहीं देख पाता, **तं जहा**—जैसे; **धम्मत्थिकायं**—धर्मास्तिकाय को; **अधम्मत्थिकाय**—अधर्मास्तिकाय को; **आगासत्थिकायं**—आकाशास्तिकाय को; **जीवं असरीरपडिबद्धं**—शरीर-रहित जीव को; **परमाणु पोग्गलं**—परमाणु पुद्गल को, **एयाणि चेव**—इन्हीं को, **उप्पन्ननाण-दंसणधरे**—उत्पन्न केवलज्ञान दर्शन के धारण करनेवाले; **अरहा**—अर्हन्, **जिणे**—जिन; **केवली**—केवली; **सव्वभावेण**—सर्व भाव से; **जाणइ**—जानते है और, **पासइ**—देखते हैं, **धम्मत्थिकायं जाव परमाणुपोग्गलं**—धर्मास्तिकाय से लेकर परमाणु-पुद्गल तक सभी पदार्थों को।

मूलार्थ—छद्मस्थ पांच वस्तुओं को सर्वभाव से नहीं जानता और न ही देख पाता है, जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, शरीर के बन्धनों से मुक्त जीव और परमाणु पुद्गल। उक्त पांचों वस्तुओ को उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक अर्हन्, जिन और केवली धर्मास्तिकाय से लेकर परमाणु पुद्गल तक सर्वभाव से जानते और देखते है,।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे द्रव्य-शौच और भाव-शौच का वर्णन किया गया है। द्रव्यशौच परम्परया भाव-शौच मे सहायक है। भाव शौच की अवस्था प्राप्त होने पर जीव पुण्य-पथ एवं आत्म-साधना की ओर गतिशील हो उठता है। पुण्य-पथ और आत्म-साधना के मार्ग पर चलता हुआ साधक उस अवस्था में पहुंच जाता है जबकि उसकी ज्ञान-सीमा का विस्तार होने लगता है। जब तक उसे पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो जाती तब तक वह साधक 'छद्मस्थ' कहलाता है। इस छद्मस्थ अवस्था में उसकी ज्ञान सीमा विस्तृत हो जाने पर भी कुछ ऐसे पदार्थ होते हैं जिन्हे वह प्रत्यक्ष नहीं कर पाता, प्रस्तुत सूत्र मे छद्मस्थ साधक की सीमा से बाहर रहनेवाले उन्ही पाच पदार्थो का बोध कराते हुए सूत्रकार यह भी निर्देश कर देते है कि ये पाच पदार्थ पूर्णज्ञानी केवली की ज्ञान-सीमा से बाहर नहीं रह पाते, वह उन्हें 'करामलकवत्' प्रत्यक्ष देखने लगता है। जैसे कि—

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, शरीर-रहित जीव और परमाणु पुद्गल। इनका साक्षात्कार छद्मस्थ जीव नहीं कर सकता। इनमें पहले चार पदार्थ अमूर्त एवं अरूपी है, किन्तु अति-सूक्ष्म होने से परमाणु पुद्गल मूर्त एवं रूपी होने पर भी उसके साक्षात्कार का विषय नहीं बन पाता, क्योंकि उसकी ज्ञान-सीमा सीमित होती है और पुद्गल प्रत्येक क्षण में अपना रूप बदलता रहता है, उसकी एक सी अवस्थिति नहीं होती।

जिसको केवल ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो गया है ऐसे अरिहंत, जिन, केवली इन पदार्थों का सभी रूपों में साक्षात्कार करते है। उन सर्वज्ञ महापुरुषों के ज्ञानालोक मे कुछ भी अदृश्य एव अवर्ण्य नहीं रह जाता है।

परमावधि ज्ञानी और विपुल मन.पर्यवज्ञानी भी परमाणु-पुद्गल का कथचित् प्रत्यक्ष कर सकते हैं, किन्तु वे भी सर्व भाव से उनको न जान सकते और न ही देख सकते है। श्रुतकेवली भी परमाणु पुद्गल को यत्किंचित् जानते और देख पाते है, किन्तु सर्वभाव से नही। अतीत काल में परमाणु-पुद्गल के अनन्त रूप बदल चुके है और भविष्य में भी उसने अनन्त रूपो में परिवर्तित होना होता है। परमाणु-पुद्गल अतीत में कौन-कौन से रूप धारण कर चुका है और भविष्य मे किन-किन रूपों मे परिवर्तित होगा, इस विषय का साक्षात्कार केवल अनन्तज्ञानी जिनेश्वर ही कर सकते है, साधारण छद्मस्थ ज्ञानी नही।

महानरकावास और महाविमान

मूल—अहोलोए णं पंच अणुत्तरा महइमहालया महानिरया पण्णत्ता, तं जहा-काले, महाकाले, रोरुए, महारोरुए, अप्पइट्ठाणे।

उड्ढलोएणं, पंच अणुत्तरा महइमहालया महाविमाणा पण्णत्ता, तं जहा—विजये, वेजयंते, जयन्ते, अपराजिए, सव्वट्ठसिद्धे ॥ ६५ ॥

छाया—अधोलोके पञ्च अनुत्तरा महातिमहान्तो महानिरया· प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कालः, महाकाल·, रोरुक., महारोरुक·, अप्रतिष्ठानः।

ऊर्ध्वलोके पञ्च अनुत्तरा महातिमहान्तो विमाना. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—विजय·, वैजयन्तः, जयन्त·, अपराजित·, सर्वार्थसिद्धः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—अधोलोक में पांच अनुत्तर अर्थात् प्रधान अत्यन्त विशाल महानरक कथन किये गए है जैसे—काल, महाकाल, रोरुक, महारोरुक, अप्रतिष्ठान।

ऊर्ध्वलोक मे पाच अनुत्तर और अत्यन्त विशाल महाविमान कथन किये गए है, जैसे—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्ध।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे छद्मस्थ और केवलज्ञान-सम्पन्न जिनेश्वरदेव की ज्ञान-सीमाओ का परिचय दिया गया है। प्रस्तुत सूत्र में अनन्त ज्ञानी जिनेश्वर देव के ज्ञान की अनन्तता का परिचय देने के लिये सूत्रकार उनकी दूरदर्शिनी दृष्टि का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते है कि वे एक ही स्थान पर रहते हुए निम्नतम

प्रदेशों में अवस्थित नरकावासों को और ऊर्ध्वतम प्रदेशों में अवस्थित देव-विमानों को भी प्रत्यक्ष कर लेते हैं, अत: उन्होंने निम्नतम महानरकावसो की सख्या और ऊर्ध्वस्थित महाविमानो की संख्या का निर्देश करते हुए बतलाया है कि उनकी सख्या पाच-पाच है। नीचे लोक में सात पृथ्वियां है और उनमे सात नरक है। सातवा नरक सातवीं पृथिवी पर है और उसमे पांच नरकावास है। पूर्व दक्षिणादि चार दिशाओं मे क्रमशः काल, महाकाल, रौरव और महारौरव नरकावास है, जिनकी लम्बाई-चौड़ाई असख्यात-असंख्यात योजनो की है। उनके ठीक मध्य भाग में अप्रतिष्ठान नरकावास है।

ये नरक अपनी विशालता की दृष्टि से तो बहुत बडे हैं ही साथ ही पापी जीवों को जितनी वेदना की अनुभूति इन पांच नरकावासों में होती है, उतनी अन्य किसी नरकावास में नही, अत सूत्रकार' ने इन्हें 'अनुत्तर महातिमहान्त' कहा है। इनसे बढ कर अन्यत्र वेदना नहीं है अत: ये 'अनुत्तर है और विस्तार की अपेक्षा बहुत बडे होने से 'महातिमहान्त' है।

इसी प्रकार ऊर्ध्वलोको में पाच अनुत्तर विमान है जिनके नाम हैं विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध। पहले के चार महाविमान चार दिशाओं में है, किन्तु पाचवा महाविमान उनके मध्य मे अवस्थित है। उनमें रहनेवाले देव जितने सुखी हैं अन्य किसी देवलोक मे उतने सुखी देव नही है, अतएव उन्हे भी 'अनुत्तर' एवं महातिमहान्त' बतलाया गया है।

पुरुष-प्रकृति

मूल—पंच पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा हिरिसत्ते, हिरिमणसत्ते, चलसत्ते, थिरसत्ते, उदयणसत्ते ॥ ६६ ॥

छाया—पञ्च पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा ह्रीसत्व:, ह्रीमन सत्वः, चलसत्व, स्थिरसत्व, उदयनसत्व ।

शब्दार्थ—**पंच पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—पाच पुरुष जाति वर्णन किये गए है; **जैसे—हिरिसत्ते**—लज्जा के कारण सत्व को धारण करने वाला; **हिरिमणसत्ते**—लज्जा के कारण मात्र मन में ही सत्वधारण करने वाला; **चलसत्ते**—अस्थिर सत्ववाला; **थिरसत्ते**—स्थिर सत्ववाला; **उदयणसत्ते**—वृद्धि पाये हुए सत्व को धारण करनेवाला।

मूलार्थ—पांच प्रकार के पुरुष कथन किये गए हैं, जैसे—लज्जा के कारण संकट मे भी शक्ति एवं साहस रखनेवाला। लज्जाके कारण शरीर में तो नहीं, किन्तु मन में ही सत्व रखनेवाला, चल सत्ववाला, स्थिर सत्ववाला। वृद्धिशील सत्ववाला।

अनुत्तर नरक में और अनुत्तर-विमान में विशिष्ट शक्ति वाले पुरुष ही गमन करते है, अतः इस सूत्र में पांच प्रकार के सत्वों अर्थात् शक्तियो का वर्णन किया गया है। जो संयमी परीषहों के आने पर लज्जावश संयम मे स्थिर रहता है वह ह्रीसत्व कहलाता है, अथवा जो योद्धा रणभूमि में लज्जावश स्थिर रहता है उसे भी ह्रीसत्व ही कहते है। जिस व्यक्ति के केवल मन मे लज्जा है, परन्तु वह शरीर द्वारा उसे व्यक्त नही होने देता, वह ह्रीमनःसत्व कहलाता है। जिसका सत्व अर्थात् बल अस्थिर होता है वह प्राणी चल-सत्व कहलाता है। जिसका सत्व स्थिर होता है उसे अचल सत्व कहते है और जिसका सत्व उदीयमान है या अनन्त शक्ति-युक्त है वह उदयन सत्व माना जाता है।

स्थिर-सत्व और उदयन-सत्व ये दोनों उत्कृष्ट कहे जाते है। ह्रीसत्व और ह्रीमनःसत्व ये दोनो मध्य सत्व माने गए है, किन्तु चल सत्ववाले जीव किसी भी कार्य के करने मे सफल नही हो सकते, अतः धर्म-क्रिया के करने मे चलसत्व को छोड़कर शेष चार सत्वो की आवश्यकता रहती है और ये चारों ही न्यूनाधिक सफलता प्राप्त कर लेते है। चलसत्व धर्म-क्रियाओ में तो क्या, कही भी सफल नही हो पाता।

मत्स्योपम भिक्षु

मूल—पंच मच्छा पण्णत्ता, तं जहा— अणुसोयचारी, पडिसोयचारी, अंतचारी, मज्झचारी, सव्वचारी। एवमेव पंच भिक्खागा पण्णत्ता, तं जहा—अणुसोयचारी जाव सव्वसोयचारी।६७।

छाया—पञ्च मत्स्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अनुस्रोतचारी, प्रतिस्रोतचारी, अन्तश्चारी, मध्यचारी, सर्वचारी। एवमेव पञ्च भिक्षाका प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अनुस्रोतचारी यावत् सर्वस्रोतचारी।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच प्रकार के मत्स्य कथन किये गए है, जैसे—अनुकूल प्रवाह में चलनेवाला, प्रतिकूल प्रवाह मे चलनेवाला, प्रवाह में ऊपर की ओर चलनेवाला, प्रवाह के बीचों-बीच चलनेवाला, सर्वप्रकार से चलनेवाला। इसी तरह पाच प्रकार के भिक्षु कथन किये गए है, जैसे—निवास-स्थान से यथाक्रम आनेवाले गृहों से भिक्षा करनेवाला, निवास-स्थान से सीधा आगे जाकर फिर वापसी के क्रम से गृहों से भिक्षा करनेवाला, एक पार्श्व-भाग के गृहो से भिक्षा करनेवाला, बीच के गृहों से भिक्षा करनेवाला और समस्त पद्धतियों से भिक्षा करनेवाला।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में ह्री-सत्व आदि पांच प्रकार के सत्व-सम्पन्न व्यक्तियों का वर्णन किया गया है। सत्व-सम्पन्न व्यक्ति ही भिक्षु बन सकता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे दृष्टान्त मच्छ के माध्यम से दार्ष्टान्तिक भिक्षु की भिक्षावृत्ति की पंचविधता वर्णित की गई है। जैसे कि जो मच्छ प्रवाह के अनुकूल चलने के स्वभाववाला होता है वह अनुस्रोतचारी है, स्रोत के प्रतिकूल चलनेवाला मच्छ प्रतिस्रोतचारी कहलाता है। किनारों के आस-पास चलनेवाला मच्छ अंतश्चारी कहलाता है, जो जल के न ऊपर, न नीचे, न आस-पास, केवल जल के मध्य में चलता है, वह मध्यचारी और जो कभी प्रवाह के अनुकूल, कभी प्रवाह से प्रतिकूल, कभी तीर के आस-पास और कभी मध्य मे सभी प्रकार की गति करनेवाला होता है वह सर्वचारी कहलाता है।

मत्स्य की तरह भिक्षु भी पांच प्रकार के होते है—

१. कुछ भिक्षु जब गली कूचे में प्रवेश करते हैं तब पहले घर से लेकर भिक्षा लेते हुए मोहल्ले के दूसरे छोर तक चले जाते हैं, ऐसे भिक्षु अनुस्रोतचारी मत्स्य के समान होते है।

२. कुछ भिक्षु गली-मोहल्ले के अन्तिम छोर पर पहुंच कर वापसी में भिक्षा लेना प्रारंभ करते हैं वे भिक्षु प्रतिस्रोतचारी मत्स्य के समान होते हैं।

३. कुछ भिक्षु गली के दोनों ओर घरों से भिक्षा करनेवाले होते है वे अन्तश्चारी मत्स्य के समान होते हैं अथवा गली के दोनो छोरो में रहे घरो का ही स्पर्श करते है मध्य के नही, वे भी अन्तश्चारी माने जाते है।

४ कुछ भिक्षु गली में मध्य के घरो से ही भिक्षा ग्रहण करते है, वे मध्यचारी मत्स्य के समान भिक्षु हुआ करते है। कुछ घर अनेक मंजिलोवाले होते है, कुछ घर नीचे, कुछ मध्य में और कुछ ऊपर की मंज़िल मे हुआ करते हैं, उनमें मध्य की मंजिलो के घरो की स्पर्शना करनेवाले भिक्षु भी उक्त भेद मे समाविष्ट हो जाते हैं।

५ कुछ भिक्षु सभी प्रकार से भिक्षा ग्रहण करते हैं वे सर्वचारी मत्स्य के समान होते हैं।

भिक्षु के लिये 'वृत्ति-संक्षेप' तप भी आवश्यक माना गया है। इस वृत्ति-संक्षेप से भिक्षु प्रायः "मैं अमुक प्रकार के घरों से ही भिक्षा लूंगा", इस प्रकार का अभिग्रह धारण कर लेते है। वस्तुतः उपर्युक्त तप गृहो का आश्रय लेकर किए जानेवाले अभिग्रह विशेष का ही अपर नाम है।

पंचविध याचक

मूल—पंच वणीमगा पण्णत्ता, तं जहा—अतिहिवणीमए, किविणवणीमए, माहणवणीमए, साणवणीमए, समणवणीमए।६८।

छाया—पञ्च वनीपका प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अतिथिवनीपकः, कृपणवनीपकः, ब्राह्मणवनीपकः, श्वावनीपकः, श्रमणवनीपकः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पाच प्रकार के वनीपक अर्थात् याचक कथन किये गए है, जैसे—अतिथि वनीपक, कृपणवनीपक, ब्राह्मणवनीपक, श्वावनीपक और श्रमणवनीपक ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में भिक्षावृत्ति का आश्रय लेकर भिक्षु के पाच रूपों पर प्रकाश डाला गया है, प्रस्तुत सूत्र मे पुन. भिक्षावृत्ति के आधार पर याचकों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है । 'वणीमय' शब्द का संस्कृतरूप वनीपक है । किसी व्यक्ति के सम्मुख अपनी दुर्दशा दिखाकर गिड़-गिड़ा कर याचना करते हुए जो कुछ द्रव्य मिलता है उसे 'वनी' कहा जाता है । 'वनी' का उपभोग करनेवाला 'वनीपक' माना जाता है । अथवा दाता जिन्हे कुछ देना अपना कर्त्तव्य समझता है, अथवा श्रद्धेय व्यक्ति दाता के माने हुए जो अतिथि आदि हो अपने का उनका भक्त बताकर जो आहार मागता है, वह भिक्षु वनीपक कहलाता है ।[1]

वनीपक भी पाच प्रकार के होते है, जैसे कि :—

१. **अतिथिवनीपक**—भोजन के समय जो अचानक उपस्थित हो जाता है वह अतिथि कहलाता है। जब वह अतिथि दान की प्रशसा करके अपने भक्त को दान के लिये तैयार करता है तब वह अतिथि वनीपक है। वह दाता के सामने कहता है कि "उपकारी के लिये, परिचित जन के लिये या सेवा करनेवाले के लिये जो कुछ दिया जाता है, वह दान नही है। जो मार्ग से चलकर आया हो, खेद-खिन्न हो, उसे प्रत्युपकार की आकाक्षा से रहित होकर जो आहार आदि देता है वस्तुतः वही दान है।" इस प्रकार की प्रशसावलिया गा कर आहार आदि प्राप्त करने वाला अतिथि वनीपक कहलाता है।

२. **कृपणवनीपक**—निर्धन, दीन-दुखी को कृपण कहा जाता है। "जिसका कोई बंधु नही है, जो किसी आतंक से आतकित है, अग-उपाग से हीन है, रोग से ग्रस्त है, इस प्रकार के दीनहीन दुखी को दान देने से महाफल होता है।" इस प्रकार की वाक्यावलियो द्वारा कृपण-दान की प्रशंसा करके भोजन आदि लेनेवाला और उपभोग करनेवाला कृपणवनीपक कहलाता है।

३. **ब्राह्मणवनीपक**—जो देनेवाला ब्राह्मणों का भक्त है उसके आगे ब्राह्मणदान की प्रशसा करके भोजन आदि लेनेवाला ब्राह्मणवनीपक कहलाता है। अथवा जो ब्राह्मण के लिये दिये जानेवाले दान की प्रशसा करता हुआ भिक्षा के लिये परिभ्रमण करता है वह भी ब्राह्मण वनीपक है। ऐसे लोग प्राय: यह कहा करते है कि 'ब्राह्मण लोक मे अनुग्रह करनेवाले भूदेव है, वे अपने यजमानो की रक्षा करते

१. "परेषामात्मदु.स्थत्वदर्शनेनानुकूलभाषणतो यल्लभ्यते द्रव्य सा वनी प्रतीता, तां पिबति— आस्वादयति, पातीति वेति वनीपः, स एष वनीपको याचकः ।" —इतिवृत्तिकार।

है, पट्-कर्म-परायण ब्राह्मण को दान देने से गृहस्थ महाफल प्राप्त करता है। ऐसी प्रशंसा करके भोजन करनेवाले सब ब्राह्मणवनीपक माने जाते है।

४. श्वावनीपक—श्वा कुत्ते को कहा जाता है, उपलक्षण से कौआ आदि भी श्वापद से ग्राह्य माने जाते है। भोजन के समय उपस्थित होनेवाले कुत्ते आदि भी दरवेश समझे जाते हैं अथवा कुत्ते कौए आदि को आहार आदि देने में पुण्य समझने वाले दाता के आगे उसके फल की प्रशंसा करके आहार आदि लेनेवाला या भोगनेवाला मानव भी श्वावनीपक कहलाता है।

५. श्रमणवनीपक—श्रमण शब्द पाच अर्थों मे व्यवहृत होता है, जैसे कि शाक्य, तापस, गैरिक, आजीवक तथा निर्ग्रन्थ। इनमे निर्ग्रन्थ वनीपक मे गर्भित नही होता है। शेष सभी वनीपक है। जो साधुवृत्ति से रहित होकर केवल भेष के द्वारा जीवन-निर्वाह करनेवाले है, वे भी इसी कोटि मे आ जाते है। जो दाता श्रमणो का भक्त एव उपासक है उसके आगे जो श्रमण दान की प्रशंसा करते हुए कहता है कि "जो प्राणी विषयलोलुपी है, उन्हे दिया हुआ दान भी जब नष्ट नही होता तो श्रमणो को दिया हुआ दान कैसे नष्ट हो सकता है ?" इस प्रकार दान की प्रशसा करके आहार आदि प्राप्त करनेवाला श्रमणवनीपक कहलाता है।

अभिप्राय यह है कि साधुवृत्ति का सम्यक् रूप से पालन करने वाला साधक वनीपक नही कहा जा सकता। प्रशसावृत्ति से एवं साधुवेश के आधार पर प्राप्त होनेवाले आहार-पानी से जीवन-निर्वाह करनेवाला ही श्रमण-वनीपक कहलाता है।

अचेलक की प्रशस्तता

मूल—**पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवइ, तं जहा—अप्पा-पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिए, तवे अणुन्नाए, विउले इंदियनिग्गहे।६९।**

छाया—**पञ्चभि स्थानैरचेलकः प्रशस्तो भवति, तद्यथा—अल्पाप्रतिलेखा, लाघविकं प्रशस्तं, रूप वैश्वसिकं, तपोऽनुज्ञातं, विपुलइन्द्रियनिग्रहः।**

शब्दार्थ—**पचहिं ठाणेहिं**—पाच कारणो से, **अचेलए**—अचेलक; **पसत्थे भवइ**—प्रशंसनीय होता है; **तं जहा**—जैसे कि, **अप्पा पडिलेहा**—उसकी प्रतिलेखना अल्प है; **लाघविए पसत्थे**—लघुता प्रशस्त है; **रूवे वेसासिए**—रूप विश्वसनीय है; **तवे अणुन्नाए**—तप जिनाज्ञा-स्वीकृत है, **विउले इंदियनिग्गहे**—इन्द्रिय-निग्रह महान् है।

मूलार्थ—पांच कारणों से अचेलक मुनि प्रशंसनीय होता है, जैसे—उसकी प्रतिलेखना अल्प होती है, लघुता प्रशस्त होती है, रूप—वेषभूषा विश्वसनीय होता है, जिनाज्ञा-सम्मत तप होता है और इन्द्रियों का निग्रह भी महान्-उत्कृष्ट होता है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में वनीपक का वर्णन किया गया है, वनीपक उसी भिक्षु के लिये प्रयुक्त होता है जो द्रव्यापेक्षा से भिक्षु बना हुआ है, इसलिये द्रव्यभिक्षु का वर्णन करने के अनन्तर अब शास्त्रकार भाव-भिक्षु का वर्णन करते है। भिक्षु अचेलक होता है। अचेलक शब्द मे नञ् समास स्वल्प एव कुत्सित अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। जो मुनि स्वल्प वस्त्र रखता है और अल्पमूल्य वाले जीर्ण एव विभूषा-रहित वस्त्रो को धारण करता है उसे अचेलक कहा जाता है। जिनकल्पी मुनि रजोहरण और मुखवस्त्रिका-मुखपत्ती इन दो उपकरणो को छोड़कर शेष वस्त्रों का त्याग करते है। कहा भी है "रजोहरणमुखवस्त्रिका-रूपद्विविधोपकरणधारकः।"

नञ् समास देशनिषेधक और सर्व-निषेधक इस तरह दो प्रकार का होता है। स्थविर कल्पी-साधु परिमाण और मूल्य मे स्वल्प वस्त्रो का उपयोग करता है वह भी अचेलक है और जो जिनकल्पी होता है, वह मुखपत्ती और रजोहरण के अतिरिक्त अन्य कोई वस्त्र ग्रहण नही करता वह भी अचेलक कहलाता है। अचेलक साधु कोई भी है उसकी पाच बातें प्रशसनीय कही गई हैं।

१. अल्पप्रतिलेखना—प्रतिलेखना करने योग्य उपधि अर्थात् वस्त्र, रजोहरण आदि जिसके अत्यल्प होते हैं, उनके प्रतिलेखन करने मे अधिक कालक्षेप नही होता, उनका समय अधिकतर स्वाध्याय-ध्यान आदि करने मे ही व्यतीत होता है।

२. लाघविक प्रशस्त—अचेलक मुनि द्रव्य और भाव-उपधि से हल्का होता है। जो बाहर के उपकरणों से हल्का होता है वह कर्मों से भी हल्का होता जाता है। भीतर और बाहर दोनो से हल्का रहना रूप कार्य भी प्रशसनीय है।

३. रूपवैश्वसिक—निर्लोभता की सूचक होने से अचेलकता प्राणी मात्र के लिये विश्वास-जनक है। उसका साधु वेष ही सिद्ध करना है कि यह साधु सतोषी एव निस्पृह है, अत. साधु का रूप वैश्वसिक होने पर ही साधुता प्रशसनीय होती है।

४. तप-अनुज्ञात—अत्यल्प उपकरण रखने से या बिल्कुल न रखने से मनोवृत्तिया तपस्या में विशेष लीन होती हैं, तभी वह तप तीर्थङ्कर आदि के द्वारा अनुमोदित हो सकता है। उपकरण कम रखना द्रव्य ऊनोदरी तप है और उसका सर्वथा त्याग करना व्युत्सर्गतप है। साधु का धन ही तप है अतः यह तप भी प्रशंसनीय है।

५. विपुलइन्द्रियनिग्रह—वस्त्र न रखने से या कम रखने से इन्द्रियो का निग्रह विपुल-मात्रा मे होता है, क्योंकि शीत, वात, आतप, दंश, मशक आदि परीषह सहन करने से इन्द्रियो का निग्रह स्वतः हो जाता है।

सूत्रकार ने पाच पदों के साथ पांच विशेषण दिये है, जैसे कि प्रतिलेखन के साथ अल्प, लाघव के साथ प्रशस्त, रूप वेष के साथ वैश्वसिक, तप के साथ अनुज्ञात और इन्द्रिय-निग्रह के साथ विपुल। ये पाच विशेषण साधु की कर्त्तव्यनिष्ठा एव त्याग की अनिवार्यता व्यंजित कर रहे है। अल्प

संग्रह होने पर ही अल्प प्रतिलेखना होती है, अतः अल्प प्रतिलेखना के लिये अल्प संग्रह अनिवार्य है। शास्त्रकार ने लाघव विशेषण से उसकी नम्रता एवं निरहंकारिता आदि को प्रशस्त बता कर साधु-जीवन मे इन गुणो की अपेक्षा की है। उसकी वेशभूषा द्वारा उसके चारित्रिक गुणों की प्रशस्तता का भी संकेत किया हे। साधु-जीवन मे तप का भी महत्त्व है, परन्तु वह तप शास्त्रानुमोदित हो तभी प्रशस्त माना जा सकता है, अन्यथा नही। उसका इन्द्रियनिग्रहरूप अनुष्ठान अधिकाधिक होना चाहिये तभी वह प्रशसनीय हो सकता है, अतः साधु को अपने इन प्रशसनोय गुणो की रक्षा सदैव करनी चाहिये।

पंचविध उत्कल

मूल—पंच उक्कला पण्णत्ता, तं जहा—दंडुक्कले, रज्जुक्कले, तेणुक्कले, देसुक्कले, सव्वुक्कले ।७०।

छाया—पञ्चोत्कलाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—दण्डोत्कलः, राज्योत्कलः, स्तेनोत्कलः, देशोत्कलः, सर्वोत्कलः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच उत्कल अथवा उत्कट कथन किये गए है, जैसे—दण्ड से उत्कट अर्थात् महान अथवा दण्ड से वृद्धि पानेवाला, राज्य से उत्कट अथवा राज्य से वृद्धि पानेवाला, देश से उत्कट अथवा देश से वृद्धि पानेवाला, चोरो से उत्कट अथवा चोरो से वृद्धि पानेवाला, उपर्युक्त सभी से उत्कट अथवा सब से वृद्धि पानेवाला।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में पांच प्रशंसनीय कार्य बतलाए गए हैं जिनमे अन्तिम प्रशंसनीय कार्य है इन्द्रिय-निग्रह। इन्द्रिय-निग्रह करनेवाला उत्कट अर्थात् महान् बन जाता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में पचविध उत्कटों का वर्णन किया गया है।

सूत्रकार ने उक्कल शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द के दो संस्कृत रूप बनते है—उत्कट और उत्कल। उत्कट शब्द का अर्थ है कठिनतम व्यवहार और उत्कल शब्द का अर्थ है महान्। सूत्रकार को 'उक्कल' शब्द के दोनो रूप एव दोनो अर्थ अभीष्ट हैं, अतः दोनो अर्थों को लक्ष्य मे रखकर 'उक्कल' के 'दंडुक्कले' आदि पांच रूप प्रस्तुत किए गए है, जैसे कि—

१. दंडुक्कल—'दण्ड' शब्द का अर्थ है आज्ञा। गुरुजनों की कठोर से कठोर आज्ञा का पालन करनेवाला साधक 'दण्डोत्कट' कहलाता है। दण्ड शब्द का अर्थ अनुशासनात्मक कार्यवाही भी हो सकता है, इस अर्थ को लक्ष्य में रखकर उस साधक को 'दण्डोत्कट' कहा जाएगा जो गुरुजनों द्वारा किसी भी प्रकार का प्रायश्चित्त आदि देने पर उसे सहर्ष स्वीकार करता है, विहित दण्ड का सविधि पालन करता है और इस प्रकार कठोर साधना करता हुआ महान् बनने का प्रयास करता है।

आत्म-प्रेरणा से महत्ता के मार्ग पर न बढ़कर जो गुरुजनो के कठोर अनुशासन के कारण महान् बनने का प्रयास करता है उसे भी 'दण्डोत्कट' ही कहा जाएगा।

व्यावहारिक पक्ष में कठोर अनुशासन में रह कर कार्य करनेवाले सैनिकों, आरक्षकों (पुलिस के व्यक्तियों) आदि को भी दण्डोत्कट कहा जाता है।

२. रज्जुक्कल—जो व्यक्ति राजकीय प्रभुता के बल पर कठिन कार्य करता है, अथवा राज्य सम्मान एवं राजकीय प्रतिष्ठा के कारण समाज मे जो महान् माना जाता है उसे 'राज्योत्कल' कहा जाता है।

३. तेणुक्कल—जो व्यक्ति चोरो एवं डाकुओं के साथ के कारण कठिन से कठिन कार्य करता है, महान् साहसिक कार्यों के लिये उद्यत रहता है अथवा जो व्यक्ति चोरो डाकुओ का सरदार है और उसीमे अपनी महत्ता समझता है ऐसा व्यक्ति "स्तेनोत्कल" कहलाता है।

४ देसुक्कल—जो व्यक्ति किसी देश विशेष के या स्थान-विशेष के प्रभाव से कठिन श्रम करने वाला है जैसे कि पजाब के लोग विशेष परिश्रमशील माने जाते है, राजस्थान के ठाकुरो की युद्ध-वीरता सर्वमान्य है, ऐसे ही लोग देशोत्कल कहलाते है। स्थान-विशेष के प्रभाव से ही महत्ता प्राप्त करनेवाले भी देशोत्कल कहलाते हैं, क्योंकि "स्थानं प्रधानं न बलप्रधान" स्थान ही प्रधान होता है बल नही, की उक्ति प्रसिद्ध है।

५. सव्वुक्कल—जो व्यक्ति सभी प्रकार से श्रमशील है एवं सभी रूपो से महान् है उसे 'सर्वोत्कल' कहा जाता है।

इस सूत्र द्वारा सूत्रकार देश-काल एवं संगति आदि के प्रभाव को स्पष्ट करना चाहते है, अत साधना-पथ पर चलनेवाले व्यक्ति को इन समस्त दृष्टिकोणो पर विचार करके ही आगे बढने का प्रयास करना चाहिए।



पांच समितियां

मूल—पंच समिईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—ईरियासमिई, भासा-समिई, जाव पारिठावणियासमिई।७१।

छाया—पञ्च समितयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ईर्यासमितिः, भाषासमितिः यावत् पारिष्ठापनिका समितिः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच समितियां कथन की गई है, जैसे—ईर्या-समिति, भाषा-समिति, यावत् परिष्ठापनिका समिति ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में उत्कल अर्थात् महान का वर्णन किया गया है, महान् बनने के लिये समितियो का पालन आवश्यक होता है, अतः इस सूत्र में पांच समितियो का वर्णन किया गया है। समिति शब्द दो पदों से बना हुआ है जैसे कि सम्+इति जिसका अर्थ है सम्यक् प्रकार से एकाग्रता के साथ प्रवृत्ति करना अथवा एकाग्रता के साथ प्रशस्त परिणामो से की जानेवाली शास्त्रोक्त प्रवृत्ति ही समिति है[1], अर्थात् वह जोवन-विधि ही समिति है जो मनुष्य के लिये पुण्य-पथ को प्रशस्त करती है। यह पांच प्रकार की होती है प्रत्येक समिति का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. **ईर्यासमिति**—यतनापूर्वक अर्थात् पद-पद पर सावधान होकर गमन करना, चार हाथ आगे की भूमि को देखते हुए चलना, जब तक चलना क्रिया हो रही है तब तक इन्द्रियो को विषयो की ओर न लगाना और पांच प्रकार का स्वाध्याय न करते हुए प्राणियो की तथा अपनी रक्षा करते हुए गमन मे प्रवृत्ति करना, दिन में देख कर और रात को प्रतिलेखना करते हुए चलना—इस प्रकार की विशुद्ध गमन-क्रिया को ईर्या-समिति कहा जाता है। ईर्या-समिति से अहिंसा-व्रत की रक्षा एव इन्द्रिय-निग्रह दोनो साधनाएं सम्पन्न होती है।

२. **भाषा-समिति**—सत्य और व्यवहारानुकूल भाषा बोलना, हितकारी एव थोडे शब्दो मे असदिग्ध, प्रिय, मधुर भाषा बोलना ही भाषा समिति है। इस समिति का पालन तभी हो सकता है जबकि चारो कषायो को वश मे कर लिया जाए। सोच-विचार कर बोलना, विकथाओ मे मन न लगाना, किसी का उपहास करनेवाले वचन न कहना और इस प्रकार के वचनो का प्रयोग न करना जिससे दूसरे के हृदय मे भय एव त्रास जागृत हो, इस प्रकार का वाणी-निग्रह ही भाषा-समिति है। यह समिति दूसरे महाव्रत की रक्षा करती है।

३. **एषणा-समिति**—बयालीस दोषो को टाल कर आहार पानी एवं वस्त्र-पात्र आदि ग्रहण करना एषणा-समिति कहलाती है। कुछ ऐसी वस्तुए होती है जिनका प्रयोग करने के बाद उन्हे उनके गृहस्थ स्वामी को लौटा दिया जाता है, ऐसी वस्तुओ को "औधिकउपधि" कहा जाता है, जैसेकि वस्त्र पात्र आदि। जिन वस्तुओ को काम मे लाने के बाद दाता को वापिस कर दिया जाय उन्हे "औपग्रहिक उपधि" कहा जाता है, जैसेकि मकान पट्टा चौकी आदि। भोजन पानी आदि औधिक और मकान पट्टा आदि औपग्रहिक उपधियों को ग्रहण करते समय साधु जीवन की मर्यादाओ का पालन करना जिससे कि अपरिग्रह महाव्रत की पूर्ण रक्षा हो सके, एषणा-समिति का प्रधानतम रूप है।

---

१. सम्-एकीभावेन इतिः प्रवृत्ति. समिति' शोभनैकाग्रपरिणामस्य चेष्टेत्यर्थः। —इतिवृत्तिकार.

४. आदान-भण्ड-मत्तनिक्षेपणा-समिति—वस्त्र या पात्र कोई भी वस्तु हो उसे यत्न-पूर्वक मर्यादा का पालन करते हुए ग्रहण करना, उठाना, रखना यह चौथी समिति है। आसन, फूस, चौंकी, पट्टा, पात्र, दड, पुस्तक इत्यादि पदार्थों को यतना से लेना, उपयोगपूर्वक पडिलेहना-प्रमार्जना करके भूमि पर रखना इत्यादि सर्व क्रियाएं उक्त समिति के ही अन्तर्गत मानी जाती है।

५. परिष्ठापना-समिति—किसी एकान्त स्थान में जहां पर जनता का आवागमन न होता हो, किसी की दृष्टि भी न पडती हो वहां पर निर्दोष भूमि देखकर अहिंसा महाव्रत का ध्यान रखते हुए मल-मूत्र, केश, नाखून आदि शरीर मल का 'वोसिरामि' कहकर यतना-पूर्वक त्याग करना ही परिष्ठापना-समिति कहलाती है।

ये पांच समितिया आत्मविकास एवं संयम की विशुद्धि के लिये अत्यन्त आवश्यक होने से पालनीय है। इनके द्वारा सभी महाव्रत सुरक्षित रहते है और आत्मशुद्धि भी शीघ्र हो जाती है।

ससार-समापन्नक जीव

मूल—पंचविहा संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—एगिंदिया, जाव पंचिंदिया।

एगिंदिया पंचगइया पंचागइया पण्णत्ता, तं जहा—एगिंदिए एगिंदिएसु उववज्जमाणे एगिंदिएहिंतो जाव पंचिंदिएहिंतो वा उववज्जेज्जा, से चेव णं से एगिंदिए एगिंदियत्तं विप्पजहमाणे एगिंदित्ताए वा जाव पंचिंदित्ताए वा गच्छेज्जा।

बेंदिया पचगइया पंचागइया एवं चेव।

एवं जाव पंचिंदिया पंचगइया पंचागइया पण्णत्ता, तं जहा—पंचिंदिया जाव गच्छेज्जा।

पंचविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—कोहकसाई जाव लोभकसाई, अकसाई।

अहवा पंचविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—णेरइया जाव देवा, सिद्धा।७२।

छाया—पञ्चविधाः संसारसमापन्नकाः जीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकेन्द्रिया यावत् पञ्चेन्द्रियाः। एकेन्द्रियाः पञ्चगतिकाः पञ्चागतिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकेन्द्रिय एकेन्द्रियेषूपपद्यमान एकेन्द्रियेभ्यो यावत् पञ्चेन्द्रियेभ्यो वा उपपद्येत, सः चैव स एकेन्द्रिय एकेन्द्रियत्वं

विप्रजहत् एकेन्द्रियतायां वा यावत् पञ्चेन्द्रियतायां गच्छेत् ।

द्वीन्द्रियाः पञ्चगतिकाः पञ्चागतिका एवञ्चैव ।

एवं यावत् पञ्चेन्द्रियाः पञ्चगतिकाः पञ्चागतिका. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पञ्चेन्द्रिया यावत् गच्छेयुः ।

पञ्चविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्रोधकषायी यावत् लोभकषायी, अकषायी ।
अथवा पञ्चविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैरयिका यावत् देवा , सिद्धाः ।

शब्दार्थ—**पंचविहा संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा**—पाच प्रकार के ससारी जीव कथन किये गए हैं, जैसे; **एगिंदिया जाव पंचिंदिया**—एकेन्द्रिय यावत् पञ्चेन्द्रिय। **एगिन्दिया**—एकेन्द्रिय; **पंचगइया**—पांच गतिवाले तथा, **पंचागइया**—पाच आगति वाले; **पण्णत्ता, तं जहा**—कथन किये गए हैं जेसे, **एगिंदिए**—एकेन्द्रिय; **एगिंदिएसु**—एकेन्द्रियो में; **उववज्जमाणे**—उत्पन्न होत हुआ, **एगिंदिएहिंतो वा जाव**—एकेन्द्रियो से यावत्, **पंचिंदिएहिंतो वा उववज्जेज्जा**—पञ्चेन्द्रियो तक उत्पन्न होता है; **सो चेव णं से**—और वह, **एगिंदिए**—एकेन्द्रिय, **एगिंदियत्तं**—एकेन्द्रियत्व को; **विप्पजहमाणे**—छोड़ता हुआ; **एगिंदियत्ताए वा जाव**—एकेन्द्रियरूप में यावत्; **पंचिंदियत्ताए**—पञ्चेन्द्रियरूप में; **गच्छेज्जा**—जाता है।
बेंदिया—द्वीन्द्रिय आदि भी, **पंचगइया**—पांच गति और; **पंचागइया**—पांच आगति वाले; **एवं चेव**—इसी प्रकार कहे गए है।

एवं जाव—इसी प्रकार यावत्; **पंचिंदिया पंचगइया**—पञ्चेन्द्रिय जीव पाच गति और, **पंचागइया पण्णत्ता, तं जहा**—पांच आगति वाले कथन किये हैं, जैसे, **पंचिंदिया जाव गच्छेज्जा**—पञ्चेन्द्रिय यावत् जाता है।

पंचविहा सव्वजीवा—पाच प्रकार के सभी जीव, **पण्णत्ता, तं जहा**—कथन किये गए हैं, जैसे, **कोहकसाई जाव लोभकसाई**—क्रोध-कषायी से लेकर लोभ-कषायी तक और; **अकसाई**—अकषायी।

अहवा—अथवा; **पंचविहा**—पांच प्रकार के, **सव्वजीवा पण्णत्ता, त जहा**—सर्व-जीव कथन किये गए है, जैसे; **नेरइया**—नारक; **जाव**—यावत्; **देवा**—देव और; **सिद्धा**—सिद्ध।

मूलार्थ—पांच प्रकार के संसारी जीव कथन किये गए है, जैसे—एकेन्द्रिय यावत् पञ्चेन्द्रिय।

एकेन्द्रिय जीव पांच गतिवाले एवं पांच आगतिवाले कथन किये गए है. जैसे—एकेन्द्रिय जीव एकेन्द्रिय जाति मे भी उत्पन्न होता है और वह

एकेन्द्रिय जीव द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रियों तक सभी जातियो में आ कर उत्पन्न होते है, अर्थात् एकेन्द्रिय जीव जब एकेन्द्रियत्व को छोडता है तो वह अगले जन्म में एकेन्द्रियरूप से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी जातियों में जाकर उत्पन्न हो सकता है।

द्वीन्द्रिय जीव भी पांच गतिवाले एवं पांच आगतिवाले होते है, शेष वर्णन पूर्व की भांति जान लेना चाहिए। पञ्चेन्द्रिय जीव भी पांच गतिवाले एवं पांच आगतिवाले वर्णन किये गए है, जैसे—पञ्चेन्द्रिय जीव एकेन्द्रियों से लेकर पञ्चेन्द्रिय जाति मे भी आकर उत्पन्न होते है।

पांच प्रकार के सर्व जीव कथन किये गए है, जैसे—क्रोध-कषायवाले से लेकर लोभ-कषायवाले तक, तथा सर्वथा कषायों से रहित जीव। अथवा पांच प्रकार के सर्वजीव कथन किये गए है, जैसे—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और सिद्ध।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में पाच समितियो का वर्णन किया गया है, पांच समितियों के द्वारा संयम को परिशुद्ध बनाते हुए निर्ग्रन्थ मुनिराज जिन जीवो की रक्षा करते है अब सूत्रकार उन जीवो की गति अर्थात् मर कर अन्य जातियो मे उत्पन्न होना और आगति अर्थात् अन्य जातियो से लौटकर पुनः उसी पूर्व जाति मे आना इस प्राकृतिक व्यवस्था का वर्णन करते है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार गतियों मे आवागमन करना ही संसार है, इस संसार में रहनेवाले जीव पाच जातियो में विभक्त हैं। पांच स्थावरो मे सभी जीव एकेन्द्रिय जाति वाले होते है, इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय, जाति वाले जीव भी स्वजाति और परजाति में आवागमन करते रहते हैं।

सूत्र के द्वितीय अश में बतलाया गया है कि एकेन्द्रिय रूप मे उत्पन्न होनेवाले जीव पूर्व भव मे एकेन्द्रिय भी हो सकते है और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि भी, क्योकि कर्म के अनुरूप ही जीव एकेन्द्रिय आदि जातियो मे जन्म लेते है। उनकी गति भी पाचो जातियो मे होती है और आगति भी पांच जातियों में से होती है अर्थात् एकेन्द्रिय जाति से निकलकर जीव एकेन्द्रिय जाति मे भी चला जाता है और पचेन्द्रिय तक अन्य जातियो मे भी। किसी भी जाति मे रहे हुए जीव मरकर पाचो जातियो मे जन्म ले सकते है। एकेन्द्रिय जाति को छोड़कर जीव सीधा पचेन्द्रिय जाति में भी जन्म ले सकता है।

ससारी और मुक्त सभी जीव पाच प्रकार के होते हैं कोई, क्रोधी, कोई मानी, कोई मायावी, कोई लोभी और कोई अकषायी होता है। कोई नारकी, कोई तिर्यंच, कोई मनुष्य, कोई देव और कोई सिद्ध होते है। सिद्धत्व जीवन का चरम शिखर है, वहां पहुंच कर गति और आगति का अन्त हो जाता है, सारे चक्र समाप्त हो जाते हैं, जो प्राप्तव्य है, वह प्राप्त हो जाता है, न कुछ पाना शेष रह जाता है

और न कुछ छोडना शेष रह जाता है। गति और आगति का आकर्षण-निकर्षण तो नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव-गति तक ही विद्यमान रहता है।[1]

सूत्र के चतुर्थ अंश में क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार कषायो से घिरे जीवों का उल्लेख किया गया है, इन चारों से मुक्त होते ही जीव अकषायी वन जाता है, यह अकषायित्व ही सिद्धत्व की ओर गमन का पहला पड़ाव है। यही से सिद्धत्व की ओर यात्रा आरम्भ होती है।

सूत्रकार वतलाना चाहते हैं कि "पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम्" की उक्ति के अनुसार कषाय-प्रेरित जीव वृक्षादि एकेन्द्रिय जाति से लेकर पशु आदि पचेन्द्रिय जाति तक आता-जाता रहता है और कर्म-फल भोगता रहता है। अशुभ कर्मों के उदय से वह नरक में जाता है, कभी तिर्यंच में और कभी मनुष्य वनता है और कभी-कभी पुण्य-प्रेरणा से देवलोकों के सुख भी भोगता है, परन्तु उसका आवागमन रूप कष्ट निवृत्त नही होता है। इस कष्ट से निवृत्ति पाने के लिये अकषायित्व की साधना करना अनिवार्य है तभी सिद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है।

द्विदल धान्यों की बीजत्व स्थिति

मूल—अह भंते ! कल-मसूर-तिल-मुग्ग-मास-णिप्फाव-कुलत्थ-आलिसंदग-संतीण-पलिमंथगाणं एतेसि णं धन्नाणं कुट्ठाउत्ताणं जहा सालीणं जाव केवइयं कालं जोणी संचिट्ठइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पंच संवच्छराइं, तेणं परं जोणी पमिलायइ जाव तेणं परं जोणी-वोच्छेए पण्णत्ते ।७३।

छाया—अथ भदन्त ! कल-मसूर-तिल-मुद्ग-माष-निष्पाव-कुलत्थ-आलिसंदक-सतीण-पलिमन्थकानामेतेषां धान्यानां कोष्ठायुक्तानां यथा शालीनां यावत् कियत्कालं योनि. सन्तिष्ठते ? गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षेण पञ्च संवत्सराणि, ततः परं योनिः प्रम्लायति, ततः परं योनिव्यवच्छेदः प्रज्ञप्त.।

शब्दार्थ—अह भंते—भगवन् ! कल-मसूर-तिल-मुग्ग-णिप्फाव-कुलत्थ-आलिसंदग-सतीण-पालिमंथगाणं—मटर या गोल चना, मसूर, तिल, मूग, माष, निष्पाव, कुलत्थ, आलिसंदक सतीण, पलिमंथक; एतेसि—इन, धन्नाणां—धान्यो की; कुट्ठाउत्ताणं—कोष्ठागार में रखे हुओ की, जहा सालीणं—जैसे शाली का प्रश्न है,जाव—यावत्; जोणी—योनि; केवइयं कालं—कितने काल; सचिट्ठइ—रहती है ?

गोयमा—गौतम; जहण्णेणं—जघन्य, अंतोमुहुत्तं—अन्तर्मूहूर्त; उक्कोसेणं—उत्कृष्ट,

---

१. विशेष वर्णन के लिये देखिए "जीवाभिगम" नामक शास्त्र।

पंच संवच्छराइं—पांच संवत्सर; तेण परं—इसके बाद; जोणी—ऊगने की शक्ति; पमिलायइ—म्लान हो जाती है; जाव तेण परं यावत् इसके बाद; जोणी वोच्छेदे पण्णत्ते—योनि का विच्छेद कथन किया गया है।

मूलार्थ—भगवन् ! कल, मसूर, तिल, मूग, उडद, निष्पाव, कुलथी, आलिसंदक, सतीण, पलिमन्थक–उक्त धान्य यदि सुरक्षित रूप से कोष्ठागार में रखे गए हों तो उनकी शालि वर्णन के समान योनि अर्थात् प्रजनन-शक्ति, कितने काल तक रहती है ?

गौतम ! कम से कम अन्तर्मुहूर्त तक एवं अधिक से अधिक पांच वर्ष तक उन मे अंकुरण की शक्ति रहती है। इसके बाद योनि म्लान हो जाती है यावत् प्रजननशक्ति का व्यवच्छेद अर्थात् नाश हो जाता है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में स्वजाति एवं परजाति मे गति-आगति करनेवाले जीवो का वर्णन किया गया है। उन में सर्व प्रथम हैं एकेन्द्रिय जीव। एकेन्द्रिय वनस्पति जीवों की उत्पत्ति बीजो से होती है, अतः यहां सूत्रकार कुछ द्विदल धान्य विशेषों के बीजों की प्रजनन-शक्ति के काल का वर्णन करते हैं—जिन वनस्पति बीजो को अच्छी तरह सुरक्षित रखने पर भी उनमे अधिक से अधिक पाच वर्ष तक उगने की शक्ति रहती है यहां उन्ही धान्यो का नामोल्लेख किया गया है। गौतम स्वामी ने भगवान से पूछा है—भगवन ! कल अर्थात् कावली चणा, मसूर, तिल, मूंग, उड़द, कुलथी पहाड़ी अनाज, वल्ला, आलिसदग तुवरी, काला चणा आदि इन धान्यों को कोठे मे सब तरह से सुरक्षित रखने पर भी उनकी प्रजनन-शक्ति कब तक बनी रहती है ? तीसरे स्थान में भी शाली व्रीही आदि धन्यो के विषय मे इसी प्रकार का प्रश्न किया गया था। इस पंचम स्थान में उन द्विदल धान्यो के विषय मे प्रश्न किया गया है। जिन धान्यो में अकुरित होने की शक्ति कम से कम अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पाच वर्ष पर्यन्त रह सकती है। उसके बाद वह शक्ति समाप्त हो जाती है, बीजत्व का व्यवच्छेद हो जाता है- अर्थात् बीज निकम्मा हो जाता है।

यद्यपि आगम शास्त्र अध्यात्म-प्रधान है और उनका विषय भी आत्म-अधिष्ठित है, अतः कल आदि धान्यों के सम्बन्ध मे किए गए प्रश्न प्रकरण-बाह्य से प्रतीत होते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि ये प्रश्न भी अध्यात्म विषयक ही है, क्योकि जैन-दर्शन वनस्पति काय में भी आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते है, वनस्पति काय का जन्म भी कर्म-फल की ही तो देन है ? अतः वनस्पतियो के बीजो में समाविष्ट आत्मतत्त्व की जानकारी ही प्रस्तुत प्रश्न का विषय है। इसलिये इस प्रकरण को भी अध्यात्मज्ञान की सीमा से बाहर नही माना जा सकता।

फिर प्रभु महावीर सर्वज्ञ-सर्वद्रष्टा है, उनके ज्ञान नेत्रो से कुछ भी अदृश्य न था, अतः धान्य-विशेषों की प्रजनन-शक्ति अर्थात् अंकुरित होने के काल के सम्बन्ध में उनका उत्तर दे देना उनकी सर्वज्ञता का ही एक अंग है।

वस्तुतः मिट्टी के ढेले से लेकर सूर्य तक इस ससार में जो कुछ भी है उस सब के विश्लेषण का लक्ष्य आत्मतत्त्व का परिज्ञान ही है। आत्मतत्त्व को जानने के अनन्तर सब कुछ ज्ञेय हो जाता है, कुछ भी अज्ञेय नही रह जाता। अत एव कहा गया है—'ज्ञस्यावरणविच्छेदे, ज्ञेयं किमवशिष्यते"? आत्मा के आवरण कट जाने पर कुछ भी ज्ञेय शेष नही रह जाता। मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है—"*आत्मनि विज्ञाते, सर्वमिदं विज्ञातं भवति*"—आत्मा को जान लेने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है। इस सत्य का प्रत्यक्ष निदर्शन प्रस्तुत सूत्र है। आत्मविज्ञान के प्रत्यक्ष द्रष्टा भगवान महावीर ने अंकुरण-शक्ति के काल तक को स्पष्ट कर दिया है।

पंचविध संवत्सर

मूल—**पंच संवच्छरा पण्णत्ता, तं जहा—णक्खत्तसंवच्छरे, जुगसंवच्छरे, पमाण-संवच्छरे, लक्खणसंवच्छरे, सणिचरसंवच्छरे।**

जुगसंवच्छरे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—चंदे, चंदे, अभिवड्ढिए, चंदे, अभि-वड्ढिए चेव।

पमाणसवच्छरे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—नक्खत्ते, चंदे, उऊ, आदिच्चे, अभिवड्ढिए।

लक्खणसवच्छरे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—

समगं नक्खत्ता जोगं जोयंति, समग उऊ परिणमंति।
णच्चुण्हं णाइसीओ, बहूदओ होइ नक्खत्ते ॥१॥
विसमं पवालिणो परिणमंति, अणुदूसु देंति पुप्फफलं।
वासं ण सम्मं वासइ, तमाहु संवच्छरं कम्मं ॥२॥
ससि सगलपुण्णमासी, जोएई विसमचारिणक्खत्ते।
कडुओ बहूदओ (या), तमाहु संवच्छरं चंदं ॥३॥
पुढविदगाणं तु रसं, पुप्फफलाणं तु देइ आदिच्चो।
अप्पेणवि वासेण, सम्मं निप्फज्जए सस्सं ॥४॥
आदिच्चतेयतविया, खणलवदिवसा उऊ परिणमंति।
पूरिंति रेणुथलयाइं, तमाहु, अभिवड्ढियं जाण ॥५॥७४॥

छाया—पञ्च संवत्सराः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नक्षत्रसंवत्सरः, युगसंवत्सरः, प्रमाणसंवत्सरः, लक्षणसंवत्सरः, शनैश्चरसंवत्सरः ।

युगसंवत्सर. पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—चन्द्रः, चन्द्रः, अभिवर्द्धितः, चन्द्रः, अभिवर्द्धितश्चैव ।

प्रमाणसंवत्सरः पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—नक्षत्रं, चन्द्रः, ऋतुः, आदित्यः, अभिवर्द्धित. ।

लक्षणसंवत्सरः पञ्चविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—

समकं नक्षत्राणि योगं योजयन्ति, समकमृतवः परिणमन्ति ।
नात्युष्णो नातिशीतः, बहूदको भवति नक्षत्रः ॥१॥
विषमं प्रवालिनः परिणमन्त्यनृतुषु ददाति पुष्पफलम् ।
वर्षं न सम्यग् वर्षति, तमाहुः संवत्सरं कर्म ॥२॥
शशी सकलपौर्णमासीं, योजयति विषमचारि नक्षत्रः ।
कटुको बहूदकश्च, तमाहु संवत्सरं चन्द्रम् ॥३॥
पृथिव्युदकयोस्तु रसं, पुष्पफलानां तु ददात्यादित्यः ।
अल्पेनापिवर्षेण, सम्यक् निष्पद्यते शस्यम् ॥४॥
आदित्यतेजस्तप्ताः, क्षणलवदिवसाः ऋतुः परिणमन्ति ।
पूरयति रेणुभिः स्थलानि, तमाहुरभिवर्द्धितं जानीहि ॥५॥

शब्दार्थ—**पंच संवच्छरा पण्णत्ता, तं जहा**—पाच सवत्सर कथन-किये गये हैं, जैसे, **णक्खत्त-संवच्छरे**—नक्षत्र-सम्वत्सर, **जुग संवच्छरे**—युग सवत्सर; **पमाण-संवच्छरे**—प्रमाण-सम्वत्सर, **लक्खण-संवच्छरे**—लक्षण-सवत्सर; **सणिचरसवच्छरे**—शनैश्चर सवत्सर।
जुगसंवच्छरे—युग सवत्सर, **पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा**—पाच प्रकार का कथन किया गया है, जैसे, **चंदे**—चन्द्र, **चंदे**—चन्द्र, **अभिवड्ढिए**—अभिवर्द्धित; **चंदे**—चन्द्र और; **अभिवड्ढिए चेव**—अभिवर्द्धित ।

पमाण-संवच्छरे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—प्रमाण सवत्सर पाच प्रकार का है, जैसे; **नक्खत्ते**—नक्षत्र; **चंदे**—चन्द्र, **उऊ**—ऋतु, **आइच्चे**—आदित्य; **अभिवड्ढिए**—अभिवर्द्धित । **लक्खणसंवच्छरे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा**—लक्षण सवत्सर पाच प्रकार का है, जैसे—**नक्खत्ता**—नक्षत्र का चन्द्रमा के साथ, **सम्मं**—सम्यक्; **जोगं जोयंति**—योग करते है, **उऊ**—ऋतु; **सम्मं**—सम्यक् रूप से; **परिणमंति**—परिणत होती है; **णच्चुण्हं**—न अधिक गर्मी होती है, **णाइसीओ**— न अधिक शीत होता है, **बहूदओ**—जल बहुत होता है; **नक्खत्ते भवइ**—वह नक्षत्र संवत्सर होता है ।

पवालिणो—वृक्ष; **विसमं**—विषम रूप में; **परिणमंति**—परिणत होते है; **अणुदूसु**—ऋतु के विना; **पुप्फ फलं देंति**—पुष्प-फल देते है, **वासं**—वर्षा; **सम्मं**—सम्यक्; **ण वासइ**—नही बरसती है; **तं**—उसको; **कम्मं संवच्छरं**—कर्म ऋतु संवत्सर; **आहु**—कहते है।

जिस संवत्सर में; **ससी**—चन्द्रमा; **सगलपुण्णमासी**—समस्त पूर्णिमाओं के साथ **जोएइ**—योग करता है; **विसमचारिणक्खत्ते**—नक्षत्रों का चार विषम होता है, **कडुओ**—जो अतीव शीत एव उष्णता के कारण कटुक होता है; **बहूदओ**—जिसमें जल बहुत होता है, **तं**—उसको, **चंदं संवच्छरं आहु**—चन्द्र संवत्सर कहते हैं।

आदिच्चो—आदित्य संवत्सर, **पुढविदगाणं**—पृथिवी और जल, **पुप्फफलाणं**—फूल और फलो के, **देइ**—रस को उत्पन्न करता है; **अप्पेणवि**—थोड़ी सी भी, **वासेणं**—वर्षा से; **सम्मं**—सम्यक् रूप से, **सस्सं**—शस्य, **निप्फज्जए**—निष्पन्न होता है।

आदिच्चतेयतविता—सूर्य के तेज से तपे हुए, **खणलवदिवसा**—क्षण, लव और दिवस, **उऊ**—ऋतु, **परिणमंति**—परिणत होते हैं, **रेणुथलयाइ**—धूल से स्थल, **पूरिंति**—पूरित हो जाते हैं; **तं**—उसको, **अभिवड्ढियं**—अभिवर्द्धित, **आहु**—कहते है, **जाणं**—(हे शिष्य !) इस प्रकार जान।

मूलार्थ—पांच सम्वत्सर वर्णन किए गए है, जैसे—नक्षत्र संवत्सर, युगसंवत्सर, प्रमाण संवत्सर,लक्षण संवत्सर, शनैश्चरसंवत्सर।

युग संवत्सर पांच प्रकार का है, जैसे—चन्द्र, चन्द्र, अभिवर्द्धित, चन्द्र, अभिवर्धित।

प्रमाण संवत्सर पाच प्रकार का है, जैसे—नक्षत्र, चन्द्र, ऋतु, आदित्य, अभिवर्द्धित।

लक्षण संवत्सर पांच प्रकार का है, जैसे—

१. जिस वर्ष में नक्षत्र चन्द्रमा के साथ समरूप से योग करते है, ऋतुए भी समरूप से परिणत होती है, न अधिक उष्णता होती है, न अधिक शीत होता है, जल बहुत होता है, वह नक्षत्र-संवत्सर कहलाता है।

२. वृक्ष विषम रूप से परिणत होते है, विना ऋतु के पुष्प और फल देते है, वर्षा भी सम्यक्तया नही बरसती है, वह ऋतु सवत्सर कहलाता है।

३. जिस वर्ष में चन्द्रमा समस्त पूर्णिमाओं के साथ योग करता है, नक्षत्रों का चार अर्थात् गति भी विषम होती है, अत्यन्त शीत एवं उष्णता के कारण जल कटुक एवं बहुत होता है, वह चन्द्र-संवत्सर कहलाता है।
४. जिस वर्ष में पृथ्वी, जल, पुष्प और फलों में रस अधिक उत्पन्न होता है, अल्प वर्षा से भी शस्य सम्यक् रूप से निष्पन्न होता है, वह आदित्य-संवत्सर कहलाता है।
५. जिस वर्ष में आदित्य अर्थात् सूर्य के प्रखर तेज से तप्त हुए क्षण, लव, दिवस एवं ऋतुएं परिणाम को प्राप्त होते है, धूल से स्थल पूरित हो जाते है, वह अभिवर्द्धित संवत्सर समझना चाहिए।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में पांच सम्वत्सरों तक अंकुरित होने की शक्ति रखनेवाले धान्यों का वर्णन किया गया है, उसे पढ़ कर स्वभावतः सम्वत्सर के सम्बन्ध में जानने की जिज्ञासा जागृत होती है, अतः प्रस्तुत सूत्र में पाच प्रकार के सम्वत्सरों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। सवत्सर का अर्थ है वर्ष। वर्ष पांच प्रकार के होते है, नक्षत्र-संवत्सर, युग-संवत्सर, प्रमाण-संवत्सर लक्षण-संवत्सर और शनैश्चर-संवत्सर। इन संवत्सरो का परिचयात्मक विवरण इस प्रकार है :—चन्द्रमा का २८ नक्षत्रो के साथ रहने का कालमान नक्षत्र-मास होता है, बारह नक्षत्र मासों का एक नक्षत्र-सम्वत्सर होता है।

युग-सवत्सर पांच प्रकार का होता है, जैसे कि चन्द्र, चन्द्र, अभिवर्द्धित, चन्द्र और अभिवर्द्धित। पाच संवत्सरों का एक युग होता है। युग के पांचवे भाग को सवत्सर कहते हैं।[1]

जब दिनों के परिमाण की मुख्यता से नक्षत्र आदि से सम्बद्ध संवत्सरो का वर्णन किया जाता है तो वे ही प्रमाण-संवत्सर कहलाते है। प्रमाण सवत्सर पाच प्रकार का होता है। नक्षत्र, चन्द्र, ऋतु, आदित्य और अभिवर्धित। इनमे से नक्षत्र मास २७$\frac{२१}{६७}$ दिन का होता है, ऐसे बारह मास ३२७$\frac{५१}{६७}$ दिनो का एक नक्षत्र-प्रमाण-संवत्सर होता है।

कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से लेकर पूर्णमासी तक समाप्त होनेवाला २९$\frac{३२}{६२}$ दिनों का मास चन्द्र-मास कहलाता है। बारह चन्द्रमासो अर्थात् ३५४$\frac{१२}{६२}$ दिनो का एक चन्द्र-प्रमाण सवत्सर होता है।

ऋतु-प्रमाण-संवत्सर—तीस दिनो का एक ऋतु-मास होता है, साठ दिनो का एक ऋतु और ३६० दिनो का ऋतु-प्रमाण-सवत्सर माना जाता है।

आदित्य-प्रमाण-सम्वत्सर—सूर्य एक सौ त्रियासी दिन उत्तरायण और एक सौ त्रियासी दिन दक्षिणायन रहता है। इस प्रकार ३६६ दिनों का आदित्य-सवत्सर होता है। तारीख और प्रविष्टा के

1. *पाच वर्ष मे दो बार अधिक मास पडता है जिस वर्ष मे अधिक मास नहीं पडता वह चन्द्र सवत्सर और जिस मे अधिक मास पड़ता है वह अभिवर्द्धित संवत्सर कहलाता है। यही कारण हैं कि सूत्र मे तीन बार चन्द्र और दो बार अभिवर्द्धित शब्द प्रयुक्त हुआ है।*

अनुसार जो महीने प्रचलित हैं, वे सब आदित्य-संवत्सर के अन्तर्गत है। जब सूर्य २८ नक्षत्र और बारह राशियो को पूर्णतया भोग लेता है उस काल-मान को सूर्य-संवत्सर कहते है। आदित्य-मास की औसत ३०$\frac{१}{२}$ दिनों की होती है।

अभिवर्धित (लौंद) संवत्सर—यह संवत्सर तेरह महीने का होता है। चद्र-सवत्सर मे अधिक मास पड़ने से वह चन्द्र संवत्सर ही अभिवर्धित कहलाता है। ३१$\frac{१२१}{१२४}$ दिनो का अभिवर्धित मास होता है। इस प्रकार बारह अभिवर्धित मासो का एक अभिवर्धित-संवत्सर होता है।

लक्षण-संवत्सर—जो ऊपर पाच संवत्सर कथन किए गए है, वे ही लक्षण-प्रधान होने पर लक्षण-संवत्सर कहलाते हैं। कुछ नक्षत्र निश्चित तिथियो में हुआ करते हैं। जैसे कि चैत्री पूर्णमासी को चित्रा, वैसाखी, पूर्णमासी को विशाखा, श्रावणी पूर्णमासी को श्रवण इत्यादि। जब ये नक्षत्र ठीक अपनी तिथियों में हों, मौसम भी यथासमय प्रारम्भ हो, न अति शीत और न अति गर्मी हो, जल भी म.त्रा में हो, इन लक्षणोंवाले संवत्सर को नक्षत्र-संवत्सर माना जाता है।

जिससे सारी रात चन्द्र से प्रकाशमान हो, ऐसी पूर्णमासी हो, नक्षत्र विषमचारी हो, अर्थात् पूर्णमासी को जो नक्षत्र होना चाहिए उसके अतिरिक्त अन्य ही कोई नक्षत्र हो, जिसमें शीत, उष्ण और पानी की अधिकता भी हो, इन लक्षणोंवाला संवत्सर 'चन्द्र-संवत्सर' कहलाता है।

जिस संवत्सर में बिना समय के बीज अंकुरित हो, वृक्ष में कोपले आए एवं फूल और फल आए, वर्षा समय पर न हो, इन लक्षणो से युक्त संवत्सर ऋतु-संवत्सर जाना जाता है।

जिस वर्ष सूर्य फूलों और फलो को, पृथ्वी-पानी की मधुर एवं स्निग्ध आदि शुभ गुण संपन्न रस देता हो, वर्षा कम होने पर भी भूमि ऊर्वरा शस्यश्यामला हो, धान्य अधिक उत्पन्न हों इन लक्षणो से युक्त संवत्सर को 'आदित्य-संवत्सर' कहा जाता है।

जिस वर्ष में क्षण, लव, मुहूर्त, दिवस और ऋतुएं सूर्य के तेज से तप्त होकर व्यतीत होती हो, आंधी-तूफान अधिक आए, वायु से उड़ी हुई धूलि से गड्ढे भर जाए, वही 'अभिवर्धित-संवत्सर माना जाता है।

जितने काल में शनिश्चर एक नक्षत्र को भोगता है वह शनिश्चर-संवत्सर कहलाता है। नक्षत्र अट्ठाईस है, इस कारण शनिश्चर सम्वत्सर भी नक्षत्रों के नाम से अट्ठाईस प्रकार का है। २८ नक्षत्रो को शनिश्चर तीस वर्षों मे पूरा करता है।[1]

जीव के निर्याण-मार्ग

मूल—पंचविहे जीवस्स णिज्जाणमग्गे पण्णत्ते, तं जहा—पाएहिं, ऊरूहिं, उरेण, सिरेण, सव्वंगेहिं ।७५।

---

१. इस विषय का विशेष विवरण सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, आदि आगमों द्वारा जानना चाहिए।

पाएहिं णिज्जाणमाणे णिरयंगामी भवइ, ऊरूहिं णिज्जाणमाणे तिरिय-गामी भवइ, उरेण णिज्जाणमाणे मणुयगामी भवइ, सिरेण णिज्जाण-माणे देवगामी भवइ, सव्वेहिं णिज्जाणमाणे सिद्धिगइपज्जवसाणे पण्णत्ते।
।६४।

छाया—पञ्चविधो जीवस्य निर्याणमार्गः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पादाभ्याम्, उरूभ्याम्, उरसा, शिरसा, सर्वांगैः।

पादाभ्यां निर्यान् निरयगामी भवति, उरूभ्यां निर्यान् तिर्यग्गामी भवति, उरसा निर्यान् मनुजगामी भवति, शिरसा निर्यान् देवगामी भवति, सर्वैर्निर्यान् सिद्धगति-पर्यवसानः प्रज्ञप्तः।

शब्दार्थ—जीवस्य—जीव का; पंचविहे—पांच प्रकार का; णिज्जाणमग्गे पण्णत्ते, तं जहा—निर्याणमार्ग कथन किया गया है, पाएहिं—पैरों से; ऊरूहिं—जंघाओं से; उरेण—वक्षस्थल से; सिरेण—शिर से; सव्वंगेहिं—समस्त अंगों से।

पाएहिं णिज्जाणमाणे—पैरों से निकलता हुआ; णिरयंगामी भवइ—नरकगामी होता है, उरूहिं णिज्जाणमाणे—जंघाओं से निकलता हुआ; तिरियगामी भवइ—तिर्यंचगामी होता है; उरेणं णिज्जाणमाणे—छाती से निकलता हुआ; मणुयगामी भवइ—मनुष्यगामी होता है; सिरेण णिज्जाणमाणे—शिर से निकलता हुआ; देव-गामी भवइ—देवगामी होता है। सव्वेहिं णिज्जाणमाणे—सब अङ्गों से निकलता हुआ; सिद्धिगइपज्जवसाणे—मोक्ष में जानेवाला; पण्णत्ते—कथन किया गया है।

मूलार्थ—जीवात्मा का शरीर से निकलना पांच प्रकार का कथन किया गया है, जैसे-पैरों से, जंघाओं से, वक्षस्थल से, शिर से, संपूर्ण अङ्गों से।

पैरों से निकलनेवाला जीव नरकगामी होता है, जंघाओं से निकलनेवाला तिर्यंचगामी होता है, छाती से निकलनेवाला मनुष्यगामी होता है, शिर से निकलनेवाला देवगामी होता है और सम्पूर्ण अङ्गों से निकलनेवाला जीव मोक्षगामी होता है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में संवत्सर और युग आदि का वर्णन किया गया है और शरीर का बन्ध-काल ही आयुष्य है। आयुष्य की पूर्णता होने पर यह बन्ध टूट जाता है और जीवात्मा शरीर का त्याग करके चला जाता है। स्वभावतः जिज्ञासा जागृत होती है कि जीवात्मा आयुष्य की पूर्णता होने पर किस शरीरावयव से बाहर निकलता है और निकल कर कहां जाता है? प्रस्तुत सूत्र में इसी प्रश्न का समाधान किया गया है।

मरण के समय जीव के शरीर से निकलने का मार्ग ही 'निर्याण' कहलाता है। वृत्तिकार भी लिखते है—

'निर्याणं मरणकाले शरीरिणः शरीरान्निर्गमस्तस्य मार्गो निर्याणमार्गः" यदि जीव पैरों के मार्ग से निकलता है तो वह नरकगामी होता है। पाद शब्द से पाओ के सर्व अवयव जानने चाहिए, घुटने से नीचे के सभी भाग यहा पाव के ही बोधक है। जानु से ऊपर और कटि-भाग से नीचे सभी अवयव ऊरु शब्द मे समाविष्ट हो जाते हैं। उन अवयवो से निकलकर यदि जीव प्रयाण करता है तो वह तिर्यंच गति में गमन करता है। कटिभाग से ऊपर और गले से नीचे के सभी अवयवो का अन्तर्भाव 'उर'—अर्थात् छाती मे हो जाता है। उर.स्थल से निकला हुआ जीव मनुष्य गति को प्राप्त करता है। मस्तक के सभी अवयवो को सिर कहते है, सिर के किसी भी अवयव से निकला हुआ जीव देवगति में जाया करता है। शरीर के सर्वाङ्गों द्वारा समान रूप से निकलनेवाली आत्मा सिद्धगति को प्राप्त करती है।

जब शरीर के किसी एक भाग से जीव निकलता है तब मरण-काल में महावेदना होती है, किन्तु सर्वांगो से जब आत्मा निकलती है तब किसी भी प्रकार की वेदना नही होती। इसी कारण उस निर्याण को 'निर्वाण' कहा जाता है।

जैन दर्शन ने जीवन-विज्ञान के साथ-साथ मृत्यु-विज्ञान की जिन गहराइयों का स्पर्श किया है उसका एक निदर्शन प्रस्तुत सूत्र मे देखा जा सकता है

छेदन, आनन्तर्य और अनन्त

मूल—पंचविहे छेयणे पण्णत्ते, तं जहा—उप्पायछेयणे, वियछेयणे, बंधछेयणे, पएसछेयणे, दोधारछेयणे।

पंचविहे आणंतरिए पण्णत्ते, तं जहा—उप्पायणंतरिए, वियणंतरिए, पएसाणंतरिए, समयाणंतरिए, सामण्णाणंतरिए।

पंचविहे अणंते पण्णत्ते, तं जहा—णामाणतए, ठवणाणंतए, दव्वाणंतए, गणणाणंतए, पएसाणंतए।

अहवा पंचविहे अणंतए पण्णत्ते, तं जहा—एगओऽणंतए, दुहओऽणंतए, देस-वित्थाराणंतए, सव्ववित्थाराणंतए, सासयाणंतए।७६।

छाया—पञ्चविधं छेदनं प्रज्ञप्तं तद्यथा—उत्पाद-छेदन, व्यय-छेदन, बन्ध-छेदनं, प्रदेश-छेदनं, द्विधाकार-छेदनम्।

पञ्चविधमानन्तर्यं प्रज्ञप्तं तद्यथा—उत्पादानन्तर्यं, व्ययानन्तर्यं, प्रदेशानन्तर्यं, समया-

अन्तर्यं, सामान्यानन्तर्यम् ।

पञ्चविधमनन्तं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—नामानन्तकं, स्थापनानन्तकं, द्रव्यानन्तकं, गणनानन्तकं, प्रदेशानन्तकम् ।

अथवा पञ्चविधमनन्तं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—एकतोऽनन्तकं, द्विधाऽनन्तकं, देशविस्तारानन्तकं, सर्वविस्तारानन्तकं, शाश्वतानन्तकम् ।

मूलार्थ—पांच प्रकार का छेदन (विभाग) कथन किया गया है, जैसे—उत्पाद का छेदन, व्यय का छेदन, बन्धन का छेदन, प्रदेश का छेदन, दो टुकड़ करने के रूप में छेदन ।

पांच प्रकार का आनन्तर्य (सातत्य) कथन किया गया है, जैसे—उत्पाद का आनन्तर्य, व्यय का आनन्तर्य, बन्धन का आनन्तर्य, प्रदेश का आनन्तर्य, समय का आनन्तर्य, श्रामण्य का अथवा सामान्य रूप आनन्तर्य ।

पाच प्रकार का अनन्त कथन किया गया है, जैसे—नाम-अनन्त, स्थापना-अनन्त, द्रव्य-अनन्त, गणना-अनन्त, प्रदेश-अनन्त ।

अथवा पांच प्रकार का अनन्त कथन किया गया है, जैसे—एक आकाश प्रदेश की श्रेणी का अनन्त, दो श्रेणियों का अनन्त, आकाश के प्रदेशों के विस्तार का अनन्त, सर्व-विस्तार-अनन्त, जीवादि शाश्वत पदार्थ अनादि अनन्त है उन्ही का अनन्त शाश्वतानन्तक है ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में जीव के द्वारा शरीर-त्याग के पांच रूपों का वर्णन किया गया है। आयु का व्यवच्छेद होने पर ही जीव शरीर से निकलता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे प्रकरण-प्राप्त पांच प्रकार के छेदनो का वर्णन किया गया है । प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील होता है, उसकी पूर्वपर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद होता ही रहता है । किसी भी गति में जन्म लेना यह जीव की "उत्पाद-द्रव्य-पर्याय" है, उस गति या भव की अवधि पूरी होने पर 'व्यय-पर्याय' होती है ।

१. **उत्पाद-छेदन**—उत्पाद का अर्थ है जन्म, उच्च परिणामों से उसका छेदन कर देना उत्पाद-छेदन कहलाता है । जिस किसी तरणहार जीव ने पुनः कभी भी उस गति में जन्म नही लेना, या दुर्गति मे लौटकर नही आना, वह उत्पाद-छेदन कहलाता है, अथवा मनुष्य-जन्म के अतिरिक्त अन्य किसी भव में पुन: कभी भी जन्म न लेने को भी उत्पाद-छेदन माना जाता है। अथवा उत्पाद-छेदन का अर्थ विरहकाल भी होता है । नरक-गति में उत्पन्न होनेवाले जीवों का यदि जन्म न हो तो अधिक से अधिक

१२ मुहूर्त का विरहकाल हो सकता है। एकेन्द्रियों को छोड़कर शेष त्रस-तिर्यंचो का उत्पाद-विरहकाल उत्कृष्टतम १२ मुहूर्त का ही होता है। इसी प्रकार मनुष्य एव देवगति का विरह-काल भी १२ मुहूर्त का ही हुआ करता है। एकेन्द्रिय जाति में उत्पाद-विरहकाल नही होता, क्योकि उसमे समय-समय पर जीव उत्पन्न होते ही रहते हैं, वहां विरहकाल का सर्वदा अभाव है।

२. **व्यय-छेदन**—उद्वर्तन-च्यवन या मरण का छेदन होना ही व्यय-छेदन है। वर्तमान मे जिस भव मे जीव रह रहा है, उसको छोड़कर भविष्य में उस गति या भव में कभी भी मरण न पाना तथा उसके विरहकाल को भी व्यय-छेदन कहते है। यदि कोई जीव नरक से न निकले तो अधिक से अधिक बारह मुहूर्त का विरहकाल हो सकता है। इसी प्रकार त्रस-तिर्यंच, मनुष्य और देवगति का भी उत्कृष्ट १२ मुहूर्त का विरह-काल है, इसीको व्यय-छेदन कहते हैं, किन्तु एकेन्द्रियो का उद्वर्तन, मरण समय-समय पर होता ही रहता है, अतः उनका व्यय-छेदन नही होता।

३. **बन्ध-छेदन**—जिस गुणस्थान में जिन प्रकृतियो का बध नही होता है, वह बन्ध-छेदन कहलाता है। जैसे कि चौथे गुणस्थान मे मिथ्यात्व आदि प्रकृतियो का बन्ध नही होता अथवा अपुनर्बंधक हो जाना, क्षपक श्रेणी मे आरोहण करते हुए जीव अपुनर्बंधक होता है, किसी भी बंधका छेदन कर देना बन्ध-छेदन है।

४. **प्रदेश-छेदन**—बुद्धि द्वारा निर्विभाग अवयव का छेदन करना, जैसे स्कन्ध से या देश से कल्पना द्वारा प्रदेश विभाग करना। वस्तुत' प्रदेश न स्कन्ध से अलग है और न उसे अलग किया जा सकता है। अथवा प्रदेश-विरह को भी प्रदेश-छेदन कहते है, जैसे कि मिथ्यात्व की सत्ता होते हुए भी अनन्तानुबंधी आदि कर्म प्रदेशो का विरह होना। यह प्रक्रिया विसंयोजना करने पर ही होती है।

५. **दो धार-छेदन**—दुधारी तलवार से छेदन करना दोधार-छेदन है। उस्तरे से, छेनी से, तलवार से या चक्र से किसी भी वस्तु के दो भाग करना भी दुधार-छेदन माना जाता है। सयम और तप से कर्मों का छेदन करना या कर्मो का स्थिति-घात एवं रस-घात करना भी दोधार-छेदन कहलाता है।

पांच प्रकार का आनन्तर्य—

आनन्तर्य का अर्थ होता है निरन्तर होना। छेदन का अभाव होना, विरह-काल का ऐसा अभाव होना, जिसमें कोई अन्तर नही पड़ सकता। इसके भी पांच रूप कहे गए है, जैसे कि—

१. **उत्पादानन्तर्य**—नरक आदि गतियों में यदि जीव लगातार जन्म ले तो असंख्यात समय तक निरंतर नरक में जन्म लेते ही रहते है, इसको उत्पाद-आनन्तर्य कहते हैं। इसी तरह शेष गतियो के विषय में भी जानना चाहिए।

२. **व्यय-आनन्तर्य**—यदि नरक आदि गति में से उद्वर्तन, मरण समय-समय मे होते रहें तो असंख्यात समय तक होते ही रहते है इसीको व्यय-आनन्तर्य कहते हैं। इसी प्रकार शेष गतियों के विषय में भी व्यय-आनन्तर्य जानना चाहिए।

३. **प्रदेश-आनन्तर्य**—जितने भी अरूपी एवं अमूर्त सप्रदेशी द्रव्य है उनके प्रदेश एक दूसरे से मिले रहते हैं। प्रत्येक सप्रदेशी द्रव्य के प्रदेश सर्वथा भिन्न नही होते और सर्वथा अभिन्न भी नही

हुआ करते। यदि सर्वथा भिन्न हीं तो द्रव्य सप्रदेशी नही कहला सकता और यदि सर्वथा अभिन्न मानें तो प्रदेशों की कल्पना नही की जा सकती है। किसी भी अरूपी द्रव्य में प्रदेशों का सातत्य होता है, अतः वे एक दूसरे मे मिले हुए होते हैं। आत्मा के भी असंख्यात प्रदेश हैं, यह भी सातत्य की अपेक्षा से जानने चाहिए। इसीको प्रदेश-आनन्तर्य कहते हैं।

किसी-किसी प्रति में प्रदेश-छेदन के स्थान पर "पंथच्छेयणे"—"पथिच्छेदनं—मार्गातिक्रमः" यह पाठ प्राप्त होता है। जितना मार्ग तह कर लिया, उसे पंथच्छेदन कहते हैं।

४. समय-आनन्तर्य—प्रत्येक संसारी जीव समय-समय में प्रायः कर्म प्रदेशो का संचय कर रहा है, अथवा समय गतिशील है, समय का कभी भी विरह नही होता, यही समय-आनन्तर्य माना जाता है।

५ श्रामण्य-आनन्तर्य—क्षपक श्रेणि या उपशमश्रेणि में आरोहण करते हुए चारित्र का विरह या अन्तर नही पडता, अथवा बहुत जीवों के आश्रय से चारित्र मे कभी भी अन्तर नही पड़ता, जैसे कि वृत्तिकार लिखते है—"श्रामण्यस्य वा आकर्षणविरहेणानंतर्यं श्रामण्यानन्तर्यबहुजीवापेक्षया वा श्रामण्य-प्रतिपत्त्यानन्तर्यम्।" साधुता को प्रतिपत्ति उत्कृष्ट आठ समय मात्र कही गई है, इसे श्रामण्य-आनन्तर्य कहते हैं।

पांच प्रकार के अनन्त—

१. नाम-अनन्तक—जिस वस्तु का नाम-अनन्त है, उसे नाम-अनन्त कहते हैं, जैसे अनन्तनाथ, अनन्तराम, अनन्तचौदश इत्यादि।

२. स्थापना-अनन्तक—जिस सचित्त या अचित्त अनन्त वस्तु का चित्र, मूर्ति, नक्शा या प्रतिरूप हो उसे स्थापना-अनन्तक कहते हैं।

३ द्रव्यानन्तक—जीव, पुद्गल और काल ये तीन द्रव्य अनन्त हैं, अत. इन्हे द्रव्य-अनन्तक कहते हैं।

४. गणनानन्तक—जिस पदार्थ की गणना करते-करते वह अनन्तता को प्राप्त हो जाए वह गणनानन्तक है।

५. प्रदेश-अनन्तक—आकाश के प्रदेशों की अनन्तता ही प्रदेशानन्तक है। पुद्गलद्रव्य भी अनन्त प्रदेशोवाला होने से प्रदेशानन्तक है। अनंत शब्द से नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीन निक्षेप ग्रहण किए गए हैं, किन्तु भाव-निक्षेप के स्थान पर गणना और प्रदेश ग्रहण किए जाते हैं।

प्रकारान्तर से पांच अनन्तक

१. एकतः अनन्तक—लम्बाई की अपेक्षा से आकाश-प्रदेश की एक श्रेणि में अनन्त प्रदेश है, अतः इसे एकतः-अनन्तक कहते है।

२. द्विधा-अनन्तक—लम्बाई और चौड़ाई दोनों की अपेक्षा से जो अनन्त हो उसे द्विधा-अनन्तक कहते है, जैसे कि प्रतर-क्षेत्र।

३. देश विस्तारानन्तक—दिशाएं रुचक प्रदेशो से प्रारम्भ होती हैं, पूर्व आदि चार दिशाओ मे से किसी एक दिशारूप क्षेत्र विशेष को एक देश कहते हैं। उस एक देश का जो विस्तार है उसमे रहे

हुए आकाश प्रदेशों की अनन्तता ही देश-विस्तार अनन्तक कहलाती हैं।

४. सर्वविस्तारानन्तक—सर्व आकाश प्रदेशों की जो अनन्तता है वह सर्व विस्तार अनन्तक है।

५ शाश्वत अनन्तक—आदि और अंत रहित स्थितिवाले जीव आदि पदार्थ सदाकाल भावी होने से शाश्वतानन्तक कहलाते है।

यह सूत्र ज्ञानाचार और दर्शनाचार से सम्बन्ध रखता है, अतः अनुभवनीय है।

पंचविध ज्ञान

मूल—**पंचविहे णाणे पण्णत्ते, तं जहा—आभिणिबोहियणाणे, सुयनाणे, ओहिणाणे, मणपज्जवणाणे, केवलणाणे।७७।**

छाया—पञ्चविधं ज्ञानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानम्, श्रुतज्ञानम्, अवधिज्ञानम्, मनःपर्यवज्ञानम्, केवलज्ञानम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच प्रकार का ज्ञान प्रतिपादन किया गया है, जैसे—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान, केवलज्ञान।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में ज्ञानाचार एव दर्शनाचार से सम्बन्धित उत्पाद-छेदन आदि का वर्णन किया गया हैं। इस प्रकार के छेदन का प्रधानतम साधन ज्ञान ही है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने ज्ञान के पाचो रूपो का वर्णन किया है।

जानना ही ज्ञान है "ज्ञातिज्ञानमिति भावसाधनः संविदित्यर्थ।" अनुभूति के साधन अर्थात् जिस के द्वारा जाना जाए उसे भी ज्ञान कहते हैं—ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्। आवरणो के क्षय और क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को आधार मान कर यह भी कहा जाता है कि जिसमें जाना जाता है वह ज्ञान है, ज्ञान आत्मा में होता है अथवा जो अपने विषय को ग्रहण करता है या जो जानता है, वह ज्ञान है।[1]

ज्ञान पांच प्रकार का है, जैसे कि आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधि-ज्ञान, मन. पर्यव-ज्ञान और केवल-ज्ञान। इनमे से किसी एक ज्ञान के द्वारा आत्मा पदार्थों को जानता है। इन मे से आदि में

---

१. "ज्ञायते वास्मिन्निति ज्ञानम्—आत्मा तदावरणक्षयक्षयोपशमपरिणामयुक्तो, जानातीति वा ज्ञान, तदेव स्वविषयग्रहण रूपत्वादिति।"

के दो ज्ञान परोक्ष है और अंतिम तीन ज्ञान प्रत्यक्ष है। पहले चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं, जबकि केवल-ज्ञान क्षायिक है। आवरणों के सर्वथा क्षय होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह क्षायिक ज्ञान कहलाता है, वही केवलज्ञान है। ज्ञान के पांच रूपों का संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है—

१. **आभिनिबोधिक ज्ञान**—किसी भी स्थान पर विद्यमान वस्तु को इन्द्रिय और मन की सहायता से जाननेवाला ज्ञान आभिनिबोधिक ज्ञान कहलाता है क्योकि 'अभि' का अर्थ होता है "ज्ञेय के अभिमुख", 'नि' का अर्थ है "नियत रूप से", 'बोध' का अर्थ है ज्ञान, अर्थात् जो ज्ञेय के अभिमुख होकर नियत रूप से अनुभूति को जागृत करता है, वह आभिनिबोधिक ज्ञान कहलाता है। इसीको दूसरे शब्दों में मतिज्ञान भी कहते है।

२. **श्रुत-ज्ञान**—सुनकर प्राप्त होनेवाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला तथा जिसमें शब्द एवं अर्थ की पर्यालोचना होती है, वह श्रुतज्ञान है। यद्यपि इस ज्ञान में भी मति-ज्ञान की तरह पांचो इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित है, फिर भी इसमें मुख्यतया श्रोत्रेन्द्रिय की प्रधानता रहती है और उससे भी बढ कर मन की मुख्यता है। कहा भी है **"श्रुतमनिन्द्रियस्य"**[1] मन का विषय श्रुत है। यही ज्ञान मनुष्य को मुखरित करता है, अक्षर रूप में भी यही ज्ञान परिणत होता है। शब्द और अर्थ की पर्यालोचना के अनन्तर होनेवाले त्रैकालिक सामान्य एवं विशेष ज्ञान को मुख्यता देनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। यद्यपि श्रुतज्ञान का अर्थ सुनकर प्राप्त हुआ ज्ञान ही ध्वनित होता है, तथापि पठित ज्ञान को भी श्रुतज्ञान ही कहा जाता है, क्योंकि श्रुत अर्थात् शास्त्र के स्वाध्याय से प्राप्त ज्ञान भी श्रुतज्ञान ही होता है।

३. **अवधि-ज्ञान**—अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से होनेवाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। इस में इन्द्रियो और मन की सहायता अपेक्षित नही होती। वह मूर्त एवं रूपी पदार्थों का प्रत्यक्ष अपने क्षयोपशम प्रमाण से कर सकता है, अमूर्तो का नही। यह ज्ञान सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों को होता है, असंज्ञी को नही। इस ज्ञान की प्राप्ति चारों गतियो के जीवो को हो सकती है।

४ **मनःपर्यव-ज्ञान**—इन्द्रिय और मन की सहायता के विना, ढाई द्वीप की मर्यादा को लिए हुए सज्ञी जीवो के मनोगत भावों को दूर रहते हुए भी जान लेना मन पर्यव ज्ञान है। यह ज्ञान लब्धिधारी-अप्रमत्त सयत मे उत्पन्न होता है। इसका उद्भव सातवें गुणस्थान में हो सकता है उससे पूर्व नहीं। अन्य जीवो को यह ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। ढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों का स्पष्ट ज्ञान कराना इस ज्ञान का विषय है।

५. **केवलज्ञान**—संपूर्ण, निरावरण लोक-अलोक-प्रकाशी बिना किसी रुकावट के दूर-समीप, सूक्ष्म-स्थूल, रूपी-अरूपी सभी पदार्थो को हस्तामलक की तरह जानने के लिये समर्थ ज्ञान को केवल-ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान सादि अनन्त है, इस ज्ञान को पाकर ही जीव परमपद को प्राप्त कर सकता है। यह ज्ञान भी अप्रमत्त सयत को ही होता है। क्षीणमोहनीय-गुणस्थान में चार घाति कर्मों को सर्वथा क्षय करके तेरहवे गुणस्थान के पहले समय में ही जीव केवलज्ञान से प्रकाशित हो उठता है।[2]

---

१. तत्त्वा० २, सू० २२।

२. इन पाच ज्ञानों की व्याख्या नदी सूत्र में की गई है।



ज्ञानावरणीय कर्म

मूल—**पंचविहे णाणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—आभिणिबोहियणाणावरणिज्जे जाव केवलणाणावरणिज्जे ।७७।**

छाया—पञ्चविधं ज्ञानावरणीयं कर्म प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आभिनिवोधिकज्ञानावरणीयं यावत् केवलज्ञानावरणीयम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच प्रकार का ज्ञानावरणीयकर्म कथन किया गया है, जैसे—आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय से लेकर केवलज्ञानावरणीय तक ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में ज्ञान की पचविधता बताई गई है, ज्ञान का अक्षय भण्डार आत्मा है, परन्तु उसे ज्ञानावरणीय कर्म की पांच प्रकृतियो ने आवृत किया हुआ है। जव ज्ञानावरणीव कर्म-प्रकृति ज्ञान को आच्छादित कर लेती है तब आत्मा सब कुछ जानने की शक्ति होते हुए भी यत्किंचित् ही जान पाता है।

क्योकि ज्ञान के पाच रूप है, अतः उन्हे आच्छादित करनेवाली कर्म-प्रकृतियां भी पाच ही हैं। आभिनिवोधिक ज्ञान को आच्छादित करनेवाली कर्म-प्रकृति को आभिनिवोधिक ज्ञानावरणीय कहा जाता है, इसी प्रकार श्रुतज्ञान को आवृत करनेवाली कर्म-प्रकृति को 'श्रुतज्ञानावरणीय' और अवधिज्ञान को आवृत करनेवाली प्रकृति को 'अवधिज्ञानावरणीय' मनःपर्यवज्ञान की उत्पत्ति मे वाधक कर्म-प्रकृति 'मन·पर्यवज्ञानावरणीय' और केवलज्ञान की उत्पत्ति में वाधक कर्म-प्रकृति को 'केवलज्ञानावरणीय' कहा जाता है। अभिप्राय यह कि जो कर्म-प्रकृति जिस ज्ञान को आवृत करती है वह उसी ज्ञान के नाम से सम्बद्ध 'ज्ञानावरणीय' कर्म-प्रकृति कहलाने लगती है।

जव पुण्य-पथ पर बढ़ता हुआ साधक संयमशील वनकर कर्म-प्रकृतियो का क्षयोपशम करने-लगता है, तव मेघों के आवरण से मुक्त सूर्य के समान आत्मा चमक उठता है, उसका ज्ञानालोक फैलने लगता है और इस प्रकार संयमशीलता की वृद्धि के साथ-साथ वह क्रमशः मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी अवधिज्ञानी मन पर्यवज्ञानी बनता जाता है और अन्त में उन आवरणो के सर्वथा क्षय हो जाने पर केवलज्ञान से सम्पन्न होकर परमात्मा बन जाता है।

स्वाध्याय और उसके भेद

मूल—**पंचविहे सज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—वायणा, पुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा ।७८।**

छाया—पञ्चविधः स्वाध्यायः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्म कथा ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—स्वाध्याय पांच प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा ।

विवेचनिका—

ज्ञानावरण-कर्म का क्षय करने के लिये मुख्य साधन स्वाध्याय है । स्वाध्याय का अर्थ होता है, अपने आपको पढना, अर्थात् आत्मनिरीक्षण अथवा जिस पठन-विधि से आत्मा विकारों से निवृत्त होकर अपने स्वरूप को जानता है वह स्वध्याय है । आत्म-निरीक्षण ही जीवन को उच्चता की ओर ले जाने वाला प्रमुखतम साधन है । केवल पुस्तको के शब्दो को रटना स्वाध्याय नहीं, स्वाध्याय तभी स्वाध्याय है जब वह विराट् विश्व में "मैं क्या हूं" इसका बोध करा दे ।

आज की पठन-पाठन विधि मे अन्तर्मुखता का—आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव हो गया है, यही कारण है कि आज के विद्यार्थी आत्म-विमुख होकर आत्म-प्रवञ्चना में लीन है । प्राचीन युग में स्वाध्याय अनुमानित पत्रों पर निर्भर न होकर स्वात्मानुभूति से युक्त होता था, अत उसकी विशेष विधि निर्धारित की गई थी । जैसे कि—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, पुनरावृत्ति, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा । इनका विवरण निम्नलिखित है—

१. **वाचना**—पढना-पढाना, शिष्यों को सूत्ररूप में या अर्थरूप में नया पाठ लेना और देना वाचना है । जिस पद्धति से शिष्य की प्रवृत्ति एव अभिरुचि श्रुतज्ञान को ओर वढे वह पठन-पाठन पद्धति ही वाचना है ।

२. **पृच्छना**—मूल पाठ के विषय में, उच्चारण के विषय में तथा अर्थ के विषय में सदेह होने पर गुरुजनो से श्रद्धा-पूर्वक उस विषय में प्रश्न करना ही पृच्छना है ।

३. **परिवर्तना**—अध्ययन किए हुए सूत्र या अर्थ को दोहराना, उसकी पुनरावृत्ति करते रहना, जिससे कि मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओ पर उसकी अमिट छाप लगती जाय उसे ही परिवर्तना कहा जाता है ।

४. **अनुप्रेक्षा**—अनुसधान करना, भूले हुए पाठ या अर्थ को स्मृति-पथ में लाने के लिये उसमें पुनः-पुनः उपयोग लगाना, उसका चिन्तन-मनन-निदिध्यासन करना ही अनुप्रेक्षा है ।

५. **धर्मकथा**—उपर्युक्त चार प्रकार से स्वाध्याय करते हुए शास्त्र का अभ्यास करना, शास्त्रीय ज्ञान को सम्यक् रूप से प्राप्त करके भव्य जीवों को धर्मोपदेश करना धर्मकथा है । शास्त्रीय व्याख्यान करना, श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म का जनता में प्रचार करना ही धर्म-कथा है । स्वाध्याय करते हुए गुरु वाणी और जिनवाणी के प्रति श्रद्धा-भक्ति, विनय और सेवा का होना आवश्यकीय है ।

वस्तुत: स्वाध्याय को धर्मकथा का रूप ही प्राप्त होना चाहिये। पाठ्यक्रम मे धर्म-कथाओं और धर्म-शिक्षा को प्राथमिकता देनी चाहिए। आज स्वाध्याय को धर्म के परिवेश से मुक्त करने का दुष्प्रयास किया जा रहा है, यही कारण है कि आज का छात्र स्वाध्यायशील नही रहा, उसे अपने धर्म, अपनी सस्कृति, अपने पूर्वजों के पुण्य इतिहास के ज्ञान से वंचित होना पड़ रहा है, अत: छात्रो को पठन-पाठन की ओर नही "स्वाध्याय" की ओर प्रवृत्त करना चाहिए।

"स्वाध्यायान्मा प्रमदः"—स्वाध्याय करने मे प्रमाद मत करो, यही मन्त्र शिष्यो के जीवन में उतारना चाहिए।

प्रत्याख्यान-विशुद्धि

मूल—पंचविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, तं जहा—सद्दहणसुद्धे, विणयसुद्धे, अणुभासणा-सुद्धे, अणुपालणासुद्धे, भावसुद्धे।७९।

छाया—पञ्चविधं प्रत्याख्यानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—श्रद्धानशुद्धं, विनयशुद्धम्, अनुभाषणाशुद्धम्, अनुपालनशुद्धं, भावशुद्धम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पाच प्रकार का प्रत्याख्यान कथन किया गया है, जैसे—श्रद्धान-शुद्ध, विनय-शुद्ध, अनुभाषणा-शुद्ध, अनुपालना-शुद्ध और भाव-शुद्ध।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे स्वाध्याय का वर्णन किया गया है। स्वाध्याय से ही हेय, ज्ञेय और उपादेय का सम्यक्तया बोध होता है। बोध हो जाने पर हेय पदार्थो के त्यागने की उत्कट भावना उत्पन्न हो जाती है और उपादेय को ग्रहण करने के लिये मन समुत्सुक हो उठता है। हेय के त्याग को ही पच्चक्खाण कहा जाता है। प्रस्तुत सूत्र में पच्चक्खाण-विशुद्धि के विषय मे कहा गया है कि उसकी विशुद्धि पाच कारणो से होती है जैसे कि श्रद्धा, विनय, अनुभाषण, अनुपालन और भाव। इन की विशुद्धि से ही प्रत्याख्यान की विशुद्धि होती है, जैसे कि :—

१. श्रद्धान-शुद्ध—जिस प्रत्याख्यान से मूलगुणो का भरण-पोषण एव वृद्धि हो उसे मूलगुण पच्चक्खाण कहते है और जिससे उत्तरगुणो की वृद्धि हो वह उत्तरगुण-पच्चक्खाण है। मूलगुण-पच्चक्खाण हो या उत्तर-गुण-पच्चक्खाण उसके साथ श्रद्धा का होना आवश्यक है। श्रद्धान्वित पच्चक्खाण करने से ही इच्छाओ का निरोध हो सकता है। प्रत्याख्यान के विना जीव का कल्याण नही हो सकता, क्योकि प्रत्याख्यान के अभाव मे ममत्व का वन्धन वना रहता है। ममता से मुक्त होने के लिये किये जाने वाले प्रत्याख्यान के प्रति श्रद्धा का होना अनिवार्य है। तभी वह प्रत्याख्यान श्रद्धान-शुद्ध-प्रत्याख्यान कहलाता है।

२. विनय-शुद्ध—प्रत्याख्यान करते समय गुरुजनों की मन, वचन और काय से विनय करते हुए प्रत्याख्यान व्रत को ग्रहण करना विनय-शुद्ध-प्रत्याख्यान-कहलाता है। विनयपूर्वक किया हुआ प्रत्याख्यान ही आत्म-विकास का साधक माना गया है। विनय ही धर्म का, गुणों का तथा सपत्ति का मूल कारण है, अतः सद्‌गुणों को व्यक्त होने का सुअवसर विनीत को ही प्राप्त होता है।

३. अनुभाषण-शुद्ध—गुरुजनों से प्रत्याख्यान कराते समय उन्हे वन्दना करके, उनके सामने खड़े हो हाथ जोड़कर प्रत्याख्यान कराते हुए जब गुरुदेव "वोसिरे" कहे तब शिष्य "वोसिरामि" कहता हुआ प्रत्याख्यान को स्वीकार करे। गुरु के वचनों को धीमे शब्दो मे अक्षर. पद, व्यंजन की अपेक्षा शुद्ध उच्चारण करते हुए दोहराना अनुभाषण-शुद्ध-प्रत्याख्यान माना जाता है।

४. अनुपालना-शुद्ध—जो प्रत्याख्यान किसी महावन में, दुर्भिक्ष में, रोग आदि की अवस्था में या किसी अन्य महाकष्ट के आने पर भी उसे भंग न किया जाए, शरीर-विनाशक उपसर्ग आने पर भी दृढ़ता के साथ उसका पालन किया जाय, ऐसा प्रत्याख्यान ही अनुपालना-शुद्ध कहलाता है। इस प्रकार का प्रत्याख्यान-साधक' आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति' जैसे वचनो की उपेक्षा करता हुआ प्रत्याख्यान-पालन में दृढ़ रहता है।

५. भाव-शुद्ध—राग-द्वेष, मोह आदि से अथवा सासारिक प्रशसा या आशंसा—आशा आदि से प्रत्याख्यान को दूषित न करना तथा भौतिक सुखों की लालसा से निदान अर्थात् तपस्या के फल के रूप में सांसारिक पदार्थो की कामना न करना भावशुद्ध प्रत्याख्यान है।

कुछ प्रतियो में 'भावशुद्ध' के स्थान पर 'ज्ञानशुद्ध' पाठ देखने में आता है इस पाठ को मानने वाले कुछ विद्वान् छः प्रकार की प्रत्याख्यान-शुद्धि मानते है, क्योकि व्यक्ति जिस काल मे ज्ञानपूर्वक मूल-गुणो या उत्तरगुणो मे करणीय कार्यो की प्रतिज्ञा करता है उसे ज्ञान-शुद्ध-प्रत्याख्यान कहा जाता है, किन्तु गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर ज्ञानशुद्ध-प्रत्याख्यान श्रद्धान-शुद्ध के अतर्भूत हो जाता, है क्योकि सम्यग्दर्शन पूर्वक ही ज्ञान होता है, अतः प्रस्तुत पाठ के अनुसार वर्णित प्रत्याख्यान-शुद्धि के पाच रूप ही युक्ति-सगत प्रतीत होते है।

"प्रति" उपसर्ग का अर्थ है निषेध "आ उपसर्ग" का अर्थ है 'मर्यादा' और "ख्या धातु" का अर्थ है प्रकथन। अतः प्रत्याख्यान शब्द का व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ है—मर्यादापूर्वक त्यागने योग्य पदार्थों का कथन करना। कहा भी है, प्रति—प्रतिषेधते आख्यानं मर्यादया कथनं प्रतिज्ञानं प्रत्याख्यानम।

प्रतिक्रमण और उसके भेद

मूल—पंचविहे पडिक्कमणे पण्णत्ते, तं जहा—आसवदार-पडिक्कमणे, मिच्छत्त-पडिक्कमणे, कसाय-पडिक्कमणे, जोग-पडिक्कमणे भाव-पडिक्कमणे।८०।

छाया—पञ्चविधं प्रतिक्रमणं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आश्रवद्वार-प्रतिक्रमणं, मिथ्यात्व-प्रतिक्रमणं, कषायप्रतिक्रमणं, योगप्रतिक्रमणं, भाव-प्रतिक्रमणं।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—प्रतिक्रमण के पाच रूप बताए गए है, जैसे कि आश्रव-प्रतिक्रमण, मिथ्यात्व-प्रतिक्रमण, कषाय-प्रतिक्रमण, योग-प्रतिक्रमण और भाव-प्रतिक्रमण ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे प्रत्याख्यान का वर्णन किया गया है । प्रत्याख्यान में यदि कभी अतिक्रम आदि दोष लग जाए अर्थात् प्रत्याख्यान मे यदि किसी भी प्रकार की कोई त्रुटि रह जाए तो उस त्रुटि को दूर करने के लिये प्रतिक्रमण करना आवश्यक होता है । प्रतिक्रमण का अर्थ है, आत्मा यदि शुभयोग से अशुभयोग में, अप्रमाद से प्रमाद में भटक जाए तो उसे फिर शुभ योग में तथा अप्रमाद मे लौटा लाने की साधना करना । अकर्त्तव्य से निवृत्त होकर धर्म-ध्यान में अवस्थित होना, अतएव प्रतिक्रमण की परिभाषा करते हुए शास्त्रकार कहते है :—

"स्वस्थानाद्यत्परस्थानं, प्रमादस्यवशाद् गतम् ।
तत्रैव क्रमण भूय, प्रतिक्रमणमुच्यते ।"

अर्थात् प्रमादवश जब आत्मा निज गुणो को छोड़ कर पर-गुणो में भटक जाता है, उसका पुन. आत्मगुणो मे लौट आना ही प्रतिक्रमण कहलाता है । कुमार्ग से हटकर सन्मार्ग में आना द्रव्य-प्रतिक्रमण है और मिथ्यात्व आदि से निवृत्त होना भाव-प्रतिक्रमण है । प्रस्तुत सूत्र मे भाव-प्रतिक्रमण की ही व्याख्या की गई है ।

१. आश्रवद्वार-प्रतिक्रमण—आश्रव द्वार पाच है, जैसे कि प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह । इनसे सर्वथा निवृत्त होना अर्थात् मन से भी यदि इनकी ओर प्रवृत्ति हो गई हो तो उससे निवृत्ति पाना ही आश्रव द्वार-प्रतिक्रमण कहलाता है ।

२. मिथ्यात्व-प्रतिक्रमण—जानकर या अनजाने मे यदि अकस्मात् मिथ्यात्व मे प्रवृत्ति हो जाय एवं मानसिक शका-काक्षादि करणो से मिथ्यादर्शन-शल्य में प्रवृत्ति हो जाय तो उस दुष्प्रवृत्ति से निवृत्ति पाना ही मिथ्यात्व प्रतिक्रमण है ।

साधनाशील व्यक्ति का मन पहले तो दोषो से सर्वथा बच कर ही चलता है, फिर भी प्रमाद वश यदि वह किसी मिथ्यात्व-प्रवृत्ति में फंस जाता है तो उसे तुरन्त लौटा लाने का पुण्य प्रयास ही मिथ्यात्व-प्रतिक्रमण है ।

३. कषाय-प्रतिक्रमण—क्रोध, मान, माया, लोभ और राग-द्वेष रूप कषायो में आत्मा की प्रवृत्ति होजाए तो उनसे निवृत्ति पाना ही कषाय-प्रतिक्रमण है, क्योंकि सयम-साधना मे क्रोधादि विकार अत्यन्त घातक हैं, स्वल्प मात्रा में भी यदि कषायों में प्रवृत्ति हो जाय तो उस प्रवृत्ति से निवृत्त होना ही कषाय-प्रतिक्रमण का उद्देश्य है ।

४. योग-प्रतिक्रमण—मन, वचन और काया की यदि अशुभ योगों में प्रवृत्ति हो जाए तो उन अशुभ योगों से निवृत्त होना ही योग-प्रति-क्रमण है ।

५. भाव-प्रतिक्रमण—अपने द्वारा किए गए अशुभ कृत्यो की आलोचना, निन्दना एवं गर्हणा करना और प्रमाद का सेवन पुनः न करना ही भाव-प्रतिक्रमण है ।

मिथ्यात्व, अविरति; कषाय और अशुभयोग ये सब प्रमाद है। सयम-साधना मे प्रमाद यह सब से बड़ा दोष है, अतः प्रमाद को त्याग कर आत्म-स्वरूप में लौटना ही भाव-प्रतिक्रमण का लक्ष्य है। अप्रमत्त सयत के लिये सूक्ष्म दोष भी नेत्र में पडे हुए सूक्ष्म रजकण की तरह असह्य हैं, अतः सब प्रकार के दोषों से सर्वथा निवृत्त होना ही साधक का परम कर्त्तव्य है।

सूत्र-वाचना से लाभ

मूल—पंचहिं ठाणेहिं सुत्तं वाएज्जा, तं जहा—संगहट्ठयाए, उवग्गहणट्ठयाए, णिज्जरणट्ठयाए, सुत्ते वा मे पज्जवयाए भविस्सइ, सुत्तस्स वा अवोच्छित्तिणयट्ठयाए।

पंचहिं ठाणेहिं सुत्तं सिक्खिज्जा, तं जहा—णाणट्ठयाए, दंसणट्ठयाए, चरित्तट्ठयाए, वुग्गहविमोयणट्ठयाए, अहत्थे वा भावे जाणिस्सामीतिकट्टु।८१।

छाया—पञ्चभिः स्थानैः सूत्रं वाचयेत्, तद्यथा—संग्रहार्थतया, उपग्रहणार्थतया, निर्जरणार्थतया, श्रुतं वा मे पर्यवजातं भविष्यति, श्रुतस्य वा अव्यवच्छित्तिनयार्थतया।

पञ्चभिः स्थानैः श्रुतं शिक्षेत्, तद्यथा -ज्ञानार्थतया, दर्शनार्थतया, चारित्रार्थतया, व्युद्ग्रहविमोचनार्थतया, यथास्थान् वा भावान् ज्ञास्यामीति कृत्वा।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच कारणों से शिष्यों को सूत्र की वाचना देनी चाहिये, जैसे कि शिष्यों के भली-भांति संग्रह के लिये, उपग्रह अर्थात् शिष्य-वर्ग पर अनुग्रह पूर्वक उपकार करने के लिये, निर्जरा के लिये, सूत्रों को भली-भान्ति स्पष्ट करने के लिये, और सूत्रों की परम्परा का उच्छेद न होने देने के लिये।

पांच कारणों से सूत्रों का अध्ययन करे, जैसे कि ज्ञान के लिये, दर्शन के लिये, चारित्र के लिये, जन-मानस को मिथ्यात्व के अभिनिवेश से मुक्त करने के लिये और शास्त्र के यथार्थ तथ्यों को जानने के लिये।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में भाव-प्रतिक्रमण का वर्णन किया गया है, वह भाव-प्रतिक्रमण श्रुत-पूर्वक ही होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में श्रुत-ज्ञान रूप सूत्र एवं अर्थ की वाचना देने और शिक्षा ग्रहण करने के कारण

निर्दिष्ट किए गए है। शिष्यों को पढाते हुए गुरु के हृदय मे पांच उद्देश्यों में से कोई एक उद्देश्य तो अवश्य होता ही है, क्योकि विना उद्देश्य के कोई भी मनुष्य किसी भी क्रिया में प्रवृत्त नही होता, अतः गुरुजन भी किसी विशेष उद्देश्य से शिष्य को वाचना देते है। वाचना देने के क्या-क्या उद्देश्य हो सकते है, प्रस्तुत सूत्र में उन्ही उद्देश्यों को स्पष्ट किया गया है। वे उद्देश्य मुख्यतः पाच ही हैं। जिनका विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते है—

१. **संगहट्ठयाए**— शिष्यों के संग्रह के लिये अर्थात् शिष्यों के श्रुत-संग्रह के लिये। गुरु का यह भी एक उद्देश्य होता है कि मेरे शिष्यों में श्रुत-संग्रह हो जाएगा और ये शिष्य विद्वान् बन जाएगे। अथवा मैंने इन शिष्यों को संगृहीत किया है, अतः मेरा कर्तव्य है कि मैं इन्हे शास्त्राध्ययन कराऊं। अपने इस कर्तव्य की पूर्ति के लिये गुरुजन शिष्यो को पढाया करते हैं। शिष्य-संग्रह का यह भाव भी हो सकता है कि गुरुजन अपने मन में यह सोचकर भी शिष्यों को शास्त्रों का स्वाध्याय कराया करते हैं कि मेरी स्वाध्याय करवाने की प्रवृत्ति एवं प्रकृति को देखकर अनेक शास्त्राभ्यासी शिष्य मेरे पास इकट्ठे हो जाएगे, इस प्रकार शास्त्र-ज्ञान-प्रदान रूप कर्तव्य को मैं पूर्ण कर सकूगा।

२ **उवग्गहणट्ठयाए**—सूत्र की वाचना देने से मेरे शिष्य तप और संयम की आराधना करने में समर्थ हो जाएगे, दूसरों पर उपदेशादि के रूप में उपकार करने में समर्थ हो जाएगे, वे शास्त्रज्ञान से धर्म-बोध देने के योग्य बन जाएंगे, वे गण की मान-मर्यादा को सुरक्षित रख सकेंगे। इस प्रकार मैं शिष्यो का तथा गण का उपकार कर सकूगा, इस प्रयोजन के लिये गुरुजन शिष्यो को वाचना दिया करते है।

३. **णिज्जरणट्ठयाए** कुछ गुरु जन कर्म निर्जरा के उद्देश्य से भी वाचना दिया करते है, क्योंकि श्रुत-साहित्य के पढने से कर्मो की निर्जरा शास्त्र-सम्मत है। तप के १२ भेदो में दसवा भेद स्वाध्याय है, वाचना भी स्वाध्याय का ही एक रूप है, अतः वाचना को भी निर्जरा का कारण बतलाया गया है। स्वाध्याय आभ्यन्तर तप है और तप से कर्म-निर्जरा होती ही है।

४. **सुत्ते वा मे पज्जवयाए भविस्सइ**— कुछ गुरुजन इस प्रयोजन से शिष्यो को पढाते है कि इससे मेरा सूत्र-विषयक ज्ञान बढेगा, पढने की अपेक्षा पढाने से ज्ञान अधिक सुस्पष्ट एव विस्तृत होता है, यह सभी शिक्षा-शास्त्री स्वीकार करते है।

५ **सुत्तस्स वा अव्वोच्छित्तिणयट्ठयाए**—कुछ गुरुजन इस उद्देश्य से भी शिष्यो को पढ़ाते है कि सूत्रो के पढने-पढाने की परिपाटी नष्ट न हो जाए, पाठन पठन-शैली की परम्परा न टूट जाए, तथा चिरकाल तक ज्ञान की पावनी धारा प्रवाहित होती रहे, क्योकि अध्ययन-अध्यापन-व्यवस्था के ठीक चलते रहने पर ही श्रुत-ज्ञान की परम्परा चिर स्थायी रह सकती है।

उपर्युक्त पांच कारणो में साधु या गृहस्थ का नाम निर्देश न होने से यह ध्वनित होता है कि जिसमे पढाने की अच्छी योग्यता हो वही दूसरे को पढा सकता है। जिस प्रकार विद्वान् साधु गच्छ के लिये आधार-भूत होता है, उसी प्रकार विद्वान् श्रमणोपासक भी श्रीसघ के लिये आधाररूप बन जाता है। उक्त पांच कारणो में से चाहे जिस प्रयोजन से भी गुरु श्रुतसाहित्य का अध्यापन करता है, उसके पीछे संघ-कल्याण की कामना ही काम कर रही होती है। स्व-पर-कल्याण के अतिरिक्त इस मे श्रुत-भक्ति भी है। श्रुत-भक्ति ही भगवान की महाभक्ति है।

सूत्र के प्रथम भाग में वाचना देने के पांच उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है, अब सूत्र के दूसरे भाग में शिष्यो के द्वारा आगमो के अध्ययन के कारणों पर प्रकाश डाला जा रहा है। एक ही कार्य जब अनेक व्यक्ति करते हैं तो उसमें भी सबका उद्देश्य समान नहीं होता। यदि एक शिष्य किसी प्रयोजन का अवलम्बन लेकर अध्ययन करता है तो दूसरा अन्य किसी प्रयोजन का आश्रय लेकर अध्ययन करता है। परन्तु सूत्रकार ने शिष्यों के सभी प्रयोजनो का संकलन पांच उद्देश्यों में ही कर दिया है जैसे कि—

१. **णाणट्ठयाए**—कुछ शिष्य श्रुत-अध्ययन ज्ञानप्राप्ति के लिये ही करते है, क्योंकि श्रुत-अध्ययन से तत्त्वों का भली प्रकार निश्चय हो सकता है, जिस आगम का अध्ययन अभी तक गुरुमुख से नहीं किया गया उसके शास्त्रीय रहस्यो का परिज्ञान पढ़ने एवं सीखने से ही हो सकता है।

२. **दंसणट्ठयाए**—कुछ शिष्य सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिये स्वाध्याय किया करते है, तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को जानकर सम्यग्दर्शन दृढ हो सकता है। जब तक तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नही होता, तब तक सम्यग्दर्शन भी दृढ़ नही हो सकता है। अथवा श्रद्धा भक्ति से ओत-प्रोत होकर यह भगवान की वाणी है भले ही मेरी समझ मे आए या न आए किन्तु इसके पाठ मात्र से भी मेरा कल्याण हो जाएगा ऐसी भावना से भी सूत्र-स्वाध्याय करनेवाले शिष्य देखे जाते हैं।

३. **चरित्तट्ठयाए**—प्रत्येक आगम के अक्षर पद, चरण एवं गाथा ये सब चारित्र की शिक्षा देते हैं। आगमो मे चारित्र का क्या स्वरूप बताया गया है? चारित्र के सभी अंग-उपाङ्गों का वर्णन आगमो मे किस रूप मे प्राप्त होता है? चारित्र-विशुद्ध के क्या-क्या साधन बताए गए है? किन-किन तत्त्वों से चारित्र उत्तरोत्तर विशुद्ध होता है? और किन बाधक तत्त्वों से चारित्र मलिन एवं दूषित होता है? इत्यादि विषयो के परिज्ञान के लिये भी कुछ साधक स्वाध्याय किया करते है। स्वाध्याय करने से पदार्थ विज्ञान, आत्म-शान्ति और कर्म-निर्जरा ये तीनो एक साथ होते है।

४ **वुग्गहविमोयणट्ठयाए**—जो व्यक्ति मिथ्याहठ या विवाद पर अडे हुए है उनको उस द्वन्द्व से छुडाने के लिये श्रुताध्यन करना, उन्हे मिथ्यात्व से हटाकर सम्यग्दर्शन में नियोजित करना, यह भी श्रुताध्ययन का एक मुख्योद्देश्य है। श्रुत-अध्ययन भी साधक का बहुत बड़ा उपकारक है, क्योकि जो जीव अज्ञानता से संसार-चक्र मे परिभ्रमण कर रहे है उन्हे उस चक्र से मुक्त करने, सन्मार्ग में स्थापित करने और मोक्ष-पथ पर चलने के योग्य बनाने से बढकर और क्या उपकार हो सकता है? श्रुत-साहित्य सीखकर व्याख्या करने की सामग्री जुटाना अथवा शास्त्रार्थ करने की सामग्री जुटाना इन दो विधियों से दूसरे का मिथ्याभिनिवेश हटाया जा सकता है।

५. **अहत्थे वा भावे जाणिस्सामीति कट्टु**—कुछ शिष्य शास्त्रो का स्वाध्याय इस लिये भी करते है कि मैं पदार्थों के स्वरूप को भली-भान्ति जान सकू, द्रव्यो के गुणो और पर्यायो से सम्यक्तया परिचित हो सकू।

इस प्रसग पर शका हो सकती है कि जब पदार्थों का ज्ञान पहले चारो भेदो से भी हो जाता है तो क्या पाचवा भेद निरर्थक ही सिद्ध नही होता?

इस शंका के समाधान मे कहा जा सकता है कि भगवती सूत्र के तीसरे शतक के पांचवे उद्देशक में ज्ञान और विज्ञान ये दो पद आए है। ज्ञान शब्द सग्रह-नय से संबंध रखता है और विज्ञान व्यवहार-नय से।

जो पदार्थों का वोध सामान्य रूप से कराता है वह ज्ञान और जो पदार्थों के विविध भेदों का प्रदर्शक है वह विज्ञान है। सूत्र-वर्णित पहले चार रूप ज्ञान से सम्बन्धित हैं और पाचवां रूप है विज्ञान से संबंधित। स्वाध्याय की सफलता आत्मविकास और परोपकार मे ही है। प्रस्तुत सूत्र स्वाध्याय के द्वारा आत्म-विकास और परोपकार का मार्ग-दर्शन करा रहा है।

कल्पविमानों की ज्ञातव्य बातें

मूल—सोहम्मीसाणेसु णं कप्पेसु विमाणा पंच वण्णा पण्णत्ता, तं जहा—किण्हा जाव सुक्किला।

सोहम्मीसाणेसु णं कप्पेसु विमाणा पंचजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता।

बंभलोगलंतएसु णं कप्पेसु देवाणं भवधारणिज्जसरीरगा उक्कोसेणं पंच-रयणी उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता।

नेरइया णं पंचवण्णे, पंचरसे, पोग्गले बंधिंसु वा, बंधंति वा, बंधिस्संति वा, तं जहा—किण्हे जाव सुक्किले, तित्ते जाव महुरे। एवं जाव वेमाणिया।८२।

छाया—सौधर्मेशानयोः कल्पयोर्विमानाः पञ्चवर्णाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृष्णाः यावत् शुक्लाः।
सौधर्मेशानयो. कल्पयोः विमानाः पञ्चयोजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ताः।
ब्रह्मलोकलान्तकयोः कल्पयोर्देवानां भवधारणीयशरीराण्युत्कर्षेण पञ्चरत्नय ऊर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ताः।
नैरयिका· पञ्च वर्णान् पञ्च रसान् पुद्गलानवध्नन् वा. बध्नन्ति वा, बन्धिष्यन्ति वा, तद्यथा—कृष्णान् यावत् शुक्लान्, तिक्तान् यावत् मधुरान्। एवं यावत् वैमानिका.।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सौधर्म और ईशान कल्पो के विमान पाच वर्णोवाले कथन किये गए हैं, जैसे—कृष्ण से लेकर शुक्ल तक।

सौधर्म और ईशान कल्पों के विमान पांच सौ योजन ऊंचे कथन किये गए हैं।

ब्रह्मलोक और लान्तक कल्पो में देवों का भवधारणीय शरीर उत्कृष्ट पांच रत्नि (मुष्टिवन्ध हस्त) ऊंचे कथन किये गए हैं।

नारकी जीव पांच वर्णवाले और पाच रसवाले पुद्गलो को भूतकाल में बांधते रहे, वर्तमान काल में बांध रहे हैं और भविष्य मे बाधेंगे,

जैसे—कृष्ण से लेकर शुक्ल तक, तिक्त से लेकर मधुर तक। इसी प्रकार वैमानिक देवों तक समझना चाहिये।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में वाचना देने और लेने के उद्देश्यो पर प्रकाश डाला गया है। वाचना-प्रभाव से महान् आत्माएं देवलोकों के विमानों में भी पहुंचती हैं और वाचना-वंचित आत्माएं पतनोन्मुख होती हुई अन्त में नरकावासो की ओर भी उन्मुख होती है, अतः प्रस्तुतसूत्र देवलोकों के विमानो आदि के वर्णों का तथा नारकियों द्वारा बाधे जानेवाले पुद्गलों आदि का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

पहले और दूसरे देवलोक मे विमानों के रंग पाच प्रकार के होते हैं, कुछ विमान काले वर्ण के, कुछ नीले वर्ण के, कुछ पीले वर्ण के, कुछ लाल वर्ण के और कुछ सफेद वर्ण के हुआ करते है और वे विमान पाच सौ योजन ऊचे हैं। ब्रह्मलोक और लांतक अर्थात् पांचवें और छट्ठे देवलोक में रहने वाले देवो के भवधारणीय शरीर की ऊचाई पांच हाथ की होती है।

नारकी जीवों ने अतीत काल में पाच वर्णवाले पुद्गलों को तथा पांच रसवाले पुद्गलो को कर्म-रूप में बंध किया, वर्तमान में बंध कर रहे हैं और भविष्य में बंध करेंगे। चौबीस दंडको में इसी प्रकार की स्थिति जान लेनी चाहिए। यद्यपि पचम स्थान के अनुरोध से गध और स्पर्श का ग्रहण नहीं किया, तदपि उपलक्षण से उनका ग्रहण भी कर लेना चाहिए। २०

पांच-पांच महानदियों का सगम

मूल—जंबूद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं गंगा महाणइं पंच महाणईओ समप्पेंति, तं जहा—जउणा, सरऊ, आदी, कोसी, मही।

जंबूमंदरस्स दाहिणेणं सिंधुमहाणइं पंच महाणईओ समप्पेंति, तं जहा—सतद्दू, विभासा, वितत्था, एरावई, चंदभागा।

जंबूमंदरस्स उत्तरेण रत्ता महाणइं पंच महाणईओ समप्पेंति, तं जहा—किण्हा, महाकिण्हा, नीला, महानीला, महातीरा।

जंबूमंदरस्स उत्तरेणं रत्तावइं महाणइं पच महाणईओ समप्पेंति, तं जहा—इंदा, इंदसेणा, सुसेणा, वारिसेणा, महाभोगा।८३।

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणेन गङ्गा महानदीं पञ्च महानद्यः समाप्नुवन्ति, तद्यथा—यमुना, सरयू, आदी, कोशी, मही।

जम्बूमंदरस्य दक्षिणेन सिंधुमहानदीं पञ्चमहानद्यः समाप्नुवन्ति, तद्यथा—शतद्रु, विभाषा, वितस्ता, इरावती, चन्द्रभागा।

जम्बूमन्दरस्योत्तरेण रक्तां महानदीं पञ्चमहानद्यः समाप्नुवन्ति, तद्यथा—कृष्णा, महाकृष्णा, नीला, महानीला, महातीरा।

जम्बूमन्दरस्योत्तरेण रक्तावतीं महानदीं पञ्चमहानद्यः समाप्नुवन्ति, तद्यथा—इन्द्रा, इन्द्रसेना, सुषेणा, वारिषेणा, महाभोगा।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत के दक्षिण की ओर भरतक्षेत्र में गङ्गा महानदी में पांच महानदियां मिलती है, जैसे—यमुना, सरयू, आदी, कोसी, मही।

जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत के दक्षिण की ओर सिन्धु महानदी में पांच महानदियां मिलती है, जैसे—शतद्रु, विभाषा, वितस्ता, इरावती, चन्द्रभागा।

जम्बूद्वीप मे मेरु पर्वत के उत्तर की ओर रक्ता महानदी में पाच महानदियां मिलती है, जैसे—कृष्णा, महाकृष्णा, नीला, महानीला महातीरा।

जम्बूद्वीप मे मेरुपर्वत के उत्तर की ओर रक्तावती नदी मे पांच महानदियां मिलती है, जैसे—इन्द्रा, इन्द्रसेना, सुषेणा, वारिषेणा, महाभोगा।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में साधक के प्राप्तव्य विमानो और साधना के अभाव मे प्राप्त होनेवाले नरकों का साकेतिक वर्णन किया गया है। नदियां मनुष्य लोक मे ही होती हैं। प्रस्तुत सूत्र में जिस-जिस महानदी में पांच-पाच महानदिया समाविष्ट होती है उन का कुछ परिचय प्रस्तुत सूत्र में किया जा रहा है।

मध्यलोक के ठीक मध्यभाग मे जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरत और ऐरावत क्षेत्र मे क्रमशः गंगा और सिंधु तथा रक्ता और रक्तावती ये चार महानदियां हैं। प्रत्येक महानदी मे पांच-पाच महानदिया सम्मिलित होती है जैसे कि—

जम्बूद्वीप के अन्तर्गत मन्दिर पर्वत से दक्षिण की ओर भारतवर्ष के उत्तर प्रदेश में गगा महानदी बहती है उसमे यमुना, सरयू, आदी, कोशी और मही ये पाच महानदिया मिलती हैं।

इसी प्रकार उत्तरी भारत की सिंधु महानदी मे शतद्रु अर्थात् सतलुज, विभासा अर्थात् व्यास, वितस्ता अर्थात् जेहलम, इरावती अर्थात् रावी और चन्द्रभागा अर्थात् चनाव ये पांच नदिया मिलती हैं। पहली पांच महानदियां पूर्व दिशा में बहती हैं तथा पांच महानद पंजाब देश मे हैं जो कि सिंधु महानदी में मिलते हैं।

जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में गंगा महानदी और सिंधु महानदी का मूल स्रोत चुल्लहिमवान् पर्वत पर पद्म महाह्रद बतलाया गया है। हो सकता है पामीर पठार से लेकर बद्रीनारायण से उत्तर की ओर

विद्यमान नारायण पर्वत तक का प्रदेश हो चुल्लहिमवान हो, क्योंकि सिन्धु का उद्गम स्थल पामीर है और गंगा का उद्गम स्रोत नारायण पर्वत आधुनिक भूगोल-सम्मत है। सूत्र मे वर्णित नदी-सगम की शेष बातो का आधुनिक स्थिति से मेल यह मानने के लिये प्रेरित करता है।

जंबूद्वीप के मन्दर पर्वत से उत्तर की ओर ऐरावत क्षेत्र है उसमें रक्ता और रक्तवती ये दो महानदियां बहती है। कृष्णा, महाकृष्णा, नीला, महानीला और महानीरा ये पाच महानदियां रक्ता महानदी में मिलती है और इन्द्रा, इन्द्रसेना, सुसेना, वारिसेना और महाभोगा ये महानदियां रक्तावती महानदी में मिलती हैं।

कुमार-वास में प्रव्रजित तीर्थंकर

मूल—पंच तित्थगरा कुमारवासमज्झे वसित्ता मुंडा जाव पव्वइया, तं जहा—वासुपुज्जे, मल्ली, अरिट्ठनेमी, पासे, वीरे।८४।

छाया—पञ्च तीर्थङ्करा कुमारवासमध्ये उषित्वा मुण्डा यावत् प्रव्रजिताः, तद्यथा—वासुपूज्यः, मल्लिः, अरिष्टनेमिः, पार्श्वः, वीरः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच तीर्थङ्कर कुमारवास मे रहकर मुण्डित एवं प्रव्रजित हुए जैसे—वासुपूज्य, मल्लिनाथ, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ, वर्धमान-महावीर।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में वर्णित भरत क्षेत्र में १६ तीर्थङ्कर राज्य शासन के कर्त्तव्यों का पालन करके दीक्षित हुए हैं, जबकि बारहवें वासुपूज्य जी, उन्नीसवे मल्लिनाथ जी, बाईसवें अरिष्टनेमि जी, तेईसवे पार्श्वनाथ जी और चौबसवे वर्धमान महावीर कुमारवास में ही अर्थात् राज्यभार स्वीकार किये बिना ही गृहवास को छोड़कर दीक्षित हुए है।

कुमार शब्द का प्रयोग उसके लिये किया जाता है जिसने राजगद्दी को अलकृत न किया हो जैसे कि युवराज, युवराज भले ही विवाहित भी हो फिर भी वह राजकुमार ही कहलाता है, राजा नही। अतः इस स्थान पर भी कुमार शब्द राजपद के अभाव का ही द्योतक है।[1]

सभी तीर्थङ्करो ने राजकुलो में ही जन्म लिया, राज्यभोग करते हुए ही संसार की वास्तविकता को पहचाना और उसका त्याग किया, परन्तु श्री वासुपूज्य, श्री मल्लिनाथ, श्री अरिष्टनेमि, श्री पार्श्व-

---

1. 'कुमाराणामराजभावेन वासः कुमारवासः, त "अज्झावसित्त त्ति अध्युष्येति"। इतिवृत्तिकार।

नाथ और श्री वर्धमान महावीर की यह महती साधना है कि वे राज्य-सत्ता के जाल-जंजाल में फसने से पूर्व ही प्रव्रजित हो गए ।

इन्द्र की पांच सभाएं

मूल—चमरचंचाए रायहाणीए पंच सभा पण्णत्ता, तंजहा—सभासुहम्मा, उववायसभा, अभिसेयसभा अलंकारियसभा, ववसायसभा । एगमेगेणं इंदट्ठाणे पंच सभाओ पण्णत्ताओ तं जहा—सभा सुहम्मा जाव ववसायसभा ।८५।

छाया—चमरचञ्चायां राजधान्यां पञ्च सभाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा सभासुधर्मा, उपपातसभा, अभिषेकसभा अलंकारिकसभा, व्यवसायसभा । एकैकस्मिन् इन्द्रस्थाने पञ्च सभाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा सभा सुधर्मा यावत् व्यवसायसभा ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—चमरचञ्चा की राजधानी में पांच सभाए है, जैसे—सुधर्मसभा, उपपात सभा, अभिषेक-सभा, अलङ्कारिक-सभा, व्यवसाय-सभा । प्रत्येक इन्द्रस्थान मे पांच सभाएं है, जैसे—सुधर्मा सभा से लेकर व्यवसाय सभा तक ।

विवेचनिका—

कुमारवास प्रव्रजित भगवान महावीर ने सभी इन्द्र स्थानों में पंच सभाओं का निर्देश किया है—चमरेन्द्र की चमरचचा राजधानी मे पाच सभाए हैं, जैसे कि—

१. सुधर्मा-सभा—जहां पर इद्र का दरबार लगता है, राज्य-व्यवस्था सम्बन्धी निर्णय दिया जाता है, जहा समिया, चडा, जाया आदि तीन प्रकार की परिषदे लगती हैं वही सुधर्मा सभा कहलाती है ।

२. उपपातसभा—जिसमें इंद्र, देव और देविया ये सब उत्पन्न होते हैं ।

३. अभिषेक-सभा—जहा इन्द्र का राज्याभिषेक होता है ।

४ अलंकारिक-सभा—जहा इन्द्र या देव अलकारो से अलकृत होते हैं ।

५. व्यवसाय-सभा—जिसमें राजनीति एव धर्मनीति की पुस्तके पढ़कर अर्थ का निश्चय किया जाता है ।

जिस स्थान, भवन, नगर एवं विभाग में इंद्र रहता है उसे इन्द्रस्थान कहते है । सभी इन्द्र स्थानों मे पाच प्रकार की सभाएं होती है । जिनके नाम पूर्वोल्लिखित है ।[1]

1. इनका विशेष-वर्णन राजप्रश्नीय सूत्र व विजयदेव के अधिकार मे जीवाभिगम सूत्र से जानना चाहिए ।

पांच तारक युक्त नक्षत्र

मूल—पंच णक्खत्ता पंचतारा पण्णत्ता, तं जहा—धणिट्ठा, रोहिणी, पुणव्वसू, हत्थो, विसाहा ।८६।

छाया—पञ्च नक्षत्राणि पञ्चतारकानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—धनिष्ठा, रोहिणी, पुनर्वसुः, हस्तः, विशाखा ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पांच नक्षत्र पांच तारोंवाले वर्णन किये गए है, जैसे—धनिष्ठा, रोहिणी, पुनर्वसु, हस्त, विशाखा ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में देवसभाओं का वर्णन किया गया है नक्षत्र और तारे भी देवाधिष्ठित हुआ करते हैं अतः प्रस्तुत सूत्र में पंचम स्थान के अनुरोध से उन नक्षत्रो का उल्लेख किया गया है जिन का पांच पांच तारों का परिवार है । नक्षत्र भी आत्मा के उत्थान में निमित्त कारण होते है जैसे कि पार्श्वनाथ जी के पांचों कल्याणक विशाखा नक्षत्र मे हुए वैसे ही अन्य-अन्य नक्षत्रों के सदर्भ में भी जान लेना चाहिए। साधना के उच्चतम शिखरों पर आसीन ज्ञानियो की ऊर्ध्व दृष्टि जब देवलोकों के मार्ग का निरीक्षण करती है तो मार्ग में अवस्थित खगोल-स्थिति अनायास ही प्रत्यक्ष हो उठती है । ज्योतिर्विद तो गणितानुमान से ही खगोल का वर्णन करते है, जबकि केवलज्ञानी प्रत्यक्ष प्रमाण से वर्णन किया करते है। अतः यह वर्णन ज्योतिष-शास्त्र को समर्थन ही नही यत्किंचित् प्रामाणिकता भी प्रदान करता है ।

धनिष्ठा आदि नक्षत्रों का अपना-अपना आकाशीय प्रदेश है, उसी प्रदेश तक उनके विकर्षण की सीमाएं होती है । उस सीमा में कुछ अन्य छोटे-छोटे तारे भी विद्यमान हैं । अत प्रस्तुत सूत्र में उन नक्षत्रो का नामोल्लेख किया गया है जिनकी आकर्षण-विकर्ष और प्रभाव सीमा मे पांच-पाच तारक विद्यमान है ।

पाप-कर्म-संचित पुद्गल

मूल—जीवाणं पंचट्ठाणणिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा, तं जहा—एगिंदियनिव्वत्तिए जाव पंचिंदियनिव्वत्तिए ।
एवं चिण, उवचिण, बध, उदीर, वेद तह णिज्जरा चेव ।
पंच पएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता, पंच पएसोगाढा पोग्गला अणंता पण्णत्ता जाव पंचगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता ।८७।

छाया—जीवाः पञ्चस्थाननिर्वर्तितान् पुद्गलान् पापकर्मतया—अचिन्वन् वा, चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, तद्यथा—एकेन्द्रियनिर्वर्तितान् यावत् पञ्चेन्द्रियनिर्वर्तितान्। एव चिणं-उपचिणं, बन्धः, उदीरः, वेदः, तथा निर्जरा चैवः। पञ्चप्रादेशिका स्कन्धाः अनन्ताः प्रज्ञप्ता, पञ्चप्रदेशोगाढाः पुद्गला अनन्तः प्रज्ञप्ता।
यावत् पञ्चगुणरूक्षाः पुद्गला अनन्ताः प्रज्ञप्तः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—संसारी जीव पांच कारणों से निष्पादित पुद्गलों को पाप कर्म के रूप मे भूत काल में एकत्रित करते रहे, वर्तमान में कर रहे है और भविष्य मे करते रहेगे, जैसे—एकेन्द्रियनिष्पादित यावत् पञ्चेन्द्रिय निष्पादित। इसी प्रकार संचय करना, बार-बार संचय करना, बन्ध, उदीरणा, वेदन और निर्जरा के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए।

पाच प्रदेशोंवाले स्कन्ध अनन्त कथन किये गए है। आकाश के पांच प्रदेशो को अवगाहन करके रहनेवाले पुद्गल भी अनन्त है, यावत् पांच गुणरूक्ष स्पर्श वाले पुद्गल भी अनन्त कथन किये गए है।

विवेचनिका—

देव भी पापकर्मों के रूप में पुद्गलो का सचय करते है। अत. प्रस्तुत सूत्र में जो जीव भूत, भविष्यत् और वर्तमान मे पाप-कर्म के रूप मे पुद्गलो का सचय करते हैं उनका उल्लेख किया गया है।

ससार मे जितने भी विकसित और अविकसित प्राणी है उन सबका विभाजन पांच जातियो मे किया गया है जैसे कि एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति और पचेन्द्रिय जाति। जीवो ने इन जातियो मे उत्पन्न होकर पूर्वकाल मे कर्म-पुद्गलो का सचय किया, वर्तमान मे कर रहे हैं और भविष्य मे भी करते रहेगे। किसी एक जाति मे रहे हुए एक ही जीव ने ही नही, अपितु पृथक्-पृथक् जीवो ने पांच जाति के रूप मे पाप कर्मो का संग्रह किया, कर रहे है और करेंगे इसलिए सूत्रकार ने बहुवचन पद दिया है। इसी प्रकार कर्मों का चय, उपचय, बंध, उदीरणा, वेदना तथा निर्जरा भी उपर्युक्त पाचो जातियो के जीवो ने किया है, कर रहे हैं और करते रहेगे।

पांच परमाणुओ के समुदाय को पच प्रदेशी स्कध कहते हैं। पाच प्रदेशी स्कध लोक मे अनंत हैं। आकाश के पाच प्रदेशो पर अवस्थित पुद्गल भी अनत है। पाच समय की स्थिति वाले पुद्गल भी अनन्त है। पांच गुण-रूक्ष पुद्गल भी अनत हैं। इस पद मे सभी वर्ण सभी गंध, सभ रस और सभी स्पर्शों का ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र मे पदार्थों के स्वरूप का द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव को लक्ष्य मे रखकर सूत्रकर्त्ता ने सुन्दर वर्णन किया है।

॥ इति पञ्चमं स्थानम् ॥

स्थान षष्ठ

१—उद्देशक

प्रथम उद्देशक

इस उद्देशक में

प्रस्तुत षष्ठ स्थान में गणाधिपति-गुण, निर्ग्रन्थी स्पर्श, छद्मस्थ अज्ञेय, केवली-ज्ञेय, ऋद्धि-अप्राप्तिकरण, जीव-निकाय, षट्तारक-ग्रह, जीव की गति-आगति, जीव भेद, तृण वनस्पतिकाय, सुलभ-दुर्लभ-स्थान, इन्द्रिय-विषय, संवर, आस्रव, सुख.दुख, प्रायश्चित्त, मनुष्यभेद, ऋद्धिमान् मनुष्य, अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल, भरत-ऐरावत क्षेत्रों में मनुष्य की ऊंचाई, संहनन, संस्थान, उन्माद, जाति-आर्य, लोक, दिशा, आहार, और अनाहार के कारण, प्रमाद, प्रमाद प्रतिलेखना, ईशानेन्द्र परिषद्-स्थिति, दिक्कुमारियां, धरणेन्द्र-अग्रमहिषियां, सामानिक देव, अवग्रहमति, क्षुद्रप्राणी, गोचरी, घृणित नरक, ब्रह्म-लोक विमान-प्रस्तर, चन्द्र नक्षत्रों की योगस्थिति, अभिचन्द्र-कुलकर, भरत-राज्य-काल, श्री पार्श्वनाथ की वादी सम्पदा, संयम, असंयम, अकर्मभूमि, ऋतु, तिथिक्षय, तिथि-वृद्धि, आभिनिबोधिक ज्ञान का-अर्थावग्रह, अवधिज्ञान के भेद, अकथनोय वचन, कल्प-प्रस्तार, कल्प-पलिमन्थु, कल्पस्थिति, महावीर के तीन षष्ठभक्त, तप के भेद, कल्प-विमान, भोजन-परिणाम, विषपरिणाम, उत्कृष्ट विरहकाल, प्रश्न, आयुबन्ध, आयुबंधकाल, भाव, कृत्तिका नक्षत्र-तारक, जीव के पुद्गल-ग्रहण-स्थान आदि की षट्विधता का विस्तृत वर्णन किया गया है।

षष्ठस्थान

सामान्य-परिचय

स्थानाङ्ग-सूत्र के छट्ठे स्थान मे एक ही उद्देशक है और इसमे विविध दृष्टियो से उन पदार्थो एव तथ्यो का वर्णन किया गया है जिनकी सख्या न तो छ. से अधिक है और न ही कम।

गणी के गुण

मूल—छहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ गणं धारित्तए तं जहा—सड्ढी पुरिसजाए, सच्चे पुरिसजाए, मेहावी पुरिसजाए, बहुस्सुए पुरिसजाए, सत्तिमं, अप्पाहिगरणे। १।

छाया—षड्भिः स्थानैरनगारोऽर्हति गणं धारयितुम्, तद्यथा—श्रद्धावत्पुरुषजातं, सत्यपुरुषजातं, मेधाविपुरुषजातं, बहुश्रुतपुरुषजातं, शक्तिमान्, अल्पाधिकरणः।

शब्दार्थ—**छहिं ठाणेहिं**—छह स्थानो से, **सपन्ने**—सम्पन्न, **अणगारे**—अनगार साधु, **गणं धारित्तए**—गच्छ को धारण करने के लिये, **अरिहइ**—योग्य होता है, **तं जहा**—जैसे कि, **सड्ढी पुरिसजाए**—श्रद्धालु पुरुष, **सच्चे पुरिसजाए**—सत्य का आचरण करनेवाला पुरुष, **मेहावी पुरिसजाए**—मेधावी पुरुष, **बहुस्सुए पुरिसजाए**—बहुश्रुत पुरुष, **सत्तिमं**—शक्ति वाला, **अप्पाहिगरणे**—कलह रहित।

मूलार्थ—छह गुणों से युक्त अनगार गण को धारण करने मे समर्थ होता है, जैसे कि वह श्रद्धालु हो, सत्य आचरण करनेवाला हो, मेधावी हो, बहुश्रुत हो, शक्तिमान् और कलह से रहित हो।

विवेचनिका—

पचम स्थान में जड, चेतनादि अनेक पदार्थो की पंच विधता बताई गई है अत्र सख्या के क्रम से छट्ठा स्थान प्राप्त हुआ। छट्ठे स्थान में जीव और अजीव का वर्णन तथा उनके गुणो का उल्लेख छः-छः सख्या के अनुसार वर्णित है।

इस सूत्र मे निर्देश किया गया है कि छः गुणो से सम्पन्न अनगार गण अर्थात् गच्छ को धारण करने मे समर्थ हो सकता है। गच्छ को मर्यादा में रखना, उसकी सार-सभाल करना, मिथ्यादृष्टि एव आततायियो से उसकी रक्षा करना, सब तरह से गण को समुन्नत बनाना श्रेष्ठ एव वरिष्ठ मुनिवरो का ही कार्य है। आचार्य, उपाध्याय, गणी, प्रवर्त्तक आदि मुनिवर गण के अधिकारी माने जाते है। एक वे मुनि होते है जो अपना कल्याण स्वय कर सकते है किन्तु अपने जैसे अन्य साधको की देखभाल नही कर सकते, और दूसरे वे है जो अपना कल्याण भी कर सकते है और अन्य साधको का भी। इन मे से दूसरे प्रकार के मुनिवर ही गण के अधिकारी हो सकते है। उनमे भी जो मुनीश्वर छः गुणो से सम्पन्न है, वे ही वास्तव मे गण के अधिपति हो सकते है। वे छः गुण निम्नलिखित है—

१. **श्रद्धावान्**—जिसकी, देव, गुरु धर्म, जिनवाणी, श्रुतधर्म, चारित्र-धर्म तथा नवतत्त्वो पर दृढनिष्ठा है, वही श्रद्धावान कहलाता है। जब अधिकारी जन श्रद्धावान होगे, तभी अनुयायीवर्ग श्रद्धावान हो सकता है। जो श्रद्धावान नही है न वह स्वय मर्यादा मे रह सकता है और न दूसरो को मर्यादा मे रख सकता है। कारण कि श्रद्धा ही जीवन को स्खलित होने से बचाती है, श्रद्धा ही आपत्काल से विमुक्त कराती है और धर्मश्रद्धा सासारिक सुखो की आसक्ति से मुक्त कर वैराग्य को सुदृढ करती है।' अत. सम्यग्दर्शन सपन्न पुरुष ही गण को धारण एव पालन मे समर्थ होता है।

२. **सत्यपुरुषजात**—गण को धारण—पालन करनेवालो मे दूसरा गुण सत्यवादिता है जो जीवो के हित के लिये हो वह सत्य कहलाता है। बोलने और लिखने के समय जो सदैव सत्य का ही ध्यान रखता है वही गण की व्यवस्था बनाए रख सकता है। प्रतिज्ञा शूर व्यक्ति को ही सत्यपुरुष-जात कहा जाता है। सत्य-पुरुषजात आपत्तिकाल मे भी सत्य से विमुख नही होता वह अपने कर्त्तव्य के प्रति सदैव सजग रहता है, प्रबुद्ध रहता है। सत्य की रक्षा के लिये सबसे पहले क्रोध, लोभ, भय-परिहास आदि विकारो का बलिदान करना जरूरी हो जाता है। सत्य की रक्षा के लिये प्राणो की बाजी लगाना भी जिसके लिये कठिन नही है वही सत्य पुरुष गण को सुव्यवस्थित रख सकता है।

३. **मेधावी पुरुषजात**—जो अनगार बुद्धिमान है, जिसकी धारणा शक्ति तीव्र है, स्मरण-शक्ति प्रबल है वही मेधावी है अथवा सम्यग्दर्शन और सयम की मर्यादा को लिए हुए जिसकी बुद्धि ज्ञेय की ओर दौड़ लगाती है, उसे मेधावी कहते है। मेधावी व्यक्ति ही श्रुतग्रहण करने मे समर्थ होता है। वही शिष्यो को आगमो का अध्ययन कराने मे समर्थ होता है। अत: जो मेधावी है वही गच्छ मे रहे हुए साधको को उन्नति के शिखर पर पहुजाने मे समर्थ हो सकता है।

४. **बहुश्रुत**—स्वमत तथा परमत के शास्त्रो का जो पारगत है, उसे बहुश्रुत कहते है। जिसका जीवन ही शास्त्रमय हो गया है, जिसका प्रत्येक वाक्य शास्त्र अनुरजित होता है, वही दूसरे का भी कल्याण कर सकता है। जो दीपक की तरह स्वय प्रकाशमान है, वही दूसरे को प्रकाशित कर सकता है। बहुश्रुत ही जानते है कि इस साधक की श्रद्धा, भावना, बुद्धि, शक्ति, प्रवृत्ति किस प्रकार की है? उसके अनुसार वे आज्ञा व धारण के द्वारा सयम मे प्रवृत्त कराते है। जो श्रुतसाहित्य का प्रकाड विद्वान है वही वस्तुत· गण का अधिकारी हो सकता है। क्योकि जो ज्ञान से रहित है, वह ससार का उच्छेद करने वाली ज्ञान आदि सपत्ति का अधिक मे अधिक सचय कैसे कर सकता है? जो अगी-

तार्थ है वह गण मे रहे हुए बाल-वृद्ध मुनियो की रक्षा कैसे कर सकता है ? अतः गण के अग्रमान्य अधिकारी बहुश्रुत अनगार ही हो सकते है।

५. **शक्तिमान्**—शक्ति अनेक प्रकार की होती है, जैसे कि प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति, उत्साहशक्ति, दिव्यशक्ति, तत्रशक्ति, यत्रशक्ति, परिवारशक्ति और विद्याशक्ति इत्यादि। इन शक्तियों से जो यथा सभव सशक्त है वही गण का प्रमुख हो सकता है, क्योकि शक्ति से ही सघ और धर्म की रक्षा हो सकती है। जो शक्तिमान है, वही आई हुई आपत्ति से गच्छ को और अपने को बचा सकता है।

६. **अल्पाधिकरण**—इस पद मे अल्प शब्द अभाव का द्योतक है और अधिकरण शब्द कलह का बोधक है। जो अनगार कलह से रहित है वही गण की रक्षा कर सकता है। क्योकि कलह गच्छ की हानि करनेवाला है, अत· कलह प्रिय व्यक्ति न स्वय शान्ति मे रहता है और न दूसरों को शान्ति मे रहने देता है। इस कारण उसे वृद्धि के स्थान पर केवल हानि ही उठानी पडती है। ग्रथान्तर में गण-स्वामी के अन्य गुण भी वर्णित किए गए हैं—

"सुत्तत्थे निम्माओ पियदढधम्मोऽणुवत्तणाकुसलो।
जाइ कुल संपन्नो गंभीरो लद्धिमंतो य॥
संगहुवग्गहनिरओ कयकरणो पवयणाणुरागी य।
एवं विहो उ भणिओ गणसामी जिणवरिंदेहिं॥"

अर्थात्—जो सूत्र और अर्थ मे कुशल है, प्रियधर्मी और दृढ धर्मी है, अनुवर्तना मे निपुण है, जाति और कुल से सपन्न है, गभीर एव लब्धि-सपन्न है, सग्रह और उपकार करने मे कुशल है, कृत करण में चतुर है, प्रवचनानुरागी है, इस प्रकार के गुणो से सपन्न अनगार ही गण का स्वामी हो सकता है। ऐसा तीर्थङ्करो का कथन है।

ये सब गुण उक्त छ: गुणो मे हो अतर्भूत हो जाते है। जो गण स्वामी छः गुणो से सपन्न है वही स्वय तथा अन्य भव्य प्राणियो को ससार सागर से पार करने मे तथा शासनोन्नति मे सफल हो सकता है।

निर्ग्रन्थ द्वारा निर्ग्रन्थी का अदोष स्पर्श

मूल—छहिं ठाणेहिं निग्गंथे निग्गंथि गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ, तं जहा—खित्तचित्तं, दित्तचित्तं, जक्खाइट्ठं, उम्मायपत्तं, उवस्सग्गपत्तं, साहिगरणं। २।

छाया—षड्भिः स्थानैर्निग्रन्थो निर्ग्रन्थी गृह्णन् वा, अवलम्बमानो वा नातिक्रामति, तद्यथा—क्षिप्तचित्तां, दृप्तचित्तां, यक्षाविष्टाम्, उन्मादप्राप्तां, उपसर्गप्राप्तां, साधिकरणाम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छः कारणों से निर्ग्रन्थ मुनि साध्वी का स्पर्श करता हुआ एवं हाथ से उसे सहारा देना हुआ भगवदाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है, जैसे—यदि साध्वी क्षिप्तचित्त अर्थात् शोक से पागल भी हो रही हो, दृप्तचित्त—हर्षादि से पागल हो गई हो, भूत आदि के आवेश से युक्त हो, उन्माद से ग्रस्त हो, उपसर्गों से घिरी हो और कलह के कारण उद्विग्न हो।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में गण-धारक अर्थात् गणी आचार्य आदि वरिष्ठ मुनिवर के गुण बतलाए गए है। आचार्य की आज्ञा के अनुसार कभी भी किसी मुनि को साध्वी-स्पर्श का अधिकार नही है, फिर भी सूत्र निर्दिष्ट परिस्थितियो मे यदि साधु साध्वी का स्पर्श कर लेता है तो वह आचार्य की एव जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का उल्लघन नही करता। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

साधु किसी भी स्त्री का स्पर्श नही कर सकता, भले ही वह राज-माता ही क्यो न हो, किन्तु प्रस्तुत सूत्र मे निर्दिष्ट छः कारणो के उपस्थित हो जाने पर करुणा बुद्धि से या साध्वी के सयम की रक्षा के लिये यदि साधु किसी साध्वी को हाथ आदि का सहारा देते हुए उसका स्पर्श कर भी लेता है तो वह आचार्य की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

जो साध्वी शोक के क्षिप्तचित्त वाली हो, हर्ष से दृप्तचित्त वाली हो, देवाधिष्ठित हो, वात आदि के कारण मस्तिष्क का सन्तुलन खो बैठी हो, किन्ही भयकर विघ्न-बाधाओ से घिरी हुई हो, कलह के कारण कही जाने के लिये उद्यत हो रही हो तो उसकी तथा उसके सयम की रक्षा के लिये उसका स्पर्श करके और उसे धर्म-शिक्षा देकर सयम मे स्थिर करने का प्रयास करता हुआ साधु साधुत्व के मार्ग से भ्रष्ट नही माना जा सकता।

प्रस्तुत सूत्र के **"क्षिप्त-चित्ता"** और **"दृप्तचित्ता"** शब्दो का अन्तर ध्यान मे रखने योग्य है। क्षिप्तता कष्टों से उत्पन्न होती है, और दृप्तता अहकार से। कष्ट और अहकार दोनो ही मनुष्य को पागल बना देते है। अत. दोनो से बचने का प्रयास साधक के लिये आवश्यक है।

कालगत स्वधर्मी के लिये निर्दोष साधुक्रियाएं

मूल—छहिं ठाणेहिं निग्गंथा निग्गंथीओ य साहम्मियं कालगयं समायरमाणा णाइक्कमंति, तं जहा—अंतोहिंतो वा बाहिं णीणेमाणा, बाहिंतो वा

निव्वाहिं णीणेमाणा, उवेहमाणा वा, उवासमाणा वा, अणुन्नवेमाणा वा, तुसिणीए वा संपव्वयमाणा । ३ ।

छाया—षड्भिः स्थानैर्निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च स्वधार्मिकं कालगतं समाद्रियमाणा नातिक्रामन्ति, तं जहा—अन्तस्तो वा बहिर्नयन्तः, बहिस्तात् वा निर्बहिर्नयन्तः, उपेक्षमाणाः उपासमाना वा, अनुज्ञापयन्तो वा, तूष्णीं वा, संप्रव्रजन्तः ।

शब्दार्थ—छहिं ठाणेहिं—छः कारणो से, निग्गंथा निग्गंथीओ य—साधु और साध्वियां कालगयं साहम्मियं—कालगत अर्थात् मृत साधर्मिक को; समायरमाणा—आदर देते हुए, णाइक्कमंति—आज्ञा का उल्लघन नही करते है, तं जहा—जैसे, अंतोहितो वा बाहिं—अन्दर से बाहिर, णीणेमाणा—ले जाते हुए; बाहितो—वाहर से; निव्वाहिं—और वाहर, णीणेमाणा—ले जाते हुए, उवेहमाणा—मृतक के सस्कार आदि के सम्वन्ध मे उपेक्षा करते हुए, उवासमाणा वा—रात्रि-जागरण के द्वारा उपासना करते हुए, अणुन्नवेमाणा वा—श्रावक आदि को परिष्ठापना के लिये अनुज्ञा देते हुए, तुसिणीए वा—मौन रूप से, संपव्वयमाणा वा—परिष्ठापन के लिये मृतक को ले जाते हुए ।

मूलार्थ—छः कारणों से साधु और साध्वियां कालधर्म को प्राप्त मृतसाधर्मिक का आदर करते हुए जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करते हैं, जैसेकि—भवन के अन्दर से बाहर चौंक आदि में ले जाते हुए, बाहर चौक से और अधिक दूर ले जाते हुए, कफन में लपेटना आदि मृत-संस्कारो की उपेक्षा करते हुए, रात्रि जागरण रूप उपासना करते हुए, अन्त्येष्टि संस्कार के लिये गृहस्थवर्ग को आज्ञा प्रदान करते हुए, स्वय मृतक को किसी निर्जन स्थान में रखने के लिये सम्मानपूर्वक ले जाते हुए ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे साधु के लिये साध्वी-स्पर्श के आपवादिक कारणो पर प्रकाश डाला गया है उसी आपवादिक स्थिति का अन्य रूप से प्रस्तुत सूत्र मे वर्णन किया गया है । साधु या साध्विया ये दोनों छः कारणो से समानधर्म वाले साधु को कालगत जानकर अथवा समान धर्मवाली किसी साध्वी को कालगत जानकर उसकी उत्थापना आदि विशेष क्रिया करते हुए जिनेन्द्र आज्ञा के विराधक नही होते । वे छः कारण निम्नलिखित है, जैसे कि—

१ साधु या साध्वी के परलोक सिधारने पर मृतक क्रिया के लिये उपयुक्त सामग्री के अभाव मे मृतक को भीतर से बाहिर ले जाते हुए मर्यादा का उल्लघन होना नही माना जाता । अभिप्राय

यह कि यदि समान-धर्म वाला साधु दिवगत हो जाता है और शेष मुनि उसे उपाश्रय से बाहर ले जाते है तो उस स्थिति मे वे जिन-आज्ञा के विराधक नही होते।

२ जब उस दिवगत साधु को उपाश्रय के बाह्य प्रदेश से भी बहुत दूर तक ले जाने की आवश्यकता पडे यदि वे उसे दूर ले जाते है तो भी वे जिनाज्ञा का उल्लघन नही करते।

३ किसी सहधर्मी के दिवगत होने पर मृतक को लक्ष्य मे रखकर वे यदि विलाप आदि नही करते है उसकी उपेक्षा करते है एव उदासीन भाव से रहते हुए निहरण आदि क्रिया करते है तो वे साधु जिनेन्द्र-आज्ञा का उल्लघन नही करते।

४ समानधर्मी का शरीर शान्त हो जाने पर उसकी रक्षा के लिये रात्रि जागरण रूप उपासना करते हुए, यदि साधु देव-अधिष्ठित हो रहे हो तो उनका विद्या या मत्र के द्वारा उपचार करते हुए जिनेन्द्र-आज्ञा का उल्लघन नही करते है।

पाठान्तर मे **उवसामेमाणा** जब कोई साध्वी किसी क्षुद्र व्यन्तर देव से अधिष्ठित हो जाए तो उसका उपशमन करते हुए भी आज्ञा का उल्लघन नही होता।

५ यदि किसी सहधर्मी का शरीर शान्त हो गया हो तो उसे परिष्ठापन करने के लिये, उसके स्वजन वर्ग को भाषा समिति पूर्वक आज्ञा देते हुए साधु-साध्वी प्रभु-आज्ञा का अतिक्रमण नही करते।

६. जिस स्वधर्मी का निधन हो गया है उसके मृतक शरीर को किसी निर्जन स्थान मे रख देने के लिये मौन वृत्ति से शव-शय्या को ले जाते हुए या साथ-साथ जाते हुए साधु या साध्वी जिनेन्द्र आज्ञा का अतिक्रमण नही करते।

सूत्र गत विशेष पारिभाषिक शब्दो का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए।

उवेहमाणा—उपेक्षा दो तरह की होती है व्यापारोपेक्षा और अव्यापारोपेक्षा। मृतक साधु या साध्वी के शरीर का बडे समारोह से सम्मान किया जा रहा हो तब भी उपेक्षा भाव से उदासीन रहे और यदि जनता के द्वारा विशेष समारोह से नही अपितु सादगी से शव-यात्रा आदि कार्य किए जा रहे हो तो भी उदासीन रहे।

उवासमाणा—सूर्यास्त के समय यदि किसी साधु या साध्वी का शरीर शान्त हो गया हो तो रात को उपासना करते हुए। कुछ प्रतियो मे "**भयमाणा**" भी पाठ मिलता है उसका अर्थ है रात्रि को जागरण करते हुए। **अणुन्नवेमाणा**—भाषा समिति के साथ अनुज्ञा देते हुए। उपर्युक्त छ. कारणो से अतिम क्रिया करते हुए साधु या साध्वी आज्ञा का अतिक्रमण नही करते।

छद्मस्थ ज्ञानी और केवल ज्ञानी का विषय

मूल—छ ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं ण जाणइ, ण पासइ, तं जहा—धम्मत्थिकायं, अधम्मत्थिकायं, आगासं, जीवमसरीरपडिबद्धं, परमाणुपोग्गलं, सद्दं।

एयाणि चेव उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे जाव सव्वभावेणं जाणइ, पासइ, तं जहा—धम्मत्थिकायं जाव सद्दं । ४ ।

छाया—षट् स्थानानि छद्मस्थः सर्वभावेन न जानाति, न पश्यति, तद्यथा—धर्म्मास्तिकायम्, अधर्म्मास्तिकायम्, आकाशं, जीवमशरीरप्रतिबद्धं, परमाणुपुद्गलं, शब्दम् ।

एतानि चैव उत्पन्नज्ञानदर्शनधरोऽर्हन् जिनो यावत् सर्वभावेन जानाति, पश्यति, तद्यथा—धर्मास्तिकायं यावत् शब्दम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छद्मस्थ अर्थात् सामान्य साधक छह स्थानों को पूर्ण भाव से न जानता है, न देखता है, जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, अशरीरी जीव, परमाणुपुद्गल और शब्द ।

उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धर्ता अर्हन्, जिन इन्हीं छह स्थानों को पूर्णरूप से जानते है, देखते है, जैसे—धर्मास्तिकाय से लेकर शब्द तक छे पदार्थो को ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे जिस अपवाद मार्ग का वर्णन किया गया है उस अपवाद का सेवन छद्मस्थ ही करते है, अत प्रस्तुत सूत्र मे क्रम-प्राप्त छद्मस्थ की ज्ञान-सीमा का वर्णन किया गया है, छः घाती को छद्मस्थ सर्व भाव से नही जानता जैसे कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, शरीर बन्धनो से मुक्त जीव, परमाणु पुद्गल और शब्द, इनके सभी पर्यायों का साक्षात्कार छद्मस्थ नही कर सकता, क्योकि छद्मस्थ का ज्ञान क्षायोपशमिक होता है क्षायोपशमिक ज्ञान का विषय सब पर्याय नही है । अतः छद्मस्थ व्यक्ति सर्वभाव से न तो इनका प्रत्यक्ष कर सकता है और न इनका सर्व भाव से ज्ञान ही प्राप्त कर सकता है । इस लिये सूत्रकर्त्ता ने **"सव्वभावेण, ण जाणइ ण पासइ"** पद दिए है ।

इन पदार्थों को सभी अवस्थाओ मे और सभी रूपो मे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अरिहत जिन केवली ही जान सकते है क्योकि उनकी ज्ञान-शक्ति अनत होती है । आवरणो के सर्वथा क्षय हो जाने पर ही ज्ञान की अनत शक्तियो का उदय हुआ करता है ।

अपरिवर्तनीय सिद्धान्त

मूल—**छहिं ठाणेहिं सव्वजीवाणं णत्थि इड्ढीति वा, जुत्तीति वा, [जसेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कार] जाव परक्कमेइ वा, तं जहा—**

जीवं वा अजीवं करणयाए, अजीवं वा जीवं करणयाए, एगसमएणं वा दो भासाओ भासित्तए, सयं कडं वा कम्मं वेएमि वा, मा वा वेएमि, परमाणुपोग्गलं वा छिंदित्तए वा, भिंदित्तए वा, अगणिकाएण वा समोदहित्तए, बहिया वा लोगंता गमणयाए । ५ ।

छाया—षड्भिः स्थानैः सर्वजीवानां नास्ति ऋद्धिरिति वा, द्युतिरिति वा, यावत् पराक्रम इति वा, तद्यथा—जीवस्य वा अजीवस्य करणतायाम्, अजीवस्य वा जीवस्य करणतायाम्, एकसमयेन वा द्वे भाषे भाषितुं, स्वयं कृतं वा कर्म वेदयामि वा, मा वा वेदयामि, परमाणुपुद्गलं वा छेत्तुं वा, अग्निकायेन समवदग्धुं वा, बहिस्ताद् वा लोकान्ताद् गमनतायाम् ।

शब्दार्थ—**छहिं ठाणेहिं**—छह स्थानों मे; **सव्वजीवाणं**—सब जीवो की; **णत्थि इड्ढीति वा**—ऋद्धि नही है, **जुत्तीति वा**—द्युति; **जाव परक्कमेइ वा**—पराक्रम नही; **तं जहा**—जैसे; **जीवं वा अजीवं करणयाए**—जीव को अजीव करने मे; **अजीवं वा जीवकरणयाए**—अजीव को जीव बनाने मे; **एगसमएणं वा**—एक समय मे; **दो भासाओ भासित्तए**—दो भाषा बोलने मे, **सयं कडं वा**—स्वय कृत; **कम्मं**—कर्म को; **वेएमि वा**—भोगू अथवा; **मा वा**—न; **वेएमि**—भोगू; **परमाणुपोग्गलं वा**—परमाणु पुद्गल को; **छिंदित्तए वा**—छेदन करने मे, **भिंदित्तए वा**—भेदन करने में; **अगणिकाएण वा**—अग्निकाय से; **समोदहित्तए**—जलाने मे; **बहिया वा लोगंता**—लोकान्त से बाहर; **गमणयाए**—जाने मे ।

मूलार्थ—संसार के समस्त जीव छह स्थानो मे ऋद्धि, द्युति और पराक्रम आदि करने का सामर्थ्य नही रखते, जैसे कि—जीव को अजीव बनाने की, अजीव को जीव बनाने की, एक समय मे दो भाषाये बोलने की, स्वयं किए हुए कर्म को इच्छानुसार भोगने या न भोगने की, परमाणु पुद्गल को छेदन करने, भेदन करने या अग्नि से जलाने की और लोकान्त से बाहर जाने की समर्थता नही है ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे छद्मस्थ एव केवली भगवान की ज्ञान-सीमा का वर्णन किया गया है, प्रस्तुत सूत्र मे उनके सामर्थ्य से भी क्या-क्या कुछ बाहर है ? इस विषय का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—जिस विषय को छद्मस्थ मे जानने की शक्ति नही है, केवली भगवान उस वस्तु के सार्वकालिक सभी रूपो को जानते हैं, किन्तु कुछ ऐसी बाते भी है जिन्हे करने के लिये छद्मस्थ तो क्या केवली भी असमर्थ हैं ।

क्योंकि अनादि-सिद्ध सिद्धान्त को अन्यथा करने की शक्ति किसी मे नही हो सकती। भव्य प्राणियो की जानकारी के लिये सूत्रकार ने वे छः बाते निर्दिष्ट की है, जो छद्मस्थ से लेकर केवली भगवान तक के लिये अपरिवर्तनीय है जैसे कि—

१ जीव को अजीव वनाने की शक्ति किसी मे भी नहीं है। आत्मा भी अजीव की तरह एक स्वतन्त्र द्रव्य है, वह चेतन स्वरूप है, उसे अपनी शक्ति द्वारा नष्ट-भ्रष्ट करके अजीव वनाने की शक्ति किसी भी इद्र, तीर्थङ्कर आदि सशक्त जीव मे नही है।

२ अजीव को जीव वनाना भी उनके लिए असभव है। अजीव भी जीव की तरह एक स्वतन्त्र द्रव्य है उसमे चेतना नही है, चेतना के अभाव के कारण ही वह अजीव कहलाता है। अत. अजीव को जीव वनाने की शक्ति किसी भी आत्मा मे नही है।

३ एक समय मे दो भाषाए नही वोली जा सकती। एक समय एक ही भाषा वोली या लिखी जा सकती है, किन्तु यदि कोई सशक्त जीव एक समय मे दो भाषाए एक साथ बोलने का प्रयत्न करता है तो उसे सफलता मिलनी असभव ही है।

४ अपनी इच्छा के अनुसार कर्मो का फल भोगना या न भोगना इस विषय मे भी सभी जीव असमर्थ है। कर्म करने मे जीव अपेक्षाकृत स्वतन्त्र है यह उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह नवीन कर्मो का वध करे या न करे, किन्तु फल-भोगने मे वह स्वतत्र नही है, अपनी इच्छा के अनुरूप भी कर्म-फल नही भोगा जा सकता है। कर्मो का उदय जिस तरह का होगा, जीव को उसी तरह का फल भोगना पडता है, भले ही वह शुभ रूप हो या अशुभ रूप। इच्छा के अनुसार कर्मो की उदयावली को आगे-पीछे नही किया जा सकता। केवली भगवान भवोपग्रही सज्ञक शेष रहे हुए कर्मो के काल-मान को जानते है और उसका प्रत्यक्ष भी करते है, किन्तु जो कर्म कालान्तर मे उदय होनेवाले है उन्हें अभी भोगलू और जो अभी उदय मे प्रविष्ट है उन्हे कालान्तर भोगलूगा ऐसा करने मे भी वे इन्द्रादि असमर्थ है।

५ कोई भी सशक्त जीव परमाणुपुद्गल को खड्ग आदि से छेदन करने मे, सूई आदि से उसका भेदन करने मे और अग्नि आदि द्वारा उसे जलाने मे समर्थ नही है वह अच्छेद्य, अभेद्य एव अदाह्य है। द्रव्य से वह परमाणु शाश्वत है और पर्याय से अशाश्वत।

६ लोक से बाहर अलोक मे जाने का सामर्थ्य भी किसी जीव मे नही है, यदि ऐसा हो जाए तो अलोक भी लोक वन जाएगा। जो पहले कभी नही हुआ, वह अनन्त-अनन्त काल तक आगे होने वाला भी नही है। प्रकृति-सिद्ध अनादि मर्यादा का उल्लघन करने का सामर्थ्य न किसी को पहले प्राप्त हुआ और न आगे किसी को प्राप्त होगा, जिसका आदि—अत नही है उसका मध्य भाग कहां से हो सकता है? वैसे ही जिसका सद्भाव अतीत और अनागत मे नही हो सका, उसका वर्तमान मे कैसे सभव हो सकता है?

प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने इड्ढीति जुत्तीति (जसेति बलेति वीरिएति पुरिसक्कार) परक्कमेति पद दिए हैं, ये पद वडे महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इन पदो के अर्थ शब्दार्थ और मूलार्थ में दिये जा चुके है, तदपि यहा इन पदो का सक्षिप्त विश्लेषण करना भी जरूरी है।

ऋद्धि दो तरह की होती है—लौकिक और लोकोत्तरिक। अट्ठाईस लब्धियो का अतर्भाव उक्त दोनो ऋद्धियो मे हो जाता है। वैभव और लब्धि ये ऋद्धि के पर्यायवाची नाम है।

काति एव माहात्म्य को द्युति, कहते है, क्योकि अद्भुत शक्ति होने पर ही विश्व मे व्यक्ति का माहात्म्य बढता है। किसी अद्भुत कार्य के करने पर ही यश बढता है, जिसे कोई दूसरा न कर सके, उसे करने पर इन्सान को अवश्य यश प्राप्त हो जाता है। जिसके बल से सभी भयभीत होते हों, ऐसा शारीरिक, वाचिक एव मानसिक वल जिस मे है उसी बल को बल कहा जाता है। आत्म-शक्ति को आगम की भाषा मे वीर्य कहते है, पौरुष को ही पुरुषकार कहते है, दूसरे शव्दो मे इसे उत्साह-शक्ति भी कह सकते है। **अदम्य-विक्रम** को पराक्रम कहते है। जिस शक्ति के प्राप्त होने पर कभी भी पराजय न हो सकता हो, वही वास्तव मे पराक्रम है।

ऐसा न कोई हुआ, न है और न होगा जिसे उपर्युक्त छ. बाते करने की ऋद्धि, द्युति, यश, वल, वीर्य, पुरुपकार एव पराक्रम प्राप्त हुआ हो और न किसी को प्राप्त होगा। इन छ. बातो के अतिरिक्त शेष सव कुछ करने की शक्ति जीव मे है। इसी कारण जैनदर्शन किसी को सर्वशक्तिमान नही मानता, हा अनत शक्तिमान तो किसी न किसी आत्मा को अवश्य मानता है, अत: सिद्ध हुआ जीव अनत शक्ति सम्पन्न तो होता है, किन्तु सर्वशक्तिमान कोई भी जीव नही है भले, ही कोई सर्वतो महान परमेश्वर ही क्यो न हो।

षट् जीव-निकाय

मूल—छज्जीवनिकाया पण्णत्ता तं जहा—पुढविकाइया जाव तसकाइया। ६।

छाया—**षड् जीवनिकायाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिका यावत् त्रसकायिकाः।**

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छह जीव निकाय प्रतिपादित किये गए है, जैसे—पृथिवीकायिक से लेकर त्रसकायिक तक। ६।

विवेचनिका—

भवस्थ सव जीवो का सामवेश छ निकायो मे हो जाता है। निकाय शब्द का अर्थ है राशि, जीवो की राशि को जीवनिकाय कहते है। जिन जीवो का शरीर पृथिवी रूप है वे पृथिवीकायिक है, जिनका शरीर जलरूप है वे अप्कायिक कहलाते है, जिन जीवो का शरीर तेजरूप है वे तेजस्कायिक है, जिन जीवो का शरीर वायु रूप है, वे वायुकायिक है, वनस्पति रूप शरीर को धारण करनेवाले जीववनस्पतिकायिक है, इन्हे स्थावर भी कहते है। इन जीवों के केवल स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है। इन जीवो को एकेन्द्रिय शरीर स्थावर नामकर्म के उदय से प्राप्त होता है। त्रसनाम कर्म के उदय से चलने फिरने योग्य शरीर को धारण करनेवाले द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव सभी त्रसकायिक कहलाते है। इस प्रकार समस्त जीव वर्ग को उपर्युक्त छ: रूपो मे वर्गीकृत किया गया है।

तारकाकार ग्रह

मूल—छ तारग्गहा पण्णत्ता, तं जहा—सुक्के, बुहे, बहस्सइ, अंगारए, सनिच्चरे, केऊ । ७ ।

छाया—षट् तारग्रहाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शुक्रः, बुधः, बृहस्पतिः, अङ्गारकः, शनैश्चरः, केतुः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—तारों के आकारवाले ग्रह छः कथन किये गए है, जैसे कि शुक्र, बुध, बृहस्पति, मंगल, शनैश्चर और केतु ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे षड्विध जीव-निकाय का वर्णन किया गया है, इन जीवो का अस्तित्व ग्रहो मे भी पाया जाता है, अत प्रस्तुत सूत्र मे क्रम-प्राप्त उन ग्रहो का वर्णन किया गया है जो तारकाकार है वे छः हैं, जैसे कि शुक्र, बुध, बृहस्पति, मगल, शनि और केतु । इस वर्णन से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है सूर्य, चन्द्र और राहु इन ग्रहो का आकार तारों जैसा नही । आगमो मे अट्ठासी महाग्रहो का स्पष्ठ रूप से उल्लेख मिलता है । उनमे से केवल नौ ग्रह ही लोक व्यवहार मे काम आते है । जिन में छ ग्रहो का आकार तारकाकार है । सूर्य, चन्द्र और राहु ये तीन ग्रह बड़े आकार के दृष्टिगोचर होते है । अतः इन का उल्लेख प्रस्तुत सूत्र में नही किया । सभी ग्रह देवाधिष्ठित है ।

प्रस्तुत सूत्र मे ज्योतिष-विद्या सम्बन्धी एव खगोल-विद्या सम्बन्धी साकेतिक विवरण प्रस्तुत किया गया है । जैनागमों के विभिन्न प्रकरणो मे इस विषय का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है । ●

संसारी जीवों की गति-आगति

मूल—छव्विहा संसार समावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइया जाव तसकाइया ।

पुढविकाइया छगइया, छ आगइया पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइए पुढविकाइएसु उववज्जमाणे पुढविकाइएहिंतो वा जाव तसकाइएहिंतो वा, उववज्जेज्जा । सो चेव णं से पुढविकाइए, पुढविकाइयत्तं विप्पजहमाणे

पुढविकाइयत्ताए वा जाव तसकाइयत्ताए वा गच्छेज्जा ।

आउकाइयावि छःगइया, छआगइया एवं चेव जाव तसकाइया । ८ ।

छाया—षड्विधः संसारसमापन्नका जीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिका यावत् त्रस-कायिकाः ।

पृथिवीकायिकाः षड्गतिकाः षडागतिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिकः, पृथिवीकायिकेषूपपद्यमानः, पृथिवीकायिकेभ्यो वा यावत् त्रसकायिकेभ्यो वा उपपद्येत । स चैव सः पृथिवीकायिकः पृथिवीकायिकत्वं विप्रजहन् पृथिवीकायिकतायां वा यावत् त्रसकायिकतायां वा गच्छेत् ।

अप्कायिका अपि षड्गतिकाः षडागतिका एवञ्चैव यावत् त्रसकायिकाः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छह प्रकार के ससारी जोव कथन किये गए है, जैसे—पृथ्वीकाय वाले जीवो से लेकर त्रसकाय जीवो तक । पृथ्वीकायिक जीव छ. गति और छ आगति वाले कथन किये गए है, जैसे कि—पृथ्वीकायिक जीव पृथ्वीकायिको मे उत्पन्न होता है तो पृथ्वीकायिको से लेकर त्रसकायिको तक आकर उत्पन्न हुआ करता है, फिर वही पृथ्वीकायिक जीव पृथ्वीकायिकत्व को परित्याग करता हुआ पृथ्वीकायिको मे यावत् त्रसकायिको मे उत्पन्न होने के लिये जाता है । अप्कायिक जीव भी छः प्रकार की गति वाले एवं छः प्रकार की आगति वाले है । इसी प्रकार त्रसकाय पर्यन्त जान लेना चाहिए ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे तारकाकार ग्रहो का वर्णन किया गया है सभी विमान और पृथ्विया जीवाधिष्ठित हैं, अतः स्वभावतः यह जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जीवो के गमन-आगमन का क्रम क्या है ? प्रस्तुत सूत्र मे षड्विध जीवो की गमनागमन व्यवस्था का वर्णन किया गया है ।

ससार भर मे जितने भी जीव है, वे सब छ कायो मे विभक्त है, सभी ससारी जीवो का समावेश छः कायो मे हो जाता है । सभी जीव छः कायो मे गति करते है और छ. कायो मे से उनकी आगति होती है । जिस काय मे जितने भी जीव विद्यमान है वे जब वहा का आयुष्य पूर्ण करके परलोक के लिए गमन करते है, तब कोई उसी काय मे पुन जन्म लेते है जिसमे वे पहले थे । कुछ जीव अप्काय से लेकर त्रसकाय तक सभी कायो मे जन्म लेते हैं, जैसे कि कोई पृथिवीकाय से निकल कर पुन. पृथिवीकाय मे भी उत्पन्न होते हैं, कुछ अप्काय मे उत्पन्न होते है, कुछ तेजस्काय मे । इसी प्रकार कुछ

वायुकाय मे कुछ वनस्पतिकाय मे एव कुछ त्रसकाय मे भी उत्पन्न हुआ करते है।

आगति का अर्थ है आना। जिस काय मे जीव विद्यमान है उसे छोड़कर पुन: उसी जीव निकाय मे प्रवेश करना आगति है। आगति की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि पृथिवी काय मे जितने भी जीव विद्यमान है वे उसी काय मे भी उत्पन्न होते है और अन्य कायो मे से भी आकर पृथिवी काय मे उत्पन्न होते है। जीवों का कर्मानुसार परस्पर योनि-सक्रमण होता रहता है[1]।

संसारी और मुक्त जीव

मूल—छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—अभिणिबोहियणाणी जाव केवलणाणी, अण्णाणी।

अहवा छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—एगिंदिया जाव पंचिंदिया, अणिंदिया।

अहवा छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—ओरालियसरीरी, वेउव्वियसरीरी, आहारगसरीरी, तेअगसरीरी, कम्मगसरीरी, असरीरी। ९।

छाया—षड्विधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानी यावत् केवलज्ञानी।

अथवा षड्विधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकेन्द्रिया यावत् पञ्चेन्द्रियाः, अनिन्द्रियाः।

अथवा षड्विधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—औदारिकशरीरी, वैक्रियशरीरी, आहारक-शरीरी, तैजस-शरीरी, कार्मण-शरीरी, अशरीरी।

मूलार्थ—छह प्रकार के सब जीव कथन किये गए है, जैसे—अभिनिबोधिकज्ञानी, यावत् केवलज्ञानी, अज्ञानी।

अथवा छ प्रकार के सब जीव कथन किये गए है, जैसे—एकेन्द्रिय यावत् पञ्चेन्द्रिय, अनिन्द्रिय।

अथवा छह प्रकार के सब जीव कथन किये गए है, जैसे—औदारिक-शरीरी, वैक्रिय-शरीरी, आहारक-शरीरी, तैजस-शरीरी, कार्मण-शरीरी और अशरीरी अर्थात् सिद्ध।

---

१ इस विषय की स्पष्टता के लिये प्रज्ञापना सूत्र का उत्पाद पद और लघुदण्डक का गति और आगति द्वार विशेष मननीय है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे जीवो की गति और आगति का वर्णन किया गया है। गति एव आगति करने वाले जीवों के वर्गीकरण की जिज्ञासा को शान्त करने के लिये शास्त्रकार उसी के वर्गीकरण को प्रस्तुत करते हुए कहते है:—

सर्व जीव छ: प्रकार के होते है, जैसे कि अभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनः-पर्यवज्ञानी, केवलज्ञानी और अज्ञानी। पाच ज्ञान सम्यग्दृष्टि मे पाए जाते है, अज्ञान मिथ्यादृष्टियों और मिश्रदृष्टियो मे पाया जाता है। अज्ञान तीन तरह का होता है देशाज्ञान, सर्वाज्ञान और भावाज्ञान। ये तीन अज्ञान पहले और तीसरे गुण-स्थान मे पाए जाते है।

सूत्र के द्वितीय अश मे इन्द्रियों की दृष्टि से जीवों का पुनः वर्गीकरण किया गया है कि जीव छ: प्रकार के होते है, एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक ससारी जीवो के भेदो मे उदय और क्षयोपशम भाव की अपेक्षा से वे सेन्द्रिय जीव कहे जाते है, किन्तु लब्धि अपर्याप्तकाल मे सभी ससारी जीव अनीन्द्रिय ही होते है। उपयोग की अपेक्षा अनिन्द्रिय पद से केवली और सिद्ध भगवान ग्रहण किए गए है। वे इन्द्रियो का उपयोग नही करते,क्योंकि इन्द्रिय-उपयोग क्षयोपशम भाव में ही होता है। केवली और सिद्ध भगवान केवलज्ञान और केवल दर्शन से सम्पन्न होने के कारण मन और इन्द्रियो से प्रत्यक्ष न करके केवलज्ञान के द्वारा ही प्रत्यक्ष किया करते है, इसलिये उन्हें अनिन्द्रिय कहा गया है। अत. इन्द्रिय और अनिन्द्रिय जीवों की अपेक्षा से सर्वजीवो को छ: प्रकार का कहा गया है।

शरीर-सूत्र मे औदारिक-शरीरी, वैक्रिय-शरीरी आहारक-शरीरी, तैजस-शरीरी, कार्मण-शरीरी और अशरीरी इन छ: रूपो मे जीवो का वर्गीकरण किया गया है। सिद्ध भगवान अशरीरी होते है, सभी ससारस्थ जीव सशरीरी हुआ करते है। यद्यपि तैजस और कार्मण ये दोनो शरीर परस्पर एक साथ ही रहते है, तदपि द्रव्य, गुण, पर्याय की अपेक्षा से इनको पृथक्-पृथक् कहा गया है। यदि जीव के स्वरूप को द्रव्य, गुण, पर्याय से जान लिया जाए तो आत्मा को सर्व प्रकार से चिरशान्ति प्राप्त होती है।

तृण वनस्पतिकाय

मूल—छव्विहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता, तं जहा—अग्गबीया, मूलबीया, पोर-बीया, खंधबीया, बीयरुहा, संमुच्छिमा। १०।

छाया—षड्विधास्तृणवनस्पतिकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अग्रबीजाः, मूलबीजाः, पर्वबीजाः, स्कन्धबीजाः, बीजरुहाः, सम्मूर्च्छिमाः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—तृणवनस्पतिकायिक जीवो के छः भेद कथन किये गए है, जैसे—जिनके अग्र-भाग मे बीज हो वह अग्रबीज, जिनके मूल मे बीज हो वह मूलबीज जिनके

पर्व में बीज हो वह पर्वबीज, जिनका स्कन्ध ही बीज हो, वह स्कंध-बीज, जो बीज से उत्पन्न होते है वे बोजरूह और जो बिना बीज के उत्पन्न होते है उन्हे सम्मूर्छिम वनस्पति कहा जाता है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे एकेन्द्रिय आदि जीवों का वर्णन किया गया है। एकेन्द्रिय जीवो मे तृण-वनस्पतियों का प्रमुख स्थान है, अत प्रस्तुत सूत्र मे तृण-वनस्पतिकायिक जीवो के भेद प्रस्तुत किए गए है।

तृण-वनस्पतिकायिक जीव छः प्रकार के होते है, जैसे कि अग्रबीज, मूलवीज, पर्वबीज, स्कध-बीज, बीजरुह और सम्मूर्छिम। अग्रबीज वाजरा, गेहूं आदि है, मूलबीज आलू आदि माने गए है, पर्वबीज गन्ना बांस आदि हैं, स्कन्धबीज गुलाव आदि हैं, जिनकी कलम लगाई जाती है, जिसकी उत्पत्ति वीज से ही हो वह बीजरुह है और दग्धभूमि मे बीज न होने पर भी बिना बीज के जो तृण आदि वनस्पतियां उत्पन्न हो जाती है उन्हे सम्मूर्छिम वनस्पति कहते है।

सब जीवों के लिए दुर्लभ

मूल—छट्ठाणाइं सव्वजीवाणं णो सुलभाइं भवंति, तं जहा—माणुस्सए भवे, आय-रिए खित्ते जम्मं, सुकुले पच्चायाई, केवलिपन्नत्तस्स धम्मस्स सवणया, सुयस्स वा सद्दहणया, सद्दहितस्स वा पत्तियस्स वा रोइइयस्स वा सम्मं काएणं फासणया। ११।

छाया—षट् स्थानानि सर्वजीवानां नो सुलभानि भवन्ति, तद्यथा—मानुष्यको भवः, आर्ये क्षेत्रे जन्म, सुकुले प्रत्यायातिः, केवलिप्रज्ञप्तस्य धर्मस्य श्रवणता, श्रुतस्य वा श्रद्धानता श्रद्धितस्य वा प्रतीतस्य वा रोचितस्य वा सम्यक् कायेन स्पर्शनता।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छह स्थान सब जोवो को प्राप्त होने सुलभ नही है, जैसे कि—मनुष्य-भव आर्य-क्षेत्र मे जन्म, सुकुल मे जन्म, केवलो-प्ररूपित धर्म का श्रवण, श्रुत-धर्म के प्रति श्रद्धा, श्रद्धान किये हुए, प्रतीति किये हुए एव रुचि किये हुए धर्म का सम्यक् रूप से काय के द्वारा स्पर्श करना।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे बीजों के भेदोपभेदो पर प्रकाश डाला गया है, उसी परम्परा मे जीव मात्र के लिये छः दुर्लभ वाते उपस्थित करते हुए सूत्रकार कहते है—ससार मे जितने भी प्राणी है, उन सव को छः पदार्थ सुलभता से प्राप्त नही हो सकते। जो वाते अनत काल तक ससार चक्र मे परिभ्रमण करने के वाद भी अति कठिनता से प्राप्त करके जीव ससार-चक्र को काटने का प्रयास कर सके उन पदार्थो को दुर्लभ कहा जाता है। वे छ· पदार्थ इस प्रकार है—

१. **मनुष्यत्व की प्राप्ति**—जिस तरह से गहरे समुद्र मे गिरे रत्न का पुन· प्राप्त करना दुर्लभ है इसी तरह मनुष्य जन्म के नष्ट हो जाने पर, पुन. उसका मिलना दुर्लभ है क्योकि मानव-जीवन मे ही जीव आत्मोन्नति कर सकता है, अन्य मे नही। अत. दुर्लभ होते हुए भी मानवता प्राप्तव्य है।

२. **आर्यक्षेत्र में जन्म**—जीव आर्य-क्षेत्र मे रहकर ही धर्माचरण कर सकता है। आर्य-क्षेत्र मे ३२ हजार प्रदेश है, उनमे भी साढे पच्चीस प्रदेश ही आर्य-क्षेत्र है। शेष प्रदेशो मे अनार्यो का निवास है। जीवो को आर्य देश मे धर्म-प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। जीव जितना आर्य देश में सुखपूर्वक धर्माचरण कर सकता है उतना अनार्य देश मे नही कर सकता। धर्माचरण के लिये आर्य-देश का प्राप्त होना भी आवश्यक है। अत: आर्य क्षेत्र-जन्म लेना प्रत्येक प्राणी के लिये दुर्लभतर है।

३. **सुकुल में जन्म**—जीव मात्र के लिये सुकुल मे जन्म लेना भी सुलभ नही है। क्योकि आर्य-क्षेत्र मे जन्म लेने पर भी सुकुल मे जन्म का होना सुलभ नही है। सुकुल शब्द से शास्त्रकार का आशय धार्मिक कुलो से है। जिनमे उत्पन्न होते ही जीव धर्मनिष्ठ एव सदाचार-सम्पन्न हो। अत जीव आर्य-देश मे उत्पन्न होने पर भी हिंसक कुलो मे यदि उत्पन्न हो जाए तो उसे धर्म की प्राप्ति का होना कठिन है। इस कारण आर्य-क्षेत्र मे जन्म लेकर भी सुकुल मे जन्म लेना अति दुर्लभ है।

४. **केवली-प्ररूपित धर्म श्रवणता**—सुकुल मे जन्म हो जाने पर भी केवली-भाषित धर्म का श्रवण करना और भी सुदुर्लभ है। इस धरातल पर देवलोक की लक्ष्मी का मिलना, अपार धन-राशि का मिलना, सुहृद और सुभार्या का मिलना दुर्लभ नही है, ये सम्पत्तिया एक बार हाथ से निकल जाने पर पुन: मिल भी सकती है, किन्तु आत्मिक सुख देनेवाली तथा मोक्ष सुख देनेवाली जिन-वाणी का सुनना जीव के लिये सुलभ नही है।

५. **जिन वाणी पर श्रद्धा**—जिनेन्द्र भगवान की वाणी सुनकर भी उस के प्रति श्रद्धा का होना भी जीव के लिये सुलभ नही है, क्योकि जीव न्यायमार्ग से यदि कभी भ्रष्ट होता है, तो वह श्रद्धा के अभाव से ही हुआ करता है। जिन-वाणी नव तत्त्वो पर आधारित है, जैसे कि जीवतत्त्व, अजीवतत्त्व, पुण्यतत्त्व, पापतत्त्व, आश्रवतत्त्व, सवरतत्त्व, निर्जरातत्त्व, वधतत्त्व और मोक्षतत्त्व इन तत्त्वो पर श्रद्धान रखना ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का प्राप्त करना प्रत्येक जीव के लिये सुदुर्लभ है। कहा भी है **"सद्धा परम दुल्लहा"** वैसे तो सभी जीव किसी न किसी पर श्रद्धा रखते ही है, किन्तु यहा उस श्रद्धा से तात्पर्य है जिस से आत्मा की अनुभूति हो, आत्मा पर या मोक्ष मार्ग पर दृढ एव सम्यक् निश्चय हो। इस प्रकार की श्रद्धा ही सूत्रकार को अभीष्ट है। जिन-वाणी सुनकर भी उस पर श्रद्धा का होना दुर्लभ ही नही, अतिदुर्लभ है।

६. **श्रद्धानुरूप चारित्र**—श्रद्धा, प्रतीति और रुचि के अनुसार चारित्र का सम्यक् प्रकार काय से स्पर्श करना अति दुर्लभ है। श्रद्धावान भी सभी चारित्र के आराधक नही होते, श्रद्धा होने पर भी जो लोग भोगासक्त रहते है वे चारित्र का पालन कैसे कर सकते है ? जो इन्द्रियों के विषयो मे अनासक्त है, वही चारित्र का आराधक हो सकता है।

जो जीव प्रमाद मे पडे हुए है, भोगो मे आसक्त हो रहे है, उनके उत्थान के लिये उक्त छ दुर्लभ बातो का वर्णन किया गया है, अप्रमत्त साधको के लिये नही। उन के लिये ये सभी वाते सुलभ है। जो प्राणी प्रमाद आदि दोषो का सेवन करनेवाले है, उनके लिये सभी बातें दुर्लभ हैं। ऐसे जीव ही प्राय. एकेन्द्रिय आदि योनियो मे जन्म लेते है, जहा उन जीवो की काय स्थिति वहुत लम्बी होती है। ऐसी योनियो मे उन्हे जन्म-मरण करते हुए अनन्त काल वीत जाता है।

यदि मनुष्य सावधान रहे कि मुझे साधना द्वारा इन दुर्लभ पदार्थो को सुलभ वनाना है तव ही वह अप्रमत्त रहकर इन पदार्थो को सुलभ कर सकता है।

इन्द्रिय और नो इन्द्रिय विषय

मूल—छ इंदियत्था पण्णत्ता, तं जहा—सोइंदियत्थे जाव फासिंदियत्थे, नोइंदियत्थे। १२।

छाया—षडिन्द्रियार्थाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियार्थो यावत् स्पर्शनेन्द्रियार्थः, नो इन्द्रियार्थः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छह प्रकार के इन्द्रियार्थ प्रतिपादन किये गए है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रियार्थ से लेकर स्पर्शनेन्द्रियार्थ तक पांच और छठा नो इन्द्रियार्थ।

विवेचनिका—

जिस साधक की इन्द्रिया और मन वश मे है उसके लिये कोई भी वस्तु दुर्लभ नही है और जिस ने इन्द्रियो को वश मे नही किया, उसके लिये उक्त कोई भी वस्तु सुलभ नही। अव सूत्रकार क्रम प्राप्त इन्द्रियार्थो का वर्णन करते है।

इन्द्रियों के छः अर्थ अर्थात् विषय प्रतिपादित किये गए है, जैसे कि श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है, चक्षु-इन्द्रिय का विषय रूप है, घ्राणेन्द्रिय का विषय गध है, रसनेन्द्रिय का विषय रस है, स्पर्शनेन्द्रिय का विषय स्पर्श है और मन का विषय विचार है।

इन्द्रियों को करण भी कहते है, करण के दो रूप है वाह्यकरण और अन्तःकरण। वाह्यकरण मे पाच इन्द्रिया समाविष्ट हैं और अन्तःकरण मे मन। करण की समानता से मन के विषय को भी

इन्द्रिय-अर्थ ही कहा गया है, क्योकि नो-इन्द्रिय पद मे नो शब्द देश निषेध और साहश्य निषेध-परक है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरो मे ही इन्द्रिया पाई जाती है, शेष दो शरीरो मे नही। जो औदारिक रूप और अर्थ परिच्छेदक रूप इन दो धर्मो से युक्त है वह इन्द्रिय है। इसी प्रकार वैक्रिय और आहारक शरीर मे रही हुई इन्द्रियो के विषय मे भी जानना चाहिए। इन दो धर्मो मे से मन मे औदारिक आदि रूप धर्म नही है, इसलिये औदारिकत्व रूप एक देश के निषेध से मन को नोइन्द्रिय कहा गया है। जब नो शब्द का अर्थ साहश्य अर्थपरक ग्रहण किया जाता है तब जो अर्थ-परिच्छेदकता को लेकर इन्द्रिय नही, परन्तु इन्द्रिय के समान है वह नोइन्द्रिय है। इस दृष्टि से अर्थ परिच्छेदकता मन मे है, अत. मन "नो इन्द्रिय" है। इन्द्रियो का सहचारी मन है, क्योकि इन्द्रियो द्वारा जो भी विषय ग्रहण किया जाता है वह मन का भी विषय होता है, किन्तु उसका स्वतत्र विषय विचार एव श्रुतज्ञान है।

संवर और आस्रव

मूल—छव्विहे संवरे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदियसंवरे जाव फासिंदिय संवरे, नो इंदियसंवरे।

छव्विहे असंवरे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदिय-असंवरे जाव फासिंदिय-असंवरे, णोइंदिय असंवरे। १३।

छाया—षड्विधः संवरः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियसंवरो यावत् स्पर्शनेन्द्रिय संवरः, नो इन्द्रिय-संवरः।
षड्विधोऽसंवरः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियासंवरो यावत् स्पर्शनेन्द्रियासंवरः नोइन्द्रिया-संवरः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छः तरह का संवर वर्णन किया गया है, जैसे कि—श्रोत्रेन्द्रिय संवर से लेकर स्पर्शनेन्द्रिय संवर तक पांच संवर और नोइन्द्रिय अर्थात् मन का संवर।
छः प्रकार का उसंवर वर्णन किया गया है, जैसे कि श्रोत्रेन्द्रिय असंवर से लेकर स्पर्शनेन्द्रिय-असंवर तक पांच प्रकार का असंवर और नो छट्ठा इन्द्रियअसंवर।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे इन्द्रियो के विषयो का उल्लेख किया गया है, उनसे निवृत्ति करना सवर है और इन्द्रिय-विषयो मे प्रवृत्ति करना असवर अर्थात् आस्रव है। प्रस्तुत सूत्र मे सवर के विधेयात्मक और निषेधात्मक सवर एव असवर इन दो भेदो का वर्णन किया गया है। इष्ट विषय पर राग का होना और अनिष्ट विषय पर द्वेष का होना सहज है, किन्तु इष्ट-अनिष्ट शब्दो को सुनकर, रूप को देखकर, गध को सूघकर, रस को चखकर, स्पर्शनीय को छूकर तथा मानसिक कल्पनाओ को पाकर राग-द्वेष से मुक्त रहना ही इन्द्रिय और नो-इन्द्रिय सवर है।

इन्द्रियो और मन के बहाव में वह जाना असवर अर्थात् आस्रव है।

सवर भी आत्मविकास का अमोघ साधन है। मन की एकाग्रता को जन्म देने वाला है, तथा साथ ही धर्म-ध्यान की रुचि को जागृत कर मानव का उत्थान करनेवाला है, अत: सयम साधना और आत्मा के विकास के लिये सवर की ओर प्रवृत्ति आवश्यक है।

असवर जीव को वासनाओ मे लीन करता है, मन के लिये उलझाव प्रस्तुत करता है, अत: असवर से निवृत्ति भी आवश्यक है।

षड्विध सुख-दुःख

मूल—**छव्विहे साए पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदियसाए जाव नोइंदियसाए।**
छव्विहे असाए पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदियअसाए जाव नो इंदिय-असाए। ।१४।

छाया—षड्विधं सातं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियसातं यावन्नोइन्द्रियसातम्।
षड्विधमसातं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियासातं यावन्नोइन्द्रियासातम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छः प्रकार का भौतिक सुख बताया गया है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय सुख से लेकर नोइन्द्रिय अर्थात् मन के सुख तक का सुख।
छः प्रकार का भौतिक दुःख वर्णन किया गया है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय के दुःख से लेकर नोइन्द्रिय तक का दुःख।

विवेचनिका—

इन्द्रियों और मन के अर्थ द्वारा जीव सुखो और दुःखों का अनुभव करता है। सात शब्द भौतिक सुख के लिये और असात शब्द भौतिक-दुःख के लिये रूढ है। अभीष्ट शब्द को सुनकर जीव सुख की

अनुभूति करता है, इसी प्रकार अभीष्ट रूप को देखकर, सुगध को सूघ कर, मनोज्ञ रस को चखकर, अनुकूल स्पर्श को पाकर तथा इष्ट पदार्थ के चिंतन करने से जीव को सुख की अनुभूति होती है।

जिस शब्द का सुनना श्रोत्रो को पसन्द नही, जिस रूप को देखना नेत्रो को इष्ट नही, जिस गध को सूघना भी घ्राण नहीं चाहता, जिस रस को चखना जिह्वा को रुचिकर नही, जो स्पर्श त्वचा को अनुकूल नही, जिसका चिन्तन मनन करना भी मन को पसन्द नही, उन शब्द रूप गन्ध आदि विषयो के मिल जाने पर जीव दु:ख का अनुभव करता है।

जो सुख या दु:ख धर्म मे बाधक नही है, वह सुख भी उपादेय है और वह दु.ख भी वरदान रूप ही है।

वस्तुत सुख और दु:ख हमारी मानसिक प्रवृत्तियो पर निर्भर है, इनकी कोई स्वतन्त्र परिभाषा या अनुभूति नही, क्योकि एक व्यक्ति के लिये जो वस्तु सुखकारी है, वही दूसरे के लिये दु:खकारी होती है। मीठी वस्तुओ की रुचिवाले के लिये मिठाइयां सुखकारी होती है, परन्तु चरपरा भोजन पसन्द करने वालो के लिये मिठाई दुखदायी हो जाती है, अत: भौतिक सुख-दु.ख दोनो से निवृत्ति ही मनुष्य को आत्मोन्मुख करनेवाली होती है। ज्ञान के बिना त्याग असम्भव है, अत प्रस्तुत सूत्र मे सुख-दु:ख का प्रदर्शन मात्र कर दिया गया है।

षड्विध प्रायश्चित्त

मूल—छव्विहे पायच्छित्ते पण्णत्ते, तं जहा—आलोयणारिहे, पडिक्कमणारिहे, तदुभयारिहे, विवेगारिहे, विउस्सग्गारिहे, तवारिहे। १५।

छाया—षड्विधं प्रायश्चित्तं प्रज्ञप्तं, तद्यथा आलोचनार्हम्, प्रतिक्रमणार्हम् तदुभयार्हम् विवेकार्हम्,व्युत्सर्गार्हं, तपोऽर्हम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छ: प्रकार का प्रायश्चित्त वर्णन किया गया है, जैसे कि—आलोचना के योग्य, प्रतिक्रमण के योग्य, आलोचना एव प्रतिक्रमण के योग्य, आधाकर्म आहारादि परिष्ठापन के योग्य, ध्यान योग्य के और तपश्चरण के योग्य।

विवेचनिका—

इन्द्रियार्थ के वशीभूत होकर साधक धर्म साधना को दूषित कर देता है उसकी निवृत्ति प्रायश्चित्त से ही होती है। अत. प्रस्तुत सूत्र मे छ. प्रकार के प्रायश्चित्त का वर्णन किया गया है।

प्रायश्चित्त का अर्थ है—वह शास्त्रीय कृत्य जिसके करने से करनेवाले का पाप छूट जाता है अथवा प्रमादवश अकरणीय कार्य के हो जाने पर मन में पश्चात्ताप का होना और उस पश्चात्ताप की अवस्था में पुन: उस प्रकार का अकार्य न करने की प्रतिज्ञा करना क्योंकि प्रतिदिन पापकर्म करके प्रतिदिन प्रायश्चित्त कर लेने पर 'प्रायश्चित्त' का ध्येय समाप्त हो जाता है। यह प्रायश्चित्त दोष के अनुसार छ: रूपों में किया जाता है, जैसे कि—

१. **आलोचनार्ह**—कोई प्रायश्चित्त इतना ही होता है कि जब कभी अकृत्य सेवन हो गया, तब गुरु के पास सरल चित्त से निवेदन करना कि "मुझसे अमुक पाप कर्म हो गया है, उसे आलोचनार्ह प्रायश्चित्त कहा जाता है। सामान्य पापों की शुद्धि आलोचना करने मात्र से हो जाती है।

२. **प्रतिक्रमणार्ह**—जिस दोष की शुद्धि केवल प्रतिक्रमण से हो सकती है, जैसे कि "तस्स मिच्छा मि दुक्कड़" मन और वाणी से यह कहते हुए उस आत्मा का शुद्ध अवस्था मे लौट आना ही प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त है। आलोचनार्ह प्रायश्चित्त सामान्य पाप का किया जाता है और विशेष पापकर्म की निवृत्ति के लिये प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त की आवश्यकता होती है।

३. **तदुभयार्ह**—जो दोष आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो के योग्य हो उसे तदुभयार्ह कहते है।

४. **विवेकार्ह**—अकल्पनीय आहार आदि सेवन के लिए नही, परठने के लिए आज्ञा देना अथवा किसी-किसी दोष की शुद्धि विवेक से हो जाती है। आगे के लिये ऐसे दोष का सेवन न करने की गुरु के समक्ष प्रतिज्ञा करना अथवा जहा तक हो सके ऐसा "कुकृत्य भविष्य में नही करूंगा" इस तरह की दृढ भावना बना लेना ही विवेकार्ह प्रायश्चित्त है।

५. **व्युत्सर्गार्ह**—किसी-किसी दोष की विशुद्धि शारीरिक क्रियाओ का विवक्षित समय के लिये निरोध करने से भी होती है, कायोत्सर्ग करना भी एक प्रायश्चित्त है, जैसे कि इरियावही का या अतियारो की निवृति के लिए ध्यान करना।

६. **तपोऽर्ह**—जिस दोष की विशुद्धि बेला, तेला, चौला, नवकारसी, पोरसी, इत्यादि तपो के द्वारा हो सकती है वह प्रायश्चित्त तपके योग्य माना जाता है।

मानसिक शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त करना आवश्यक है, क्योकि जीवन की भूलो को स्वीकार करके उनसे निवृत्ति करने वाला यदि कोई तप है तो वह प्रायश्चित्त है। वस्तुत: दोष मुक्त जीवन ही सयम पथपर बढने के योग्य हुआ करता है।

छ: प्रकार के मनुष्य

मूल—छव्विहा मणुस्सगा पण्णत्ता, तं जहा—जंबूदीवगा, धायइसंडदीवपुरच्छिमद्धगा, धायइसंडदीवपच्चत्थिमद्धगा, पुक्खरवरदीवड्ढपुरत्थिमद्धगा, पुक्खरवरदीवड्ढपच्चत्थिमद्धगा, अंतरदीवगा।

अहवा छव्विहा मणुस्सा पण्णत्ता, तं जहा—संमुच्छिममणुस्सा—कम्मभूमिगा, अकम्मभूमिगा, अंतरदीवगा । गब्भवक्कंतिअ मणुस्सा—कम्मभूमिगा, अकम्म-भूमिगा, अंतरदीवगा । १६ ।

छाया—षड्विधा मनुष्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जम्बूद्वीपकाः, धातकीषण्डद्वीपपौरस्त्यार्धकाः, धातकीषण्डद्वीपपश्चिमार्धकाः, पुष्करवरद्वीपार्धपौरस्त्यार्धकाः, पुष्करवरद्वीपार्धपश्चिमार्धकाः, अन्तरद्वीपकाः ।

अथवा षड्विधा मनुष्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सम्मूर्छिममनुष्याः—कर्मभूमिकाः, अकर्मभूमिकाः, अन्तरद्वीपकाः । गर्भव्युत्क्रान्तिका मनुष्याः—कर्मभूमिकाः, अकर्मभूमिकाः, अंतरद्वीपकाः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छ प्रकार के मनुष्य कथन किये गए है, जैसे—जम्बूद्वीप के, धातकीषण्ड-द्वीप के, पूर्वीय अर्द्धभाग के, धातकीषण्डद्वीप के पश्चिमीय अर्द्धभाग के, पुष्करवरद्वीप के पूर्वीय अर्द्धभाग के, पुष्करवरद्वीप के पश्चिमीय अर्द्धभाग के, और अन्तर द्वीप के मनुष्य ।

अथवा छ प्रकार के मनुष्य वर्णन किये गए है, जैसे—तीन प्रकार के सम्मूर्च्छिम मनुष्य—कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक, और अन्तरद्वीपक । तीन प्रकार के गर्भज मनुष्य—कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक, और अन्तरद्वीपक ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे दोपनिवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त का वर्णन किया गया है, प्रायश्चित प्राय मनुष्य ही करते है, अत प्रस्तुत सूत्र मे छ. प्रकार के मनुष्यो का वर्णन किया गया है । जबूद्वीप मे उत्पन्न हुए मनुष्य जवूद्वीपज, धातकी खडद्वीप के पूर्वार्द्ध मे उत्पन्न हुए मनुष्य, उस द्वीप के पश्चिमार्द्ध मे उत्पन्न हुए मनुष्य, इसी तरह पुष्करवरद्वीप के पूर्वार्द्ध मे उत्पन्न हुए मनुष्य और उसके पश्चिम भाग मे उत्पन्न हुए मनुष्य तथा ५६ अतरद्वीपो मे उत्पन्न हुए मनुष्य । मनुष्य जाति के ये छ भेद द्वीपो की अपेक्षा से किये गए है ।

सूत्र के उत्तर भाग मे सम्मूर्छिम और गर्भज की अपेक्षा से मनुष्यो के छ· भेद किए गए है, जैसे कि सम्मूर्छिम मनुष्य तीन तरह के होते है—कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और अन्तरद्वीपज । इसी तरह गर्भज मनुष्य भी तीन तरह के होते है—कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और अतर-द्वीपज । गर्भज मनुष्यो की जहां नियमा है, वहा सम्मूर्छिम का होना भी नियमा है । जहा गर्भज मनुष्यो का अभाव होता है वहा सम्मूर्छिम मनुष्यों का भी अभाव ही होता है ।[1]

---

१ इस विषय का विशेष वर्णन जीवाभिगम आदि सूत्रो मे देखना चाहिए ।

सू० १७

ऋद्धिमान एवं ऋद्धि-रहित मनुष्य

मूल—छव्विहा इड्ढीमंता मणुस्सा पण्णत्ता, तं जहा—अरहंता, चक्कवट्टी, बलदेवा वासुदेवा, चारणा, विज्जाहरा। छव्विहा अणिड्ढीमंता मणुस्सा पण्णत्ता, तं जहा—हेमवंतगा, हेरन्नवंतगा, हरिवंसगा, रम्मगवंसगा, कुरुवासिणो, अंतरदीवगा ।१७।

छाया—षड्विधा ऋद्धिमन्तो मनुष्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अर्हन्तः, चक्रवर्त्तिनः, बलदेवाः, वासुदेवाः, चारणाः, विद्याधराः। षड्विधा अनृद्धिमन्तो मनुष्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हैमवतकाः, हैरण्यवतकाः, हरिवर्षकाः रम्यकवर्षकाः, कुरुवासिनः, अन्तरद्वीपकाः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

भावार्थ—ऋद्धिमान् मनुष्य छः प्रकार के है, जैसे कि—अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, चारण और विद्याधर। छः प्रकार के ऋद्धि-रहित मनुष्य वर्णन किये गए है, जैसे हैमवतक्षेत्र के निवासी, हैरण्यवत क्षेत्र के निवासी, हरिवर्ष क्षेत्र के निवासी, रम्यकवर्ष क्षेत्र के निवासी, देव एवं उत्तर कुरु के निवासी, अन्तरद्वीप के निवासी।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे मनुष्य के छः भेदो का वर्णन किया गया है। जो मनुष्य अन्य मनुष्यो की अपेक्षा विलक्षणता रखते है वे ही ऋद्धिमान कहलाते है। विलक्षणता लौकिक ऋद्धियो से भी होती है और लोकोत्तरिक ऋद्धियो से भी। तीर्थङ्कर, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, जघाचारण और विद्याचारण ये छ प्रकार के मनुष्य द्रव्य और भाव शक्ति से सपन्न होने के कारण ऋद्धिमान कहे जाते है। तीर्थङ्कर अलौकिक आध्यात्मिक ऋद्धियो से सम्पन्न होते है। चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव शारीरिक शक्ति और वैभवरूप ऋद्धियो वाले होते है और जघाचरण तथा विद्याचारण लब्धि सम्पन्न मुनि शक्तिमान और वैभवशाली भी होते है।

जो व्यक्ति द्रव्य-ऋद्धि एव भाव-ऋद्धि से रहित है वे ऋद्धि-रहित होते है, जैसे कि हैमवत क्षेत्र मे रहनेवाले मनुष्य, हैरण्यवत क्षेत्र मे रहनेवाले मनुष्य, हरिवर्ष एव रम्यगवर्ष मे रहनेवाले मनुष्य, देवकुरु और उत्तर कुरु क्षेत्रो मे निवास करनेवाले कुरुवासी मनुष्य और ५६ अतरद्वीपो मे रहनेवाले अतरद्वीपज मनुष्य। वहा के मनुष्य यौगलिक होते है, वहां न राजनीति है और न धर्मनीति, न कोई ऊँच है और न कोई नीच, न स्वामी है और न किंकर, न राजा है और न प्रजा, न धनवान है और न निर्धन, न शिल्प है न कला, न वाणिज्य है न कृषि, न मकान है और न दुकान है, न उपद्रव है, न लड़ाई न झगडा। वहा के मनुष्य निर्द्वन्द्व है, वे ऋद्धियो की आवश्यकता से ही रहित है, उनके पास ऋद्धिया होती ही नही है, अतः वे ऋद्धि-रहित है।

अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल

मूल—छव्विहा ओसप्पिणी पण्णत्ता, तं जहा—सुसमसुसमा जाव दुसमदुसमा।
छव्विहा उस्सप्पिणी पण्णत्ता, तं जहा—दुस्समदुस्समा जाव सुसमसुसमा ।१८।

छाया—षड्विधा अवसर्पिण्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सुषमसुषमा यावत् दुषमदुषमाः।
षड्विधा उत्सर्पिण्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—दुःषमदुषमा यावत् सुषमसुषमाः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—अवसर्पिणी काल छः प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे कि सुषमसुषमा यावत् दु.षमदुषमा।
उत्सर्पिणी काल छः प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे कि दुषमदुषमा यावत् सुषमसुषमा।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे ऋद्धिमन्तो एव ऋद्धि-रहित मनुष्यों का वर्णन- किया गया है। ऋद्धिमन्त एव ऋद्धिरहित की जन्म-मरण-परम्परा समय-चक्र पर निर्भर है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे कालचक्र के छः ऊर्ध्वगामी और छः अधोगामी कालविशेषो का परिचय दिया गया है।

काल-चक्र मुख्य रूप से दो भागो मे विभक्त है अवसर्पिणी-काल और उत्सर्पिणी-काल। जिस काल मे जीवो की शक्ति, आयु और अवगहना अर्थात् शारीरिक ऊचाई और वस्तुओ की उत्तमता घटती जाती है, वह काल अवसर्पिणी काल कहलाता है और जिसकाल मे जीवो की शक्ति, आयु और शारीरिक ऊचाई आदि क्रमश. बढती जाती है उसे उत्सर्पिणी काल कहा जाता है। अवसर्पिणी काल के पूर्ण होने पर उत्सर्पिणी-काल आता है और उत्सर्पिणी काल के समाप्त होने पर अवसर्पिणी-काल का आरम्भ हो जाता है। समय का चक्र अनादि काल से इसी प्रकार घूम रहा है।

अवसर्पिणी-काल और उत्सर्पिणी-काल का आवागमन केवल भरत और ऐरावत क्षेत्रो मे ही होता है, शेष क्षेत्र उक्त काल-प्रभाव से मुक्त है, किन्तु मरणकाल से मुक्त नही, अत वहा की स्थिति एव वातावरण सदैव एक सा ही रहता है।

अवसर्पिणी काल छः भागो मे विभक्त है, जैसे कि—

१. **सुषम-सुषमा**—उस काल मे मनुष्यो की आयु तीन पल्योपम[1] की होती है, और शरीर-मान तीन उत्सेध कोस की अपेक्षा से तीन कोस का होता है।

---

१. एक बार आख के झपकने मे जितना समय लगता है उतने मे असख्य 'समय' बीत जाते है। असख्य समयो को एक आवलिका। १६५३७२१६ आवलिका=मुहूर्त। तीस मुहूर्त=अहोरात्र (रात दिन)। १५ अहोरात्र=

२. सुषमा— इसमे मनुष्य की आयु दो पल्योपम, शरीर-मान दो कोस रह जाता है। प्रथम आरे की अपेक्षा वर्ण, रस, गन्ध आदि की उत्तमता घट जाती है।

३. सुषम-दुषमा—इसमे क्रमश सुख बहुत और दुख कम होता है। देहमान एक कोस, आयु एक पल्योपम रह जाती है। वर्ण, रस और गन्ध आदि की उत्तमता और भी हीन होजा ती है।

४. सुषमा-दुषमा—इसमे दुख की मात्रा अधिक और सुख की मात्रा कम हो जाती है। देहमान ५०० धनुप और आयु एक करोड पूर्व[1] रह जाती है। वर्ण, गन्ध और रस आदि की उत्तमता और भी कम हो जाती है।

५. दुषमा— इसमे उत्पन्न हुए मनुष्यो का आयुमान १२५ वर्प रह जाता है और शरीरमान अधिक से अधिक सात हाथ रह जाता है। इसमे केवल ज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, परमावधिज्ञान, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात चारित्र, पुलाक-लब्धि, आहारक शरीर, क्षायिक सम्यक्त्व और जिनकल्पी मुनित्व इनका अभाव हो जाता है।

६. दुषमा-सुषमा—यह काल भी दुपमा काल की तरह २१००० वर्प ही रहता है। इसमे आयुमान २० वर्ष और शरीर-मान केवल एक हाथ ही रह जाता है। आहारेच्छा अपरिमित हो जाती है और वहुत खाने पर भी तृप्ति नहीं होती है।

उत्सर्पिणी काल—

अवसर्पिणी काल की अपेक्षा उत्सर्पिणी काल की स्थिति विकासोन्मुख हो जाती है। इसमें अवसर्पिणी काल का ह्रास अव विकास मे परिवर्तित होने लगता है। इस कालके भी छः भाग है जैसे कि—

१. दुषमा-सुषमा—इसका आरम्भ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को ही होता है। इसकी स्थिति अवसर्पिणी काल के छटे आरे के ही समान होती है, परन्तु निरन्तर विकास होता रहता है।

२. दुषमा— इसका आरम्भ भी श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से होता है। इस काल के लोग मासाहारी नही होते, व्यवस्था स्थापित होने लगती है। आयुमान १२५ वर्प और शरीरमान सात हाथ हो जाता है।

पक्ष। दो पक्ष=एक मास। दो मास=ऋतु। तीन ऋतु=अयन। दो अयन=एक वर्प। पाच वर्प=युग। एक योजन (चार कोस) लम्बे, एक योजन चौडे और एक योजन गहरे गड्ढे मे यदि सात दिन तक की आयु वाले वालक के क्रमश' बढते-वढते सूक्ष्म खण्डो से ठूस-ठूस कर भर दिया जाए, फिर उस गड्ढे मे से सौ-सौ वर्प वाद एक-एक टुकडा निकाला जाय, तव उस गड्ढे के खाली होने मे जितना समय लगता है उसे एक 'पल्योपम' कहते हैं। दस कोडा-कोडी (करोड की सख्या को करोड से गुणा करने पर जो गुणनफल आता है उसे 'कोडाकोडी' कहते है) पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

1 ७०५६००० वर्ष को एक करोड से गुणा करने पर जो गुणनफल आता है अर्थात् ७०५६०००००००००० वर्ष का एक पूर्व होता है। अथवा ४८ लाख वर्षों का एक पूर्वाङ्ग, ४८ लाख पूर्वाङ्गो का एक पूर्व होता है।

३. दुषमा-सुषमा—इसका कालमान ४२००० वर्ष कम एक कोडाकोडी सागरोपम का है। इसकी स्थिति अवसर्पिणीकाल के चौथे आरे के समान होती है, परन्तु वह निरन्तर विकासोन्मुख रहती है।

४. सुषमा-दुषमा—इसमे अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे जैसी स्थिति हो जाती है। प्रत्येक दृष्टि से सभी उत्तमताए विकासोन्मुख होती है।

५. सुषमा —इस आरे की स्थिति अवसर्पिणीकाल के दूसरे आरे के समान होती है, परन्तु वहा प्रकृति ह्रासोन्मुखी होती है और यहा विकासोन्मुखी होती है।

६. सुषम-सुषमा—इसकी स्थिति अवसर्पिणी काल के प्रथम आरे के समान होती है और प्रकृति विकास की ओर निरन्तर बढ़ती रहती है।

इस प्रकार १० कोडाकोडी सागरोपम का अवसर्पिणी काल और १० कोडाकोडी सागरोपम का उत्सर्पिणी काल होता है और ये दोनो ६-६ भागो मे विभक्त होकर अनादि काल मे ह्रास और विकास के क्रम से प्रवृत्त होते रहते है।

मनुष्यों का देहमान और परमायु

मूल—जम्बूद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु तीताए उस्सप्पिणीए सुसमसुसमाए समाए मणुया छच्च धणुसहस्साइं उड्ढमुच्चत्तेणं हुत्था। छच्च अद्धपलिओवमाइं परमाउं पालयित्था।

जंबूद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु इमीसे ओसप्पिणीए सुसमसुसमाए समाए एवं चेव।

जंबूद्दीवे दीवे भरहेरवए आगमेस्साए उस्सप्पिणीए सुसमसुसमाए एवं चेव जाव छच्च अद्धपलिओवमाइं परमाउं पालइस्संति।

जंबूद्दीवे दीवे देवकुरु-उत्तरकुरासु मणुया छ धणुस्सहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता, छच्च अद्धपलिओवमाइं परमाउं पालेंति।

एवं धायइसंडदीवपुरच्छिमद्धे चत्तारि आलावगा जाव पुक्खरवरदीवड्ढ-पच्चच्छिमद्धे चत्तारि आलावगा। १९।

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतैरवतयोर्वर्षयोरतीतायामुत्सर्पिण्यां सुषमसुषमायां समायां मनुजाः षड् धनुःसहस्राण्यूर्ध्वमुच्चत्वेनाभूवन्, षट् चार्धपल्योपमानि परमायुरपालयन्।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतैरवतयोर्वर्षयोरस्यामवसर्पिण्यां सुषमसुषमायां समायामेवञ्चैव ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतैरवतयोरागमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यामेवञ्चैव, यावत् षडर्धपल्योपमानि परमायुः पालयिष्यन्ति ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे देवकुरूत्तरकुरवोर्मनुजाः षड् धनुःसहस्राण्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ता, षडर्धपल्योपमानि परमायुः पालयन्ति ।

एवं धातकीषण्डद्वीपपौरस्त्यार्धे चत्वार आलापका यावत् पुष्करवरद्वीपार्धपश्चिमार्धे चत्वार आलापकाः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे भरत तथा ऐरवत क्षेत्रो मे अतीत उत्सर्पिणी के सुषमसुषमा काल में मनुष्य छः हजार धनुष ऊंचाईवाले होते थे तथा छः अर्धपल्योपम अर्थात् तीन पल्योपम की परमायुवाले हुआ करते थे ।

जम्बूद्वीप के भरत तथा ऐरवत क्षेत्रों में अवसर्पिणी काल के सुषमसुषमा काल में भी इसी प्रकार जानना चाहिए ।

जम्बूद्वीप के भरत तथा ऐरवत क्षेत्रों में आगामी उत्सर्पिणी के सुषमदुषमा काल में भी इसी प्रकार की ऊंचाई समझना, और उस काल के लोग छः अर्द्धपल्योपम की परमायु का पालन करेंगे ।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप में देवकुरु और उत्तरकुरु मे मनुष्य छः हजार धनुष शारीरिक ऊंचाईवाले कथन किये गए हैं और वे तीन पल्योपम की परमायु भोगनेवाले है ।

इसी प्रकार धातकीखण्डद्वीप के पूर्वार्द्ध में चार आलापक यावत् पुष्करवरद्वीपार्द्ध के पश्चिम में भी चार आलापक जानने चाहिए ।

विवेचनिका—

पूर्व-सूत्र में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के बारह आरों का वर्णन किया गया है । उन आरों में जिस क्षेत्र के जिस काल में छ की सख्या से सम्बद्ध ऊंचाई और आयुष्यकर्म आदि है अब सूत्रकार उनका विवरण प्रस्तुत करते है ।

दिन के बाद जैसे रात और रात के बाद दिन, उत्तरायण के बाद दक्षिणायन और दक्षिणायन के बाद उत्तरायण का क्रम चलता है; वैसे ही उत्सर्पिणीकाल के बाद अवसर्पिणीकाल और अवसर्पिणीकाल के बाद उत्सर्पिणीकाल का क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है और अनन्त-काल-तक चलता

ही रहेगा, किन्तु इस प्रकार काल-चक्र का प्रवर्तन केवल पाच भरत और पाच ऐरवत क्षेत्रो मे ही होता है। एक भरत और एक ऐरवत क्षेत्र जम्बूद्वीप मे है। दो भरत और दो ऐरवत क्षेत्र धातकी खण्ड मे है। इसी प्रकार दो भरत और दो ऐरवत क्षेत्र अर्धपुष्करवरद्वीप मे है। इस तरह भरत और ऐरवत क्षेत्रो की सख्या पाच-पाच है। अवसर्पिणीकाल के पहले आरे मे और उत्सर्पिणीकाल के छटे आरे मे मनुष्यो की अवगहना उत्सेध अगुल के प्रमाण से छः हजार धनुष की होती है। उस आरे मे मनुष्यो की आयु छः अर्द्धपल्योपम की होती है अर्थात् तीन पल्योपम की हुआ करती है।

पाच देवकुरु और पाच उत्तरकुरु इन दस क्षेत्रो मे सदा-सर्वदा सुषम-सुषमा काल जैसा ही वातावरण एव प्रभाव रहता है। उन क्षेत्रो मे रहनेवाले मनुष्यो की अवगहना छः हजार धनुष की और उनकी आयु छः अर्द्धपल्योपम की होती है।[1]

षड्विध सहनन

मूल—छव्विहे संघयणे पण्णत्ते, तं जहा—वइरोसभणारायसंघयणे, उसभणारायसंयणे, नारायसंघयणे, अद्धनारायसंघयणे, खीलियासघयणे, छेवट्ठसंघयणे। २०।

छाया—षड्विधं संहननं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—वज्र-ऋषभ-नाराच-संघननम्, ऋषभ-नाराच-संहननम्, नाराच-संहननम्, अर्द्धनाराच-संहननम्, कीलिका-संहननम्, सेवार्त-संहननम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—संहनन छ. प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे—वज्रऋषभनाराच-संहनन, ऋषभनाराच-संहनन, नाराच-सहनन, अर्द्धनाराच-संहनन, कीलिका-सहनन और सेवार्त-संहनन।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे शरीरो की ऊंचाई आदि का वर्णन किया गया है। औदारिक शरीरो मे सहनन अर्थात् अवयवो के गठन की दृष्टि से भिन्नता होती है, प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार उस गठन की भिन्नता एव दृढता का वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं। सुषम-सुषमा आरक मे तथा ऋद्धिमान छ प्रकार के मनुष्यो मे वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन होता है। सहनन का अर्थ है गठन, जिन जीवो का शरीर औदारिक है, उनमे ही सहनन नियमतः पाया जाता है। जिस शरीर मे मास, रक्त, शिरा, स्नायु, त्वचा,

1. विस्तृत विवेचन के लिये देखिये जीवाभिगम सूत्र।

हड्डियों आदि का सुगठित अस्तित्व पाया जाता है वे शरीर ही औदारिक कहलाते है। औदारिक शरीर अत्यन्त सशक्त भी होता है और अत्यन्त निर्बल भी। इस सशक्तता और निर्बलता का होना हड्डियों की रचना एव गठन पर निर्भर है, वही हड्डियो का गठन अर्थात् सहनन छः प्रकार का होता है, जैसे कि—

१. **वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन**— वज्र उस कीलिका को कहते है जो शरीर की प्रत्येक सन्धि को जोडती है, ऋषभ का अर्थ है परिवेष्टन-पट्ट और नाराच का अर्थ है दोनों ओर का मर्कट-बन्ध। जिस सहनन मे दोनो ओर मर्कट-बध द्वारा जुडी हुई दो हड्डियों पर तीसरी पट्टाकार वाली हड्डी का चारो ओर से वेष्टन हो और जिसमे इन तीनो हड्डियो को बीधने वाली वज्र के समान हड्डी की कील हो ऐसी गठीली एव मजबूत हड्डियोवाले शारीरिक गठन को "वज्रऋषभनाराच सहनन" कहा जाता है।[1] जिसकी हड्डी जितनी मजबूत होती है, वह मनुष्य उतना ही प्रबल एव सशक्त होता है। सशक्त साधक ही कर्मो को तोडने मे समर्थ हो सकता है। तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, चरमशरीरी, सर्वोच्च देवगति को प्राप्त करनेवाला मनुष्य एव युगलिये ये सब निश्चय ही "वज्रऋषभ-नाराच-सहनन" वाले होते है।

२. **ऋषभ-नाराच-संहनन**—जिस सहनन में दोनों ओर से मर्कट-बंध द्वारा जुडी हुई हड्डियों पर तीसरी पट्टाकार हड्डी का चारो ओर परिवेष्टन हो, किन्तु तीनो हड्डियो को भेदन करनेवाली वज्र समान कील मध्य मे न हो, उसे "ऋषभ-नाराच-सहनन" कहते हैं। इस सहननवाला मनुष्य अधिक से अधिक कठिन तपस्याओ द्वारा इतना पुण्यार्जन कर सकता है जिससे वह ग्रैवेयक देवलोक को प्राप्त कर सके।

३. **नाराच-संहनन**—जिस सहनन मे दोनो ओर से मर्कट-बध के द्वारा जुड़ी हुई हड्डियां हों, किन्तु परिवेष्टन-पट्ट और वज्र नामक कीलक न हों, उसे "नाराच-सहनन" कहते है। इस सहननवाला मनुष्य यदि सर्वोच्च धर्मानुष्ठान करे तो अधिक से अधिक १२वे देवलोक को प्राप्त कर सकता है।

४. **अर्द्धनाराच-संहनन**—जिस सहनन मे एक ओर मर्कट-बध हो और दूसरी ओर कील हो उसे "अर्धनाराच-सहनन" कहते है। इस सहननवाला मनुष्य यदि सर्वोच्च शुभानुष्ठान करे तो वह आठवे देवलोक मे उत्पन्न हो सकता है।

५. **कीलिका-संहनन**—जिस सहनन मे हड्डिया केवल कील से जुडी हुई हो, उसे "कीलिका-सहनन" कहते है। इस सहनन का स्वामी अधिक से अधिक इतना पुण्यार्जन कर सकता है जिससे वह छटे देवलोक के देवत्व को प्राप्त कर सके।

६. **सेवार्त्तक-संहनन**—जिस सहनन मे हड्डिया अपने छोरो पर दूसरी हड्डी को स्पर्श करती हुई रहती है तथा सदा तेल आदि चिकने पदार्थों को मालिश की अपेक्षा रखती है, वह "सेवार्त्तक-सहनन" कहलाता है। इस सहनन का स्वामी यदि उत्कृष्ट करणी करे तो चौथे देवलोक मे उत्पन्न हो सकता है, अर्थात् छटे सहनन वाले जीव चौथे देवलोक पर्यन्त जा सकते है, पाचवे और छटे देवलोक

---

१ रिसहो य होइ पट्टो वज्जं पुण खीलिय वियाणाहि।
उभओ मक्कडवध- नाराय त वियाणाहि॥

मे पहले पाच सहनन वाले पहुच सकते है, सातवें और आठवे देवलोक मे पहले चार सहनन वाले ही जा सकते है, नौवें से लेकर बारहवे देवलोक तक के देवत्व को पहले तीन सहननवाले प्राप्त कर सकते हैं। तेरहवे से लेकर इक्कीसवे देवलोक तक पहले दो सहनन वाले जा सकते है, किन्तु पाच अनुत्तर विमानो मे प्रथम सहनन वाले जीव ही प्रवेश पा सकते है।

सहननवाले जीव यदि अशुभ कर्मो मे सलग्न रहते है तो पहले और दूसरे नरक तक तो छहो सहननो वाले जा सकते हैं, तीसरे नरक मे पहले पाच सहननो वाले जीव जा सकते है, चौथे में चार, पांचवे मे तीन, छट्ठे मे दो, किन्तु सातवे नरक मे पहले सहनन वाले जीव ही जा सकते हैं।[1]

षड्विध संस्थान

मूल—छव्विहे संठाणे पण्णत्ते, तं जहा—सम-चउरंसे, णग्गोहपरिमंडले, साई, खुज्जे, वामणे, हुंडे। २१।

छाया—षड्विधं संस्थानं प्रज्ञप्तं तद्यथा—समचतुरस्रं, न्यग्रोधपरिमण्डलं, सादि, कुब्जं, वामनं हुण्डम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छः प्रकार का संस्थान कथन किया गया है, जैसे कि—समचतुरस्र, न्यग्रोध-परिमण्डल, सादि, कुब्ज, वामन और हुण्ड।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे शारीरिक गठन की भीतरी व्यवस्था को प्रदर्शित किया गया है। अब सूत्रकार जीवो के बाहरी गठन पर प्रकाश डालते है। शरीर के आकार को सस्थान कहते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक चार गतियो मे रहनेवाले जीवो ने जैसा भी शरीर धारण किया हुआ है उनके शरीर की बाह्याकृति ही सस्थान है। यद्यपि सबके शरीर की आकृतिया समान नही होती है, हजारो तरह की आकृतियां देखने मे आती है, तथापि उन सबका समावेश सूत्रकार द्वारा प्रदर्शित छः संस्थानो में हो जाता है। उन षड्विध सस्थानो का परिचयात्मक विवरण इस प्रकार है—

१. समचतुरस्र-संस्थान—सम का अर्थ है समान, चतु का अर्थ है चारो ओर, अस्र शब्द का अर्थ है कोण। जिस शरीर के संपूर्ण अवयव प्रमाणोपेत हो, शरीर की ऊचाई, चौडाई, मोटाई, वजन ये सब ठीक प्रमाण वाले हो, कोई अवयव न्यून-अधिक न हो, ऐसे सस्थान को "सम-चतुरस्र" कहते है।

२. न्यग्रोधपरिमंडल-संस्थान—जिस सस्थान मे नाभि से ऊपर का भाग सामुद्रिक शास्त्र मे बताए हुए शरीर-परिमाण के अनुकूल हो और नीचे का भाग हीन अवयवोवाला हो उसे "न्यग्रोध-परि-

---

१, इस विषय के विस्तृत वर्णन के लिये पढ़िये भगवती सूत्र २४वां शतक।

मण्डल-सस्थान' कहते हैं।

३. सादि संस्थान—जिस सस्थान मे नाभि से नीचे का भाग परिपूर्ण हो और ऊपर का भाग परिमाण से न्यून या अधिक हो, वह सादि सस्थान माना जाता है।

४. कुब्ज-संस्थान—जिस सस्थान मे हाथ, पैर, गर्दन और सिर आदि अवयव तो ठीक हों, किन्तु पीठ, पेट, छाती आदि अवयव टेढे-मेढ़े हों उसे कुब्ज सस्थान कहते है।

५. वामन-संस्थान—जिस आकार मे छाती, पीठ, पेट आदि अवयव तो ठीक हो, किन्तु ऊंचाई अत्यन्त कम हो, उस बौनी आकृति को वामन-संस्थान कहते है।

६ हुण्ड-संस्थान—जिस का शरीर सब तरह से बेढब एव बेडौल हो, शरीर के सभी अवयव न्यून-अधिक हो, उसे हुण्ड-संस्थान कहते है।

वज्रऋषभनाराच-सहनन मे भी छहों सस्थान पाए जाते है। कोई भी सस्थान परमपद को प्राप्त करने के लिये न तो साधक है और न बाधक ही, किन्तु उत्तम सहनन का होना अनिवार्य है, क्योंकि उत्तम एवं सुदृढ सहनन के बिना संयम एव तप की कठिन प्रक्रियाए पूर्ण नही हो सकती और परीषह एव उपसर्गों को सहन करने की क्षमता भी प्राप्त नही होती।

अवनति और उन्नति के कारण

मूल—**छट्ठाणा अणत्तवओ अहियाए, असुभाए, अखमाए, अनीसेसाए, अणाणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—परियाए, परियाले, सुए, तवे, लाभे, पूयासक्कारे।**

छट्ठाणा अत्तवओ हियाए जाव आणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—परियाए, परियाले जाव पूयासक्कारे। २२।

छाया—षट् स्थानानि अनात्मवतोऽहिताय, अशुभाय, अक्षमाय, अनिश्रेयसाय, अननुगामिकत्वाय भवन्ति, तद्यथा—पर्यायः, परिवारः, श्रुतम्, तपः, लाभः, पूजासत्कार।

षट् स्थानानि आत्मवतो हिताय यावत् अनुगामिकत्वाय भवन्ति, तद्यथा—पर्यायः, परिवारो यावत् पूजासत्कारः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—अनात्मवान् अर्थात् कषाय-युक्त आत्मा के लिये छः कारण अहितकर, अशुभकर, असगत, अकल्याणकारी और अशुभानुबन्ध के लिये होते है, जैसे कि पर्याय, परिवार, श्रुत, तप, लाभ और पूजा-सत्कार।

आत्मवान् अर्थात् कषाय-मुक्त आत्मा के लिये छः कारण हितकारी,

शुभकारी, संगतिविधायक, कल्याणकारी और शुभानुवन्ध के विधायक होते हैं, जैसे कि पर्याय, परिवार, श्रुत, तप, लाभ और पूजासत्कार।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्रो मे शारीरिक रचना की सुदृढता एव आकृतियो पर प्रकाश डाला गया है, अब शास्त्रकार शरीरस्थ कषाययुक्त और कषाय-मुक्त आत्मा के लिये क्रमश छः कारण अनिष्टकारी एव छः कारण कल्याणकारी तत्त्वों पर प्रकाश डालते हैं।

सूत्र के प्रथम भाग में अनात्मवान् के लक्षण बतलाए गए है। जो आत्मा क्रोध, मान, माया, और लोभ के वशीभूत होकर अपने स्वरूप को भूला हुआ है या ठीक समय पर अपने स्वरूप को भूल जाता है, वह अनात्मवान् है। ऐसे व्यक्ति के लिये छः बाते अहितकर, अशुभ, दुःखप्रद, अशान्तिकर, अकल्याणकर तथा अशुभबध का कारण होती हैं। कषाय-मूलक होने के कारण जो बाते साधक को भ्रष्ट कर देती है वे छः बाते इस प्रकार है—

१. **पर्याय**—पर्याय का अर्थ है स्थिति-परिवर्तन। इसका प्रयोग तीन कालो मे होता है—जन्म-काल, सत्ताकाल और प्रव्रज्या-काल। 'मैं अन्य लोगों की अपेक्षा आयु मे सबसे बड़ा हू' यह भावना अभिमान का पोषण करती है। 'जितने समय के लिये मैने सत्ता को सभाला है, उतने समय तक अन्य किसी ने नही सभाला' यह अधिकार-वृत्ति भी अहकार को अभिव्यक्त करती है और 'मैं अन्य मुनियो से ज्येष्ठ हू, मै दीक्षा ग्रहणकाल की दृष्टि से सबसे बडा हू' यह भावना भी अहकार की पुष्टि करती हैं। इस तरह जन्मकाल, सत्ताकाल और प्रव्रज्याकाल ये सब कषायशील आत्मा के लिये तब हितकर नही हैं, जब कि वह इनका दुरुपयोग करता है।

२. **परिवार**—गृहस्थों का पुत्रादि परिवार और साधुओ का शिष्यादि परिवार अधिक होने से अहकार आदि दुर्गुणो का ही पोषक होता है क्योकि सकषायी आत्मा समृद्ध परिवार को पाकर अपने लिये और दूसरों के लिये उपद्रव करने एव अशान्ति फैलाने का ही कारण बन जाता है।

३. **श्रुत**—सकषायी आत्मा की विद्वत्ता, पाण्डित्य, बहुश्रुतता लाभप्रद नही है, क्योकि वह इनसे सिद्धान्त, गुरु, धर्म एव श्रद्धा से विहीन होकर प्रत्यनीक बन जाता है। वह अपने को ही सबमे बड़ा मानने लगता है। अहंकार, श्रद्धाविहीनता और प्रत्यनीकता ये ऐसे दुर्गुण है जो प्राप्तज्ञान को भी दूषित कर देते हैं, अतः श्रुत भी उसके लिये हितकर नही है।

४. **तप**—तप मगलकारी है, किन्तु सकषायी आत्मा के द्वारा किया हुआ तप भी हितकर नही होता, क्योकि उसका किया हुआ तप भी दूसरो को तपाने के लिये होता है या प्रदर्शन के द्वारा अहभाव की वृद्धि के लिये ही होता है।

५. **लाभ**—कषाय-युक्त आत्मा के लिये ससार पक्ष मे धन-धान्य का लाभ तथा साधु-पक्ष में उत्तम वस्तुओं एव लब्धियो का लाभ भी हितकर नही होता, क्योकि वह उनका दुरुपयोग करता है। धन-मद मे चूर होकर व्यक्ति लोगो का तिरस्कार करता है और साधारण से अपराध पर अपनी लब्धियों द्वारा साधु लोगो के विनाश के लिये प्रस्तुत हो जाता है, अतः सकषायी आत्मा के लिये उत्तम लाभ भी हानिकर हो जाता है।

६. **पूजा-सत्कार**—कषायशील व्यक्ति की अधिक प्रशंसा तथा वस्त्र आदि उत्तम वस्तुओं से सम्मान, पुरस्कार एव प्रतिष्ठा आदि भी उसके पतन का कारण वन जाता है। जैसे दुर्बल व्यक्ति के लिये पौष्टिक पदार्थ हानिकारक होते है, वैसे ही कषाय-युक्त व्यक्ति के लिये दीक्षा-पर्याय, परिवार, सूत्रज्ञान, तप, लाभ और पूजा-सत्कार ये सब मगलकारी होने पर भी अनिष्टकारी वन जाते है। जैसे दूध अमृततुल्य होते हुए भी सर्प उसे विष के रूप मे परिणत कर देता है, वैसे ही कषाययुक्त व्यक्ति भी इन सद्गुणो को दुर्गुण वना देता है।

यही छः वाते कषाय-मुक्त आत्मार्थी के लिये शुभ है। वह इनको धर्मसाधना या धर्म का प्रभाव समझकर इलके सदुपयोग के लिये कृत-सकल्प रहता है। उसकी दीक्षा-पर्याय सयम की वृद्धि के लिये, सुशिष्य परिवार प्रवचन-प्रभावना एव शासनोन्नति के लिये, विद्वत्ता ज्ञान-सवर्धन के लिये, तप कर्म-निर्जरा के लिये, लाभ चतुर्विध सघ के लिये और पूजा-सत्कार केवल धर्म-महिमा वढाने के लिये होते है। जो व्यक्ति कषाय-मुक्त होकर निजस्वरूप मे अवस्थित हैं, वे ही वास्तव मे आत्मवान कहे जाते है।

ये छः पदार्थ शुभकर्मोदय का तथा आवरण एव अतराय के क्षयोपशम के फल के रूप मे प्राप्त होते है, जैसे कि पर्याय आयुष्कर्म का फल है, परिवार साता-वेदनीय आदि कर्मो का फल है, श्रुत-ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम का सुपरिणाम विद्वत्ता है, तप, लाभ, पूजा-सत्कार ये उच्च गोत्र के उदय से और अतराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होते हैं। अतः इनके मिलने पर अहकार करना व्यर्थ ही है। यह समझते हुए आत्मवान् पुरुष इनके सदुपयोग के लिये यत्नशील रहते है।

आर्यजाति और आर्यकुल

मूल—छव्विहा जाइआरिआ मणुस्सा पण्णत्ता, तं जहा—

अंबट्ठा य कलंदा य, वेदेहा वेदिगाइया।
हरिया चुंचुणा चेव, छप्पेया इब्भजाइओ ।१।

छव्विहा कुलारिया मणुस्सा पण्णत्ता, तं जहा—उग्गा, भोगा, राइन्ना, इक्खागा, णाया, कोरव्वा ।२३।

छाया—षड्विधा जात्यार्या मनुष्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

अम्बष्ठाश्च कलन्दाश्च, वैदेहा वैदिकादिकाः।
हरिताश्चुञ्चुनाश्चैव, षडेते इभ्यजातिकाः ॥ १ ॥

षड्विधाः कुलार्या मनुष्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—उग्राः, भोगाः, राजन्याः, इक्ष्वाकाः, ज्ञाताः, कौरव्याः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छ प्रकार के जात्यार्य वर्णन किये गए है, जैसे—अम्बष्ठ, कालन्द, वैदेह वैदिकादिक, हरित और चुन्चुन । ये छहो इभ्य जातियां है ।

छः प्रकार के कुलार्य मनुष्य कथन किये गये है जैसे—उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाक, ज्ञात और कौरव्य ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र के द्वितीय अश मे उन कषाय-मुक्त व्यक्तियों का वर्णन किया गया है जिनके लिये पर्याय, श्रुत एव परिवार आदि शुभानुवन्धी वन जाते है। शुभानुवन्धी आत्माए ही वैभव-सम्पन्न एव कुलीन होती है, अत प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार भारतवर्ष की उन छः जातियो का उल्लेख करते है जो वैभव की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध मानी जाती थी और उन छ भारतीय कुलो का उल्लेख करते है जिन्हे आर्य-वर्ग मे कुलीन माना जाता था।

अम्बष्ठ, कालन्द, वैदेह, वैदिक, हारित और चुंचुन ये छ जातिया इभ्य अर्थात् समृद्ध कहलाती है। इभ्य शब्द का अर्थ वृत्तिकार लिखते है—"**इभमर्हन्तीति इभ्याः—यद्द्रव्यस्तूपान्तरित उच्छ्रित-कदलिकादण्डो हस्ती न दृश्यते, ते इभ्या इति श्रुतिः**" जिसके घर मे इतनी धनराशि हो जिसकी ओट मे खड़ा हुआ हाथी भी न दीख सके वह इभ्या कहलाता है। जाति शब्द मातृपक्ष से सम्बन्ध रखता है, अत आर्य जाति का अर्थ है—निर्दोप विशुद्ध मातृपक्ष वाली आर्य-जाति। इस कथन से यह भी सकेत प्राप्त होता है कि प्राचीन भारन मे ये छ जातिया अत्यन्त समृद्ध थी।

आर्य-कुल उसे कहते है, जिसका पैतृक-पक्ष विशुद्ध एव निर्दोष तथा निष्कलक हो। प्राचीन भारत मे आर्यकुल भी छ थे, जैसेकि—उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, इक्ष्वाककुल, ज्ञात-कुल और कौरव्य-कुल। ये कुल अन्य कुलो से विशेष श्रेष्ठ माने जाते थे। ऋषभदेव जी ने आरक्षण का दायित्व सम्भालने वाले जो कुल स्थापित किये थे वे उग्रकुल कहलाए, जो गुरुत्व-भाव से स्थापित किये थे वे भोगकुल कहलाए, जो मित्र-भाव से स्थापिन किये गए या स्वीकृत किए गए वे राजन्य-कुल माने गए, जिस वश मे ऋषभदेव जी उत्पन्न हुए थे उस वश मे जो उत्पन्न हुए वे इक्ष्वाककुल कहलाए। भगवान महावीर के पूर्वज जिस कुल मे उत्पन्न हुए, वे ज्ञात और शान्तिनाथ जी का कुल कौरव्य कहलाता है।

भारतीय ऐतिहासिक परम्परा में इभ्य जातिया अब अपना अस्तित्व किस रूप मे एव किस नाम से वचाए हुए है, यह ऐतिहासिक शोध का विषय है। यद्यपि भारत के प्रायः सभी लोग समृद्ध थे, आर्यकुलो मे भी समृद्धियो की कमी न थी, फिर भी सूत्रकार ने 'इभ्य' आर्य-जातियो को पृथक् रखा है। इसका कोई विशेप कारण अवश्य रहा होगा।

मातृपक्ष की विशुद्धता एव प्रधानता सतति मे विनीतता एव लज्जालुता सिद्धकरती है और पितृ-पक्ष की विशुद्धता एव प्रधानता वीरता-धीरता प्रदर्शित करती है। क्योकि भारतीय सामाजिक व्यवस्था प्रायः पितृ-पक्ष प्रधान ही रही है।

यह भी सभव है कि आर्य-जाति उन्हे कहा गया हो जिनका जन्म ऐसी कुल-परम्पराओं मे हुआ हो जिन्होने विशुद्ध एव सात्विक आचरणवाली विदेशी महिलाओं से विवाह कर लिया हो और साथ ही वे कन्या-पक्ष की अतुल विदेशी सम्पत्ति भारत मे भी ले आये हो और ऐसे लोगो के धीरे-धीरे आर्य-कुलो के अलग वर्ग स्थापित हो गए हो। पालित श्रावक का विवाह विदेशी वणिक पुत्री से हुआ था। (उत्तरा० २१वां अध्ययन) चन्द्रगुप्त का यूनानी सैल्यूकस की लडकी से विवाह भी प्रसिद्ध है, उसके साथ अतुल सम्पत्ति का आना भी इतिहास-सम्मत है।

हो सकता है कि अपनी सुदीर्घ विकास-परम्परा मे ये आर्य जाति धीरे-धीरे आर्य-कुलो मे विलीन हो गई हो। ये सब मेरी सम्भावनाए है जो वास्तविकता के लिये ऐतिहासिक विश्लेषण की अपेक्षा रखती है।

लोक-स्थिति

मूल—छव्विहा लोगट्ठिई पण्णत्ता, तं जहा—आगासपइट्ठिए वाए, वायपइट्ठिए उदही, उदही पइट्ठिया पुढवी, पुढवि-पइट्ठिया तसा थावरा पाणा, अजीवा-जीवपइट्ठिया, जीवा कम्मपइट्ठिया।२४।

छाया—षड्विधा लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता तद्यथा—आकाशप्रतिष्ठितो वातः, वातप्रतिष्ठितः उदधिः, उदधिप्रतिष्ठिता पृथ्वी, पृथिवी प्रतिष्ठिताः त्रसाः, स्थावराः प्राणिनः, अजीवा जीवप्रतिष्ठिताः, जीवाः कर्मप्रतिष्ठिताः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छः प्रकार की लोक-स्थिति बतलाई गई है, जैसे कि आकाश-प्रतिष्ठित वायु, है, वायु-प्रतिष्ठित उदधि है, उदधि-प्रतिष्ठित पृथ्वी है, पृथ्वी-प्रतिष्ठित त्रस-स्थावर प्राणी हैं, अजीव जीव-प्रतिष्ठित है और जीव कर्म-प्रतिष्ठित है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे जाति-आर्यों और कुल-आर्यों का वर्णन किया गया है। उन आर्य मनुष्यो की स्थिति लोक मे ही है, अतः अब सूत्रकार लोक-स्थिति के विषय का सांकेतिक वर्णन प्रस्तुत करते है—

लोकस्थिति छः प्रकार की है—आकाश के आधार पर वात, [तनुवात और घनवात इन दोनो का समावेश वात मे ही हो जाता है] वात के आधार पर घनोदधि, घनोदधि के आधार पर पृथिवी, पृथिवीके आधार पर त्रस और स्थावर प्राणी रहते है। अजीव जीव के आधार पर आधारित है और जीव स्वकृत कर्मो पर प्रतिष्ठित है। इस प्रकार लोकस्थ पदार्थों का आधार और आधेयभाव सूत्रकार ने वर्णित किया है।

यद्यपि उपर्युक्त विषय भूगोल-शास्त्र का है, परन्तु सर्वज्ञ-दृष्टि अध्यात्म-साधक को उस आधार से परिचित करा देना चाहती है जहा पर अवस्थित होकर वह 'साधना' के लिये प्रयत्नशील रहता है।

इस प्रसग मे शका हो सकती है कि—वायु के आधार पर घनोदधि और उसके आधार पर पृथ्वी, ये दोनो वायु पर कैसे ठहर सकते है ? इस शका का समाधान यह है—यदि कोई मनुष्य चमडे की मशक को फूकनी से भरकर वायु भर दे, उसके मु ह को चमडे की डोरी से बाध दे। उसी मशक के ठीक मध्य भाग को भी वाध दे, ऐसा करने से उस मशक के दो भाग हो जाएगे जिस से वह मशक डमरू के सदृश लगने लग जाएगी। तव मशक का मु ह खोलकर ऊपर के भाग मे से वायु को निकाल दिया जाए और उसकी जगह पानी भर कर उस मशक का मु ह बद कर दे और बीच का बधन बिल्कुल खोल दे। तत्पश्चात् ऐसा देखने मे आएगा कि पानी मशक के ऊपर के भाग मे ही रहेगा नीचे नही जा सकेगा क्योकि ऊपर के भाग मे जो पानी है उसका आधार मशक के नीचे के भाग का वायु है। जैसे मशक मे घनवायु के आधार पर पानी ऊपर रहता है, वैसे ही पृथ्वी आदि भी घनवायु के आधार पर टिके हुए है। (भगवती सूत्र १, उ० ६)

घनवायु मे वजन उठाने का कितना बल है ? इसे स्पष्ट करने के लिए अब दूसरा उदाहरण लीजिए—पहियो मे भरी हुई घनवायु के आधार पर सैंकडो मनो एव टनो का भार ट्राली, बस, ट्रक आदि आधुनिक वाहन एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते है, यह सब घनवायु का ही प्रभाव है। अत सिद्ध हुआ कि घनोदधि और पृथिवी दोनो का आधार घनवायु है। त्रस एव स्थावर प्राणियो का आधार पृथिवी है।

इस प्रकार सूत्रकार का कथन सत्य है कि—आकाश के आधार पर वायु है, वायु के आधार पर घनोदधि है और घनोदधिके आधार पर पृथ्वी।

जीव के आधार पर अजीव अवस्थित है अर्थात् सचेतन दृश्यमान स्थूल शरीर का आधार जीव है। इतना ही नही अपने ऊपर उठाए हुए वस्त्र-आभूषण तथा अन्य जड पदार्थो का आधार भी जीव है। अजीव का विकास भी जीव ही करता है। अत: उसकी कार्य-रूपता जीवाश्रित है।

जीव अपने कर्मो पर अधिष्ठित है अर्थात् जीव की लोक स्थिति तभी तक है जब तक वह कर्म-वध से युक्त है, कर्म-वध से मुक्त होते ही वह लोक के ऊर्ध्व भाग मे पहुच कर अवस्थित हो जाता है। जीव की स्थिति न केवल कर्मो पर ही निर्भर है, प्रत्युत कर्म-मुक्त जीवो की सत्ता भी तो शास्त्र-मान्य है। शास्त्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे केवल आधार-आधेय की सामान्य स्थिति को ही स्पष्ट किया है। ●

छः दिशाएं और उनसे होने वाली क्रियाएं

मूल—छद्दिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पाईणा, पडीणा, दाहिणा, उईणा, उड्ढा, अहा।

छहिं दिसाहिं जीवाणं गई पवत्तइ, तं जहा—पाईणाए जाव अहाए। एव-मागई, वक्कंती, आहारे, वुड्ढी, निवुड्ढी, विगुव्वणा, गइपरियाए, समुग्घाए,

कालसंजोगे, दंसणाभिगमे, णाणाभिगमे, जीवाभिगमे ।

एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण वि, मणुस्साण वि ।२५।

छाया—षड् दिशाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्राचीना, प्रतिचीना, दक्षिणा, उदीचीना, ऊर्ध्वमधः । षड्भिर्दिशाभिर्जीवानां गतिः प्रवर्तते, तद्यथा—प्राचीनातो यावद् अधस्तः। एवमागतिः, व्युत्क्रान्तिः, आहारः, वृद्धिः, निवृद्धिः, विकुर्वणा, गतिपर्यायः, समुद्घातः, कालसंयोगः, दर्शनाभिगमः, ज्ञानाभिगमः, जीवाभिगमः, अजीवाभिगमः ।

एवं पञ्चेन्द्रियतिर्यग् योनिजानामपि, मनुष्याणामपि ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छ दिशाये वर्णित को गई है, जैसे कि पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व और अध ।

जीवों की गति छ दिशाओं में प्रवृत्त होती है, जैसे कि पूर्व दिशा में यावत् अधोदिशा मे । इसी प्रकार आगति, उत्पत्ति-स्थान, आहार, वृद्धि, हानि, विकुर्वणा, गति-पर्याय, समुद्घात, कालसंयोग, दर्शनाभिगम, ज्ञानाभिगम, जीवाभिगम और अजीवाभिगम भी समझना चाहिए ।

इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चो के तथा मनुष्यो के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिए।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे लोकस्थिति का वर्णन किया गया है। लोकस्थित प्राणियो की सभी क्रियाए दिशाओं के आधार पर ही होती है, अत अब सूत्रकार छ. दिशाओ के नामोल्लेख करके उनमें होने वाली गति आदि चौदह क्रियाओ का वर्णन प्रस्तुत करते है ।

प्राची, अवाची, प्रतीची, और उदीची ये नाम क्रमश: पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओ के है, ऊर्ध्व दिशा और नीची दिशा ये सब छ. दिशाए होती है। इनमे जीवो की स्व-स्व कर्मानुसार गति होती है। गति आदि चौदह क्रियाओ का विवरण इस प्रकार है, जैसे कि—

१. **गति**—छ दिशाओ मे जीव उत्पत्तिस्थान के प्रति गमन करते है।
२. **आगति**—जीव छ. दिशाओ से विवक्षित भव मे आते है ।
३. **व्युत्क्रान्ति**—जीवो का जन्म छः दिशाओ मे हो रहा है ।
४. **आहार**—जीव छ दिशाओ मे रहे हुए पुद्गलो का आहार करते है ।

५. **वृद्धि**—जीव छः दिशाओ में वृद्धि पाते है।

६. **निवृद्धि**—जीवों के शरीर आदि की हानि भी इन्ही छः दिशाओं मे होती है।

७. **विक्रिया**—जीव वैक्रिय शरीर के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों मे शरीर परिवर्तित करते है।

८. **गतिपर्याय**—जीवो का इधर-उधर गमन छ दिशाओ में होता है।

९. **समुद्घात**—मूल शरीर को न छोडकर आत्मा के कुछ प्रदेशो का शरीर से बाहर निकलना इस रूप में समुद्घात भी छ· दिशाओं मे होता है।

१०. **काल-संयोग**—छः दिशाओं में रहे हुए जीवो पर काल वर्त रहा है।

११. **दर्शनाभिगम**—सामान्यग्राही बोध भी जीवों को छः दिशाओं मे होता है।

१२. **ज्ञानाभिगम**—जीवो को विशेषग्राही बोध भी छः दिशाओ मे होना है।

१३. **जीवाभिगम**—छ दिशाओं मे जीवो से सम्बन्धित बातो को ज्ञानी-जन जानते है।

१४. **अजीवाभिगम**—छ. दिशाओ मे अजीवों से सम्बन्धित बातो को भी ज्ञानी-जन जानते है।

इसी तरह पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिक जीव और मनुष्य इनकी गति, आगति आदि छ दिशाओं में ही देखी जाती है। शेष २२ दण्डकों मे ऐसा नही होता तथा दर्शन, ज्ञान, जीवाभिगम और अजीवा भिगम नरक आदि दण्डको मे सम्भव नही होते, क्योकि नारकी और देवो मे भव-प्रत्यय अवधिज्ञान होता है। नारकी और ज्योतिष्क देवो मे अवधिज्ञान विशेषतया तिर्यक् विषयक होता है तथा भवन-पति और व्यन्तर देवों का अवधि-ज्ञान ऊर्ध्वविषयक होता है। वैमानिको का अवधिज्ञान अधिकतर नीची दिशा मे होता है। इस प्रकार भव-प्रत्यय अवधिज्ञान का स्वरूप बतलाया गया है। जिनको गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान होता है वह ज्ञान छ· दिशाओ मे प्रवृत्त होता है।

यहा छट्ठे स्थान के अनुरोध से विदिशाओ का ग्रहण नही किया गया। क्योकि चार विदिशाओ सहित दिशाओ की कुल सख्या दस हो जाती है।

यद्यपि दिशा-ज्ञान प्राय· सामान्य जन को भी होता है, परन्तु उन दिशाओ मे तथा लौकिक वातावरण मे अनायास ही जीव की कौन-कौन सी क्रियाएं होती रहती है, इसके परिज्ञान के लिये प्रस्तुत सूत्र का विषय प्रस्तुत किया गया है।

निर्दोष आहार-ग्रहण के कारण

मूल—छहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे आहारमाहारमाणे णाइक्कमइ, त जहा—

वेयणा-वेयावच्चे, ईरियट्ठाए य संजमट्ठाए।

तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥

छहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे आहारं वोच्छिदमाणे णाइक्कमइ, तं जहा—

आयंके, उवसग्गे, तितिक्खया बंभचेरगुत्तीसु ।
पाणिदया-तवहेउं, सरीरवुच्छेयणट्ठाए । २६ ।

छाया—षड्भिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थ आहारमाहरन् नातिक्रामति, तद्यथा—

वेदनाय वैयावृत्याय, ईर्यार्थाय च संयमार्थाय ।
तथा प्राणवृत्तिकायै, षष्ठं पुनर्धर्मचिन्तायै ॥

षड्भिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थ आहारं व्यवच्छिन्दन् नातिक्रामति तद्यथा—

आतङ्के उपसर्गे, तितिक्षयाब्रह्मचर्यगुप्तिषु ।
प्राणिदया-तपोहेतोः, शरीरव्यवच्छेदनार्थाय ॥

शब्दार्थ—छहिं ठाणेहिं—छः कारणो से; समणे निग्गंथे—श्रमण निर्ग्रन्थ; आहारमाहारमाणे—आहार करता हुआ; णाइक्कमइ—जिन आज्ञा का उल्लघन नही करता है; तं जहा—जैसे; वेयणा—भूख को शान्त करने के लिये; वेयावच्चे—वैयावृत्य अर्थात् गुरुजनों की सेवा के लिये; ईरियट्ठाए—ईर्या के लिये; य—और; संजमट्ठाए—सयम के लिये; तह—तथा; पाणवत्तियाए—प्राणो की रक्षा के लिये, पुण—फिर, छट्ठं—छट्ठा कारण है, धम्मचिंताए—धर्म चिन्ता के लिये है ।

छहिं ठाणेहिं—छः कारणो से; समणे निग्गंथे—श्रमण निर्ग्रन्थ, आहारं—आहार का; वोच्छिदमाणे—त्याग करता हुआ; णाइक्कमइ—जिनाज्ञा का उल्लघन नही करता है, तं जहा—जैसे, आयंके—भयकर रोग उत्पन्न होने पर, उवसग्गे—उपसर्ग होने पर की; बंभचेरगुत्तिसु—ब्रह्मचर्य गुप्ति की, तितिक्खया—रक्षा के लिये, पाणिदयातवहेउं—प्राणिदया और तप के लिये, सरीरवुच्छेयणट्ठाए—शरीर के परित्याग के लिये ।

मूलार्थ—छः कारणों से श्रमण-निर्ग्रन्थ आहार करता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है, जैसे कि—क्षुधा-जनित वेदना की शान्ति के लिये, वैयावृत्य अर्थात् गुरुजनो की सेवा के लिये, ईर्या समिति पालन के लिये, संयम वृद्धि के लिये, अपने प्राणों की रक्षा के लिये और धर्म-चिन्ता के लिये ।

श्रमण निर्ग्रन्थ छः कारणों से आहार का परित्याग करता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है, जैसे कि—व्याधि के होने पर, उपसर्ग के आ जाने पर, ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये, प्राणिदया और तप के लिये, तथा संथारे के द्वारा शरीर के त्याग के लिये ।

विवेचनिका—

जीव-विज्ञान और अजीव-विज्ञान मनुष्य को होता है, मनुष्य-जीवन आहार पर निर्भर है और साधना की पूर्णता के लिये उसे आहार का त्याग भी करना होता है, अब सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र मे सयत मनुष्यो के लिये आहार ग्रहण करने और आहार ग्रहण न करने के उत्सर्ग और अपवाद-मार्ग का प्रदर्शन करते है।

आहार-ग्रहण—

छः कारणो से आहार करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ भगवान की आज्ञा का उल्लघन नही करता, जैसे कि—

१. **वेदना**—जिस साधक से भूख की वेदना सहन न हो पा रही हो वह उस वेदना की निवृत्ति के लिये निर्दोष आहार कर सकता है, क्योकि क्षुधा के समान अन्य कोई वेदना नही है और वेदना-ग्रस्त के लिये सयम-साधना कठिन हो जाती है। साधु का लक्ष्य सयम की सुरक्षा है, अत सयम-सुरक्षा के लिये उसे उपयुक्त आहार ग्रहण करके क्षुधा-वेदना की निवृत्ति करनी चाहिए।

२. **वैयावृत्य**—जिस साधु की नियुक्ति वैयावृत्य के लिये की गई हो, वह भी आहार कर सकता है, क्योकि आहार किए बिना शरीर निशक्त हो जाता है और निशक्त शरीर से पूर्णतया सेवा नही हो सकती। पदवीधर, ग्लान,नवदीक्षित, स्थविर और तपस्वी ये सेवा के योग्य है और सेव्य महापुरुषो की सेवा करके ही साधक अपने साधना-मार्ग को प्रशस्त कर सकता है।

३. **ईर्यार्थ**—न खाने से यदि पैर लडखडाते हो या नेत्रो की दृष्टि कम होती जा रही हो तो साधु को आहार कर लेना चाहिए। जब ईर्या-समिति शोधने के लिये गमन आदि क्रिया मे प्रवृत्ति सम्यक् न होती हो, तब ईर्यासमिति का पूर्णतया पालन करने के हेतु आहार कर सकता है।

४. **संयमार्थ**—सयम पालन करने के लिये साधु आहार करता है, आहार के लिये ही वह सयम का पालन नही करता है प्रत्युत वह आहार इसलिये करता है ताकि सयम-पालन के लिये सशक्त एव स्वस्थ बन सके, क्योकि सत्रह प्रकार के सयम की आराधना स्वस्थ शरीर वाला ही कर सकता है। भूख लगने पर मानसिक उथल-पुथल मच जाती है और उस उथल-पुथल मे आर्त्त एव रौद्र ध्यान उत्पन्न हो सकता है उससे सयम नही रह सकता है, अत सयम की रक्षा के लिये आहार करता हुआ साधु प्रभु की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

५. **प्राणवृत्यर्थ**—सयममय प्राणो की रक्षा के लिये साधु आहार कर सकता है। प्राणो का आधार आहार ही है। कहा भी है **"प्राणाः—उच्छ्वासादयो बलं वा प्राणास्तेषां तस्य वा वृत्तिः—पालनं तदर्थं प्राणसंधारणार्थमित्यर्थः।"** साधु जीने के लिये आहार करे, किन्तु खाने के लिए न जीये।

६. **धर्मचिन्तार्थ**—आहार न करने से यदि धर्म-चिन्ता स्वाध्याय, ध्यान आदि मे प्रवृत्ति न हो पा रही हो तो आहार करता हुआ साधक साधु-मर्यादा का अतिक्रमण नही करता।

आहार त्याग—

छः कारणो से साधु आहार का त्याग करता हुआ भी जिनेन्द्र देव की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता, जैसे कि—

१. **आतंक**—ज्वर आदि भयकर रोग उत्पन्न होने पर या शरीर-विनाशक वेदना उत्पन्न होने पर आहार का त्याग करना ही उसके लिये श्रेयस्कर हैं।

२. **उपसर्ग**—किसी देवता-सबधी, मनुष्य-सबन्धी, तिर्यञ्च-सबधी उपसर्ग होने पर उसके लिए आहार का त्याग करना श्रेयस्कर है।

३. **ब्रह्मचर्य-गुप्ति**—ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त आहार का अनिश्चित समय के लिये त्याग करता हुआ साधक प्रभु-आज्ञा का उल्लघन नही करता, क्योकि आहार-त्यागी का ही प्राय: ब्रह्मचर्य सुरक्षित रह सकता है।

४. **प्राणी-दयार्थ**—प्राणियो की रक्षा के लिये यदि आहार नही करता तो भी वह जिनेन्द्र आज्ञा से बाहर नही है। वर्षा हो रही हो, कोहरा छाया हुआ हो, भूमि पर जन्तु अधिक भ्रमण कर रहे हो या आकाश मे टिड्डिया आदि जीव अधिक उड रहे हो, तब साधु भिक्षा के लिये जाता ही नही है। जब वह भिक्षा के लिये जाएगा ही नही, तब आहार करने का प्रश्न ही नही उठता। प्राणियो की रक्षा करना उसका पहला कर्त्तव्य है, अत. उस कर्त्तव्य की पूर्ति के लिये उसका आहार-त्याग सर्वथा निर्दोष है।

५. **तप-हेतु**—तप करने के उद्देश्य से भी आहार का परित्याग किया जाता है। व्रत, बेला, तेला, चौला इत्यादि तप करने की जब हृदय मे उमग उठे तब कर्म-निर्जरा को लक्ष्य मे रखकर आहार का परित्याग करना विहित है। प्रायश्चित्त करने के लिये तथा आत्मशुद्धि एव व्रतो की शुद्धि के लिये भी आहार-त्याग रूप तप किया जाता है।

६. **शरीर-व्यवच्छेदार्थ**—किसी निमित्त से अपनी आयु का ज्ञान हो जाए और समय की स्वल्पता जानकर सलेखना द्वारा देह के परित्याग करने के लिये उद्यत होने पर आहार को छोडने से वह अर्हन्त भगवान की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता। अत: उक्त छ: कारणो के उपस्थित होने पर आहार न करता हुआ भी साधु आराधक ही है।

भगवान का धर्म अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त होता है। इसी कारण प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट हो जाता है उक्त छ: कारणो से आहार करता हुआ और दूसरे छ: कारणो से आहार न करता हुआ साधु आज्ञा का विराधक नही माना जाता। किन्तु विना कारण के आहार करना और विना ही कारण के आहार का त्याग करना साधु के लिये उचित नही है।

साधु भी आखिर मनुष्य ही है और मनुष्य वही है जिसमे गुण-अवगुण दोनो है। यद्यपि साधु का जीवन अवगुण विजयी होना अनिवार्य है, तथापि कभी-कभी मानवीय दुर्बलता के कारण वह किसी साथी साधक से लड भी पड़ता है, लडता नही, तो भी क्रोधावेश मे आकर आहार का परित्याग कर देता है तो वह आहार-त्याग उसके लिये दोष-युक्त है।

इसी प्रकार यदि साधु जिह्वा की लोलुपता एव खाद्य पदार्थो की स्वादिष्टता के वशीभूत होकर केवल खाने के उद्देश्य से ही खाता है तो वह साधुत्व के मार्ग से पतित हो जाता है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे साधु आहार किस-किस कारण से करे और किस-किस कारण से आहार न करे—उसे इन दोनो विषयो का परिज्ञान कराया गया है।

उन्माद के कारण

मूल—छहिं ठाणेहिं आया उम्मायं पाउणेज्जा, तं जहा—अरहंताणमवण्णं वदमाणे, अरहंपन्नत्तस्स धम्मस्स अवण्णं वदमाणे, आयरियउवज्झायाणमवण्णं वदमाणे, चाउव्वन्नस्स संघस्स अवण्णं वदमाणे, जक्खावेसेण चेव, मोहणिज्जस्स चेव कम्मस्स उदएणं । २७ ।

छाया—षड्भिः स्थानैरात्मा उन्मादं प्राप्नुयात्, तद्यथा—अर्हतामवर्णं वदन्, अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्यावर्णं वदन्, आचार्योपाध्याययोरवर्णं वदन्, चातुर्वर्णस्य संघस्यावर्णं वदन्, यक्षावेशेन चैव, मोहनीयस्य चैव कर्मण उदयेन ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आत्मा छः कारणो से उन्माद को प्राप्त होता है, जैसे कि—अरिहन्तों की निन्दा करने से, अर्हत्प्ररूपित धर्म की निन्दा करने से, आचार्य और उपाध्याय की निन्दा करने से, चतुर्विध संघ की निन्दा करने से, यक्ष का शरीर मे प्रवेश होने से, मोहनीय कर्म के उदय होने से ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे जिनेन्द्र-आज्ञा-वद्ध आहार-सेवी और आहार-त्यागी मुनियो का वर्णन किया गया है । जिनेन्द्र आज्ञा का उल्लघन करने पर मुनि उन्मादी वन जाता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे उन्माद का वर्णन किया गया है ।

उन्माद का अर्थ है हित और अहित के विवेक को भूल जाना, पागल हो जाना तथा मिथ्यात्व के उदय से श्रेष्ठ एव सर्वोत्तम के प्रति अनर्गल प्रलाप करना साधक के लिये उन्माद अतीव हानिकारक है । उन्माद से व्यावहारिक जीवन और साधना-पथ की प्रगति, दोनो सर्वथा अवरुद्ध हो जाते है ।

उन्माद दो तरह का होता है—एक द्रव्य-उन्माद और दूसरा भाव-उन्माद । प्रस्तुत सूत्र मे दोनो का उल्लेख किया गया है । अरिहन्त भगवान की निन्दा करने से, उनके द्वारा कथितधर्म की निन्दा करने से, आचार्य-उपाध्याय की और चतुर्विध श्रीसघ की अवज्ञा-अवहेलना करने से भाव-उन्माद होता है, भाव उन्माद ही मिथ्यत्व है । यक्षावेश से तथा मोह-कर्म के उदय से होने वाले उन्माद को द्रव्य-उन्माद कहा जाता है । इस विषय मे वृत्तिकार लिखते है—**"तीर्थङ्कराद्यवर्ण-वदन् कुपित-प्रवचन-देवतातो"** तीर्थङ्कर आदि के अवर्णवाद करनेवाले जीव के प्रति प्रवचन-रक्षक देवता कुपित होकर उस जीव को उन्माद दशा मे प्राप्त कर देते है, जिस से वह पागल वन जाता है ।

किसी-किसी प्रति मे 'उम्मायं' के स्थान पर "उम्मायपमायं" ऐसा पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ है अहित मे प्रवृत्ति करना उन्माद-प्रमाद है।

निन्दा तो सबकी बुरी होती है, विशेषकर महापुरुषो की, तथा धर्म की उनके प्रवचनों की निन्दा तो निकृष्टतम पाप है इस पाप के कारण मनुष्य की बुद्धि मे विकार उत्पन्न हो जाता है, अतः साधक को इस निन्दाजन्य उन्माद से बचने का प्रयास करते रहना चाहिए।

षड्विध प्रमाद

मूल—छव्विहे पमाए पण्णत्ते, तं जहा—मज्जपमाए, णिद्दपमाए, विसयपमाए, कसायपमाए, जूयपमाए, पडिलेहणापमाए। २८।

छाया—**षड्विधः प्रमादः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—मद्य-प्रमादः, निद्रा-प्रमादः, विषय-प्रमादः, कषाय-प्रमादः, द्यूत-प्रमादः, प्रतिलेखना-प्रमादः।**

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—**छः प्रकार का प्रमाद कथन किया गया है, जैसे—मद्य-प्रमाद, निद्रा-प्रमाद, विषय-प्रमाद, कषाय-प्रमाद, द्यूत-प्रमाद, प्रतिलेखना-प्रमाद।**

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे उन्माद का वर्णन किया गया है, उन्माद का सहचारी प्रमाद है, जहां उन्माद होता है वहा प्रमाद रहता ही है और जहा प्रमाद होता है वहां उन्माद भी अवश्य पाया जाता है। स्वकर्तव्य के प्रति उपेक्षा और प्राप्त साधनों का दुरुपयोग तथा सदुपयोग का ज्ञानाभाव ही प्रमाद है। प्रस्तुत सूत्र मे प्रमाद के छः रूप बताए गए है – मद्य-प्रमाद, निद्रा-प्रमाद, विषय-प्रमाद, कषाय-प्रमाद, द्यूत-प्रमाद और प्रतिलेखना-प्रमाद। इनका विवरणात्मक परिचय इस प्रकार है, जैसे कि—

१. **मद्य-प्रमाद**—जो व्यक्ति मदिरापान करनेवाले है, वे नशे के कारण विवेकहीन हो जाते हैं। यद्यपि सभी नशीली वस्तुओ का उपयोग हानिकारक है, तथापि मद्य का सेवन तो सर्वथा निषिद्ध है, क्योकि मदिरा अनेक दुष्प्रवृत्तियों को जन्म देनेवाली है और प्रमाद की वृद्धि करती है, जैसे कि कहा भी है—

"चित्तभ्रान्तिर्जायते मद्यपानाच्चित्ते भ्रान्ते पापचर्यामुपैति।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्तिमूढ़ास्तस्मान्मद्यं नैव देयं न पेयम्॥"

मद्यपान करने से चित्त मे भ्रान्ति अर्थात् नाना प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो जाते है, चित्त के

भ्रान्त हो जाने से पापवृत्ति जाग उठती है, पाप से जीव दुर्गति को प्राप्त होता है, इसलिये न किसी को मद्य देना चाहिए और न स्वय पीना चाहिए।

२. **निद्रा-प्रमाद**—निद्रा-प्रमाद नही, अनावश्यक निद्रा प्रमाद है। निद्रा-जन्य-प्रमाद से किस-किस गुण की हानि होती है ? इसका दिग्दर्शन एक नीतिकार ने इस प्रकार किया है, जैसे कि—

"निद्राशीलो न श्रुतं नापि वित्तं, लब्धुं शक्तो हीयते चैष ताभ्याम् ।
ज्ञानद्रव्याभावतो दुःखभागी, लोक द्वैते स्यादतो निद्रयालम् ।।"

निद्राशील पुरुष न विद्या अध्ययन कर सकता है, न व्यापार मे धनवृद्धि ही कर सकता है, ज्ञान और द्रव्य दोनो का अभाव होने पर व्यक्ति दोनो लोको मे दु ख का भागी बनता है, अत मनुष्य को निद्रा-प्रिय नही होना चाहिए।

३. **विषय-प्रमाद**—शब्द आदि इन्द्रियो के पांच विषयो मे आसक्त रहना विषय-प्रमाद है। जिसका चित्त विषयो मे ही लीन रहता है, उसे विषय प्रमादी कहा जाता है। नीतिविज्ञो का कथन है, कि—

"विषयव्याकुलचित्तो हितमहित वा न वेत्ति जन्तुरयम् ।
तस्मादनुचितचारी, चरति चिरं दुःखकान्तारे ।।"

जब यह प्राणी विषय-लालसा से व्याकुल हो जाता है तब वह हित और अहित की पहचान नही कर सकता, इस तरह अनुचित कार्य करता हुआ दुःखरूपी महावनो मे भटकता रहता है।

४. **कषाय-प्रमाद**—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायो मे से किसी भी कषाय मे सलग्न रहना कषायप्रमाद है। इसके विषय मे भी मननशीलो का कथन है, कि—

"चित्तरत्नमसंक्लिष्टमान्तरं धनमुच्यते ।
यस्य तन्मुषितं दोषैस्तस्य शिष्टा विपत्तयः ।।"

शान्तचित्त ही आन्तरिक रत्न है, जिसका वह रत्न चुराया गया है उसके पास दुनिया भर की विपत्तिया आती ही रहती है। वह किसी भी गति मे विपत्तियो से बच नही सकता।

५. **द्यूत-प्रमाद**—जूआ खेलना भी प्रमाद है। व्यापार और जूए मे केवल इतना भेद है कि व्यापार मे क्रेता और विक्रेता दोनों को लाभ होता है, किन्तु जिसमे एक को लाभ और दूसरे की हानि हो जाना अवश्यभावी है, वह जूआ ही है, जैसे कि आजकल सट्टे की प्रथा चली हुई है। जिसकी जीत-हार, हानि-और लाभ, दाव पर निर्भर है, उसी को जूआ कहते है। अथवा जो व्यापार या क्रीडा राजनीति से विरुद्ध है वही जूआ कहलाता है। इसके विषय मे भी कहा है, जैसे कि—

"द्यूतासक्तस्य सच्चित्तं धनं कामा सुचेष्टितम् ।
नश्यन्त्येव परं शीर्षं नामापि च विनश्यति ।।"

जो प्राणी जूए मे आसक्त है, चित्त के साथ ही उसका धन, काम, शुभ चेष्टाए और सिर ये सब कुचले जाते हैं और तो क्या उसका ससार से नाम ही मिट जाता है। ऐसी कौन सी विपत्ति है जो जूएबाज को नहीं भोगनी पड़ती, अतः इस प्रमाद से भी सदैव मानव को बचना ही चाहिए।

६. **प्रतिलेखना-प्रमाद**—यह प्रमाद चार प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे कि—द्रव्य, क्षेत्र,

काल और भाव। वस्त्र-पात्र आदि उपकरणो की और चार प्रकार के आहार की चक्षु आदि के द्वारा प्रतिलेखना न करना द्रव्य-प्रतिलेखना प्रमाद है। जिस भूमि पर कायोत्सर्ग करना हो, शयन-आसन करना हो, मल-मूत्र का त्याग करना हो, उसकी प्रतिलेखना न करना क्षेत्रप्रतिलेखना-प्रमाद है। उचित अनुष्ठान के लिये काल-विशेष का पर्यालोचन न करना, निश्चित समय के अनुसार क्रिया न करना काल-प्रतिलेखना-प्रमाद है। "मैने क्या-क्या शुभानुष्ठान किए है? मुझे क्या करना शेष रहता है? मेरे करने योग्य कौन सा शुभानुष्ठान है? जिसका मै आचरण नही कर रहा हू" इस तरह के विचार करते हुए मध्यरात्रि के समय धर्म-जागरण न करना भाव-प्रतिलेखना प्रमाद है। भगवान ने प्रमाद-त्याग का सन्देश सबके लिये समानरूप से दिया है, 'मा पमाए' उनका यह उद्बोधन मन्त्र है, इसके जप के लिये नही, आचरण मे लीन रहने के लिये हमे सदा समुद्यत रहना चाहिए।

प्रमत्त और अप्रमत्त-प्रतिलेखना

मूल—छव्विहा पमायपडिलेहणा, पण्णत्ता, तं जहा—

आरभडा संमद्दा, वज्जेयव्वा य मोसली तइया।
पप्फोडणा चउत्थी, वक्खित्ता वेइया छट्ठी॥

छव्विहा अप्पमायपडिलेहणा, पण्णत्ता, त जहा—

अणच्चाविय अवलियं, अणाणुबंधि अमोसलिं चेव।
छप्पुरिमा नव खोडा, पाणी पाणविसोहणी॥ ।२९।

छाया—षड्विधा प्रमाद-प्रतिलेखना प्रज्ञप्ता, तद्यथा—

आरभटा संमर्दा, वर्जयितव्या च मोशली तृतीया।
प्रस्फोटना चतुर्थी, विक्षिप्ता वेदिका षष्ठी।

षड्विधाऽप्रमादप्रतिलेखना प्रज्ञप्ता, तद्यथा—

अनर्तितमवलितम्, अननुबन्ध्यमोशली चैव।
षट्पूर्वा नवखोटका, पाणि-प्राणि-विशोधिनी॥

शब्दार्थ—**छव्विहा**—छ प्रकार की, **पमायपडिलेहणा पण्णत्ता, तं जहा**—प्रमाद-प्रतिलेखना कही गई है, जैसे, **आरभडा**—विपरीत प्रतिलेखना करना, **संमद्दा**—वस्त्रो का समर्दन करना; **य**—और; **वज्जेयव्वा**—छोडनी चाहिये; **तइया**—तीसरी, **मोसली**—वस्त्रो को नीचे-ऊपर स्पर्श करना, **चउत्थी**—चौथी: **पप्फोडना**—प्रस्फोटना है; तथा (पाचवी) **विक्खित्ता**—विक्षिप्ता, **छट्ठी** छट्ठी, **वेइया**—वेदिका है।

छव्विहा अप्पमायपडिलेहणा पण्णत्ता तं जहा—छः प्रकार की अप्रमाद प्रतिलेखना कथन की गई है, जैसे, **अणच्चावियं**—वस्त्र तथा शरीर को न नचाना, **अवलियं**—वस्त्रों को न मरोडना; **अणाणुबंधि**—नैरन्तर्य उपयोग युक्त; य -और फिर; **अमोसलि**—नीचे-ऊपर वस्त्रो को स्पर्श न होने देना, **छप्पुरिमा**--षट्पूर्वावस्त्र का विभाग; **नव खोडा**—नव खोटक अर्थात् प्रस्फोटन, **पाणी**—हाथ मे; **पाणि-विसोहणी**—प्राणियो का विशोधन करना।

मूलार्थ—प्रमाद-प्रतिलेखना छ. प्रकार की कही गई है, जैसे कि आरभटा, सम्मर्दा, मोशली, प्रस्फोटना, विक्षिप्ता, वेदिका। ये छः प्रकार की प्रतिलेखनाए सर्वथा त्याज्य है।

अप्रमाद प्रतिलेखना भी छः प्रकार की कथन की गई है, जैसे—वस्त्रों को नचाना नही, मरोड़ना नहीं, भीत आदि से लगाना नही, किन्तु निरन्तर उपयुक्त विधि से प्रतिलेखना करना, तथा षट् पूर्व और नव खोटक हाथों मे लेकर प्राणियों का विशोधन करना।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे 'प्रमाद' का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार प्रमाद से सम्बन्धित प्रमाद-प्रतिलेखना और अप्रमाद-प्रतिलेखना का स्वरूप वतलाते है। प्रतिलेखना करना भी सयमी जीवन का एक अग है। इसके विना अहिंसा का पालन सही अर्थो मे नही हो सकता। जो प्रमाद का सेवन करता है, वह पहले महाव्रत—अहिसा की सम्यक्तया आराधना नही कर सकता।

प्रमाद प्रतिलेखना के छः भेद है, जैसे कि—

१. **आरभटा**–सूत्रविधि से विपरीत प्रतिलेखना करना या शीघ्रता से करना, एक वस्त्र की प्रतिलेखना अधूरी छोड़कर दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना प्रारम्भ कर देना या वस्त्रो को जल्दी मे इधर-उधर देखकर विन प्रमार्जना की हुई भूमि पर उन्हे रख देना आरभटा प्रतिलेखना है।

२. **संमर्दा**—वस्त्र को एक कोने से पकडकर उसके दूसरे कोने से मसलना या जिस प्रतिलेखना मे वस्त्र के कोने मुड़े ही रहे, सलवटे न निकाली जाए अथवा जिन वस्त्रो की प्रतिलेखना करनी शेष रहती है उनका प्रयोग कर लेना समर्दा प्रतिलेखना है।

३ **मोसली**—धान्य आदि कूटते समय जैसे मूसल ऊपर-नीचे तथा तिरछे लगता है, वैसे ही प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को भूमि या आसपास की दीवार से टकराने देना ऊपर-नीचे और तिरछे लगने देना मोसली प्रतिलेखना है।

४. **प्रस्फोटना**—धूल से भरे हुए वस्त्र को जैसे जोर से झाडा जाता है, वैसे ही प्रतिलेखना करते हुए विना यतना के वस्त्र आदि को झाड़ना प्रस्फोटना प्रतिलेखना कहलाती है।

५. **विक्षिप्ता**— प्रतिलेखना किए हुए और प्रतिलेखना-रहित वस्त्रो को एकत्रित करके रख देना अथवा प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र के पल्ले को ऊपर की ओर फैंक देना 'विक्षिप्ता प्रतिलेखना' है।

६. **वेदिका**—प्रतिलेखना करते समय बैठने के गलत ढग को वेदिका कहते हैं। वेदिका के पाच भेद है—ऊर्ध्ववेदिका, अधोवेदिका, तिरछीवेदिका, उभयवेदिका और एक वेदिका। दोनो घुटनो के ऊपर कोहनी रख कर प्रतिलेखना करना 'ऊर्ध्ववेदिका' है। दोनो घुटनो के नीचे कोहनी रखकर प्रतिलेखना करना 'अधोवेदिका' है। दोनो घुटनो के पसवाडे मे कोहनी रखकर प्रतिलेखना करना 'तिर्यग्वेदिका' है। दोनो घुटनो को दोनो भुजाओ के मध्य मे करके प्रतिलेखना करना द्विधावेदिका है, एक घुटने को दोनो भुजाओ के बीच में करके प्रतिलेखना करना 'एक वेदिका' है। प्रतिलेखना करते समय घुटनो के ऊपर-नीचे और पसवाडे में हाथ रखना अथवा दोनो घुटनो या एक घुटने को भुजाओं के बीच रखना "वेदिका-प्रतिलेखना" है। इस प्रकार छ. तरह की प्रमाद-प्रतिलेखना कहलाती है। प्रत्येक साधु के लिये छ प्रकार की प्रमाद-प्रतिलेखनाए वर्ज्य है।

अप्रमाद-प्रतिलेखना :-

प्रमाद का त्याग कर उपयोगपूर्वक शास्त्रोक्त विधि-सहित प्रतिलेखना करना अप्रमाद प्रतिलेखना है। इसके भी छ भेद हैं। एक कोहनी तो दोनो जानुओ के मध्य मे हो और दूसरी कोहनी दोनो जानुओ से बाहर हो, इस प्रकार से बैठकर यत्नपूर्वक प्रमाद-रहित होकर की गई प्रतिलेखना शुद्ध एव निर्दोप वेदिका मानी जाती है। उक्त छ प्रकार की प्रतिलेखना सबधी दोषो को त्याग कर निम्नलिखित विधि से प्रतिलेखना सूत्रविहित है, जैसे कि—

१ **अनर्तित**—प्रतिलेखना करते समय शरीर को तथा वस्त्र को न नचाना।

२ **अवलित**—प्रतिलेखना करते समय वस्त्र के सभी हिस्सो को अच्छी प्रकार से देखना।

३ **अननुबंधी**—निरतर दत्तचित्त होकर प्रतिलेखना करना और यतना पूर्वक वस्त्र को झाडना।

४ **अमोसली**—भित्ति या फर्श का स्पर्श न हो पाए, इस प्रकार वस्त्र को प्रतिलेखना के समय ऊपर-नीचे या तिरछे करके झाडना।

५ **छः पुरिमा नव खोढा**—प्रतिलेखना मे छ पूर्व और नव खोड करने चाहिए। वस्त्र के दोनो भागो को तीन वार खखेरना छ पुरिम है तथा वस्त्र को तीन-तीन वार पू जना एव शोधना नव खोड कहा जाता है। प्रतिलेखना करते समय पहले वस्त्र के तीन भाग कर लेने चाहिए। क्रमशः पहले भाग को, दूसरे भाग को, फिर तीसरे भाग को देख लेने पर इसी तरह उलट कर पुन. तीन भागो को देख लेना चाहिए। उन छ भागो की पूर्वा सज्ञा है। फिर उन तीन भागो मे से प्रत्येक भाग की तीन-तीन वार प्रस्फोटना की जाती है। इस प्रकार नवखोटक हो जाते है। इसी तरह दूसरी ओर भी नव खोटक किए जाते है। उन्हे नव प्रखोटक कहा जाता है। इन की स्थापना निम्नलिखित है—

षट्पूर्वा— ▯ ▯ ▯ नव खोटक— ▯ ▯ ▯ + ▯ ▯ ▯

इस प्रकार दोनो ओर करने से छ. हो जाते है। ☐ ☐ ☐ ☐ ☐ ☐ ☐ ☐ ☐

इस प्रकार दोनो ओर तीन-तीन बार करने से प्रखोटक होते है।

पट्पूर्वा, नवखोटक, नवप्रस्फोटक और उपयोगपूर्वक दृष्टि इस तरह पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना करनी चाहिए, इससे न्यून अधिक नही ।

६ **प्राणीप्राण-विशोधन**—वस्त्र आदि पर चलता हुआ यदि कोई प्राणी नजर आ जाए तो उसे अपने हाथ पर यतना से उतार कर सुरक्षित स्थान मे रखे ताकि उस क्षुद्र जीव की हिंसा न हो जाए ।

प्रतिलेखना करते हुए यदि साधु परस्पर वार्तालाप या जनपद कथा आदि की करता है, दूसरे को पच्चक्खाण देता है, वाचना देता है, या लेता है तथा प्रमाद से प्रतिलेखना करता है तो वह छ कायजीवों का विराधक माना जाता है, किन्तु दत्तचित्त, मौन और विवेक से यदि कोई प्रतिलेखना करता है, तो वह छः काय का रक्षक कहलाता है ।

छः लेश्याएं

मूल—**छल्लेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा–कण्हलेसा जाव सुक्कलेसा ।**
पंचेदियतिरिक्खजोणियाणं छः लेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा–कण्हलेसा जाव सुक्कलेसा । एवं मणुस्सदेवाणवि ।३०।

छाया—**षड् लेश्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या ।**
पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां षड् लेश्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ल-लेश्या । एवं मनुष्यदेवानामपि ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—लेश्याएं छः वर्णन की गई है, जैसे—कृष्णलेश्या से लेकर शुक्ल लेश्या तक छः लेश्याएं होती है ।
पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चो में छ लेश्याए कथन की गई है, जैसे—कृष्णलेश्या से लेकर शुक्ललेश्या तक छ लेश्याए, मनुष्य और देवो मे भी इसी प्रकार छ लेश्याएं जान लेनी चाहिये ।

विवेचनिका—

प्रमादयुक्त और अप्रमादयुक्त प्रतिलेखना लेश्याओ के कारण होती है, अत प्रस्तुत सूत्र मे छ लेश्याओ का वर्णन किया गया है । जिस अदृश्य शक्ति से कर्मो का सम्बन्ध आत्मा के साथ जुडता है वह अदृश्य शक्ति लेश्या कहलाती है । लेश्याए छ होती है, जैसे कि कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोत-लेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्या । चार गतियो मे उत्पन्न हुए जीवो के हृदय मे शुभ और अशुभ जो भी मनोवृत्तिया उत्पन्न होती है, वे सब किसी न किसी लेश्या से प्रेरित होती हैं । इनमे

से पहली तीन लेश्याए अप्रशस्त अर्थात् अशुभ वृत्तियो को जागृत करनेवाली है, शेष तीन लेश्याए प्रशस्त वृत्तियों को। अप्रशस्त लेश्याए पाप का कारण होने से अधर्म लेश्याए है, इनसे जीव दुर्गति मे उत्पन्न होता है। प्रशस्त लेश्याए धर्म का कारण होने से धर्म-लेश्याए हैं इनसे जीव सुगति को प्राप्त करते है। जिस लेश्या को लिए हुए जीव मृत्यु को प्राप्त होता है, उसी लेश्या को लेकर वह परलोक मे जन्म धारण करता है। लेश्या के पहले और अन्तिम समय में जीव परभव मे उत्पन्न नही होता, किन्तु अंतर्मुहूर्त बीतने पर और अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर ही परभव के लिये प्रस्थान करता है। मरते समय जिस लेश्या का कालमान अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, परभव मे जीव उसी लेश्या से युक्त होकर उत्पन्न होता है।

आत्मा के अगणित गुणो मे से एक वैभाविक गुण क्रिया भी है, उस गुण की विकारी अवस्था को लेश्या कहते हैं। जहा योग तथा कषाय-भाव की उपस्थिति है वहा लेश्या निश्चित है। जहा तक योग को कषाय का सहयोग है, वहा तक छहो लेश्याए पाई जाती है। किन्तु जहा कषाय के अभाव मे योग हो वहा मात्र शुक्ल लेश्या पाई जाती है। लेश्या का अस्तित्व १३वे गुणस्थान पर्यन्त रहता है।

जब तक योग रहता है, तब तक लेश्या रहती है। योग के अभाव मे लेश्या भी नही रहती। जैसे १४वे गुणस्थान मे महासाधक अयोगी हो जाता है, वहा लेश्या भी नही रहती।

लेश्या योग-परिणाम रूप है, मन वचन और काय के अन्तर्गत शुभाशुभ परिणाम के कारणीभूत कृष्ण आदि वर्ण वाले पुद्गल ही द्रव्य लेश्या है। आत्मा में विद्यमान कषायो को लेश्याए बढाती है, योगान्तर्गत पुद्गल कषायो को बढाने का सामर्थ्य रखता है। पित्त के प्रकोप से जैसे क्रोध की वृद्धि होती है, वैसे ही लेश्याओ से शुभाशुभ भावो की वृद्धि होती है। मनुष्य और तिर्यचो मे द्रव्य लेश्या और भावलेश्या दोनो एक साथ कार्य करती है, किन्तु नारकी और देवो मे द्रव्यलेश्या आयु पर्यन्त रहती है और भावलेश्या बदलती रहती है।

अप्रशस्त द्रव्यलेश्या के साथ प्रशस्त भावलेश्या भी हो सकती है, जैसे कि सम्यक्त्व उत्पन्न होते हुए प्रशस्त भावलेश्या होती है। तेजोलेश्या मे भी शक्रेन्द्र ने क्रोधावेश मे आकर चमरेन्द्र को भगाया था, हो सकता है उस समय भावलेश्या कृष्णलेश्या हो, जैसे वैडूर्यमणि मे लाल धागा पिरोने पर भी वह अपने नीलवर्ण को रखते हुए धागे की लालिमा को धारण करती है।

मनुष्य और तिर्यंच मे लेश्या का कालमान अंतर्मुहूर्त है। इनके भावो मे उतार-चढाव होता ही रहता है, उसके कारण लेश्या बदलती रहती है। आयु-बन्ध के समय जो लेश्या होती है, उसी लेश्या मे मरण होता है, उसी लेश्या मे दूसरे भव मे जीव पहुचता है। अपर्याप्त काल मे भी वही लेश्या रहती है, किन्तु नारकी और देवो मे जो लेश्या अपर्याप्त काल मे होती है, वही द्रव्य लेश्या आयु भर रहती है। उनकी अपेक्षा से लेश्या का कालमान निम्नलिखित है—कापोतलेश्या की स्थिति कम से कम दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तीन सागर, पल्योपम का असख्यातवा भाग अधिक होती है।

नील लेश्या की स्थिति कम से कम पल्योपम का असख्यातवा भाग अधिक तीन सागर, और उसकी अधिक से अधिक पल्योपम का असख्यातवा भाग अधिक की दस सागर स्थिति होती है।

कृष्ण लेश्या की कम से कम स्थिति पल्योपम का असख्यातवा भाग अधिक दस सागर और

अधिक से अधिक दस सागरोपम से लेकर के तीस सागरोपम तक की स्थिति होती है।

तेजोलेश्या की स्थिति कम से कम दस हजार वर्ष और अधिक से अधिक दो सागरोपम से कुछ अधिक होती है।

पद्मलेश्या की स्थिति कम से कम दो सागर से कुछ अधिक और अधिक से अधिक दस सागरोपम की होती है।

शुक्ल लेश्या की स्थिति कम से कम दस सागर से कुछ अधिक की और अधिक से अधिक तेतीस सागर की होती है। स्मरण रहे यह स्थिति द्रव्य-लेश्या की है भाव लेश्या की नही।

जिज्ञासुओ को छ. लेश्याओ का सविस्तर वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के १७वे पद मे तथा उत्तराध्ययन सूत्र के ३४वे अध्ययन मे द्रव्य-लेश्या और भाव-लेश्या का वर्णन देखना चाहिए।

सोम और यम की अग्रमहिषियां

मूल—सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो छ अग्गमहिस्सीओ पण्णत्ताओ।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो जमस्स महारण्णो छ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ।३१।

छाया— **शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य षडग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः।**
शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य यमस्य यमराजस्य षडग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—देवेन्द्र देवराज शक्रेन्द्र के आधीन सोम नामक लोकपाल महाराज की छ अग्रमहिषिया कथन की गई है।

देवेन्द्र देवराज शक्रेन्द्र के आधीन यम नामक लोकपाल महाराज की छ अग्रमहिषियां कथन की गई है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे लेश्याओं का वर्णन किया गया है। शुभ लेश्याओ वाले जीव देवलोको मे जन्म लेकर महान सुखो का उपभोग करते है। सुखोपभोग के महासाधनो मे सब से महत्त्वपूर्ण स्थान महारानियो का होता है, अत. प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने उन दो प्रमुख देवो का वर्णन किया है, जिनकी

छः छः अग्रमहिषिया अर्थात् पट्टरानिया हैं। जैसे कि शक्रेन्द्र देवराजा के सोम और यम नामक दो लोकपालों की छः-छः अग्रमहिषिया है, वस्तुतः ये प्रधान देविया है। इनका सदस्य परिवार, इनकी राजधानिया, इनकी ऋद्धियां, इनकी द्युति और प्रभाव तथा स्थिति का वर्णन आगमों मे बड़े विस्तार से वर्णित किया गया है।

ईशानेन्द्र की मध्यम पारिषदों की स्थिति

मूल—ईसाणस्स णं देविंदस्स मज्झिमपरिसाए देवाणं छः पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ।३२।

छाया—ईशानस्य देवेन्द्रस्य मध्यमपरिषदो देवानां षट् पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—ईशान देवेन्द्र की मध्यम परिषद् के सदस्य देवों की छः पल्योपम की स्थिति बताई गई है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे देवसमृद्धि के रूप मे दो लोकपाल देवो की अग्रमहिषियों का वर्णन किया गया है। देवसमृद्धि के द्वितीय अग के रूप मे मध्यम-परिषद् के देवों की स्थिति का वर्णन प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते है—प्रत्येक इन्द्र की तीन-तीन परिषदे होती है। जैसे कि आभ्यतर परिषद्, मध्यम परिषद् और बाह्य-परिषद्। प्रत्येक परिषद मे देव और देविया दोनों प्रकार के सदस्य होते है। देव-लोकों मे जैसे देवों को सम्मति देने का अधिकार है, वैसे ही देवियों को भी सम्मति देने का पूर्ण अधिकार दिया गया है। आभ्यतर परिषद् के देव और देविया राज्य-व्यवस्था सम्बन्धी जो विचार-विमर्श एव प्रस्ताव पारित करके निर्णय करते है, उस निर्णय को मध्यम परिषद् वाले देव और देवियो को क्रियान्वित करने के लिये कहा जाता है। तब मध्यम परिषद् के देव-देवियां बाहिर की परिषद् के देव और देवियो को निर्णीत कार्य को प्रयोग मे लाने के लिये आज्ञा देते है। ईशानेन्द्र की मध्यम परिषद् के देवों की स्थिति छः पल्योपम की है। इस विषय का सविस्तर वर्णन जीवाभिगम सूत्र में मिलता है।

दिक्-कुमारियां

मूल —छ द्दिसिकुमारिमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—रूया, रूयंसा, सुरूवा,

रूयवई, रूयकंता, रूयप्पभा ।

छव्विज्जुकुमारिमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आला, सक्का, सतेरा, सोयामणी, इंदा, घणविज्जुया ।३३।

छाया—षड् दिक्कुमारिमहत्तरिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—रूपा, रूपांशा, सुरूपा, रूपवती, रूपकान्ता, रूपप्रभा ।

षड् विद्युत्कुमारिमहत्तरिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आला, शक्रा, शतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा, घनविद्युत् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छः महत्तरिका दिक्कुमारी देवियो का कथन किया गया है. जैसे—रूपा, रूपांशा, सुरूपा, रूपवती, रूपकान्ता, रूपप्रभा ।

छ महत्तरिका विद्युत्कुमारी देवियां कथन की गई है. जैसे—अला, शक्रा, शतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा, घनविद्युत् ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे मध्यम परिषद् के देवो की स्थिति का निर्देश किया गया है। प्रस्तुत सूत्र मे देवलोक से सम्बन्धित उन महत्तरिका दिशाकुमारी देवियो का वर्णन किया गया है, जिनकी सख्या छ. है। महत्तरिका का अर्थ होता है प्रधान अर्थात् जो दिक्-कुमारियो मे प्रधान हो, वे बिक्-कुमारी महत्तरिका कहलाती है।

प्रस्तुत सूत्र मे छः महत्तरिका दिशाकुमारियो के नामोल्लेख किए गए है,जैसे कि रूपा, रूपाशा, सुरूपा, रूपवती, रूपकान्ता और रूपप्रभा ।

इसी प्रकार विद्युत्कुमार जाति मे जो प्रधान देविया है उन्हे विद्युत्कुमारी महत्तरिका कहते है, जिनके नाम निर्देश नीचे लिखे अनुसार है, जैसे कि आला, शक्रा, सतेरा, सौदामिनी, इद्रा और घनविद्युत् ।

दिक्कुमारी महत्तरिकाए दिक्कुमार भवनपति जाति की देविया है और विद्युत्कुमारी महत्तरिकाए दिक्कुमार भवनपति जाति की देवियां है।

भवनपति इन्द्रों की अग्रमहिषी देवियां

मूल—धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो छ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ,

तं जहा—आला, सक्का, सतेरा, सोयामणी, इंदा, घणविज्जुया ।

भूयाणंदस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो छ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—रूवा, रूवंसा, सुरूवा, रूववई, रूवकंता, रूवप्पभा ।

जहा धरणस्स तहा सव्वेसिं दाहिणिल्लाणं जाव घोसस्स । जहा भूयाणंदस्स तहा सव्वेसिं उत्तरिल्लाणं जाव महाघोसस्स ।३४।

छाया—धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य षडग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अला, शक्रा, शतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा, घनविद्युत् ।

भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य षडग्रमहिष्य प्रज्ञप्तास्तद्यथा—रूपा, रूपांशा, सुरूपा, रूपवती, रूपकान्ता, रूपप्रभा ।

यथा धरणस्य तथा सर्वेषां दाक्षिणात्यानां यावत् घोषस्य ।

यथा भूतानन्दस्य तथा सर्वेषामुत्तरीयाणां यावत् महाघोषस्य ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—नागकुमारो के इन्द्र एवं नागकुमारों के राजा धरणेन्द्र की छः अग्रमहिषियां कथन की गई है, जैसे—आला, शक्रा, शतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा, घनविद्युत् ।

नागकुमारों के इन्द्र एवं नागकुमारों के राजा भूतानन्द की छः अग्रमहिषिया कथन की गई है, जैसे—रूपा, रूपांशा, सुरूपा, रूपवती, रूपकान्ता, रूपप्रभा ।

धरणेन्द्र के समान अन्य सब दक्षिण दिशा निवासी इन्द्रो के विषय में यावत् घोप तक इसो प्रकार जानना चाहिए ।

भूतानन्द के समान ही अन्य सब उत्तरदिशा निवासो इन्द्रो के यावत् महाघोष तक इसी प्रकार जानना चाहिए ।

विवेचनिका—

विगत सूत्रों की परम्परा मे अब सूत्रकार उन इन्द्रो की महारानियों का वर्णन करते है जिनकी सख्या छः है । दस भवनपति देव दो भागो मे विभक्त है, कुछ दक्षिण की ओर, कुछ उत्तर की ओर ।

नागकुमारो के दो इद्र है, धरणेन्द्र और भूतानन्द। धरणेन्द्र का शासन दक्षिण नागकुमारो पर है और उत्तर की ओर जो नागकुमार है उन पर भूतानन्द का शासन है। धरणेन्द्र की छ अग्रमहिषिया है उनके नाम है—आला, शक्रा, शतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा और घनविद्युत्। भूतानन्द नागकुमारेन्द्र की भी छ: अग्रमहिषिया है जैसे कि रूपा, रूपाशा, सुरूपा, रूपवती, रूपकान्ता और रूपप्रभा।

असुरकुमार को छोड़कर शेष आठ इन्द्रो की पट्टदेवियो के नाम धरणेन्द्र की अग्रमहिषियो के ही समान है।

उत्तरीय आठ इद्रों की पट्टदेवियो के नाम भूतानन्द इन्द्र की अग्रमहिषियो के समान जानने चाहिए। घोष और महाघोष इन्द्रो तक सबकी अग्रमहिषियो की नामावली भी उपर्युक्त नामावली के ही समान है।

धरणेन्द्र के सामानिक देवों की संख्या

मूल—धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो छस्सामाणियसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। एवं भूयाणंदस्सवि जाव महाघोसस्स।३५।

छाया—धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य षट् सामानिकसहस्राणि प्रज्ञप्तानि एवं भूतानन्दस्यापि यावत् महाघोषस्य।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—नागकुमारों के इन्द्र नागकुमारों के राजा के छ हजार सामानिक देव कथन किये गए है। इसी प्रकार भूतानन्द से लेकर शेष महाघोष तक भवनपति समस्त इन्द्रों के सामानिक देवो को सख्या छ छ हजार ही जाननी चाहिए।

विवेचनिका—

देवलोको के देवो की षट् सख्या से सम्बद्ध देव-समृद्धि के वर्णन की परम्परा मे प्रस्तुत सूत्र सामानिक देवो की सख्या का परिचय देरहा है। नागकुमार महाराजा धरणेन्द्र के छ हजार सामानिक देव है। इसी प्रकार भूतानन्द नागकुमारेन्द्र के भी छ हजार सामानिक देव है। असुर कुमारो के अतिरिक्त शेष आठ भवनपतियो के सोलह इन्द्रो के सामानिक देवो की भी सख्या छ-छ हजार जाननी चाहिए।

पूर्वोक्त सूत्रो मे देव और देवियो का जो वर्णन किया जा रहा है उस वर्णन के दो कारण प्रतीत होते है—एक तो इन्द्र और उनके देव और देवियो का परिवार व उनकी ऋद्धि का यथावत ज्ञान हो जाय और दूसरे सघ-रक्षा एव शासन-प्रभावना के लिये यदि कभी इनका आह्वान करना

तो मुनिराज इनका आह्वान भी कर सके। विना परिचय के आह्वान किसका किया जाय? आगमों मे **"विज्जाप्पहाणा मंतप्पहाणा"** ये दो विशेषण स्थविर मुनियो के दिए गए है। जो स्थविर मुनि देवियो के आह्वान मे समर्थ है उनका विशेषण **'विज्जाप्पहाणा'** है और जो मुनि देवो का आह्वान करने मे समर्थ है उनका विशेषण **'मंतप्पहाणा'** है। इनके आह्वान की विधि गुरु-आम्नाय द्वारा ही जानी जा सकती है।

मतिज्ञान का क्रमिक विकास

मूल—**छव्विहा उग्गहमई, पण्णत्ता, तं जहा—खिप्पमोगिण्हइ, बहुमोगिण्हइ, बहुविधमोगिण्हइ, धुवमोगिण्हइ, अणिस्सियमोगिण्हइ, असंदिद्धमोगिण्हइ।**

छव्विहा ईहामई पण्णत्ता, तं जहा—खिप्पमीहइ, बहुमीहइ जाव असंदिद्धमीहइ।

छव्विहा अवायमई पण्णत्ता, तं जहा—खिप्पमवेइ जाव असंदिद्धमवेइ।

छव्विहा धारणा पण्णत्ता, तं जहा—बहुं धारेइ, बहुविहं धारेइ, पोराणं धारेइ, दुद्धरं धारेइ, अणिस्सियं धारेइ, असंदिद्धं धारेइ।३६।

छाया—षड्विधा अवग्रहमतिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—क्षिप्रमवगृह्णाति, बहुमवगृह्णाति, बहुविधमवगृह्णाति, ध्रुवमवगृह्णाति, अनिश्रितमवगृह्णाति, असदिग्धमवगृह्णाति।

षड्विधेहामतिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—क्षिप्रमीहति, बहुमीहति, यावदसंदिग्धमीहति।

षड्विधा अवायमतिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—क्षिप्रमवेति यावदसंदिग्धमवेति।

षड्विधा धारणा प्रज्ञप्ता, तद्यथा बहुं धारयति, बहुविधं धारयति, पुराणं धारयति, दुर्द्धरं धारयति, अनिश्रितं धारयति, असंदिग्ध धारयति।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—अवग्रह-मतिज्ञान छः प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—क्षिप्र, बहु, बहुविध, ध्रुव, अनिश्रित, असदिग्ध।

ईहा-मतिज्ञान छः प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—क्षिप्र, बहु यावत् असंदिग्ध।

अवाय-मतिज्ञान छः प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—क्षिप्र यावत् असंदिग्ध।

धारणा मतिज्ञान छः प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—बहु, बहुविध, पुराण, दुर्द्धर, अनिश्रित और असंदिग्ध ।

विवेचनिका—

स्वभाव से ही देव विशिष्ट मतिवाले होते है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे मतिज्ञान के भेदो का दिग्दर्शन कराया गया है । मतिज्ञान आभिनिबोधिक ज्ञान का ही पर्यायवाची शब्द है । यह मतिज्ञान चार प्रकार का है, जैसेकि—अवग्रह-मति, ईहा-मति, अवाय-मति और धारणा-मति ।

अर्थ और व्यजन के भेद से अवग्रह दो तरह का होता है—अर्थावग्रह और व्यजनावग्रह । इसमे अर्थावग्रह भी दो प्रकार का है, नैश्चयिक-अर्थावग्रह और व्यावहारिक अर्थावग्रह । एक समय मे होनेवाला अवग्रह नैश्चयिक अर्थावग्रह कहलाता है और असख्यात समयो मे होनेवाले अर्थावग्रह को व्यावहारिक अर्थावग्रह माना जाता है । इस प्रकरण मे अर्थ का अभिप्राय है वस्तु । अर्थ सामान्य तथा विशेष दो तरह का होता है ।

व्यजनावग्रह का कालमान कम से कम आवलिका का असख्यातवा भाग तथा अधिक से अधिक पृथक्त्व अर्थात् दो से लेकर नौ श्वासोच्छवास प्रमाण होता है ।

ईहा—अवग्रह के द्वारा किए गए सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चय करने के लिये जो विचारणा होती है, वह ईहा है । इसका कालमान अन्तर्मुहूर्त है ।

अवाय—ईहा के द्वारा ग्रहण किए हुए विशेप अर्थ का एकाग्रता से निश्चय करना अवाय है । इसका कालमान भी अन्तर्मुहूर्त है । अवाय की प्रक्रिया कुछ काल तक स्थिर रहती है, पुन ध्यान विषयान्तर मे चले जाने से किया हुआ निश्चय लुप्त तो हो जाता है, किन्तु वह अपने पीछे ऐसे सस्कार छोड़ जाता है जिससे समयान्तर मे किसी योग्य निमित्त के मिलने पर उस निश्चित किए हुए विषय का पुन: स्मरण हो आता है ।

धारणा—निश्चय की अजस्र धारा, तज्जन्य सस्कार और सस्कार-जन्य स्मरण, इस मति-व्यापार को धारणा कहते है । इसका कालमान सख्यात काल भी है और असख्यात काल भी ।

जो अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा शीघ्रता से वस्तु-तत्त्व को जानते है, उन्हे **"क्षिप्रग्राही"** कहा जाता है । यदि वे एक साथ बहुत से पदार्थो को ग्रहण करते है, तब उन्हे बहुग्राही कहते है । जब वे एक ही वस्तु को विविध दृष्टियो से ग्रहण करते है, तब उन्हे **"बहुविधग्राही"** कहा जाता है । जब वे सामग्री होने पर विषय को अवश्यभावी जाननेवाले हो, तब अवग्रह आदि **"ध्रुवग्राही"** कहलाते है । जब अवग्रह आदि बिना किसी हेतु के ही ज्ञान करते है, तब उन्हे **"अनिश्रितग्राही"** कहते है । जब वे सन्देह रहित ज्ञान करते है, तब उन्हे **"असदिग्धग्राही"** कहा जाता है ।

धारणा सूत्र मे क्षिप्र और ध्रुव, इन दो पदो के स्थान पर "पोराण" और "दुर्द्धर" ये दो पद ग्रहण किए गए है । पोराण का अर्थ है—बहुत प्राचीन बातो की स्मृति रखना और दुर्द्धर का अर्थ है—गहन एव विचित्र विषयो की स्मृति रखना । मतिज्ञान के अट्ठाईस भेदो को बारह से गुणा करने से श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के ३३६ भेद बन जाते है तथा चार भेद अश्रुतनिश्रित के । ये कुल मिलाकर मतिज्ञान के ३४० भेद होते है ।

बाह्य और आभ्यन्तर तप

मूल—छव्विहे बाहिरए तवे पण्णत्ते, तं जहा—अणसणं, ओमोयरिया भिक्खाय-
रिया, रसपरिच्चाए, कायकिलेसो, पडिसंलीनया ।
छव्विहे अब्भंतरिए तवे पण्णत्ते, तं जहा—पायच्छित्तं, विणओ, वेयावच्चं
तहेव सज्झाओ, झाणं, विउस्सग्गो ।३७।

छाया—षड्विधं बाह्यं तपः प्रज्ञप्तं तद्यथा—अनशनम्, अवमोदरिका, भिक्षाचर्या, रसपरित्यागः, कायक्लेशः, प्रतिसंलीनता ।
षड्विधं आभ्यन्तरं तपः प्रज्ञप्तं, तद्यथा—प्रायश्चित्तं, विनयः, वैयावृत्यं, तथैव स्वाध्यायः, ध्यानं, व्युत्सर्गः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छ प्रकार का बाह्य तप वर्णन किया गया है, जैसे—अनशन, अवमोदरिका, भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, काय-क्लेश, प्रतिसलीनता ।
छः प्रकार का आभ्यन्तर तप वर्णन किया गया है, जैसे—प्रायश्चित्त, विनय, वेयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे मतिज्ञान का वर्णन किया गया है, मतिसपन्न व्यक्ति ही तप करते है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे वाह्य और आभ्यन्तर तप के छः-छ भेदो के नामों का उल्लेख किया गया है। वासनाओ को क्षीण करने के लिये, सचित कर्मो का क्षय करने के लिए तथा आध्यात्मिक वल वढाने के लिये जिन-जिन उपायो से शरीर, इन्द्रिय, कपाय, और मन को तापित किया जाता है, वे सभी उपाय तप कहलाते है, अथवा जो शरीर और कर्म को कृश करता है, वह तप है। वाह्य-साधना और अन्तः-साधना के भेद से तप भी दो प्रकार का माना गया है- वाह्यतप और आन्तरिक तप ।

बाह्यतप—

१. अनशन—अनशन का अर्थ है—आहार का त्याग । आहार त्याग के भी दो रूप है, थोडे काल के लिये त्याग और जीवन भर के लिये त्याग । एक उपवास से लेकर छः मास पर्यन्त जो आहार का त्याग किया जाता है उसे "इत्वरिक-अनशन" कहते है और जो आयु भर के लिये आहार का सर्वथा त्याग किया जाता है उसे "यावत्कथिक-अनशन" कहते हैं ।

यावत्कथिक अनशन के तीन मौलिक भेद है, जैसे कि—**पादपोपगमन, इंगित-मरण और भक्त-प्रत्याख्यान** । इन की व्याख्या पहले की जा चुकी है ।

२. **अवमोदरिका**—आवश्यकता से न्यून आहार करना, वस्त्र आदि उपकरण भी आवश्यकता से न्यून ही रखना, कषायो के वेग को रोकना, इस प्रकार तप की बाह्य प्रक्रियाओ को 'अवमोदरिका तप' कहा जाता है।

३ **भिक्षाचरी**—निर्दोप भिक्षा ग्रहण करना तथा विचित्र अभिग्रहपूर्वक भिक्षाटन के लिये जाना भिक्षाचरी तप है, इसे **वृत्ति-संक्षेप** भी कहते है। विविध-वस्तुओ के लालच को कम करना ही '**वृत्ति-संक्षेप**' है। अभिग्रह चार प्रकार का होता है, जैसे कि द्रव्य-अभिग्रह, क्षेत्र-अभिग्रह, काल-अभिग्रह और भाव-अभिग्रह। "मैं ऐसी वस्तु का सेवन करू गा जिससे हाथ या पात्र मे लेप भी न लगे," इस अभिग्रह को द्रव्य-अभिग्रह कहते है। "मर्यादित क्षेत्र से ही आहार ग्रहण करू गा" यह 'क्षेत्र-अभिग्रह' है। "दिन के अमुक प्रहर मे ही आहार ग्रहण करू गा" इसे काल-अभिग्रह कहा जाता है। 'जब आहार वहरानेवाला भक्ति-भाव से सम्पन्न होगा, तभी आहार ग्रहण करू गा' इस अभिग्रह को भावाभिग्रह कहा गया है।

४ **रसपरित्याग**—विकार जनक दूध-घी, दही आदि विगयो का त्याग तथा शरीर-पुष्टि के लिये वनाए गए पौष्टिक आहार का त्याग करना रस-परित्याग कहलाता है।

५. **काय-क्लेश**—आगम-सम्मत रीति से ऐसी क्रियाए करना, जिनसे शरीर कष्टो का अनुभव करे, जैसे कि केशलोच करना, शरीर की शुश्रूपा न करना, शरीर को न खुजलाना, वीरासन पद्मासन आदि आसन लगा कर वैठना, ये सब कायक्लेश तप के ही अनेक रूप है। कायक्लेश तप का उद्देश्य शरीर को कष्ट देना नही है, अपितु इसका उद्देश्य है—शरीरासक्ति को दूर करना।

६. **प्रतिसंलीनता**—विषयो मे प्रवेश करती हुई इन्द्रियो को रोकना, उदय मे आए कषायो को निष्फल को करना, योगो को रोकना, विविक्त शयनासन करना इत्यादि साधक की तप-प्रक्रियाए प्रतिसलीनता तप कहलाती है।

ये छ तरह के तप मुक्ति प्राप्ति के वाह्य अग है। जिनसे अधिकतर शरीर पर प्रभाव पडे, या जिस तप से जनता प्रभावित हो जाए, लोक मे तपस्वी की प्रसिद्धि हो जाए, ये सब बाह्य तप है। इनका प्रयोग मिथ्यादृष्टि भी करते है। लोग प्राय. वाह्य तप करने वालो को ही तपस्वी कहते है। परन्तु प्रदर्शनमात्र के लिये किया गया तप प्रशस्त तप नही कहलाता है।

आभ्यन्तर तप—

जो तप मुक्ति प्राप्ति मे अतरङ्ग कारण हो, जो लोगो द्वारा न जाना जाए, न प्रसिद्धि में सहायक हो तथा जो मोक्ष का साधक हो, उसे आभ्यतर तप कहते है। इसका सीधा सबध आत्मा के भावो से होता है। इस के भी छः भेद है, उनका विवरण निम्न लिखित है—

१. **प्रायश्चित्त**—लगे हुए दोपो की निवृत्ति के लिये आलोचना, निंदना, गर्हणा करना, गुरु के समक्ष बिना छिपाव के उपस्थित होकर अपने अवगुणो को प्रकट कर देना और पुन उस भूल को न दोहराने का सकल्प लेना ही प्रायश्चित्त तप है।

२. **विनय**—जिसके द्वारा आठ प्रकार के कर्मो का, आठ प्रकार के मद-स्थानो का उन्मूलन हो और चतुर्गतिरूप ससार का व्यवच्छेद हो उसे विनय कहते हैं। गुरुजनो का सम्मान करना, उनके

आने पर खड़े हो जाना, उन्हें हाथ जोड़ना, उन्हे आसन देना आदि सम्मान सूचक व्यवहार करना और गुरुजनो के समक्ष अपने अहंभाव को सर्वथा विगलित कर उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करना ही विनय है।

३. **वैयावृत्य**—धर्म-साधना के लिये तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित, स्थविर और अधिनायक मुनिवरो की सेवा करना, उन्हें आहार लाकर देना, उनके सयम एवं तप मे सहायता करना, वैयावृत्य तप है।

४. **स्वाध्याय**—अनध्याय का समय छोड कर मर्यादा-पूर्वक अध्ययन-अध्यापन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय के पाच भेद हैं, जैसे कि वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्म-कथा। इनका विस्तृत विवेचन पूर्व प्रकरणों में हो चुका है। यह स्वाध्याय भी चौथा आन्तरिक तप है।

५. **ध्यान**—आर्त्त और रौद्र इन दो ध्यानो को छोड़कर धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान ध्याना 'ध्यान-तप' है। यह तप सवर और निर्जरा का कारण है। आर्त्त और रौद्र ये दो ध्यान दुर्गति के कारण होने से सुखाभिलाषी आत्माओं के लिये त्याज्य माने गए है।

६. **व्युत्सर्ग**—व्युत्सर्ग तप के दो भेद है, द्रव्य-व्युत्सर्ग तप और भाव-व्युत्सर्ग तप। शरीर, उपधि और आहार आदि का त्याग करना द्रव्य-व्युत्सर्ग है और काम-क्रोध आदि बुराइयों का त्याग करना भाव-व्युत्सर्ग है[1]। आन्तरिक तप से आत्मा महानिर्जरा करता है और कर्मों का महापर्यवसान भी। ●

षड्विध विवाद

मूल—छव्विहेविवाए पण्णत्ते, तं जहा—ओसक्कइत्ता, उस्सक्कइत्ता, अणुलोमइत्ता, पडिलोमइत्ता, भइत्ता, भेलइत्ता।३८।

छाया—**षड्विधो विवादः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अवष्वष्क्य:, उत्ष्वष्क्य:, अनुलोम्य:, प्रतिलोम्य:, भक्त्वा, भेलयित्वा।**

शब्दार्थ—**छव्विहे विवाए पण्णत्ते, तं जहा**—छः प्रकार का विवाद कथन किया गया है, जैसे; **ओसक्कइत्ता**—प्रस्तुत विवाद को स्थगितकर पुनः तैयारी करके विवाद करना; **उस्सक्कइत्ता**—उचित अवसर पर विवाद के लिये उत्सुक रहना, **अणुलोमइत्ता**—विवादाध्यक्ष को साम नीति से अपने अनुकूल करना; **पडिलोमइत्ता**—दृढ सामर्थ्य होने पर विवादाध्यक्ष अथवा वादी को प्रतिकूल बना कर विवाद करना; **भइत्ता**—

---

१. विशेष विवरण के लिये देखिए औपपातिक सूत्र 'तप-अधिकार' और भगवती सूत्र के पच्चीसवे शतक का सातवां उद्देशक।

अध्यक्षो की सेवा करके विवाद करना, भेलइत्ता—अपने पक्षपातियो को निर्णायक मण्डल मे मिलाकर किया जानेवाला विवाद।

मूलार्थ—छः प्रकार का विवाद वर्णन किया गया है, जैसे—उचित अवसर न जान कर विवाद को स्थगित कर देना, उचित अवसर जानकर विवाद के लिये शीघ्र ही उत्सुक होना, विवादाध्यक्ष आदि को अनुकूल बना कर किया जाने वाला विवाद, विवादाध्यक्ष को यथावसर प्रतिकूल बना कर किया जानेवाला विवाद, विवादाध्यक्ष आदि को सेवा-पूर्वक किया जानेवाला विवाद और अपने पक्षपातियो को निर्णायक मण्डल मे सम्मिलित करवाकर किया जानेवाला विवाद।

विवेचनिका—

आत्मा की विजय और कर्मो की पराजय तप से होती है, दो व्यक्तियो मे एक की जय और दूसरे की पराजय विवाद से ही होती है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे विवाद का उल्लेख किया गया है।

वादी और प्रतिवादी जब जय-पराजय की भावना को लेकर किसी समस्या पर शास्त्रार्थ करते है तो उसे विवाद कहते है। तत्त्व-निर्णय की इच्छा से केशीकुमार और गौतम स्वामी के मध्य जो प्रश्नोत्तर हुए है, इस रीति को विवाद नही सवाद कहते है। विवाद के छ. भेद होते है, जैसे कि—

ओसक्कइत्ता—स्वर्णावसर की प्रतीक्षा करते हुए विलम्ब करके विवाद करना। कही-कही **"ओसक्कावइत्ता"** पाठ भी प्राप्त होता है, उसका अर्थ है किसी बहाने से प्रतिपक्षी को हटा कर फिर अवसर पाकर शास्त्रार्थ करना।

उसक्कइत्ता—सुअवसर पाकर महती उत्सुकता के साथ विवाद करने के लिये प्रवृत्त होना। प्रतिवादी की मान्यता को ही अपनी मान्यता मानकर उसीका पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते हुए विवाद करना।

अणुलोमइत्ता—प्रतिपक्षी को या मध्यस्थ एव सभ्यो को साम, दाम आदि नीति से अनुकूल करके पहले प्रतिपक्षी का पक्ष ग्रहण करके फिर विवाद मे प्रवृत्त होना।

पडिलोमइत्ता—अपने विद्या आदि बल के सामर्थ्य से प्रतिवादी को चुनौती देते हुए अध्यक्ष एव प्रतिपक्षी को प्रतिकूल बनाकर फिर विवाद करना।

भइत्ता—निर्णायको की स्तुति एव सेवा आदि के द्वारा अपने पक्ष का समर्थन प्राप्त कर अपनी विजय सिद्धि के लिये विवाद करना।

भेलइत्ता—किसी भी उपाय से निर्णायको को प्रतिपक्षी का विरोधी बनाकर विवाद करना।

वस्तुतः विवाद त्याज्य है, क्योकि इसमें विजय की भावना रहती है। विजय तभी होती है जब दूसरे को पराजित किया जाय। पराजय से दूसरो का मन दुखता है, अत. विजय की भावना के

पीछे दूसरे की पराजय का भाव होने से इसमे हिसा है और हिंसा-विरमण साधु का प्रथम कर्त्तव्य है। वाद-विवाद मे छल-कपट का भी आश्रय लिया जाता है। छल-कपट 'माया' है। माया कषाय हैं, शल्य है। कषाय-विजयी ही साधुत्व के ऊंचे शिखरो पर आसीन हो कर आत्म-कल्याण कर सकता है, अतः विवाद से वचने मे ही श्रेय है। विवाद से बचने के लिये ही 'अनेकान्तवाद' का आविर्भाव जैन सस्कृति की महती देन है। विवाद मे 'ही' की प्रधानता रहती है और अनेकान्त का उपासक 'भी' का आश्रय लेता हैं। जहा 'भी' है वहां विवाद हो ही नही सकता। अतः विवाद का उलझाव जैन सस्कृति को मान्य नही है। जो यहा उसको उपस्थित किया गया है वह केवल परिज्ञान के लिये है, आश्रय लेने के लिये नही। ●

क्षुद्र प्राणी

मूल—छव्विहा खुड्डा पाणा पण्णत्ता, तं जहा—बेंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, संमुच्छिमपंचिंदिय-तिरिक्खजोणिया, तेउकाइया, वाउकाइया ।३९।

छाया—षड्विधाः क्षुद्राः प्राणाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—द्वीन्द्रियाः, त्रीन्द्रियाः, चतुरिन्द्रियाः, सम्मूर्च्छिम-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः, तेजस्कायिकाः, वायुकायिकाः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—क्षुद्र प्राणी छः प्रकार के कथन किये गए है, जैसे—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सम्मूर्च्छिम-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्च, तेजस्कायिक और वायुकायिक।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में विवाद का वर्णन किया गया है। विवाद करनेवाले प्रायः मायावी होते है और मायावी जीव प्राय. तिर्यञ्चगति मे ही उत्पन्न होते है। उनमे भी वे क्षुद्र प्राणी के रूप मे उत्पन्न होते है। क्षुद्र प्राणी छ प्रकार के होते हैं—द्वीन्द्रियजीव, त्रीन्द्रिय जीव, चतुरिन्द्रिय जीव; सम्मूर्छिम पचेन्द्रिय तिर्यञ्च, तेजस्कायिक जीव और वायुकायिक जीव। इन्हे क्षुद्र प्राणी इसलिये कहा जाता है कि इनमे कोई भी देव जन्म नही लेता और न इनसे निकल कर कोई जीव चरम-शरीरी ही बन सकता है। पृथिवी, अप्, वनस्पति और गर्भज इनमे जीव देवगति से लौटकर जन्म ले सकता है और इनसे निकला हुआ जीव मनुष्य-जन्म पाकर सिद्धत्व को भी प्राप्त कर सकता है।

सयमी पुरुषों को इनकी रक्षा के लिये यत्नशील होना चाहिए, इसलिये इनका यहा परिचय दिया गया है। ●

षड्विधा गोचरचर्या

मूल—छव्विहा गोयरचरिया पण्णत्ता, तं जहा—पेडा, अद्धपेडा, गोमुत्तिया,

पतंगविहिया, संबुक्कवट्टा, गंतुंपच्चागया ।४०।

छाया—षड्विधा गोचरचर्या प्रज्ञप्ता तद्यथा—पेटा, अर्धपेटा, गोमूत्रिका, पतंगवीथिका, शंबूकावर्त्ता, गत्वा-प्रत्यागता ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छः प्रकार की गोचरचर्या प्ररूपित की गई है, जैसे कि—पेटा, अर्धपेटा, गोमूत्रिका, पतंगवीथिका, शबूकावर्त्ता, गत्वा-प्रत्यागता ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में क्षुद्र प्राणियो का परिचय दिया गया है। क्षुद्र-प्राणिता से बचने के लिये सयम की आवश्यकता है। सयमी वही हो सकता है जो क्षुद्र प्राणियों की भी रक्षा करता हुआ गोचरी करता है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे गोचरी के भेदो को उपस्थित किया गया है।

जिस तरह गौ बिना किसी भेद भाव के ऊच-नीच तृणो को चरती है, उन्हे जडमूल से नही उखाडती, उसी तरह साधु भी धर्म के साधनभूत शरीर की रक्षा के लिये ऊच, नीच और मध्यम कुलो मे भिक्षा के लिये प्रवेश करता है, अत: मुनियो की इस प्रकार की भिक्षावृत्ति ही गोचरी कहलाती है। अभिग्रह विशेष से इसके छः भेद होते हैं—

१. **पेटा**—जैसे पेटी चार कोनोवाली होती है। वैसे ही साधु ग्राम या घर आदि को पेटी की तरह चार कोणो मे विभक्त करके मध्य के घरो को छोडता हुआ सम श्रेणी से जब चारो दिशाओ मे गोचरी के लिये विचरता है, तब वह 'पेटा-गोचरी' कहलाती है।

२. **अर्द्धपेटा**—पेटी की तरह चार भागोवाला जो क्षेत्र या घर है उसके आधे मे जो साधु भिक्षा के निमित्त भ्रमण करता हुआ गोचरी करता है वह 'अर्द्धपेटा गोचरी' कहलाती है।

३. **गोमूत्रिका**—जिस भिक्षाचर्या मे कभी दाए से बाए और कभी बाएं से दाए के घरों मे साधु भिक्षार्थ भ्रमण करता है वह 'गोमूत्रिका-गोचरी' कहलाती है।

४. **पतंगवीथिका**—जैसे पतग अर्थात् शलभ उडता है उसकी तरह पहले एक घर से आहार लेना फिर पाच-छः घरो को छोडकर सातवे या आठवे घर से आहार लेना 'पतगवीथिका गोचरी' कहलाती है।

५. **शंखावर्त्ता**—शख मे जैसे गोल आवर्त होता है वैसे ही जो साधु एक घर गली के अदर और दूसरा घर गली से बाहर इस क्रम से भिक्षा ग्रहण करता है वह "शखावर्ता गोचरी" कही जाती है।

६. **गत-प्रत्यागता**—जिस भिक्षाचरी मे साधु गली की एक पक्ति के घरो मे गोचरी करता हुआ अंत तक चलता जाता है और वापसी मे दूसरी पक्ति के घरो से गोचरी लेता है, वह गोचरी 'गत-प्रत्यागता' कहलाती है।

इस तरह अभिग्रह विशेष के आश्रित होकर गोचरी के छः भेद प्रदर्शित किए गए हैं।

अपक्रान्त महानरक

मूल—जंबूद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणे णमिमीसे रयणप्पभाए पुढवीए छ अवकंतमहानिरया पण्णत्ता, तं जहा—लोले, लोलुए, उदड्ढे, निदड्ढे, जरए, पज्जरए।

चउत्थीए णं पंकप्पभाए पुढवीए छ अवक्कंता महानिरया पण्णत्ता, तं जहा—आरे, वारे, मारे, रोरे, रोरुए, खाडखडे ।४१।

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणे अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां षडपक्रान्तमहानिरयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—लोलः, लोलुकः, उद्दग्धः, निर्दग्धः, जरकः, प्रजरकः।

चतुर्थ्यां पङ्कप्रभायां पृथिव्यां षडपक्रान्तमहानिरयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आरः, वारः, मारः, रोरः, रोरुकः, खाडखडः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में मन्दर पर्वत की दक्षिण दिशा की ओर रत्नप्रभा पृथ्वी मे छ अपक्राम्त अर्थात् जघन्य महानरक विद्यमान है, जैसे—लोल, लोलुक, उद्दग्ध, निर्दग्ध, जरक और प्रजरक।

चौथी पंकप्रभा पृथ्वी मे छ जघन्य अर्थात् घृणित महानरक है, जैसे—आर, वार, मार, रोर, रोरुक, खाडखड।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे सयमशील साधु की गोचरचर्या का वर्णन किया गया है। सब प्रकार के भौतिक सुखो का परित्याग करनेवाले साधु का एक मात्र लक्ष्य परम-पद की ओर प्रस्थान करना ही होता है। नरक आदि दुर्गतियो की यातनाओ से मुक्त होने के लिये नरको का ज्ञान होना आवश्यक है, अत. प्रस्तुत सूत्र मे उन अपक्रान्त महानरकों का नामोल्लेख किया गया है जिनकी संख्या छः है।

जो जीव धर्म से सर्वथा विमुख है तथा धर्म-भ्रष्ट है, वे अपक्रान्त नैरयिक बनते है। जो महानरक समस्त शुभ भावो से रहित है, अन्य नरको से अतिनिकृष्ट तथा एकान्त अप्रिय स्थान है, उन्हीको अपक्रान्त नरक कहा गया है। यद्यपि सभी नरको मे जीव पाप-कर्म का फल भोगते है तथापि उनमे भी अपक्रान्त नरक अत्यन्त निकृष्ट होते है। रत्नप्रभा पृथिवी मे छ. अपक्रान्त महानरक है। उनके नाम है—लोल, लोलुक, उदग्ध, निर्दग्ध, जरक और प्रजरक। वास्तव मे देखा जाए तो ये छ. अपक्रान्त

महानरक दक्षिण दिशा की ओर है। चौथी पकप्रभा पृथ्विवी मे भी दक्षिण दिशा की ओर छः अपकान्त महानरक है, उनके नाम हैं—आर, वार, मार, रोर, रोरुक, और खाडखड। सात नरको मे ४९ प्रस्तट (पाथडे) है, जैसे कि तेरह, ग्यारह, नौ, सात, पांच, तीन और एक। रत्नप्रभा से लेकर सातवी तमतमा पृथिवी पर्यन्त क्रमशः उक्त सख्या जाननी चाहिए। कहा भी है—

"तेरसिक्कारस नव सत पच तिन्नेव होंति एक्को य।
पत्थडसंखा एसा सत्तसु वि कमेण पुढवीसु॥"

नरकों में दो तरह के नरकावास है—आवलिका-प्रविष्ट और पुष्पावकीर्ण। उनमे जो आवलिका-प्रविष्ट हैं वे तीन प्रकार के हैं, जैसे कि—गोलाकार, त्रिकोण और चौकोण,। जो पुष्पावकीर्ण नरकावास है उनके आकार विविध है। पहले नरक मे तीस लाख नारकावास है, उनमे ४४३३ नारकावास आवलिका-प्रविष्ट है। शेष सब पुष्पावकीर्ण है। पहले प्रस्तट मे ३८९ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास हैं, उनका क्रम इस प्रकार है। पूर्व आदि चार दिशाओ मे ४९-४९ आवलिका-प्रविष्ट-नरकावास हैं और आग्नेय आदि चार कोणों मे ४८-४८ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास है। उनके ठीक मध्यभाग मे सीमन्तक नरकेन्द्रक है। उसके आस-पास सब पुष्पावकीर्ण नारकावास है। दूसरे प्रस्तट मे आठ की सख्या घटा देनी चाहिए, इस क्रम से आठ-आठ की सख्या घटाते-घटाते तेरहवें प्रस्तट मे आवलिका-प्रविष्ट नारकावासों की कुल सख्या २९३ है। इस तरह तेरह प्रस्तटो मे आवलिका-प्रविष्ट नारकावासो की कुल सख्या ४४३३ तथा पुष्पावकीर्ण नारकावासो की सख्या २९९५५६७ है। दोनों को मिलाकर कुल ३०००००० नारकावास है।

शर्कराप्रभा पृथ्वी मे ११ प्रस्तट है। पच्चीस लाख नारकावास है। उनमे भी कुछ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास है और कुछ पुष्पावकीर्ण। पहले प्रस्तट मे चार दिशाओ मे ३६-३६ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास हैं और चार कोणों मे ३५-३५ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास है। उनके मध्य में एक नरकेन्द्रक है, इस रीतिसे २८५ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास है। क्रमश आठ-आठ की सख्या घटाते-घटाते ग्यारहवे प्रस्तट मे २२१ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास है। आवलिका प्रविष्ट नारकावासों की कुल सख्या २६९५ हे और पुष्पावकीर्ण नारकावासो की कुल सख्या २४९७३०५ है। उक्त दोनों नारकावासों को मिलाकर यहा के नरकावासों की सख्या २५००००० होती है।

वालुका-प्रभा पृथिवी में नौ प्रस्तट है, प्रत्येक दिशा में आवलिका-प्रविष्ट नारकावास २५-२५ है और प्रत्येक विदिशा में २४-२४ नारकावास है उनके मध्य मे एक नरकेन्द्रक है। इस प्रस्तट मे १९७ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास है। क्रमशः आठ-आठ की सख्या घटाते-घटाते नौवे प्रस्तट मे १३३ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास हैं। इनमे आवलिका-प्रविष्ट सभी नारकावासो की सख्या १४८५ है और पुष्पावकीर्ण नारकावासों की कुल सख्या १४९८५१५ है, दोनो का जोड़ १५००००० होता है।

पकप्रभा पृथ्वी मे सात प्रस्तट है। पहले प्रस्तट मे १२५ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास हैं। प्रत्येक दिशा मे १६-१६ और विदिशाओ मे १५-१५ है, आवलिका-प्रविष्ट नारकावासो के ठीक मध्य मे एक नरकेन्द्रक नारकावास है। आठ-आठ की सख्या घटाते हुए सातवे प्रस्तट मे ७७ आवलिका-

प्रविष्ट नारकावास हैं। सात प्रस्तटो मे आवलिका-प्रविष्ट नारकावासों की कुल संख्या ७०७ है और पुष्पावकीर्ण नारकवासो की कुल सख्या ९९९२९३ है, कुल मिलाकर १०००००० नारकावास हैं।

धूमप्रभा पृथिवी मे पाच प्रस्तट है। तीन लाख नारकावास है। पहले प्रस्तट मे प्रत्येक दिशा मे नौ-नौ और विदिशाओ मे आठ-आठ आवलिका-प्रविष्ट नारकावास है। उनके ठीक मध्य भाग मे नरकेन्द्रक है। पहले प्रस्तट मे आवलिका-प्रविष्ट नारकावासो की सख्या ६९ है। आठ-आठ घटाते-घटाते हुए पांचवे प्रस्तट मे कुल ३७ है। पाच प्रस्तटो मे कुल आवलिका-प्रविष्ट नारकावास २६५ है और पुष्पावकीर्ण नरकावास २९९७३५ है, कुल मिलाकर ३००००० नारकावास है।

तमप्रभा पृथ्वी मे तीन प्रस्तट है। उनमे आवलिका-प्रविष्ट ६३ नारकावास है। पहले प्रस्तट मे २९ है। प्रत्येक दिशा मे चार-चार है और विदिशा मे तीन-तीन आवलिका-प्रविष्ट नारकावास है और एक मध्य मे नरकेन्द्रक है। आठ-आठ घटाते हुए तीसरे प्रस्तट मे आवलिका-प्रविष्ट नारकावासो की सख्या १३ है। तीनो प्रस्तटो मे पुष्पावकीर्ण नारकावासो की सख्या ९९९३२ है आवलिका प्रविष्ट नारकावासो की सख्या ६३+९९९३२ को मिलाकर कुल सख्या नारकावासो की ९९९९५ होती है।

तमतमा पृथ्वी मे एक ही प्रस्तट है। चार दिशाओं मे त्रिकोण सठाण वाले चार नारकावास है, उन के ठीक मध्यभाग मे गोलाकार जवूद्वीप प्रमाण अप्रतिष्ठान नारकावास है, जिसमे प्रतिपूर्ण ३३ सागरोपम की स्थिति है।

प्रस्तुत सूत्र मे भी जिस-जिस नरक के छ-छ अपक्रान्त महानारकावास है, उन्ही का उल्लेख किया गया है। अपक्रान्त महानारकावास सभी आवलिका-प्रविष्ट है और अन्य नारकावासो की अपेक्षा ये अधिक अनिष्टकारी माने जाते है। इन अपक्रान्त नरकों मे एकान्त अधर्मी जीव ही उत्पन्न होते है। अन्य नरको मे भी अपक्रान्त नरक है, किन्तु उनकी सख्या अधिक होने से इसमे उनका उल्लेख नही किया गया है।

ब्रह्मलोक के विमान-प्रस्तट

मूल—बंभलोगे णं कप्पे छ विमाणपत्थडा पण्णत्ता, तं जहा—अरए, विरए, णीरये, निम्मले, वितिमिरे, विसुद्धे ।४२।

छाया—ब्रह्मलोके कल्पे षड् विमान-प्रस्तटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अरजः, विरजः, नीरजः, निर्मलः, वितिमिरः, विशुद्धः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—ब्रह्मलोक नामक कल्प मे विमानों के छ. प्रस्तट वर्णन किये गए है, जैसे—

अरज, विरज, नीरज, निर्मल, वितिमिर और विशुद्ध ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे अधोलोकस्थित नरको का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार ऊर्ध्वदृष्टि होकर ब्रह्मलोक के विमान-प्रस्तटो का वर्णन करते है। पाचवे देवलोक ब्रह्म-कल्प मे छः विमान-प्रस्तट है। भवन के मध्य मे जितने अनराल भाग होते है, वे सब प्रस्तट कहलाते है। विशुद्ध वैमानिक देवो के कुल ६२ प्रस्तट है। पहले और दूसरे देवलोक मे १३ विमान-प्रस्तट है। तीसरे और चौथे देवलोक में १२ विमान-प्रस्तट हैं। पाचवे देवलोक मे छ विमान-प्रस्तट है। छट्ठे मे पाच विमान-प्रस्तट है, सातवे देवलोक मे चार और आठवे देवलोक में भी चार ही विमान-प्रस्तट है। नौवे और दसवे देवलोको मे चार-चार विमान-प्रस्तट है। इसी प्रकार चार विमान प्रस्तट ग्यारहवे और बारहवे देवलोक मे है। नौवे ग्रैवेयक देवलोक के अधोभाग मे तीन, मध्यभाग में तीन और ऊर्ध्वभाग मे भी तीन। इस प्रकार से ९ विमान-प्रस्तट हैं और पाच अनुत्तर विमानो मे एक ही विमान-प्रस्तट है। इस प्रकार १३+१२+६+५+४+४+४+४+९+१=कुल ६२ विमान प्रस्तट है।

विमान-प्रस्तटो का प्रभाव देवो की अवगहना लेश्या,और स्थिति पर एव सुख और समृद्धि पर पडता है। नीचे के प्रस्तटो मे अवगहना, लेश्या, ऋद्धि, स्थिति और सुख कम और ऊपर के प्रस्तटों में अवगहना छोटी, लेश्या विशुद्ध और स्थिति एव सुख अधिक होता है, जैसे कि पहले और दूसरे देवलोक के पहले प्रस्तट मे स्थिति एक पल्योपम या पल्योपम से कुछ अधिक और तेरहवे विमान-प्रस्तट मे दो सागरोपम से कुछ अधिक की स्थिति है। प्रस्तुत सूत्र मे पाचवे देवलोक के छ विमान-प्रस्तटो के नामोल्लेख किए गए हैं, अरज, विरज, नीरज, निर्मल, वितिमिर और विशुद्ध। ये प्रस्तटो के नाम हैं। छट्ठे स्थान के अनुरोध से अन्य प्रस्तटो के नाम यहां नही दिए गए।[1]

चन्द्र के छः नक्षत्रों की योगस्थिति

मूल—चंदस्स णं जोइसिंदस्स जोइसरन्नो छ णक्खत्ता पुव्वंभागा समखेत्ता तीसति-मुहुत्ता पण्णत्ता, तं जहा—पुव्वाभद्दवया, कत्तिया, महा, पुव्वाफग्गुणी, मूलो, पुव्वासाढा ।

चंदस्स णं जोइसिंदस्स जोइसरण्णो छ णक्खत्ता णत्तंभागा अवड्ढ-क्खेत्ता पन्नरसमुहुत्ता पण्णत्ता, तं जहा—सयभिसया, भरणी, अद्दा, अस्सेसा, साई, जेट्ठा ।

---

1 समवायाग सूत्र के ६२वे समवाय मे सभी विमानो के ६२ प्रस्तटो का वर्णन किया गया है।

चंदस्स णं जोइसिंदस्स जोइसरन्नो छः नक्खत्ता उभयं भागा दिवड्ढखेत्ता पणयालीसमुहुत्ता पण्णत्ता, तं जहा—रोहिणी, पुणव्वसू, उत्तराफग्गुणी, विसाहा, उत्तरासाढा, उत्तराभद्दवया ।४३।

छाया—चन्द्रस्य ज्योतिरिन्द्रस्य ज्योतीराजस्य षड् नक्षत्राणि पूर्वभागानि समक्षेत्राणि त्रिंशन्मुहूर्त्तानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पूर्वाभाद्रपदा, कृत्तिका, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, मूलं, पूर्वाषाढा ।

चन्द्रस्य ज्योतिरिन्द्रस्य ज्योतीराजस्य षड्नक्षत्राणि नक्तं भागानि अपार्द्धक्षेत्राणि पञ्चदशमुहूर्त्तानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—शतभिषज्, भरणी, आर्द्रा, अश्लेषा, स्वाति, ज्येष्ठा ।

चन्द्रस्य ज्योतिरिन्द्रस्य ज्योतीराजस्य षड्नक्षत्राणि उभयभागानि द्व्यपार्द्धक्षेत्राणि पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्तानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—रोहिणी, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, विशाखा, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपदा ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—ज्योतिपियो के इन्द्र तथा ज्योतिष-राज चन्द्रमा के छ नक्षत्र पूर्व भाग मे रहनेवाले, समक्षेत्रवाले एवं तीस मुहूर्त्तवाले वर्णन किये गए है, जैसे—पूर्वाभाद्रपदा, कृत्तिका, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, मूल, पूर्वाषाढा ।

ज्योतिरिन्द्र एव ज्योतीराजा चन्द्रमा के छः नक्षत्र रात्रि-भाग में अवस्थित, अर्धक्षेत्री, पन्द्रह-पन्द्रह मुहूर्त्तवाले कथन किये गए है, जैसे—शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, अश्लेषा, स्वाति, ज्येष्ठा ।

ज्योतिषियों के इन्द्र, ज्योतिषियों के राजा चन्द्र के छः नक्षत्र दोनों भाग वाले डेढ क्षेत्रवाले एव पैंतालीस मुहूर्त्तवाले कथन किये गए है, जैसे—रोहिणी, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, विशाखा, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपदा ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे ऊर्ध्व दृष्टि सूत्रकार ने ब्रह्मलोक के छ प्रस्तटो का ही वर्णन किया है। अब तिर्यग् लोकस्थित चन्द्र और नक्षत्रो के योग का निर्देश किया जा रहा है। पूर्वाभाद्रपदा, कृत्तिका, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, मूला और पूर्वाषाढा इन छः नक्षत्रो का तीस मुहूर्तपर्यन्त चन्द्र के साथ योग रहता है। शतभिषज्, भरणी, आर्द्रा, अश्लेषा, स्वाती और ज्येष्ठा इन नक्षत्रो का योग चद्र के साथ पद्रह

मुहूर्त तक रहता है। रोहिणी, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, विशाखा, उत्तराषाढा और उत्तराभाद्रपदा इन छ नक्षत्रो का योग चद्र के साथ ४५ मुहूर्त रहता है।

सूत्रकर्त्ता ने जो **"पुव्वंभागा, समखेत्ता"** ये दो पद दिए है इनका भाव यह है कि जो नक्षत्र चन्द्रमा के आगे से अर्थात् पूर्वभाग से योग जोड़ते है, वे तीस मुहूर्त तक चद्र के साथ ही रहते है। २४ घटे तक जितने आकाश को चन्द्र स्पर्श करता है उसे समक्षेत्र कहते हैं, अत: जो नक्षत्र चन्द्रमा के आगे से योग जोडते है वे ३० मुहूर्त तक चद्र के साथ ही रहते है।

"नत्तंभागा, अवड्ढखेत्ता" इन दो पदो का भाव यह है कि **"नक्तं भागानि चन्द्रस्य समयोगिनीत्यर्थः"** जिन नक्षत्रो का चन्द्र के साथ योग रात को होता है वे १५ मुहूर्त पर्यन्त रहते है। बारह घटे तक ही उनके योग का कालमान है। अत. अहोरात्र के आधे क्षेत्र को चद्र जितना स्पर्श करता है उतने काल तक वे छः नक्षत्र चद्र के साथ रहते हैं।

"उभयंभागा"—जो नक्षत्र चद्र के साथ पूर्व और पश्चात् दोनो भागों मे योग करते है वे डेढ अहोरात्र तक चन्द्र के साथ रहते है। शेष दस नक्षत्रों का योग पश्चिम से होता है। जिस क्रम से नक्षत्रो का योग होना बतलाया गया है वह क्रम सुभिक्षकृत है, उससे यदि विपरीत हो तो दुर्भिक्षकृत होता है।

अभिचन्द्र कुलकर की अवगहना

मूल—अभिचंदे णं कुलगरे छ धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं हुत्था ।४४।

छाया—**अभिचन्द्रः कुलकरः षड्धनुः शतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेनाभवत् ।**

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—अभिचन्द्र कुलकर की ऊंचाई छः सौ धनुष की थी।

विवेचनिका—

प्रस्तुत सूत्र मे किंचित् शब्द-साम्य तथा वर्ण-साम्य से अभिचन्द्र नामक कुलकर का परिचय दिया गया है। राजनीति के प्रारम्भिकसभी व्यवस्थापक कुलकर कहे जाते है। इस अवसर्पिणीकाल में १५ कुलकरो में से दसवे कुलकर अभिचन्द्र हुए है। उनकी अवगहना ६०० धनुष की थी। पहले पाच कुलकरो के युग मे "हकार-नीति" का प्रयोग होता था अर्थात् जब कोई मनुष अनुचित कर्म करता था तो उसे तत्कालीन कुलकर 'हा' कह कर खेद प्रकट कर देता था, यही उसके लिये दण्ड माना जाता था और वह लज्जित होकर पुन: अपराध न करता था। छट्ठे से लेकर दसवे कुलकर तक 'मकार-नीति' प्रचलित थी, अर्थात् अपराधी को 'मा' अर्थात् तुम्हें ऐसा नही करना चाहिए, यह कह-कर उसकी अपराधवृत्ति को नियन्त्रित कर दिया जाता था। शेष पाच कुलकरो के समय में 'धिक्-नीति' चलती थी अर्थात् अपराध करने पर अपराधी को धिक्कारा जाता था और धीरे-धीरे अन्य

कठोर दण्डो का भी आविर्भाव होता गया। पन्द्रहवे कुलकर से ही प्रथम तीर्थङ्कर का जन्म होता है। वैदिक परम्परा मे कुलकरों को मनु कहा जाता है और उनकी संख्या चौदह बताई गई है। ●

भरत चक्रवर्ती का राज्य-काल

मूल—भरहे णं राया चाउरंतचक्कवट्टी छ पुव्वसयसहस्साइं महाराया हुत्था ।४५।

छाया—भरतः राजा चातुरन्तचक्रवर्ती षट् पूर्वशतसहस्राणि महाराजोऽभवत् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—चतुरन्त पृथिवी के स्वामी चक्रवर्ती महाराज भरत छः लाख पूर्व तक सम्राट् बने रहे।

विवेचनिका—

श्री नाभि कुलकर की अर्द्धांगिनी मरुदेवी की कुक्षि से भगवान ऋषभदेव जी का जन्म हुआ। उनके ज्येष्ठ सुपुत्र सुमगला के आत्मज महाराजा भरत चक्रवर्ती हुए। उनकी आयु उस युग के अनुसार चौरासी लाख पूर्व की थी। अन्य मनुष्यों की अपेक्षा महापुरुषो की आयु अपने युगानुसार मध्यमायु होती है। भरत चक्रवर्ती की कुछ आयु कुमारावस्था मे बीती और कुछ आयु महाराजा के रूप मे बीती, किन्तु चक्रवर्ती पद का उपभोग उन्होंने छः लाख पूर्व तक किया है। उनकी आज्ञा तीन ओर समुद्र और चौथी दिशा की ओर हिमवान् पर्वत पर्यन्त अखण्ड चलती रही। भरत राजा का "चाउरन्त चक्कवट्टी" विशेषण दिया गया है। इसका भाव यह है "चाउरंत त्ति—चत्वारोऽन्ताः समुद्रत्रयहिमवल्लक्षणा यस्यां सा चातुरंता पृथ्वी, तस्या मयं स्वामीति चातुरन्तत., स चासौ चक्रवर्ती चेति चातुरन्त चक्रवर्ती।" उन्होंने एक लाख पूर्व तक केवलज्ञान की पर्याय मे इस धरातल पर विचरण कर निर्वाण-पद प्राप्त किया। ऋषभ देव जी और भरत चक्रवर्ती इन दोनो का विशेष सम्मान वैदिक परम्परा ने भी किया है। भागवत पुराण के पाचवे स्कन्ध के छट्ठे अध्याय से लेकर ऋषभदेव जी और भरत चक्रवर्ती का ही वर्णन प्राप्त होता है। भरत चक्रवर्ती का इतिहास जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे तथा त्रिषष्टि-शलाका पुरुष के आदि पर्व मे विस्तृत रूप से प्राप्त होता है। ●

तीन तीर्थंकरों का ऐतिहासिक विषय

मूल—पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणियस्स छ सया वाईणं सदेवमणुयासुराए

परिसाए अपराजियाणं संपया होत्था ।

वासुपुज्जे णं अरहा छहिं पुरिससएहिं सद्धिं मुंडे जाव पव्वइए ।

चंदप्पभे णं अरहा छम्मासे छउमत्थे होत्था ।४६।

छाया—**पार्श्वस्य अर्हतः पुरुषादानीयस्य षट् शतानि वादिनां सदेवमनुजासुरायां परिषद्यामपराजितानां संपदाऽभवत् ।**

वासुपूज्योऽर्हन् षड्भिः पुरुषशतैः सार्द्धं मुण्डो यावत् प्रव्रजितः ।

चन्द्रप्रभोऽर्हन् षण्मासान् छद्मस्थोऽभवत् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ— आदरणीय पुरुष भगवान् पार्श्वनाथ के छः सौ वादी थे, जो देव, मनुष्य और असु ो की परिपदा मे भी सर्वथा अपराजित रहते थे । वासुपूज्य अर्हन् छह सौ पुरुपो के साथ दीक्षित एवं प्रव्रजित हुए । चन्द्रप्रभ अर्हन् साधना के क्षेत्र मे छह मास तक छद्मस्थ अवस्था मे रहे ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे चक्रवर्ती महाराज भरत के चक्रवर्तित्व काल का वर्णन किया गया है । अब उसी ऐतिहासिक परम्परा मे सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र मे तीन तीर्थङ्करो का उल्लेख करते है—

तेईसवे तीर्थंकर भागवान् पार्श्व नाथ जी की शिष्य-मण्डली मे ६०० ऐसे वाद-प्रवीण मुनिराज थे जिन्हे देव, मनुष्य और असुरो की परिपदा मे कोई भी पराजित नही कर सकता था । उन्हे पराजित करने की किसी मे भी सामर्थ्य न थी ।

वारहवे तीर्थङ्कर वासुपूज्य भगवान ने जव प्रव्रज्या ग्रहण की थी, तव उनके साथ ६०० मुमुक्षुओ ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की तथा द्रव्य और भाव से मुडित होकर प्रव्रजित हुए थे ।

आठवे तीर्थ कर श्री चन्द्रप्रभ भगवान छद्मस्थ पर्याय मे कुल छः मास रहे है । आवश्यक आदि ग्रन्थों मे पद्मप्रभ भगवान की छ मास छद्मस्थपर्याय का ही उल्लेख मिलता है और चन्द्रप्रभ जी की तीन महीने की छद्मस्थ अवस्था वताई गई है । यह मतान्तर भेद है । वास्तव मे आगम-प्रमाण ही सर्वोपरि है ।

त्रीन्द्रिय जीव विपयक सयम-असयम

मूल—**तेइंदियाणं जीवाणं असमारभमाणस्स छव्विहे संजमे कज्जइ, तं जहा—घाणमायाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, घाणमएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता**

भवइ, जिब्भामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ। एवं चेव फासामया-ओऽवि।

तेइंदियाणं जीवाणं समारभमाणस्स छव्विहे असंजमे कज्जइ, तं जहा— घाणामयाओ सोक्खाओ ववरोवेत्ता भवइ, घाणमएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवइ, जाव फासमएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवइ।४७।

छाया—त्रीन्द्रियान् जीवानसमारभमाणेन षड्विधः संयमः क्रियते, तद्यथा—घ्राणमयात्सौख्याद् अव्यपरोपयिता भवति, घ्राणमयेन दुःखेन असंयोजयिता भवति, जिह्वामयात् सौख्याद-व्यपरोपयिता भवति, एवञ्चैव स्पर्शमयादपि। त्रीन्द्रियान् जीवान् समारभमाणेन षड्विधोऽसंयमः क्रियते, तद्यथा—घ्राणमयात् सौख्याद् व्यपरोपयिता भवति, घ्राण-मयेन दुःखेन संयोजयिता भवति, यावत् स्पर्शमयेन दुःखेन संयोजयिता भवति।

शब्दार्थ—**तेइंदियाणं जीवाणं**—त्रीन्द्रिय जीवो की, **असमारभमाणस्स**—समारम्भ न करनेवाला; **छव्विहे संजमे कज्जइ**—छ प्रकार का सयम करता है; **तं जहा**—जैसे; **घाण-मयाओ सोक्खाओ**—घ्राण सम्बन्धी सुख का, **अववरोवेत्ता भवइ**—नाश करनेवाला नही होता है; **घाणमएणं दुक्खेणं**—घ्राण-सम्बन्धी दु:ख से; **असंजोएत्ता भवइ**—सयोग करनेवाला नही होता है; **जिब्भमयाओ सोक्खाओ**—जिह्वामय सुख का **अववरोवेत्ता भवइ**—नाश करनेवाला नही होता है। **एव चेव**—इसी प्रकार, **फासा-मयाओऽवि**—स्पर्श सम्बन्धी सुख आदि के सम्बन्ध मे जानना चाहिए।

तेइंदियाणं जीवाणं—त्रीन्द्रिय जीवो का; **समारभमाणस्स**—समारम्भ अर्थात् हिंसा करनेवाला, **छव्विहे असंजमे कज्जइ**—छह प्रकार का असयम करता है; **तं जहा**—जैसे, **घाणमयाओ सोक्खाओ**—घ्राण सम्बन्धी सुख का; **ववरोवेत्ता भवइ**—नाश करनेवाला होता है; **घाणामएणं दुक्खेणं**—घ्राण-सम्बन्धी दु ख से; **संजो-गेत्ता भवइ**—सयोग करनेवाला होता है; **जाव**—यावत्; **फासमएणं दुक्खेणं**—स्पर्श-सम्बन्धी दु ख से; **संजोगेत्ता भवइ**—सयोग करनेवाला होता है।

मूलार्थ—त्रीन्द्रिय जीवों की हिंसा न करनेवाला साधक व्यक्ति छ प्रकार का संयम करता है, जैसे—घ्राण-सम्बन्धी सुख का नाश नही करता है, घ्राण सम्बन्धी दु ख उत्पन्न नही करता है, जिह्वामय सुख का नाश नही करता है। इसी प्रकार स्पर्श तक जानना चाहिए।

त्रीन्द्रिय जीवो की हिंसा करनेवाला पुरुष छ: प्रकार का असयम करता

है, जैसे—घ्राण-सम्बन्धी सुख का नाश करनेवाला होता है, घ्राण सम्बन्धी दुःख उत्पन्न करने वाला होता है, यावत् स्पर्श-सम्बन्धी दु ख उत्पन्न करता है ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे तीन तीर्थङ्करो से सम्बद्ध घटनाओ का वर्णन किया गया है। तीर्थङ्करत्व की ओर अग्रसर होने के लिये असयम से निवृत्ति तथा सयम मे प्रवृत्ति आवश्यक है, अत. अव सूत्रकार इसी विषय का आंशिक विश्लेषण प्रस्तुत करते है।

यहा केवल तीन इन्द्रियोवाले जीवो की ही अपेक्षा से सयम और असयम का वर्णन किया गया है। जिन जीवो के शरीर मे स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय ये तीन ही इन्द्रिया होती है, उन्हे त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं। उन जीवो की हिंसा, परितापना आदि पाप-क्रियाए जव किसी जीव से नही होती, तव उसका सयम अहिंसा-जन्य माना जाता है, जैसे कि—

१. नासिका-सम्वन्धी सुख से त्रीन्द्रिय जीवो को वियुक्त न करना सयम है।
२. नासिका-सम्बन्धी दुःख से त्रीन्द्रिय जीवो को सयुक्त न करना सयम है।
३ त्रीन्द्रिय जीवो को जिह्वामय सुख से वियुक्त न करना सयम है।
४ त्रीन्द्रिय जीवो को जिह्वामय दुःख से सयुक्त न करना सयम है।
५ त्रीन्द्रिय जीवों को स्पर्शमय सुख से वियुक्त न करना सयम है।
६ त्रीन्द्रिय जीवों को स्पर्शमय दुःख से सयुक्त न करना सयम है।

इस प्रकार के सयमी जीव इन षड्विध पाप-क्रियाओ से निवृत्त रह कर छः प्रकार के सयमो की अनायास ही साधना कर लेते है। जो त्रीन्द्रिय जीवो की हिसा करनेवाले होते है, वे छ. प्रकार की असयममयी क्रियाओ मे प्रवृत्त होते है, जैसे कि—

१ त्रीन्द्रिय जीवो को घ्राणमय सुख से वचित करना असयम है।
२ त्रीन्द्रिय जीवो को घ्राणमय दु ख से सयोजित करना असयम है।
३ त्रीन्द्रिय जीवो को जिह्वामय सुख से वचित करना असयम है।
४ त्रीन्द्रिय जीवो को जिह्वामय दु.ख से सयोजित करना असयम है।
५ त्रीन्द्रिय जीवो को स्पर्शमय सुख से वचित करना असयम है।
६ त्रीन्द्रिय जीवो के लिये स्पर्शमय दु.ख का सयोजक वनना असयम है।

वस्तुत गुण और गुणी के अभेद को लक्ष्य मे रख कर प्रस्तुत वर्णन किया गया है। षड्विध सयम-प्राप्ति का अर्थ है त्रीन्द्रिय जीवो से सम्बद्ध सयम का पालन। इस दृष्टि मे सयमी छ प्रकार के होते है। इसी प्रकार असयम षड्विध होने से असयमी भी छः प्रकार के ही होते है।

द्वीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय आदि जीवो की रक्षा आदि को लक्ष्य मे रखकर भेद-सख्या कम और अधिक वनती है, अतः षट् स्थान के अनुरोध से यहा केवल त्रीन्द्रिय जीवो की अहिंसा और हिंसा को लक्ष्य मे रख कर सयम और असयम के छः-छ भेद उपस्थित किए गए हैं।

मनुष्य क्षेत्र में जिन की समानता है

मूल—जंबूद्दीवे दीवे छ अकम्मभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—हेमवए, हेरण्णवए, हरिवासे, रम्मगवासे, देवकुरा, उत्तरकुरा।

जंबूद्दीवे दीवे छ वासा पण्णत्ता, तं जहा—भरहे, एरवए, हेमवए हेरन्नवए, हरिवासे, रम्मगवासे।

जंबूद्दीवे दीवे छ वासहरपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—चुल्लहिमवंते, महाहिमवंते, निसढे, नोलवंते, रुप्पि, सिहरी।

जंबूमंदरदाहिणे णं छ कूडा पण्णत्ता, तं जहा—चुल्लहिमवंतकूडे वेसमणकूडे, महाहिमवंतकूडे, वेरुलियकूडे निसढकूडे, रूयगकूडे।

जंबूमंदरउत्तरे णं छ कूडा पण्णत्ता, तं जहा—नीलवंतकूडे, उवदंसणकूडे, रुप्पिकूडे, मणिकंचणकूडे, सिहरिकूडे, तिगिच्छकूडे।

जंबूद्दीवे दीवे छ महद्दहा पण्णत्ता, तं जहा—पउमद्दहे, महापउमद्दहे, तिगिच्छद्दहे, केसरिद्दहे, महापोंडरीयद्दहे, पुंडरीयद्दहे।

तत्थ णं छ देवयाओ महड्डियाओ जाव पलिओवमट्ठिइयाओ परिवसंति, तं जहा—सिरि, हिरि, धिइ, कित्ति, बुद्धि, लच्छी।

जंबूमंदरदाहिणे णं छ महानईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—गंगा, सिंधु, रोहिया, रोहियंसा, हरी, हरिकंता।

जंबूमंदरउत्तरे णं छ महानईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—नरकंता, नारिकंता, सुवन्नकूला, रुप्पकूला, रत्ता, रत्तवई।

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उभयकूले छ अंतरनईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—गाहावइ दहावई, पंकवई, तत्तजला, मत्तजला, उम्मत्तजला।

जंबूमंदरपच्चत्थिमे णं सीओयाए महानईए उभयकूले छ अंतरनईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—खीरोया, सीहसोया, अंतोवाहिणी, उम्मिमालिणी, फेणमालिणी, गंभीरमालिणी।

धायइसंडदीवपुरच्छिमद्धे णं छ अकम्मभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—हेमवए,

एवं जहा जंबूद्दीवे दीवे तहा नई जाव अंतरणईओ, जाव पुक्खरवरदी-वड्ढपच्चत्थिमद्धे भाणियव्वं ।४८।

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे षडकर्मभूमय. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हैमवतं, हैरण्यवतं, हरिवर्षं, रम्यकवर्षं, देवकुरा, उत्तरकुरा ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे षड् वर्षाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—भरतः ऐरवतं, हैमवतं, हैरण्यवतं, हरि-वर्षं, रम्यकवर्षम् ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे षड् वर्षधरपर्वता. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चुल्लहिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नीलवान्, रुक्मी, शिखरी ।

जम्बूमंदरदक्षिणे षट् कूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चुल्लहिमवान् कूटः, वैश्रमणकूट, महा-हिमवान् कूटः, वैडूर्यकूट, निषधकूट, रुचककूटः ।

जम्बूमन्दरोत्तरे षट् कूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नीलवान् कूट, उपदर्शनकूट., रुक्मिकूटः, मणिकाञ्चनकूटः, शिखरीकूटः, तिगिच्छकूटः ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे षण्महाद्रहाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पद्मह्लद, महापद्मह्लदः, तिगिच्छह्लदः, केशरीह्रदः, महापुण्डरीकह्लद, पुण्डरीकह्लदः ।

तत्र षड् देवताः महर्द्धिका यावत् पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—श्री., ह्रीः, धृतिः, कीर्तिः, बुद्धि, लक्ष्मी ।

जम्बूमन्दरदक्षिणे षण्महानद्य प्रज्ञप्तास्तद्यथा—गङ्गा, सिन्धु, रोहिता, रोहितांशा, हरी, हरिकान्ता ।

जम्बूमन्दरदक्षिणेन षण्महानद्य प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नरकान्ता, नारिकान्ता, सुवर्णकूला, रौप्यकूला, रक्ता, रक्तवती ।

जम्बूमन्दरोत्तरे सीतायाः महानद्याः उभयकूले षडन्तरनद्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ग्रहवती, द्रहवती, पङ्कवती, तप्तजला, मत्तजला, उन्मत्तजला ।

जम्बूमन्दरपश्चिमे सीतोदायाः महानद्याः उभयकूले षडन्तरनद्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा-क्षीरोदा, सिंहस्रोता, अन्तर्वाहिनी, ऊर्मिमालिनी, फेनमालिनी, गम्भीरमालिनी ।

धातकीषण्डद्वीपपौरस्त्यार्द्धे षडकर्मभूमयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हैमवतः, एव यथा जम्बूद्वीपे द्वीपे तथा नदी यावत् अन्तरनद्यः, यावत् पुष्करवरद्वीपार्द्धपश्चिमार्द्धे भणितव्यम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे छ अकर्मभूमियां कथन की गई है, जैसे—हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, देवकुरा, उत्तरकुरा ।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे छ वर्ष-क्षेत्र वर्णन किये गए है, जैसे—भरत, ऐर-वत, हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष ।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे छ वर्षधर पर्वत कथन किए गए है, जैसे कि चुल्लहिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नीलवान्, रुक्मी और शिखरी ।

जम्बूद्वीप में मेरु से दक्षिण की ओर छः कूट कथन किये गए है, जैसे—चुल्लहिमवान् कूट, वैश्रमणकूट, महाहिमवान् कूट, वैडूर्यकूट, निषधकूट, रुचककूट ।

जम्बूद्वीप मे मेरुपर्वत से उत्तर की ओर छः कूट कथन किये गए है, जैसे—नीलवान् कूट, उपदर्शन कूट, रुक्मी कूट, मणिकाचन कूट, शिखरी कूट, तिगिच्छकूट ।

जम्बूद्वीप में छ.महा-ह्रद कथन किये गए है, जैसे—पद्म-ह्रद, महापद्म-ह्रद, तिगिच्छ-ह्रद, केशरी-ह्रद, महापुण्डरीक-ह्रद, पुण्डरीक-ह्रद ।

उपर्युक्त छ. ह्रदो मे छः देविया परम ऋद्धिशालिनी यावत् पल्योपम-स्थिति वाली निवास करती है, जैसे कि—श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी ।

जम्बूद्वीप मे मेरुपर्वत से दक्षिण की ओर छः महानदिया कथन की गई है, जैसे—गङ्गा, सिन्धु, रोहिता, रोहितांशा, हरी, हरिकान्ता ।

जम्बूद्वीप मे मेरुपर्वत से उत्तर की ओर छः महानदियां कथन की गई है, जैसे—नरकान्ता, नारिकान्ता, सुवर्णकूला, रौप्यकूला, रक्ता, रक्तवती ।

जम्बूद्वीप मे मेरुपर्वत से पूर्व की ओर सीता महानदी के दोनों तटो पर छ. अन्तर नदियां कथन की गई है, जैसे—ग्राहवती, द्रहवती, पकवली तप्तजला, मत्तजला, उन्मत्तजला ।

जम्बूद्वीप मे मेरुपर्वत से पश्चिम की ओर सीतोदा महानदी के दोनो कूलो पर छ अन्तर नदियां कथन की गई है, जैसे—क्षीरोदा, सिहस्रोता, अन्तर्वाहिनी, उर्मिमालिनी, फेनमालिनी, गम्भीरमालिनी ।

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वार्द्ध में छः अकर्मभूमिया कथन की गई है, जैसे—हैमवत आदि । जिस भाति जम्बूद्वीप में नदियो से लेकर अन्तर नदी आदि तक का वर्णन किया गया है, उसी भांति यहा पर भी जानना चाहिए । पुष्करवरद्वीपार्द्ध तक पश्चिमार्द्ध में भी यही वर्णन समझना चाहिए ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे अहिंसा और हिंसा के रूप मे सयम और असयम का निर्देश किया गया है। सयम और असयम की प्ररूपणा मनुष्य-क्षेत्र मे ही होती है। मनुष्य क्षेत्र के अतर्गत भूमि, वर्ष, वर्षधरपर्वत, कूट, ह्रद (बहुत बडी झील) देवियां महानदियां अतर्नदियां छ-छ की सख्या जितनी भी पाई जाती है, उन सबका उल्लेख प्रस्तुत सूत्र में किया गया है। नाम-निर्देश मूलार्थ मे हो चुका है और इनका विस्तृत वर्णन दूसरे स्थान मे किया जा चुका है। यह विषय न धर्म की तरह ग्राह्य है और न पाप की तरह त्याज्य है, केवल ज्ञेयमात्र ही है।

छः ऋतुएं

मूल—छ उऊ पण्णत्ता, तं जहा–पाउसे, वरिसारत्ते, सरए, हेमंते, वसंते, गिम्हे ।४९।

छाया—षड् ऋतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रावृट्, वर्षारात्रं, शरद्, हेमन्तः, वसन्तः, ग्रीष्मः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छः ऋतुए वर्णन की गई है, जैसे—प्रावृट्, बरसात, शरद्, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे मनुष्य-क्षेत्र से सबधित ज्ञातव्य बातो का वर्णन किया गया है। मनुष्य-क्षेत्र में सभी व्यवस्थाए काल पर आधारित है, छ की सख्या मे वर्ष का विभाजन ऋतुओ के ही रूप मे होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे छ ऋतुओ का वर्णन किया गया है।

एक वर्ष मे छः ऋतुओ का आवागमन होता है। आषाढ और श्रावण में प्रावृट् ऋतु, भाद्रपद और आश्विन में वर्षा-ऋतु, कार्तिक और मार्गशीर्ष मास में शरद् ऋतु, पौष और माघ मे हेमन्त ऋतु फाल्गुन और चैत्र महीने मे वसत ऋतु, वैशाख और ज्येष्ठ में ग्रीष्म ऋतु होती है।

वृत्तिकार ने इस गणना को लोकोत्तरपक्ष माना है, लौकिक पक्ष मे चैत्र और वैशाख को वसत, जेठ और आषाढ को ग्रीष्म, श्रावण और भाद्रपद को वर्षा, आश्विन और कार्तिक को शरद्, मार्गशीर्ष और पौष को शीत, माघ और फाल्गुन को हेमन्त के रूप मे माना जाता है।

तिथिक्षय और तिथिवृद्धि

मूल—छ ओमरत्ता पण्णत्ता, तं जहा–तइए पव्वे, सत्तमे पव्वे, एक्कारसमे पव्वे,

पन्नरसमे पव्वे, एगूणवीसइमे पव्वे, तेवीसमे पव्वे ।

छ अइरत्ता पण्णत्ता, तं जहा—चउत्थे पव्वे, अट्ठमे पव्वे, दुवालसमे पव्वे, सोलसमे पव्वे, वीसइमे पव्वे, चउवीसइमे पव्वे ।५०।

छाया—षड् अवमरात्राः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—तृतीये पर्वणि, सप्तमे पर्वणि, एकादशमे पर्वणि, पञ्चदशमे पर्वणि, एकोनविंशतितमे पर्वणि, त्रयोविंशतितमे पर्वणि ।

षड् अतिरात्राः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चतुर्थे पर्वणि, अष्टमे पर्वणि, द्वादशमे पर्वणि षोडशे पर्वणि, विंशतितमे पर्वणि, चतुर्विंशतितमे पर्वणि ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छ अवमरात्रि अर्थात् तिथिक्षय कथन की गई हैं, जैसे—तीसरे पक्ष में, सातवे पक्ष मे, ग्यारहवे पक्ष में, पन्द्रहवे पक्ष में, उन्नीसवे पक्ष में और तेईसवे पक्ष में ।

छ अतिरात्रि अर्थात् तिथिवृद्धि कथन की गई है, जैसे—चौथे पक्ष में, आठवें पक्ष में, बारहवे पक्ष में, सोलहवे पक्ष में, वीसवे पक्ष में, चौबीसवे पक्ष मे ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे छ. ऋतुओ का वर्णन किया गया है । प्राकृतिक काल-व्यवस्था ऋतु है, इस काल-व्यवस्था मे कभी-कभी तिथि-सवर्धन एव तिथिक्षय से कुछ अन्तर आ जाया करता है । प्रस्तुत सूत्र मे इसी विषय का उल्लेख किया गया है । अमावस्या और पूर्णमासी को पर्व कहते है और इन से युक्त पक्ष भी पर्व कहलाता है । चद्रमास की अपेक्षा आषाढ, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख इन छ· महीनों के कृष्ण पक्ष मे एक-एक तिथि घटती है अर्थात् इन छ· महीनो का वही पक्ष चौदह अहोरात्र का होता है । इस सूत्र से यह बात विल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि तिथि शुक्लपक्ष मे नही, कृष्ण-पक्ष मे घटानी चाहिए, जिसका निर्देश सूत्रकार ने किया है ।

पाच वर्ष का एक युग होता है और एक युग मे तीस तिथिया घटती है । कौन कौन सी तिथि घटती है और कौन-कौन सी नही इसका उल्लेख आगमकार ने नही किया है ।

जिस तरह एक वर्ष मे छ· तिथियां घटती है वैसे ही शुक्ल पक्ष मे छ. तिथिया बढा भी करती हैं । जिस-जिस महीने के कृष्ण पक्ष मे तिथि घटती है, उस-उस महीने के शुक्ल पक्ष मे तिथिया बढा भी करती हैं । इन छ. महीनो के अतिरिक्त शेष छ· महीनो मे न तिथिया घटती है और न बढती है । वास्तव मे देखा जाए जो काल धर्म-साधना और अभ्युदय की दृष्टि से किसी के लिए शुभ है, वही काल दुष्कृत एव पतन की दृष्टि से किसी के लिये अशुभ भी है । अतः काल भी जीवन का एक अग है । ●

षड्विध अर्थावग्रह

मूल—आभिणिबोहियणाणस्स णं छव्विहे अत्थोग्गहे पण्णत्ते, तं जहा—सोइं-दियत्थोग्गहे, जाव नोइंदियत्थोग्गहे ।५१।

छाया—आभिनिबोधिकज्ञानस्य षड्विधोऽर्थावग्रहः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रहो यावत् नो इन्द्रियार्थावग्रहः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आभिनिबोधिक ज्ञान का अर्थावग्रह छ प्रकार का होता है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय-अर्थावग्रह यावत् नोइन्द्रिय-अर्थावग्रह ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे तिथिक्षय एव तिथि-वृद्धि रूप समय का वर्णन किया गया है। इस समय का ज्ञान मतिज्ञान से भी किया जाता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे मतिज्ञान के षड्विध अर्थावग्रह का निर्देश किया गया है। इन्द्रियो और मन के द्वारा जो विषय का सामान्य ज्ञान होता है उसे ही अर्थावग्रह कहा जाता है, अथवा पदार्थ को देखते ही पहली वार जो अर्थ की सूक्ष्म एव धूमिल सी झलक दिखाई देती है, या अनुभूति होती है, वही अर्थावग्रह है। जैसे विहित प्रयत्न के द्वारा छोटी सी चिंगारी से अग्नि के विशाल रूप को प्रकट किया जा सकता है, वैसे ही विषय का सामान्य बोध होने पर विचार-विमर्श के द्वारा उसे विराट् रूप दिया जा सकता है। जव अवग्रह नही होता तो ईहा आदि मे प्रवेश भी नही हो सकता। मतिज्ञान की अव्यक्त झलक सव से पहले इन्द्रिय और मन से ही होती है। इन्द्रिया और मन मतिज्ञान के वाह्य साधन है और मतिज्ञानावरणीय का क्षयोपशम आभ्यन्तर साधन है, इसके विना मतिज्ञान नही हो सकता।[1]

यह अर्थावग्रह पाच ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा और छटे मन के द्वारा जिसे सूत्रकार ने 'नो-इन्द्रिय' कहा है होता है, इस प्रकार अर्थावग्रह के छ भेद होते है, जैसे कि—श्रोत्रेन्द्रिय-अर्थावग्रह, चक्षुरिन्द्रिय-अर्थावग्रह, घ्राणेन्द्रिय-अर्थावग्रह, स्पर्शनेन्द्रिय-अर्थावग्रह, रसनेन्द्रिय-अर्थावग्रह और नो-इन्द्रिय-अर्थावग्रह ।

क्षायोपशमिक अवधिज्ञान

मूल—छव्विहे ओहिणाणे पण्णत्ते, तं जहा—आणुगामिए, अणाणुगामिए, वड्ढ-माणए, हीयमाणए, पडिवाई, अपडिवाई । ५२।

---

१ विशेष ज्ञान के लिये देखिए नन्दी-सूत्र ।

छाया— **षड्विधमवधिज्ञानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा— आनुगामिकम्, अनानुगामिकम्, वर्द्धमानम्, हीयमानम्, प्रतिपाति, अप्रतिपाति ।**

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छः प्रकार का अवधिज्ञान बताया गया है, जैसे—आनुगामिक, अनानुगामिक, वर्द्धमान, हीयमान, प्रतिपाति और अप्रतिपाति ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में अर्थावग्रह रूप अभिनिबोधिक परोक्ष ज्ञान का वर्णन किया गया है । अब सूत्रकार प्रत्यक्षज्ञान के रूप मे अवधि-ज्ञान का वर्णन करते है । इन्द्रियो और मन की सहायता के बिना अवधिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से रूपी द्रव्यो को स्पष्ट रूप से जाननेवाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है । जब आत्मा अवधिज्ञान के बल से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा के अनुसार रूपी पदार्थो को साक्षात् जानता है तब उसे इन्द्रिय और मन की सहायता की आवश्यकता नही रह जाती है । इस अवधिज्ञान के छ. भेद निम्न लिखित है, जैसे कि—

१. **आनुगामिक**—जो अवधि-ज्ञान इस जन्म मे और जन्मान्तर मे साथ जानेवाला हो, जैसे कि नेत्र-ज्योति प्रत्येक अवस्था मे साथ-साथ रहती है वही आनुगामिक अवधिज्ञान कहलाता है ।

२. **अनानुगामिक**—जिस स्थान पर या जिस जन्म मे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ हो, स्थानान्तर मे जाने से या जन्मान्तर मे जाने से वह ज्ञान यदि लुप्त हो जाए तो उसे अनानुगामिक अवधिज्ञान कहते है । शृ खला से प्रति-बद्ध दीपक जैसे सीमित स्थान मे ही प्रकाश देता है,वह कर्त्ता का अनुगमन नही करता, ठीक वैसे ही अनानुगामिक अवधिज्ञान भी ज्ञानी का अनुगमन नही करता । कहा भी है—

"अणुगामिओऽणुगच्छइ गच्छंतं लोयणं जहा पुरिसं,
इयरो व नाणुगच्छइ ठिअं पईवो व्व गच्छंतं ॥"

जिस स्थान मे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है वह वही पर रूपी पदार्थो को प्रकाशित करता है, अन्यत्र नही ।

२. **वर्द्धमान**—जो अवधिज्ञान सर्वप्रथम अगुल के असख्यातवे भाग मे रहे हुए द्रव्य को प्रकाशित करता है, परन्तु शुभ लेश्या और शुभपरिणामो से शुक्ल पक्ष की चद्रकलाओ की तरह बढता-बढता इतना बढ जाता है जिससे ज्ञानो अलोक का भी प्रत्यक्ष करने मे समर्थ हो जाता है, वह वर्द्धमान अवधिज्ञान कहलाता है ।

४. **हीयमान**—जैसे कृष्ण पक्ष मे चद्रकलाए दिन-प्रतिदिन घटती ही जाती है, वैसे ही जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के अनन्तर निरन्तर घटता ही जाए और घटते-घटते जघन्य स्तर पर पहुच जाए, वह हीयमान अवधिज्ञान कहलाता है । यह ज्ञान सक्लिष्ट परिणामो से प्रतिदिन, प्रतिसमय हीन से हीनतर मद-प्रकाशी हो जाता है ।

५. प्रतिपाति—जिस तरह हवा के झोके से दीपक एक दम बुझ जाता है, वैसे ही जो अवधि-ज्ञान उत्कृष्ट लोक-पर्यन्त प्रत्यक्ष करके एक दम लुप्त हो जाता है, वह प्रतिपाति अवधिज्ञान कहलाता है।

६. अप्रतिपाती—जो केवल ज्ञान होने से पहले नष्ट नही होता, वह अप्रतिपाति अवधिज्ञान कहलाता है। जिसनें अवधि-ज्ञान द्वारा अलोकाकाश के एक आकाश-प्रदेश को भी प्रत्यक्ष कर लिया है उस आत्मा का अवधिज्ञान नियमेन अप्रतिपाति ही होता है। यद्यपि छद्मस्थ आत्मा अरूपी पदार्थ को नही देख सकता है, तथापि अप्रतिपाति अवधिज्ञानी अलोकाकाश को भी जानने की शक्ति रखता है। यह इस ज्ञान का सामर्थ्य बताया गया है। इस मे क्षयोपशम की विशिष्टता अधिक होती है।[1]

साधु-साध्वी के लिये अकथनीय वचन

मूल—**नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा इमाइं छ अवयणाइं वइत्तए, तं जहा—अलिय-वयणे, हीलिअ-वयणे, खिसिय-वयणे, फरुस-वयणे, गारत्थिय-वयणे, विउसवियं वा पुणो उदीरित्तए।५३।**

छाया—**नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा इमानि षड् अवचनानि वक्तुं, तद्यथा—अलीक-वचन, हीलित-वचनं, खिसित-वचनं, परुष-वचनम्, अगारस्थित-वचनं, व्यवशमितं वा पुनरुदीरयितुम्।**

शब्दार्थ – **णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा**—साधु और साध्वियो को, **इमाइं**—ये; **छ**—छः, **अवयणाइं**—कुवचन; **वइत्तए**—बोलने; **नो कप्पइ**—उचित नही है, **तं जहा**—जैसे, **अलिय-वयणे**—असत्य वचन; **हीलिअ-वयणे**—तिरस्कार सूचक वचन; **खिसिय-वयणे**—मर्म-भेदी वचन; **फरुस-वयणे**—कठोर वचन, **गारत्थियवयणे**—गृहस्थोचित वचन; **विउसवियं वा पुणो उदीरित्तए**—जो कलह शान्त हो गया हो उसे उत्तेजना देने वाले वचन।

मूलार्थ—साधु और साध्वियो को छ प्रकार के कुवचन बोलने उचित नही कहे गए है। जैसे—असत्य वचन, तिरस्कार सूचक वचन, मर्मभेदक वचन, कठोर वचन, गृहस्थ के योग्य वचन, शान्त कलह के उत्तेजक वचन।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे अवधिज्ञान की विचित्रता का वर्णन किया गया है। अवधिज्ञानी के लिये भी वाणी-सयम आवश्यक है, अतः अब सूत्रकार साधु-साध्वी के लिये वचन-सयम की सुरक्षार्थ अवचनीय

---

१ इस ज्ञान की विशेष जानकारी के लिये देखिए नन्दी सूत्र और प्रज्ञापना सूत्र का ३३वां पद।

वचनो का परिज्ञान कराते है। अयोग्य वचन ज्ञानी जन नही बोलते, क्योकि साधु और साध्वी का जीवन-स्तर एव व्यवहार गृहस्थो से ऊंचा होता है। उन्हे निम्नलिखित छ: प्रकार के सयम-विघातक वचन भूलकर भी नही बोलने चाहिए, जैसे कि—

१. **अलीक-वचन**—अलीक का अर्थ है असत्य। साधु एव साध्वी को किसी भी स्थिति मे असत्य का आश्रय नही लेना चाहिए। इससे उसकी प्रामाणिकता समाप्त हो जाती है और साथ ही उसका दूसरा महाव्रत भी भग हो जाता है, अत उसे अलीक-वचनो का कभी भी प्रयोग नही करना चाहिए।

२. **हीलित-वचन**—जिस वचन से दूसरो का अनादर हो, तिरस्कार हो, दूसरे का अपमान हो, वैसे वचन बोलना साधु-साध्वी के लिये उचित नही है।

३ **खिसित-वचन**—जिस वचन से दूसरा तिलमिला उठे, ऐसे वचन बोलना भी साधु-साध्वी के लिये निषिद्ध है। किसी के जन्म-सवधी तथा कर्म-सवधी रहस्य का उद्घाटन करके पूज्य जनो को अपमानित करना भी इसी मे निहित है।

४. **परुष-वचन**—कठोर वचन बोलना, जैसे कि मुख की आकृति विगाड कर किसी से ऐसा कहना कि "तू परे हट, मै तेरे आचरण को जानता हू," और "दुष्ट! मूर्ख! पशु! गधे।" ऐसे कठोर वचन बोलने का सूत्रकार ने निषेध किया है।

५ **अगार-स्थित-वचन**—गृहस्थ से सबधित वचन बोलना, "पुत्र! पिता! माता! मामा! मासड! मामी! भौजाई!" इत्यादि गृहस्थ के सवधो को लक्ष्य में रखकर दूसरो को सबोधित करना सर्वविरतियो के लिये सर्वथा निषिद्ध है।

६. **उदीरक-वचन**—जिसकी खिमत-खिमावना हो चुकी है ऐसे शान्त हुए कलह को पुन. भडकानेवाले वचन बोलने की साधु-साध्वी को जिनेन्द्र देव ने आज्ञा नही दी है। अत: साधक को उपर्युक्त छ: तरह के वचन नही बोलने चाहिए।

यद्यपि प्रस्तुत सूत्र मे निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी शब्द के द्वारा साधु-साध्वी के लिये ही अलीक वचन आदि निषिद्ध किए गए है, परन्तु साधु-साध्वी जैसी पवित्र साधना एव आचार पालन की कामना रखनेवाले श्रावक-श्राविकाओ के लिये भी इस प्रकार के वचनो का प्रयोग नही करना चाहिए।

वस्तुत इस प्रकार के वचन न बोलने का आदेश मानव-मात्र के लिये दिया गया है।

कल्प-प्रस्तार

मूल—छ कप्पस्स पत्थारा पण्णत्ता, तं जहा—पाणाइवायस्स वायं वयमाणे, मुसावायस्स वायं वयमाणे, अदिन्नादाणस्स वायं वयमाणे, अविरइवायं

वयमाणे, अपुरिस-वायं वयमाणे, दासवायं वयमाणे, इच्चेए छ कप्पस्स पत्थारे पत्थरेत्ता सम्ममपरिपूरेमाणे तट्ठाणपत्ते ।५४।

छाया—षट् कल्पस्य प्रस्तारा: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्राणातिपातस्य वादं वदन्, मृषावादस्य वादं वदन्, अदत्तादानस्य वादं वदन्, अविरतिवाद वदन्, अपुरुषवादं वदन्, दासवादं वदन् । इत्येतान् षट् कल्पस्य प्रस्तारान् प्रस्तीर्य सम्यक् अपरिपूरयन् तत्स्थानं प्राप्तः ।

शब्दार्थ—**छ कप्पस्स**—छ कल्प के, **पत्थारा**—प्रायश्चित्त विशेष, **पण्णत्ता**—कथन किये गए है; **तं जहा**—जैसे; **पाणाइवायस्स**—प्राणातिपात का, **वायं वयमाणे**—कथन करता हुआ; **मुसावायस्स वायं वयमाणे**—मृषावाद का कथन करता हुआ; **अदिन्नादाणस्स वायं वयमाणे**—अदत्तादान का कथन करता हुआ; **अविरइवाय वयमाणे**—अब्रह्मचर्य सम्बन्धी वाते कहता हुआ; **अपुरिसवायं वयमाणे**—"यह नपुंसक है" यह कथन करता हुआ, **दासवायं वयमाणे**—"यह दास है" ऐसा कथन करता हुआ, **इच्चेए**—इस प्रकार इन; **छ कप्पस्स पत्थारा**—कल्प के छ प्रस्तारो को, **पत्थरेत्ता**—करके; **सम्ममपरिपूरेमाणे**—सम्यग्रूप से उसे पूर्णतया सिद्ध न करने पर; **तट्ठाणपत्ते**—आरोप लगाने वाला उसी दोष को प्राप्त होता है ।

मूलार्थ—कल्प अर्थात् चारित्र के छः प्रस्तार अर्थात् प्रायश्चित्त विशेष कथन किये गए है, जैसे—प्राणातिपात का वचन बोलने से, मृषावाद का वचन बोलने से, अदत्तादान का वचन बोलने से, अविरति अर्थात् अब्रह्मचर्य अथवा स्त्री के सम्बन्ध में वचन वोलने से, किसी को नपुसक कहने से और किसी को दास कहने से । ये छ. कल्प के प्रस्तार स्वीकार करके यदि साधक उन्हे भली-भांति पूर्ण न करे तो उसी दोष को प्राप्त होता है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे सूत्रकार ने साधु-साध्वी के लिये अकथनीय वचन बताए है, अब अकथनीय वचन वोलने पर उसे कैसे-कैसे प्रायश्चित्त करने चाहिए ? सूत्रकार इस विषय का विवेचन करते है—

कल्प का अर्थ होता है साधु-आचार और उसकी विशुद्धि के लिये विधि-विधान के अनुसार प्रायश्चित्त का विस्तार ही कल्प-प्रस्तार कहलाता है ।

न बोलने योग्य वचन के बोलने से साधक प्रायश्चित्त का भागी बनता है । जो साधु किसी साधु पर झूठा आरोप लगाता है, दूसरे को नीचा दिखाने की भावना से उसे कलंकित करता है, द्वेष से या प्रतिक्रिया से निर्दोषी को दोषी सिद्ध करनेवाली मिथ्या एवं मन-घड़न्त वाते करके उसे दोषी

प्रमाणित करने का प्रयास करता है, निर्दोष प्रमाणित होने पर वही साधक प्रायश्चित्त का भागी बन जाता है। यह प्रायश्चित्त छः प्रकार का होता है, जैसे कि—

जिस कथा, उपदेश या बातों से दूसरा हिंसा में प्रवृत्त हो जाए, उसे झूठ बोलने की प्रेरणा मिले, चोरी करने का साहस उत्पन्न हो जाए या दुराचार में प्रवृत्ति हो जाए ऐसा करने से साधक का आचार अर्थात् सयम दूषित हो जाता है। अथवा उक्त पापों से किसी एक पाप मे प्रवृत्त होने पर दोष लगाना, गुरुजनो के पूछने पर झूठ बोलना, उसे कपट के द्वारा छिपाना, ऐसा करने से भी प्रायश्चित्त की अनिवार्यता बढ़ जाती है। हिंसा का प्रायश्चित्त अलग है, झूठ बोलने का प्रायश्चित्त अलग है और कपट करने का प्रायश्चित्त अलग है। इस तरह भी कल्प का प्रस्तार हो जाता है।

अथवा किसी को नीचा दिखाने के लिये या बदला चुकाने के लिये द्वेषवश किसी साधु ने किसी अन्य पर अभ्याख्यान अर्थात् कलक चढाने के अभिप्राय से गुरु के पास जाकर कहा कि "अमुक साधु ने अमुक प्रकार की हिसा की है, झूठ बोला है या अमुक की चोरी की है, अमुक समय सदाचार भग किया है, मैने स्वय देखा है।" इस प्रकार कह कर झूठे गवाहो और झूठे पत्रो द्वारा दोष सिद्ध करके दिखाना। ये सब बाते छानबीन होने पर यदि असत्य सिद्ध हो जाए तो आरोप लगाने का, झूठ बोलने का, अन्य-अन्य गलत प्रमाणो से सिद्ध करने का उसके द्वारा जितना प्रयास गया किया है, उस सबका प्रायश्चित्त अलग-अलग है। आरोप लगानेवाले को उत्तरोत्तर अधिक से अधिक प्रायश्चित्त करना पड़ता है, क्योकि गलत व्यक्ति सदैव गलत ही सोचता है, गलत ही बोलता है और उस की कायिक चेष्टाए भी गलत ही होती है। अत. उसे दडित करना जरूरी हो जाता है। अन्यथा इससे सघ की व्यवस्था विगडती है और उसका अधिक पतन होता है। अत. सत्य एव दृढ़ प्रमाण के बिना न शिकायत करनी चाहिए और न उस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

नपु सक को दीक्षा देना आगम मे निषिद्ध है। कोई साधु गुरु के पास आकर कहता है कि "अमुक साधु नपु सक है, क्योकि उसके लक्षणो से मुझे नपु सकता प्रतीत होती है।" उसकी बात अप्रामाणिक सिद्ध होने पर कलक चढ़ाने का प्रायश्चित्त आता है। अपनी बात को प्रमाणित करने के लिये जितने गलत प्रमाण उपस्थित किए जाते है उतना ही वह उत्तरोत्तर अधिक प्रायश्चित्त का भागी बनता जाता है।

इसी प्रकार दासी के पुत्र दास को दीक्षा देनी नही कल्पती है। किसी साधु ने कहा कि "वह साधु दास है, उसके लक्षणो से ऐसा ही प्रतीत होता है कि वह दासी का पुत्र दास है।"

आचार्य को चाहिए कि आरोप लगानेवाले साधु के कथन का प्रमाणो और साक्षियो से निर्णय करे। यदि आरोप लगानेवाला साधु अपने कथन को पुष्ट न कर सके तो उसी मुनि को प्रायश्चित्त देना चाहिए जिसने उसे कलकित करने का प्रयास किया है। यही भाव उक्त सूत्र से स्पष्ट होता है।

कल्प-पलिमंथु

मूल—छ कप्पस्स पलिमंथू पण्णत्ते, त जहा—कोकुइए संजमस्स पलिमंथू, मोह-रिए सच्चवयणस्स पलिमंथू, चक्खुलोलुए ईरियावहियाए पलिमंथू, तिंति-

णिए एसणागोयरस्स पलिमथू, इच्छालोभिए मोत्तिमग्गस्स पलिमंथू, भिज्जाणियाणकरणे मोक्खमग्गस्स पलिमथू । सव्वत्थ भगवया अणियाणया पसत्था ।५५।

छाया—षट् कल्पस्य परिमन्थव. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कौकुचिकः संयमस्य परिमन्थुः, मौखरिकः सत्यवचनस्य परिमन्थुः, चक्षुर्लोलुप ईर्यापथिक्याः परिमन्थुः, तिंतिणिक एषणागोचरस्य परिमन्थुः, इच्छालोभिको मुक्तिमार्गस्य परिमन्थु, अभिध्यानिदानकरणं मोक्षमार्गस्य परिमन्थु । सर्वत्र भगवता अनिदानता प्रशस्ता ।

शब्दार्थ—कप्पस्स—चारित्र के; छ पलिमथू पण्णत्ते, तं जहा—छ घातक तत्त्व कथन किये गए है, जैसे; कोकुइए—भाण्ड के समान विकृत शारीरिक कुचेष्टाए करनेवाला, संजमस्स पलिमंथू—सयम का घातक है, मोहरिए—अधिक वोलने वाला वकवादी; सच्चवयणस्स पलिमंथू—सत्य वचन का घातक है, चक्खुलोलुए—चचल नेत्रो वाला, ईरियावहियाए पलिमंथू—ईर्यापथिकी क्रिया का घातक है, तितिणिए—आहारादि की प्राप्ति न होने पर मनचाहा वोलने वाला तुनक मिजाज, एसणागोयरस्स पलिमंथू—एपणासमितिपूर्वक गोचरी का घातक है, इच्छालोभिए— महालोभी, मोत्तिमग्गस्स—मुक्ति-मार्ग का घातक है, भिज्जाणियाणकरणे—लोभ से निदान करने वाला; मोक्खमग्गस्स पलिमथू—मोक्षमार्ग का घातक है । भगवया—भगवान ने; सव्वत्थ—सर्वत्र, अणियाणया—अनिदानता की, पसत्था—प्रशंसा की है ।

मूलार्थ—छ कल्प के घातक तत्त्व वर्णन किये गए है, जैसे—भाण्ड के समान विकृत शारीरिक काम चेष्टाएं करना संयम का विघातक है, वहुभाषी सत्यवचन का विघातक है, चञ्चल नेत्रोवाला ईर्यापथिक क्रिया का घातक है, आहार आदि की अप्राप्ति पर बड़वडानेवाला एपणा-समिति-मूलक गोचरचर्या का घातक है, अत्यन्त लोभी मुक्तिमार्ग का घातक है और आसक्ति के कारण निदान करनेवाला मोक्ष-मार्ग का घातक है । भगवान् ने सर्वत्र अनिदानता की ही प्रशसा की है ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे कल्प-प्रस्तारो का वर्णन किया गया है, उसी परम्परा मे प्रस्तुत सूत्र भी कल्प-विषयक विवेचना प्रस्तुत करता है । साधु की आचार-मर्यादा के जो-जो घातक एव वाधक तत्त्व हैं वे सव कल्प के परिमथु कहलाते है । वे परिमथु छ. प्रकार के है जिनका आचरण करना साधक के लिये अत्यन्त घातक है । जैसे कि—

१. **कौकुचिक**—कुत्सित शारीरिक चेष्टाओ को कौकुचिक कहा जाता है। वह तीन प्रकार का होता है, जैसे कि स्थान, शरीर और भाषा। नट की तरह विषम-स्थान मे खड़े होना, बैठना, लेटना, चलना, घूमना, जहा-तहा ठहरना इत्यादि सभी क्रियाए स्थान-कौकुचिक कहलाती हैं। निष्प्रयोजन हाथ-पैर मुख, आदि अगो को हिलाना-चलाना भाडो की तरह चेष्टाए करना शरीर-कौकुचिक कहलाता है। हास्य-उत्पादक वचन बोलना, पशु-पक्षियो की नकल करना, लोगो को हसाने के लिये अनार्यदेश की भाषा बोलना, विभिन्न देशवासी स्त्री-पुरुषो के वाणी-विलास की नकल करना भाषा कौकुचिक है। उक्त सभी प्रकार की कुचेष्टाए साधु के लिये निषिद्ध हैं। इन कुचेष्टाओं से सयम का घात होता है, अत सयम-प्रियो को सभी तरह की कुचेष्टाए वर्जनीय है।

२. **मौखरिक**—वाचालता विना सोचे-विचारे बोलना, प्रमाण से अधिक बोलना या जिससे सुननेवाला शत्रु बन जाए इस प्रकार की वाणी बोलना इन सबका समावेश मौखरिक-शब्द में हो जाता है। मौखरिक साधु से असत्य-भाषण की सभावना बनी रहती है। अत: मौखरिकता सत्य की घातक है। इसलिये सत्यवक्ता को मौखरिक नही बनना चाहिए।

३. **चक्षुलोलुप**—जो साधु चक्षुलोलुपी होता है, वह ईर्या-पथिकी क्रिया का सशोधन नही कर सकता, अर्थात् ईर्या-समिति का पालन नही कर सकता। जो साधु चलते हुए इधर-उधर देखने मे आसक्त है। आसक्ति पूर्वक लुभावने दृश्यो को या स्त्री-पुरुषों को देखता हुआ गमनागमन क्रिया कर रहा है, वह निश्चिय ही ईर्यासमिति का भली-भाति पालन नही कर सकता; अत: साधु को चक्षु-लोलुपी नहीं बनना चाहिए।

४. **तिंतिणिक**—साधु को तीन वस्तुओ की आवश्यकता होती है—आहार, उपधि और शय्या। इनके न मिलने पर खेद के वशीभूत होकर जैसे-तैसे बोलनेवाले तुनकमिजाज साधु एषणा-समिति का घातक होता है, क्योकि ऐसी प्रकृतिवाला साधु दु:खी होकर अनेषणीय आहार, उपधि और शय्या भी ग्रहण कर सकता है। अत· निर्दोष-आहार आदि वस्तु को ग्रहण करनेवाले साधु को चाहिए कि तनुकमिजाज न बने।

५. **इच्छा-लोभिक** इच्छा और लोभ की मात्रा बढाने से सन्तोष का घात होता है। इससे निर्लोभता एव निष्परिग्रहतारूप सिद्धि-पथ का घात होता है। 'इच्छालोभिए' यह पद इसलिए दिया गया है कि जो महा-लोभी होते है वे ही महाइच्छावाले होते है। महाइच्छा या महालोभ मुक्ति-मार्ग का घातक है।

६. **निदान**—ऋद्धि, पद, वैषयिक-सुख इत्यादि की प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित होकर अपने सयम-फल को प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाला साधु रत्नत्रय का घातक होता है, क्योकि सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र को ही मोक्ष-मार्ग कहा गया है। मोक्ष-प्राप्ति और केवली बनने की इच्छा को निदान नही कहा जा सकता। निदान ऋद्धि, रस और साता के लिये किया जाता है जो कि अश्रेयस्कर है। **"सव्वत्थ भगवया अणियाणया पसत्था"** भगवान ने सभी शुभ क्रियाओं मे अनिदानता को ही प्रशस्त कहा है।

चारित्राचार व्यवस्था

मूल—छव्विहा कप्पठिई पण्णत्ता, तं जहा—सामाइय-कप्पठिई, छेदोवट्ठावणिय-कप्पठिई, निव्विसमाण-कप्पठिई, णिव्विट्ठ-कप्पठिई जिणकप्पठिई, थेर-कप्पठिई ।५६।

छाया—**षड्विधा कल्पस्थितिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—सामायिक-कल्पस्थितिः, छेदोपस्थापनिक-कल्पस्थितिः, निर्विशमान-कल्पस्थितिः, निर्विष्ट-कल्पस्थितिः, जिन-कल्पस्थितिः, स्थविर-कल्पस्थितिः ।**

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—कल्प-स्थिति छ प्रकार की कथन की गई है, जैसे—सामायिक कल्पस्थिति, छेदोपस्थापनिक कल्प-स्थिति, परिहार विशुद्धि ग्रहण करते हुए को कल्प-स्थिति, परिहार-विशुद्धि से निवृत्त हुए की कल्पस्थिति, जिन-कल्पस्थिति और स्थविर-कल्पस्थिति ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्रो मे कहा गया है कि साधु-अचार के अनुसार छ प्रकार के अवचनीय वचन बोलने पर साधु को दोष लगता है, छ प्रकार के कल्प-प्रस्तार भी उसके चारित्र को दूषित करते है और छः प्रकार के कल्प के परिमन्थु अर्थात् घात करनेवाले कहे गए है। अब प्रस्तुत सूत्र मे कल्प की मर्यादा का वर्णन किया जा रहा है। वह मर्यादा छ प्रकार की होती है, जैसे कि—

१. सामायिक-कल्पस्थिति— चारित्र के दो भेद है, इत्वरिक और यावत्कथिक। जिसस्थिति मे पापमय जीवन-व्यवहारो का निरोध हो और साधु को रत्नत्रय का लाभ हो उसे सामायिक कहते है। चारित्र की जो भी मर्यादाए है उनका यथातथ्य रूप मे पालन करना ही सामायिक का अभिप्राय है। इस कल्प का पालन सभी तीर्थकरो के युग मे किया जाता है। इसी कारण इसको अवस्थित-कल्प भी कहते हे। महाविदेह और मध्य के तीर्थकरो के तीर्थ मे इसका पालन यावज्जीव रहता है। भरत और ऐरवत क्षेत्रो के अन्तवर्ती आदि और चरम तीर्थङ्कर के युग मे इस कल्प की अवधि कम से कम सात अहोरात्र, मध्यम चार मास और उत्कृष्ट छ मास की होती है, तत्पश्चात् छेदोपस्थापनीय चारित्र की मुख्यता रहती है, इसी दृष्टि से इसको इत्वरिक सामायिक कहते है। शय्यातर-पिण्ड, चातुर्याम अर्थात् चार महाव्रत, पुरुष-ज्येष्ठ, दीक्षा-ज्येष्ठ को वंदन ये चार कल्प अवस्थित है। पुरुष-धर्म-प्रधान होने से वृद्धा आर्या भी नव-दीक्षित साधु को वन्दना करती है। ये चार कल्प सभी तीर्थङ्करो के शासन मे होते हैं। इनका पालन करना अवश्यभावी होने के कारण इन्हे अवस्थित-कल्प कहा जाता है।

२. छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति—जिसमे सातिचार और निरतिचार के रूप मे पूर्व पर्याय का

छेद हो उसे छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति कहते है। इसमे उन दस कल्पों का पूर्णतया पालन करना होता है' जिनमें चार कल्प पहले के और छ कल्प और वढ़ जाते है जैसे कि आचेलक्य, औद्देशिक, प्रतिक्रमण, राज-पिण्ड, मास-कल्प और पर्युषणा-कल्प। इनका पालन साधु के लिये आवश्यक हो जाता है। इनमे अचेलक के दो भेद हैं। वस्त्र न रखना भी अचेलकता है और सख्या मे कम से कम अल्पमूल्य वाले सफेद रग के वस्त्र रखने पर भी अचेलकत्व माना जाता है। औद्देशिक और राजपिण्ड इनका ग्रहण न करना, दोनों समय प्रतिक्रमण करना, साधु का नौ कल्पी विहार और साध्वी का पाच कल्पी विहार तथा पर्युषणा-कल्प इसका तथा स्थविर कल्पियो के बनाए हुए नियमो का पालन करना ही छेदोपस्थानीय कल्पस्थिति है।

३. **निर्विशमान-कल्पस्थिति**—यह परिहार-विशुद्धि चारित्र का पहला अग है। जिन्होंने नौवे पूर्व की तीसरी आचार वस्तु का अध्ययन कर लिया है वे ही इस चारित्र की आराधना-पालना के अधिकारी हो सकते है। इसकी विधि इस प्रकार है —

नौ साधु आचार्य की अनुमति पाकर गच्छ से अलग होकर १८ महीनो मे जो महान् अनुष्ठान करते है, उसे परिहार-विशुद्धिक कहते है। उनमें पहले चार साधु छ मास पर्यन्त तप करते है, चार साधु उनकी सेवा करते है और एक गुरु-स्थानीय होने से उन्हे वाचना देता है।

दूसरे छ महीने मे सेवा करनेवाले तप करते है और तप करनेवाले चार साधु सेवा मे सलग्न हो जाते है। एक वाचना देता है।

तीसरे छ. महीने मे वाचना देनेवाला साधु तप करता है, शेप आठ मे से एक गुरुस्थानीय बन कर वाचना देता है, सात साधु उस एक तपस्वी की सेवा मे जुट जाते है जो कि उस समय तपस्या कर रहा होता है। इस स्थिति को 'निर्विशमान-कल्पस्थिति' कहते है। उनकी तपस्या का क्रम निम्नलिखित है—यदि ग्रीष्मकाल बीत रहा है तो उस समय वे जघन्य एक उपवास, मध्यम बेला और उत्कृष्ट तेला करते है। शीतकाल मे जघन्य बेला, मध्यम तेला और उत्कृष्ट-चौला तथा वर्षावास मे जघन्य तेला, मध्यम चौला और उत्कृष्ट पचौला करते है। इस क्रम से उनकी तपस्या होती है। वे पारणा आयविल मे ही करते है। इतनी कठोर तपस्या करनेवाले ही 'परिहार विशुद्ध चारित्री' कहलाते है।

४. **निर्विष्टकायिक कल्पस्थिति**—यह परिहार-विशुद्ध चारित्र का दूसरा अग है। जिनकी छः महीने की तपस्या पूर्ण हो गई है, वे प्रतिदिन आयविल तपस्या और अभिग्रह के साथ भिक्षा ग्रहण करते है। नौ मे से जो चार साधु तप करते है, वे पारिहारिक कहलाते है, उन्हीको दूसरे शब्दो मे निर्विशमान कल्प-स्थित भी कहते हैं, किन्तु जो चार साधु तपश्चर्या का काल-मान पूरा करके सेवा मे सलग्न हो जाते है, उन्हे 'निर्विष्टकायिक कल्पस्थित' या अनुपहारिक भी कहते है। अठारह मास पूर्ण होने पर वे गण मे पुन भी आ जाते है, ये नौ साधु ज्ञानवान्, दर्शनवान् एव चारित्रवान् होते है।

५. **जिनकल्पस्थिति**—जिन तो नही, परन्तु जिनसदृश क्रिया करनेवाले साधक इस कोटि के माने जाते है। वे वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन के स्वामी, जघन्य नौवें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु के अध्येता और उत्कृष्ट कुछ न्यून दस पूर्वो के अध्येता होते है। वस्त्र आदि उपकरणों से रहित केवल साधुता के वाह्य और आभ्यन्तर लक्षणो से सपन्न होते है। वे सभी प्रकार के उपसर्गो को सहने मे

समर्थ होते है। रोग आदि वेदनाओं को समता के साथ सहन करते है, वे उस कल्प मे रहते हुए कभी भी दोपों का सेवन नही करते। तीसरी पौरुपी मे गोचरी करते हैं। वे नगर मे नही, जगलो में ही रहते है। उनका जीवन साधना में ही बीतता है, जिन-कल्पी की जो भी मर्यादाए होती है, उनका उल्लंघन वे कभी भी नही करते।

६. **स्थविर-कल्प-स्थिति**—जो साधु समाज मे रहकर अपना जीवन उन्नत करते है और साथ ही समाज का भी कल्याण करते है वे स्थविर-कल्पी कहलाते है। वे सव तरह से स्थविरो की मर्यादाओ का पालन करते है। उनकी मर्यादाए है—दीक्षार्थियो को दीक्षा देना, पढना-पढाना, सयम मे रहने की शिक्षा देना, अनियतवास अर्थात् गुरु की आज्ञा से ग्रामानुग्राम विचरना, एकाकी न विचरना, समाज मे रहकर प्रवचन-प्रभावना, साधना-पथ से विचलित होते हुए को स्थिर-करना, नवदीक्षित, ग्लान और तपस्वी की सेवा करना, जिनशासन की उन्नति करना, इन सव का पालन सयम मे रहकर स्थविर-कल्पी ही करते हैं। उनकी ऐसी मर्यादा को ही "स्थविर-कल्प स्थिति" कहते है।

साधक जिस कल्प मे स्थित है उसकी मर्यादा का पालन सतर्कता के साथ करना ही उसका परम कर्त्तव्य है। वह जघाबल क्षीण होने पर ही किसी क्षेत्र मे स्थिरवास कर सकता है। स्थविरो की मर्यादा में रहना ही 'स्थविर-कल्पस्थिति' है। ●

श्रमण महावीर के महत्वपूर्ण बेले

मूल—**समणे भगवं महावीरे छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं मुंडे जाव पव्वइए।**

समणस्स भगवओ महावीरस्स छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं अणंते अणुत्तरे जाव समुप्पन्ने।

समणे भगवं महावीरे छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं सिद्धे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे।५७।

छाया—श्रमणो भगवान् महावीरः षष्ठेन भक्तेनापानकेन मुण्डो यावत् प्रव्रजितः।

श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य षष्ठेन भक्तेनापानकेन अनन्तमनुत्तरं यावत् समुत्पन्नम्।

श्रमणो भगवान् महावीरः षष्ठेन भक्तेनापानकेन सिद्धो यावत् सर्वदुःखप्रहीणः।

शब्दार्थ—**समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान महावीर; **छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं**—जल-रहित षष्ठ भक्त से, **मुंडे जाव पव्वइए**—मुण्डित यावत् प्रव्रजित हुए।

समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर को, **छट्ठेणं भत्तेण अपाणएणं**—जल रहित षष्ठ भक्त से; **अणंते अणुत्तरे**—अनन्त, अनुत्तर केवल ज्ञान, **जाव**—यावत्; **समुप्पन्ने**—उत्पन्न हुआ।

समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर; **छट्ठेणं भत्तेणं अपाणेणं**—जल-रहित बेला तप से, **सिद्धे**—सिद्ध हुए, **जाव**—यावत्; **सव्वदुक्खप्पहीणे**—सब दु:खो से मुक्त हुए।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर निर्जल षष्ठभक्त तप करते हुए मुण्डित यावत् प्रव्रजित हुए।

श्रमण भगवान महावीर को निर्जल षष्ठभक्त से अनन्त, अनुत्तर यावत् केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ।

श्रमण भगवान महावीर निर्जल षष्ठभक्त तप से सिद्ध यावत् सब दु:खों से मुक्त हुए।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे वर्णित कल्पस्थिति का वर्णन श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने किया है, अत: इस सूत्र के द्वारा उन्ही के तपोमय जीवन का वर्णन किया गया है। भगवान महावीर ने निर्जल वेले तप के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की थी। जिस दिन उन्होने घनघाति कर्मों पर विजय पाकर केवलज्ञान प्राप्त किया था, उस दिन भी वे निर्जल-वेला तप कर रहे थे और निर्वाण-प्राप्ति भी उन्हे निर्जल-वेले के साथ हुई। भगवान महावीर की विस्तृत जीवन-चर्या आचाराग-सूत्र के नौवे अध्ययन के दूसरे स्कध के भावना अध्ययन में एव कल्प-सूत्र मे उपलब्ध है।

षष्ठभक्त का तात्पर्य है—बेला-तप। जिस समय एक साथ दो दिन उपवास करने हो, तब पहले दिन एकाशना तप करना होता है, दूसरे और तीसरे दिन दो-दो भक्त का त्याग होता है और चौथे दिन फिर एकाशना तपकरना होता है। इस तरह कुल छ: भक्तो का अर्थात् छ: कालो के भोजन का त्याग करना होता है। बेले मे पानी पिया जा सकता है, किन्तु भगवान् महावीर ने "अपाणएणं" विना ही पानी के षष्ठभक्त तप किया हुआ था। सब दु:खों का अंत सयम-साधना और तप से ही हो सकता है, तीर्थङ्कर भी इसके अपवाद नही हो सके।



सनत्कुमार और महेन्द्र-कल्प के विमानों की ऊंचाई

मूल—**सणंकुमारमाहिंदेसु णं कप्पेसु विमाणा छ जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता।**

सणंकुमारमाहिंदेसु णं कप्पेसु देवाणं भवधारणिज्जगा सरीरगा उक्कोसेणं छ रयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता।५८।

छाया—सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः कल्पयोः विमानाः षड् योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ताः । सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः कल्पयोर्देवानां भवधारणीयानि शरीरकाण्युत्कर्षेण षड् रत्नयः ऊर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पो के विमान छ सौ योजन ऊंचे कथन किये गए है ।

सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पों मे देवताओ का जन्मजात शरीर उत्कृष्ट छः रत्नि अर्थात् छ मुष्टिबद्ध हस्त परिमाणवाला कथन किया गया है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे भगवान् महावीर की षष्ठ-भक्त तपस्या का वर्णन किया गया है। भगवान् महावीर तो षष्ठ-भक्त की साधना के साथ अन्य महती साधनाओ द्वारा सिद्धत्व की प्राप्ति मे सफल हो गए। यदि कोई सामान्य साधक निर्जल षष्ठ-भक्त की तपस्या करता है तो वह सनत्कुमारादि देवलोको मे से किसी भी एक मे उत्पन्न होता है, अत इस सूत्र मे सूत्रकार इसी विषय की क्रम-प्राप्त विवेचना करते है ।

तीसरे और चौथे देवलोक मे जितने विमान है उनकी ऊचाई छ सौ योजन है । उन देवलोकों में देवो की अवगहना अर्थात् शरीर की ऊचाई का प्रमाण उत्सेध अगुल के हिसाव से छ हाथ होती है। यह कथन भवधारणीय शरीर की अपेक्षा से जानना चाहिए, किन्तु उत्तर-वैक्रिय शरीर की ऊचाई अधिक से अधिक लाख योजन की हो सकती है। यह योजन भी उत्सेध की अपेक्षा से ही जानना चाहिए ।

भोजन-परिणाम और विष-परिणाम

मूल—छव्विहे भोयण-परिणामे पण्णत्ते तं जहा—मणुन्ने, रसिए, पीणणिज्जे, विंहणिज्जे, दीवणिज्जे, (मयणिज्जे) दप्पणिज्जे ।

छव्विहे विसपरिणामे पण्णत्ते—डक्के, भुत्ते, निवइए, मंसाणुसारी, सोणियाणुसारी, अट्ठिमिंजाणुसारी ।५९।

छाया—षड्विधो भोजनपरिणामः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—मनोज्ञः, रसिकः, प्री[illegible]णीयः, दीपनीयः, (मदनीय.) दर्पणीयः ।

षड्विधो विषपरिणामः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—दष्टं, भुक्तं, निपतितं, मांसानुसारि, शोणितानुसारि, अस्थिमज्जानुसारि ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छः प्रकार का भोजन-परिणाम कथन किया गया है, जैसे—मनोज्ञ, रसयुक्त, धातुओं को सम रखनेवाला, धातुओं को बढानेवाला, बल तथा तेज की वृद्धि करनेवाला और उत्साह में अभिवृद्धि करनेवाला ।

छः प्रकार का विष-परिणाम कथन किया गया है, जैसे—सर्प आदि के दंश से होनेवाला, अफीम आदि के खाने से होने वाला, त्वचा पर पड़ते ही असर करनेवाला, मांस पर असर करनेवाला, रक्त पर प्रभाव डालने वाला और अस्थि एवं मज्जा पर प्रभाव डालनेवाला ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में भोजन-परित्याग रूप औपवासिक तपस्याओं के फल स्वरूप प्राप्त होने वाले देव-विमानों और देव-शरीरों का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार परिणाम के आधार पर ग्रहणीय एवं त्याज्य भोजन का विवेचन करते है। परिणाम का अर्थ है स्वभाव या परिपाक। भोजन का रस भले ही कुछ भी हो, किन्तु जिसका परिणाम अच्छा हो वही भोजन ग्रहणीय माना जाता है। यह भोजन-परिणाम छः प्रकार का होता है, जैसे कि —

१. **मनोज्ञ**—मन के अनुकूल परिणमित होनेवाला अर्थात् मन-चाहा भोजन। जिसके खाने से भोजन की इच्छा और भी बढती जाए, वही भोजन मनोज्ञ-परिणाम है।

२. **रसिक**—रसीला भोजन, यह माधुर्यादि गुणों से युक्त होता है।

३. **प्रीणनीय**—रस-भाग को सम करनेवाला, रक्त, मांस, मज्जा आदि धातुओं की विषमता को सम करनेवाला भोजन-परिणाम प्रीणनीय कहलाता है।

४. **बृंहणीय**—रक्त, मांस आदि धातुओं और उपधातुओं को बढानेवाला एवं शारीरिक शक्ति की वृद्धि करनेवाला भोजन बृंहणीय-परिणाम कहलाता है।

५. **दीपनीय**—पाचन-शक्ति को बढानेवाला भोजन परिणाम दीपनीय कहलाता है। यह मंद हुई जठराग्नि को प्रचंड कर देता है। पाठान्तर में '**मयणिज्जे**' यह पाठ देखने में आता है इसका संस्कृत रूप है मदनीय अर्थात् कामदेव को जगानेवाला, अर्थात् जो भोजन कामोद्दीपक हो वह मदनीय-परिणाम कहलाता है।

६. **दर्पणीय**—बल-उत्साह एवं स्फूर्ति बढ़ानेवाला भोजन-परिणाम दर्पणीय है।

विषपरिणाम :—

विष मुख्यतया दो प्रकार का होता है—स्थावर-विष सखिया आदि और जगम-विष सर्पादि का विष। इन से भिन्न अन्य कोई विष नही है। प्रस्तुत सूत्र मे विष परिणाम छः प्रकार के कथन किए गए है। उनमे से पहले तीन विष-परिणाम स्वरूप की अपेक्षा से और अतिम तीन परिणाम कार्य की अपेक्षा से जानने चाहिएं।

१. **दष्ट-विष**—पागल कुत्ते आदि के द्वारा काट खाने से, सर्प आदि के द्वारा डक मारने से जो ज़हर चढता है, उसे दष्ट-विष कहते है।
२. **भुक्त-विष**—जो विष खाने पर असर करता है—जैसे कि सखिया। उपलक्षण से जो विष पीने पर असर करता है उसे भी भुक्त-विप हो कहा जाता है।
३. **निपतित-विष**—जो विष शरीर पर गिरने मात्र से चढ जाता है वह निपतित-विष है, त्वग्-विष और दृष्टि-विष। कार्बन गैस, विपैलाधूम्र आदि का अन्तर्भाव भी निपतित-विष मे जाता है।
४. **मांसानुसारी-विष**—मासपर्यन्त फैल जाने वाला विष।
५. **शोणितानुसारी-विष**—रक्त में फैलने वाला विष।
६. **अस्थिमिजानुसारी-विष**--हड्डी एव मज्जा आदि धातुओ पर विपैला प्रभाव डालनेवाला विष।

विष अधिक मात्रा मे हो तो मारक, कुछ कम मात्रा मे हो तो पीडा-कारक होता है। उत्तम वस्तु का अधिक मात्रा मे खाना-पीना भी विष है। इसका समावेश भुक्त-विष मे ही हो जाता है।

षड्विध प्रश्न

मूल—छव्विहे पट्ठे पण्णत्ते, तं जहा—संसयपट्ठे, वुग्गहपट्ठे, अणुजोगी, अणुलोमे, तहणाणे, अतहणाणे।६०।

छाया—षड्विधं पृष्टं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—संशय-पृष्टः, व्युद्ग्रह-पृष्टः, अनुयोगी, अनुलोमं, तथा-ज्ञानम्, अतथाज्ञानम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छः प्रकार के प्रश्न कथन किये गए है, जैसे कि—संशय होने पर किया जानेवाला प्रश्न, मिथ्याभिनिवेश के कारण दूसरे को पराजित करने के लिये किया जानेवाला प्रश्न, व्याख्या के लिये किया जानेवाला प्रश्न, किसीको

अपने अनुकूल बनाने के लिये किया जानेवाला प्रश्न, प्रश्न के सम्बन्ध में स्वयं जानते हुए भी किया जानेवाला प्रश्न और स्वयं न जानते हुए किया जानेवाला प्रश्न ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में भोजन-परिणाम और विप-परिणाम का वर्णन किया गया है। विप-परिणाम ज्ञान-चेतना का विघातक है और भोजन-परिणाम ज्ञान-चेतना का उद्‌वोधक होता है। जिस समय ज्ञान-चेतना व्यक्ति में जिज्ञासा जागृत करती है तव जिज्ञासु नानाविध प्रश्नो का समाधान चाहता है, अव सूत्रकार प्रश्न की अनेकरूपता का विवेचन करते है। प्रश्न करने के लौकिक एव लोकत्तरिक अनेक कारण हो सकते है, कभी अपनी शका दूर करने के लिये प्रश्न पूछा जाता है और कभी दूसरे का समाधान करने के लिये भी, कभी जिज्ञासा वुद्धि से पूछा जाता है और कभी ज्ञानी की परीक्षा के लिये भी, कभी दूसरे को नीचा दिखाने के लिये प्रश्न पूछा जाता है और कभी अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करने के लिये भी। इत्यादि अनेक कारणो से प्रश्न किए जा सकते है। प्रस्तुत सूत्र मे प्रश्न करने के छ कारण वतलाये गए है, उनमें सभी प्रकार के प्रश्नों का समावेश हो जाता है, जैसे कि—

१. **संशय-प्रश्न**—किसी शब्द या अर्थ-विशेष में सशय होने पर जो प्रश्न पूछा जाता है, वह सशय-प्रश्न कहलाता है, जैसे कि—शिष्य ने गुरुदेव से प्रश्न किया है, "भगवन् ! जव सयम का फल अनाश्रव है और तप का फल व्यवदान है क्या वद्ध-कर्मो को क्षय करना ही व्यवदान है ? तव प्रभु महावीर के मत मे जीव देव-गति को कैसे प्राप्त कर सकता है ?" इसके उत्तर मे गुरुदेव ने कहा—"सराग-सयम और सराग-तप ये दोनो देवगति के कारण है। वीतराग सयम और वीतराग तप ये दोनो सिद्ध-गति के कारण है।"

२. **व्युद्ग्रह-प्रश्न**—व्युद्ग्रह का अर्थ होता है दुराग्रह। वादी के पक्ष को दूपित करने के लिये जो प्रश्न पूछा जाता है, वह व्युद्ग्रह-प्रश्न कहलाता है। जैसे कि "सामान्य से विशेप भिन्न है या अभिन्न ? यदि कहोगे भिन्न है, तो वह गगनारविद की तरह असत् है, यदि अभिन्न कहोगे तो वह सामान्य ही है।"

३. **अनुयोगी-प्रश्न**—किसी विपय को स्पष्ट करने के लिये किया जानेवाला प्रश्न अनुयोगी प्रश्न कहलाता है। ग्रथकार या व्याख्याकार स्वय पहले प्रश्न करता है फिर उसका उत्तर भी व्याख्या के रूप मे स्वय ही देता है। इस पद्धति के सभी प्रश्न अनुयोगी-प्रश्न कहलाते है।

४. **अनुलोम-प्रश्न**—सामने आनेवाले को अनुकूल करने के लिये उससे पूछना कि "आप कुशल पूर्वक तो है न ? यदि आप को किसी वस्तु की इच्छा हो तो अवश्य कृपा करे", इत्यादि प्रश्न अनुलोम-प्रश्न कहलाते है।

५. **तथाज्ञान-प्रश्न**—जानते हुए भी ज्ञानवृद्धि के लिए प्रश्न करना यथाज्ञान प्रश्न कहलाता है

जैसे प्रश्न-कर्त्ता को ज्ञान है वैसे ही उत्तर-दाता को भी ज्ञान है। केशीकुमार श्रमण और गौतम स्वामी के प्रश्नोत्तर इसी कोटि के माने जाते हैं।

६. **अतथाज्ञान-प्रश्न**—न प्रश्नकार को ज्ञान है और न उत्तर-दाता को ज्ञान है, ऐसी परिस्थिति मे पूछना अतथाज्ञान-प्रश्न कहलाता है। जैसे अनभिज्ञ लोगो के अप्रासगिक प्रश्न।

इन छः प्रकार के प्रश्नों से प्रश्नकार के भावो का दिग्दर्शन कराया गया है। किसी-किसी प्रति मे **पट्ठे** के स्थान पर '**अट्ठे**' ऐसा पाठ देखा जाता है। इसका आशय है सशय आदि अर्थ के निर्णय के लिये प्रश्न करना। "**वुग्गहपट्ठे**" इस प्रश्न से सिद्ध होता है केवल परपक्ष को दूषित करने के लिये ही वादी-प्रश्न किया करते है, जैसे कि विवाद मे, किन्तु अनुयोगी, अनुलोम और तथाज्ञान ये प्रश्न आत्म-विकास तथा कलहशान्ति के लिये होते है। जो प्रश्न अर्थो के निर्णय और आत्मसमाधि के लिये किए जाते है, ऐसे प्रश्न यथावस्थित पदार्थो के जानने के लिये जिज्ञासुओ को अवश्य करने चाहिए। श्रद्धान्वित होकर किया गया प्रश्न ही ज्ञान-साधना मे सहायक होता है। ●

चारस्थानो का विरहकाल

मूल—**चमरचञ्चा णं रायहाणी उक्कोसेणं छम्मासा विरहिए उववाएणं।**
एगमेगे णं इंदट्ठाणे उक्कोसेणं छम्मासा विरहिए उववाएणं।
अहेसत्तमा णं पुढवी उक्कोसेणं छम्मासा विरहिया उववाएणं।
सिद्धिगई णं उक्कोसेणं छम्मासा विरहिया उववाएणं।६१।

छाया—**चमरचञ्चा राजधानी उत्कर्षेण षण्मासान् विरहिता उपपातेन।**
एकैकमिन्द्रस्थानमुत्कर्षेण षण्मासान् विरहितमुपपातेन।
अधः सप्तमी पृथिवी उत्कर्षेण षण्मासान् विरहिता उपपातेन।
सिद्धिगतिरुत्कर्षेण षण्मासान् विरहिता उपपातेन।

शब्दार्थ—**चमरचंचा णं रायहाणी**—चमरचचा नामक राजधानी; इन्द्र के अभाव मे **उक्कोसेण**—उत्कृष्ट; **छम्मासा विरहिए उववाएणं**—छ मास तक उपपात से रहित होती है।

एगमेगे णं इंदट्ठाणे—एक-एक इन्द्र स्थान, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट, **छम्मासा विरहिए उववाएणं**—छ मास तक उपपात से रहित होता है।

अहेसत्तमा ण पुढवी—सातवी नरक, **उक्कोसेग**—उत्कृष्ट, **छम्मासा विरहिया उववाएण**—छ: मास तक उपपात से रहित होती है।

सिद्धिगई णं—सिद्धि गति, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट; **छम्मासा**—छ: मास तक; **उववाएणं विरहिया**—सिद्धत्व की प्राप्ति से रहित हो सकती है।

मूलार्थ—चमरचञ्चा राजधानी छ. मास तक असुरेन्द्र के उपपात अर्थात् उत्पत्ति से रहित हो सकती है।

एक-एक इन्द्र का आसन उत्कृष्ट छ. मास तक उपपात से रहित हो सकता है।

सातवी नरक उत्कृष्ट छ मास तक उपपात से रहित हो सकती है।

सिद्धगति भी उत्कृष्ट छ मास तक उपपात अर्थात् गमन से रहित हो सकती है।

विवेचनिका –

पूर्वसूत्र मे कल्पस्थिति का वर्णन किया गया है। स्थिति विद्यमानता है और विद्यमानता का विपरीत शब्द विरह है, अत स्थिति के साथ विरह-ज्ञान की भी अपेक्षा रहती है, इसी अपेक्षा से अव सूत्रकार चमर-चचा की राजधानी आदि का विरह-काल उपस्थित करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र मे जिन-जिन का अधिक से अधिक छ: महीने का विरह-काल है उनका नामोल्लेख किया गया है। दक्षिण दिशा के असुरकुमारों का अधिनायक चमर इद्र है। उसकी राजधानी चचा है, इसी कारण उसे चमरचचा कहते है। जम्बूद्वीप के मदरगिरि से दक्षिण की ओर तिरछे असख्यात द्वीप समुद्रो को पार कर एक अरुणवर नामक द्वीप है। उस द्वीप की बाहर की वेदिका से अरुणोद समुद्र मे ४२००० योजन भीतर की ओर जाकर असुर महाराज चमरेन्द्र का तिगिच्छिकूट नामक उत्पात पर्वत है। वह सत्रह सौ इक्कीस योजन ऊचा है। उस पर्वत से दक्षिण की ओर छ सौ करोड योजन से कुछ अधिक आगे जाकर अरुणोदसमुद्र है। उस के नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी मे चालीस हजार योजन नीचे पहुचकर जम्बूद्वीप प्रमाण चमरचचा नामक चमरेन्द्र की राजधानी है। उसमे जीव असुरकुमार के रूप मे उत्पन्न न हो तो अधिक मे अधिक छ महीने का विरह-काल रह सकता है, अर्थात् छे मास तक उत्पत्ति-क्रम रुक सकता है, अधिक नही।

जितने भी इद्रस्थान है उनमे अधिक से अधिक छ महीने का विरह-काल है, अर्थात् कोई भी इद्रस्थान अधिक से अधिक छ महीने तक खाली रह सकता है।

सातवे नरक के नारकियों का भी विरह-काल अधिक से अधिक छः मास का है। अन्य नरको का विरह-काल निम्नलिखित गाथा से जानना चाहिए जैसे कि—

"चउवीसइं मुहुत्ता[१] सत्तअहोरत्त[२] तह य पन्नरस[३]।
मासो य[४] दो य[५] चउरो[६] छम्मासा विरहकालो उ[७]॥"

अर्थात् पहली पृथिवी में नारकियो के जन्म का विरह-काल उत्कृष्ट २४ मुहूर्त का है, दूसरी पृथिवी मे सात अहोरात्र का, तीसरी पृथिवी मे १५ दिन का, चौथी पृथिवी मे एक मास का, पाचवी पृथिवी मे दो मास का, छट्ठी पृथिवी मे ४ मास का और सातवी पृथिवी में छ: मास का अधिक से अधिक विरह-काल है।

सिद्ध-गति मे उपपात की दृष्टि से विरह-काल छः मास का है। यहा उपपात शब्द का अर्थ गमन है जन्म नहीं, क्योकि सिद्ध-गति मे जन्म के कारणो का अभाव हो जाता है। सिद्ध-गति मे पहुचने का कम से कम अतर एक समय का होता है और अधिक से अधिक विरह-काल छः महीने का हुआ करता है। ●

षड्विध आयुबन्ध

मूल—**छव्विहे आउयबंधे पण्णत्ते, तं जहा-जाइणामणिधत्ताउए, गइणामणिधत्ताउए, ठिइनामणिधत्ताउए, ओगाहणाणामणिधत्ताउए, पएसणामणिधत्ताउए, अणुभावणामणिधत्ताउए। नेरइयाणं छव्विहे आउयबंधे पण्णत्ते, तं जहा—जाइणामणिधत्ताउए जाव अणुभावणामनिधत्ताउए। एवं जाव वेमाणियाणं।**

नेरइया णियमं छम्मासावसेसाउया परभवियाउयं पगरेंति। एवामेव असुरकुमाराव्वि जाव थणियकुमारा।

असंखेज्जवासाउया सन्नि-पंचिदिय-तिरिक्खजोणिया णियमं छम्मासावसेसाउया परभवियाउयं पगरेंति।

असंखेज्जवासाउया सन्निमणुस्सा नियमं जाव पगरिंति। वाणमंतरा, जोइसवासिया, विमाणिया, जहा णेरइया।६२।

छाया—षड्विध आयुर्बन्धः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—जातिनामनिधत्तायुः, गतिनामनिधत्तायुः स्थितिनामनिधत्तायुः, अवगाहनानामनिधत्तायुः प्रदेशनामनिधत्तायु, अनुभावनामनिधत्तायुः। नेरयिकानां षड्विध आयुर्बन्धः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—जातिनामनिधत्तायुर्यावत् अनुभावनामनिधत्तायुः। एवं यावद् वैमानिकानाम्।

नैरयिकाः नियमात् षण्मासावशेषायुष्काः परभवीयायुः प्रकुर्वन्ति। एवमेव असुरकुमारा अपि यावत् स्तनितकुमाराः।

असंख्येयवर्षायुष्काः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः नियमात् षण्मासावशेषायुष्काः परभवीयायुः प्रकुर्वन्ति। असंख्येय-वर्षायुष्काः सञ्ज्ञिमनुष्याः नियमात् यावत् प्रकुर्वन्ति। वानव्यन्तराः, ज्योतिर्वासिकाः, वैमानिकाः यथा नैरयिकाः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आयु का बन्ध छ प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—जातिनाम के साथ निबद्ध आयु, गतिनाम-निबद्ध—आयु, स्थितिनाम-निवद्ध-आयु, अवगाहनानाम-निबद्ध आय, प्रदेशनाम-निबद्ध आयु, अनुभाव-नाम-निवद्ध आयु।

नैरयिक जीवों का आयुर्बन्ध छः प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—जातिनाम के साथ निबद्ध आयु यावत् अनुभाव नाम के साथ निवद्ध आयु, इसी प्रकार वैमानिक पर्यन्त जानना।

नैरयिक जीव नियम से छ मास की आयु शेष रहने पर पर-भव की आयु का बन्ध करते है। इसी प्रकार असुरकुमारो से लेकर स्तनित—कुमारों तक के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

असख्यात वर्प की आयुवाले संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च भी नियम से छह मास की आयु के शेष रहने पर पर-भव की आयु बाधते है।

असंख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्य भी नियम से छः मास की आयु शेष रहने पर परलोक की आयु का बन्ध करते है। वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक भी नैरयिक जीवों के समान ही छः मास की आयु शेष रहने पर पर-भव की आयु बांधते है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में जन्म-सम्वन्धी चर्चा की गई है, भावी जन्म आयु के बध होने पर ही होना है, अब सूत्रकार जन्म के कारणीभूत आयुबन्ध का वर्णन करते है। जीव आयुष्यकर्म को बाधते समय जाति गति, स्थिति, अवगहना, प्रदेश और अनुभाव इन सबका बध करता है। जाति आदि नाम कर्म के विशेप उल्लेख से आयु के भेद वताने का यही आशय है कि आयु कर्म-प्रधान है। यही कारण है कि न… आदि की आयु का उदय होने पर ही जाति आदि नामकर्म का भी उदय हो जाता है। यहा भेद … आयु के दिए गये है, पर आगमकार ने आयु-बध के छः भेद लिखे हैं। इससे सूत्रकार यह वता… चाहते है कि—ये छः बाते आयु-वध से अभिन्न है। या यू कहिए कि वध-प्राप्त आयु ही आयु श… का वाच्य है। निधत्त शब्द का अर्थ है निषेक। फल भोगने के लिये होने वाली कर्मपुद्गलो की रचना विशेष को ही निषेक या निधत्त कहा जाता है।

१. जातिनाम-निधत्तायु - एकेन्द्रिय आदि पाच प्रकार की जातिया हैं। जिस कर्म से प्रेरि… जीव ने पाच जातियो मे से जिस जाति मे कर्म-फल भोगने के लिये जन्म …ना है, उस कर्म … जाति-नाम कर्म कहते है। जीव उस जाति नाम कर्म के योग्य जिस आयुष्य-कर्म का बन्ध करता है उ…

'जाति-नाम-निधत्तायु' कहते हैं।

२. **गति-नाम-निधत्तायु**—नरक आदि चार गतियो मे से जिस गति मे जीव ने जाना होता है उस गति के अनुरूप उसके कर्म-पुद्गलो की रचना स्वत. ही होने लगती है और साथ ही उस गति एव कर्मपुद्गलो के साथ तदनुकूल आयु का वन्ध भी हो जाता है। इस आयुबन्ध को 'गति-नाम-निधत्तायु' कहते हैं।

३ **स्थिति-नाम-निधत्तायु**—जीव ने अपने कर्मो के अनुकूल प्राप्त जिस गति या योनि मे जाकर रहना होता है, उसका वहा निवास ही उसकी स्थिति है। इस स्थिति की पूर्णता के लिये जीव जिस आयु को वाधता है उसे 'स्थिति-नाम-निधत्तायु' कहते है।

४. **अवगाहना-नाम-निधत्तायु**—अवगाहना का सम्वन्ध शरीर से है। शारीरिक अवगाहना भी कर्मानुरूप ही प्राप्त होती है, औदारिक आदि शरीरो की ऊचाई के साथ नाम-कर्म-रूप अवगाहना के लिये कर्म-पुद्गलो की रचना विशेप से युक्त जिस आयु का वन्ध होता है, उस आयु को 'अवगाहना-नाम-निधत्तायु' कहते है।

५. **प्रदेश-नाम-निधत्तायु**—जन्म के अनन्तर जो कर्मो का प्रदेशोदय होता है, उसे 'प्रदेशनाम निधत्तायु' कहा जाता है। प्रदेशनाम के साथ होनेवाली ,कर्मपुद्गलो की रचना से युक्त आयु को 'प्रदेश-नाम 'निधत्तायु' कहते हैं। जिस भव मे विरोधी कर्म-प्रकृतियो का विपाकोदय न होकर केवल प्रदेशोदय से कर्म-दलिको का निपेक होता है वही आयु प्रदेश-नाम 'निधत्तायु से अभिप्रेत है।

६. **अनुभाव-नाम-निधत्तायु**—जिन कर्म-प्रकृतियो का विपाकोदय होना निश्चित है अथवा आयु दलिको का विपाक रूप परिणाम अनुभाव नाम कर्म के साथ निपेक को प्राप्त होने पर ही जो आयु वाधी जाती है वही 'अनुभाव-नाम-निधत्तायु', कहलाती।

यहा शका उत्पन्न हो सकती है कि सूत्रकार ने नामपद किस लिए दिया है? इसके उत्तर मे वृत्तिकार कहते हैं कि—"**स्थिति प्रदेशानुभावनामग्रहणात् तु तासामेवस्थित्यादय उक्ता, ते च जात्यादिनाम सम्बन्धित्वान्नामकर्मरूपा एवेति। नाम शब्दः सर्वत्र कर्मार्थो घटत इति स्थितिरूपं नाम-कर्म स्थितिनाम तेन सह निधत्त यदायुस्तत् स्थितिनाम-निधत्तायुरिति**" अर्थात् जाति,,गति आदि नाम कर्म के साथ सवध होने से स्थिति-प्रदेश आदि भी नाम कर्म ही है। नाम शब्द सव जगह कर्म अर्थ का द्योतक है। जव आयु-कर्म का वध होता है, तव जाति आदि का नियमेन वध हो जाता है और जव आयु कर्म का उदय होता हे, तव उक्त छः प्रकृतियो का उदय होना भी निश्चित ही होता है, अत. आयु कर्म के साथ उनका साहचर्य सवध है। इसी कारण सवके साथ आयु का सम्वन्ध सूत्रकार ने जोडा है। जिस जीव ने जिस गति की आयु बाध ली है, उस उसी गति का अतिथि वनना ही पडता है। अतएव आगमकार कहते हैं—'**नेरइए ण भंते! नेरइएसु उववज्जइ? अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ? गोयमा! नेरइए नेरइएसु उववज्जइ**" ?[1]

अर्थात् नारकी ही नरक मे उत्पन्न होता हे न कि अनारकी। सूत्रकार के मत मे जिस मनुष्य या तिर्यञ्च ने नरक के योग्य आयु का वन्ध कर लिया है वही नरक मे जाता है अन्य नही। आयु-कर्म

१. भगवती श० ६, उ० ८।

की प्रधानता दिखाने के लिये जाति, गति, स्थिति, अवगाहना, प्रदेश और अनुभाव शब्दो के साथ आयु-कर्म का सम्बन्ध जोड़ा गया है। नारकियों से लेकर वैमानिक देवो तक सभी जीव जाति आदि के साथ ही आयुष्यकर्म का बन्ध करते हैं। कौन-कौन जीव कितनी आयु शेष रहने पर परभव की आयु का बन्ध करता है ? इसका विवरण निम्नलिखित दो गाथाओ से जानना चाहिए। जैसे कि—

"निरइ सुरअसंखाऊ तिरिमणुआ सेसए उ छम्मासे।
इगविगला निरुवक्कमं तिरि मणुया आउय तिभागे॥
अवसेसा सोवक्कम तिभाग नवभाग सत्तवीसइमे।
बंधंति परभवाउं निययभवे सव्वजीवा उ॥"

अर्थात् नैरयिक, देव तथा असख्यात वर्ष की आयुवाले तिर्यच और मनुष्य जब इनकी आयु छ महीने की शेष रह जाती है- तव वे परभव की आयु का वन्ध करते है। निरुपक्रम आयुवाले तिर्यच और मनुष्य अपनी आयु के तीसरे भाग मे परलोक की आयु का वध कर लेते है। शेष सोपक्रम आयुवाले जीव अपनी आयु के तीसरे, नौवे तथा सत्ताईसवे भाग मे आयु का वन्ध करते है।[1] ●

षड्विध भाव

मूल—छव्विहे भावे पण्णत्ते, तं जहा-ओदइए, उवसमिए, खइए, खओवसमिए, परिणामिए, सन्निवाइए।६३।

छाया—षड्विधो भाव. प्रज्ञप्तस्तद्यथा—औदयिकः, औपशमिकः, क्षायिकः, क्षायोपशमिकः, पारिणामिकः, सान्निपातिकः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—भाव छ प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे–ओदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सान्निपातिक।

विवेचनिका—

आयु-कर्म का वध औदयिक भाव मे होता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में छ भावो का नामोल्लेख किया गया है। भाव का अर्थ है शुद्ध और अशुद्ध पर्याय। आत्मा के सभी पर्याय एक ही अवस्थामें नही पाए जाते है, सभी पर्यायो के लिये भिन्न-भिन्न अवस्थाए होती है। पर्यायों की वे भिन्न-भिन्न

१. विस्तृत विवेचन के लिये देखिए प्रज्ञापना-सूत्र का व्युत्क्रान्ति नामक छट्ठा पद।

५ विना यतना के बिना विधि से जानते हुए या अनजाने में यदि असत्य, अदत्तादानादि किसी भी दोप का यत्किंचित् सेवन हो गया हो तो उसकी निवृत्ति के लिये **'मिच्छा मि दुक्कडं"** ग्रहण करना 'यत्किंचित्-मिथ्या-प्रतिक्रमण' कहलाता है। साराश यह है कि यदि सयम-साधना मे कोई विपरीत क्रिया हो गई हो तो उसकी शुद्धि के लिये तुरन्त **"मिच्छा मि दुक्कडं"** स्वीकार करना चाहिए। जब कभी विना विधि से पदार्थो का परिष्ठापन करना, या विना प्रतिलेखन किए एव विना प्रमार्जन किए परिष्ठापन एव गमन किया गया हो तो उस क्रिया की विशुद्धि के लिये अपनी भूल स्वीकार करना 'यत्किञ्चित्-मिथ्या प्रतिक्रमण' है।

६ निद्रा दशा में सदोष-स्वप्न आदि का देखना या शयन करते हुए अयतना हो गई हो, अधिक प्रमाद का सेवन हो गया हो उसका प्रतिक्रमण करना 'स्वप्नान्तिक-प्रतिक्रमण' कहलाता है। जब सो कर उठे तब सबसे पहले **"इच्छामि पडिक्कमिउं पगाम सिज्जाए"**—इस सूत्र पाठ का ध्यान करके आत्मशुद्धि करना 'स्वप्नान्तिक-प्रतिक्रमण' कहा गया है।

गमनागमन मे, विहार में, शयन में, स्वप्न-दर्शन मे, बोलने मे रखने-उठाने मे नौका द्वारा नदी पार करने मे यदि अयतना एव अविधि से प्रवृत्ति हो गई हो तो **"इच्छाकारेण"** तथा **"इच्छामि पडिक्कमिउं०"** के पाठ से प्रतिक्रमण किया जाता है तथा पाच आश्रवो का सेवन किया गया हो तब **"इच्छाकारेण"** एव **"तस्सोत्तरी"** इन सूत्रो को पढकर फिर **"लोगस्स उज्जोयगरे"** का ध्यान करना चाहिए। इससे यह सिद्ध होता है प्रत्येक क्रिया के अनन्तर प्रतिक्रमण की अत्यन्त आवश्यकता है। ●

छः तारो वाले नक्षत्र

मूल—**कत्तियाणक्खत्ते छत्तारे पण्णत्ते। असिलेसाणक्खत्ते छत्तारे पण्णत्ते।६५।**

छाया—**कृत्तिकानक्षत्रं षट्तारकं प्रज्ञप्तम्। अश्लेषानक्षत्रं षट्तारकं प्रज्ञप्तम्।**

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—कृत्तिका नक्षत्र के छः तारे प्रतिपादन किए गए है। अश्लेषा नक्षत्र के भी छः तारे कथन किये गए है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे प्रतिक्रमण-भेदो का वर्णन किया गया है। प्रतिक्रमण काल-ज्ञान पर निर्भर है और काल-ज्ञान नक्षत्र ज्ञान पर, अत. प्रस्तुत सूत्र मे ऐसे नक्षत्रो का वर्णन किया गया है, जिनके साथ छः-छः तारो का समूह विद्यमान रहता है। वे नक्षत्र हैं कृत्तिका और अश्लेषा। ●

पाप कर्म के रूप में पुद्गल-ग्रहण

मूल—जीवाणं छट्ठाणनिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा, तं जहा—पुढविकाइय-णिव्वत्तिए जाव तसकायणिव्वत्तिए। एवं चिण, उवचिण, बंध उदीर, वेय, तह निज्जरा चेव।

छप्पएसिया णं खंधा अणंता पण्णत्ता, छप्पएसोगाढा पोग्गला अणंता पण्णत्ता, छसमयट्ठिइया पोग्गला अणंता, छगुणकालगा पोग्गला जाव छगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता।६६।

छाया—जीवाः षट्स्थाननिर्वर्तितान् पुद्गलान् पापकर्मतया अचिन्वन् वा, चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, तद्यथा—पृथिवीकायनिर्वर्तितान् यावत् त्रसकायनिर्वर्तितान्। एवम् चिन्वन्, उपचिन्वन्, अवघ्नन्, उदैरयन्, अवेदयन् तथा निर्जीर्यन् चैव।

षट् प्रादेशिकाः स्कन्धा अनन्ता प्रज्ञप्ताः, षट् समयस्थितिकाः पुद्गला अनन्ताः। षड्-गुणकालकाः पुद्गला यावत् षड्गुणरूक्षाः पुद्गला अनन्ताः प्रज्ञप्ताः।

शब्दार्थ—जीवा—जीव; छट्ठाणनिव्वत्तिए—छः स्थान निष्पन्न; पोग्गले—पुद्गलों को; पावकम्मत्ताए—पाप कर्म रूप से; चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा—एकत्रित करते रहे हे, करते है, करेंगे, तं जहा—जैसे, पुढविकायनिवत्तिए—पृथिवी-काय के रूप मे, जाव—यावत्, तसकायणिव्वत्तिए—त्रसकाय के रूप मे। एवं—इसी प्रकार; चिण—पाप कर्मो का एकत्र करना, उवचिण—बार-बार उन्हे एकत्र करना, बंध—बांधना, उदीर—उनकी उदीरणा करना, वेयणा—वेदन करना, तह—तथा, निज्जरा चेव—निर्जरा करना।

छप्पएसिया णं खंधा—छः प्रदेश वाले स्कन्ध, अणंता पण्णत्ता—अनन्त कथन किये गए हैं, छप्पएसोगाढा—छः आकाश-प्रदेशो को अवगाहन करके रहनेवाले; पोग्गला अणता पण्णत्ता—पुद्गल अनन्त कथन किये गए है। छसमयट्ठिइया पोग्गला अणंता—छः समय की स्थितिवाले पुद्गल अनन्त हैं, छगुणकालगा पोग्गला—छः गुण कृष्ण रंग वाले पुद्गल; जाव—यावत्; छगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता—छः गुण रूक्ष पुद्गल अनन्त कहे गए है।

मूलार्थ—जीव छः पापों के रूप मे पुद्गलों का पाप-कर्म रूप मे संग्रह करते रहे हैं, करते हे और करते रहेगे, जैसे पृथिवीकाय मे निर्वर्तित, यावत् त्रसकाय मे निर्वर्तित। इसी प्रकार पाप कर्मो का इकट्ठा करना, बार-बार इकट्ठा करना, बांधना,

उदीरणा करना, वेदन करना और निर्जरा करना भी जान लेना चाहिए। छः प्रदेशी स्कन्ध अनन्त कथन किये गए है। आकाश के छ. प्रदेशों को अवगाहन करके स्थित रहनेवाले पुद्गल अनन्त वर्णन किये गए है। छः समय की स्थितिवाले पुद्गल अनन्त है। छ. गुण कृष्ण वर्णवाले पुद्गल अनन्त है, यावत् छ गुणरूक्ष स्पर्शवाले पुद्गल अनन्त वर्णन किये गए है।

विवेचनिका—

विश्व भर मे जितने भी जीव है उन सभी जीवो ने छः कायपने में अतीत काल मे पापकर्मों का सचय किया, वर्तमान मे कर रहे है और भविष्य मे भी करेंगे। इसी प्रकार उपचय, बध, उदीरणा, वेदना और निर्जरा के विषय मे जान लेना चाहिए। कोई भी ऐसी काय नही है जिसमे रहकर प्रत्येक जीव ने उक्त छः क्रियाए न की हो। छ. काय में सभी ससारी जीवो का अतर्भाव हो जाता है।

छ प्रदेशी स्कन्ध अनन्त है। आकाश के छ. प्रदेशो पर अवगाहन किए हुए पुद्गल भी अनन्त है। छः समय की स्थितिवाले पुद्गल भी अनन्त है। पाच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श ये पुद्गल के गुण है। छः गणा काले पुद्गल अनन्त है, यावत् छः गुना रूक्ष पुद्गल भी अनन्त है।

। छठा स्थान समाप्त ।



स्थानाङ्ग-सूत्र

(७)

सप्तम स्थान

प्रथम उद्देशक

इस स्थान में

प्रस्तुत स्थान में एक ही उद्देशक है जिसमें गण-अपक्रमण, विभंग-ज्ञान, योनि-संग्रह, गण में संग्रहणीय, पिंडैषणा, पानैषणा, प्रतिमाएं, सप्तैकक, महा-अध्ययन, सप्त-सप्तमिका भिक्षु-प्रतिमा, पृथिवियां, घनोदधि, घनवात, तनुवात, अवकाशान्तर, पृथ्वीगोत्र, बादर वायु-काय, संस्थान, भय-स्थान, छद्मस्थ और केवली के लक्षण, मूलगोत्र, मूलनय, स्वर-मण्डल, काय-क्लेश, जम्बूद्वीप के वर्षक्षेत्र, वर्षधर-पर्वत आदि, काल-विशेषों के कुलकर, कुलकर-भार्याएं, कल्प-वृक्ष, दण्ड-नीति, चक्रवर्तियों के एकेन्द्रिय-रत्न और पचेन्द्रिय रत्न, दुषमकाल और संयम काल के लक्षण, संसार-समापन्नक-जीव, आयु-भेद, जीव-भेद, चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त की ऊंचाई-आयु, श्री मल्लिनाथ जी के साथ प्रव्रजित राजा, दर्शन, छद्मस्थ वीतराग का प्रकृति-वेदन, छद्मस्थ के लिये अज्ञेय, महावीर-अवगहना, विकथाएं, आचार्य और उपाध्याय के अति-शेष, संयम, असंयम, आरम्भ, अलसी आदि की अंकुरण-शक्ति, अप्काय, नैरयिक-स्थिति, वरुण सोम एवं यम की अग्रमहिषियां, पार्षद देव और देवियों का स्थितिकाल, सारस्वत आदि देव और उनका सौर-परिवार, देवों की कल्पस्थिति, ब्रह्मलोक आदि के विमानों की ऊंचाई, देवों के भवधारणीय शरीरों की अवगहना, नन्दीश्वर के द्वीप और समुद्र, श्रेणियां, इन्द्रों के अनीक और अनीकाधिपति, अनीका-धिपतियों की कक्षाओं के देव, वचन-भेद, विनय-भेद, समुद्घात, महावीर-तीर्थ में निन्हव उनके आचार्य और उत्पत्ति-स्थान, साता वेदनीय एवं असाता वेदनीय कर्म का विपाक, नक्षत्र-द्वार, वक्षस्कार पर्वतों के कूट, द्वीन्द्रिय जीवों की कुलकोटियां, पुद्गलग्रहण और पुद्गल-अनन्तता आदि विषयों का वर्णन किया गया है।



सप्तम-स्थान

पूर्व स्थान मे जीव-अजीव आदि पदार्थों का षड्विधता की दृष्टि से वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत सातवे स्थान मे सूत्रकार उन पदार्थों की विवेचना करेंगे जिनकी सख्या 'सात' के रूप मे ही पाई जाती है।

गरा-अपक्रमरा

मूल—सत्तविहे गणावक्कमणे पण्णत्ते, तं जहा—सव्वधम्मा रोएमि, एगइया रोएमि एगइया णो रोएमि, सव्वधम्मा वितिगिच्छामि, एगइया वितिगिच्छामि एगइया नो वितिगिच्छामि, सव्वधम्मा जुहुणामि, एगइया जुहुणामि एगइया णो जुहुणामि, इच्छामि णं भंते ! एकल्ल विहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। १।

छाया—सप्तविध गणापक्रमण प्रज्ञप्त, तद्यथा—सर्वधर्मान् रोचयामि, एककान् रोचयामि, एककान् नो रोचयामि, सर्वधर्मान् विचिकित्सामि, एककान् विचिकित्सामि, एककान् नो विचिकित्सामि, सर्वधर्मान् जुहोमि, एककान् जुहोमि एककान् नो जुहोमि, इच्छामि भदन्त ! एकाकिविहारप्रतिमामुपसंपद्य विहर्तुम्।

शब्दार्थ—सत्तविहे—सात कारणों से; गणावक्कमणे पण्णत्ते, त जहा—गच्छ से अलग होना कथन किया गया है, जैसे, सव्वधम्मा—श्रुत और चारित्र रूप सब धर्मो को; रोएमि—ग्रहण करना चाहता हू; एगइया—कुछ धर्मो को, रोएमि—ग्रहण करना चाहता हूं; एगइया णो रोएमि—कुछ धर्मो को नही ग्रहण करना चाहता हूं; सव्वधम्मा—सर्व धर्मो में; वितिगिच्छामि—सन्देह करता हू; एगइया वितिगिच्छामि—कुछ धर्मो मे सन्देह करता हू; एगइया—कुछ धर्मो में; नो वितिगिच्छामि—सन्देह नही करता हूं; सव्वधम्मा—सब धर्मो का उपदेश; जुहुणामि—दूसरों को देना चाहता हू; एगइया जुहुणामि कुछ धर्मो का उपदेश देना चाहता हू, एगइया णो जुहुणामि—कुछ धर्मों का उपदेश नही देना चाहता हूं; भंते—भगवन्; एकल्लविहारपडिमं—एकलविहार प्रतिमा को, उवसंपज्जित्ता णं—स्वीकार करके; विहरित्तए—विचरना; इच्छामि णं—चाहता हू।

मूलार्थ—सात कारणो से साधु के लिये अपने गच्छ से अलग होकर दूसरे गच्छ मे जाने का विधान कथन किया गया है, जैसे—श्रुत और चारित्र धर्मों को (अपने गच्छ में बहुश्रुतादि विद्वानों का अभाव हो और दूसरे गच्छ में वे विद्यमान हों तो) उन्हे ग्रहण करना चाहता हू, कुछ धर्मो को ग्रहण करना चाहता हूँ और कुछ को नही, अर्थात् कुछ धर्मो की अपने गच्छ के विद्वानों से ही प्राप्ति हो चुकी है और कुछ की नही, अत अप्राप्त की प्राप्ति के लिये दूसरे गच्छ मे जाना चाहता हूं। सब धर्मो में सन्देह करता हू, अत. सन्देह निवारण के लिये जाना चाहता हूँ, कुछ धर्मों मे सन्देह करता हूँ और कुछ मे सन्देह नही करता, सब धर्मो का उपदेश देना चाहता हू, किन्तु अपने गच्छ मे योग्य पात्र नही है, दूसरे में है, इसलिये वहा जाने की इच्छा करता हूँ, कुछ धर्मो का उपदेश देना चाहता हू और कुछ का नही, भन्ते ! मे एकाकी विचरने की प्रतिमा को स्वीकार करके विचरण करना चाहता हू ।

विवेचनिका—

प्रस्तुत सूत्र में गण-अपक्रमण के कारणो का निर्देश किया गया है। गण का अर्थ है गच्छ। स्थविरकल्पी मुनि के लिये उसी गण मे रहना अधिक उपयोगी होता है, जिसमे कि उसने प्रव्रज्या ग्रहण की है, शिक्षा प्राप्त की है। विशिष्ट कारण उपस्थित होने पर उस गण से अलग होना ही गणापक्रमण कहलाता है। अपनी कमजोरियो के कारण तथा आचार्य एव उपाध्याय की बिना आज्ञा के गण से अलग होना गणापक्रमण नही है, किन्तु वह तो स्वेच्छाचारिता है। विनीत होकर आज्ञा का पालन करते हुए आचार्य आदि की अनुमति से ली जानेवाली विदाई ही गणापक्रमण है। ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की वृद्धि के लिये किया गया गणापक्रमण ही प्रशस्त माना गया है। अतः प्रस्तुत सूत्र मे आचार्य, उपाध्याय प्रवर्त्तक या अपने से किसी बड़े साधु की आज्ञा लेकर ही दूसरे गण मे जाने के औचित्य की ओर सकेत किया गया है। इस तरह एक गण को छोडकर दूसरे गण में जाने की आज्ञा मागने के लिये अरिहत भगवान ने सात कारण बताए है। जैसे कि—

१ श्रुतधर्म निर्जरा का हेतु है, अत उसके प्रति मेरे हृदय मे अगाध श्रद्धा है। सूत्र और अर्थ-रूप श्रुत का मैं अभी और ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूं, अपूर्व श्रुत ग्रहण करने के लिये मेरे मन मे अभि-रुचि है, मैं विस्मृत हुए श्रुत को याद करना चाहता हू और अध्ययन किए हुए की आवृत्ति करना चाहता हूं तथा मैं चारित्र के वैयावृत्य तप आदि सभी भेदो का पालन करना चाहता हू, उनकी इस गण मे मेरी अभिलाषा के अनुकूल व्यवस्था नही है। अतः शिष्य प्रार्थना करता है कि भंते ! मैं दूसरे गण मे जाना चाहता हू, इसलिये आप मेरी श्रुत-लब्धि की आशा को पूर्ण करने के लिए आज्ञा दीजिए।

२ श्रुत और चारित्र रूप धर्म के समस्त भेदो का पालन मैं कर रहा हू और कुछ का नही कर रहा। जिनका पालन मैं नही कर पा रहा, उनका ज्ञान प्राप्त करने के लिये इस गण में व्यवस्था नहीं है, अत: मै इस गण को छोडकर अमुक गण मे जाना चाहता हू। इस कारण एक गण को छोड़कर दूसरे गण मे चले जाना दूसरा गण-अपक्रमण है।

३. मुझे श्रुत और चारित्र रूप धर्म के सभी भेदों में सशय है, उन सशयों का निराकरण करनेवाला हमारे मे कोई भी ऐसा उच्चकोटि का विद्वान साधु या आर्या नही है जो उन सशयों का निराकरण कर सके, अत: मै सशयो का निराकरण करने के लिये स्वगण को छोडकर किसी अन्य गण मे जाना चाहता हूं। यह तीसरा गणापक्रमण है।

४ धर्म के कुछ भेदों में मुझे सशय है और कुछ में नही। जिनमे सशय है उसे दूर करने के लिये मैं अपने गण को छोडने की आप से आज्ञा चाहता हूं और अमुक गण में जाकर अपने सशयों की निवृत्ति करना चाहता हूं। यह चौथा गणापक्रमण कहलाता है।

५ मै सर्वधर्मों का ज्ञान दूसरे को देना चाहता हूं अथवा मेरे पास जो विद्या है, मै अपने गण मे ऐसे सुपात्र साधु नही देख रहा, जिन्हे वह विद्या दे सकू, अत: मै किसी सुपात्र साधु को विद्या देने के लिये अपने गच्छ को छोडना चाहता हूं। इस इच्छा से किया गया यह पांचवां गणापक्रमण है।

६. मै कुछ साधकों को विद्या देना चाहता हूं और कुछ को नही, जो विद्या देना चाहता हूं उसका पात्र इस गणमें कोई नही है, परन्तु अमुक गण में है। इस दृष्टि से मै अन्य गण मे जाने की आज्ञा चाहता हूं। इस इच्छा से आज्ञा-पूर्वक किया गया छठा गणापक्रमण है।

७ मै एकल-विहार-अभिग्रह को स्वीकार करके जिनकल्पी के समान विहार करना चाहता हू। इसलिये मैं आप से आज्ञा लेकर इस गण से अलग होने की इच्छा करता हूं। इस प्रकार की इच्छा से प्रेरित होकर आज्ञा-पूर्वक किया गया गणापक्रमण सातवां गणापक्रमण है।

पहले दो कारण सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के उद्देश्य को लिये हुए है, तीसरा और चौथा कारण सम्यग्ज्ञान के उद्देश्य से पूर्ण है, पांचवा और छठा कारण सम्यक्-चारित्र की विशुद्धि और विकास की इच्छा पर अवस्थित है और गणापक्रमण का सातवा कारण रत्नत्रय की पूर्णता के लिये कहा गया है। वैयावृत्य तथा अध्ययन के लिये भी गणापक्रमण किया जाता है, परन्तु आचार्य, उपाध्याय एव प्रवर्तक की आज्ञा से ही किया गया गणापक्रमण दोप-मुक्त है।

"रोएमि" यह क्रिया श्रद्धा को व्यक्त करती है, "वितिगिच्छामि" क्रिया सदेह को वताती है, "जुहोमि" यह क्रिया देने के तथा आसेवन के अर्थ मे प्रयुक्त हुई है।

विभङ्ग ज्ञान

मूल—सत्तविहे विभंगणाणे पण्णत्ते, तं जहा—एगदिसिलोगाभिगमे, पंचदिसि-लोगाभिगमे, किरियावरणेजीवे, मुदग्गे जीवे, अमुदग्गे जीवे, रूवी जीवे,

सव्वम्मिणं जीवा ।

तत्थ खलु इमे पढमे विभंगणाणे—जया णं तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा विभंगणाणे समुप्पज्जइ । से णं तेणं विभंगणाणेण समुप्पन्नेणं पासइ—पाईण वा, पडिणं वा, दाहिणं वा, उदीणं वा, उड्ढ वा जाव सोहम्मे कप्पे । तस्स णमेवं भवइ—अत्थि ण मम अइसेसे णाणदसणे समुप्पन्ने, एगदिसिं लोगाभिगमे । संतेगइया समणा वा, माहणा वा पंचदिसिं लोगाभिगमे, जे ते एवमाहंसु—मिच्छं ते एव माहंसु । पढमे विभंगणाणे ।

अहावरे दोच्चे विभंगणाणे— जया ण तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा विभंगणाणे समुप्पज्जइ । से ण तेणं विभंगणाणेणं समुप्पन्नेण पासइ—पाईणं वा, पडिणं वा, दाहिणं वा, उदीणं वा, उड्ढं वा जाव सोहम्मे कप्पे । तस्स णमेवं भवइ—अत्थि णं मम अइसेसे णाण-दंसणे समुप्पन्ने, पंचदिसिं लोगाभिगमे । संतेगइया समणा वा, माहणा वा एवमाहंसु—एगदिसिं लोगाभिगमे, जे ते एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु । दोच्चे विभंगणाणे ।

अहावरे तच्चे विभंगणाणे—जया णं तहारूवस्स समणस्स वा, माहणस्स वा विभंगणाणे समुप्पज्जइ । से णं तेणं विभंगणाणेणं पासइ पाणे अइवाएमाणे, मुसंवएमाणे, अदिन्नमादियमाणे, मेहुण पडिसेवमाणे, परिग्गहं परिगिण्हमाणे, राइभोयणं भुंजमाणे वा, पाव च णं कम्मं कीरमाणं णो पासइ । तस्स णमेवं भवइ—अत्थि णं मम अइसेसे णाणदंसणे समुप्पन्ने, किरियावरणे जीवे । संतेगइया समणा वा, माहणा वा एवमाहंसु—नो किरियावरणे जीवे, जे ते एवमाहंसु—मिच्छं ते एवमाहंसु । तच्चे विभगणाणे ।

अहावरे चउत्थे विभंगणाणे—जया ण तहा रूवस्स समणस्स वा, माहणस्स वा जाव समुप्पज्जइ । से णं तेण विभंगनाणेणं समुप्पन्नेणं देवामेव पासइ बाहिरब्भंतरए पोग्गले परियाइत्ता पुढोगत्तं णाणत्तं फुसिया, फुरेत्ता, फुट्टित्ता । विकुव्वित्ताण विकुव्वित्ताणं चिट्ठित्तए । तस्स णमेवं भवइ—अत्थि णं मम अइसेसे णाणदंसणे समुप्पन्ने, मुदग्गे जीवे, संतेगइया समणा वा, माहणा वा एवमाहंसु—अमुदग्गे जीवे, जे ते एवमाहंसु—मिच्छं ते एवमाहंसु । चउत्थे विभंगणाणे ।

अहावरे पंचमे विभंगणाणे—जया णं तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा जाव समुप्पज्जइ । से णं तेणं विभंगणाणेणं समुप्पन्नेणं देवामेव पासइ—बाहिरब्भंतरए पोग्गलए अपरियाइत्ता पुढेगत्तं णाणत्तं जाव विउव्वित्ता णं चिट्ठित्तए । तस्स णमेवं भवइ—अत्थि जाव समुप्पन्ने अमुदग्गे जीवे, संतेगइया समणा वा, माहणा वा एवमाहंसु—मिच्छं ते एवमाहंसु । पंचमे विभंगणाणे ।

अहावरे छट्ठे विभंगणाणे—जया णं तहारूवस्स समणस्स वा, माहणस्स वा जाव समुप्पज्जइ । से णं तेणं विभंगणाणेणं समुप्पन्नेणं देवामेव पासइ—बाहिरब्भंतरए पोग्गले परियाइत्ता वा अपरियाइत्ता वा पुढेगत्तं णाणत्तं फुसेत्ता जाव विकुव्वित्ता चिट्ठित्तए । तस्स णमेवं भवइ—अत्थि णं मम अइसेसे णाणदंसणे समुप्पन्ने रूवी जीवे, संतेगइया समणा वा, माहणा वा, एवमाहंसु—अरूवी जीवे, जे ते एवमाहंसु—मिच्छं ते एवमाहंसु । छट्ठे विभगणाणे ।

अहावरे सत्तमे विभंगणाणे—जया णं तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा विभंगणाणे समुप्पज्जइ । से णं तेणं विभंगणाणेणं समुप्पन्नेणं पासइ—सुहुमेणं वायुकाएणं फुडं पोग्गलकायं, एयंतं, वलंतं, खुब्भंतं, फंदंतं, घट्टंतं उदीरेंतं, तं तं भावं परिणमंतं । तस्स णमेवं भवइ—अत्थि ण मम अइसेसे णाणदंसणे समुप्पन्ने, सव्वमिणं जीवा, संतेगइया समणा वा, माहणा वा एवमाहंसु—जीवा चेव, अजीवा चेव, जे ते एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु । तस्स णमिमे चत्तारि जीवनिकाया णो सम्ममुवगया भवंति, तं जहा—पुढविकाइया, आऊ, तेऊ, वाउकाइया । इच्चेएहिं जीवनिकाएहिं मिच्छादंड पवत्तेइ । सत्तमे विभगणाणे । २ ।

छाया,—सप्तविधं विभंगज्ञानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—एकदिशि लोकाभिगमः, पञ्चदिक्षु लोकाभिगमः, क्रियावरणो जीवः, मुदग्गो जीवः, अमुदग्गो जीवः, रूपी जीवः, सर्वमिदं जीवाः । तत्र खलु इद प्रथमं विभंगज्ञानम्—यदा तथारूपस्य श्रमणस्य वा, ब्राह्मणस्य वा विभंगज्ञानं समुत्पद्यते, स तेन विभंगज्ञानेन समुत्पन्नेन पश्यति—प्राचीनां वा, दक्षिणां वा, उदीचीनां वा, ऊर्ध्वां वा यावत् सौधर्मः कल्पः । तस्यैवं भवति—अस्ति मम अतिशेषं ज्ञानदर्शनं समुत्पन्नम्, एकस्यां दिशि लोकाभिगमः । सन्त्येकके श्रमणा वा, ब्राह्मणा

वा एवमाहुः—पञ्चदिशि लोकाभिगमः ये ते एवमाहुः मिथ्या ते एवमाहुः। प्रथमं विभगज्ञानम्।

अथापरं द्वितीयं विभंगज्ञानम्—यदा तथारूपस्य श्रमणस्य वा, ब्राह्मणस्य वा विभंगज्ञानं समुत्पद्यते, स तेन विभंगज्ञानेन समुत्पन्नेन पश्यति—प्राचीनां वा, प्रतीचीनां वा, दक्षिणां वा, उदीचीनां वा, उर्ध्वां वा यावत् सौधर्मः कल्पः। तस्यैव भवति—अस्ति मम अतिशेषं ज्ञानदर्शन समुत्पन्नं पञ्चदिक्षु लोकाभिगमः। सन्त्येकके श्रमणा वा, ब्राह्मणा वा एवमाहुः—एकदिशि लोकाभिगमः, ये ते एवमाहु, मिथ्या ते एवमाहुः। द्वितीयं विभंगज्ञानम्।

अथापरं तृतीयं विभंगज्ञानम्—यदा तथारूपस्य श्रमणस्य वा, ब्राह्मणस्य वा विभगज्ञानं समुत्पद्यते, स तेन विभंगज्ञानेन समुत्पन्नेन पश्यति—प्राणानतिपातयमानान्, मृषा वदतः, अदत्तमाददानान्, मैथुनं प्रतिसेवमानान् परिग्रह परिगृह्णत, रात्रिभोजनं भुञ्जानान् वा, पापञ्च कर्म क्रियमाणान् नो पश्यति। तस्यैव भवति—अस्ति मम अति शेषं ज्ञानदर्शनं समुत्पन्नं, क्रियावरणो जीव.। सन्त्येकके श्रमणा वा, ब्राह्मणा वा एवमाहुः—नो क्रियावरणो जीवः, ये ते एवमाहुः—मिथ्या ते एवमाहुः। तृतीयं विभगज्ञानम्।

अथापरं चतुर्थं विभंगज्ञानम्—यदा तथारूपस्य श्रमणस्य वा, ब्राह्मणस्य वा यावत् समुत्पद्यते। स तेन विभंगज्ञानेन समुत्पन्नेन देवानेव पश्यति—बाह्याभ्यन्तरान् पुद्गलान् पर्यादाय पृथगेकत्वं नानात्वं स्पृष्ट्वा, स्फुरित्वा-स्फुरित्वा, विकुर्व्य-विकुर्व्य स्थातुम्। तस्यैवं भवति—अस्ति मम अतिशेषं ज्ञानदर्शनं समुत्पन्न—मुदग्गो जीव., सन्त्येकके श्रमणा वा, ब्राह्मणा वा एवमाहुः—अमुदग्गो जीवः, ये ते एवमाहु मिथ्या ते एवमाहुः। चतुर्थं विभंगज्ञानम्।

अथापरं पंचम विभंगज्ञानम्—यदा तथारूपस्य श्रमणस्य वा, ब्राह्मणस्य वा यावत् समुत्पद्यते। स तेन विभंगज्ञानेन समुत्पन्नेन देवानेव पश्यति बाह्याभ्यन्तरान् पुद्गलान-पर्यादाय पृथगेकत्वं नानात्वं यावत् विकुर्व्य स्थातुम्, तस्यैव भवति—अस्ति यावत् समुत्पन्नममुदग्गो जीव, सन्त्येकके श्रमणा वा, बाह्मणा वा एवमाहुः—मुदग्गो जीव, ये ते एवमाहुः मिथ्या ते एवमाहु। पञ्चमं विभंगज्ञानम्।

अथापरं षष्ठं विभंगज्ञानम्—यदा तथारूपस्य श्रमणस्य वा, ब्राह्मणस्य वा यावत् समुत्पद्यते। स तेन विभगज्ञानेन देवानेव पश्यति बाह्याभ्यन्तरान् पुद्गलान् पर्यादाय वा, अपर्यादाय वा पृथगेकत्वं नानात्वं स्पृष्ट्वा यावत् विकुर्व्य स्थातुम्। तस्यैव भवति—अस्ति मम अतिशेषं ज्ञानदर्शनं समुत्पन्नम्, रूपी जीव. सन्त्येकके श्रमणा वा, ब्राह्मणा वा एवमाहुः—अरूपी जीव, ये ते एवमाहुः मिथ्या ते एवमाहु। षष्ठ विभंगज्ञानम्।

अथापरं सप्तमं विभंगज्ञानम्—यदा तथारूपस्य श्रमणस्य वा ब्राह्मणस्य वा विभंगज्ञानं समुत्पद्यते। स तेन विभंगज्ञानेन समुत्पन्नेन पश्यति-सूक्ष्मेन वायुकायेन स्पृष्टं पुद्गलकायमेजमानं, व्येजमान, चलन्तं, क्षुभ्यन्तं, स्पन्दन्तं, घट्टयन्तम्, उदीरयन्तं तं त

भावं परिणमन्तम् । तस्यैवं भवति—अस्ति मम अतिशेषं ज्ञानदर्शनं समुत्पन्नम्, सर्वमिदं जीवाः सन्त्येकके श्रमणा वा, ब्राह्मणा वा एवमाहुः—जीवाश्चैवाजीवाश्चैव, ये ते एवमाहुः, मिथ्या ते एवमाहु । तस्येमे चत्वारो जीवनिकाया नो सम्यगुपगता भवन्ति, तद्यथा—पृथिवीकायिकाः, अप्-तेजोवायुकायिकाः । इत्येतेषु चतुर्षु जीवनिकायेषु मिथ्यादण्डं प्रवर्तयति । सप्तमं विभंगज्ञानम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सात प्रकार का विभंग-ज्ञान वर्णन किया गया है, जैसे—एक दिशा में लोक का ज्ञान, पांच दिशाओं मे लोक का ज्ञान, जीव क्रियावरण है, कर्मावरण नही, बाह्याभ्यन्तर पुद्गलों से निष्पन्न शरीर ही जीव है, बाह्याभ्यन्तर पुद्गलो से अनिष्पन्न शरीरवाला जीव है, जीव रूपी है, ये सब गतिशील पदार्थ जीव है ।

१. प्रथम विभंग ज्ञान वह है कि जब तथारूप मिथ्यादृष्टि श्रमण अथवा ब्राह्मण को विभग ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब वह उत्पन्न विभंगज्ञान से पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊपर की ओर सौधर्मकल्प तक देखता है । उस समय उसे ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे विशिष्ट ज्ञानदर्शन उत्पन्न हो गया है, जिसके फलस्वरूप मै एक ही दिशा में सम्पूर्ण लोक को जान रहा हू । अन्य बहुत से श्रमण-ब्राह्मण जो यह कहते है कि पांचों दिशाओ मे लोक है, वे असत्य कहते है । यही भ्रान्त ज्ञान प्रथम प्रकार का विभगज्ञान है ।

२. दूसरा विभंग ज्ञान वह है कि जब किसी तथारूप श्रमण य ब्राह्मण को विभग ज्ञान पैदा हो जाता है, तब वह अपने मे उत्पन्न विभंग ज्ञान से पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर दिशा मे और ऊपर की ओर सौधर्म कल्प तक देखता है । उस समय उसे ऐसा प्रतीत होता है कि—मुझे विशिष्ट ज्ञान दर्शन उत्पन्न हो चुका है, जिसके फलस्वरूप मैं जान चुका हू कि पांचों ही दिशाओ मे लोक है छटी दिशा मे नहीं । जो अन्य बहुत से श्रमण-ब्राह्मण एक दिशा मे लोक का अस्तित्व स्वीकार करते है, वे असत्य कहते है । यही मिथ्यात्व-युक्त ज्ञान दूसरे प्रकार का विभंगज्ञान है ।

३. तीसरा विभंग-ज्ञान यह है कि जब तथारूप श्रमण तथा ब्राह्मण को विभग-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब वह उस उत्पन्न विभंगज्ञान के द्वारा जीव-हिंसा करनेवालों, झूठ बोलनेवालो, चोरी करनेवालों, मैथुन सेवन करनेवालो, परिग्रह ग्रहण करनेवालो और रात्रि-भोजन करनेवालो को देखता है, किन्तु उनके द्वारा क्रियमाण पाप-कर्म को नही देखता है, उस समय उसको यह प्रतीत होता है कि मुझे विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो चुका है, जिसके फलस्वरूप मैं जानता हू कि—जीव क्रियावरण है, कर्मावरण नहीं। जो कि अन्य बहुत से श्रमण-ब्राह्मण यह कहते है कि—जीव क्रियावरण नही कर्मावरण है, वे मिथ्या कहते है। यही तीसरे प्रकार का विभंगज्ञान है।

४. चतुर्थ विभग-ज्ञान वह है कि—जव तथारूप श्रमण-ब्राह्मण को विभङ्ग ज्ञान दर्शन उत्पन्न होता है, तब वह उस उत्पन्न विभंग-ज्ञान के द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर पुद्गलों को ग्रहण करके अपने से विभिन्न एक रूप अथवा नाना रूपों को स्पर्श करके, उत्साह दिखा करके, पुद्गलो को प्रकट करके विकुर्वणा करते हुए देवताओ को देखता है, उस समय उसके हृदय में यह विचार पैदा होता है कि—मुझे विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो चुका है, फलत मै जानता हू कि जीव बाह्य एवं आभ्यन्तर पुद्गलों से निष्पन्न है। अन्य श्रमण-ब्राह्मण जो ऐसा कहते है कि—'जीव बाह्य एवं आभ्यन्तर पुद्गलो से निष्पन्न नही है।' वे मिथ्या कहते है। यही चतुर्थप्रकार का विभंग-ज्ञान है।

५. पञ्चम विभंग-ज्ञान वह है कि—जब तथारूप श्रमण-ब्राह्मण को विभंग-ज्ञान उत्पन्न होता है, तव वह जिस समय उत्पन्न विभग ज्ञान के द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर पुद्गलों को बिना ग्रहण किये ही अपने से भिन्न एक अथवा अनेक रूपों की विकुर्वणा करते हुए देवो को देखता है, उस समय उसके हृदय में यह निश्चय होता है कि—मुझे विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो चुका है, अतः मै जानता हू कि जीव बाह्य और आभ्यन्तर पुद्गलों से निष्पन्न हैं, जो बहुत से अन्य श्रमण तथा ब्राह्मण ऐसा

कहते हैं कि जीव बाह्य और आभ्यन्तर पुद्गलों से निष्पन्न शरीरवाला है, वे मिथ्या कहते है । यही पञ्चम विभंग-ज्ञान है ।

६. छठा विभंग ज्ञान यह है कि—जब तथारूप श्रमण-ब्राह्मण को विभंग-ज्ञान पैदा हो जाता है, तब वह उस उत्पन्न हुए विभंग-ज्ञान से बाह्य एवं आभ्यन्तर पुद्गलों को ग्रहण करके अथवा विना ग्रहण किये ही अपने से भिन्न एक अथवा अनेक रूपों को स्पर्श करके विकुर्वणा आदि करते हुए देवों को देखता है, उस समय उसके हृदय मे यह विचार उत्पन्न होता है कि मुझे विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो चुका है । अतः मैं जानता हूं कि जीव रूपी है । जो बहुत से अन्य श्रमण-ब्राह्मण यह कहते है कि जीव अरूपी है, वे मिथ्या कहते हैं । यही छठा विभंग-ज्ञान है ।

७. सातवां विभंगज्ञान यह है कि—जब किसी तथाकथित श्रमण एवं ब्राह्मण को विभगज्ञान पैदा हो जाता है, तब वह उत्पन्न हुए विभंगज्ञान से सूक्ष्म वायुकाय के द्वारा कापते हुए, विशेषरूप से कांपते हुए, एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित होते हुए क्षुब्ध होते हुए, स्पन्दन करते हुए, दूसरे पदार्थों को छूते हुए, दूसरे पदार्थों को प्रेरित करते हुए और अनेक अवस्थाओ में परिणत होते हुए पुद्गलों को देखता है उस समय उसके हृदय में यह विचार उत्पन्न होता है कि—मुझे विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होगया है, फलतः मै जानता हू कि ये सब जोव ही जीव है । जो बहुत से श्रमण और ब्राह्मण यह कहते है कि—'जीव भी है, अजीव भी है, वे मिथ्या कहते है । उस विभंग-ज्ञानी को ये चार जीव-निकाय सम्यक् रूप से नहीं ज्ञात होते है—पृथिवी-काय, अप्-काय, तेजस्काय, वायु-काय । इन चार जीव-निकायों पर वह मिथ्यादण्ड का प्रयोग करता है । यही सातवां विभंग-ज्ञान है ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे गण-अपक्रमण की चर्चा की गई है, प्रस्तुत सूत्र में जो मिथ्यादृष्टि श्रमण-ब्राह्मण हैं वे जब अपने अज्ञान एव बाल-तप आदि द्वारा अवधि-ज्ञान तो नहीं कुअवधिज्ञान प्राप्त कर लेते है, उन्हें अपने अयथार्थ ज्ञान के द्वारा जो कुछ भ्रान्तिया उत्पन्न हो जाती हैं, उनको विभङ्ग-ज्ञान कहा जाता है । अब सूत्रकार उसी विभङ्ग-ज्ञान के सात रूपो का परिचय देते हुए कहते हैं—

मिथ्यात्वयुक्त अवधि-ज्ञान अर्थात् भ्रान्ति-युक्त ज्ञान को विभङ्ग-ज्ञान कहा जाता है। सम्यग्-दृष्टि को अवधि-ज्ञान उत्पन्न होता है और मिथ्यादृष्टि को विभङ्ग-ज्ञान। अवधि-ज्ञान से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का जितना भी प्रत्यक्ष होता है, वह यथार्थ ही होता है और विभङ्गज्ञान से जितना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का प्रत्यक्ष होता है, वह यथार्थ नही होता—भ्रान्ति-युक्त ही होता है। इसी कारण उसे विभङ्ग-ज्ञान कहा जाता है। किसी वाल-तपस्वी श्रमण-माहन को अज्ञान तप के द्वारा जब विभङ्ग-ज्ञान उत्पन्न होता है, तब वह दूर-दूर तक के पदार्थो का प्रत्यक्ष करने लगता है। उससे वह अपने को विशिष्ट ज्ञानी समझने लग जाता है। परिणाम-स्वरूप वह सर्वज्ञ भगवान के वचनो पर श्रद्धा न रखता हुआ मिथ्या प्ररूपणा करने लगता है। वह बाल-तपस्वी अधिक से अधिक मध्यलोक मे सात द्वीप समुद्र पर्यन्त जान व देख सकता है। ऊपर की ओर वह पहले देवलोक पर्यन्त ही देख पाता है, परन्तु अधोलोक का वह बिल्कुल प्रत्यक्ष नही कर सकता। किसी भी ओर का भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान होने पर वैसी ही वस्तु स्थिति जानकर वह दुराग्रह-वश अपने को ही सर्वज्ञ मानने लग जाता है। यही विभङ्ग-ज्ञान है और इस विभंङ्ग-ज्ञान के सात रूप है, जैसे कि—

१. **एगदिसि लोगाभिगमे**—जब कोई बाल-तपस्वी विभगज्ञानी अधोदिशा को छोडकर पाच दिशाओ मे से किसी एक दिशा मे स्थित पदार्थो को देखकर यह कहने लगता है कि मैने अपने अतिशययुक्त-ज्ञान में समस्त लोक को एक दिशा मे ही देख लिया है अत जो श्रमण-माहन यह कहते है कि पाच दिशाओ मे लोक है, वे सब मिथ्यावादी है। वह केवल अपना देखा हुआ ही सत्य मानता है और दूसरो के द्वारा यथार्थ रूप से प्रत्यक्ष किए हुए ज्ञान को मिथ्या ठहराता है।

२. **पंचदिसि लोगाभिगमे**—जिस किसी बाल-तपस्वी को ऐसा विभङ्ग-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जिसके द्वारा वह पांच दिशाओ मे विद्यमान पदार्थो को प्रत्यक्ष करने लग जाता है, तव वह मिथ्या-ग्रह के कारण यह कहने लगता है कि पाच दिशाओ मे ही लोक है, जो श्रमण-ब्राह्मण यह कहते है कि एक दिशा में ही लोक है उनका कहना मिथ्या है।

वास्तव में लोक एक दिशा मे भी है और पाच दिशाओ मे भी और छ दिशाओ मे भी, अतः एक दिशा मे लोक-स्थिति का निषेध करना उसका मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व से अनुरजित-ज्ञान ही अज्ञान होता है।

यहा सूत्रकार ने अधोदिशा का वर्णन नही किया, उसका विशेष कारण यह है कि अधोदिशा का ज्ञान अवधिज्ञानवाले के लिये भी दुरधिगम होता है, अत विभङ्ग-ज्ञानी को अधोलोक का ज्ञान हो ही नही सकता है। इस विषय का विस्तृत वर्णन पीछे तीसरे स्थान मे किया जा चुका है।

३. **किरियावरणे जीवे**—तीसरे विभङ्ग-ज्ञानवाला तथाकथित श्रमण या माहन जब किसी जीव को हिंसा करते हुए, झूठ बोलते हुए, चोरी करते हुए, मैथुन करते हुए, परिग्रह का सचय करते हुए तथा अन्य पाप-कर्म करते हुए देखता है, तब उसके मन मे यह सकल्प उत्पन्न होता है कि मुझे यह अतिशयपूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया है कि जीव क्रिया करनेवाला तो है, किन्तु पाप-कर्म का बध करनेवाला नही। जो श्रमण या माहन जीव को "नो-क्रिया-आवरण" मानते है अर्थात् जो जीव को

कर्मो से आवृत हुआ मानते है वे मिथ्यावादी है। मैं कही भी कर्मों का प्रत्यक्ष नहीं कर रहा हूं, अतः मैंने विशेषज्ञान से देखा है कि क्रिया ही कर्म है और वही जीव का आवरण है, पौद्गलिक कर्म-बंध कोई वस्तु नही है। क्रिया को कर्म-रूप न मानना ही मिथ्यात्व है।

इस कर्म-सत्ता की वास्तविक स्थिति के ज्ञान से रहित मिथ्याज्ञानी का इस प्रकार का ज्ञान तीसरा विभङ्ग-ज्ञान है।

४. **मुदग्गे जीवे**—चौथे प्रकार का विभङ्ग-ज्ञान जिस बाल-तपस्वी को हो जाता है, वह उस ज्ञान के द्वारा जब देवो को बाह्य और आभ्यतर शरीर के पुद्गलों से उत्तर-वैक्रिय शक्ति के द्वारा तरह-तरह की क्रियाए करते हुए देखता है तब वह कहता है कि जीव पुद्गल-रूप ही है। जो लोग जीव को पुद्गल-रूप नही मानते उनका कहना सर्वथा मिथ्या है। इस शरीर के भीतर भी पुद्गल है और बाहर भी पुद्गल है, अतः बाह्य और आभ्यतर पुद्गलो से रचित यह शरीर ही जीव है। जब देव उत्तर-वैक्रिय शक्ति के द्वारा तरह-तरह के रूप बनाते है तो उन्हें देखकर विभङ्ग-ज्ञानी को यह प्रतीत होने लगता है कि जीव अरूपी एव स्वतत्र-द्रव्य नही है, वह जीव को पुद्गलरूप मानने लग जाता है।

वास्तव में आत्म-द्रव्य अमूर्त, अरूपी तथा पुद्गल से भिन्न है, उसे न समझ कर विपरीत ज्ञान होना ही अज्ञान है और इसी अज्ञान को विभङ्ग-ज्ञान कहा जाता है।

५. **अमुदग्गे जीवे**—जब पाचवे प्रकार का विभङ्ग-ज्ञान किसी बाल-तपस्वी को हो जाता है, तब वह सर्व-प्रथम विना पुद्गलो की सहायता के ही देवों को विविध क्रियाए करते हुए देख कर यह निश्चय करता है कि मुझे अतिशय-युक्त ज्ञान दर्शन उत्पन्न हो गया है, जीव पुद्गलरूप नही है। जो लोग उसे पुद्गलरूप समझते है या कहते हैं, वे मिथ्यावादी है। इस प्रकार मिथ्यात्व-युक्त कुअवधि ज्ञान ही पाचवे प्रकार का विभङ्ग-ज्ञान है।

वास्तव मे देखा जाए तो ससारी सभी जीव पुद्गल रूप भी है और अपुद्गल रूप भी। उन्हे एकान्त पुद्गल-रूप मानना या एकान्त अपुद्गलरूप मानना मिथ्यात्व है क्योंकि ससारी आत्मा सूक्ष्म शरीर और स्थूलशरीर से युक्त होने से पोग्गली भी है और स्वरूप से वह अमूर्त है, अतः अपोग्गली भी। केवल सिद्ध भगवान् अपोग्गली है, क्योकि वे कार्मण और स्थूल शरीर से सर्वथा रहित है।

६. **रूवी जीवे**—जब किसी बाल-तपस्वी को यह छटे प्रकार का विभङ्ग-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब वह जिस समय देवो को नाना प्रकार के पुद्गलो से विविध विकुर्वणाए करते देखता है, तब वह कहता है कि जीव रूपी ही है, जो लोग जीवो को अरूपी मानते है वे सब मिथ्यावादी है। यदि जीव अरूपी होते तो मैं देवो को कैसे देख सकता ? इस प्रकार का मिथ्या-ज्ञान विभङ्ग-ज्ञान है।

जैन दर्शन ससारी जीव को कथचित् रूपी और कथचित् अरूपी मानता है क्योकि जीव स्वरूप से अरूपी है और पुद्गलो के सयोग से वह रूपी भी है।

७. **सव्वमिणं जीवा**—यह सातवे प्रकार का विभगज्ञान जिस बाल-तपस्वी को उत्पन्न हो जाता है, तब वह दूर-दूर रहे हुए छोटे-छोटे पुद्गल-स्कन्धो को मद-मद पवन के द्वारा परस्पर स्पर्श करते हुए, कापते हुए, चलते-फिरते या स्थिर होते हुए, स्पदन करते हुए, सघट्टना करते हुए और अनेक

भावो में परिणमते हुए देखता है, तो वह उन्हें देखकर यह कहता है कि ये सभी जीव हैं। पुद्गलजाति को चलता हुआ देखकर वह क्रियान्वित-पुद्गल को ही जीव मान लेता है, क्योंकि स्पदन लक्षण जीव का है। इससे उसकी धारणा दृढ हो जाती है कि सब कुछ जीव ही जीव है। तब वह कहने लगता है कि—जो श्रमण या माहन यह कहते हैं कि ससार मे जीव भी हैं और अजीव भी वे सब मिथ्यावादी है।

वस्तुत: उसको चार जीव-निकाय का सम्यक् रूप तत्त्व अवगत नही हुआ जैसे, कि पृथिवी-काय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय, अत: वह इन चार निकायो मे मिथ्या धारणा का प्रयोग करता है, क्योंकि वह केवल त्रस और वनस्पति काय के कपन आदि को देखकर केवल त्रस-काय को ही जीव मान लेता है। वह स्थावर जीवो का ज्ञान न होने के कारण वायु द्वारा कपित एव गतिशील पुद्गल को ही जीव मानता है स्थावरों को नहीं, यही उसका अज्ञान है और यही अज्ञान सातवा विभग-ज्ञान है।

जीव को अजीव मानना और अजीव को जीव मानना मिथ्यात्व है। स्थावरों को जीव न मानकर उनकी हिंसा मे प्रवृत्ति करना अज्ञान एव अविरति है।

यहा यह स्मरणीय है कि विभग-ज्ञान आहारक जीव को ही होता है, अनाहारक को नही। अवधिज्ञानी की अपेक्षा विभंगज्ञानी असख्यात गुणा अधिक है, यह विभय-ज्ञान चार गतियो मे सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों को ही होता है।

"तहारूवस्स"—इस पद का आशय है जो अपने-अपने आम्नाय एव वेप के अनुरूप तप आदि शुभानुष्ठान करनेवाले है, उन्हे तथारूप श्रमण-ब्राह्मण कहते है।

उड्ढं वा जाव सोहम्मे कप्पे—इस पद से सिद्ध होता है कि बाल-तपस्वी सौधर्म देवलोक से आगे के देवलोको को नही देख सकता है।

"पासइ" क्रिया से **"जाणइ"** क्रिया का ग्रहण भी कर लेना चाहिये। यदि **'जाणइ'** पद ग्रहण न किया जाये तो विभङ्ग-ज्ञान का ही अभाव हो जाएगा, क्योकि **'जाणइ'** पद ज्ञान का वाचक है।

"अइसेसे" पद का अभिप्राय यह है कि विभङ्ग-ज्ञानी यह समझता है कि ज्ञानी कहलाने वालो की अपेक्षा मुझे अतिशययुक्त ज्ञान-दर्शन उपलब्ध हो रहा है।

जिस श्रमण-माहन को विभङ्ग-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है वह अपने जाने हुए, देखे हुए पदार्थों को ही सत्य मानता है, औरों के ज्ञान को मिथ्या बताता हुआ अपने ज्ञान की ही प्रशसा करता है, अत उसे सम्यग्-ज्ञान न होने से उसके ज्ञान को विभङ्ग-ज्ञान कहा जाता है। ●

योनि-संग्रह

मूल—सत्तविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते, अंडजा, पोतजा, जराउजा, रसजा, संसेयगा, संमुच्छिमा, उब्भिगा। अंडगा सत्तगइया, सत्तागइया पण्णत्ता, तं जहा—

अंडगे अंडगेसु उववज्जमाणे अंडएहिंतो वा, पोतजेहिंतो वा जाव उब्भिए हिंतो वा उववज्जेज्जा, से चेव णं से अंडए अंडगत्तं विप्पजहमाणे अंडगत्ताए वा, पोतगयाए वा जाव उब्भियत्ताए वा गच्छेज्जा। पोत्तगा सत्तगइया सत्तागइया। एवं चेव सत्तण्हवि गइरागई भाणियव्वा, जाव उब्भियत्ति।

छाया—सप्तविधो योनि-संग्रहः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अण्डजाः, पोतजाः, जरायुजाः, रसजाः, सस्वेदजाः, सम्मूर्च्छिमाः, उद्भिज्जाः।
अण्डजा. सप्तगतिकाः सप्तागतिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अण्डजोऽण्डजेषूपपद्यमानोऽण्डजेभ्यो वा पोतजेभ्यो वा यावद् उद्भिज्जेभ्यो वोपपद्येत्। स चैव स अण्डजोऽण्डजत्वं विप्रजहन् अण्डजतायां वा पोतजतायां यावत् उद्भिज्जतायां वा गच्छेत्। पोतजाः सप्तगतिकाः सप्तागतिकाः। एवञ्चैव सप्तानामपि गतिरागतिर्भणितव्या यावत् उद्भिज्जा इति।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—योनि-संग्रह सात प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम और उद्भिज्ज।

अण्डजों की सात गति है और सात ही आगति कथन की गई है, जैसे—अण्डज जब अण्डजों मे उत्पन्न होता है, तब वह अण्डजों से, पोतजों से यावत् उद्भिज्जों से आकर उत्पन्न होता है और वही अण्डज, अण्डज योनि को छोडकर अण्डज योनि मे, पोतज योनि में यावत् उद्भिज्ज योनि में जाता है। पोतजो की भी इसी प्रकार सात प्रकार की गति और सात प्रकार की आगति कथन को गई है। इसी भांति सब की सात की गति और सात की आगति कहनी चाहिये, उद्भिज्ज पर्यन्त यही क्रम जानना चाहिए।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे विभङ्गज्ञान का वर्णन किया गया है। विभगज्ञान एक प्रकार का मिथ्याज्ञान है और मिथ्यात्वी जीव ही अण्डज आदि योनियो में उत्पन्न होते है, अतः अब सूत्रकार इन्ही सप्तविध योनियो का वर्णन करते हैं।

जीवो की उत्पत्ति-स्थान-विशेष को योनि कहते है, उसका सग्रह ही योनि-सग्रह कहलाता है। वह सात प्रकार का होता है, जैसे कि—

१. अण्डज—पक्षी आदि माता के गर्भ से जिस श्वेताकार गोल स्थिति में उत्पत्ति से पूर्व रहते है, उसे अण्ड कहते है। उस अण्डे से जिन जीवो का जन्म हो, उन्हे अण्डज कहा जाता है। मत्स्य, पक्षी और सर्प आदि जीव अण्डज योनिक होते हैं।

२. पोतज—उत्पत्ति के समय जिनका जन्म जेर से नही होता, जन्म होते ही जो हलन-चलन आदि क्रियाएं करने लग जाते हैं, वे सब जीव पोतज कहलाते हैं। जैसे कि हाथी, खरगोश, नेवला, चूहा, चमगादड़, वल्गुली आदि।

३. जरायुज—गर्भावस्था मे शरीर को आवेष्टित करनेवाली पतली मास की झिल्ली को जरायु कहते हैं, उसी जरायु अर्थात् जेर से उत्पन्न होनेवाले मनुष्य तथा दो खुरवाले सभी पशु जरायुज कहलाते है।

४. रसज—रसचलित तरल पदार्थ मे उत्पन्न होनेवाले कीट-विशेष जो अचार, मुरब्बा, दूध-दही, मिठाई आदि का रस विगड़ जाने पर उनमे उत्पन्न हो जाते है, वे सब रसज-योनिक कहलाते है।

५. संस्वेदिम—पसीने से उत्पन्न होनेवाले जीव जैसे जू, लीख खटमल आदि, ये सब सस्वेदिम योनिक माने जाते है।

६. सम्मूर्च्छिम—स्त्री-पुरुष के सयोग के विना ही जिन की उत्पत्ति होती है, वे सब समूर्छिम जीव कहलाते है, जैसे कि कीड़ी, मकौड़ा, मक्खी, मच्छर आदि जन्तु समूर्छिम ही होते है।

७. उद्भिज—शलभ, खद्योत, टिड्डी आदि सब उद्भिज कहलाते है, क्योकि ये भूमि को भेदन करके वाहर निकलते है। यद्यपि वृक्ष आदि वनस्पतिया भी भूमि मे अकुरित होकर बाहर निकलती हैं, परन्तु यहां उनकी गणना नही, क्योंकि यहां केवल त्रसकायिक योनियो का उल्लेख किया गया है।

इस से आगे सूत्रकार ने प्रतिपादन किया है कि अडज आदि जीवो की भी सात की गति है। और इन्ही जीवो की आगति भी सात की है, जैसे कि अण्डज मरकर पुन: अण्डज मे उत्पन्न हो सकते हैं तथा अन्य छ भेदो में भी उत्पन्न हो सकते है। इसी तरह पोतज आदि के विषय मे भी सात की गति समझ लेना चाहिए।

इन सात योनियो मे से जिस जीव ने जिस योनि मे जन्म लिया हुआ है वह यदि मरकर पुन: उसी योनि मे उत्पन्न होता है तो उसे आगति कहते है और उसके अतिरिक्त अन्य छ मे से किसी एक योनि मे जन्म लेने के लिये जीव यदि गमन करता है, तो उसे गति कहते हैं। इन सात योनियो में मनुष्य और तिर्यंच समाविष्ट होते है देव और नारकी नही।

सारांश यह है कि ये सात प्रकार के उक्त जीव परस्पर गति-आगति कर्मानुसार करते रहते हैं। इसी कारण सूत्रकार ने सात प्रकार की योनियो के सामूहिक रूप को योनि-सग्रह कहा है।[1]

गण में संग्रहणीय

मूल—आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि सत्त संगहट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—आयरियउवज्झाए गणंसि आणं वा, धारणं वा सम्मं पउंजित्ता भवइ। एवं

१. विशेष विवरण के लिये देखिए जीवाभिगम सूत्र।

जहा पंचमट्ठाणे जाव आयरियउवज्झाए गणंसि आपुच्छियचारि यावि भवइ, नो अणापुच्छियचारि यावि भवइ। आयरियउवज्झाए गणंसि अणुप्पन्नाइं उवगरणाइ सम्मं उप्पाइत्ता भवइ। आयरियउवज्झाए गणंसि पुव्वुप्पन्नाइं उवगरणाइं सम्मं सारक्खेत्ता, संगोवित्ता भवइ, णो असम्मं सारक्खेत्ता, संगोवित्ता भवइ।

आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि सत्त असंगहट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—आयरियउवज्झाए गणंसि आणं वा, धारणं वा नो सम्मं पउंजित्ता भवइ। एवं जाव उवगरणाणं नो सम्मं सारक्खेत्ता संगोवेत्ता भवइ। ४।

छाया—आचार्योपाध्याययोः गणे सप्त संग्रहस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आचार्योपाध्यायौ गणे आज्ञां वा धारणां वा सम्यक् प्रयोक्तारौ भवतः। एवं यथा पञ्चमस्थाने यावत् आचार्योपाध्यायौ गणे आपृच्छ्यचारिणौ चापि भवतः, नो अनापृच्छ्यचारिणौ चापि भवतः। आचार्योपाध्यायौ गणेऽनुत्पन्नानि उपकरणानि सम्यगुत्पादयितारौ भवतः। आचार्योपाध्यायौ गणे पूर्वोत्पन्नान्युपकरणानि सम्यक् संरक्षितारौ संगोपितारौ भवतः, नो असम्यक् संरक्षितारौ, संगोपितारौ भवतः।

आचार्योपाध्याययोः गणे सप्त असंग्रहस्थानानि प्रज्ञप्तानि—आचार्योपाध्यायौ गणे आज्ञां वा, धारणां वा नो सम्यक् प्रयोक्तारौ भवतः। एवं यावत् उपकरणानां नो सम्यक् संरक्षितारौ, संगोपितारौ भवतः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आचार्य और उपाध्याय के गच्छ में सात प्रकार का संग्रह-स्थान वर्णन किया गया है, जैसे—आचार्य और उपाध्याय गच्छ में यदि आज्ञा एवं धारणा का सम्यक्तया प्रयोग करते है, शेष पञ्चम स्थान मे किए गए वर्णन के अनुसार समझ लेना चाहिए यावत् आचार्य और उपाध्याय गच्छ मे पूछ कर ही विहारचर्या करते है, विना पूछे विहारचर्या नही करते है। आचार्य और उपाध्याय गच्छ मे पूर्व-प्राप्त उपकरणों की सम्यक् रूप से संरक्षण एव सगोपन करनेवाले होते है, असम्यक् रूप से संरक्षण एवं संगोपन करने वाले नही होते।

आचार्य और उपाध्याय के गच्छ मे सात प्रकार का असंग्रह-स्थान वर्णन किया गया है, जैसे—आचार्य उपाध्याय गच्छ में आज्ञा और धारणा का सम्यक्रूप से प्रयोग नही करते। इसी प्रकार यावत् उपकरणों के

सम्यक् रूप से संरक्षण एवं संगोपन करनेवाले भी नही होते है ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे योनि-सग्रह का विवेचन किया गया है । सप्तविध योनि-सग्रह से त्राण पाने के लिये विरक्त साधक गण के नेश्राय में आते है । ऐसे विरक्त साधकों के लिये गण के अधिपति आचार्य एव उपाध्याय के क्या-क्या कर्त्तव्य है ? अब सूत्रकार इसी विषय का विवेचन करते हैं ।

देश की सुव्यवस्था एवं समृद्धि राजनीति की सुव्यवस्था पर निर्भर हुआ करती है । यदि राज-कर्मचारी हित और प्रेम से जनता का रक्षण शिक्षण एव पोषण करते रहे, तो देश सब तरह से समृद्ध हो सकता है, वैसे ही गण की व्यवस्था धर्मनीति पर निर्भर है । गण अर्थात् गच्छ में जो प्रमुख अधिकारी मुनि है, वे यदि सघ की रक्षा, विनय, शिक्षण, पोषण आदि क्रियाए अपनी स्वार्थवृत्ति को छोड़कर परमार्थ को लक्ष्य मे रखकर धर्मनीति के द्वारा सुव्यवस्थित रूप से करते है, धर्म-मर्यादाओं का उल्लघन न स्वय करते है और न किसी को करने देते है, अपितु साधक-वर्ग को प्रोत्साहन देते है, प्रत्येक साधक मे ऐसी भावना भरते है जिससे कि गण की व्यवस्था ठीक रूप से चलती रहे । तभी गण आध्यात्मिक प्रगति कर सकता है । गण को सुव्यवस्थित रखने के लिये सात सग्रह-स्थानो की ओर आचार्य-उपाध्याय का ध्यान निरन्तर बना रहना चाहिए, जैसे कि—

१ विधिरूप आदेश को आज्ञा और निषेध रूप आदेश को धारणा कहते हैं । जिस आचार्य और उपाध्याय के गच्छ में आज्ञा वा धारणा सम्यक्तया प्रयुक्त होती है, वह गण निरन्तर सवृद्ध होता रहता है और जनता को भी धर्म-संगठन से प्रभावित कर सकता है । आज्ञा वा धारणा का सही रूप मे चलना ही शान्ति का राजमार्ग है ।

२. जिस आचार्य एव उपाध्याय के गण मे परस्पर वन्दना-व्यवहार यथायोग्य व यथाक्रम होता है, उस गण की निरन्तर शोभा बढ़ती है और गण की वृद्धि होती है । इससे पर्याय-ज्येष्ठ का सम्मान सुरक्षित रहता है और अपने से छोटो को विनीत होने की शिक्षा मिलती है ।

३ जिस आचार्य एव उपाध्याय के गण मे श्रुत-स्थविर विद्वान् मुनिवर यथासमय सूत्रो का वाचन कराते है, अध्ययन-अध्यापन की पद्धति को बनाए रखते है, उस गण में सदा-सर्वदा वातावरण शान्त रहता है और आगम की परम्परा सुस्थिर रहती है ।

४. जिस आचार्य एव उपाध्याय के गण मे नवदीक्षित, स्थविर तथा रोगी की यथायोग्य सेवा होती है, उस गण मे अहिंसा और दया की वृद्धि से पूर्ण शान्ति रहती है, क्योकि ये तीन तरह के साधक अनुकम्पा के पात्र होते है ।

५ जिस आचार्य एव उपाध्याय के गण मे सभी कार्य बड़ों को पूछकर ही किये जाते है, वह गण निरन्तर समुन्नत होता है, क्योंकि बड़ो से पूछकर कार्य करने पर बडो का आशीर्वाद मिलता है और अपनी सफलता के प्रति साधक के हृदय मे किसी तरह की आशका और भय नही रह जाता है । आशकाओं और भय से मुक्त साधक ही लक्ष्य की ओर बढ सकता है ।

६. जिस आचार्य एव उपाध्याय के गण मे ज्ञान, दर्शन एव चारित्रोपयोगी अप्राप्त साधनों

को प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्न किया जाता हो, उस गण के साधक निश्चिन्त हो कर चारित्र की आराधना करते हुए गण की कीर्ति का विस्तार करते हैं।

७ जिस आचार्य एव उपाध्याय के गण मे प्राप्त साधना-उपकरणो की पूर्णतया सार-सभाल होती रहती है, उस गण में सदैव शान्ति बनी रहती है। यह समस्त वर्णन स्थविर-कल्पी सर्वविरतियो को लक्ष्य मे रखकर किया गया है, क्योकि उपकरणों का सपादन, संरक्षण स्थविर-कल्पी ही करते है तथा इससे श्रुतधर्म और चारित्र-धर्म की वृद्धि होती है, वरिष्ठ मुनियो की विनीतता और कुशलता सिद्ध होती है।

जो सात बाते सग्रह स्थान में कही गई है, उनसे विपरीत सभी बाते असग्रह-स्थान मे जान लेनी चाहिए। असग्रह-स्थान से गण मे भेद उत्पन्न होता है, भेद से सक्लेश और सक्लेश से गण का बिखर जाना स्वाभाविक ही है, इसलिये कहा गया है कि—

"जहिं नत्थि सारणा पडिचोयणा य गच्छम्मि।
सो उ अगच्छो गच्छो, मोत्तव्वो संजमत्थीहिं ॥"

स्मारणा अर्थात् भूले हुए कर्त्तव्य को याद दिलानेवाली प्रणाली, वारणा—किसी अकर्त्तव्य मे प्रवृत्त हुए को समझा-बुझाकर कर्त्तव्य मे प्रवृत्ति कराना, प्रतिचोदना अर्थात् पुनः गलतिया करने पर कटु वाक्यो से ताड़ना न देकर, अनुकूल वचनो से समझाना, इत्यादि क्रियाए जिस गच्छ मे होती हैं, वही गच्छ है, इनके अभाव मे गच्छ अगच्छ बन जाता है और अगच्छभूत गच्छ साधको के लिये त्याज्य हो जाता है।

तपश्चर्या की प्रक्रियाएं

मूल—**सत्तपिंडेसणाओ पण्णत्ताओ। सत्त पाणेसणाओ पण्णत्ताओ। सत्त उग्गहपडिमाओ पण्णत्ताओ। सत्त सत्तिकया पण्णत्ता। सत्त महज्झयणा पण्णत्ता। सत्त सत्तमियाणं भिक्खुपडिमा एकूणपण्णत्ताए राइंदिएहिंमेगेण य छण्णउएणं भिक्खासएणं अहासुत्तं (अहा अत्थं) जाव आराहियावि भवइ।५।**

छाया—सप्त पिण्डैषणाः प्रज्ञप्ताः। सप्त पानैषणाः प्रज्ञप्ताः। सप्तावग्रहप्रतिमाः प्रज्ञप्ताः। सप्त सप्तिककाः प्रज्ञप्ताः। सप्त महाध्ययनानि प्रज्ञप्तानि। सप्त सप्तमिकाः भिक्षुप्रतिमा एकोनपञ्चाशतारात्रिन्दिवैरेकेन च षण्णवत्या भिक्षाशतेन यथासूत्र यावत् आराधिका भवन्ति।

शब्दार्थ—**सत्त**—सात; **पिंडेसणाओ पण्णत्ताओ**—पिण्डैषणाए प्ररूपित की गई है। **सत्त पाणेसणाओ पण्णत्ताओ**—सात पानैषणाए कथन की गई है। **सत्त उग्गह-पडिमाओ पण्णत्ताओ**—सात अवग्रह प्रतिमाएं होती है। **सत्तसत्तक्किया पण्णत्ता**—सात सप्तैकक

कथन किए गए है। **सत्त महज्झयणा पण्णत्ता**—सात महा-अध्ययन कथन किये गए है; **सत्त सत्तमियाणं**—सात सप्तमिका; **भिक्खुपडिमा**—भिक्षु की प्रतिमाये; **एगूण-पण्णत्ताए**—उनचास; **राइदिएहिं**—रात्रि दिना मे; **एगेण य छण्णउएण, भिक्खा-सएणं**—एक सौ छियानवे भिक्षाओ द्वारा; **अहासुत्तं**—सूत्र में किए गए वर्णन के अनुरूप; **जाव**—यावत्; **आराहियावि**—आराधित; **भवंति**—होती हैं।

मूलार्थ—सात पिण्डैषणाएं है। सात पानैषणाए है। सात अवग्रह—उपाश्रय सम्बन्धी प्रतिमाएं है। सात सप्तैकक है। सात महा अध्ययन है। सात सप्तमिका भिक्षु प्रतिमाये है—जो उनचास रात्रि दिनो एव एक सौ छियानवे भिक्षाओ के द्वारा आराधित होती है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में गण-सग्रह को लक्ष्य में रखकर आचार्य एव उपाध्याय आदि की आज्ञा एव धारणा आदि का उल्लेख किया गया है। आज्ञा एव धारणा के द्वारा भिक्षु-वर्ग पिण्डैषणा आदि का उपयोग एव आचरण करता है, अतः इस सूत्र मे सूत्रकार पिण्डैषणा आदि का वर्णन करते हे।

आगमों की भाषा में भोजन को पिंड कहा जाता है। निर्दोष आहार ग्रहण करने की जो भी विधिया है, वे पिंडैषणा कहलाती है। वह पिण्डैषणा सात प्रकार की होती है, जैसे कि—असंसृष्टा, ससृष्टा, उद्धृता, अल्पलेपिका, अवगृहीता, प्रगृहीता, और उज्झितधर्मा। इनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है, जैसेकि—

१. **असंसृष्टा**—दातार का हाथ या भिक्षा देने का बर्तन यदि अन्न आदि के ससर्ग से रहित हो तो निर्दोप आहार लेना।

२. **संसृष्टा**—दातार का हाथ और बर्तन अन्न आदि के ससर्ग वाला हो, तभी साधुवृत्ति के योग्य निर्दोष आहार लेना।

३. **उद्धृता**—यदि पतीली आदि बर्तनो से बाहर निकाला हुआ भोजन हो, तभी कल्पनीय आहार लेना।

४. **अल्पलेपिका**—भुने हुए चने आदि के रूप मे चिकनाहट से रहित आहार लेना।

५. **अवगृहीता**—जो गृहस्थ ने अपने खाने के लिये भोजन-पात्र मे भोजन रखा हुआ है उसमे से यदि वह देना चाहेगा तो लूंगा, अन्यथा नहीं।

६. **प्रगृहीता**—जो भोजन गृहस्थ ने अपने खाने या दूसरो को देने के लिये थाली मे रखा हुआ हो, उसमें से यदि कोई देगा तो लूंगा, अन्यथा नही।

७. **उज्झितधर्मा**—जो आहार अधिक होने से गृहस्थ के घर में बचा हुआ हो, वह लेना अथवा जिस भोजन को कोई भी लेना पसंद नही करता, अतः जो फैंक देने के योग्य हो, वैसा आहार यदि मिले तो लूगा, अन्यथा नही।

गच्छ मे विशिष्ट तपश्चर्या करनेवाले साधु भी सात पिण्डैषणाओं का ग्रहण कर सकते है। जिनकल्पी, परिहार-विशुद्धि चारित्रवाले तथा भिक्षु प्रतिमाधारी साधु पहले की दो पिंडैषणाओ को छोडकर शेष पाच का ग्रहण करते है। ये सात पिंडैषणाए अभिग्रह विशेष है। इन सबका अन्तर्भाव वृत्ति-सक्षेप या भिक्षाचर्या तप मे होता है।

पिंडैषणा की तरह पानैषणा के भी सात ही प्रकार है, किन्तु चौथी पानैषणा में इतनी विशेषता है, जो तिलोदक आदि विविध प्रकार का अचित्त पानी है वह पश्चात्-कर्म से रहित होना चाहिए।

अवग्रहप्रतिमा—यह प्रतिमा स्थान-विशेष से सबंध रखती है, क्योंकि अवग्रह प्रतिमा की यह व्युत्पत्ति है—**"अवगृह्यत इत्यवग्रहो वसतिस्तत्प्रतिमाः—अभिग्रहा अवग्रहप्रतिमाः"** साधुजन ठहरने के लिये जिस मकान, उपाश्रय या स्थान विशेष का उपयोग करते है, उससे सम्बन्धित सात अभिग्रह होते है, उन मे से किसी एक का आश्रय लेकर निर्दोष स्थान मे ठहरना अवग्रह-प्रतिमा है। इसके सात भेद निम्नलिखित है—

१. ग्राम, नगर आदि के अतर्गत जैसे स्थान विशेष मे ठहरने का अभिग्रह धारण किया है, उससे अन्य प्रकार के स्थान में न ठरहना। यह पहला अभिग्रह है।

२. मैं दूसरे साधुओ के लिये शुद्ध निर्दोष उपाश्रय की याचना करूगा, किन्तु मैं स्वय अन्य भिक्षुओ के द्वारा याचना किये हुए अवग्रह मे ही ठहरूगा। यह कथन साभोगिक, असाभोगिक तथा उद्युक्त-विहारी साधुओ की अपेक्षा से जानना चाहिए।

३ मैं दूसरे मुनियो के ठहरने के लिये अवग्रह की याचना तो कर लूगा, किन्तु स्वय मैं दूसरे भिक्षुओ के द्वारा ग्रहण किए हुए अवग्रह-स्थान मे नही रहूंगा। यथालदिक साधु दो तरह के होते है—गच्छप्रतिवद्ध और अगच्छप्रतिवद्ध। आगम-ज्ञान प्राप्त करने के लिये जब कुछ साधु एक साथ मिलकर रहते है, उन्हे "गच्छ-प्रतिवद्ध" कहा जाता है। वे जिस आचार्य से आगमो का अध्ययन करते है उसके लिये तो अवग्रह ले लेते है, पर वे स्वय दूसरे का लिया हुआ अवग्रह ग्रहण नही करते।

तप विशेष को "लन्द" कहते हैं। वस्त्र से पूछने पर भी गीला हाथ जितने काल मे सूखता है उतने काल से लेकर पाच अहोरात्र के समय को लन्द कहा जाता है। यह आगमों का पारिभाषिक शब्द है। तीसरी अवग्रह-प्रतिमा गच्छ-प्रतिवद्ध यथालदक की अपेक्षा से कथन की गई है।

४ चौथी प्रतिमा—मैं अन्य भिक्षुओ के लिये अवग्रह की याचना तो नही करूगा, किन्तु अन्य भिक्षुओ द्वारा याचित अवग्रह मे ठहर जाउगा। जो साधु जिनकल्प की तैयारी मे होते है एव उग्र तपस्वी तथा विशुद्ध-चारित्री होते है, वे ही ऐसी प्रतिमा धारण करते है। साधना में तल्लीन रहने से वे अपने लिये भी अवग्रह नही मागते।

५ पाचवी प्रतिमा—मैं अपने लिये तो अवग्रह की याचना करूगा, किन्तु दूसरे साधुओ के लिये नही। यह कथन उनके लिये है जो साधु आचार्य की आज्ञा लेकर जिन-कल्प ग्रहण करके अकेले ही विहार करते है।

६ छठी प्रतिमा—मैं जिस गृहस्थ से अवग्रह ग्रहण करूगा, उसीसे शुष्क फूस, दर्भादिक

भी ग्रहण करूंगा अन्यथा मैं उत्कुटुक एवं वीरासन आदि के द्वारा बैठा हुआ ही रात्रि व्यतीत कर दूगा । यह कथन प्रतिमा-प्रतिपन्न तथा जिनकल्पी आदि साधुओं के लिये है ।

७ सातवीं प्रतिमा भी छठी के समान ही है । इसमें विशेषता इतनी ही है कि बिछा हुआ काष्ट-पट्टक, फूस आदि जैसा मिल जाएगा वैसा ही ग्रहण करूंगा, दूसरा नही । यह प्रतिमा भी जिन-कल्पी आदि साधुओं के लिये है ।[1]

आचारांग सूत्र की दूसरी चूलिका में सात अध्ययन है, उनमें उद्देशक न होने से वे एक समान है । प्रत्येक अध्ययन का नाम सप्त-एकक है, उस चूलिका के पहले अध्ययन में स्थान के विषय में कथन किया गया है, दूसरे अध्ययन में नैषेधिकी का वर्णन है, तीसरे में उच्चार-प्रस्रवण का विषय वर्णित है, चौथे में शब्द के विषय मे कहा गया है, पांचवे में रूप का वर्णन है, छठे—में परक्रिया का वर्णन है और सातवे मे अन्योऽन्य क्रिया का परिचय देकर उनका साधनामय जीवन में निषेध किया गया है ।

सूयगडांग सूत्र के दूसरे स्कंध में सात महाध्ययन है, जैसे कि पुडरीक अध्ययन, क्रियास्थान, आहार-परिज्ञा, प्रत्याख्यान-क्रिया, अनाचारश्रुत, आर्द्रकुमारीय, और नालदीय । इनकी पूर्ण व्याख्या उक्त सूत्र से जान लेनी चाहिए । आत्मार्थी मुनियों को दूसरी चूलिका के लिये सात महाध्ययन अवश्य-मेव पठनीय है ।

सप्त-सप्तमिका यह साधना भिक्षु-प्रतिमा के अतर्गत है । यह सात सप्ताह में पूरी होती है, पहले सप्ताह मे प्रतिदिन एक दत्ति भोजन की और एक दत्ति पानी ग्रहण की जाती है । दूसरे सप्ताह मे दो-दो दत्तियां प्रतिदिन ली जाती हैं । इसी क्रम से सातवे सप्ताह में प्रतिदिन सात-सात दत्तिया एक सप्ताह पर्यन्त ली जाती है ।

सव दत्तियो का कुल जोड़ १९६ होता है । यद्यपि सूत्रकार ने प्राय: अन्न की दत्तिया ही ग्रहण की है, किन्तु पानक-दत्ति भी भिक्षा शब्द से ग्रहण-करनी चाहिए, इसीलिये सूत्रकर्ता ने **"छण्णउएणं भिक्खासएणं"** यह पद दिया है, १९६ भिक्षा-दत्तिए है, जिसमे अन्न और पानी दोनों ग्रहण किए जाते हैं । एक धारा से जव खाद्य पदार्थ पात्र मे गिरता है, तव उसे एक दत्ति कहते है । जिस घर मे भोजन करनेवाले एक या दो सदस्य हो, ऐसे निर्धन एव साधारण कुलों मे भिक्षा के लिये जाना वह भी तव, जव कि वे खा चुके हो, जिनको देना है, उन्हें दे चुके हो, फिर वची हुई देय वस्तु निर्दोष हो, तो ग्रहण करना है । ऐसे समय में दत्ति का हिसाव ठीक वैठ जाता है । एक दत्ति में अधिक आहार की सभावना नही रहती है ।

इस विषय मे कुछ पद विशेष पठनीय है । जैसे कि **अहासुत्तं**—जैसे भी सूत्र में विधि-विधान वर्णित है । **अहाकप्पं**—जैसे उस अनुष्ठान का कल्प अर्थात् मर्यादा है । **अहामग्गं**—जैसे भी मोक्षमार्ग है । **अहातच्चं**—तत्त्व के अनुसार अथवा याथातथ्य—सत्य के अनुसार । **अहासम्मं**—समता के अनुसार । **काएण फासिया**—प्रतिमाओं का पालन मनोरथ मात्र से नही, वल्कि काय से स्पर्श किया है । **पालिया**—उचित काल में ग्रहण किए हुए का उपयोग पूर्वक पालन किया है । **सोहिया**—पारणे के दिन गुरु आदि

---

१. इन सात प्रतिमाओं का विस्तृत वर्णन आचारांग सूत्र के दूसरे स्कध के १६ वे अध्ययन मे है ।

द्वारा प्रदत्त अवशिष्ट आहार से पारणा किया अथवा अतिचार रूप कीचड से प्रक्षालन से शुद्धि की है। **तीरिया**— जितनी अवधि उस के पारणे की है उसे पूरा किया है। **किट्टिया**—कीर्तित, पारणे के दिन अभिग्रह विशेष के फलित होने पर ही पारणा किया है। **आराहिया**—सम्यक् प्रकार से आराधन किया है। **आणाए अणुपालिया**— भगवान की आज्ञानुसार निरन्तर पालन किया है। इन विशेषणो सहित उत्तरगुणों की आराधना करके ही साधक आराधक बनता है। आराधक जीव ही अनन्त सुख का पात्र बन सकता है।

पृथिवी घनोदधि और घनवात आदि

मूल—अहेलोए णं सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ, सत्त घणोदहीओ पण्णताओ। सत्त घणवाया पण्णत्ता। सत्त तणुवाया पण्णता। सत्त उवासंतरा पण्णत्ता। एतेसु णं सत्तसु उवासंतरेसु सत्त तणुवाया पइट्ठिया। एएसु णं सत्तसु तणुवाएसु सत्तघणवाया पइट्ठिया। एएसु णं सत्तसु घणवाएसु सत्तघणोदही पइट्ठिया। एएसु णं सत्तसु घणोदहीसु पिंडलगपिहुणसंठाण संठिआओ सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ, तं जहा पढमा जाव सत्तमा। एएसि णं सत्तण्हं पुढवीणं सत्त णामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा–घम्मा, वंसा, सेला, अंजणा, रिट्ठा, मघा, माघवई। एयासिं णं सत्तण्हं पुढवीणं सत्त गोत्ता पण्णत्ता, तं जहा– रयणप्पभा, सक्करप्पभा, बालुयप्पभा, पंकप्पभा, धूमप्पभा, तमप्पभा, तमतमाप्पभा।६।

छाया—अधोलोके सप्त पृथिव्य प्रज्ञप्ताः। सप्त घनोदधयः प्रज्ञप्ताः। सप्त घनवाता. प्रज्ञप्ताः। सप्त तनुवाताः प्रज्ञप्ताः। सप्तावकाशान्तराणि प्रज्ञप्तानि। एतेषु सप्तस्ववकाशान्तरेषु सप्त तनुवाताः प्रतिष्ठिताः। एतेषु सप्तसु तनुवातेषु सप्त घनवाताः प्रतिष्ठिताः। एतेषु सप्तसु घनवातेषु सप्त घनोदधयः प्रतिष्ठिताः। एतेषु सप्तसु घनोदधिषु पटलकपृथुल-संस्थानसंस्थिताः सप्त पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—प्रथमा यावत् सप्तमा। एतासां सप्तानां पृथिवीनां सप्त नामध्येयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—धर्मा, वंशा, शैला, अञ्जना, रिष्टा, मघा, माघवती। एतासां सप्तानां पृथिवीनां सप्तगोत्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा— रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा, तमतमा-प्रभा।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—अधोलोक मे सात पृथिविया है। सात घनोदधि है। सात घनवात है।

सात तनुवात है। सात अवकाशान्तर है। इन सात अवकाशान्तरों में सात तनुवात प्रतिष्ठित है। इन सात तनुवातो पर सात घनवात प्रतिष्ठित है। इन पर सात घनोदधि प्रतिष्ठित है। इन सात घनोदधियों पर फूलों की चंगेर के समान पृथुल संस्थान से सस्थित सात पृथिवियां कथन की गई हैं, जैसे—पहली से लेकर सातवी तक। इन सात पृथिवियों के सात नाम है, जैसे—घर्मा, वंशा, शैला, अञ्जना, रिष्टा, मघा, माघवती। इन सात पृथिवियों के सात गोत्र वर्णन किये गए है, जैसे—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूम्रप्रभा, तमा-प्रभा, तमतमा-प्रभा।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे तपश्चर्या आदि का वर्णन किया गया है। पिण्डैषणा आदि से युक्त आचार का पालन किसी न किसी भूमि पर ही हो सकता है, प्रस्तटों एव विमानो में नही अत', अव सूत्रकार पृथिवी आदि का परिचय देते है।

नीचे लोक में सात पृथिविया है। सात घनोदधि है, सात घनवात हैं, सात ही तनुवात हैं और सात ही उवासान्तर है। पृथिवी घनोदधि पर आधारित है, घनोदधि घनवात पर, घनवात तनुवात पर और तनुवात आकाश पर आधारित है। शेप छ पृथिवियो का भी उपर्युक्त क्रम है। इनका विशेष परिचय निम्न तालिका से प्राप्त हो सकता है।

जैसे कि—

पृथ्वी	नाम	गोत्र	मोटाई (योजन-प्रमाण)
१	घर्मा	रत्न प्रभा	१८००००
२	वशा	शर्करा-प्रभा	१३२०००
३	शैला	वालुका-प्रभा	१२८०००
४	अजना	पङ्कप्रभा	१२००००
५	रिष्टा	धूमप्रभा	११८०००
६	मघा	तमप्रभा	११६०००
७	माघवती	तमतमाप्रभा	१०८०००

इन पृथिवियो का सस्थान अर्थात् आकार फूलो की चगेरी की तरह है। इनका व्यास क्रमश: एक राजू, दो राजू, तीन राजू, चार राजू, पांच राजू, छ राजू और सातवी पृथिवी सात राजू लम्बी चौड़ी है और सव का परस्पर अतर एक-एक राजू है। सभी घनोदधियो की मोटाई वीस-वीस हजार योजन की है। इनके घनवात तनुवात तथा आकाशान्तर सभी असख्यात-असख्यात योजन प्रमाण है।

नीचे लोक मे सात पृथिविया है। इस कथन से सिद्ध होता है कि एक पृथिवी ऊर्ध्वलोक में भी है, जिसे ईषत्प्राग्भार कहते है। यद्यपि पहली पृथिवी के ऊपर ९०० योजन पर्यन्त तिर्यग्लोक है तथापि देशोन होने से सूत्रकार ने उसका ग्रहण नही किया और न ही इस में कोई दोप ही है। नाम और गोत्र में यह अतर है गोत्र अन्वर्थ होता है और नाम अन्वर्थ नही होता। इनका विस्तृत विवरण जीवाभिगम सूत्र से जानना चाहिए।

बादर वायुकाय

मूल—सत्तविहा बायरवाउकाइया पण्णत्ता, तं जहा–पाईणवाए, पडीणवाए, दाहिणवाए, उदीणवाए, उड्ढवाए, अहोवाए, विदिसिवाए ।७।

छाया—सप्तविधा बादरवायुकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्राचीनवातः, प्रतीचीनवातः, दक्षिण-वातः, उदीचीनवातः, ऊर्ध्ववातः, अधोवातः, विदिग्वातः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सात प्रकार का बादर अर्थात् स्थूल वायुकाय कथन किया गया है, जैसे—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और विदिशाओं का वायु।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे सात पृथिवियो और सात घनवात आदि का परिचय दिया गया है। बादर वायु पृथिवी पर चला करती है, क्योकि बादरवायु भी जीवन का एक अग है। वायु का प्रभाव किसी न किसी ओर रहता ही है, वह वह कभी स्थिर एव अचल नही रहती, क्योकि उसका नाम ही सदा-गति है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे बादर वायु की गति और आगति पर प्रकाश डाला गया है।

पूर्व से चलनेवाली वायु प्राचीनवात, पश्चिम से चलनेवाली वायु प्रतीचीनवात, दक्षिण से आने-वाली वायु दक्षिणवात, उत्तर से आनेवाली वायु उदीचीनवात, ऊपर से नीचे की ओर आनेवाली वायु ऊर्ध्ववात, नीचे से ऊपर को उठने वाली वायु अधोवात और वायव्य-ईशान आदि कोणो से आने-वाली वायु विदिग्वात कहलाती है। सभी दिशाओं मे स्थूलवात चलता ही रहता है, अतः उसीके भेद उपस्थित किये गए हैं। सूक्ष्म वायु सर्वलोक मे व्याप्त है, इसलिये उसके भेदो का कथन नही किया गया है।

सप्तविध संस्थान

मूल—सत्त संठाणा पण्णत्ता, तं जहा–दीहे, रहस्से, वट्टे, तंसे, चउरंसे, पिहुले,

परिमंडले ।८।

छाया—सप्त संस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—दीर्घं, ह्रस्वं, वृत्तं, त्र्यस्रं, चतुरस्रं, पृथुलं, परिमण्डलम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सात सस्थान अर्थात् आकार कथन किये गए है, जैसे—दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, अर्थात् गोल, त्र्यस्र अर्थात् तिकोना, चतुरस्र अर्थात् चौकोर, पृथुल अर्थात् विस्तीर्ण, परिमण्डल अर्थात् कंकणाकार गोल ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे वायुकाय का वर्णन किया गया है । वायुकाय यद्यपि अदृश्य है, तथापि वह किसी न किसी सस्थान से युक्त हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र मे पुद्गल के सात सस्थानो के नामो का निर्देश किया गया है । जो वस्तु धागे, फीते एव यष्टि आदि की तरह दीर्घ आकार वाली होती है उसके सस्थान को आयत सस्थान कहते है । यह आयत-सस्थान जव वहुत लम्बाई वाला होता है, तभी उसे दीर्घ-आयत सस्थान कहा जाता है और जव वह थोड़ी लम्बाई वाला होता है तो उसे ह्रस्व-आयत-सस्थान कहा जाता हैं । कुछ वस्तुए गेद की तरह गोलाकार होती है उनका सस्थान वृत्त-सस्थान कहलाता है । कुछ वस्तुए तिकोण होती है, उनका सस्थान त्र्यस्र कहलाता है, कुछ वस्तुए चौकी की तरह चौकोर होती है, उनका सस्थान चतुरस्र कहलाता है । कुछ वस्तुए चूडी एव कु डल के आकार वाली होती है, उनका सस्थान परि-मडल कहलाता है ।

वस्तुतः सस्थान पाच ही होते है । ह्रस्व और पृथुत्व इन दो सस्थानो को अलग दिए जाने का आशय यह है कि उक्त पांच सस्थान कुछ छोटे आकार के होते है और कुछ वड़े विस्तार वाले एव कुछ मोटाई वाले होते है । इस दृष्टि से सस्थान सात प्रकार के कहे गए है । ये सातो सस्थान पुद्गलास्तिकाय मे ही पाए जाते है, अन्यत्र नही । ●

भय-स्थान

मूल—सत्त भयट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—इहलोगभए, परलोगभए, आदाणभए, अकम्हाभए, वेयणभए, मरणभए, असिलोगभए ।६।

छाया—सप्तभय स्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—इहलोकभयम्, परलोकभयम्, आदानभयम्, अकस्माद्भयं वेदनाभयं, मरणभयं, अश्लोकभयम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सात भयस्थान वर्णन किये गए है, जैसे कि—मनुष्य के द्वारा मनुष्य को होने वाला भय इहलोकभय है, विजातीय पशु आदि के द्वारा मनुष्य को होने, वाला भय परलोक भय है, चौर आदि के द्वारा होनेवाला भय आदान भय है, रात्रि आदि में अचानक होनेवाला भय अकस्मात् भय है, वेदना अर्थात् पीड़ा का भय, मृत्यु का भय और अपयश का भय।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे सप्तविध सस्थानो का वर्णन किया गया है। कुछ सस्थान भ्रान्ति वश भय-जनक भी हुआ करते हैं, अतः अब सूत्रकार सप्तविध भय का परिचय देते है। मोहनीय कर्म-प्रकृति के उदित होने पर एक प्रकार का मनोविकार जो आपत्ति या अनिष्ट की आशका से मन में उत्पन्न होता है उसे भय कहा जाता है। यह त्रस प्राणियों में स्वाभाविक रूप से पाया जाता है। यद्यपि भय पैदा होने के अगणित कारण हैं, परन्तु उन सवका अन्तर्भाव भय के सात भेदो मे ही हो जाता है। वास्तविक घटना घटने से पहले ही भय की सभावना का आभास होने लग जाया करता है। वे सात भय-स्थान निम्नलिखित हैं, जैसे कि—

१. इहलोकभय—अपनी ही जाति के प्राणी से उत्पन्न भय, जैसे मनुष्य मनुष्य से, देव-देव से, तिर्यञ्च-तिर्यञ्च से और नारकी नारकी से डरते हैं, इसीको इहलोक भय कहा गया है। यहा 'इहलोक' से अभिप्राय यह ससार नही है।

२. परलोकभय—दूसरी जाति के प्राणी से उत्पन्न भय, जैसे मनुष्य तिर्यञ्च से डरते है, तिर्यञ्च मनुष्य से डरते हैं। मनुष्य देव से डरते है, और देव मनुष्य से डरा करते है। इस तरह विजातीयो से उत्पन्न भय को परलोक-भय कहते हैं।

३. आदान-भय—धनादि वस्तुओ की रक्षा के उद्देश्य से, चोर आदि से होने वाला भय आदान-भय कहलाता है।

४. अकस्माद्-भय—वाहर के निमित्तो की अपेक्षा न रखते हुए अचानक होनेवाले किसी भयानक शब्द को सुनकर किसी भयजनक घटना आदि को देखकर उत्पन्न होनेवाला भय अकस्माद्-भय कहलाता है।

५. वेदनाभय—रोग या पीडा की सभावना से उत्पन्न होनेवाला भय वेदनाभय होता है।

६. मरणभय—मरण के सभी कारणो से डरना मरण-भय है।

७. अश्लोक-भय—अपयश होने का भय। जब जीव श्रेष्ठ क्रियाओ मे प्रवृत्ति नही करता और अशुभ क्रिया किए बिना उससे रहा नही जाता तव इस भय का उदय होता है। धर्मात्मा के लिये सभी

प्रकार के भय त्याज्य है। प्रश्नव्याकरण सूत्र के दूसरे सवर-द्वार की भावना मे लिखा है "भीतो भूतेहिं घिप्पइ" भयभीत भूतो से पकडा जाता है।

उपर्युक्त भय-भेदो से यह ध्वनित होता है कि 'भय' आत्मा का स्वभाव नही है, वह लोक-परिस्थिति-जन्य एक प्रकार का भाव है जो स्व-पर के भेद की भावना से उत्पन्न होता है। आज तक कभी किसी को अपने आप से डरते नही देखा गया, फिर भी सव डरते हैं पर दूसरो से। डर का मुख्य कारण है आत्म-निर्वलता। सवल आत्मा मे भय की वृत्ति कभी उत्पन्न नही हो सकती है, अतः भय पर विजय पाने के लिये स्व-पर के भेद का त्याग एव आत्मवल की जागृति आवश्यक है। साधक को इन्ही दो गुणो को प्राप्त कर भय से मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए। ●

छद्मस्थ एव केवली लक्षण

मूल—सत्तहिं ठाणेहिं छउमत्थं जाणेज्जा, तं जहा—पाणे अइवाएत्ता भवइ, मुसं वइत्ता भवइ, अदिन्नमादित्ता भवइ, सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे आसाएत्ता भवइ, पूयासक्कारमणुबूहेत्ता भवइ, इम सावज्जंति पण्णवेत्ता, पडिसेवेत्ता भवइ, णो जहावाई तहाकारी यावि भवइ।

सत्तहिं ठाणेहिं केवली जाणेज्जा, तं जहा—णो पाणे अइवाइत्ता भवइ, जाव जहावाई तहाकारी यावि भवइ।१०।

छाया—सप्तभिः स्थानैः छद्मस्थं जानीयात्, तद्यथा—प्राणान् अतिपातयिता भवति, मृषा वदिता भवति, अदत्तमादाता भवति, शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धान् आस्वादयिता भवति, पूजासत्कारमनुबृंहयिता भवति, इदं सावद्यं - इति प्रज्ञाप्य प्रतिषेविता भवति, नो यथा-वादी तथाकारी चापि भवति।

सप्तभिः स्थानैः केवलिनं जानीयात् तद्यथा—नो प्राणान् अतिपातयिता भवति, यावत् यथावादी तथाकारी चापि भवति।

शब्दार्थ—सत्तहिं ठाणेहिं—सात लक्षणों से; छउमत्थ—छद्मस्थ को; जाणेज्जा—जाना जा सकता है; पाणे अइवाएत्ता भवइ—वह प्राणियों की हिंसा करनेवाला होता है; मुसं वइत्ता भवइ—मृषा अर्थात् झूठ वोलनेवाला होता है; अदिन्नमादित्ता भवइ—चोरी करनेवाला होता है; सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे—शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धो को, आसाएत्ता भवइ—आस्वादन करनेवाला होता है; पूयासक्कारमणुबूहेत्ता भवइ—पूजा सत्कार को पाकर हर्ष माननेवाला होता है, इमं सावज्जं - ये समस्त

कार्य सावद्य है, **इति पण्णवेत्ता पडिसेवेत्ता भवइ**—ऐसा कहकर फिर भी उन्ही का सेवन करनेवाला होता है; **णो जहावाई तहाकारी यावि भवइ**—वह जैसा बोलता है, वैसा करनेवाला नही होता है।

सत्तहिं ठाणेहिं—सात लक्षणो से; **केवली जाणेज्जा**—केवली भगवान को जाना जा सकता है; **तं जहा**—जैसे, **णो पाणे अइवाइत्ता भवइ**—प्राणियो की हिसा करने वाला नही होता है; **जाव**—यावत्; **जहावाई तहाकारी यावि भवइ**—जैसा बोलता है, वैसा ही करनेवाला होता है।

मूलार्थ—सात लक्षणों से छद्मस्थ जाना जाता है, जैसे कि वह प्राणियों की हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, शब्द-स्पर्श-रस-रूप और गन्ध का आस्वादन करता है, पूजा सत्कार पा कर प्रसन्न होता है, किसी कार्य को पाप बता कर पुन. उसी का आचरण करता है और जैसा कथन करता है, वैसा आचरण नही करता।

सात लक्षणों से केवली पहचाने जाते है, जैसे कि वे प्राणियों की हिंसा नहीं करते है, यावत् जो कहते है, उसी के अनुरूप आचरण करते है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में सात प्रकार के भयों का वर्णन किया गया है। भयभीत वही होता है जो छद्मस्थ है अर्थात् जो रागद्वेषादि से मुक्त नही हुआ है, अतः प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने पहले तो भयभीत होने वाले छद्मस्थ के लक्षण बताए है और फिर केवली भगवान के लक्षणो का भी निर्देश किया है जो भय-मुक्त है। सात लक्षण ऐसे है जिन से छद्मस्थ को पहचाना जा सकता है, जैसे कि—

१. चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से छद्मस्थ साधक प्रमत्तयोग से प्राणातिपात करनेवाला होता है। उससे जाने या अनजाने मे कभी न कभी जीव-हिंसा हो ही जाती है। हिसा छद्मस्थ का लक्षण है।

२ चारित्र मोहनीय के उदय से कभी न कभी छद्मस्थ साधक प्रमत्तयोग से असत्य भी बोल जाता है, असत्य बोलने से यह ज्ञात हो जाता कि यह साधक अभी छद्मस्थ है।

३. छद्मस्थ से कभी न कभी अदत्तादान—बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण भी हो जाता है और वह उसका सेवन भी कर लेता है। यह छद्मस्थ का तीसरा लक्षण है।

४. शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध ये पाच इन्द्रियो के पाच विषय है। छद्मस्थ इनका आस्वादन करता रहता है। जब तक इन पाच इन्द्रिय-विषयो का आस्वादन होता रहेगा, तब तक साधक की छद्मस्थ स्थिति बनी रहेगी।

५ छद्मस्थ साधक अपने आदर-सत्कार, पूजा-प्रतिष्ठा, मान-बडाई की कामना करता है और पूजा-सत्कार होने पर प्रसन्न भी होता है।

६ छद्मस्थ साधक यह जानता है कि यह वस्तु आधा-कर्म आदि दोषो से दूषित है, ऐसा जानते हुए फिर भी वह उसका सेवन कर लेता है। यह सावद्यकर्म है—अकृत्य कार्य है, ऐसा जानते हुए या कहते हुए भी जब वह उसका सेवन कर लेता है तो उसकी छद्मस्थता की पहचान हो जाती है।

७. छद्मस्थ व्यक्ति जैसा कहता है, वैसा-करता नही है।

यह सूत्र सामान्य व्यक्ति से लेकर जब तक केवलज्ञान की प्राप्ति नही हो जाती, तब तक चार ज्ञान के धारण करनेवाले तथा चौदह पूर्वधर मुनिवरों पर्यन्त सभी से सबध रखता है। उत्तम मुनिवर अतिचारो से बचने का पूरा प्रयास करते हैं। उक्त सात लक्षणो से अल्पज्ञ आत्मा की पहचान होती है। जब तक साधक निरतिचार सयम का पालन नही कर सकता तथा वीतराग दशा को प्राप्त नही कर लेता तब तक उसे छद्मस्थ ही कहा जाता है।

जो हिंसा के दोष से सर्वथा मुक्त है, एकान्त सत्य के आलोक मे पहुच चुका है, अदत्तादान के दोष से अछूता है, पाच काम-गुणो के आस्वादन की इच्छा से रहित है, अपनी पूजा-प्रतिष्ठा, आदर-सत्कार का समर्थन नही करता है। जिस वस्तु को आधा-कर्म आदि होने से सदोष समझता है उसका सेवन वह कभी नही करता है, वह जैसा कहता है, वैसा ही करता है। इन लक्षणो से केवली की पहचान होती है। केवली भगवान का चारित्र-मोहनीय कर्म सर्वथा क्षय हो जाता है, शेष तीन घाति कर्म भी क्षय हो जाते है, अतः उनका चारित्र अतिक्रम आदि दोषो से सर्वथा रहित एव विशुद्ध होता है। इस कारण वे उक्त सात बातो का सेवन नही करते हैं।

सप्त मूलगोत्र

मूल—सत्त मूलगोत्ता पण्णत्ता, तं जहा—कासवा, गोयमा, वच्छा, कोच्छा, कोसिया, मंडवा, वासिट्ठा।

जे कासवा, ते सत्तविहा पण्णत्ता, तं जहा—ते कासवा, ते संडेल्ला, ते गोल्ला, ते बाला, ते मुंजतिणो, ते पव्वपेच्छतिणो, ते वरिसकण्हा।

जे गोयमा, ते सत्तविहा पण्णत्ता तं जहा—ते गोयमा, ते गग्गा ते भारद्दा, ते अंगिरसा, ते सक्कराभा, ते भक्खराभा, ते उदगत्ताभा।

जे वच्छा, ते सत्तविहा पण्णत्ता, तं जहा—ते वच्छा, ते अग्गेया, ते मित्तिया, ते सामिलिणो, ते सेलतया, ते अट्ठिसेणा, ते वीयकण्हा।

जे कोच्छा, ते सत्तविहा पण्णत्ता, तं जहा—ते कोच्छा, ते मोग्गलायणा, ते पिंगलायणा, ते कोडीणा, ते मंडलिणो, ते हारिता, ते सोमया।

जे कोसिया, ते सत्तविहा पण्णत्ता, तं जहा—ते कोसिया, ते कच्चायणा, ते सालंकायणा, ते गोलिकायणा, ते पक्खिकायणा, ते अग्गिच्चा, ते लोहिया।

जे मंडवा, ते सत्तविहा पण्णत्ता, तं जहा—ते मंडवा, ते अरिट्ठा, ते समुया, ते तेला, ते एलावच्चा, ते कंडिल्ला, ते खारायणा।

जे वासिट्ठा, ते सत्तविहा पण्णत्ता, तं जहा—ते वासिट्ठा, ते उंजायणा, ते जारेकण्हा, ते वग्घावच्चा, ते कोडिन्ना, ते सण्णी, ते पारासरा।११।

छाया—सप्त मूलगोत्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—काश्यपाः, गौतमाः, वत्साः, कुत्साः, कौशिकाः, मण्डवाः, वासिष्ठाः।

ये काश्यपास्ते सप्तविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ते काश्यपाः, ते शाण्डिल्याः, ते गौल्याः, ते बालाः, ते मौञ्जिकिनः, ते पर्वप्रेक्षिकिनः, ते वर्षकृष्णाः।

ये गौतमास्ते सप्तविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ते गौतमाः, ते गार्ग्याः, ते भारद्वाजाः, ते आङ्गिरसाः, ते शर्कराभाः, ते भास्कराभाः, ते उदात्ताभाः।

ये वत्सास्ते सप्तविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ते वत्साः, ते अग्निजाः, ते मैत्रेयाः, ते स्वामिलिनः, ते शैलकजाः, ते अस्थिषेणाः, ते वातकृष्णाः।

ये कुत्सास्ते सप्तविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ते कुत्साः, ते मौद्गलायनाः, ते पिंगलायनाः, ते कोडीनाः, ते मण्डलिनः, ते हारीताः, ते सौमकाः।

ये कौशिकास्ते सप्तविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ते कौशिकाः, ते कात्यायनाः, ते शालङ्कायनाः, ते गोलिकायनाः ते पाक्षिकायनाः, ते आग्नेयाः, ते लौहित्याः।

ये मण्डवास्ते सप्तविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ते मण्डवाः, ते अरिष्टाः, ते संमुक्ताः, ते तैलाः, ते एलापत्याः, ते काण्डिल्याः, ते क्षारायाणाः।

ये वासिष्ठास्ते सप्तविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ते वासिष्ठाः, ते उञ्जायनाः, ते जारुकृष्णाः, ते व्याघ्रापत्याः, ते कौण्डिन्याः, ते संज्ञिनः, ते पाराशराः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सात मूल गोत्र है, जैसे—काश्यप, गौतम, वत्स, कुत्स, कौशिक, मण्डव, वासिष्ठ।

काश्यप सात प्रकार के है, जैसे—काश्यप, शाण्डिल्य, गौल्य, बाल, मुञ्जकी, पर्व-प्रेक्षिकी, वर्षकृष्ण।

गौतम सात प्रकार के होते हैं, जैसे–गौतम, गर्ग, भारद्वाज, आङ्गिरस, शर्कराभ, भास्कराभ, उदात्ताभ।

वत्स सात प्रकार के है, जैसे–वत्स, अग्निज, मैत्रेय, स्वामिली, शैलकज, अस्थिषेण, वातकृष्ण।

कुत्स सात प्रकार के है, जैसे–कुत्स, मौद्गलायन, पिङ्गलायन, कोडीन, मण्डली, हारीत, सोमक।

कौशिक सात प्रकार के है, जैसे–कौशिक, कात्यायन, शालङ्कायन, गोलिकायम, पाक्षिकायन, आग्नेय, लौहित्य।

मण्डव सात प्रकार के हैं, जैसे–मण्डव, अरिष्ठ, संमुक्त, तैल, ऐलापत्य, काण्डिल्य, क्षारायण।

वासिष्ठ सात प्रकार के है, जैसे–वासिष्ट, उञ्जायन, जारुकृष्ण, व्याघ्रापत्य, कौण्डिन्य, संज्ञी, पाराशर।

विवेचनिका–

पूर्वसूत्र में छद्मस्थ साधकों के लक्षण बताए गए है। छद्मस्थता में साधक मोक्ष तो प्राप्त नही कर सकते, परन्तु वे देवलोको में आयु पर्यन्त निवास करके पुन जब पृथ्वी पर अवतरण करते हैं, तब वे उच्च गोत्रों में जन्म लिया करते है, अब सूत्रकार उन उच्च गोत्रो के नामो का उल्लेख करते हैं। गोत्र का अर्थ है वश या कुल, जो उसके किसी मूलपुरुप के अनुसार होता है। मूल गोत्र सात है। प्रत्येक गोत्र के सात-सात भेद होने से गोत्रों के कुल भेद ४९ होते हैं।

२०वे २२वें और २३वे तीर्थङ्कर को छोड़कर शेप सभी तीर्थङ्कर काश्यपगोत्री हुए हैं। १२ चक्रवर्ती, ७वे गणधर और जम्बूस्वामी ये सब काश्यप गोत्री हुए हैं।

२०वें २२वे और २३वे तीर्थङ्कर, सभी वासुदेव, पहले और तीन आठवे गणधर तथा दसपूर्वधर वयर स्वामी, ये सब गौतम गोत्री थे। दशवैकालिक सूत्र के प्रणेता शय्यंभव स्वामी वत्स गोत्री हुए हैं। शिवभूति का जन्म कुत्सगोत्र में हुआ है। पडुलूक आदि कौशिक गोत्री हुए है।

मडु की सतान परम्परा से चलनेवाला माडवगोत्र है। वसिष्ठ की सतान परम्परा वासिष्ठ गोत्री कहाते हैं। छट्ठे गणधर का गोत्र वासिष्ठ था। काश्यप गोत्र क्षत्रिय, ब्राह्मण और वैश्य इन तीनों वर्णों मे पाया जाता है। गौतम गोत्र क्षत्रिय और ब्राह्मण इन दो वर्णो मे ही पाया गया है। गर्ग गोत्र ब्राह्मण और वैश्यवर्ण मे पाया जाता है, शेप गोत्रों के नाम निर्देश भावार्थ मे दिए गए हैं।

मूलनय-विश्लेषण

मूल—सत्त मूलनया पण्णत्ता, तं जहा—नेगमे, संगहे, ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूते ।१२।

छाया—सप्त मूलनयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैगमः, संग्रहः, व्यवहारः, ऋजुसूत्रं, शब्दः, समभिरूढः, एवम्भूतः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सात मूलनय वर्णन किये गए हैं, जैसे—नैगम-नय, संग्रह-नय, व्यवहार-नय, ऋजुसूत्र-नय, शब्द-नय, समभिरूढ-नय और एवंभूत-नय ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में गोत्रो का वर्णन किया गया है, गोत्र-विभाग नय-विशेष से होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे मूल शब्द की अनुवृत्ति से सात मूल-नयो के नामोल्लेख किए गए हैं। मूल का प्रयोग वही हो सकता है, जहा उसके उत्तरभेद भी वनते हो। प्रत्येक नय के १००-१०० भेद होने से उत्तरनय ७०० वनते हैं। आचार्य सिद्धसेन ने नैगमनय का समावेश सग्रह और व्यवहार-नय मे किया है। नैगमनय क्योकि सामान्य और विशेष दोनो को मानता है, अत. जो सामान्याश है वह सग्रह मे और विशेषांश को व्यवहार नय मे गर्भित करते है। इस दृष्टि से मूलनय ६ ही रह गए है, अतः उनके उत्तरभेद ६०० होते है।

कुछ आचार्यों के मत से मूलनय पाच ही है– नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्दनय। समभिरुढ और एवभूत इन दो नयो का अतर्भाव शब्दनय में करके मूलनय पाच और उनके उत्तरभेद ५०० माने हैं।

जिस दृष्टिकोण के द्वारा श्रुत प्रमाण से ग्रहण किए गए पदार्थ के एक ही अंश का चिन्तन किया जाए तथा वक्ता के अभिप्राय विशेष को भी नय कहते हैं। नयों के निरूपण का अर्थ है विचारों का वर्गीकरण—विचारो की मीमांसा। नयवाद की सक्षिप्त परिभाषा है—परस्पर विरुद्ध दीखनेवाले विचारों के मूल कारणों की खोज पूर्वक उन सब में समन्वय करनेवाला सिद्धान्त। उदाहरण के रूप में आत्मा के विषय में परस्पर विरोधी मन्तव्य मिलते है—किसी का कहना है कि आत्मा एक है और किसी का कहना है आत्माएं अनेक है, एकत्व और अनेकत्व परस्पर विरोधी हैं, ऐसी दशा में किसका मन्तव्य सत्य है और किसका असत्य ? उनके विचारों की सगति कैसे हो सकती है ? इस बात की खोज नयवाद ने की है। वह कहता है—व्यक्ति की दृष्टि से आत्माए अनेक है और उपयोग की दृष्टि से एक भी है, क्योंकि ऐसा कोई जीव नही है जो उपयोग से शून्य हो। चैतन्य की दृष्टि से आत्मा एक है। इस प्रकार समन्वय करके परस्पर विरोधी मालूम पड़नेवाले वाक्यो में एक-वाक्यता सिद्ध

कर देनेवाला सिद्धान्त ही नयवाद है। इसी तरह आत्मा के विषय में नित्यत्व-अनित्यत्व, कर्तृत्व-अकर्तृत्व आदि विरोधी तत्त्वों को नयवाद के द्वारा ही समाहित किया जा सकता है।

जो दृष्टि कोण किसी एक ही नय का आश्रय लेकर अन्य नयो का निषेध करता है, वह दुर्नय या मिथ्या एकान्तवाद है। किसी भी एक तत्त्व को यदि सात दृष्टिकोणो से देखा जाए, तभी वह नयवाद कहलाता है। जो विचार एक ही नय को मानकर चलता है, अन्य नयो के दृष्टिकोण को सहन नही करता, वह नय सत्य पर कसने से शुद्ध प्रमाणित नही होता, उसे ही, दुर्नय कहा जाता है, तथा जितने तरह के वचन हैं, उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद है, उतने ही परसिद्धान्त है। कहा भी है:—

"जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया।
जावइया नयवाया तावइया चेव परसमया॥"

इससे दो बाते सिद्ध होती हैं, पहली यह कि नय के अगणित भेद है, दूसरी यह कि नय का वचन के साथ वहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि वचन के साथ नय का सम्बन्ध है, तो उपचार से नय को वचनात्मक भी कहा जा सकता है। प्रत्येक नय वचनों के द्वारा प्रकट किया जा सकता है, अतः अभिप्रायपूर्वक कहे गए वचन को भी नय कह सकते है। प्रस्तुत सूत्र मे जिन सात नयो का उल्लेख किया गया है, उनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

१ **नैगम-नय**—जो नय एक गम अर्थात् एक विकल्प रूप ही न हो, किन्तु अनेक विकल्पों द्वारा अनेक मान-अनुमान और प्रमाणों द्वारा वस्तुस्वरूप का निरूपण करता हो, पदार्थ को सामान्य-विशेष तथा उभयात्मक मानता हो, तीन काल की वात स्वीकार करता हो; चार निक्षेपो को अङ्गीकार करता हो, किसी भी वस्तु में अशमात्र गुण होने पर भी उसे पूर्णवस्तु मानता हो, वह ज्ञान नैगम-नय कहलाता है। कहा भी है—

"णेगाइं माणाइं सामन्नोभयविसेस नाणाइं।
जं तेहिं मिणइ तो णेगमो णओ णेगमाणोत्ति॥
लोगत्थनिवोहा वा निगमा तेसु कुसलो भवोवाऽय।
अहवा जे णेगगमो णेगपहा णेगमो तेणं॥"

अर्थात् जो सामान्य और विशेष रूप से पदार्थ का स्वरूप समझता है, लौकिक अर्थ-वोध मे कुशल है, जिसके अनेक मार्ग है, वास्तव में वही नैगमनय है। जो दृष्टिकोण वस्तु में सामान्य-विशेष रूप धर्म-अपेक्षा से अभिन्न मानता है वह नय सम्यक् है, किन्तु जो सामान्य और विशेप इन दो पदार्थों को अत्यन्त भिन्न मानता है वह मिथ्यानय है, उसे दूसरे शब्दो मे नैगमनयाभास भी कहा जा सकता है।

२. **संग्रह-नय**—वस्तु को सत्ता को ग्रहण करनेवाला दृष्टिकोण ही सग्रह-नय है। यह नय भिन्न-भिन्न वस्तुओ या व्यक्तियो में रहे हुए किसी एक सामान्य तत्त्व के आधार पर सव मे एकता सिद्ध करता है। इसका कहना है कि पदार्थ की सत्ता ग्रहण करने मात्र से ही गुण और पर्यायों का ग्रहण हो जाता है। इस की दृष्टि महासामान्य की ओर रहती है, विशेप की ओर उदासीन होती है। इस नय का कहना है कि जव सामान्य से ही पूर्णतया अर्थ-वोध हो जाता है तो फिर विशेप मानने की क्या आवश्यकता है? कहा भी है—

"सदिति भणियम्मि जम्हा सव्वत्थाणुप्पवत्तए बुद्धी ।
तो सव्व तम्मत्तं नत्थि तदत्थंतरं किंचि ।।
कुंभो भावाऽणन्नो जइ तो भावो अहऽन्नहाऽभावो ।
एवं पडादओऽवि हु भावाऽनन्नत्ति तम्मत्ते ।।"

अर्थात् सत्-वस्तु मानने से ही सभी पदार्थ ग्रहण किए जाते है, क्योंकि सत्ता मात्र ही सर्व-वस्तुओं का मूल कारण है, अतः सत्ता को मानना समीचीन है। यह नय भी तीन कालों और चार निक्षेपों को स्वीकार करता है।

३. **व्यवहार-नय**—लौकिक व्यवहार के अनुसार विभाग करनेवाले नय को व्यवहार-नय कहते है। यह नय भेद या विशेष को मानता है और प्रत्यक्षरूप से वस्तु का जैसा स्वरूप दिखलाई पड़े, उसके अनुसार प्रवृत्ति करता है। इस नय की दृष्टि में बाह्य आचार और क्रिया ही महत्त्व रखती है। अन्त.करण के परिणामो की ओर यह ध्यान नही देता तथा सामान्य की ओर से भी उदासीन रहता है। इसकी विचार-धारा विशेषोन्मुखी होती है। कहा भी है—

"ववहरण ववहरए से तेण ववहीरए व सामन्नं।
ववहारपरो य जओ विसेसओ तेण ववहारो ।।"

इस नय का यह कथन है कि सभी व्यवहार विशेष पक्ष को लेकर चलते है, जैसे स्त्री-शब्द सामान्यवाची है पर माता, भगिनी, भार्या, मासी, दादी इत्यादि संबध विशेष को लेकर ही चल सकते हैं। सग्रह-नय केवल सत् को ही ग्रहण करता है, जब कि व्यवहार-नय सग्रह के कुछ अशों को ही जानता है। यह नय भी पहले दो नयो की तरह तीन काल और चार निक्षेपो को मानता है। चार्वाक दर्शन की मान्यताए व्यवहार-नयाभास के अन्तर्गत आती है।

४. **ऋजुसूत्र-नय**—जो विचार भूत और भविष्यत् काल की उपेक्षा करके केवल वर्तमान कालिक पर्याय को ही ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय है, क्योकि अतीत काल के भाव विनष्ट हो चुके है और अनागत काल के भाव उत्पन्न नही हुए, अर्थक्रियाकारित्व केवल वर्तमान कालिक भाव ही है, अतः यह नय केवल वर्तमान रूप पर्याय को ही वस्तु मानता है और उसी के अनुरूप विश्लेषण करता है। कहा भी है—

"उज्जुं रिउं सुयं नाणमुज्जुसुयमस्स सोऽयमुज्जुसुओ।
सुत्तयइ वा जमुज्जुं वत्थुं तेणुज्जुसुत्तो त्ति ।।"

वर्तमान काल के लिग, वचन, नाम आदि भिन्न होने पर भी यह नय वस्तु मात्र को ग्रहण करता है, क्योकि लिंग आदि भिन्न होने पर भी वस्तु अपने स्वरूप को नही छोडती, जैसे तटीं, तटः, तटम्। यहां तट शब्द के वचन भिन्न होने पर भी अर्थ एक है, इसी प्रकार आपो जलम् इत्यादि में भी समझना चाहिए। यह नय नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से विभिन्न पदार्थो के वर्तमान कालिक पर्याय को ही स्वीकार करता है। कहा भी है—

"तम्हा निजगं संपयकालीयं लिंगवयण भिन्नंपि।
नामादि भेयविहियं पडिवज्जइ वत्थुमुज्जुसुयं त्ति ।।"

वस्तु की वर्तमान कालिक पर्याय को ही वस्तु मानता है। भूत और भविष्यत् पर्याय को वस्तु नही मानता। यह चार निक्षेपो में से केवल भाव निक्षेप को मानता है। इस नय से निश्चय आरम्भ हो जाता है। बौद्धो का क्षणिकवाद ऋजुसूत्र नयाभास है।

५. शब्द-नय—यह नय काल, कारक, लिग, सख्या, पुरुष और उपसर्ग आदि भेद से शब्दो में अर्थभेद का प्रतिपादन करता है, जैसे शक्र, पुरदर, शचीपति, और देवेन्द्र इन सबको एक रूप ही मानता है, ये समस्त शब्द पुलिगी होने से इन्द्र के पर्यायवाची नाम हैं। यह नय केवल भाव-निक्षेप के आधार पर पर्यायवाची शब्दों को एक ही अर्थवाला मानता है। नीचे लिखी गाथा मे शब्दनय की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है, जैसे कि—

"सवणं सवइ स तेणं व सप्पए वत्थु जं तओ सद्दो।
तस्सऽत्थपरिग्गहओ तओ वि सद्दो त्ति हेतुव्व ॥"

जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान हो वह शब्द है। उस शब्द के अर्थपरिग्रह से नय भी शब्द है। जैसे हेतु साध्य का परिचायक होता है, वैसे ही शब्द भी अर्थ का ज्ञापक होता है। जो विचार-सरणि काल-कारक आदि भेद से अर्थ मे भेद मानती है, उसे शब्द-नय कहते है। ऋजुसूत्र-नय वर्तमान कालिक पर्याय को मानता है, किन्तु यह नय उससे विशेष रूप को स्वीकार करता है, क्योकि उस ने लिंग-वचन आदि का भेद स्वीकार नही किया, किन्तु यह नय उनमे भेद स्वीकार करता है।

६. समभिरूढ़नय—जितने भी सज्ञा वाले शब्द हैं, व्युत्पत्ति के अनुसार वे सब अपने-अपने अर्थो को लिये हुए है जैसे कि चेष्टा करनेवाले को घट कहते है। कौटिल्य के योग से कुट, पानी भरते समय गद्गद् शब्द करने वाले को कुम्भ। इसी प्रकार शक्र, पुरन्दर, शचिपति, देवेन्द्र इत्यादि शब्दो के विभिन्न अर्थ हैं। कहा भी है—

"जं जं संन्न भासइ तं तं चिय समभिरोहए जम्हा।
सन्नंतरत्थ विमुहो नओ समभिरूढो त्ति।"

जहा शब्द भेद है वहा अर्थ भेद सुनिश्चित ही है। शब्दनय तो अर्थभेद वही मानता है। जहा काल-कारक आदि का भेद हो, किन्तु इस नय के अभिमत से प्रत्येक शब्द का अर्थ अलग-अलग है। समभिरूढ़नय शब्दो के प्रचलित अर्थो को नहीं, किन्तु उनके मूल अर्थो को पकडता है। यह नय शब्द की व्युत्पत्ति के आधार से अर्थ मानता है! जितने भी शब्द हैं उन की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न है, व्युत्पत्ति भिन्न होने से अर्थ भी भिन्न है। इसी विचार-सरणि को लेकर इस नय की प्रवृत्ति होती है।

७. एवंभूतनय—जो शब्द को अर्थ से और अर्थ को शब्द से विशेषित करता है, वह एवभूत है, जैसे घट शब्द घट चेष्टायां धातु से बना हुआ है, इसका अर्थ है—जो स्त्री के मस्तक पर आरूढ होकर जल धारणादि क्रिया करता हो, घट-घट चेष्टा करता हो, तभी उसे घट कह सकते हैं। जिस व्युत्पत्ति से शब्द बना है, उसी मे जब वह प्रवृत्ति करता हो, तब उसे यह नय सार्थक मानता है। कहा भी है—

"एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं, सदा तत्रोपपद्यते।
क्रिया भेदेन भिन्नत्वादेवं भूतोऽभिमन्यते ॥"

जिस समय कोई भी पदार्थ अपने नामानुसार क्रिया और गुणों से संयुक्त हो, वह पदार्थ गुणों के अनुसार ही जब अर्थक्रिया में सलग्न हो, इस के अतिरिक्त उस पदार्थ सम्बन्धी गुण-पर्याय, धर्म आदि सभी व्यक्तरूप में दृष्टिगोचर होते हों, तभी उस पदार्थ को उसी रूप में कहना, ऐसा एवभूतनय का मतव्य है। यदि एक अशमात्र भी कोई गुण कम हुआ, तो वह उस पदार्थ को उस रूप में मानने से अपनी अस्वीकृति प्रकट करता है।

सात नयो का उदाहरण सहित विस्तृत वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र में वर्णित है। तथा नयचक्र, नयवाद आदि ग्रन्थो में भी इसकी विशिष्ट व्याख्याएं देखी जा सकती है। ●

स्वर-मण्डल

मूल—सत्त सरा पण्णत्ता, तं जहा—

सज्जे रिसभे गंधारे, मज्झिमे पंचमे सरे।
धेवते चेव णिसाए, सरा सत्त वियाहिया ॥ १ ॥

एएसि णं सत्तण्हं सराणं सत्त सरट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—

सज्जं तु अग्गजिब्भाए, उरेण रिसभं सरं।
कंठुग्गएण गंधारं, मज्झजिब्भाए मज्झिमं ॥ २ ॥
णासाए पंचमं बूया, दंतोट्ठेण य धेवयं।
मुद्धाणेण य णेसायं, सरट्ठाणा वियाहिया ॥ ३ ॥

सत्त सरा जीवनिस्सिया पण्णत्ता, तं जहा—

सज्जं रवइ मयूरो, कुक्कुडो रिसहं सरं।
हंसो णदइ गंधारं, मज्झिमं तु गवेलगा ॥ ४ ॥
अह कुसुमसंभवे काले, कोइला पंचमं सरं।
छट्ठं च सारसाकोंचा, णिसायं सत्तमं गया ॥ ५ ॥

सत्तसरा अजीव निस्सिया पण्णत्ता, तं जहा—

सज्जं रवइ मुइंगो, गोमुही रिसभं सरं।
संखो णदइ गंधारं, मज्झिमं पुण झल्लरी ॥ ६ ॥
चउचलणपइट्ठाणा, गोहिया पंचमं सरं।
आडंबरो रेवइयं, महाभेरी य सत्तमं ॥ ७ ॥

एएसि णं सत्त सराणं सत्त सरलक्खणा पण्णत्ता, तं जहा—

सज्जेण लहेइ वित्तिं, कयं च ण विणस्सइ।
गावो मित्ता य पुत्ता यं, णारीणं चेव वल्लहो ॥ ८ ॥
रिसभेण उ एसज्जं, सेणावच्चं धणाणि य।
वत्थगंधमलंकारं, इत्थिओ सयणाणि य ॥ ९ ॥
गंधारे गीयजुत्तिणा, वज्जवित्ती कलाहिया।
भवंति कइणो पन्ना, जे अन्ने सत्थपारगा ॥१०॥
मज्झिमसरसंपन्ना, भवंति सुहजीविणो।
खायई पीयई देई, मज्झिमं सरमस्सिओ। ११॥
पंचमसरसंपन्ना, भवंति पुढवीपई।
सूरा संगहकत्तारो, अणेगगणणायगा ॥१२॥
रेवयसरसंपन्ना भवंति कलहप्पिया।
साउणिया वागुरिया, सोयरिया मच्छवधा य ॥१३॥
चंडाला मुट्ठिया सेया, जे अन्ने पावकम्मिणो।
गोघायगा य जे चोरा, णिसायं सरमस्सिया ॥१४॥

एएसिं सत्तण्हं सराणं तओ गामा पण्णत्ता, तं जहा—सज्जगामे, मज्झिमगामे, गंधारगामे। सज्जगामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

मंगी, कोरव्वीया, हरी य रययणी य सारकंता य।
छट्ठी य सारसी णाम, सुद्धसज्जा य सत्तमा ॥१५॥

मज्झिमगामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

उत्तारमंदा, रयणी, उत्तारा, उत्तारासमा।
आसोकंता य सोवीरा, अभीरू हवइ सत्तामा ॥१६॥

गंधारगामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

णंदी य खुद्दिमा पूरिमा य, चउत्थी य सुद्धगंधारा।
उत्तरगंधाराविं य, पंचमिया हवइ मुच्छा उ ॥१७॥
सुट्ठुतरमाया, छट्ठी णियमसो उ णायव्वा।
अह उत्तरायया, कोडीमा य सा सत्तमी मुच्छा ॥१८॥

सत्त सराओ कओ संभवंति, गेयस्स का भवति जोणी ?।
कइ समया उस्सासा, कई वा गेयस्स आगारा ?१९।

सत्त सरा णाभीओ भवति, गीयं च रुयजोणीयं।
पादसमा उस्सासा, तिन्नि य गीयस्स आगारा ॥२०॥

आइमिउ आरभंता, समुव्वहंता य मज्झगारंमि।
अवसाणे तज्जवितो, तिन्नि य गेयस्स आगारा ॥२१॥

छद्दोसे अट्ठगुणे, तिन्नि य वित्ताइं दो य भणिईओ।
जाणाहि सो गाहिइ, सुसिक्खिओ रंगमज्झम्मि ॥२२॥

भीयं दुतं रहस्सं, गायंतो मा य गाहि उत्तालं।
काकस्सरमणुनासं च, होंति गेयस्स छद्दोसा ॥२३॥

पुन्नं[1] रत्तं[2] य अलंकियं[3] य, वत्तं[4] तहा अविघुट्ठं[5]।
महुरं[6] सम[7]-सुकुमारं[8], अट्ठ गुणा होंति गेयस्स ॥२४॥

उर-कंठ-सिरपसत्थ च, गेज्जंते मउरिभिअ पदबद्धं।
समताल पडुक्खेव, सत्त सर सीहरं गीयं ॥२५॥

णिद्दोसं सारवंतं च, हेउजुत्तमलंकियं।
उवणोय सोवयारं च, मियं महुरमेव यं ॥२६॥

समसद्धसमं चेव, सव्वत्थ विसमं च जं।
तिन्नि वित्तप्पयाराइं, चउत्थं नोवलब्भइ ॥२७॥

सक्कया पागया चेव, दुहा भणिईओ आहिया।
सरमंडलम्मि गिज्जंते, पसत्था इसिभासिया ॥२८॥

केसी गायइ य महुरं, केसी गायइ खरं च रुक्खं च।
केसो गायइ चउरं, केसो विलंबं दुतं केसी ? ॥२९॥

विस्सरं पुण केरिसो ?।

सामा गायइ महुरं, काली गायइ खरं च रुक्खं च।
गोरी गायइ चउरं, काणा विलंबं दुतं अंधा ॥३०॥

विस्सरं पुण पिंगला।

तंतिसमं तालसमं, पासमं लयसमं गहसमं च।
नीससिऊससियसमं, संचारसमा सरा सत्त ॥३१॥

सत्त सरा य तओगामा, मुच्छणा एकवीसई।
ताणा एगूणपण्णासा, समत्तं सरमंडल ॥३२॥

छाया—सप्त स्वराः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

षड्ज ऋषभो गान्धारः, मध्यमः पञ्चमः स्वरः।
धैवतश्चैव निषादः, स्वराः सप्त व्याख्याताः ॥ १ ॥

एतेषां सप्तानां स्वराणां सप्त स्वरस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

षड्जं त्वग्रजिह्वया, उरसा ऋषभं स्वरम्।
कण्ठाग्रकेन गान्धार, मध्यजिह्वया मध्यमम् ॥ २ ॥
नासया पञ्चमं ब्रूयात्, दन्तोष्ठेन च धैवतम्।
मूर्ध्ना च निषादं, स्वरस्थानानि व्याख्यातानि ॥ ३ ॥

सप्त स्वराः जीवनिश्रिता प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

षड्जं रौति मयूरः, कुक्कुटः ऋषभं स्वरं।
हंसो नदति गान्धारं मध्यमं तु गवेलकाः ॥ ४ ॥
अथ कुसुमसभवे काले, कोकिला पञ्चमं स्वरम्।
षष्ठश्च सारसा क्रौञ्चाः, निषादं सप्तमं गता. ॥ ५ ॥

सप्त स्वरा अजीवनिश्रिता. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

षड्जं रौति मृदङ्गो. गोमुखी ऋषभं स्वरम्।
शङ्खो नदति गान्धारं, मध्यमं पुन झल्लरी ॥ ६ ॥
चतुश्चरणप्रतिष्ठाना', गोधिका पञ्चमं स्वरम्।
आडम्बरो रैवतकं, महाभेरी च सप्तमम् ॥ ७ ॥

एतेषां स्वराणां सप्तस्वरलक्षणानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

षड्जेन लभते वृत्तिं, कृतश्च न विनश्यति।
गावो मित्राणि च पुत्राश्च, नारीणां चैव वल्लभ. ॥ ८ ॥
ऋषभेन त्वैश्वर्यं, सैनापत्य धनानि च।
वस्त्रगन्धालङ्कारं, स्त्रियः शयनानि च ॥ ९ ॥
गान्धारे गीतियुक्तिज्ञाः, वर्यवृत्तयः कलाधिकाः।
भवन्ति कवयः प्राज्ञा., येऽन्ये शास्त्रपारगाः ॥१०॥

मध्यमस्वरसम्पन्नाः, भवन्ति सुखजीविनः ।
खादति पिबति ददाति, मध्यमं स्वरमाश्रिताः ॥११॥

पञ्चमस्वरसम्पन्नाः, भवन्ति पृथिवीपतयः ।
सूराः संग्रहकर्त्तारः, अनेकगणनायकाः ॥१२॥

रैवत-स्वर-सम्पन्नाः, भवन्ति कलहप्रियाः ।
शाकुनिका वागुरिकाः, शौकरिका मत्स्यबन्धाश्च ॥१३॥

चाण्डाला मौष्टिका मेदाः येऽन्ये पापकर्माणः ।
गोघातकाश्च ये चौराः, निषादं स्वरमाश्रिताः ॥१४॥

एतेषां सप्तानां स्वराणां त्रयो ग्रामाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—षड्जग्रामः, मध्यमग्रामः, गान्धारग्रामः ।

षड्जग्रामस्य सप्त मूर्च्छनाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

मङ्गी कौरवीया हरिता, रजनी च सारकान्ता च ।
षष्ठी च सारसीनाम, शुद्धषड्जा च सप्तमी ॥१५॥

मध्यग्रामस्य सप्तमूर्च्छनाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

उत्तरमन्दा रजनी, उत्तरा उत्तरसमा ।
अश्वकान्ता च, सौवीराऽभिरूपवती सप्तमी ॥१६॥

गान्धारग्रामस्य सप्तमूर्च्छनाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

नन्दिता क्षुद्रिमा पूरिमा च, चतुर्थी च शुद्धगान्धारा ।
उत्तरगान्धाराऽपि च, पञ्चमी भवति मूर्च्छा ॥१७॥

सुष्ठुतरायामा सा षष्ठी, नियमशस्तु ज्ञातव्या ।
अथोत्तरकोटिमा च, सा सप्तमी मूर्च्छा ॥१८॥

सप्त स्वराः कुतः सम्भवन्ति ? गेयस्य का भवति योनिः ।
कति समया उच्छ्वासाः ? कति गेयस्याकाराः ? ॥१९॥

सप्त स्वरा नाभितो भवन्ति, गीतञ्च रुदितयोनिकम् ।
पादसमाः उच्छ्वासाः, त्रयश्च गीतस्याकाराः ॥२०॥

आदौ आरभमाणा, समुद्वहमानाश्च मध्याकारे ।
अवसाने क्षपयन्, त्रयस्य गेयस्याकाराः ॥२१॥

षड् दोषानष्टगुणान्, त्रीणि वृत्तानि द्वे भणितो ।
यो ज्ञास्यति स गास्यति, सुशिक्षितो रङ्गमध्ये ॥२२॥

भीतं द्रुतं ह्रस्वं गायन्, मा च गासीः उत्तालम् ।
काकस्वरमनुनासं च, भवन्ति गेयस्य षड्दोषाः ॥२३॥

पूर्णं रक्तं चालङ्कृतञ्च, व्यक्तं तथाऽविघुष्टम् ।
मधुरं समसुकुमारम्, अष्ट गुणा भवन्ति गेयस्य ॥२४॥

उरः कण्ठशिरः प्रशस्तञ्च, गीयते मृदुरिभितपदबद्धम् ।
समताल प्रत्युत्क्षेपं, सप्त स्वर-सीहरं गीतम् ॥२५॥

निर्दोषं सारवच्च, हेतुयुक्तमलङ्कृतम् ।
उपनीतं सोपचारञ्च, मितं मधुरमेव च ॥२६॥

सममर्द्धसमञ्चैव, सर्वत्र विषमञ्च यत् ।
त्रयो वृत्तप्राकाराः, चतुर्थो नोपलभ्यते ॥२७॥

संस्कृतं प्राकृतञ्चैव, द्विधा भणिती आख्याते ।
स्वरमण्डले गीयते, प्रशस्ते ऋषिभाषिते ॥२८॥

कीदृशी गायति मधुरं, कीदृशी गायति ? खरञ्च रूक्षञ्च ।
कीदृशी गायति चतुर, कीदृशी विलम्ब द्रुतं कीदृशी ? ॥२९॥

विस्वरं पुन. कीदृशी ? ।

श्यामा गायति मधुर, काली गायति खरञ्च रूक्षञ्च ।
गौरी गायति चतुर, काणा विलम्ब द्रुतमन्धी ॥३०॥

विस्वरं पुन. पिङ्गला ।

तन्त्रीसम तालसमं, पादसमं लयसमं गायासमञ्च ।
निःश्वसित-उच्छ्वसितसम, सञ्चारसमं स्वराः सप्त ॥३१॥

सप्त स्वराश्च त्रयो ग्रामाः, मूर्च्छना एकविंशतिः ।
ताना एकोनपञ्चाशत्, समाप्तं स्वरमण्डलम् ॥३२॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

भावार्थ—सात स्वर कथन किये गए है—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद ।

उक्त सात स्वरो के उत्पत्ति-स्थान सात है—अग्रजिह्वा से षड्ज, हृदय से ऋषभ, कण्ठ के अग्रभाग से गान्धार, जिह्वा के मध्यभाग से मध्यम, नासिका से पञ्चम, दान्त और ओष्ठो से धैवत तथा कपाल से निषाद-स्वर का उच्चारण किया जाता है ।

सात स्वर जीव-निश्रित है—मयूर का षड्ज स्वर, मुर्गे का ऋषभ स्वर,

हंस का गान्धार स्वर, गाय और भेड़ का मध्यम स्वर, वसन्त काल में कूकती कोकिल का पञ्चम स्वर, सारस का धैवत और क्रौंच का निषाद स्वर हुआ करता है।

सात स्वर अजीवनिश्रित है—मृदंग का षड्ज, गोमुख का ऋषभ, शङ्ख का गान्धार, झल्लरी का मध्यम, चार चरणों पर प्रतिष्ठित रहनेवाली गोधिका का पञ्चम, ढोल का धैवत तथा महाभेरी का निषाद स्वर होता हैं।

उक्त सात स्वरों के सात फल कथन किये गए है—

जिस व्यक्ति का षड्ज स्वर होता है उसे लक्ष्मी प्राप्त होती है, उसका किया हुआ कार्य निष्फल नही होता, उसे गाय मित्र और पुत्र आदि भी प्राप्त होते है। वह स्त्रियों को प्रिय होता है।

ऋषभ स्वरवाले व्यक्ति को ऐश्वर्य, सेनापतित्व, धन, वस्त्र, गन्ध, अलङ्कार, स्त्रिया उत्तम शयनासन और वैभव प्राप्त होता है।

गान्धार स्वरवाला संगीत-विशेषज्ञ गायक श्रेष्ठ वृत्तिवाला, कलावान्, कवि, बुद्धिमान् और अन्य शास्त्रो में भो पारंगत होता है।

मध्यम स्वर-सम्पन्न व्यक्ति सुखपूर्वक आजीविका प्राप्त करता है, अच्छा खाता है, अच्छा पीता है और दूसरो को अच्छा दान देता है, परन्तु वह सञ्चय नही कर सकता।

पञ्चम स्वरवाला व्यक्ति राजा, शूरवीर, संग्रह-कर्त्ता और अनेक गणों का नायक होता है।

धैवत स्वरवाला व्यक्ति कलहप्रिय, शाकुनिक, वागुरिक, कसाई और मत्स्य-जीवी होता है।

निषाद स्वरवाला व्यक्ति चाण्डाल, मुष्टियुद्ध करनेवाला, मेद अर्थात् म्लेच्छ जाति विशेष का अत्याचारी, गोघातक और चोर होता है।

सात स्वरों के तीन ग्राम कथन किये गए हैं—षड्ज-ग्राम, मध्यमग्राम और गान्धार-ग्राम।

षड्ज ग्राम की सात मूर्च्छनायें कथन की गई है—मगी, कौरवी, हरिता, रजनी, मारकान्ता, सारसी, शुद्धषड्जा ।

मध्यमग्राम की सात मूर्च्छनाएं हैं—उत्तरमन्दा, रजनी, उत्तरा, उत्तरसमा, अश्वकान्ता, सौवीरा, अभिरूपवती ।

गान्धारग्राम की सात मूर्च्छनायें हैं—नन्दिता, क्षुद्रिका, पूरिमा, शुद्धगान्धारा, उत्तरगान्धारा, सुष्ठुतरायामा, उत्तरकोटिमा ।

सात स्वर कहा से उत्पन्न होते हैं ? गान की कौन-सी योनि है ? श्वासोच्छ्वास का कितना काल है ? गीत के कितने आकार है ?

सातों ही स्वर नाभि मे उत्पन्न होते है, गीत की योनि शब्द करना है । श्लोक के एक पाद का उच्चारण-काल उच्छ्वास होता है । गीत के आकार तीन हैं—आदि मे मृदु, मध्य मे उत्थान, अन्त में क्षीण । गान-विद्या के छह दोषों को, आठ गुणों को, तीन वृत्तों को और दो भाषाओं को जो भली-भांति जानता है, वही सुशिक्षित रङ्ग-मण्डप मे गा सकता है ।

डरते हुए गाना, शीघ्रता में गाना, लघुता से गाना, जोर से गाते हुए लय से च्युत होकर गाना, काक-स्वर से गाना एव नासिका से गाना ये गीत के छ दोष है ।

अपेक्षित पूर्ण काल मे गाना, राग मे अनुरक्त होकर गाना, अलङ्कार से गाना, स्पष्टता से गाना, सस्वर होकर गाना, मधुर स्वर से गाना, सम एव सुकुमार गाना, गीत के ये आठ गुण है ।

हृदय, कण्ठ एवं मस्तक मे प्रशस्त गान, मधुर वाणी से युक्त गान, पदबद्ध गान, ताल के साथ पद का उच्चारण करना और अक्षरादि से सम होकर गाना, प्रशस्त गीत होता है ।

दोष-रहित, अर्थयुक्त, हेतुयुक्त, अलङ्कृत, उपसंहारयुक्त, उपचारसहित, मित और मधुर गीत प्रशस्त होता है ।

छन्द के सम, अर्द्धसम और विषम ये तीन प्रकार है । चौथा प्रकार उपलब्ध नहीं होता ।

स्वर-मण्डल के गान में ऋषियों द्वारा भाषित प्रशस्त दो भाषायें कथन की गई है–संस्कृत और प्राकृत।

कौन स्त्री मधुर गाती है ? कौन कठोर गाती है ? कौन रूक्ष गाती है ? कौन चतुर गाती है ? कौन विलम्ब एवं द्रुत गाती है ? विस्वर कौन गाती है ? श्यामा मधुर गाती है, कृष्णा कठोर और रूक्ष गाती है, गोरी चतुरता से गाती है।

कानी स्त्री विलम्ब से गाती है, अन्धी स्त्री शीघ्र गाती है और पिङ्गला विस्वर गाती है।

वीणा-सम, ताल-सम, पाद-सम, लय-सम, गाथा-सम निःश्वास-उच्छ्वास-सम एवं संचार-सम संगीत का प्रत्येक स्वर अक्षर आदि सातों से मिलाकर सात प्रकार का होता है।

सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छनायें और उनचास तान प्रत्येक स्वर सात तानों से गाया जाता है अतः सातों स्वरों के उनचास भेद हो जाते हैं।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में नयों का वर्णन किया गया है, जैसे वक्ता के अभिप्राय के अनुरूप उन सैंकड़ों नयों का अतर्भाव सात मूलनयो में हो जाता है, वैसे ही अनगिनत प्रकार के स्वरों का समावेश सात स्वरों में हो जाता है। यद्यपि स्वर शब्द अनेक अर्थों का द्योतक है तथापि प्रसंगानुसार उसका ग्राह्य अर्थ संगीत से सबन्धित स्वर ही है। कोमलता, तीव्रता और आरोह-अवरोह आदि से युक्त वह शब्द जो प्राणियों के गले या एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आघात पडने से निकलता है, उसे स्वर कहा जाता है। संगीत में इस प्रकार की वे सात निश्चित ध्वनियां है जिनका स्वरूप, तीव्रता, मंदता आदि निश्चित हैं। ध्वनि के मूलभेद सात ही हैं जैसे कि षड्ज, ऋषभ, गाधार, मध्यम, पंचम, धैवत-रैवत और निषाद।

सात स्वरों के सात उत्पत्ति स्थान

जो स्वर छः स्थानो से उत्पन्न हो वह षड्ज स्वर कहलाता है। यद्यपि यह स्वर नासिका, कठ, उर, तालु, जिह्वा और दत इन ६ स्थानो से उत्पन्न होता है तथापि इसका मुख्य उच्चारण-स्थान जिह्वाग्र-भाग ही है।

जब वायु नाभि से उठकर कण्ठ और मूर्धा से टकराता हुआ वृषभ की तरह शब्द करता है, तब उस स्वर को वृषभ—ऋषभ स्वर कहते है, फिर भी मुख्यतया यह स्वर वक्षःस्थल से निकलता

का उत्पन्न होता है।

जब वायु नाभि से उठकर हृदय और कंठ से टकराता हुआ निकलता है, तब उसे गांधार स्वर कहते है, गंध से भरा होने के कारण इसे गांधार कहा जाता है। इसका मुख्य उच्चारण-स्थान कंठ है।

जो ध्वनि नाभि से उठकर हृदय से टकराती हुई, पुनः नाभि मे पहुंच जाती है और भीतर ही भीतर गजती रहती है उसे मध्यम स्वर कहते है। इसकी उत्पत्ति का मुख्य स्थान जिह्वा का मध्य-भाग है। जिह्वा के मध्य भाग से निकलने के कारण ही यह मध्यम् स्वर कहलाता है।

नाभि, हृदय, छाती, कण्ठ और सिर इन पाच स्थानो से उत्पन्न होनेवाले स्वर का नाम पंचम स्वर है तथा षड्ज आदि स्वरो की गिनती मे यह स्वर पचम होने से पचम कहलाता है, इसके उत्पन्न होने का मुख्य स्थान नासिका है। नासिका से निकलनेवाला स्वर पचम होता है।

धैवत मे सभी स्वरो का सम्मिश्रण होता है, इसी को रैवत स्वर भी कहते है। इसमे दान्त और ओष्ठ की मुख्यता रहती है। इन दो स्थानो से निकली हुई ध्वनि को धैवत नाम दिया गया है।

जो सभी स्वरो पर छा जाए वह निषाद स्वर कहलाता है। यह तेज होने के कारण दूसरे सभी स्वरों को दबा देता है, इसकी उत्पत्ति मूर्धा से होती है। यह भौंए चढाकर तेजी से बोला जाता है। यद्यपि प्रत्येक स्वर कण्ठ तात्वादि कई स्थानो की सहायता से उत्पन्न होते है तथापि जिस स्वर को जिस स्थान की अधिक अपेक्षा रहती है, वास्तव मे वही उसका स्थान है और उसी का वर्णन सूत्रकार ने किया है।

जीव-निश्रित सात स्वर

को कहते है उसके बजाने से धैवत स्वर निकलता है। महाभेरी के बजाने से निषाद स्वर निकलता है। विश्व भर मे शेष जितने भी वाद्य है उनसे कोई न कोई स्वर तो नियमेन निकलता ही है, परन्तु उन सबका अंतर्भाव उपर्युक्त सात स्वरों में ही हो जाता है।

सात स्वरों के सात लक्षण

यावन्मात्र मनुष्य हैं वे भले ही स्त्री हों या पुरुष उनके स्वरो में उपर्युक्त सात स्वरों में से एक स्वर मुख्य रूप से होता है, शेष स्वर बनावटी होते है। जिस व्यक्ति का जो स्वर अंगी बनकर रहता है, उसकी पहचान लक्षणों द्वारा होती है। वे लक्षण क्रमश. निम्नलिखित हैं—

जिस व्यक्ति का षड्ज स्वर होता है, उसकी आजीविका निर्विघ्नता से चलती है, उसके द्वारा किये हुए सभी कार्य पूर्ण होते है, उसके घर में सर्वदा गाय और भैंस आदि दुधारु पशु रहते हैं, उसके अनेक मित्र और सुपुत्र भी होते है और वह स्त्रियो का वल्लभ होता है।

जिस व्यक्ति का ऋषभ स्वर होता है, उसके प्रभाव से वह महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करता है, उसे निरतर धन का लाभ होता है, वह सेनापति का पद प्राप्त करता है, वह बहुमूल्य वस्त्रों, आभूषणो, सुगन्धित पदार्थो तथा सुखप्रद शयन-आसन आदि का उपभोक्ता बनता है और कल्याणी स्त्रियो का वल्लभ भी होता है।

जिस व्यक्ति का गाधार स्वर होता है, वह उस स्वर के प्रभाव से गायन-कला में निपुण, श्रेष्ठ आजीविकावाला, कलाओं में कुशल, काव्य-प्रणेता, बुद्धिमान्, शास्त्रों का पारगामी, कर्त्तव्य-शील इत्यादि गुणो से तथा पुण्य से समृद्ध होता है।

जिस व्यक्ति का मध्यम स्वर होता है वह अपना जीवन सुख-पूर्वक व्यतीत करता है, उत्तम खाद्य-पेय पदार्थो का उपभोग स्वय करता है और दूसरो को भी उत्तम पदार्थ देता है। इस प्रकार का उदारचेता गायक मध्यम स्वर का स्वामी माना जाता है, परन्तु उसकी सपत्ति स्थिर नही रहती, वह प्रयत्न करने पर भी सम्पत्ति का सग्रह नही कर पाता। उसकी आय भी अधिक और व्यय भी अधिक रहता है।

जिस गायक का पचम स्वर होता है, वह पृथिवीपति बनता है, शूरवीर होता है, अनेक पदार्थो का सग्रह करता है। इतना ही नही, वह अनेक गुणो का नायक भी बनता है। इत्यादि लक्षणों से ही जाना जाता है कि यह व्यक्ति पचमस्वरवाला है।

धैवत स्वर से सपन्न व्यक्ति कलह-प्रिय होता है, वह आकाश मे उड़नेवाले पक्षियों का, स्थल पर चलने वाले मृगो, शूकरो आदि का तथा जल मे तैरनेवाले जलचर जीवो का शिकार करनेवाला तथा निर्दयी हिंसक और क्रूर होता है।

चाडाल, मौष्टिक, अधम जाति वाले, पाप कर्मकारी, कसाई, चोर, डाकू इत्यादि अधम क्रिया करनेवाले सभी निषाद स्वर वाले हुआ करते है।

व्यक्ति के जीवन मे स्वर के अनुरूप इन लक्षणो का उदय होता है और इन्ही गुणों से गायक के स्वर की पहचान भी की जा सकती है।

सात स्वरों के तीन ग्राम और २१ मूर्च्छनाए

स्वरो के षड्जग्राम, मध्यमग्राम और गाधारग्राम की सात-सात मूर्छनाए होती हैं। मूर्छनाओं के समूह को ग्राम कहते है। जिसके द्वारा श्रोता या वक्ता मूर्छित अर्थात् मत्रमुग्ध हो जाए, उसे मूर्छना कहते है, अथवा राग के भेद को भी मूर्छना कहते है।

मूर्छनाओं का नामोल्लेख शब्दार्थ और मूलार्थ में किया जा चुका है। उनका पूर्ण स्वरूप दृष्टि-वाद के अतर्गत स्वर-प्राभृत मे वर्णित है। सगीत शास्त्र मे भी उपलब्ध है। इस सूत्र में केवल सूचना मात्र ही है, अत: इनका केवल नामोल्लेख ही किया गया है। वृत्तिकार भी इन नामो की व्याख्या करने में मौन है।

इसके आगे सूत्रकार ने शिष्य की ओर से चार प्रश्न उपस्थित किए हैं, जैसे कि—

१ ये सात स्वर कहा से उत्पन्न होते है ?
२ गीत की योनि क्या है ?
३ गीत का उच्छ्वास-परिमाण कितना है ?
४ गीत के कितने आकार है ?

सूत्रकार ने इन प्रश्नो के उत्तर निम्न प्रकार से दिए है, जैसे कि—पहले प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते है कि सात स्वर नाभि से उत्पन्न होते हैं। दूसरे प्रश्न के उत्तर मे कहा है कि गीत की उत्पत्ति शब्द से होती है, क्योकि 'रुत' शब्द को कहते है और योनि उत्पत्ति-स्थान को अर्थात् गीत का जन्म शब्द से होता है। तीसरे प्रश्न के उत्तर मे गुरु ने कहा—प्रत्येक छद मे उच्छ्वासो की सख्या निर्धारित है, उसकी पाद-पूर्ति के अत मे उच्छ्वास होना है। चौथे प्रश्न के उत्तर मे गुरु ने कहा कि गीत के तीन आकार है, जैसे कि गीत के आरम्भ मे मृदु स्वर होना चाहिए, मध्य मे ऊचा स्वर, अवसान के समय पुन मद ध्वनि होनी चाहिए। यही तीन गीत के आकार है।

गीत गाने के छ. दोष

कोई भी सदोष वस्तु या कार्य मन को लुभाने मे, हर्षान्वित करने मे सफल नही हो सकता है। उसकी कला को कोई भी विशेषज्ञ पसन्द नही करता और न उसे कोई पारितोपिक ही मिलता है, गायक मे यदि छ दोषो मे से एक दोष भी है, वह वस्तुत गायक ही नही है। वे दोष यह हैं, जैसे कि—**भीत**—डरते-डरते गाना। **द्रुत**—जल्दी-जल्दी गाना। **ह्रस्व**—शब्दो को छोटे बनाकर गाना या अस्थान मे श्वास लेना या जो छद जिस लय से गाया जाता है उसमे न गाकर अन्य लय से गाना दोष है। **उत्ताल**—ताल से विपरीत गाना। **काकस्वर**—कर्णकटु अव्यवस्थित एव अस्पष्ट गीत गाना। **अनुनास**—नाक से गाना। ये ६ गायक के दोष माने गए है।

प्रभाव की दृष्टि से संगीत के आठ गुण

गुण और कला ये दोनो श्रोता और दर्शक को आकृष्ट एव आश्चर्य-चकित कर ही देते है। गायन भी एक कला है, अत: गायन भी श्रोता को मुग्ध कर देता है, परन्तु वही गायन मोहक होता है

जो आठ गुणों से सम्पन्न हो। उन आठ गुणो का विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि:—

पूर्ण—सगीत कला में प्रवीणता। **रक्त**—जिस गीत से गायक और श्रोता मस्ती में झूम उठें। **अलंकृत**—वह गीत जो शब्दालकारो और अर्थालंकारों से अलकृत हो। **व्यक्त**—अक्षर और स्वरो की स्पष्टता के कारण स्फुट हो। **अविघुष्ट**—चिल्लाने जैसी आवाज के कारण विस्वर न हो। **मधुर**—मतवाली कोयल की तरह मधुर स्वर हो। **सम**—तालादि वादित्र के सम हो। **सुकुमार**—जिसकी लय, अति मधुर हो। इन आठ गुणों से सम्पन्न गीत ही वास्तव में गीत है।

उच्चारण की दृष्टि से संगीत के सात गुण—

छाती का साफ होना **उरःप्रशस्त**, कण्ठ का विशुद्ध होना **कंठ-प्रशस्त**, मूर्धा को प्राप्त होकर भी जो स्वर नासिका से मिश्रित न हो वह **शिर-प्रशस्त**, जो कोमल स्वर से गाया जाता है वह **मृदुक**, जिस गीत मे स्वर का घोलन हो वह **रिभित**, जिसमे निपुणता के साथ अक्षरो का सचार होता हो वह **पदबद्ध**, नर्त्तक के पादनिक्षेप ताल एव साज-बाज आदि के साथ समगति से चलनेवाला हो वह **समताल प्रत्युपक्षेप** गीत कहलाता है। इस प्रकार गुण-त्रिशुद्धि के साथ जब गायन होता है तब उस गीत को सप्तस्वर-विशुद्ध कहते है।

सप्त स्वर-सीभर—

जहा सात स्वरो का अक्षर आदि से यथाविधि मिलान होता हो, उसे सीभर कहते है। जब ह्रस्व के स्थान पर ह्रस्व, दीर्घ के स्थान पर दीर्घ, प्लुत के स्थान पर प्लुत, सानुनासिक के स्थान पर सानुनासिक स्वर बोला जाए और निरनुनासिक के स्थान पर निरनुनासिक स्वर बोला जाय वह **अक्षरासम** कहलाता है। जिस मे पद-विन्यास राग के अनुकूल हो उसे **पदसम** कहते हैं। सिसमे हाथ-पैर आदि का अभिनय ताल के अनुकूल हो, वह **तालसम** कहलाता है। साज-बाज की लय के अनुसार जिस स्वर को गाया जाए, वह **लयसम** कहलाता है। सितार या वासुरी की लय सुनकर उसी स्वर से जो गीत गाया जाए, उसे **ग्रहसम** कहते है। जहा सास का लेना और छोड़ना यति पर ही हो, वह **श्वासोच्छ्वास-सम** कहा जाता है। वश, तन्त्री, हार्मोनियम आदि के ऊपर अगुली फेरने के साथ-साथ जो गाना गाया जाता है वह **सचार-सम** कहलाता है। सगीत का प्रत्येक स्वर अक्षर आदि सातो से मिलकर सात प्रकार का हो जाता है।

संगीत के आठ गुण—

गाने के लिये निर्मित की जानेवाली रचना मे आठ गुण होने चाहिए, जैसे कि सगीत ३२ प्रकार के दोपो से रहित होना चाहिए। पद्य सारगर्भित होने से **सारवान** हो। जो गीत किसी विशेप उद्देश्य मे वनाया गया हो वह **हेतुयुक्त**। जो उपमादि अलकारो से सयुक्त है उसे **अलकृत** कहते है। जिस गीत मे हेतु और साध्य का उपसहार किया गया हो उसे **उपनीत** कहा जाता है। जिस गीत मे शब्द और अर्थ क्लिष्ट विरुद्ध लज्जास्पद आदि दोषों से रहित एव अनुप्रास युक्त हो उस गीत को **सोपचार** कहते है। जो गीत परिमित वर्णो से युक्त हो वह **मित**, जो गीत माधुर्य एव प्रसाद गुण से

युक्त हो उसे मधुर कहते है। इन आठ गुणो से युक्त गीत ही गीत माना जाता है।

वृत्त-प्रकार–

वृत्त छन्द को कहते है वह तीन प्रकार का होता है, जिसके चारो चरणो मे वर्ण-सख्या समान हो उसे समछन्द कहते है, जैसे वसन्ततिलका, शिखरिणी, आदि। जिस वृत्त का पहला और तीसरा चरण तथा दूसरा और चौथा चरण सम हो उस वृत्त को अर्द्धसम-वृत्त कहते हैं, जैसे उपजातिछद। जिस वृत्त के चारो चरणो में वर्ण-सख्या या मात्रा-सख्या विषम हो, उसे विपम छन्द कहते है। जैसे आर्या-छन्द। इस प्रकार वृत्त अर्थात् छन्द के तीन भेद बतलाए गए है।

दो प्रकार की भणिति–

तीर्थङ्करो ने सस्कृत और प्राकृत ये दो भाषाए प्रतिपादन की हैं। "भणिति" शब्द का अर्थ भाषा है। उक्त दोनो भाषाओ मे स्वर-मडल का गायन होता है और ये दोनो भापाए आर्य एव सुन्दर है और ऋषि-भाषित है। यहा पर ऋषि शब्द का सम्बन्ध तीर्थङ्कर भगवान से है।

गायिका के विषय में प्रश्नोत्तर–

प्रश्न—कौन सी स्त्री मधुर गाती है। **उत्तर**—गौरवर्ण वाली स्त्री मधुर गाती है।
प्रश्न—कौन सी स्त्री कर्कश एव रूक्ष गाती है? **उत्तर**—काले वर्णवाली स्त्री रूक्ष गाती है।
प्रश्न—कौन सी स्त्री चतुराई से गाती है? **उत्तर**—श्यामा स्त्री।
प्रश्न—कौन सी स्त्री विलब से गाती है? **उत्तर**—एक आख से रहित स्त्री।
प्रश्न—कौन सी स्त्री शीघ्रता से गाती है? **उत्तर**—नेत्र-विहीन स्त्री।
प्रश्न—कौन सी स्त्री विस्वर गाती है? **उत्तर**—पिगला-कपिला स्त्री विस्वर गाती है।

स्वरमंडल का उपसंहार–

स्वरमण्डल मे सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छनाए और उनचास तानें हैं। जैसे कि एक वीणा में सात छिद्र है, उन मे एक-एक स्वर सात-सात वार बजाया और गाया जाता है इस तरह ७×७=४९ हुए। ताने भी स्वर-मडल के वीच मे है। पुरुषो की ७२ कलाओ में तथा स्त्रियो की ६४ कलाओ मे स्वर-मडल को विशेष स्थान प्राप्त है। राजप्रश्नीय सूत्र के अन्तर्गत यह विपय विस्तार से वर्णित है। सूर्याभदेव ने भगवान महावीर की भक्ति प्रदर्शित करते हुए गौतम आदि मुनिवरो को इसी विद्या द्वारा अपनी ऋद्धि का प्रदर्शन कराया है। यह विद्या चित्त आह्लादक, मनोमोहक है। इसका वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र के सातवे नामपद मे भी प्राप्त होता है।

काय-क्लेश

मूल—**सत्तविहे कायकिलेसे पण्णत्ते, तं जहा–ठाणाइए, उक्कुडुयासणिए, पडिम-**

सूत्र-१४

ट्ठाइ, वीरासणिए, णेसज्जिए, दंडाइए, लगंडसाई ।१४।

छाया—सप्तविधः कायक्लेशः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—स्थानातिगः, उत्कुटुकासनिकः, प्रतिमास्थायी, वीरासनिक, नैषद्यिकः, दण्डायतिकः, लगण्डशायी ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सात प्रकार का कायक्लेश तप वर्णन किया गया है, जैसे—कायोत्सर्ग करना, उकडू आसन से बैठना, प्रतिमा में स्थित रहना, वीरासन से बैठना, निषद्या करना, दण्डासन करना, वक्रकाष्ठ के समान लेटना ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे स्वर-मण्डल का वर्णन किया गया है। स्वर-साधक गायक विविध मुद्राओं में बैठकर गाते हैं, विविध मुद्राओ मे बैठने पर जो शरीर को कष्ट होता है, वह लौकिक काय-क्लेश कहलाता है। प्रस्तुत सूत्र मे उसी के प्रतिपक्षी लोकोत्तर काय-क्लेश तप का वर्णन किया गया है। जिस तप से शरीर को कुछ कष्ट की अनुभूति हो, वह तप कायक्लेश कहलाता है। बाह्य तप के भेदों में पाचवा भेद 'काय-क्लेश' तप है। यद्यपि केश लोचकरना, धूप की आतापना लेना, विना वस्त्र के सर्दी सहना, खुजली आदि न करना; थूकने की बुरी आदत न डालना आदि काय-क्लेश के ही अनेक रूप है तथापि यहा सप्त स्थान के अनुरोध से सात प्रकार के आसनो का ही उल्लेख किया गया है।

१. ठाणाइए—इस पद का अर्थ है कायोत्सर्ग मुद्रा मे अवस्थित रहना ही यद्यपि यहा काय-क्लेश तप का निर्देश है तथापि काय-क्लेश तप करनेवाले का जो निर्देश किया गया है, वह धर्म और धर्मी के अभेद को लक्ष्य मे रख कर ही किया गया है।

२. उक्कुडुयासणिए—जिस आसन मे दोनों एड़ियां जमीन के साथ न लगती हों, वह उत्कुटुक आसन है, इस आसन से बैठनेवाला मुनि उत्कुटुकासनिक कहलाता है।

३. पडिमट्ठाई—भिक्षु प्रतिमाओ मे कहे हुए आसनो द्वारा समाधि लगाने वाला भिक्षु प्रतिमस्थायी कहलाता है।

४ वीरासणिए—वीरासन लगानेवाला भिक्षु वीरासनिक कहलाता है।

५. णेसज्जिए—पैरो के भार से बैठनेवाला भिक्षु नैषद्यिक कहलाता है।

६. वंडाइए—शरीर को दड की तरह पृथ्वी पर फैला कर ध्यान लगानेवाला भिक्षु।

७. लगंडसाई—जिसके सिर और पैर भूमि पर लगे हुए हो और पीठ भूमि से ऊची हो इस तरह के आसन द्वारा समाधि लगानेवाला भिक्षु लगडशायी कहलाता है। समाधिस्थ होने की अभिलाषा रखनेवाले मुनि को इस प्रकार के आसनो मे आसीन होना आवश्यक होता है, क्योकि मानसिक एकाग्रता के लिये "स्थिरमासनमात्मनः" आसन की स्थिरता को आवश्यक माना गया है।

ढाई द्वीप के वर्ष, वर्षधरपर्वत और महानदियां

मूल—जंबुद्दीवे दीवे सत्त वासा पण्णत्ता, तं जहा—भरहे, एरवए, हेमवए, हेरन्नवए, हरिवासे, रम्मगवासे, महाविदेहे।

जबुद्दीवे दीवे सत्त वासहरपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—चुल्लहिमवंते, महाहिमवंते, निसहे, नीलवंते, रुप्पी, सिहरी, मंदरे।

जंबुद्दीवे दीवे सत्त महानईओ पुरत्थाभिमुहीओ लवणसमुद्दं समप्पेति, तं जहा—गंगा, रोहिया, हिरी, सीया, णरकंता, सुवण्णकूला, रत्ता।

जंबुद्दीवे सत्त महाणईओ पच्चत्थाभिमुहीओ लवणसमुद्दं समप्पेंति, तं जहा—सिंधु, रोहियसा, हरिकंता, सीओया, णारीकंता रुप्पकूला, रत्तवई। धायइसडदीवपुरच्छिमद्धे णं सत्त वासा पण्णत्ता, तं जहा—भरहे जाव महाविदेहे।

धायइसडदीवपुरच्छिमे णं सत्त वासहरपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—चुल्लहिमवते जाव मंदरे।

धायइसंडदीवपुरच्छिमे णं सत्त महनईओ पुरच्छाभिमुहीओ कालोयसमुद्दं समप्पेति, तं जहा—गंगा जाव रत्ता।

धायइसंडदीवपुरिच्छिमद्धेणं सत्तमहानईओ पच्चत्थाभिमुहीओ लवणसमुद्दं समप्पेंति, तं जहा—सिंधु जाव रत्तवई।

धायइसडदीवे, पच्चत्थिमद्धे णं सत्त वासा एवं चेव, णवरं पुरत्थाभिमुहीओ लवणसमुद्दं समप्पेंति, पच्चत्थाभिमुहीओ कालोदं, सेसं तं चेव।

पुक्खरवरदीवड्ढपुरच्छिमद्धे णं सत्त वासा तहेव, णवरं पुरत्थाभिमुहीओ पुक्खरोदं समुद्दं समप्पेंति, पच्चत्थाभिमुहीओ कालोदं समुद्दं समप्पेंति, सेसं तं चेव। एवं पच्चत्थिमद्धे वि, णवरं पुरत्थाभिमुहीओ कालोदं समुद्दं समप्पेंति, पच्चत्थाभिमुहीओ पुक्खरोदं समप्पेंति, सव्वत्थ वासा, वासहरपव्वया, णईओ य भाणियव्वाणि।१५।

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे सप्त वर्षाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—भरतम्, ऐरवत, हैमवतं, हिरण्यवतं, हरिवर्षं, रम्यकवर्षं, महाविदेहः।

सूत्र-१५

जम्बूद्वीपे द्वीपे सप्त वर्षधरपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्षुद्रहिमवान्, महाहिमवान्, निषधः, नीलवान्, रुक्मी, शिखरी, मन्दरः।

जम्बूद्वीपे द्वीपे सप्त महानद्यः पूर्वाभिमुख्यो लवणसमुद्रं समाप्नुवन्ति, तद्यथा—गङ्गा, ह्री, शीता, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रक्ता।

जम्बूद्वीपे द्वीपे सप्त महानद्यः पश्चिमाभिमुख्यो लवणसमुद्रं समाप्नुवन्ति, तद्यथा—सिन्धुः, रोहितांशा, हरिकान्ता, शीतोदा, नारिकान्ता, रुप्यकूला, रक्तवती।

धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्यार्द्धे सप्त वर्षाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—भरतं यावत् महाविदेहः।

धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्ये सप्त वर्षधरपवर्ताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्षुद्रहिमवान् यावन्मन्दरः।

धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्ये सप्त महानद्यः पूर्वाभिमुख्यः कालोदं समुद्रं समाप्नुवन्ति, तद्यथा—गङ्गा यावत् रक्ता।

धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्यार्द्धे सप्त महानद्यः पश्चिमाभिमुख्यो लवणसमुद्रं समाप्नुवन्ति, तद्यथा—सिन्धुर्यावत् रक्तावती।

धातकीखण्डद्वीपे पाश्चात्यार्द्धे सप्त वर्षाण्येवञ्चैव, नवरं पूर्वाभिमुख्यो लवणसमुद्रं समाप्नुवन्ति, पश्चिमाभिमुख्यः कालोदं समुद्रं, शेषं तथैव।

पुष्करवरद्वीपार्द्धपौरस्त्यार्द्धे सप्त वर्षाणि तथैव, नवर पूर्वाभिमुख्यः पुष्करोदं समाप्नुवन्ति, पश्चिमाभिमुख्य कालोदं समुद्र समाप्नुवन्ति, शेषं तदेव। एवं पाश्चात्यार्द्धेऽपि, नवरं पूर्वाभिमुख्यः कालोदं समुद्रं समाप्नुवन्ति, पश्चिमाभिमुख्यः पुष्करोदं समाप्नुवन्ति, सर्वत्र वर्षाणि, वर्षधरपर्वताः नद्यश्च भणितव्याः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे सात वर्ष-क्षेत्र है, जैसे—भरत, ऐरवत, हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, महाविदेह।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे सात वर्षधर पर्वत कथन किये गए है, जैसे—क्षुद्रहिमवान्, महहिमवान्, निषध, नीलवान्, रुक्मो, शिखरी और मन्दर।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप में सात महानदिया है, जो कि पूर्वाभिमुखो होती हुई लवण समुद्र मे जा मिलती है, जैसे—गङ्गा, रोहिता, ह्री, शीता, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रक्ता।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप की सात महानदियां पश्चिमाभिमुखी होती हुई लवण-समुद्र में जा मिलती है, वे है—सिन्धु, रोहितांशा, हरिकान्ता,

शीतोदा, नारीकान्ता, रुप्यकूला और रक्तावती।

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वार्द्ध में सात वर्ष-क्षेत्र हैं, जैसे—भरत से लेकर महाविदेह तक।

धातकीखण्ड नामक द्वीप के पूर्वार्द्ध मे सात वर्षधर पर्वत है, जैसे—क्षुद्र-हिमवान् से लेकर मन्दर तक।

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वार्द्ध मे सात महानदिया पूर्वाभिमुखी होकर कालोद समुद्र मे जा मिलती है, जैसे—गंगा से लेकर रक्ता तक।

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वार्द्ध मे सात महानदिया पश्चिमाभिमुखी होकर लवण समुद्र मे जा मिलती है, जैसे—सिन्धु से लेकर रक्तावती तक।

धातकीखण्ड द्वीप के पश्चिमार्द्ध मे सात वर्ष इसी प्रकार जानना, किन्तु विशेषता इतनी है कि सात महानदिया पूर्वाभिमुखी लवण समुद्र में और पश्चिमाभिमुखी महानदियां कालोद समुद्र मे मिलती है। शेष सब वर्णन पूर्ववत् ही जान लेना चाहिये।

पुष्करवर द्वीपार्द्ध के पूर्व की ओर उसी प्रकार सात वर्ष-क्षेत्र है, केवल इतना विशेष है कि महानदिया पूर्वाभिमुखी होकर पुष्करोद समुद्र मे जा मिलती है और पश्चिमाभिमुखी महानदियां कालोद समुद्र मे मिलती है। शेष वर्णन पहिले की भांति जानना चाहिये। इसी तरह पश्चिमार्द्ध मे भी जानना चाहिये, किन्तु इतना विशेष है कि पूर्वाभिमुखी महानदिया कालोद समुद्र में और पश्चिमाभिमुखी महानदिया पुष्करोद समुद्र मे जा मिलती है। सब जगह वर्ष, वर्षधरपर्वत और नदिया पूर्ववत् ही कहनी चाहिये।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे कायक्लेश-नामक बाह्य तप का वर्णन किया गया है। तप प्रायः मनुष्य लोक मे ही किया जाता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे मनुष्यलोक के कुछ ऐसे आवश्यक एव शाश्वत पदार्थो का वर्णन किया गया है, जो कि गणना के अनुसार सात-सात है। इस जम्बूद्वीप मे सात क्षेत्र है और सात ही वर्षधर पर्वत है तथा सात महानदिया पूर्वदिशाभिमुखी होकर लवण-समुद्र मे प्रवेश करती है और सात ही महानदिया पश्चिम दिशाभिमुखी होकर लवण-समुद्र मे प्रविष्ट होती हैं।

इसी तरह सात क्षेत्र, सात वर्षधर पर्वत अन्य सात महानदिया पश्चिमार्द्ध धातकीखण्ड मे हैं और

सात क्षेत्र और सात वर्षधर पर्वत एव सात महानदियां उसके पूर्वार्द्ध में है। चौदह महानदियां लवण-समुद्र में प्रविष्ट होती है और चौदह कालोद समुद्र में। इस तरह कुल २८ महानदियों का वर्णन जैसे धातकीखंड मे किया गया है, वैसे ही पुष्करार्द्ध के विषय में भी जानना चाहिए।

इस सूत्र मे केवल शाश्वत क्षेत्र, पर्वत और महानदियां ही वर्णित है। पूर्वाभिमुखी महानदियां पुष्करोद समुद्र मे गिरती है और पश्चिमाभिमुखी महानदिया कालोद समुद्र में जा मिलती है।[1]

कुलकर और कल्पवृक्ष

मूल--जम्बूद्दीवे दीवे भारहे वासे तीयाए उस्सप्पिणीए सत्त कुलगरा हुत्था, जहा–

मित्तदामे सुदामे य सुपासे य सयंपभे।
विमलघोसे सुघोसे य महाघोसे य सत्तमे ॥१॥

जम्बूद्दीवे दीवे भारहे वासें इमीसे ओसप्पिणीए सत्तकुलगरा हुत्था, तं जहा–

पढमित्थ विमलवाहणे[1], चक्खुमं[2] जसमं[3] चउत्थमभिचंदे[4]।
तत्तो य पसेणइ[5], पुण मरुदेवे[6] चेव नाभी[7] य ॥२॥

एएसि णं सत्तण्हं कुलगराणं सत्त भारियाओ हुत्था, तं जहा—

चंदजसा[1] चंदकांता[2], सुरूव[3] पडिरूव[4] चक्खुकंता[5] य।
सिरिकंता[6] मरुदेवी[7], कुलगर इत्थीण नामाइं ॥३॥

जम्बूद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए सत्त कुलगरा भविस्संति–

मित्तवाहणे सुभोमे य, सुप्पभे य सयंपभे।
दत्ते सुहुमे (सुहे सुरूवे य) सुबंधू य, आगमेस्सिण होक्खइ ॥४॥

विमलवाहणे णं कुलगरे सत्तविहा रुक्खा उवभोगत्ताए हव्वमागच्छिसु, तं जहा–

---

१ पुष्करार्द्ध द्वीप की पूर्वाभिमुखी महानदिया पूर्व की ओर और पश्चिमाभिमुखी महानदिया पश्चिम की ओर पुष्करोद समुद्र मे जा मिलती है। यह बात हृदयगम नही होती, क्योकि ढाई द्वीप से बाहिर कोई नदी नही बहती। इसका विशेष वर्णन जीवाभिगम सूत्र मे है जो कि पठनीय है।

मत्तंगया य भिंगा, चित्तंगा चेव होंति चित्तरसा ।
मणियंगा य अणियणा, सत्तमगा कप्परुक्खा य ॥५॥ ।१६।

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षेऽतीतायामुत्सर्पिण्यां सप्त कुलकरा अभवन्, तद्यथा—

मित्रदामा सुदामा च, सुपार्श्वश्च स्वयंप्रभ ।
विमलघोषः सुघोषश्च, महाघोषश्च सप्तम. ॥ १ ॥

जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां सप्त कुलकरा अभवन्, तद्यथा—

प्रथमोऽत्र विमलवाहन¹श्चक्षुमान्², यशस्वान्³ चतुर्थोऽभिचन्द्र⁴ ।
ततश्च प्रसेनजित्⁵ पुनर्मरुदेवश्चैव⁶ नाभिश्च⁷ ॥ २ ॥

एतेषां सप्तानां कुलकराणां सप्त भार्या अभवन्, तद्यथा—

चन्द्रयशा¹ चन्द्रकान्ता², सुरूपा³ प्रतिरूपा⁴ चक्षुकान्ता⁵ च ।
श्रीकान्ता⁶, मरुदेवी⁷, कुलकरस्त्रीणां नामानि ॥ ३ ॥

जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां सप्त कुलकरा भविष्यन्ति, तद्यथा—

मित्रवाहनः सुभोमश्च, सुप्रभश्च स्वयंप्रभः ।
दत्तः सूक्ष्मः (शुभ. सुरूपश्च) सुबन्धुश्च, आगमिष्यति भविष्यन्ति ॥४॥

विमलवाहने कुलकरे सप्तविधा वृक्षा उपभोग्यतया हव्वमागच्छन्, तद्यथा—

मत्ताङ्गकाश्च भृङ्गाश्च, चित्राङ्गाश्चैव भवन्ति चित्तरसाः ।
मण्यङ्गाश्चानग्नाः सप्तमका. कल्पवृक्षाः ॥ ५ ॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरतक्षेत्र में भूतकाल की उत्सर्पिणी में सात कुलकर उत्पन्न हुए, जैसे—मित्रदामा, सुदामा, सुपार्श्व, स्वयंप्रभ, विमलघोष और महाघोष ।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरतक्षेत्र मे इस अवसर्पिणी काल में सात कुलकर हो चुके है, जैसे—विमलवाहन, चक्षुमान् यशस्वान् अभिचन्द्र, प्रसेनजित्, मरुदेव और नाभि ।

इन कुलकरो की सात भार्यायें थी, जंसे—चन्द्रयशा, चन्द्रकान्ता, सुरूपा, प्रतिरूपा, चक्षुकान्ता, श्रीकान्ता, मरुदेवी ।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरतक्षेत्र मे आगामी उत्सर्पिणी काल मे सात

कुलकर होंगे, जैसे—मित्रवान, सुभौम, सुप्रभ, स्वयंप्रभ, दत्त, सूक्ष्म तथा शुभ (सुरूप और सुबन्धु) ये सात कुलकर भविष्यत् काल में होंगे।

विमलवाहन कुलकर के समय मे सात प्रकार के वृक्ष तत्कालीन मनुष्यों के उपभोग के लिये होते थे, जैसे—मदजनक स्वाद वाले फलों के देनेवाले मत्तांग, नाना प्रकार के पात्र देनेवाले भृंग वृक्ष, पुष्पों की मालाएं देनेवाले, विविध रसों के देनेवाले, विविध आभूषणों को देनेवाले, विविध वस्त्र प्रदान करनेवाले, इनके अतिरिक्त चिन्तित वस्तुओं के देने वाले। ये सब उक्त प्रकार के फल ही है, इन्हें देनेवाले वृक्षों को ही कल्पवृक्ष कहा गया है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे जम्बूद्वीप के क्षेत्र वर्षधर पर्वत और महानदियो आदि का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार कुलकर आदि का परिचय देते है। अपने-अपने समय मे मनुष्यो के लिये जो मर्यादाए बाधते है उन्हें कुलकर करते है। भरतक्षेत्र में अतीत काल की उत्सर्पिणी मे सात कुलकर हुए है—मित्रदाम, सुदाम, सुपार्श्व, स्वयप्रभ, विमलघोप, सुघोष और महाघोप। २४वे तीर्थङ्कर के शासनकाल के अवसान मे मित्रदाम नामक कुलकर हुआ है और अन्त में महाघोष कुलकर, उसके बाद यौगलिक युग प्रारभ हुआ।

इस अवसर्पिणीकाल के भरत क्षेत्र मे सात कुलकर हुए है जैसे कि—विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वान, अभिचन्द्र, प्रसेनजित, मरुदेव और नाभि। इन सात कुलकरों की क्रमश. सात भार्याए हुई हैं उनके नाम चन्द्रयशा, चन्द्रकान्ता, सुरूपा, प्रतिरूपा, चक्षुकान्ता, श्रीकान्ता और मरुदेवी थे।

जम्बूद्वीप के अतर्गत भरतक्षेत्र मे आनेवाली उत्सर्पिणीकाल मे सात कुलकर होंगे, मित्रवाहन सुभौम, सुप्रभ, स्वयप्रभ, दत्त, सूक्ष्म और सुबधु।

विमलवाहन कुलकर के युग मे दस प्रकार के कल्पवृक्षो मे से सात प्रकार के कल्पवृक्ष रह गए थे जो उस काल मे मनुष्यो की आवश्यकताए पूरी करते थे। अकर्मभूमि मे होनेवाले युगलियो की आवश्यकताओ को पूरी करनेवाले वृक्ष कल्पवृक्ष कहलाते है। उनके दस भेद हैं।—

१. शरीर के लिये पौष्टिक रस देनेवाले "मतग कल्पवृक्ष" कहलाते है।

२ पात्र आदि देनेवाले 'भृताग कल्पवृक्ष" होते है।

३ विविध प्रकार के वादित्र अर्थात् बाजे देनेवाले "त्रुटितांग कल्पवृक्ष" होते है।

४ दीपक का काम देनेवाले कल्पवृक्ष "दीपाग कल्पवृक्ष" कहलाते है।

५ सूर्य के समान प्रकाश देनेवाले वृक्ष "ज्योति-रग कल्पवृक्ष" होते है।

६. विविध प्रकार के फूल देनेवाले वृक्ष "चित्राग कल्पवृक्ष" कहलाते हैं।

७ विविध प्रकार के भोजन देनेवाले वृक्ष "चित्ररस कल्पवृक्ष" कहलाते है ।

८ विविध प्रकार के आभूषण देनेवाले "मणि अगा कल्पवृक्ष" होते है ।

९ मकान की तरह आश्रय देनेवाले कल्पवृक्ष "गेहाकार कल्पवृक्ष" कहलाते है ।

१० वस्त्र आदि देनेवाले कल्पवृक्ष "अणियण कल्पवृक्ष" कहलाते है ।

इन दस प्रकार के कल्पवृक्षो से युगलियो की इच्छाए एव आवश्यकताए पूरी होती हैं। तीसरे चौथे और पांचवे प्रकार के कल्पवृक्षो का विमलवाहन के युग मे व्यवच्छेद हो चुका था ।

दण्ड-नीति

मूल—सत्तविहा दंडनीई पण्णत्ता, तं जहा–हक्कारे, मक्कारे, धिक्कारे, परिभासे, मंडलबंधे, चारए, छविच्छेए ।१७।

छाया—**सप्तविधा नीतिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—हक्कारो, मक्कारो, धिक्कारः, परिभाषा, मण्डलबन्धः, चारकः, छविच्छेदः ।**

शब्दार्थ—**सत्तविहा दंडनीई पण्णत्ता, तं जहा**—सात प्रकार की दण्डनीति कथन की गई है, जैसे; **हक्कारे**—हा ! ऐसा मत करो, **मक्कारे**—मा ! ऐसा मत करो; **धिक्कारे**—धिक् ! **परिभासे**—कोपातुर होकर उपालम्भ देना, **मंडलबंधे**—इस स्थान से बाहर मत जाओ; **चारए**—चारकशाला और; **छविच्छेए**—हस्तादि अवयवो का छेदन कर देना ।

मूलार्थ—सात प्रकार की दण्डनीति वर्णन की गई है, जैसे–प्रथम और द्वितीय कुलकर के समय मे हक्कार और तृतीय एव चतुर्थ कुलकर के समय मे मक्कार तथा पञ्चम छट्ठे और सातवे कुलकर के समय मे धिक्कार नामक-नीति का प्रचलन था । भगवान ऋषभदेव के समय मे परिभाषण अर्थात् अपराधी को कोपयुक्त होकर उपालम्भ देना और मण्डलबन्ध अर्थात् अमुक क्षेत्र से बाहर न जाना रूप दण्ड-नीति थी । भरत चक्रवर्ती के समय में चारकशाला और छविच्छेद नामक अर्थात् अङ्गोपांगो को काट डालने की नीति प्रचलित थी ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में कुलकरो का वर्णन किया गया है, कुलकरो से ही दडनीति का आरम्भ और परिसमाप्ति होती है। अपराधी को दुबारा अपराध करने से रोकने के लिये कुछ कहना या ताडित करना दंड-नीति है। अपराधी को शिक्षा देने के लिये और लोगो की रक्षा के लिये दडनीति का आविर्भाव हुआ करता है। प्रस्तुत सूत्र में यह दडनीति सात प्रकार की बताई गई है, जैसे कि—

१. **हक्कारे**—'हा ! तुमने यह क्या किया ?' इस प्रकार कहना। हक्कार मात्र कहने से ही अपराधी यह मानता था कि मेरा सर्वस्व छिन गया है, भविष्य मे पुनः वह किसी भी अपराध कार्य मे प्रवृत्ति नही करता था। इस नीति का प्रचलन पहले और दूसरे कुलकर के युग मे था।

२. **मक्कारे**—'ऐसा काम फिर मत करना।' इस तरह निषेध करना, यह मक्कार नीति है। तीसरे और चौथे कुलकर के युग मे जब कोई व्यक्ति बडा अपराध करता था तब मक्कार नीति से काम लिया जाता था। 'मा' शब्द सुनते ही वह अपराधी अपने आपको जैसे कोई सर्वस्व खो बैठा हो ऐसे मानने लग जाता था, किन्तु साधारण अपराध के लिये 'हा' शब्द का ही प्रयोग किया जाता था।

३. **धिक्कारे**—पाचवे, छट्टे और सातवे कुलकर के समय मे धिक्कारने अर्थात् फटकारने की नीति प्रवृत्त हुई। जघन्य अपराध मे हक्कार नीति, मध्यम अपराध मे मक्कार मीति, सब से बड़े अपराध में धिक्कार नीति का प्रयोग होता था। कुलकरो के युग मे तो पूर्वोक्त तीन दड नीतिया होती थी।

४. **परिभासे**—अपराधी को क्रोध के साथ उपालम्भ देना और उसे कठोर एव कर्कश शब्दो से झिड़कना, उसे अपमानित करना परिभाष-दण्ड नीति मानी गई है।

५. **मंडलबधे**—अपराधी को नियमित क्षेत्र से बाहर जाने से रोक देना अर्थात् उसे नजरबद कर देना या देशनिकाला दे देना मण्डल-बन्ध दण्डनीति कहलाती है। वृत्तिकार लिखते है **"मंडलं-इङ्गितं-क्षेत्रं तत्र बन्धो—नास्मात् प्रदेशाद् गन्तव्यमित्येव वचनलक्षणं पुरुषमण्डल परिवारणलक्षणो वा।'**

६. **चारए**—सबसे बड़े अपराधी को जेलखाने मे बद करना। जेल को ही कारागृह और गुप्तिगृह भी कहा जाता था। महीनो की या वर्षो की कैद की सजा देना चारक नीति कहलाता है।

७. **छविच्छेए**—हाथ, पाव, नाक, कान आदि अवयवो का छेदन करना छविच्छेद दण्ड-नीति मानी गई है। जब कोई उक्त छ नीतियो का उल्लघन कर जाता था तब सातवी नीति का आविष्कार हुआ।

इसमें से अन्तिम चार नीतिया भरत चक्रवर्ती के युग मे प्रचलित थी। कुछ आचार्यो का अभिमत है कि परिभाषण और मण्डलबध ये दो दडनीतिया ऋषभदेव भगवान के शासन मे प्रचलित हुईं और अन्तिम दो दड नीतिया भरत चक्रवर्ती के शासन मे प्रवृत्त हुई। नीतियो का प्रचलन चाहे कभी भी हुआ हो, परन्तु यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उस युग मे प्राणदड नही दिया जाता था। जुर्माना और प्राणदड की नीति पीछे से प्रवृत्त हुई है। इसीके आधार पर नीति के अनेक ग्रथो का निर्माण हुआ। जैसे-जैसे अपराधो की वृद्धि होने लगी, वैसे-वैसे अपराधी के सुधार के

लिये तथा जनता की रक्षा के लिये दडनीति का विकास होता चला गया। अपराध के अनुसार अपराधी को दण्ड देना न्याय है और न्याय ही राजा का कर्त्तव्य है। न्याय भी अहिंसा का ही दूसरा रूप है।

चक्रवर्ती के एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय रत्न

मूल—**एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंत चक्कवट्टिस्स णं सत्त एगिंदियरयणा पण्णत्ता, तं जहा—चक्करयणे, छत्तरयणे, चम्मरयणे, दंडरयणे, असिरयणे, मणि-रयणे, काकणिरयणे।**

एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स सत्त पंचिंदियरयणा पण्णत्ता, तं जहा—सेणावइरयणे, गाहावइरयणे, वड्ढइरयणे, पुरोहियरयणे, इत्थिरयणे, आसरयणे, हत्थिरयणे।१८।

छाया—एकैकस्य राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्तिनः सप्तैकेन्द्रियरत्नानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—चक्ररत्नं, छत्ररत्नं, चर्मरत्नं, दण्डरत्न, असिरत्नं, मणिरत्नं, काकिणीरत्नम्।
एकैकस्य राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्तिनः सप्त पञ्चेन्द्रियरत्नानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—सेना-पतिरत्नं, गाथापति-रत्नं, वर्द्धकि-रत्नं, पुरोहित-रत्नं, स्त्री-रत्नम्, अश्व-रत्नं, हस्ति-रत्नम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—एक एक चातुरन्त चक्रवर्ती राजा के पास रहनेवाले सात एकेन्द्रिय-रत्न वर्णन किये गए है, जैसे—चक्र-रत्न, छत्र-रत्न, चर्म-रत्न, दण्ड-रत्न, असि रत्न, मणि-रत्न और काकणी-रत्न।
एक एक चातुरन्त चक्रवर्त्ती राजा के अधिकार मे रहनेवाले सात पञ्चे-न्द्रिय रत्न कहे गये है—सेनापति-रत्न, गाथापति-रत्न, वार्धकि-रत्न, पुरोहित-रत्न, स्त्री-रत्न, अश्व-रत्न, हस्ति-रत्न।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे दण्डनीति का वर्णन किया गया है। सामनीति, दामनीति, भेदनीति और दण्ड-नीति के प्रवर्तक चक्रवर्ती ही होते है, नीति की प्रवृत्ति रत्नसमृद्धि से होती है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे उनकी रत्न-समृद्धि का वर्णन किया गया है। प्रत्येक चक्रवर्ती राजा के पास सात एकेन्द्रिय-रत्न होते

हैं। अपनी जाति में जो सर्वोत्कृष्ट अद्वितीय एव सर्वश्रेष्ठ पदार्थ हो उसे रत्न कहा जाता है। चक्र-रत्न, छत्र-रत्न और दड-रत्न इन तीन रत्नो का व्यास चार हाथ प्रमाण होता है। चर्म-रत्न दो हाथ प्रमाण का हुआ करता है। खड्ग-रत्न ३२ अगुल प्रमाण होता है। मणि-रत्न चार अगुल प्रमाण लम्बा और दो अगुल प्रमाण चौड़ा होता है। काकणी-रत्न भी चार अगुल प्रमाण ही होता है। ये सब पृथिवी-परिणाम रूप है।

प्रत्येक चक्रवर्त्ती राजा के अधीन सात पचेन्द्रिय रत्न होते है, जैसे कि सेनापति, गृहपति अर्थात् कोष्ठागार का अधिकारी, वर्द्धकी अर्थात् सूत्रधार अथवा बढ़ई, पुरोहित अर्थात् शान्तिकर्म-कारी, स्त्री-रत्न, अश्व-रत्न और हस्तीरत्न।

इन १४ रत्नो के एक-एक हजार देव रक्षक होते है। सोलह हजार देव और बत्तीस हजार मुकुटधर राजा ये सब महाराजा चक्रवर्ती के आधीन रहकर उन की सेवा किया करते है। इन १४ रत्नों की उपयोगिता का वर्णन जबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र मे विस्तृत रूप से प्राप्त होता है।

दुषमकाल और सुषमकाल के लक्षण

मूल—सत्तहिं ठाणेहिं ओगाढं दुस्समं जाणेज्जा, तं जहा—अकाले वरिसइ, काले ण वरिसइ, असाहू पुज्जंति, साहू ण पुज्जंति, गुरूहिं जणो मिच्छं पडिवन्नो, मणोदुहया, वइदुहया।

सत्तहिं ठाणेहिं ओगाढं सुसमं जाणेज्जा, तं जहा—अकाले ण वरिसइ, काले वरिसइ, असाहू ण पुज्जंति, साहूपुज्जंति, गुरूहिं जणो सम्मं पडिवन्नो, मणोसुहया, वइसुहया, ।१९।

छाया—सप्तभिः स्थानैरवगाढां दुःषमां जानीयात्, तद्यथा—अकाले वर्षति, काले न वर्षति, असाधवः पूज्यन्ते, साधवो न पूज्यन्ते, गुरुषु जनो मिथ्याप्रतिपन्नः, मनोदुःखिताः, वाग्दुःखिताः।

सप्तभिः स्थानैरवगाढां सुषमां जानीयात्, तद्यथा—अकाले न वर्षति, काले वर्षति, असाधवो न पूज्यन्ते, साधवः पूज्यन्ते, गुरुषु जनः सम्यक् प्रतिपन्नः, मनःसुखता, वाक्सुखता।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सात कारणो से दुषमकाल जाना जाता है, जैसे कि—अकाल में वर्षा होती

है, समय पर वर्षा नही होती, असाधुओं की प्रतिष्ठा होती है, साधुओ की नही गुरुजनो पर मिथ्या भाव होता है, प्राणी मन से दु खी रहते है और वचन से दु·खी रहते है।

सात कारणों मे सुषमकाल जाना जाता है, जैसे—वर्षा समय पर होती है, असमय में वर्षा नही होती, साधुजन प्रतिष्ठा पाते है, असाधु जनों की प्रतिष्ठा नहीं होती, गुरुजनों पर सम्यग्भाव होता है, मन सुखी होता है और वचन सुख रूप होते है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में चक्रवर्ती की रत्न-समृद्धि का वर्णन किया गया है। जब किसी पुरुष-रत्न का अभाव होता है उस समय दुषम-काल का प्रवर्तन होता है। सात लक्षणों मे दुषमा काल का प्रवर्तन हो चुका है, यह समझ लिया जाता है, जैसे कि—

१ जिस समय देश में वर्षा की आवश्यकता न हो, उस समय वर्षा का होना।
२ जिस समय देश में वर्षा की आवश्यकता हो उस समय वर्षा न होना।
३ जब असयत विश्वासघाती, हिंसक, असत्यवादी एवं व्यभिचारी, मांस-मदिरा आदि का प्रयोग करनेवाले असाधु पुरुषो की प्रतिष्ठा ससार में बढ जाती है, तब जाना जाता है कि दु षमकाल का प्रवर्तन हो चुका है।
४ जब साधुजनो की पूजा-प्रतिष्ठा जनता के हृदय मे न रहे तथा उनकी विनय-भक्ति कम हो जाय तो समझ लेना चाहिए कि दुःषमकाल आरम्भ हो चुका है।
५ माता-पिता, धर्माचार्यो एव गुरुजनों मे मिथ्याभाव रखना अर्थात् उनका सम्मान न होना, उनकी आज्ञा का उल्लघन होना उनके प्रति अशिष्ट व्यवहार होना ये सब लक्षण दु षमकाल के ही माने गए है।
६ मन से दुखी होना या मन मे जनता का दुखी रहना दुषमकाल का लक्षण है।
७ वचन को पाकर दुखी होना या वचन से दुखी होना, अर्थात् कलह एव वाग्युद्ध हो तथा जनता मे वाणी का विवेक न रह जाय तो समझ लेना चाहिए कि दुषम-काल प्रवृत्त हो चुका है।

उपर्युक्त सात लक्षणो से जाना जाता है कि दुषमकाल अपनी चरम-सीमा पर पहुचा हुआ है।

सुषमकाल के सात लक्षण

असमय पर वर्षा का न होना, समय पर वर्षा का होना, असाधुजनो की पूजा न होना, साधुजनो की पूजा-प्रतिष्ठा एव सम्मान का होना, माता-पिता एव धर्माचार्यो के प्रति विनय का व्यवहार होना, जनता का मन से सुखी रहना, वचन से सुखी होना अर्थात् जनता मे वाणी का विवेक होना, जब

ये बाते विशेषतया उत्पन्न हों, तब जानना चाहिए कि सुख रूप सुषम-काल आ रहा है ।

इससे यह स्वय सिद्ध हो जाता है कि समय भी कर्म-प्रकृतियो के उदय में एक कारण है, अतः इस दृष्टिकोण को लक्ष्य मे रखकर सूत्रकार ने इस विषय का विवेचन किया है । इसके अवान्तर अनेक भेद होने पर भी उन सबका अन्तर्भाव उक्त सात भेदों मे ही हो जाता है।

संसार-समापन्नक जीव

मूल—सत्तविहा संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—नेरइया, तिरिक्ख-जोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, मणुस्सा, माणुसीओ, देवा, देवीओ ।२०।

छाया—सप्तविधा संसारसमापन्नकाः जीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैरयिकाः, तिर्यग्योनिकाः, तिर्यग्योनिकाः, मनुष्याः, मानुष्यः, देवाः, देव्यः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सात प्रकार के संसारी जीव वर्णन किये गए है, जैसे—नारको, तिर्यञ्च, तिर्यञ्ची, मनुष्य, मानुषी, देव और देवियां ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे वर्णित दुःषम और सुषम समय ससारी जीवो के दुःख और सुख के लिये होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे ससारी जीवो का वर्णन किया गया है । नारकी एकान्त नपुंसक होते है इनकी गणना न पुरुषो मे होती है और न स्त्रियो मे । तिर्यञ्च और मनुष्य में स्त्री पुरुष और नपुंसक तीनों तरह के जीव होते है, किन्तु देवो मे पुरुष और स्त्री दो ही होते है । इसी कारण सूत्रकार ने कहा है—नारकी, तिर्यञ्च, तिर्यञ्ची, मनुष्य, मानुषी देव और देवी । इन सात भेदों में सभी जीवों का अन्तर्भाव हो जाता है । इन योनियो मे जीव कर्मानुसार सुख दुःख के चक्र मे परिभ्रमण करते रहते है ।[1]

आयु-विनाश के कारण

मूल—सत्तविहे आउभेए पण्णत्ते, तं जहा—

1 विस्तार के लिये देखिए जीवाभिगम सूत्र की सातवी प्रतिपत्ति ।

अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणापराघाए।
फासे आणापाणू, सत्तविहं भिज्जए आउं ।२१।

छाया—सप्तविध आयुर्भेदः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—

अध्यवसायं निमित्तम्, आहारो वेदना पराघातः।
स्पर्श आनप्राणं, सप्तविधं भिद्यते आयुः॥

शब्दार्थ—**सत्तविहे**—सात प्रकार से; **आउभेए पण्णत्ते, तं जहा**—आयु का भेद अर्थात् विनाश कथन किया गया है, जैसे कि; **अज्झवसाण**—अध्यवसाय मे अनन्त राग-द्वेष, भय आदि होने से; **निमित्ते**—शस्त्रादि का निमित्त होने पर; **आहारो**—अधिक आहार करने से; **वेयणा**—शरीर में अत्यन्त पीड़ा होने से; **पराघाए**-पराघात अर्थात् गिरने आदि से; **फासे**—सर्प आदि का स्पर्श होने से; **आणापाणू**—श्वास-प्रश्वास का निरोध होने से; **सत्तविहं**—इन सात कारणों से; **आउं**—आयु का; **भिज्जए**—भेद अर्थात् विनाश होता है।

मूलार्थ—सात कारणों से सोपकर्मी जीवों की आयु का विनाश हो जाता है, जैसे कि अत्यन्त राग आदि होने के कारण, शस्त्र आदि का निमित्त होने पर, अधिक आहार करने के कारण, शारीरिक पीड़ा की अधिकता से, गर्त आदि में गिरने से, सर्प आदि का स्पर्श होने पर, श्वास-प्रश्वास का सर्वथा निरोध होने से। ये सात कारण सोपक्रमी जीवों की आयु का भेद करने-वाले हैं।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में ससार-समापन्नक जीवो का वर्णन किया गया है। आयु का बन्ध और आयु का भेदन संसारी जीवों का ही होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे आयु-भेदन के सात कारणो पर प्रकाश डाला गया है।

जीव आयु का बंध दो तरह से करता है, निरुपक्रमायु और सोपक्रम आयु। स्वतः पूर्ण हुए विना जो आयु किसी बाहरी निमित्त के द्वारा समाप्त हो जाती है, उसे सोपक्रम आयु कहा जाता है। जिस आयु का वध तीव्र कर्म-भोग परिणामों से होता है, वह आयु निरुपक्रम कहलाती है। सोपक्रम आयु का वध मद परिणामो से होता है। जैसे अधिक प्यास लगने पर गौ बीच मे विना रुके लगातार पानी पीती है, पेट भर जाने पर ही या पूर्णतया प्यास शान्त होने पर ही वह जल से मुह को उठाती है, वैसे ही जिस जीव के द्वारा आयु का वध प्रारम्भ कर लिया और मध्य मे विना ही विश्राम लिये

तीव्र परिणामों से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निरन्तर आयु का बन्ध किया जाता है। जब उस आयुष्य-कर्म का उदय होता है तब किसी भी प्रबल निमित्त से उसका भेदन नही हो सकता। ऐसी आयु को ही निरुपक्रम आयु कहते है।

जब गौ प्यास से पीडित नही होती है, तब यदि उसे कहीं पानी पीना ही पड़े, तो वह मद परिणामो से पीती है, धीरे-धीरे पीती है। इतना ही नही बीच-बीच में विश्राम भी करती है। इसी तरह आयु के वध-काल में जब जीव मद परिणामो से आयु का बध करता है, तब वह आयु सोपक्रम कहलाती है। उस आयु कर्म का उदय जब जिस रीति से होता है वह उसी रीति से पूरा नही होता, तब उसका भेदन किसी न किसी कारण से हो जाना सुनिश्चित होता है। उसके जीवन मे एक दो तीन अधिक से अधिक आठ अवसर आ सकते है—आयु भेदन के। निश्चयनय-निरुपक्रम आयु का अनुसरण करता है और व्यवहार-नय सोपक्रम आयु का।

सोपक्रम आयु की समाप्ति के सात कारण निर्दिष्ट किए गए है, जैसे कि—

१. **अज्झवसाणे**—अतिहर्ष, अतिशोक और अतिभय से आयु का भेदन हो जाता है।

२. **निमित्ते**—दड, कशा (चाबुक), अस्त्र-शस्त्र आदि के लगने से भी आयु का भेदन होता है।

३. **आहारे**—प्रतिकूल आहार करने से, अत्यधिक गरिष्ठ आहार करने से आयु टूट जाती है।

४. **वेयणा**—प्राणनाशक शारीरिक पीडा हो जाने पर भी आयु का भेदन हो जाता है।

५. **पराघाए**—किसी गड्ढे आदि मे गिरने या वृक्ष या मकान आदि के गिर जाने से, बिजली के गिरने से, या अन्य किसी दूसरी वस्तु के आघात से आयु का समाप्त हो जाना पराघात कहलाता है।

६. **फासे**– विष के स्पर्श से या विषाक्त-प्राणियों के दश से तथा बिजली का स्पर्श लगने से भी आयु का भेदन हो जाता है।

७. **आणापाणू**—सास के रुक जाने से भी सोपक्रम आयु की समाप्ति हो जाती है।

उक्त सात कारणो से यह ध्वनित होता है कि सोपक्रम आयुवाले को उपर्युक्त सात कारणो से बचने का सर्वदा प्रयास करते रहना चाहिए—प्रमाण से अधिक भोजन न करना, पीडा का उपचार करना, गमन आदि क्रियाओ मे सावधान रहना, प्राणनाशक अस्त्र-शस्त्रो से बचाव करना, पानी एव विद्युत से सावधान रहना।

उक्त सात करणो से सोपक्रम आयु का ही भेदन होता है, निरुपक्रम आयु का नही। कहा भी है—**"अयं चायुर्भेदः सोपक्रमायुषामेव नेतरेषामिति।"**

प्रश्न होना सभव है कि यदि आयु का भेदन माना जाए तो कृतनाश और अकृताभ्यागम दोषो का उपस्थित होना निश्चित ही है, क्योकि जैसे किसी की आयु सौ वर्ष की है, यदि किसी कारण से बीस वर्ष की आयु मे उसका देहान्त हो गया, अस्सी वर्ष की आयु का बीच मे ही नाश हो गया तो इससे कृतनाश हुआ और जिस क्रिया से आयु का भेदन हुआ उससे अकृत अभ्यागम हुआ, इस प्रक्रिया से तो कभी किसी का मोक्ष नही हो सकता?

इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि जैसे भस्मरोग उत्पन्न होने पर रोगी सौ वर्ष का भोग्य

पदार्थ स्वल्पकाल में भक्षण कर लेता है, जैसे दीर्घरज्जू का पुञ्ज अग्नि मे शीघ्र भस्म हो जाता है, जैसे फैलाया हुआ गीला वस्त्र शीघ्र ही सूख जाता है वैसे ही आयु के विषय मे जानना चाहिए, इससे न कृतनाश और न ही अकृत अभ्यागम होता है। इस विषय की स्पष्टता के लिये कुछ गाथाए मननीय है, जैसे कि—

"कम्मोवक्कामिज्जइ अपत्तकालंपि जइ तओ पत्ता।
अकयागमकयनासा मोक्खगाणासासओ दोसा॥"

"अत्रोच्यते-यथा वर्षशतभोग्यभक्तमप्यग्निकव्याधितस्याल्पेनापि कालेनोपभुञ्जानस्य न कृतनाशो नाप्यकृताभ्यागमस्तदिहापीति, आह च—

नहि दोह कालियस्सवि णासो तस्साणुभूइओ खिप्पं।
बहुकालाहारस्स व दुयमग्गिय रोगिणो भोगो॥

सव्वं च पएसतया भुज्जइ कम्ममणुभागओ भइयं।
तेणावस्साणुभवे के कयनासादओ तस्स॥

किंचिदकालेवि फलं पाइज्जइ पच्चए य कालेण।
तह कम्मं पाइज्जइ कालेणवि पच्चए अन्न॥

जह वा दीहा रज्जू डज्भइ कालेण पुंजिय खिप्पं।
वितओ पडो व सूस्सइ पिंडीभूओ व कालेणं॥"

इन गाथाओं का भाव ऊपर लिखा जा चुका है।

सर्व जीव-भेद

मूल—सत्तविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, तसकाइया, अकाइया।

अहवा सत्तविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—कण्हलेसा जाव सुक्कलेसा, अलेसा।२२।

छाया—सप्तविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिकाः, अप्कायिकाः, तेजस्कायिकाः, वायुकायिकाः, वनस्पतिकायिकाः, त्रसकायिकाः, अकायिकाः।
अथवा सप्तविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्याः, अलेश्याः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सात प्रकार के सर्वजीव कथन किये गए है, जैसे—पृथिवीकायिक जीव,

अप्कायिक जीव, अग्निकायिकजीव, वनस्पतिकायिक जीव, त्रसकायिक जीव, अकायिक अर्थात् मुक्त आत्मा।

अथवा सात प्रकार के सर्व-जीव वर्णन किये गए है कृष्णलेश्या वाले जीवों से लेकर शुक्ललेश्यावाले जीवों तक छः प्रकार के संसारी जीव और सातवे अलेश्यी अर्थात् मुक्त आत्मा।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे आयु-भेद का वर्णन किया गया है। आयुभेद छः कायिक जीवो मे अत. होता है प्रस्तुत सूत्र मे जीव के उन्ही सात रूपो का वर्णन किया गया है वे सात रूप है—पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक। ये छः प्रकार के जीव ससारी हैं, अकायिक जीव सिद्ध भगवान हैं।

लेश्या की दृष्टि से सर्वजीव छ प्रकार के है, जैसे—कृष्णलेश्यी, नीललेश्यी, कापोतलेश्यी, पद्म-लेश्यी, शुक्ललेश्यी और कुछ विशुद्ध आत्माए लेश्या-मुक्त भी होती हैं। इनमे से पहले छ भेद ससारी जीवो मे पाए जाते है, किन्तु अलेश्यी १४वे गुण स्थान मे पहुचे हुए अयोगी केवली तथा सिद्ध भगवन्त होते हैं। वे छः लेश्याओ से सर्वथा रहित होते है।[1]

चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का उत्थान और पतन

मूल—बंभदत्ते णं राया चाउरंतचक्कवट्टी सत्त धणूइं उड्ढं उच्चत्तेण, सत्त य वाससयाइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा अहे सत्तमाए पुढवीए अप्पइट्ठाणे नरए णेरइयत्ताए उववन्ने।२३।

छाया—ब्रह्मदत्तः खलु राजा चातुरन्तचक्रवर्ती सप्तधनूंषि ऊर्ध्वमुच्चत्वेन, सप्त च वर्षशतानि परमायु पालित्वा कालमासे कालं कृत्वा अधः सप्तम्यां पृथिव्यामप्रतिष्ठाने नरके नैरयिकतयोत्पन्न.।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

1. विशद वर्णन के लिये देखिए जीवाभिगम सूत्र की सातवी प्रतिपत्ति।

मूलार्थ—चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त राजा ऊंचाई में सात धनुष ऊंचा था और सात सौ वर्ष की उत्कृष्ट आयु को पूरा कर काल के समय मृत्यु को पाकर अधोलोक की सातवीं पृथ्वी के अप्रतिष्ठान नामक सातवे नरक में नारकीय के रूप मे उत्पन्न हुआ ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र के अन्तिम अश मे लेश्यावान जीवो का वर्णन किया गया है, लेश्याओ मे कृष्णलेश्या की गणना प्रथम है और परमकृष्ण लेश्यी जीव सातवे नरक मे उत्पन्न होते है, अत इस सूत्र मे चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त के उत्थान और पतन का वर्णन किया गया है। चातुरन्त चक्रवर्ती महाराज ब्रह्मदत्त की सात धनुष की अवगहना अर्थात् शारीरिक ऊंचाई थी और वह सात सौ वर्ष की परमायु भोगकर मृत्यु के अनन्तर सातवे नरक के अप्रतिष्ठान नामक नारकावास मे नैरयिक के रूप मे उत्पन्न हुआ, क्योंकि केवल भौतिक सुख पतन का ही कारण है। आध्यात्मिक सुख ही वस्तुतः अनन्त सुख का मूल कारण माना गया है। जिसके पास यहां अनन्त भौतिक समृद्धिया थी, उसीने अनन्त दु:खो को प्राप्त किया। भौतिक सुख समृद्धि की लिप्सा अठारह तरह के पापो को जन्म देती है और उससे व्यक्ति अनन्त जीवो को मौत के घाट उतार देता है। इसी कारण भौतिक सुख समृद्धि दुर्गति एव दु:ख का मूल कारण माना गया है।

श्री मल्लिनाथ जी के साथ प्रव्रजित राजा

मूल—मल्ली णं अरहा अप्पसत्तमे मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, तं जहा—मल्ली विदेहरायवरकन्नगा, पडिबुद्धी इक्खागराया, चंदच्छाये अंगराया, रुप्पी कुणालाहिवई, संखे कासीराया, अदीणसत्तू कुरुराया, जियसत्तू पंचालराया ।२४।

छाया—मल्ली खलु अर्हन्नात्मसप्तमो मुण्डो भूत्वाऽगारादनगारिकतां प्रव्रजितः, तद्यथा—मल्ली विदेहराजवरकन्यका, प्रतिबुद्धिरिक्ष्वाकुराजः, चन्द्रच्छायोऽङ्गराज, रुक्मी कुणालाधिपतिः, शङ्खः काशीराजा, अदीनशत्रुः, कुरुराज., जितशत्रुः पञ्चालराजः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—अरिहन्त मल्लीनाथ जी छ. राजाओं के साथ राज्य को त्याग कर दीक्षित हुए, (उस समय छः दीक्षार्थी अन्य तथा सातवे स्वयं थे) जैसे—मल्लिनाथ जी विदेह देश के राजा की प्रधान पुत्री थी, प्रतिबुद्धि जो कि इक्ष्वाकु-

वंशीय राजा थे, चन्द्रच्छाय जो कि अंगदेश के राजा थे, कुणाल देश के राजा रुक्मी, काशो देश के राजा शंख, कुरुदेश के राजा अदीनशत्रु, और पाञ्चाल देश के राजा अजितशत्रु ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे दुर्गति प्राप्त चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का वर्णन किया गया है, अब सुगतिप्राप्त सात भव्य आत्माओं का परिचय देते हुए सूत्रकार सर्व प्रथम १९वे तीर्थङ्कर श्री मल्लिनाथ भगवान के प्रव्रज्या कल्याणक की चर्चा करते है। जिस समय श्री मल्लिनाथ जी ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी उस समय छः अन्य राजाओं ने भी साथ ही दीक्षा ग्रहण की। भगवान मल्लि नाथ के पूर्वभव के साथी होने के कारण यहां उन छ. राजाओ के नाम भी दिए गए हैं, जो उनके साथ प्रव्रजित हुए थे। यद्यपि भगवान के साथ तीन सौ स्त्रियो ने तथा तीन सौ पुरुषो ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी। तथापि इस प्रसग में पूर्वभव के साथी सात महामानवो का उल्लेख किया है महाबल प्रमुख उन सात मुनिवरों का पूर्वभव वृत्तान्त इस प्रकार है।

इस जवूद्वीप के अन्तर्गत पश्चिम महाविदेह के सलिलावति विजय की वीतशोका नामक राजधानी में महाबल नाम का राजा राज्य करता था। उसने छः समवयस्क मित्रों के साथ दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेते समय अन्य छः अनगारो ने महाबल अनगार से कहा कि आप जो तप करेंगे वही हम भी करेंगे। इस तरह एक समान तप करने का निश्चय करने पर भी मुनिवर महाबल अपनी विशेष आत्मोन्नति के लिये अन्य मुनियों से छिपाव रख कर यह सोचते हुए कि जैसे मैं इस भव में इनसे बड़ा हूं, वैसे ही जन्मान्तर मे भी मैं इन से बडा ही बनकर रहूं। कुछ उनसे भिन्न तपस्याए भी करने लगे। उन्होंने यह भी सोचा कि मेरा यह मनोरथ तभी सफल हो सकता है जब कि मेरी तप-या इनसे अधिक हो, अन्यथा नही। जितनी तपस्या मैं करता हू, उतनी ये भी करते है। इस प्रक्रिया से तो मेरे भावी भव में विलक्षणता नही आ पाएगी। इस भावना से ओतप्रोत होकर महाबल मुनिवर ने कपट-पूर्ण तपश्चर्या करनी प्रारम्भ की, जिसके परिणाम स्वरूप उन्होने स्त्रीनाम-गोत्र कर्म का उपार्जन किया। उसके बाद जीवन के किसी भी क्षण मे बीस बोलो की आराधना करते-करते उत्कृष्ट आत्म-साधना के द्वारा उन्होने तीर्थङ्कर-नाम-गोत्र कर्म का उपार्जन कर लिया। अपनी आयु पूर्णकर वे सात मुनिवर चौबीसवे जयत देवलोक के अनुत्तर-विमान मे देवता के रूप मे उत्पन्न हुए।

वहा बत्तीस सागरोपम की आयु पूर्ण करके महाबल का जीव मिथिला की राजधानी मे कुम्भ राजा की प्रभावती रानी के गर्भ से तीर्थङ्कर पद प्राप्त करने के लिये बालिका के रूप मे उत्पन्न हुआ। माता-पिता ने बालिका का नाम मल्लि रखा। दूसरे साथी भी जयत देवलोक से पृथ्वी पर आकर अयोध्या आदि नगरियो मे उत्पन्न हुए।

जब विदेहवर राजकन्या मल्लि की कुछ कम सौ वर्ष की आयु हुई, तब उसने अपने पूर्वभव के छ मित्रों को अवधिज्ञान के द्वारा जाना और देखा। उनको प्रतिबोध देने के लिये राजकन्या मल्लि ने अपने उद्यान मे पहले से ही एक गर्भ-गृह बनवा लिया। उसमे छः कक्ष थे, उन कक्षो के मध्य मे

अपनी स्वर्णमयी एक मूर्ति वनवाई। इन कक्षो की रचना इस प्रकार की गई थी कि अलग-अलग कक्षों से बैठे हुए व्यक्ति सोने की मूर्ति को तो देख सकते थे, किन्तु परस्पर एक दूसरे को नही। यह मूर्ति राजकन्या मल्लि के समान ही अतिसुन्दर थी। इस मूर्ति के मस्तक मे एक छिद्र था, जिसे कमल के आकार वाले ढक्कन से ढक दिया गया था। वह प्रतिदिन एक कवल भोजन और एक घूट पानी उसमे डालती रही।

मल्लिनाथ के पूर्वभव का एक साथी अयोध्या का राजा वना, जिसका नाम प्रतिबुद्धि था। एक दिन उसने महारानी पद्मावती के द्वारा रचाए गए नाग-यज्ञ मे पाच वर्णो के सुन्दर फूलो से गून्थी हुई वहुत ही सुन्दर माला देखी। आश्चर्य चकित होते हुए प्रतिवुद्धि राजा ने मत्री से कहा —तुमने क्या अन्यत्र कही ऐसी माला देखी है? मन्त्री ने उत्तर दिया—"कुम्भ राजा की कन्या मल्लिकुमारी के पास जो माला मैने देखी है उसे देखते हुए उसकी शोभा के आगे यह लाखवा अश भी नही है"। राजा ने मल्लिकु वरी के विपय मे पूछा वह कैसी है? मत्री ने कहा—"ससार मे उसके समान अन्य कोई सुन्दरी नही है; निश्चित ही वह विश्व मे अनन्य सुन्दरी है। राजा का मल्लिकुमारी के प्रति प्रेमाकर्षण एव अनुराग हो गया और उसे वरने के लिये उसके पिता कुम्भराजा के पास दूत भेज दिया।

उनका दूसरा साथी चद्रच्छाय अगदेश की राजधानी चपा मे राज्य करता था। वही पर अर्हन्नक नामक एक पोतवणिक् श्रावक भी रहता था। उसका विदेशो मे खूब व्यापार चल रहा था। एक वार यात्रा से लौटकर उसने चद्रच्छाय राजा को एक दिव्य कुण्डलो की जोडी भेट स्वरूप दी। राजा ने पूछा - "तुमने अनेकवार समुद्र-यात्राये की है, क्या कोई ऐसी वस्तु देखी है "जो हमारे जैसों के लिये भी आश्चर्यजनक हो?" उत्तर मे उस श्रावक ने कहा—"पहले तो नही, इस यात्रा मे मुझे धर्म से विचलित करने के लिये एक देव ने भयावने उपसर्ग दिए। जव मै उसके दिए हुए उपसर्गो से किंचिन्मात्र भी विचलित नहीं हुआ" तव उसने सतुष्ट होकर दिव्यकुण्डलो की दो जोडिया दी। उनमे से मैंने एक जोडी राजा कुम्भ को दी है। राजा कुम्भ ने वे ही दो कुण्डल मेरे सामने मल्लिकु वरी के कानो मे पहना दिये। वह भुवन-मोहिनी कन्या तीन लोक में अपने समान सौन्दर्य नही रखती। यह सुनकर चंद्रच्छाय राजा ने कु वरी को वरने के लिये कुम्भ राजा के पास एक दूत भेज दिया।

तीसरा साथी कुणाल देश की राजधानी श्रावस्ती मे रुक्मी नामक राजा के रूप में राज्य करता था। एक दिन उसने अपनी कन्या के चातुर्मासिकी स्नान का महोत्सव मनाने के लिये नगरी के चौराहे मे विशाल मडप वनवाया। जब कन्या स्नान करके सव प्रकार के वस्त्र आभूषणो से अलकृत होकर अपने पिता के चरणो मे प्रणाम करने के लिये आई। तव राजा ने उसे अपनी गोद मे वैठाकर उसके अदृष्ट पूर्व सौंदर्य को देखते हुए अपने मन्त्री से कहा—"ओ वर्षधर! क्या तुमने किसी कन्या का ऐसा स्नान महोत्सव देखा है?"

उसने कहा—"राजन्! विदेह-वर-कन्या का जो मैने स्नान महोत्सव देखा है, उस की अपेक्षा यह महोत्सव लाखवाँ हिस्सा भी नहीं है, यह सुनकर राजा ने राग-भाव से आकृष्ट होकर उस कन्या को वरने के लिये मिथिला की ओर अपना दूत भेज दिया।

उनके पूर्व भव का चौथा साथी शख काशी देश पर राज्य कर रहा था। एक वार मल्लि जी के पहले दिये हुए कु डलो की सन्धि खुल गई, उसे पुन जोडने के लिए कुम्भ राजा ने सुनारो को आदेश

दिया, किन्तु वे सुनार उन्हें पहले की तरह करने मे असमर्थ रहे। राजा ने सुनारों को अयोग्य जानकर अपने देश से उन्हें निकाल दिया। वे वाराणसी नरेश शख के पास चले गए। राजा के पूछने पर सुनारो ने अपनी सारी वात कह सुनाई और साथ ही मल्लि कु वरी के सौंदर्य की प्रशंसा की। महाराज शख ने राग से मोहित होकर उसे वरने के लिये अपना दूत मिथिला को भेज दिए।

उनके पूर्वभव का पाचवां साथी अदीनशत्रु हस्तिनापुर मे राज्य करता था। किसी समय मल्लिकु वरी के छोटे भाई मल्लदिन्न कुमार ने एक चित्र-सभा बनवाई। सभा-भवन को चित्रित करना प्रारम्भ कर दिया गया। उन चित्रकारों मे एक चित्रकार ने लब्धि-विशेष से सम्पन्न होने के कारण यवनिका के अदर मल्लिकुंवरी के पैर के अगूठे को देख लिया और उसने अपनी सम्पूर्ण कला-विज्ञता से मल्लिकु वरी का ऐसा चित्र बनाया, जिसमें मल्लिकुंबरी सजीव ही प्रतीत होती थी। मल्लदिन्न कुमार अपने अन्त:पुर के साथ उस चित्र-भवन में आया। क्रमश: चित्र देखते-देखते उसकी दृष्टि मल्लिकुमारी के चित्र पर पड़ी। वह उसे साक्षात् मल्लिकु वरी जानकर बडी बहिन के सामने इस प्रकार अविनय से सम्मुख आने के कारण लज्जित हुआ। उसकी धाय ने कहा, यह चित्र है साक्षात् मल्लिकुमारी नही। बडी बहिन का चित्र अयोग्य स्थान मे बनाने के कारण चित्रकार पर मल्लदिन कुंवर को बडा ही क्रोध आया और उसे प्राणदड की आज्ञा दी। सभी चित्रकारों ने मिलकर मल्लदिन्न कुमार के आगे प्रार्थना की कि ऐसे महान् गुणी कलाकार एव चित्रकार को फांसी की सजा नही देनी चाहिए। कुमार ने उनकी प्रार्थना पर ध्यान देते हुए चित्रकार के दाए हाथ का अगूठा कटवा दिया ताकि वह फिर ऐसा चित्र न बना सके और साथ ही उसे देश-निकाला दे दिया। वह चित्रकार हस्तिनापुर मे अदीनशत्रु राजा के पास चला गया। राजा के पूछने पर चित्रकार ने सारा वृतान्त कह सुनाया और उसकी रूप प्रशसा सुनकर अदीनशत्रु ने राग-भाव से आकृष्ट होकर उसे वरने के लिये अपना दूत मिथिला मे भेज दिया।

उनके पूर्वभव का छटा साथी जितशत्रु पचाल देश का अधिपति बनकर कांपिलपुर में राज्य करता था। एक बार चोखा नामक परिव्राजिका ने मल्लिकुंवरी के भवन मे प्रवेश किया। वह राजकन्या के समक्ष दान-धर्म और शौच-धर्म का उपदेश देने लगी और साथ ही मल्लि जी के साथ शास्त्रार्थ करने लगी। मल्लि जी ने उसे शास्त्रार्थ मे जीत लिया। निरुत्तर होकर गुस्से से भरी हुई वह परिव्राजिका राजा जितशत्रु के पास चली आई। राजा ने पूछा—'हे चोखे! तुम बहुत घूमती हो, क्या तुमने मेरी रानियो जैसी कोई सुन्दरी देखी है?' उसने कहा—'विदेह-राजकन्या को देखते हुए तुम्हारी जितनी भी सुन्दर रानिया है, उसकी सुन्दरता के समक्ष लाखवा अश भी नही है।' राजा जितशत्रु ने भी मल्लिकु वरी को वरने के लिये मिथिला में महाराज कुम्भ के पास अपना दूत भेज दिया।

छहो दूत राजा कुम्भ के पास पहुचे और उन्होने अपने-अपने राजा के लिये मल्लिकु वरी की याचना की। क्रोधाविष्ट राजा ने उन्हें दुत्कारा और अपद्वार से उन्हे बाहर निकाल दिया। दूतों के कहने से तथा उनको अपमानित करने से क्रोध मे आकर सभी राजाओं ने मिथिला पर चढाई कर दी। उनके आक्रमण की वात सुनकर कुम्भ राजा भी अपनी सेना को लेकर युद्ध के लिये तैयार होकर राज्य की सीमा पर जा पहुचा और वहा उनकी प्रतीक्षा करने लगा। जब दोनों ओर से घोर संग्राम होने

लगा तब कुम्भ राजा उनसे पराजित होकर अपनी नगरी में आ गया और दुर्ग के सभी महाद्वार बंद कर दिए। इधर उन छहों राजाओं ने दुर्ग के चारो ओर सशस्त्र सेनाए तैनात कर दी। विजय का कोई उपाय न देखकर व्याकुलित चित्त होकर राजा कुम्भ ने मल्लिकुंवरी के पास आकर सब बातें कह सुनाईं। मल्लि जी ने कहा—"आप एक-एक राजा के पास अलग-अलग दूत के द्वारा संदेश भेज दीजिए, उन से कह देना कि 'मल्लिकुमारी तुम्हे ही दी जाएगी। केवल तुम्ही आओ।" इस प्रकार क्रमश. छहों राजाओ को नगरी मे बुला लीजिए।

इस प्रकार सन्देश पाकर छहों राजा पूर्व-रचित गर्भगृह मे अलग-अलग छ कमरो मे बैठ गए। प्रत्येक को इतना ही ज्ञान था कि यहा केवल मैं ही हू, किन्तु एक को दूसरे का पता नही था। सामने की मूर्ति को साक्षात् मल्लिकुंवरी समझते हुए, वे अनिमेप दृष्टि से उसे देखने लगे। इतने ही मे उस कन्या ने वहा आकर मूर्ति का ढक्कन खोल दिया, जिससे दु सह्य दुर्गन्ध फैलने लगी। उसी दुर्गन्ध से व्याकुल होकर वे नाक ढाकने लगे और साथ ही उस मूर्ति से पराङ्मुख हो गए। मल्लि ने पूछा—"आपने नाक बंद करके दूसरी ओर मुंह क्यो फेर लिया? "आप सोचे कि सोने की मूर्ति मे डाला हुआ सुगंधित एव मनभावन आहार भी इस प्रकार दुर्गन्धित हो सकता है। मैं तो प्रतिदिन मनोज्ञ आहार का केवल एक कवल ही इस मे डालती रही हू। यह पुद्गल-परिणमनशील है। आप सोचे कि मलमूत्र, श्लेष्म आदि घृणित वस्तुओं से भरे हुए इस भौतिक शरीर मे इनका क्या परिणाम होता है? ऐसे गदे शरीर मे आप क्यो आसक्त हो रहे है? आत्मा को दुर्गति मे गिरानेवाले काम-भोगों को छोड दीजिए। क्या आप को याद नही कि हम सब जयन्त-विमान से आए है। उस विमान मे हम सब कितने लम्बे काल तक रहे हैं और उससे भी पहले मनुष्य-भव मे हम सब एक साथ गृहवास मे रहे है। जब प्रव्रज्या ग्रहण की तब भी हम सब साथ मे ही रहे। हम सब ने साथ मे रहने की प्रतिज्ञा की थी?" यह बात सुनकर सभी राजाओ के हृदय मे उठे हुए मोह के सभी बवण्डर शान्त हो गए और साथ ही मतिज्ञानावरणीय कर्म का विशेप क्षयोपशम हुआ। परिणाम स्वरूप छहो राजाओ को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ।

इसके अनन्तर मल्लि जी ने कहा—"मैं इस ससार से विरक्त होकर जैन भागवती दीक्षा लेने वाली हूं आप लोगो का क्या विचार है?" उन्होने कहा—"हम भी दीक्षित होगे।" तब मल्लि-कुमारी ने कहा—"यदि ऐसा ही है, तब तुम अपने-अपने नगर मे जाओ और अपने-अपने पुत्रो को राज्य सौप कर मेरे पास चले आओ।" इस बात को सब राजाओ ने स्वीकार कर लिया। उसके बाद मल्लिकुमारी उन्हे साथ लेकर कुम्भ राजा के पास गई। सभी राजाओ ने कुम्भ राजा के चरणो में प्रणाम किया और साथ ही क्षमा भी मागी। राजा कुम्भ ने भी उनका सत्कार-सम्मान किया और बडे प्रमोद के साथ उनको विदाई दी।

मल्लिकुमारी ने वर्षीदान देकर पौष शुक्ला एकादशी को तेले के साथ अश्विनी नक्षत्र मे ३०० पुरुष तथा ३०० स्त्रियों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। उन्होने जिस दिन दीक्षा ली उसी दिन उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होने केवलज्ञान होने के बाद उपर्युक्त छहो राजाओ को दीक्षित किया।

इस चरित्र से कई ऐतिहासिक सूचनाए प्राप्त हो रही है। मल्लिकुमारी जी मतिज्ञान, श्रुत-ज्ञान और अवधिज्ञान के धारी तो पहले से ही थे, गर्भावास मे ही उन्हे तीनो ज्ञान प्राप्त हो चुके थे।

भेद नीति के द्वारा उन्होंने अपने पिता की जय-विजय कराई। पुद्गल का परिणाम प्रदर्शित करके स्नेह तथा कामराग को हटाया, वैराग्य उपदेश के द्वारा जाति-स्मरण ज्ञान की प्राप्ति इत्यादि बातें अनुभव करने योग्य है। धार्मिक कृत्यो मे माया का दुष्परिणाम भी बतलाया गया है। त्याग से निर्वाण-पद की प्राप्ति भी मननीय है। अवेदी और केवली होकर भी भगवान मल्लिनाथ जी रात्रि के समय साध्वियो की परिषद में रहते थे, इस से लौकिक व्यवहार के पालने की शिक्षा दी गई है। इतना ही नही, छः राजाओ का त्याग और उनका भगवान के प्रति हार्दिक स्नेह भी मननीय है। यदि किसी व्यक्ति के हृदय में मोहकर्म का विशेष उदय हो गया हो तो उस को सदुपदेश के द्वारा शान्त किया जा सकता है। इत्यादि अनेक रहस्य की बाते प्रकट होती है। छः राजा उत्कृष्ट तप-सयम की आराधना करके सिद्ध हुए। भगवान मल्लिनाथ जी हजारो-लाखो जीवों को प्रतिबोध देकर सिद्ध हुए। चौबीस तीर्थङ्करो मे उन्नीसवे तीर्थङ्कर मल्लिनाथ जी हुए, जिन्होने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप भावतीर्थ की स्थापना की। इस पाठ या इतिहास से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रत्नत्रय की आराधना करने से स्त्री भी परम-पद को प्राप्त कर सकती है। अवेदी होने के बाद सूत्रकार नेउन्हे पुलिङ्ग वाचक शब्दो से विशेषित किया है, क्योंकि पुल्लिङ्ग-वाचक शब्द उनके मोक्ष के लिये किए जानेवाले पौरुष की अभिव्यक्ति करते है।

सप्तविध दर्शन

मूल—सत्तविहे दंसणे पण्णत्ते, तं जहा—सम्मद्दंसणे, मिच्छदंसणे, सम्मामिच्छदंसणे चक्खुदंसणे, अचक्खुदंसणे, ओहिदंसणे, केवलदंसणे ।२५।

छाया—सप्तविध दर्शनं प्रज्ञप्त, तद्यथा—सम्यग्दर्शनं, मिथ्यादर्शनं, सम्यङ्मिथ्यादर्शनं, चक्षुर्दर्शनम्, अचक्षुर्दर्शनम्, अवधिदर्शन, केवलदर्शनम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दर्शन सात प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे—सम्यग्-दर्शन, मिथ्या-दर्शन, सम्यग्मिथ्या-दर्शन, चक्षु-दर्शन, अचक्षु-दर्शन, अवधि-दर्शन और केवल-दर्शन।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे भगवान मल्लिनाथ की प्रव्रज्या का वर्णन किया गया है। उस प्रव्रज्या का अधिकारी सम्यग्दर्शन सम्पन्न साधक ही होता है, अत. प्रस्तुत सूत्र मे सप्तविध दर्शन का निरूपण किया गया है।

दर्शन शब्द श्रद्धान और अनाकार-उपयोग दोनो के लिये प्रयुक्त होता है। दर्शन मोहनीय-कर्म के क्षय, क्षयोपशम या उपशम होने पर "सम्यग्दर्शन" उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होते ही अज्ञान भी ज्ञान रूप में परिणत हो जाता है। दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय होने से "मिथ्यादर्शन" उत्पन्न होता है। सत्य से विपरीत श्रद्धा ही मिथ्यादर्शन है। क्षयोपशम तथा उदय-भाव से "मिश्र दर्शन" होता है जिसका श्रद्धान सत्य और असत्य दोनो को स्पर्श करता है वह मिश्रदर्शन है। दर्शना-वरणीय-कर्म के क्षयोपशम और क्षय से सामान्य बोध होता है। चक्षु-दर्शन, अचक्षु-दर्शन और अवधि-दर्शन ये तीनो दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होते है। सामान्यावबोध ही इनका स्वभाव है, किन्तु केवल-दर्शन दर्शनावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय होने पर ही उत्पन्न होता है।

छद्मस्थ वीतराग का कर्म प्रकृति-वेदन

मूल—छउमत्थवीयरागे णं मोहणिज्जवज्जाओ सत्त कम्मपयडीओ वेयेइ, तं जहा–णाणावरणिज्जं, दंसणावरणिज्जं, वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोत्त-मंतराइयं ।२६।

छाया—छद्मस्थवीतरागो मोहनीयवर्जाः सप्तकर्म प्रकृतीर्वेदयति, तद्यथा—ज्ञानावरणीयं, दर्शनावरणीयं, वेदनीयम्, आयुः, नाम, गोत्रम्, अन्तरायम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—छद्मस्थ वीतराग भगवान मोहनीयकर्म को छोडकर सात कर्म-प्रकृतियों का वेदन करते है, जैसे–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में 'दर्शन' का वर्णन किया गया है। केवलज्ञान उत्पन्न होने से पहले क्या वीतराग महापुरुष कर्म-प्रकृतियों की अनुभूति करते है ? अब सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र में इसी शका का समाधान कर रहे हैं।

ग्यारहवे उपशान्त और बारहव क्षीणमोहनीय गुणस्थान मे अवस्थित जीव छद्मस्थ वीतराग कहलाता है। वहां पर वह मोहनीयकर्म को छोडकर शेष सात कर्म-प्रकृतियो का वेदन करता है। यद्यपि चार घातिकर्मो से आबद्ध महासाधक ही छद्मस्थ कहलाता है, किन्तु यहां ज्ञानावरणीय, दर्शना-वरणीय और अन्तराय इन तीन कर्मो का जो वेदन कर रहा है, वह भी छद्मस्थ ही माना गया है। जिसके जीवन मे मोह की कोई भी प्रकृति उदय मे नही है, उसे वीतराग कहा जाता है। जिन गुण-

स्थानों मे मोह के अतिरिक्त शेष सात कर्म-प्रकृतियो का अनुभव किया जाता है, उन गुणस्थानो में रहे हुए जीव छद्मस्थ-वीतराग कहलाते है।[1]

ससीम और निःसीम ज्ञान का विषय

मूल—सत्त ठाणाइ छउमत्थे सव्वभावेणं न याणइ, न पासइ, तं जहा—धम्मत्थिकायं, अधम्मत्थिकायं, आगासत्थिकायं, जीवं असरीरपडिबद्धं, परमाणुपोग्गलं, सद्दं, गंधं।

एयाणि चेव उप्पन्नणाणे जाणइ, पासइ, तं जहा—धम्मत्थिकायं जाव गंधं।२७।

छाया सप्त स्थानानि छद्मस्थः सर्वभावेन न जानाति, न पश्यति, तद्यथा—धर्मास्तिकायम्, अधर्मास्तिकायम्, आकाशास्तिकायं, जीवमशरीरप्रतिबद्ध, परमाणुपुद्गलं, शब्दं, गन्धम्। एतानि चैवोत्पन्नज्ञानो जानाति, पश्यति, तद्यथा—धर्मास्तिकायं यावद् गन्धम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सात स्थानों को छद्मस्थ आत्मा सर्व प्रकार से न जान पाता है और न देख पाता है, जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, शरीर रहित जीव, परमाणुपुद्गल तथा शब्द और गन्ध के पुद्गलों को।

इन सातों अर्थात् धर्मास्तिकाय से लेकर गन्ध-पुद्गल तक सभी के स्वरूप को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी सर्व प्रकार से जानते व देखते है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में छद्मस्थता का वर्णन किया गया है। जब तक साधक में छद्मस्थता है, तब तक वह पूर्ण ज्ञानी नही बन सकता। प्रस्तुत सूत्र मे छद्मस्थ की ज्ञान-सीमा का वर्णन किया गया है और साथ ही उनके असीम ज्ञान पर प्रकाश डाला गया है।

छद्मस्थ सात विषयो को सपूर्णरूप से न जान सकता है और न देख सकता है, जैसे कि धर्मा-

१. छद्मनि—आवरणद्वयरूपे अन्तराये च कर्मणि तिष्ठतीति छद्मस्थ.—अनुत्पन्नकेवलज्ञानदर्शन, स चासौ वीतरागश्च उपशान्तमोहत्वात्, क्षीणमोहत्वाद्वा विगतरागोदय इत्यर्थ.। "सत्त" त्ति मोहस्य क्षयादुपशमाद्वा नाष्टावित्यर्थः।

स्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, शरीर-रहित विशुद्धात्मा। ये चार पदार्थ अरूपी है। परमाणु-पुद्गल, शब्द और गंध ये तीन पौद्गलिक होने पर भी उन्हे सर्व पर्यायो सहित वह नही जान सकता, वह उनके कुछ अश का ही ज्ञान प्राप्त कर पाता है।

केवली भगवान उक्त सात पदार्थो को सर्वाङ्ग रूप मे जानते व देखते है। उनका ज्ञान रूपी और अरूपी सभी पदार्थो का प्रत्यक्ष कर लेता है।

भगवान महावीर की शरीर सपदा

मूल—समणे भगवं महावीरे वयरोसभणारायसंघयणे समचउरंससंठाण-सठिए, सत्त रयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं हुत्था ।२८।

छाया—श्रमणो भगवान् महावीरो वज्रऋषभनाराचसंहनन समचतुरस्रसंस्थानसंस्थित, सप्त-रत्नय ऊर्ध्वमुच्चत्वेनाभूत् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वज्रऋषभनाराच संहनन से युक्त और समचतुरस्र-संस्थान वाले थे, वे ऊंचाई मे सात रत्नि परिमाण थे।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र के अन्तिमाश मे सर्वज्ञ भगवान के असीम ज्ञान का वर्णन किया गया है, अब सर्वज्ञ प्रभु महावीर की शरीर-सम्पदा का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है कि—शारीरिक शक्ति की परा-काष्ठा को वज्र-ऋषभ-नाराच सहनन कहते है। सर्वाङ्ग सुन्दर मान-उन्मान-प्रमाण युक्त शरीर को समचतुरस्र सस्थान कहते है। उनका शरीर उत्सेध अगुल से सात हाथ की ऊचाई वाला था। यद्यपि अपने हाथ से सभी मनुष्य प्राय: साढे तीन हाथ के ही होते है, तदपि भगवान महावीर के अपने अगुल से उत्सेध अगुल दुगुना था। भगवान महावीर में सर्वोच्च शक्ति, सर्वाङ्गसौन्दर्य और प्रमाणोपेत उच्चता ये तीनो शरीर-संपदाएं अपने आप में अनुपम थी।

सात विकथाएं

मूल—सत्त विकहाओ पण्णत्ताओ, त जहा—इत्थिकहा, भत्तकहा, देसकहा, राय-कहा, मिउकालुणिया, दंसणभेयणी, चरित्तभेयणी ।२९।

छाया—सप्त विकथाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा, राजकथा, मृदुकारुणिकी, दर्शनभेदिनी, चारित्रभेदिनी।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सात विकथाए वर्णन की गई है, जैसे—स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा, राज-कथा, मृदुकारुणिकी कथा, दर्शनभेदन करनेवाली कथा और चारित्र का भेदन करनेवाली कथा।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे भगवान महावीर की शरीर-सम्पदा का वर्णन किया गया है। यह शरीर-सम्पदा उन्ही साधक आत्माओ को प्राप्त होती है जो विकथाओ से दूर रहते है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे विकथाओ का परिचय दिया गया है। जो बाते या कथाए आत्मलक्ष्य से भटकाने वाली है, उन्हे विकथा कहते है। स्त्री-कथा, भक्तकथा, राज-कथा, और देश-कथा, इनका विस्तृत वर्णन चतुर्थ स्थान मे किया जा चुका है। शेष तीन विकथाओ का वर्णन निम्नलिखित है, जैसे कि—

मृदुकारुणिकी—जिसको सुनने से श्रोताओ के हृदय मे शोक उत्पन्न हो जाए, पुत्र आदि के वियोग से दु.खित हुई माता, पति के वियोग से दुखित स्त्री आदि की कथा करना, उपन्यास आदि में चित्रित युवक और युवती का वियोग और आखो से आसू बहानेवाली कथा मृदुकारुणिकी कहलाती है। इससे शोक उत्पन्न होता है और शोक समाधि को भग कर देता है। समाधिस्थ होना साधक के लिये आवश्यक है, अत उसके लिये मृदुकारुणिकी कथा वर्ज्य है।

दर्शन-भेदिनी—जिस बात या कथा से श्रोता सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो जाए, उसके सम्यग्ज्ञान का भी नाश हो जाए, अन्यदर्शनो के प्रति अनुराग उत्पन्न हो जाए और ज्ञानादि की अधिकता से कुतीर्थी की प्रशसा करने लगे इत्यादि, सब बाते दर्शन-भेदिनी विकथा कहलाती है।

चारित्र-भेदिनी—जिस कथा से वक्ता या श्रोता चारित्र से भ्रष्ट हो जाए, चारित्र की निदा करना या चारित्र के प्रति उपेक्षा रखना, जैसे कि—"आज के युग मे कोई भी साधु पांच महाव्रतो का पालन कर ही नही सकता, क्योकि सभी साधुओ मे प्रमाद बढा हुआ है। दोष बहुत लगते है, अतिचारो को शुद्ध करनेवाला कोई भी आचार्य नही मिलता है। जिनके पास आलोचना की जाती है वे शोधक आचार्य भी उन्ही अतिचारों के सेवन करनेवाले है, अत. शुद्धि के अभाव से तीर्थ मे सिर्फ ज्ञान और दर्शन ही वर्त रहे है। इन्ही की प्राप्ति में प्रयत्नशील होना चाहिए।" ऐसी बाते करने से या सुनने से किसी का चारित्र स्थिर नही रह पाता है, अत साधक को इस प्रकार की चारित्र-भेदिनी कथाओ से भी दूर रहने का प्रयास करना चाहिए।

आचार्य और उपाध्याय के अतिशय

मूल—आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि सत्त अइसेसा पण्णत्ता, तं जहा—आयरिय-

उवज्झाए अंतोउवस्सयस्स पाए णिगिज्झिय-णिगिज्झिय पप्फोडेमाणे वा, पमज्जमाणे वा णाइक्कमइ, एवं जहा पंचट्ठाणे जाव बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा, दुरायं वा वसमाणे नाइक्कमइ। उवकरणाइसेसे, भत्त-पाणाइसेसे ।३०।

छाया **आचार्योपाध्याययोः गणे सप्त अतिशेषा. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आचार्योपाध्याययोरन्तरुपाश्रयस्य पादौ निगृह्य-निगृह्य प्रस्फोटयन् वा, प्रमार्जयन् वा नातिक्रामति, एवं यथा पञ्चमस्थाने यावद् वहिरुपाश्रयाद् एकरात्र वा द्विरात्रं वा वसन् नातिक्रामति, उपकरणातिशेषः, भक्तपानातिशेषः ।**

शब्दार्थ—**गणंसि**—गच्छ में; **आयरियउवज्झायस्स णं**—आचार्य और उपाध्याय के; **सत्त अइसेसा पण्णत्ता, तं जहा**—सात अतिशेष—अतिशय कथन किये गए है, जैसे; **आयरियउवज्झाए**—आचार्य और उपाध्याय; **अंतो उवस्सयस्स**—उपाश्रय के भीतर, **पाए णिगिज्झिय णिगिज्झिय**—पाओ को पकड़कर; **पप्फोडेमाणे वा**—झाड़ते हुए अथवा **पमज्जमाणे वा**—प्रमार्जन करते हुए, **णाइक्कमइ**—भगवान की आज्ञा उल्लंघन नही करते; **एवं जहा पंचमठाणे**—इसी प्रकार जैसे पञ्चम स्थान मे वर्णन किया है; **जाव**—यावत्; **बाहिं उवस्सयस्स**— उपाश्रय के बाहर; **एगरायं वा, दुरायंवा**—एक रात्रि या दो रात्रि; **वसमाणे नाइक्कमइ**—निवास करते हुए प्रभु की आज्ञा का उल्लघन नही करते। **उवगरणाइसेसे**—उपकरणातिशेष, **भत्तपाणाइसेसे**—भक्तपान अतिशेष ।

मूलार्थ—गण में आचार्य और उपाध्याय के सात अतिशेष वर्णन किये गए है, जैसे—आचार्य और उपाध्याय यदि उपाश्रय के अन्दर पैरो को पकड़कर प्रस्फोटन तथा प्रमार्जन करते है तो वे प्रभु-आज्ञा का अतिक्रमण नही करते। उसी प्रकार जैसे पांचवे स्थान में कहा गया है, यावत् उपाश्रय के बाहर एक रात्रि अथवा दो रात्रि निवास करते हुए प्रभु आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते। आचार्य और उपाध्याय के द्वारा सुन्दर उपकरण रखना उनका उपकरण-अतिशय है। सुन्दर एव विशिष्ट आहार-पानी से आचार्य-उपाध्याय की सेवा करना यह उनका भक्तपान-अतिशेष है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में विकथाओं का वर्णन किया गया है। विकथाओ मे सलग्न हुए साधुओ को आचार्य-उपाध्याय ही निवारण कर सकते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में आचार्य और उपाध्याय के सात अतिशय

अर्थात् अन्य साधुओं की अपेक्षा से उनमें जो सात विशेषताए होती हैं, उनका वर्णन किया गया है। जैसे कि—

१ आचार्य-उपाध्याय धूल से भरे हुए अपने चरणो का प्रस्फोटन एव प्रमार्जन उपाश्रय में आकर कर सकते है।

२ उनकी दूसरी विशेषता यह है कि वे उपाश्रय मे रहकर भी उच्चार-प्रश्रवण अर्थात् यथा स्थान मल-मूत्र का त्याग कर सकते है।

३ उनकी तीसरी विशेषता यह है—उनके लिये किसी मुनि की सेवा करना या न करना अनिवार्य नही है, प्रत्युत उनकी इच्छा पर निर्भर है।

४ उनकी चौथी विशेषता है—उपाश्रय के भीतर एक या दो रात्रि पर्यन्त एकाकी रहकर पाठ-जप आदि करना हो तो वे पृथक् रह सकते है।

५ उनकी पाचवी विशेषता यह है कि—उपाश्रय मे बाहर उद्यान या देवालय आदि में यदि मत्र या कोई विद्या सिद्ध करनी हो तो वे एक या दो राते वहा रह सकते है अधिक नहीं। इन पांच अतिशयों का वर्णन पचम स्थान में भी किया जा चुका है।

६ उनकी छठी विशेषता यह है कि—अन्य साधुओ की अपेक्षा आचार्य-उपाध्याय के वस्त्र आदि उपकरण उत्तम एव प्रभावक होने चाहिए।

७. उनकी सातवी विशेषता यह है कि—जो आहार सुपाच्य, सुपथ्य एव पुष्टिकर हो, वही क्षेत्रकाल के अनुसार उन्हे देना चाहिए, कारण कि जब उनका शरीर स्वस्थ एव शक्ति-सपन्न होगा तभी वे श्रमण-सघ एव श्रीसघ की विशेष सेवा कर सकेगे। भक्त-पान अतिशय के विषय मे एक प्राचीन गाथा का उद्धरण देना प्रसगोचित होगा, यथा—

"सुत्तत्थथिरीकरण विणओ गुरुपूय सेहबहुमाणो।
दाणवइ सद्धवुड्ढी बुद्धि-बल-वद्धण चेव ॥"

इस गाथा मे उपकरणातिशय और भक्तपानातिशय दोनो का स्वरूप बतलाया गया है। जो शिष्य श्रेष्ठ उपकरणो से तथा पवित्र-पुष्ट सुपथ्य भोजन-पान से आचार्य एवं उपाध्याय की सेवा करता है, उसका सूत्र और अर्थ स्थिर रहता है। इससे शिष्य की विनीतता सिद्ध होती है और गुरु की पूजा भी। गुरु के मन में शिष्य के प्रति बहुमान बढता है, तथा दान देनेवाले की श्रद्धा भी बढती है। आचार्य-उपाध्याय की सेवा मे सलग्न रहने से शिष्य की बुद्धि और बल दोनो बढते है। इसीलिये सूत्रकार ने आचार्य एव उपाध्याय के उपकरणो और भक्तपान-अतिशय का वर्णन किया है।

संयम, असंयम, आरम्भ एवं अनारम्भ

मूल—**सत्तविहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा—पुढविकाइयसंजमे जाव तसकाइयसंजमे, अजीवकायसंजमे।**

सत्तविहे असंजमे पण्णत्ते, तं जहा—पुढविकाइय-असंजमे जाव तसकाइय-असंजमे, अजीवकाय-असंजमे।

सत्तविहे आरंभे पण्णत्ते, तं जहा—पुढविकाइय-आरंभे जाव अजीवकाइय-आरंभे। एवमणारंभेवि, एवं सारंभेवि, एवमसमारंभेवि, जाव अजीवकाय असमारंभे।३१।

छाया—सप्तविधः सयमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पृथ्वीकायिकसंयमो यावत् त्रसकायिकसंयमः, अजीव-काय-संयमः।

सप्तविधोऽसंयमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पृथ्वीकायिकासंयमो यावत् त्रसकायिकासंयमः, अजीव-कायासंयमः।

सप्तविध आरम्भ प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पृथ्वीकायिकारम्भो यावद् अजीवकायारम्भः। एव-मनारम्भोऽपि, एवं संरम्भोऽपि, एवमसमारम्भोऽपि, यावद् अजीवकायासमारम्भः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सात प्रकार का संयम है, जैसे कि पट्काय के संयम से लेकर अजीवकाय के सयम तक।

सात प्रकार का असंयम होता है, जैसे कि पृथ्वीकाय के असंयम से लेकर त्रसकाय के असंयम तक और अजीव काय का असंयम।

सात प्रकार का आरम्भ है, जैसे—पृथ्वीकाय के आरम्भ से लेकर अजीव-काय के आरम्भ तक। इसी प्रकार अनारम्भ भी सात प्रकार का है। इसी तरह संरम्भ भी सात प्रकार का है, असमारम्भ से लेकर अजीवकाय तक असमारम्भ भी सात प्रकार का जानना चाहिये।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे आचार्य एव उपाध्याय के सात अतिशयो का वर्णन किया गया है, वे अतिशय समाज-सेवा के लिये तथा सयम की प्रवलता के लिये ही होते हैं, अतएव सूत्रकार अव सयमादि की सप्तविधता का वर्णन करते है।

संयम—

सयम मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है। जैसे कि जीव-काय-सयम और अजीवकाय-सयम। पृथिवीकाय आदि छ प्रकार के जीवों की रक्षा के लिये प्रयत्नशील होना जीवकाय सयम है और

वस्त्र-पात्र पुस्तक आदि उपकरणो को यतनापूर्वक उठाना तथा रखना एव उन्हें उपयोग मे लाना अजीव-काय-सयम है। अहिंसा की रक्षा के लिये यतना अनिवार्य है।

असंयम–

पृथिवीकायिक आदि जीवो की हिंसा करना, उन्हे सतप्त करना, उनकी रक्षा में प्रयत्नशील न होकर अपनी स्वार्थ-पूर्ति लिये उनकी विनाश-लीला देखने का उपक्रम रचना आदि जीव-काय-असयम है और वस्त्र-पात्र पुस्तक आदि उपकरणो को बिना यतना के उठाना, रखना और उपयोग मे लाना आदि अजीवकाय असयम है। साराश इतना ही है कि जीवो की रक्षा करना सयम है और उनकी रक्षा न करना असयम है। सयम से हिसा का निरोध होता है और असयम से हिसा मे प्रवृत्ति होती है। अतः मुमुक्षु आत्माओ को चाहिए कि वे सयम के द्वारा स्वाभीष्ट कार्य की सिद्धि करे।

संरम्भ-असंरम्भ–

छ जीव-निकाय और अजीवकाय के लिये मन में बुरे सकल्प करना, मन से किसी की हिसा करना, मन को हिंसा आदि प्रवृत्तियो मे प्रवृत्त करना, मन को अनियन्त्रित होकर कार्य करने देना सरभ है और मन मे सब प्राणियो के प्रति मगल-भावना रखना, मन को अहिसा-सत्य आदि धर्म-कार्यो में प्रवृत्त करना असरम्भ है।

समारम्भ-असमारम्भ–

छः जीव निकायो को किसी न किसी वस्तु से सन्तप्त करना, कठोर शब्दो से किसी को पीडा देना, या किसी को अभावग्रस्त करना या उसकी वस्तु चुरा लेना इत्यादि अनेक रीतियो से प्राणियो को दुखित करना तथा अजीवकाय को अयतना से काम मे लाना समारम्भ है और अपनी ओर से किसी भी जीव वस्तु या को पीडाग्रस्त न करना तथा यतना पूर्वक सम्भाल कर उपयोग करना असमारम्भ है।

आरम्भ-अनारम्भ–

छः जीवनिकायों की हिसा करना, उनकी विराधना करना, उनके प्राण लेना तथा अजीवकाय को अयतना से उपयोग में लाना या अयतना से फैंकना अजीवकाय-आरम्भ है। किसी भी जीव की हिसा न करना तथा यतना से अजीवकाय को काम मे लाना अनारम्भ है। कहा भी है –

"आरंभो उद्दवओ, परितावकरो भवे समारभो।
संकप्पो सरंभो सुद्धनयाण तु सव्वेसि॥"

यहा यह शका होनी स्वभाविक है कि छः जीव-निकाय मे तो यह सयम और असय-मनियम घट सकता है, किन्तु अजीवकाय-असयम मे यह सयम-असयम नियम कैसे घट सकता है ? इस शका की निवृत्ति के लिये कहा जा सकता है कि जो पुस्तक आदि अजीवकाय के आश्रित जीव है, उनको लक्ष्य मे रख कर यह कहा गया है, अत अजीव की प्रधानता के कारण अजीवकाय-आरम्भादि कहना अनुचित नही है। 'वस्त्र-पात्र' पुस्तक आदि उपकरण सयम के बाह्य साधन है, अत सयम की पूर्ति के लिये उनकी ओर ध्यान देना भी सयम-साधना का महत्वपूर्ण अङ्ग है, अत. उनकी उपेक्षा नही की जा सकती। ❁

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में जीवाश्रित और अजीवाश्रित सयम-असयम का वर्णन किया गया है। धान्यों मे जब तक अकुरण शक्ति-रहती है तब तक वे सजीव कहलाते है, जब उनकी अकुरण-शक्ति नष्ट हो जाती है, तब वे अजीव की कोटि में आ जाते है। अत गौतम स्वामी धान्यों को लक्ष्य मे रखकर उनकी सजीवता और अजीवता के विपय में प्रश्न करते है और महावीर उनका समाधान करते है।

भगवन्! अलसी, कुसु भ, कोद्रव, कागणी, रालक (कांगनी धान्य का दूसरा भेद), वरकोदूषक-अर्थात् कोद्रव की दूसरी जाति का धान्य, सरसो तथा मूलबीज धान्यो को कोठे मे भरकर रखने पर, गोवर से लिपे हुए स्थान मे विधि-पूर्वक धान्य को सुरक्षित रखने पर अधि॰ से अधिक कितने काल तक उनमे उगने की शक्ति विद्यमान रहती है?

इसके उत्तर मे भगवान ने कहा—"गौतम! इनकी योनि अर्थात् अकुरण-शक्ति जघन्य अतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सात वर्ष पर्यन्त रह सकती है। उसके बाद उन बीजो मे उगने की शक्ति नही रह जाती। बीज भी अबीज बन जाता है, उसकी अकुरित होने की शक्ति नष्ट हो जाती है, अतः वह निर्जीव हो जाता है। इस विषय का विशेष वर्णन तीसरे और पाचवे स्थान मे किया जा चुका है। ●

अप्कायिक और नारकी जीवो का स्थितिकाल

मूल—बायर आउकाइयाणं उक्कोसेणं सत्त वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता।

तच्चाए णं बालुयप्पभाए पुढवीए उक्कोसेणं नेरइयाणं सत्त सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।

चउत्थीएणं पंकप्पभाए पुढवीए जहण्णेणं नेरइयाणं सत्त सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।३३।

छाया—**बादराप्कायिकानामुत्कर्षेण सप्त वर्षसहस्राणि स्थितिः प्रज्ञप्ता।**

तृतीयस्यां बालुकाप्रभायां पृथिव्यामुत्कर्षेण नैरयिकानां सप्तसागरोपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

चतुर्थ्यां पङ्कप्रभायां पृथिव्यां जघन्येन नैरयिकानां सप्त सागरोपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

शब्दार्थ—**बायर आउकाइयाणं**—बादर अप्काय के जीवो की; **उक्कोसेण**—उत्कृष्ट; **सत्त-वाससहस्साइं**—सात हज़ार वर्ष की; **ठिई पण्णत्ता**—स्थिति कथन की गई है। **तच्चाए णं**—तीसरी; **बालुयप्पभाए पुढवीए**—बालुकाप्रभा पृथ्वी मे; **नेरइयाण**—

अलसी के आदि बीजों की अकुरण-शक्ति

मूल—अह भंते ! अयसि-कुसुंभ-कोद्दव-कंगु-रालग-(वराकोदूसगा) सण-सरिसव-मूलग-बीयाणं एएसिणं धन्नाणं कोट्ठाउत्ताण, पल्लाउत्ताणं जाव पिहियाणं केवइयं कालं जोणि संचिट्ठइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अ तोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्त संवच्छराइं, तेण परं जोणी पमिलायइ जाव जोणी वोच्छेए पण्णत्ते ।३२।

छाया—अथ भदन्त ! अतसी-कुसुम्भ-कोद्रव-कङ्गुरालक-[वराकोदूषक] सण-सर्षप-मूलक-बीजानामेतेषां खलु धान्यानां कोष्ठागुप्तानां, पल्यागुप्तानां, यावत् पिहितानां कियन्तं काल योनिः संतिष्ठते ?

गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण सप्त संवत्सराणि, तत. परं योनिः प्रम्लायति, यावद् योनिव्युच्छेदः प्रज्ञप्तः ।

शब्दार्थ—अह भंते—हे भगवन्; अयसि—अलसी; कुसुंभ—कुसु भा; कोद्दव—कोद्रव; कंगु—कङ्गणी, रालग—रालक, वराकोदूसगा—वराकोदूषक, सण—सन; सरिसव—सरसो; मूलगबीयाणं—मूलक बीज; एएसिणं—इन; धन्नाण—धान्यो को; कोट्ठाउत्ताण—कोष्ठागार में सुरक्षित रखने पर; पल्लाउत्ताणं—पल्य मे स्थापित करने पर; जाव—यावत्, पिहियाण—अच्छी प्रकार ढके हुओ की, केवइय काल—कितने समय तक, जोणी संचिट्ठइ—योनि सचित्त रह सकती है ?

गोयमा—हे गौतम ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं—जघन्य अर्थात् कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त; उक्कोसेणं—उत्कृष्ट, सत्तसंवच्छराइं—सात सम्वत्सर परिमाण, तेण पर—उसके उपरान्त, जोणि पमिलायइ—योनि कुम्हला जाती है, जाव—यावत्; जोणि-वोच्छेए पण्णत्ते—योनि का व्यवच्छेद हो जाता है ।

मूलार्थ—हे भगवन् ! अलसी, कुसुम्भ, कोद्रव, कंगु, रालक, वराकोदूषक, सण, सर्षप, मूलग-बीज ,इन धान्यो को कोठे और पल्य मे गुप्त रखने पर यावत् आच्छादन किये हुओं की कितने समय तक योनि सचित्त रह सकती है ? हे गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सात वर्ष पर्यन्त तत्पश्चात् योनि अर्थात् अंकुरणशक्ति कुम्हला जाती है, यावत् बोज से अबीज और योनि का व्यवच्छेद दो जाता है ।

नारकों की; सत्त सागरोवमाइं—सात सागरोपम; ठिई पण्णत्ता—स्थिति प्रतिपादन की गई है।

चउत्थीए ण पकप्पभाए पुढवीए—चतुर्थी पङ्कप्रभा नामक पृथ्वी मे; उक्कोसेणं—उत्कृष्ट रूप से; नेरइयाण—नारकों की; सत्त सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता—सात सागरोपम की स्थिति वर्णन की गई है।

मूलार्थ—बादर ग्रप्काय जीवो की उत्कृष्ट स्थिति सात हजार वर्ष की है।

तीसरी वालुकाप्रभा नामक पृथिवी मे नारकियो की उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम की है।

चौथी पङ्कप्रभा पृथिवी मे नारकियो की जघन्य स्थिति सात सागरोपम की कथन की गई है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे धान्यो की ग्रकुरण-शक्ति के स्थितिकाल का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार उसी परम्परा मे कुछ अन्य जीवो के विभिन्न स्थानो मे स्थितिकाल का वर्णन करते है। बादर ग्रप्कायिक जीवो की उत्कृष्ट स्थिति प्राय घनोदधि मे पाई जाती है और वे वहा सात हजार वर्ष तक जीवन धारण कर सकते है।

तीसरी वालुकाप्रभा पृथिवी के नीचे प्रस्तट मे नैरयिकों की उत्कृष्ट सात सागरोपम की स्थिति होती है।

चौथी पृथिवी के पहले प्रस्तट मे नैरयिको की कम से कम स्थिति सात सागरोपम की है। जिनकी ग्रायु या स्थिति निश्चित रूप मे सात की सख्या को पूर्ण करनेवाली है, उन्ही का उल्लेख प्रस्तुत सूत्र मे किया गया है, अन्य का नही।

तीन लोकपालों की अग्रमहिषियां

मूल—**सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो वरुणस्स महारन्नो सत्त अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ।**

ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो सत्त अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ।

ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो जमस्स महारन्नो सत्त अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ ।३४।

छाया—शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य वरुणस्य महाराजस्य सप्त अग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ता. ।
ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य सप्त अग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः ।
ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य यमस्य महाराजस्य सप्त अग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—शक्र देवेन्द्र देवराज के वरुण लोकपाल की सात अग्रमहिषियां है ।
ईशान देवेन्द्र देवराज के लोकपाल सोम महाराज की सात अग्रमहिषियां है ।
ईशान देवेन्द्र देवराज के लोकपाल यम महाराज की सात अग्रमहिषिया है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे अधोलोकस्थ जीवो के स्थिति-काल का वर्णन किया गया है । अब सूत्रकार अधोलोक के विपरीत ऊर्ध्वलोक के कुछ देवो की देवी-सम्पत्ति का वर्णन करते है । वैमानिक इन्द्रों के चार-चार लोकपाल है जो कि क्रमश: चारो दिशाओ के अधिपति है, उनके नाम है सोम, यम, वरुण और कुवेर । उन मे से सौधर्मेन्द्र के वरुण नामक लोकपाल की सात पट्टदेविया है । ईशानेन्द्र के सोम और यम नामक लोकपालो की सात-सात अग्रमहिपिया है । अन्य देवियो मे प्रधान देवी को अग्रमहिपी या पट्टदेवी कहते है । ज्योतिष्क और वाणव्यतरो के लोकपाल और त्रायत्रिंशदेव नही होते । शेष सभी इन्द्रों के लोकपाल और त्रायत्रिंश देव होते है ।

देव और देवियो का स्थितिकाल

मूल—ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो अब्भिंतरपरिसाए देवाण सत्त पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो अग्गमहिसीणं देवीणं सत्त पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ।

सोहम्मे कप्पे परिग्गहियाण देवीणं उक्कोसेणं सत्त पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ।३५।

छाया—ईशानस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य आभ्यन्तरपरिषदि देवानां सप्त पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य अग्रमहिषीणां देवीनां सप्त पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।

सौधर्मे कल्पे परिगृहीतानां देवीनामुत्कर्षेण सप्त पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—ईशान देवेन्द्र देवराज की आभ्यन्तर परिषद् में देवों की सात पल्योपम की स्थिति कथन की गई है ।

शक्र देवेन्द्र देवराज की अग्रमहिषी देवियों की सात पल्योपम की स्थिति कथन की गई है ।

सौधर्म देवलोक में परिगृहीत देवियों की उत्कृष्ट स्थिति सात पल्योपम की बताई गई है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में वरुण आदि देवो की अग्रमहिषियो का वर्णन किया गया है, अब उसी परम्परा मे जिन देव और देवियों की स्थिति सात पल्योपम की निश्चित रूप से है उनका उल्लेख प्रस्तुत सूत्र मे किया गया है ।

ईशानेन्द्र की आभ्यन्तरिक परिषद् के जो देव हैं उनकी स्थिति सात पल्योपम की है । शक्रेन्द्र की जितनी अग्रमहिषी देविया हैं, उनकी स्थिति सात पल्योपम की होती है तथा सौधर्मकल्प देवलोक में देवियो की उत्कृष्ट आयु सात पल्योपम की है । जो देवों की परिग्रह रूप देविया है, वे परिगृहीता कहलाती है । जो देविया स्वतन्त्र है, वे अपरिगृहीता कहलाती है । यहां परिगृहीता देवियो की स्थिति उत्कृष्ट सात पल्योपम की बताई गई है ।

लोकान्तिक देव और उनका परिवार

मूल—सारस्सयमाइच्चाणं सत्त देवा, सत्त देवसया पण्णत्ता ।

गद्दतोयतुसियाणं देवाणं सत्तदेवा, सत्त देवसहस्सा पण्णत्ता ।३६।

छाया—सारस्वतादित्यानां सप्त देवाः, सप्त देवशतानि प्रज्ञप्तानि ।

गर्दतोय-तुषितानां देवानां सप्त देवाः सप्तदेवसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सारस्वत और आदित्य ये सात देव है और सात-सात सौ इनका परिवार है।

गर्दतोय और तुषित येभी सात-सात देव है परन्तु इनका परिवार सात-सात सहस्र देवों का है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में वर्णित देव-परम्परा के अन्तर्गत प्रस्तुत सूत्र मे लोकान्तिक देवों का वर्णन किया गया है। लोकान्तिक देव पाचवें देवलोक मे निवास करते हैं। इन के नौ विमान है, आठवे स्थान में इनका सपूर्ण वर्णन किया जाएगा। उन नौ मे से सारस्वत और आदित्य नामक देवों के प्रत्येक विमान में सात-सात देव निवास करते है और सात-सात सौ उनका लोकान्तिक-देवपरिवार है।

गर्दतोय और तुषित इन विमानो मे भी सात-सात देव है तथा सात-सात हजार उनका देव-परिवार है। ●

सनत्कुमार आदि कल्पों में देव-स्थिति

मूल—**सणंकुमारे कप्पे उक्कोसेणं देवाणं सत्त सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।**
माहिंदे कप्पे उक्कोसेणं देवाणं साइरेगाइं सत्त सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।
बंभलोए कप्पे जहण्णेणं देवाणं सत्त सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।३७।

छाया—सनत्कुमारे कल्पे उत्कर्षेण देवानां सप्त सागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता।
माहेन्द्रे कल्पे उत्कर्षेण देवाना सातिरेकाणि सप्त सागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता।
ब्रह्मलोके कल्पे जघन्येन देवानां सप्त सागरोपमाणि-स्थितिः प्रज्ञप्ता।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सनत्कुमार कल्प मे देवों की उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम की है।
माहेन्द्र कल्प मे देवो की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक सात सागरोपम की है।
ब्रह्मलोक कल्प मे देवो की जघन्य स्थिति सात सागरोपम की है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में लोकान्तिक देवो का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार देव-वर्णन की परम्परा में उन देवलोको का वर्णन करते है, जिनमें देवों की स्थिति सात सागर की है।

तीसरे देवलोक में जो देव उत्कृष्ट स्थितिवाले हैं उनकी स्थिति सात सागरोपम की है।

चौथे देवलोक में उत्कृष्ट स्थितिवाले देव सात सागर से कुछ अधिक काल पर्यन्त जीनेवाले होते है।

पाचवे देवलोक में जिनकी आयु सात सागरोपम की है, वे जघन्य स्थिति वाले अर्थात् कम से कम आयु वाले देव कहलाते है।[1]

ब्रह्मलोक और लान्तक कल्प के विमानों की ऊचाई

मूल—बंभलोयलंतएसु णं कप्पेसु विमाणा सत्त जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता।३८।

छाया—ब्रह्मलोकलान्तकयोः कल्पयोर्विमानानि सप्त योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—ब्रह्मलोक और लान्तक इन दो कल्पो के विमान सात सौ योजन की ऊंचाई वाले है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में प्रथम देवलोक से लेकर पचम देवलोक के निवासी देवो तक का आयु-काल वर्णित किया गया है। अब सूत्रकार उसी वर्णन-परम्परा में पाचवे और छठे देवलोक के विमानो का वर्णन करते हुए कहते है कि पांचवे और छठे इन दो कल्पो मे विमानों की ऊचाई सात सौ योजन की है। यहां सप्तम स्थान के अनुरोध से केबल उन्ही देव-विमानो का वर्णन किया गया है जिनका येन-केन प्रकारेण सात की सख्या से सम्बन्ध है, शेष का वर्णन यथास्थान किया गया है।

देवों के भवधारणीय शरीरों की उत्कृष्ट अवगहना

मूल—भवणवासीणं देवाणं भवधारणिज्जा सरीरगा उक्कोसेणं सत्त रयणीओ

---

१. विशेष परिज्ञान के लिये देखिए प्रज्ञापना सूत्र, स्थिति-पद।

उड्ढं उच्चत्तेणं। एवं वाणमंतराणं, एवं जोइसियाणं।

सोहम्मीसाणेसु ण कप्पेसु देवाणं भवधारणिज्जगा सरीरा सत्त रयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता।३९।

छाया—भवनवासिनां देवानां भवधारणीयानि शरीराण्युत्कर्षेण सप्त रत्नय, उर्ध्वमुच्चत्वेन। एवं वाणव्यन्तराणाम्, एवं ज्योतिष्काणाम्।

सौधर्मेशानयोः कल्पयोः देवानां भवधारणीयानि शरीराणि सप्त रत्नय उर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—भवनवासी देवो की भवधारणीय शरीरो की उत्कृष्ट अवगहना सात रत्नि परिमाण ऊची कही गई है। इतनी ही व्यन्तरों की और ज्योतिष्क देवों की भी अवगहना जाननी चाहिए।

सौधर्म और ईशान कल्पो में देवों के भवधारणीय शरीर की ऊंचाई भी सात रत्नि परिमाण कथन की गई है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे देव विमानो की ऊचाई का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र मे देवो की उत्कृष्ट अवगहना का वर्णन किया गया है। भवनपति, वानव्यतर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म और ईशान देवलोक के देवो के भवधारणीय शरीर की उत्कृष्ट अवगहना सात हाथ की होती है। यह अवगहना उत्सेध अगुल से जाननी चाहिए।

नन्दीश्वर द्वीप के अन्तर्गत द्वीप और समुद्र

मूल—णंदिस्सरवरस्स णं दीवस्स अंतो सत्त दीवा पण्णत्ता, तं जहा-जंबूद्दीवे दीवे, धायइसंडे दीवे, पोक्खरवरे, वरुणवरे, खीरवरे, घयवरे, खोयवरे।

णंदीसरवरस्स णं दीवस्स अंतो सत्त समुद्दा पण्णत्ता, तं जहा—लवणे, कालोए, पुक्खरोदे, वरुणोदे, खीरोदे, घओदे, खोओदे।४०।

छाया—नन्दीश्वरवरस्य द्वीपस्यान्तः सप्त द्वीपाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जम्बूद्वीपो द्वीपः, धातकी-

षण्डो द्वीपः, पुष्करवरः, वरुणवरः, क्षीरवरः, घृतवर, क्षोदवरः ।

नन्दीश्वरस्य द्वीपस्यान्तः सप्त समुद्रा. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—लवणः, कालोद', पुष्करोदः, वरुणोदः, क्षीरोदः, घृतोदः, क्षोदोद ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—नन्दीश्वर वर द्वीप के भीतर सात द्वीप कथन किये गए है, जैसे—जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, पुष्करवर, वरुणवर, क्षीरवर, घृतवर औ' इक्षोदवर । नन्दीश्वरवर द्वीप के भीतर सात समुद्र प्रतिपादन किये गए है जैसे—लवणसमुद्र, कालोदसमुद्र, पुष्करोदसमुद्र, वरुणोदसमुद्र, क्षीरोदसमुद्र, घृतोदसमुद्र और ईक्षोदसमुद्र ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में भवधारणीय शरीर की उत्कृष्ट अवगहना का वर्णन किया गया है, द्वीप समुद्रो मे भी देवों का निवास है अत. अब सूत्रकार नन्दीश्वरवर द्वीप का वर्णन करते हुए कहते है कि—नन्दीश्वरवर द्वीप के भीतर सात द्वीप है और सात ही समुद्र है । उन द्वीप और समुद्रो के नामो का निर्देश मूलार्थ मे कर दिया गया है, जम्बूद्वीप से आठवा द्वीप नन्दीश्वर है, वह अन्य द्वीपो की अपेक्षा विशेष रमणीय है ।

सात श्रेणियां

मूल—सत्त सेढीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—उज्जुआयया, एगओ वंका, दुहओ वंका, एगओखुहा, दुहओखुहा, चक्कवाला, अद्धचक्कवाला ।४१।

छाया—सप्त श्रेणयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ऋज्वायता, एकतोवक्रा, द्विधातोवक्रा, एकत खा, द्विधात:खा, चक्रवाला, अर्द्धचक्रवाला ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सात श्रेणिया वर्णन की गई है, जैसे—ऋजुदीर्घ, एक ओर से वक्राकार, दोनो ओर से वक्राकार, एक ओर से अकुशाकार, दोनों ओर से अकुशाकार, चक्राकार और अर्द्धचक्राकार ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में वलगारा नन्दीश्वरवर द्वीप के अन्तर्गत द्वीपो और समुद्रो का परिचय दिया गया है ।

इस द्वीप के सभी प्रदेश श्रेणि-आधार पर अवस्थित है अत: प्रस्तुत सूत्र में श्रेणियो का वर्णन किया गया है। जिनमे जीव और पुद्गल की गति होती है से आकाश-प्रदेशो की पंक्तियो को श्रेणि कहते है। जीव और पुद्गल जव एक स्थान से दूसरे स्थान मे गमन करते है, तब श्रेणि के अनुसार ही गति करते है। कहा भी है "**अनुश्रेणि गतिः**" विना श्रेणि के उनकी गति नही हो सकती। वे श्रेणिया सात प्रकार की होती है, जैसे कि—

१. **ऋजु-आयता**—जिस श्रेणि मे जीव और पुद्गल एक समय मे ही एक स्थान से चलकर लोकान्त तक पहुच जाते है, वह श्रेणी ऊची-नीची, पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर सभी दिशाओ मे सीधी चली जाती है, वही "ऋजु-आयता" श्रेणी कहलाती है। जो आकाश-प्रदेश पंक्ति रूप मे अवस्थित है, वे ही श्रेणिया है। कहा भी है '**एते च प्रदेशश्रेणिसमूहात्मकक्षेत्राधारः श्रेण्यवस्थिता इति**" इस श्रेणी का आकार खडी सीधी रेखा के समान अथवा आडी-सीधी रेखा के समान होता है।

२. **एकतोवक्रा** जिस श्रेणि मे जीव सीधा जाकर दूसरी श्रेणि मे प्रवेश करता है उसे एकतोवक्रा कहते है। इसके द्वारा जाने वाले जीव को गन्तव्य स्थान मे पहुचने के लिये दो समय लगते है। उसका आकार अर्ध चतुष्कोण के समान होता है।

३. **उभयतोवक्रा**—जिस श्रेणि मे गति करता हुआ जीव दो बार वक्रगति करता है, उसे उभयतोवक्रा कहते है। उसका आकार पहले कुछ सीधा फिर वक्र और फिर सीधा होता है। इस श्रेणी से जानेवाले जीव को गन्तव्य स्थान तक पहुचने मे तीन समय लगते है।

४. **एकतःखा**—जिस श्रेणि मे जीव गति करता हुआ त्रसनाडी के बाई ओर से प्रवेश करता है और फिर त्रसनाड़ी द्वारा जाकर उसके वाई ओर वाले मार्ग मे उत्पन्न होता है उस श्रेणि विशेष को "**एकतःखा**" कहते है। उसका आकार अकुश के समान होता है। इस श्रेणि के एक ओर त्रसनाड़ी के बाहर का आकाश गणना मे आया हुआ है। इस श्रेणि मे उत्कृष्ट चार समय की गति होने पर भी क्षेत्र की अपेक्षा से इसको अलग कहा गया है।

५. **उभयतःखा**—जो जीव त्रसनाडी के वाहर से बाई ओर से प्रवेश करके त्रसनाडी द्वारा जाते हुए दाई ओर उत्पन्न होते है, उस श्रेणि को 'उभयतःखा' कहते है। उसका आकार दोनो ओर से मुडी हुई रेखाओ के समान होता है।

६. **चक्रवाल**—जिस श्रेणि मे पुद्गल गोलाकार गति करता है, गोल चक्कर खा कर अवस्थित होता है, वह श्रेणि चक्रवाल कहलाती है। उसका आकार वर्तुल जैसा होता है।

७. **अर्द्धचक्रवाल**—जिस श्रेणि मे आधा चक्कर खा कर पुद्गल अवस्थित हो जाता है, वह 'अर्द्धचक्रवाल' कहलाता है। उसका आकार अर्ध वर्तुल जैसा होता है।

ये सब श्रेणिया लोक पर्यन्त प्रदेशो की अपेक्षा जाननी चाहिए। इन श्रेणियो मे ही जीवो की गति होती है और पुद्गल की भी।[1]

---

१. इस विषय के विस्तृत वर्णन के लिये देखिए भगवती सूत्र का २५वाँ शतक।

इन्द्रों की सेना और सेनापति

मूल—चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए, पीढाणिए, कुंजराणिए, महिसाणिए, रहाणिए, नट्टाणिए, गंधव्वाणिए, दुमे पायत्ताणियाहिवई। एवं जहा पंचमट्ठाणे जाव किन्नरे रहाणियाहिवई, रिट्ठे णट्टाणियाहिवई, गीयरई गधव्वाणियाहिवई।

बलिस्स ण वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो सत्ताणिया, सत्त अणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए। महद्दुमे पायत्ताणियाहिवई जाव किंपुरिसे रहाणियाहिवई, महारिट्ठे णट्टाणियाहिवई, गीयजसे गंधव्वाणियाहिवई।

धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई, पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए। रुद्दसेणे पायत्ताणियाहिवई जाव आणंदे रहाणियाहिवई, नदणे णट्टाणियाहिवई, तेयली गंधव्वाणियाहिवई।

भूयाणंदस्स सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए। दक्खे पायत्ताणियाहिवई जाव णंदुत्तरे रहाणियाहिवई रई णट्टाणियाहिवई, माणसे गंधव्वाणियाहिवई। एवं जाव घोसमहाघोसाणं नेयव्वं।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए। हरिणेगमेसी पायत्ताणियाहिवई जाव माढरे रहाणियाहिवई, सेए णट्टाणियाहिवई, तुंबुरू गंधव्वाणियाहिवई।

ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सत्त अणिया सत्त अणियाहिवई पण्णत्ता, तं जहा—पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए। लहुपरक्कमे पायत्ताणियाहिवई जाव महासेए णट्टाणियाहिवई, रए गंधव्वाणियाहिवई। सेसं जहा पंचम ट्ठाणे। एवं जाव अच्चुतस्सवि नेयव्वं।४२।

छाया—चमरस्य खलु असुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य सप्तानीकानि, सप्तानीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं, पीठानीक, कुञ्जरानीकं, महिषानीकं, रथानीकं, नाट्यानीक, गन्धर्वानीकम्। द्रुम पादातानीकाधिपतिः। एव यथा पञ्चमस्थाने यावत् किन्नरो रथानीकाधिपतिः, रिष्टो नाट्याधिपतिः गीतरतिर्गन्धर्वानीकाधिपतिः।

बले: वैरोचनेन्द्रस्य वैरोचनराजस्य सप्त अनीकानि, सप्त अनीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं यावद् गन्धर्वानीकम्। महाद्रुम पादातानीकाधिपतिर्यावत् किम्पुरुषो रथानीकाधिपतिः, महारिष्टो नाट्यानीकाधिपतिः, गीतयशो गन्धर्वानीकाधिपति।

धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य सप्तानीकानि, सप्तानीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं यावत् गन्धर्वानीकम्। रुद्रसेनः पादातानीकाधिपतिर्यावद् आनन्दो रथानीकाधिपतिः, नन्दनो नाट्यानीकाधिपतिः, तेतली गन्धर्वानीकाधिपतिः। भूतानन्दस्य सप्तानीकानि, सप्तानीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं यावत् गन्धर्वानीकम्। दक्ष पादातानीकाधिपतिर्यावद् नन्दोत्तरो रथानीकाधिपतिः, रतिर्नाट्यानीकाधिपतिः, मानसो गन्धर्वानीकाधिपतिः। एवं यावत् घोषमहाघोषयोर्नेतव्यम्। शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सप्तानीकानि, सप्तानीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं यावत् गन्धर्वानीकम्। हरिनैगमेषी पादातानीकाधिपतिर्यावन्माठरो रथानीकाधिपतिः, श्वेतो नाट्यानीकाधिपतिः, तुम्बरुर्गन्धर्वानीकाधिपतिः।

ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सप्तानीकानि, सप्तानीकाधिपतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पादातानीकं यावद् गन्धर्वानीकम्। लघुपराक्रम पादातानीकाधिपतिर्यावन्महाश्वेतो नाट्यानीकाधिपतिः, रतिर्गन्धर्वानीकाधिपतिः, शेषं यथा पञ्चमस्थाने। एवं यावत् अच्युतस्यापि नेतव्यम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—चमर असुरेन्द्र असुरकुमारराज के सात अनीक है और सात ही अनीकाधिपति कथन किये गए है, जैसे—पादातानीक, पीठानीक, कुञ्जरानीक, महिपानीक, रथानीक, नाट्यानीक, गन्धर्वानीक। द्रुमदेव पादातानीकाधिपति है। इसी प्रकार जसे पाचवे स्थान मे वर्णन किया गया है, यावत् किन्नर रथानीकाधिपति है। रिष्ट नाट्यानीकाधिपति और गीतरति गन्धर्वानीकाधिपनि है।

बलि वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज के सात अनीक एवं सात अनीकाधिपति है, जैसे—पादातानीक यावत् गन्धर्वानीक। महाद्रुम-देव पादातानीकाधिपति है यावत् किम्पुरुष रथानीकाधिपति है और महारिष्ट नाट्यानीकाधिपति

है, गीतयश गन्धर्वानीकाधिपति है।

धरणेन्द्र नागकुमारेन्द्र नागकुमार राज के सात अनीक है और सातों के ही अनीकाधिपति है, जैसे पादातानीक यावत् गन्धर्वानीक। रुद्रसेन पादाताधिपति यावत् आनन्द रथानीकाधिपति है एवं नन्दन नाट्यानीकाधिपति है। तेतली गन्धर्वानीकाधिपति है।

भूतानन्द के सात अनीक तथा सात अनीकाधिपति है—पादातानीकाधिपति यावत् गन्धर्वानीकाधिपति। दक्ष पादातानीकाधिपति यावत् नन्दोत्तर रथानीकाधिपति है। रति नाट्यानीकाधिपति है तथा मानस गन्धर्वानीकाधिपति है। एवं यावत् घोष और महाघोष इन्द्रो के विषय में भी समझना चाहिये।

शक्र देवेन्द्र देवराज के सात अनीक तथा सात अनीकाधिपति है—पादातानीक यावत् गन्धर्वानीकाधिपति। हरिणैगमैषी पादातानीकाधिपति यावत् माठर रथानीकाधिपति, श्वेत नाट्यानीकाधिपति है एवं तुम्बरु गन्धर्वानीकाधिपति है।

ईशानेन्द्र देवराज के सात अनीक तथा सात अनीकाधिपति है, जैसे—पादातानीकाधिपति यावत् गन्धर्वानीकाधिपति। लघुपराक्रम पादातानीकाधिपति यावत् महाश्वेत नाट्यानीकाधिपति है एवं रति गन्धर्वानीकाधिपति है। शेष वर्णन जैसे पञ्चम स्थान मे किय गया है अच्युतेन्द्र तक का वर्णन इसी भाति जान लेना चाहिये।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे सात श्रेणियो का अर्थात् जीव की गमन-रीतियो का वर्णन किया गया है। यदि जीव ससार से देवलोको में जाता है तो उसे वहा की शासन-व्यवस्था एव शासको से परिचित होना आवश्यक है। शासन-व्यवस्था का दायित्व सेनाओ और उनके सेनापतियो का होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में इन्द्रो की सेनाओ का और उनके सेनापतियो के नामों का निर्देश किया गया है।

अनीक शब्द का सामान्य अर्थ समूह है, परन्तु वह सैनिक-समूह के लिये रूढ हो चुका है जैसे धरती के राजाओ की चतुरङ्गिणी सेना होती है वैसे ही देवेन्द्रो की सेना सप्ताङ्गिनी होती है जैसे कि—पदात्यनीक, पीठानीक, कुंजरानीक, महिषानीक, रथानीक, नाट्यानीक और गंधर्वानीक। पैदल चलनेवाली सेना को पदात्यनीक कहते है। घोड़ो पर सवार होकर चलनेवाली सेना को पीठानीक

कहते है। हाथियो पर वैठकर चलनेवाली मेना को कुंजरानीक कहा जाता है। भैसों पर बैठकर चलनेवाली मेना को महिषानीक तथा रथो पर वैठकर चलनेवाली सेना रथानीक कहलाती है।

हाथी, घोडे, भैसे आदि पशु देवलोक में नही हैं, अतः आभयोगिक देव ही उन जैसा आकार धारण कर लेते है। इसी दृष्टि से कुञ्जर भैसों आदि की सेना का वर्णन किया गया है। नर्तकों की सेना को नाट्यानीक कहते है और गधर्वो की सेना को गधर्वानीक कहा जाता है। शत्रु को नाटक दिखा कर तथा सगीत के द्वारा वश करने का काम नाट्यानीक और गंधर्वानीक को करना होता है।

यहां जैसे सप्तांगिनी सेना का वर्णन किया गया है वैसे ही उसके साथ ही सेनापतियों के नाम भी दिए गए है। नामो में कही एकता है और कही भिन्नता है। इस विषय की विशेष जानकारी के लिये नीचे विवरण दिया जाता है—

दक्षिणदिशा में रहनेवाले असुरकुमार महाराज चमरेन्द्र के सात अनीक है और उनके अधिनायक भी सात ही है, जिनके नाम है:—द्रुम, सौदाम, कुंथु, लोहिताक्ष, किन्नर, रिष्ट और गीतरति।

उत्तरदिशा में रहनेवाले असुरकुमारो के महाराज वलीन्द्र के सात अनीक हैं और उनके अधिनायक सेनानी भी क्रमशः सात ही है। उनके नाम निम्नलिखित है:—महाद्रुम, महासौदाम, मालकार, महालोहिताक्ष, किंपुरुष, महारिष्ट और गीतयश।

दक्षिणदिशा में रहनेवाले नागकुमार महाराज धरणेन्द्र के सात अनीक हैं और सात ही अनीकों के अधिनायक सेनानी है, उनके नाम क्रमशः इस प्रकार है :—रुद्रसेन, यशोधर, सुदर्शन, नीलकठ, आनन्द, नन्दन, तेतली।

उत्तरदिशा में रहनेवाले नागकुमार महाराज भूतानद के सात अनीक है और सात अनीकों के सेनापतियों के नाम क्रमशः निम्नलिखित है.—जैसे कि दक्ष, सुग्रीव, सुविक्रम, श्वेतकण्ठ, नदीत्तर, रति और मानस।

धरणेन्द्र की तरह आठ दाक्षिणात्य भवनपति इन्द्रों के सेनापतियों के नाम वेणुदेव, हरिकान्त, अग्निशिख, पूर्णजलकान्त, अमितगति, वे लम्ब और घोप समझने चाहिए।

भूतानन्द इन्द्र के सेनापतियो के जो नाम है, वे ही नाम उत्तरदिशा मे रहनेवाले वेणुदालि, हरिसह, अग्निमानव, वशिष्ट, जलप्रभ, अमितवाहन, प्रभजन और महाघोप इन आठ भवनपति इन्द्रो के सेनापतियो के भी है।

कुछ कल्प देवलोक भी दक्षिण और उत्तर मे विभक्त है। सौधर्म देवलोक मे शक्रेन्द्र महाराज का राज्य है। उसके भी सात प्रकार के अनीक और सात ही उनके अधिपति सेनानी है। पदाति सेना का सेनानी हरिनैगमेषी, अश्वसेना का वायु, कुञ्जर सेना का सेनानी ऐरावण, वृषभानीक का सेनानी दामर्द्धि, रथसेना का सेनापति माठर, नाट्यानीक का सेनापति श्वेत, गधर्वानीक के सेनानी का नाम तुम्बरू है।

कल्पदेवलोको मे सौधर्म देवलोक दक्षिण की ओर है और ईशान देवलोक उत्तर दिशा में है। उस पर शासन करनेवाले इन्द्र को ईशानेन्द्र कहते है। उसकी सेना भी सात प्रकार की है।

और उन सेनाओं के सेनानी भी सात ही है। उनके नाम निम्नलिखित है जैसे कि पदाति सेना का अधिपति लघुपराक्रम है, अश्वानीक का अधिपति महावायु, हस्ती सेना के सेनानी पुष्पदत, वृषभानीक का अधिपति महादामर्द्धि, रथानीक का अधिपति महामाठर, नाट्यानीक का सेनानी महाश्वेत और गधर्वानीक के सेनानी का नाम रत है।

तीसरे, पाचवे तथा सातवे कल्पदेवलोक के सेनापतियो के नाम शक्रेन्द्र की तरह जानने चाहिए और चौथे, छट्ठे, आठवे, दसवे और वारहवें कल्प के इन्द्रो के सेनानियों के नाम ईशानेन्द्र के सेनानियो की तरह जानने चाहिए। देवों तथा सेनापतिगो आदि की आराधना-विधि गुरु-आम्नाय से जाननी चाहिए।

इन्द्रों के अनीकाधिपतियों की कक्षाओं के देव

मूल—चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो दुमस्स पायत्ताणियाहिवइस्स सत्त कच्छा पण्णत्ता, तं जहा—पढमा कच्छा जाव सत्तमा कच्छा।

चमरस्स णमसुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो दुमस्स पायत्ताणियाहिवइस्स पढमाए कच्छाए चउसट्ठि देवसहस्सा पण्णत्ता। जावइया पढमा कच्छा, तव्विगुणा दोच्चा कच्छा, तव्विगुणा तच्चा कच्छा, एव जाव जावइया छट्ठा कच्छा तव्विगुणा सत्तमा कच्छा।

एवं बलिस्सवि। णवर महद्दुमे सट्ठिदेवसाहस्सिओ, सेसं तं चेव।

धरणस्स एवं चेव, णवरमट्ठावीसं देवसहस्स,, सेसं तं चेव। जहा धरणस्स एवं जाव महाघोसस्स, नवरं पायत्ताणियाहिवई अन्ने, ते पुव्व भणिया।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो हरिणेगमेसिस्स सत्त कच्छाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—पढमा कच्छा, एवं जहा चमरस्स तहा जाव अच्चुयस्स। णाणत्तं पायत्ताणियाहिवई णं ते पुव्व भणिया।

देव परिमाणमिमं—सक्कस्स चउरासीति देवसहस्सा। ईसाणस्स असीई देवसहस्साइं। देवा इमाए गाहाए अणुगंतव्वा—

चउरासीइ असीइ, वावत्तरि सत्तरि य सट्ठिया।
पन्ना चत्तालीसा, तीसा वीसा दस सहस्सा॥१॥

जाव अच्चुयस्स लहुपरक्कमस्स दस देवसहस्सा जाव जावत्तिया छट्ठा कच्छा तव्विगुणा सत्तमा कच्छा ।४३।

छाया—चमरस्य खलु असुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य द्रुमस्य पादातानीकाधिपतेः सप्त कक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रथमा कक्षा यावत् सप्तमा कक्षा ।

चमरस्यासुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य द्रुमस्य पादातानीकाधिपते प्रथमायां कक्षायां चतुःषष्टिर्देवसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । यावतिका प्रथमा कक्षा तद्द्विगुणा द्वितीया कक्षा, तद्द्विगुणा तृतीया कक्षा, एव यावत् यावतिका षष्ठी कक्षा, तद्द्विगुणा सप्तमी कक्षा । एव बलेरपि । नवरं महाद्रुमः षष्टिदेवसाहस्रिक, शेषं तदेव ।

धरणस्यैवञ्चैव, नवरमष्टाविंशतिर्देवसहस्राणि, शेष तदेव, यथा धरणस्य । एव यावत् महाघोषस्य, नवरं पादातानीकाधिपतयोऽन्ये ते पूर्वं भणिता ।

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य हरिणैगमैषिणः सप्त कक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा प्रथमा कक्षा, एवं यथा चमरस्य तथा यावदच्युतस्य । नानात्वं पादातानीकाधिपतीनां ते पूर्वंभणिता ।

देवपरिमाणमिदम्—शक्रस्य चतुरशीतिर्देवसहस्राणि । ईशानस्याशीतिर्देवसहस्राणि । देवा अनया गाथया अनुगन्तव्याः—

चतुरशीतिरशीतिर्द्वासप्ततिः सप्ततिश्च षष्टिः ।
पञ्चाशच्चत्वारिंशत्, त्रिंशद् विंशति दशसहस्राणि ॥१॥

यावदच्युतस्य । लघुपराक्रमस्य दशदेवसहस्राणि यावद् यावतिका षष्ठी कक्षा, तद्द्विगुणा सप्तमी कक्षा ।

शब्दार्थ—चमरस्स णं असुरेन्द्रस्य असुरकुमाररञ्ञो चमर असुरेन्द्र असुरकुमारराज के; दुमस्स पायत्ताणियाहिवइस्स—द्रुम नामक पादातानीकाधिपति की, सत्त कच्छाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—सात कक्षाये प्रतिपादन की गई है, जैसे; पढमा कच्छा जाव सत्तमा कच्छा—प्रथमा कक्षा से लेकर सातवी कक्षा तक ।

चमरस्स णमसुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो—चमर असुरेन्द्र असुरकुमारराज के, दुमस्स पायत्ताणियाहिवइस्स—द्रुम नामक पादातानीकाधिपति की; पढमाए कच्छाए—प्रथम कक्षा मे, चउसट्ठिदेवसहस्सा पण्णत्ता—चौसठ हजार देव कथन किये गए है, जावइया पढमा कच्छा—जितनी प्रथमा कक्षा है; तव्विगुणा दोच्चा कच्छा—उससे द्विगुणित दूसरी कक्षा है, तव्विगुणा तच्चा कच्छा—उससे द्विगुणित तीसरी कक्षा है; एवं जाव जावइया छट्ठा कच्छा—इस क्रम से जितनी छट्ठी कक्षा है, तव्विगुणा सत्तमा कच्छा—उससे द्विगुणित सातवी कक्षा है ।

एवं वलिस्सवि—इसी प्रकार वलीन्द्र की भी सात ही कक्षाये जाननी चहियें,

णवरं—किन्तु इतना विशेष है कि; **महद्दुमे सट्ठिदेवसाहस्सिओ**—महाद्रुम के साठ हजार देव हैं; **सेसं तं चेव**—शेष पूर्ववत् ही है।

धरणस्सए वं चेव—धरणेन्द्र की कक्षाए भी इसी प्रकार समझनी चाहिये, **णवरमट्ठावीसं देवसहस्सा**—किन्तु उसमे अट्ठाईस हजार देव है। **सेस तं चेव**—शेष उसी प्रकार है। **जहा धरणस्स एवं जाव महाघोसस्स**—जैसे धरणेन्द्र का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार महाघोप आदि की भी कक्षाए जाननी चाहिए; **णवर**—किन्तु इतना विशेप है कि; **पायत्ताणियाहिवई अन्ने, ते पुव्वभणिया**—पादातानीक-अधिपति अन्य है, उनका वर्णन किया जा चुका है।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो हरिणेगमेसिस्स—शक्र देवेन्द्र देवराज के हरिणैगमेषी की; **सत्त कच्छाओ पण्णत्ताओ**—सात कक्षाए कही गई हैं, जैसे; **पढमा कच्छा, एवं जहा चमरस्स**—प्रथमा कक्षा से लेकर सातवी कक्षा तक, ठीक उसी प्रकार जैसे चमरेन्द्र की कक्षाये बताई गई है। **तहा जाव अच्चुयस्स**—उसी तरह अच्युतेन्द्र तक कक्षा-व्यवस्था समझनी चाहिए। **णाणत्तं**—परन्तु विशेषता यह है कि, **पायत्ताणियाहिवईण ते पुव्वभाणिया**—जो पादातानीक-अधिपति है, वे पहले कहे जा चुके है।

देवपरिमाणमिमं—देवो का परिमाण इस तरह है, **सक्कस्स चउरासीति देवसहस्सा**—शक्रेन्द्र के चौरासी हजार देव हैं, **ईसाणस्स असीति देवसहस्साइं**—ईशानेन्द्र के अस्सी हजार देव है; **देवा इमाए गहाए अणुगंतव्वा**—देवो का परिमाण इस गाथा से जानना चाहिए।

चउरसीति—चौरासी; **असीइ** - अस्सी; **बावत्तरि**—बहत्तर, **सत्तरि**—सत्तर; **य**—और, **सट्ठिया**—साठ हजार, **पन्नाचत्तालीसा**—पच्चास और चालीस, **तीसा वीसा दस सहस्सा**—तीस, बीस और दस हजार है। **जाव अच्चुयस्स**—यावत् अच्युतेन्द्र के, **लहुपरक्कमस्स**—लघु पराक्रम अधिपति के, **दस देवसहस्सा**—दश हजार देव है, **जाव जावइया**—यावत् जितनी, **छट्ठा कच्छा, तव्विगुणा सत्तमा कच्छा**—छट्ठी कक्षा है, उससे द्विगुणित सप्तमी कक्षा है।

मूलार्थ—चमर असुरेन्द्र असुरकुमारराज के द्रुम पादातानीक अधि[illegible] की सात कक्षाये वर्णन की गई है, यथा—प्रथमा कक्षा से लेकर सप्तमी कक्षा तक। चमर असुरेन्द्र असुरकुमारराज के द्रुम पादातानीक अधिपति की प्रथमा कक्षा में चौसठ हजार देव है। जितने प्रथम कक्षा में देव है उससे दुगने दूसरी कक्षा मे, उससे द्विगुण तीसरी कक्षा मे। इ[illegible] क्रम से जितने देव छठी कक्षा मे है, उससे दुगने सातवी कक्षा मे कथन किये गये है।

इसी प्रकार बलीन्द्र के विषय मे भी जानना चाहिये। विशेष केवल इतना

ही है कि महाद्रुम की कक्षा मे साठ हज़ार देव है, शेष वर्णन पूर्ववत् ही जानना चाहिये ।

धरणेन्द्र की कक्षाए भी इसी प्रकार समझनी चाहिए, किन्तु विशेष इतना ही है कि उसकी प्रथमा कक्षा मे अट्ठाईस हज़ार देव है, शेष पूर्ववत् । जैसे धरणेन्द्र का वर्णन है, उसी प्रकार महाघोपेन्द्र तक के विषय मे जानना चाहिये । विशेषता इतनी है कि पादातानीक अधिपति के विषय में जैसे पूर्व वर्णन किया गया है, तद्वत् ही समझना चाहिये ।

शक्र देवेन्द्र देवराज के हरिणैगमैपी देव की सात कक्षाये है, जैसे प्रथमा कक्षा से लेकर सातवी कक्षा तक यथा चमरेन्द्र के विपय मे वर्णन किया गया है, उसी प्रकार अच्युतेन्द्र तक के विपय मे भी जानना चाहिये । विशेषता इतनी है कि पादातानीक-अधिपति जैसे पूर्व कथन किये जा चुके है, वैसे ही है–

देवो का परिमाण इस प्रकार है–शक्रेन्द्र के चौरासी हज़ार, ईशानेन्द्र के अस्सी हज़ार देव प्रथमा कक्षा मे है । गाथानुसार देवो की संख्या इस प्रकार है ।

चौरासी हज़ार, अस्सी हजार, बहत्तर हजार, सत्तर हज़ार, साठ हज़ार, पचास हज़ार, चालीस हजार, तीस हज़ार, बीस हज़ार, दस हज़ार यावत् अच्युतेन्द्र के लघु पराक्रम देव के दस हजार देव प्रथमा कक्षा मे है यावत् जितने षष्ठी कक्षा मे देव है, उमसे दुगुने सातवी कक्षा के देव जानने चाहिये ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे देवो की सेनाओ और सेनापतियो का उल्लेख किया गया है । अब सूत्रकार पाठक की इस जिज्ञासा का समाधान करते है कि देव-सेनाओ की सख्या कितनी है ? असुरकुमार भवन-पतियो के दो इन्द्र है—चमरेन्द्र और वलीन्द्र । चमरेन्द्र का पदातानीक–पैदल फौज का सेनानी द्रुम है, उस का अखड शासन सात कक्षाओ पर चलता है । पदाति सेना के एक किसी वर्ग का नाम कक्षा है । पहली कक्षा मे जितने सैनिक है उससे दुगने सैनिक दूसरी कक्षा मे है, दूसरी से दुगुणे तीसरी कक्षा मे है । इसी प्रकार यह सख्या बढती जाती है और इस क्रम से छठी से सातवी कक्षा मे दुगने सैनिक हो जाते है। जैसे कि द्रुम नामक सेनानी की पहली कक्षा मे ६४००० सैनिक है। दूसरी मे १ लाख २८

हजार, तीसरी कक्षा मे २ लाख ५६ हजार सैनिक है, चौथी कक्षा मे ५ लाख १२००० है पाचवी कक्षा मे १० लाख २४ हजार है, छट्ठी कक्षा मे २० लाख ४८ हजार सैनिक है, सातवी कक्षा मे ४० लाख ९६ हजार सैनिक है।

बलीन्द्र असुरकुमार महाराज की पैदल सेना का सेनानी महाद्रुम है। उसकी सेना भी सात कक्षाओ मे विभाजित है। उसकी पहली कक्षा मे ६० हजार देवसैनिक है, दूसरी कक्षा मे १ लाख २० हजार सैनिक है, तीसरी कक्षा मे २ लाख ४० हजार सेनिक है चौथी कक्षा मे ४ लाख ८० हजार सैनिक है, पाचवी कक्षा मे ६ लाख ६० हजार सेनिक है, छट्ठी कक्षा मे १६ लाख २० हजार सैनिक है और सातवी कक्षा मे ३८ लाख ४० हजार सैनिक है।

नागकुमार भवनपतियो के दो इन्द्र है—धरण और भूतानन्द। धरणेन्द्र की पदाति सेना का सेनानी रुद्रसेन है जिसका दूसरा नाम भद्रसेन भी है। उसकी सेना भी सात कक्षाओ मे विभक्त है उसकी पहली कक्षा मे २८ हजार देव है उससे दुगने दूसरी कक्षा मे इसी क्रम से सातवी कक्षा तक पूर्व-पूर्व से दुगुनी-दुगुनी सख्या समझ लेनी चाहिए।

भूतानन्द इन्द्र की पैदल सेना का सेनापति दक्ष है उसकी सेना भी अन्य भवन-पति देवो की सेनाओ के समान सात कक्षाओ मे वटी हुई है। इसकी पहली कक्षा मे सूत्रकार ने अलग सख्या नही बताई। केवल इतना ही कहा है कि जंसे धरणेन्द्र के विषय मे सख्या का उल्लेख किया गया है उसी तरह सख्या जाननी चाहिए। इसी तरह शेष १६ भवनपति इन्द्रो के पदाति सेनापतियो के अधीन सात-सात कक्षाए बतलाई गई है।

बारह कल्पदेवलोकों मे १० इन्द्र है। जहा-जहां इन्द्र का शासन है वहा-वहा सेना और सेनानी का होना अनिवार्य है, किन्तु इस प्रसग मे जिन पदाति सेनाओ की सात-सात कक्षाए है उन्ही का उल्लेख किया गया है। शकेन्द्र की पदाति सेना का सेनानी हरिणैगमैषी है। उसकी सेना भी सात कक्षाओ मे विभक्त है। पहली कक्षा मे ८४ हजार देवसैनिक है।

ईशानेन्द्र के लघुपराक्रम नामक सेनानी की पहली कक्षा में ८० हजार देव-सैनिक है। इसी क्रम से ७२ हजार, ७० हजार, ६० हजार, ५० हजार, ४० हजार, ३० हजार, २० हजार और १० हजार देव कथन किए गए है। पहली कक्षा से दूसरी कक्षा मे दुगने, इसी क्रम से छट्ठी कक्षा से सातवी कक्षा मे दुगने देवो का कथन किया गया है।

सभव है उक्त सात कक्षाए विभिन्न भागो मे काम आती हो। यह विषय सेनापतियो के ध्यान देने योग्य है। इस सूत्र से सेना की रक्षा व न्याय-प्रचार व्यक्त होता है। राजा के तीन बल होते है। जैसे कि धान्यबल, धनबल और सेनाबल। इनके बिना राजा का प्रभाव नही रहता। गुप्तचर उसकी आंखे होती है, उनके बिना राजा को विरोधियो का ज्ञान नही होता। सेना के द्वारा इन्द्र का ऐश्वर्य व्यक्त होता है और विरोधी दबे रहते है। अराध्यादेवों की आराधना के विषय मे विधि-विधान गुरु-आम्नाय से जानना चाहिए।

सप्तविध वचन

मूल—सत्तविहे वयणविकप्पे पण्णत्ते, तं जहा—आलावे, अणालावे, उल्लावे, अणुल्लावे, संलावे, पलावे, विप्पलावे ।४४।

छाया—सप्तविधो वचन-विकल्पः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—आलापः, अनालापः, उल्लापः, अनुल्लापः, संलाप., प्रलापः, विप्रलापः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—वचन के सात भेद कथन किये गये है, जैसे—आलाप, अनालाप, उल्लाप, अनुल्लाप, संलाप, प्रलाप और विप्रलाप।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे देव सेनाओ की कक्षाओं का परिचय दिया गया है। देव जाति मे जन्म लेनेवालो के वचन सयमित होते है और देवलोको मे वचित वही रहते है, जिनके वचन असयत होते है, अतः अब सूत्रकार क्रम-प्राप्त वचन के भेदो का निरूपण करते है ।

मनुष्य जो कुछ भी कहता व बोलता है, उसके सात रूप है। उनमें मे किसी एक का प्रयोग वह अवश्य ही करता है। वे सात भेद इस प्रकार है:—

१ **आलाप**—थोडा बोलना, परिमित एव सत्य बोलना, मधुर, प्रिय एव नम्रता से बोलना आलाप है।

२. **अनालाप**—कुत्सित एव दुष्ट भाषण करना, कहने योग्य वचन न बोलना, असत्य एव मिश्रभाषा बोलना, ताने मारना आदि अनालाप के विविध रूप है।

३. **उल्लाप**—जो वचन लक्षणा के आधार पर व्यग्य से कहे जाते है, उन्हे उल्लाप कहा जाता है।

४. **अनुल्लाप**—लक्षणा और व्यजना का आश्रय लेकर जो दुष्ट वचनो का प्रयोग किया जाता है वह अनुल्लाप कहलाता है। पुन पुन असयत वचन बोलना ही अनुल्लाप है।

५. **संलाप**—परस्पर वातचीत करना, जिज्ञासा व निर्णयार्थ प्रश्नोत्तर करना ही सलाप है।

६. **प्रलाप**—निरर्थक एव पागलो की तरह अट-सट बोलना ही प्रलाप है।

७. **विप्रलाप**—प्रलाप वचनों का नाना प्रकार से बोलना विप्रलाप कहलाता है।

इनमे से आलाप, उल्लाप और सलाप वचनो का सतजन प्रयोग करते है, शेष चार प्रकार के वचन हेय एव त्याज्य है, क्योकि उनका प्रयोग हीनवृत्ति असयत व्यक्ति ही किया करते है। ●

विनय के भेदोपभेद

मूल—सत्तविहे विणए पण्णत्ते, तं जहा–णाणविणए, दंसणविणए, चरित्तविणए, मणविणए, वइविणए, कायविणए, लोगोवयारविणए।

पसत्थ मणविणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा–अपावए, असावज्जे, अकिरिए, निरुवक्केसे, अणण्हकरे, अच्छविकरे, अभूयाभिसंकमणे।

अप्पसत्थमण विणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा–पावए, सावज्जे. सकिरिए, सउवक्केसे, अण्हकरे, छविकरे, भूयाभिसंकमणे।

पसत्थ वइविणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा–अपावए, असावज्जे जाव अभूताभिसंक्कमणे।

अप्पसत्थ वइविणए सत्तविहे-पण्णत्ते, तं जहा–पावए जाव भूयाभिसंकमणे।
पसत्थ कायविणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा–आउत्तं गमणं, आउत्तं ठाणं, आउत्तं निसीयणं, आउत्तं तुअट्टणं, आउत्तं उल्लंघणं, आउत्तं पल्लंघणं, आउत्तं सव्विदियजोगजुंजणया।

अप्पसत्थकायविणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा–अणाउत्तं गमणं जाव अणाउत्तं सव्विंदियजोगजुंजणया।

लोगोवयार विणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा–अब्भासवत्तियं, परच्छंदाणुवत्तियं, कज्जहेउं, कयपडिकिइया, अत्तगवेसणया, देसकालण्णुया, सव्वत्थेसु यापडिलोमया।४५।

छाया—सप्तविधो विनयः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ज्ञानविनय., दर्शनविनयः, चारित्रविनय, मनोविनयः, वाग्विनयः, कायविनयः, लोकोपचारविनय.।

प्रशस्तमनोविनय, सप्तविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अपापः, असावद्यः, अक्रियः, निरुपक्लेशः, अनाश्रवकरः, अक्षपिकरः, अभूताभिसंक्रमणः।

अप्रशस्तमनोविनयः सप्तविध. प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पापकः, सावद्यः, सक्रियः, सोपक्लेशः, आस्रवकरः, क्षपिकरः, भूताभिसंक्रमणः।

प्रशस्तवाग्विनयः सप्तविधः प्रज्ञप्तस्यथा—अपापकः, असावद्यो यावत् अभूताभिसंक्रमणः।

अप्रशस्तवाग्विनयः सप्तविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पापको यावद् भूतामिसंक्रमणः।

प्रशस्तकायविनयः सप्तविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—आयुक्त गमनम्, आयुक्तं स्थानम्, आयुक्तं निषीदनम्, आयुक्तं त्वग्वर्तनम्, आयुक्तमुल्लंघनं, आयुक्तं प्रलंघनम्, आयुक्तं सर्वेन्द्रिययोगयोजनता ।

अप्रशस्तकायविनय सप्तविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अनायुक्तं गमनं यावद् अनायुक्तं सर्वेन्द्रिययोजनता ।

लोकोपचारविनयः सप्तविध प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अभ्यासवर्त्तित्वं, परच्छन्दानुवर्त्तित्वं, कार्यहेतुः, कृतप्रतिकृतिता, आत्मगवेषणता (आर्त्तगवेषणता), देश-कालज्ञता, सर्वार्थेषु चाप्रतिलोमता ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सात प्रकार का विनय वर्णन किया गया है, जैसे—ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चारित्र-विनय, मनोविनय, वचनविनय, कायविनय, लोकोपचार विनय ।

प्रशस्तमनोविनय के सात भेद हैं, जैसे—पाप से रहित मन, सावद्यरहित-मन, क्रिया-रहित मन, क्लेश-रहित मन, आस्रव-रहित मन, प्राणियों को पीड़ा से रहित मन, प्राणियों को भयभीत न करनेवाला मन ।

अप्रशस्त मनोविनय सात प्रकार का है, जैसे—पापयुक्तमन, सावद्यमन, सक्रिय मन, संक्लेशयुक्त मन, आस्रव-सहित मन, जीवों के लिये पीड़ा-कारी मन, जीवों को भयभीत करनेवाला मन ।

प्रशस्त वचन-विनय के सात भेद है, जैसे—पाप से रहित वचन, सावद्य से रहित वचन से लेकर—जीवों को भयभीत न करनेवाले वचन तक ।

अप्रशस्त वचन-विनय सात प्रकार का है, जैसे—पापकारी वचन से लेकर जीवों को भयभीत करनेवाले वचन तक ।

प्रशस्तकाय-विनय सात प्रकार का है, जैसे—उपयोगपूर्वक चलना, उपयोग पूर्वक खड़े होना, उपयोग पूर्वक शयन करना, उपयोग पूर्वक उल्लंघन करना, उपयोग पूर्वक प्रलघन करना, उपयोग पूर्वक सर्व इन्द्रियों का योग जोड़ना ।

लोकोपचार-विनय सात प्रकार का है, जैसे—विद्या-प्राप्ति के लिये गुरु

आदि के पास बैठना, उनकी आज्ञा का पालन करना, अपने कार्य के लिये उनकी विनय करना, उनके किये हुए उपकार का प्रत्युपकार करना, आत्म-गवेषण अथवा आर्त्त-गवेषण करना, देश-कालज्ञ होना और सभी कार्यों में अनुकूल वर्तना ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे देव-सेनाओं की सख्या का विवरण उपस्थित किया गया है, देवत्व की प्राप्ति के आधार में विनय प्रमुख है, अत: अब सूत्रकार विनय-भेदो का वर्णन करते है ।

विनय शब्द के अनेक अर्थ है—अनुशासन, नीति शिक्षा, नम्रता, संयम, प्रणाम, अभ्युत्थान, गुणीजनो का सम्मान आदि । वृत्तिकार ने विनयशब्द की व्युत्पत्ति की है—**"विनीयतेऽष्टप्रकारं कर्मानेनेति विनय:"** जिसके द्वारा आठ प्रकार का कर्ममल दूर हो वही विनय है। दूसरे को बड़ा मानकर उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति दिखाने तथा उसकी प्रशसा करने को भी विनय कहते है । उसके सात भेद है, जैसे कि ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चारित्र-विनय, मन-विनय, वचन-विनय, काय-विनय और लोकोपचार-विनय ।

१. **ज्ञानविनय**—ज्ञान एव ज्ञानियो पर दृढ निष्ठा रखना, उनका बहुमान करना, उनके वचनो का मनन करना, विधि-पूर्वक ज्ञान का ग्रहण करना, ज्ञानावरणीय कर्मबध के छ: हेतुओ से दूर रहना, स्वाध्याय-ध्यान में सलग्न रहना आदि ज्ञान-विनय के अनेक रूप है ।

२. **दर्शन-विनय**—इसके मुख्यत: दो भेद है, शुश्रूषा और अनाशातना । दर्शन-सपन्न व्यक्ति की सेवा करना, स्तुति एव सत्कार करना, सामने आते हुए को देखकर खडे हो जाना, वस्त्र आदि उपकरणो से उनका सम्मान करना, आसीन होने के लिये निवेदन करना, उन्हे आसन देना, हाथ जोडना, प्रदक्षिणा करना, आते हो तो सामने जाना, बैठे हो तो उपासना करना, जाते हो तो कुछ दूरी तक पहुचाने जाना आदि-शुश्रूषा विनय के अनेक रूप है । इस तरह से यह १० प्रकार की शुश्रूषा-विनय है ।

अनुचित क्रिया की निवृत्ति ही अनाशातना विनय है । इसके १५ भेद है जैसे कि तीर्थंकर, केवलि-भाषित धर्म, धर्माचार्य, उपाध्याय, स्थविर-कुल, गण, सघ, साभोगिक, क्रिया, मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन.पर्यवज्ञान और केवलज्ञान इन १५ की आशातना न करना, इन १५ का भक्तिपूर्वक बहुमान करना, इन १५ का वर्णवाद अर्थात् स्तुति-प्रशसा करना इस तरह कुल मिलाकर इसके ४५ भेद हो जाते है ।[1]

सुस्सूसणा अणासायणा य विणओ उ दसणे दुविहो ।
दसणगुणाहिएसु कज्जइ सुस्सूसणा विणओ ॥
सक्कार[1]-ब्भुट्ठाणो[2] सम्माणा[3]-सण अभिग्गहो तह य[4] ।
आसणमणुप्पयाण[5], किइकम्म[6] अजलिग्गहो य[7] ।
इंतस्सऽणुगच्छणया[8], ठियस्स तह पज्जुवासणा भणिया[9] ।
गच्छंताणुव्वयण[10] एसो सूसणा विणओ ॥ इति वृत्तिकार.

साभोगिक का अर्थ होता है एक समाचारी वाले साधु,और क्रिया शब्द आस्तिकता का वोधक है। इसी भाव को निम्नलिखित दो गाथाएं व्यक्त करती है।[1]

३. **चारित्र-विनय**—अपने स्वरूप मे अवस्थित होना ही चारित्र है, अथवा कर्मो को नष्ट करने की प्रवृत्ति ही चारित्र है, या मूलगुण और उत्तरगुणो के समूह को चारित्र कहा जाता है। चारित्र पाच प्रकार का माना गया है, जैसे कि सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात। इन पाचो पर श्रद्धान करना, काय से इनका पालन करना, भव्य-प्राणियो के समक्ष उनकी इस प्रकार विशुद्ध प्ररूपणा करना, जिससे लोगो की चारित्र की ओर रुचि बढे, इस प्रकार के आचरण को ही चारित्र-विनय कहते है।

४. **मनोविनय**—सयम-पूर्वक तपस्वियों की मन से विनय करना, अकुशल मन की प्रवृत्ति को रोकना और कुशल मन की प्रवृत्ति का होना मनोविनय है। इसके दो भेद है प्रशस्त मनोविनय और अप्रशस्त मनोविनय तथा इन दोनो के सात-सात भेद होते है।

५. **वचन-विनय**—सयमियो की, गुणीजनो की वचन से विनय करना, वचन की अशुभ प्रवृत्तियो को रोकना तथा वाणी को शुभ प्रवृत्तियो मे लगाना ही वचन-विनय है। मनोविनय की तरह इसके भी दो भेद है। पुनः प्रत्येक के सात-सात भेद होते हे। उनका विवेचन आगे यथास्थान किया जाएगा।

६. **काय-विनय**—चारित्रशील साधक की काय से विनय करना, काय की अशुभ प्रवृत्तियो को रोकना और शुभ क्रियाओ मे उसे प्रवृत्त करना काय-विनय है। इस के भी मनोविनय की तरह दो भेद है। प्रत्येक भेद के सात-सात भेद है।

७. **उपचार-विनय**—जिन क्रियाओं से अपने को और दूसरो को सुख प्राप्त हो वैसी क्रियाए करना उपचार-विनय है। इसके भी सात भेद है।

प्रशस्त मनोविनय के सात भेद—

मन से किसी का अहित न सोचना, मन मे अशुभ सकल्प उत्पन्न न करना ही प्रशस्त मनोविनय है। इस के सात भेद निम्नलिखित है, जैसे कि—

१. **अपावए**—हिंसा, असत्य आदि पापो से रहित मन का व्यापार।
२. **असावज्जे**—विषय-कषाय आदि से रहित मन की प्रवृत्ति।
३. **अकिरिए**—पच्चीस प्रकार की अशुभ क्रियाओ से रहित मन की प्रवृत्ति।
४. **निरुवक्केसे**—शोक आदि क्लेशो से रहित मानसिक सकल्प।
५. **अणण्हयकरे**—अनाश्रवकर अर्थात् कर्म-वध के कारणो से रहित मन की प्रवृत्ति।

---

१. तित्थगर[1] धम्म[2] आयरिय[3] वायगे[4] थेर[5]।
कुल[6] गणे[7] सघे[8] सभोगिय[9] किरियाए[10] मइनाणाईण[11] य तहेव ॥
कायव्वा पुण भत्ती वहुमाणो तह य वन्नवाओ य।
अरहतमाइयाण केवलनाणावसाणाण।

६. अछविकरे—अपने को और दूसरो को व्यथित न करना। इसकी संस्कृत छाया दो तरह की बनती है, 'अक्षपिकर.' और 'अक्षयिकर:'। प्राणियो को व्यथा न पहुंचाना या प्राणियो का क्षय न करना, ये दोनो ही अर्थ यहा सगत एव मान्य हैं।

७. अभूयाभिसंकमणे—मन का वह संकल्प जिससे किसी भी प्राणी के हृदय में भय उत्पन्न न हो। मन की उपर्युक्त सभी प्रवृत्तिया ही प्रशस्त मनोविनय हैं।

अप्रशस्त मनोविनय के सात भेद—

अशुभ व्यापारो मे मन को लगाना ही अप्रशस्त मनोविनय है, अर्थात् जिस विनय की आराधना अशुभ प्रवृत्तियो मे की जाए, उसी को अशुभ मनोविनय कहते है, इसके भी सात भेद हैं, जैसे कि :—

१. पावए—हिसा आदि पापो में मन को लगाना।

२. सावज्जे—दोषयुक्त कार्यो मे मन को प्रवृत्त करना।

३. सकिरिए—कायिकी आदि क्रियाओ में मन को लगाना।

४. सउवक्केसे—शोक आदि क्लेशो मे मन को लगाना।

५. अण्हयकरे—आस्रव सहित कार्यो मे मन को प्रवृत्त करना।

६. छविकरे—अपने आप को और दूसरो को पीडा पहुंचानेवाले कार्यो मे मन को लगाना।

७. भूयाभिसंकमणे—जीवों को भयभीत करनेवाले कार्यो मे मन को लगाना।

इन सात बातो मे से किसी एक बात मे भी यदि मन प्रवृत्त है तो वह अप्रशस्त-मनोविनय है। प्रशस्त मनोविनय सवर और निर्जरा का कारण है और आभ्यन्तर तप विनय एव समाधि का भी साधक है, किन्तु अप्रशस्त मनोविनय कर्मबन्ध एव पाप-प्रवृत्ति का साधक है।

अप्रशस्त वचन-विनय के सात भेद—

जिस विनय की आराधना करते समय असत्य, हिसा आदि पापकार्यो मे प्रवृत्त होनेवाले वचनो का प्रयोग किया जाए, जिससे दूसरो की अवहेलना हो, इस प्रकार की वचन-प्रक्रियाए अप्रशस्त वचन-विनय कहलाती है। इसके भी सात भेद अप्रशस्त मनोविनय की तरह जान लेने चाहिए। प्रशस्त-वचन-विनय आत्मकल्याण मे सहायक, समाधिजनक और सवर ? निर्जरा मे सहायक हो सकता है। अप्रशस्त-वचन-विनय से आत्मा का उत्थान नही, अपितु पतन होता है।

प्रशस्तकाय विनय के सात भेद—

विनय को लक्ष्य मे रखकर शरीर से जो भी क्रिया की जाती है वह काय-विनय है। यतना पूर्वक गमन करना, यतना से बैठना, यतना से खडे होना, यतना से शयन करना, किसी विषम स्थान को यतना से लाघना, यतनापूर्वक इन्द्रियो और योगों को प्र॰ ॑ना ये सब प्रशस्त-काय-विनय के रूप है।

अप्रशस्तकाय विनय के सात भेद—

असावधान होकर गमन करना, खड़े होना, बैठना, लेटना, उल्लघन-प्रलघन करना, असावधानी से इन्द्रिय एव योगो का वर्ताना आदि अप्रशस्तकाय विनय के अनेक रूप है। ऐसी विनय कल्याण में, तप; समाधि, सवर एव निर्जरा में सहायक नही हो सकती, प्रशस्त-काय-विनय ही सयम है।

प्रशस्त मन, वचन और काय मे ही सयम का अवतरण होता है। विनयी ही भगवान की आज्ञा मे है। जहा विनय है वही धर्म है, वही ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। साधना की पराकाष्ठा है। इससे विपरीत भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये अर्थ-लाभ के लिये, दुनियावी इच्छाओ की पूर्ति के लिये, अर्थार्थी, कामार्थी होकर यदि कोई व्यक्ति किसी की विनय करता है, वह अप्रशस्त मन-वचन और काय विनय है। मन वचन और काय के द्वारा देव, गुरु और धर्म के नाम पर हिसादि पापक्रियाओ मे प्रवृत्त होना भी अप्रशस्त-विनय है। अप्रशस्त विनय से यदि किसी एक का भला होता है तो दूसरी ओर उससे अपरिमित हानिया भी होती है, अतः अप्रशस्त विनय हेय है—त्याज्य है।

लोकोपचार विनय के सात भेद—

जनता के व्यवहार को अथवा दूसरे को सुख पहुचानेवाले बाह्य आचार को लोकोपचार विनय कहते है। इसके भी सात भेद है, जैसे कि—

१. **अब्भास-वत्तियं**—गुरुजनों तथा गुणीजनो के समीप रहना, सद्‌गुणो की प्राप्ति के लिये यत्नशील रहना, विद्यादि सद्‌गुणो को उद्दीप्त करने के लिये अभ्यास करते रहना ही अभ्यास-वर्तित्व विनय है। गुणीजनो के पास रहने से ही व्यक्ति गुणी बन सकता है, अतः प्रशस्त विनय का अभ्यास श्रेयस्कारी होता है।

२. **परच्छंदानुवत्तियं**—जिस गुरु के पास रहे, उसकी इच्छानुकूल चलना, अपनी इच्छा को छोड़कर गुरु की इच्छा के अनुसार व्यवहार करना परच्छन्दानुवर्तित्व विनय है।

३. **कज्जहेउ**—गुरुजनो के द्वारा दी गई आज्ञा को, विद्या को या किसी पदार्थ को विशेष मान देना, अपने कार्यहेतु गुरु की विनय करना उनके प्रत्येक वचन का भक्ति-पूर्वक अनुकरण करना, उनकी आज्ञा को अपना सर्वस्व मानना ही कार्य-हेतु विनय है।

४. **कयपडिकिइया**—दूसरो के द्वारा किये हुए उपकार का बदला चुकाना, भोजनआदि के द्वारा गुरुजनो की सेवा करना, यदि मै इनकी सेवा करूगा, इनको साता पहुचाऊगा तो मुझे ये शास्त्रीय ज्ञान सिखाएगे, यह समझकर उनकी विनय-भक्ति करना। इस विनय के भी अनेक रूप है।

५. **अत्तगवेसणया**—दु.ख-ग्रस्त प्राणियो की रक्षा व सेवा करने के लिये उनकी खोज करना, भले ही गृहस्थ हो या साधु, सभी को अपने-अपने नियमानुसार एव मर्यादा के अनुरूप इस विनय की अराधना करनी चाहिए। जिसको जैसा दु.ख हो उसका वैसा ही उपचार करना इस विनय का उद्देश्य है।

६. **देसकालण्णया** - देश और काल के रीति-रिवाजो का सभ्यता और सस्कृति का ज्ञाता बनना, अवसरज्ञ होना, देश-काल-विनय है।

७. सव्वत्थेसु अप्पडिलोमया—सब कार्यों में अनुकूल रहना, गुरुजनो से कभी भी प्रतिकूल न वर्तना ही इस विनय का स्वरूप है। विनय से गुरुजन प्रसन्न होते है, उनकी प्रसन्नता ही शिष्य के लिए आशीर्वाद है।

लोकोपचार विनय साधु और गृहस्थ दोनो के लिये हितकर है, साधु अपनी मर्यादा के अनुसार और गृहस्थ अपनी सीमा के अनुरूप उक्त क्रियाओ मे प्रवृत्ति कर सकता है। लोकोपचार विनय से दूसरो का भला होता है, समाज में प्रतिष्ठा बढती है और आत्मा का उत्थान होता है, अत यह विनय सभी दृष्टियो से हितकर है।

समुद्घात-भेद

मूल—सत्त समुग्घाया पण्णत्ता, तं जहा-वेयणासमुग्घाए, कसायसमुग्घाए, मारणंतियसमुग्घाए, वेउव्वियसमुग्घाए, तेजस-समुग्घाए, आहारगसमुग्घाए, केवलिसमुग्घाए। मणुस्साणं सत्त समुग्घाया पण्णत्ता, तं जहा, एवं चेव ।४६।

छाया—सप्त समुद्घाताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वेदना-समुद्घातः, कषाय-समुद्घातः, मारणान्तिक-समुद्घातः, वैक्रिय-समुद्घातः, तैजस-समुद्घातः, आहारक-समुद्घातः, केवलि-समुद्घातः। मनुष्याणां सप्त समुद्घाताः प्रज्ञप्ताः, एवमेव।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सात समुद्घात प्रतिपादन किये गए है, जैसे कि—वेदना-समुद्घात, कषाय-समुद्घात, मारणान्तिक-समुद्घात, वैक्रिय-समुद्घात, तैजस-समुद्घात, आहारक-समुद्घात और केवलि-समुद्घात। मनुष्यो के सात समुद्घात वर्णन किये गए है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में विनय के भेदोपभेदो का वर्णन किया गया है। विनय से कर्मो का घात होता है और विशिष्टतर कर्मघात समुद्घात से होता है, अत. प्रस्तुत सूत्र मे सात प्रकार के समुद्घातो का वर्णन किया गया है।

समुद्घात शब्द की व्युत्पत्ति वृत्तिकार ने इस प्रकार की है "हन् हिंसागत्योः" धातु से घात शब्द सिद्ध हुआ है 'हनन घातः सम्' उपसर्ग एकीभाव मे प्रयुक्त है, उत् उपसर्ग प्राबल्य अर्थ मे है—जो एकीभाव मे स्थित होकर प्रबलता से घात अर्थात् कर्म-निर्जरा की जाती है, उसे समुद्घात कहते है। वेदना आदिके साथ एकाकार हुए आत्मा का समयान्तर मे उदय होनेवाले वेदनीय आदि कर्मप्रदेशो को उदीरणा के द्वारा उदय मे लाकर उनकी निर्जरा हो जाना ही समुद्घात है। इसके सात भेद है, जिनकी व्याख्या निम्नलिखित है:—

१. **वेदना-समुद्घात**—तीव्रतम वेदना के द्वारा कालान्तर में भोगने योग्य असातावेदनीय-कर्म पुद्गलों को उदयावलिका में खींचकर, उनकी निर्जरा करना, आत्म-प्रदेशों के साथ लगे हुए कर्म-पुद्गलों को अलग करना ही समुद्घात है। कहा भी है "**पुव्वकयकम्म साडणं तु निज्जरा**"। वेदना से व्यथित हुआ जीव अनन्त कर्म-पुद्गलो से वेष्टित हुए आत्म-प्रदेशो को शरीर से बाहर निकालकर उन प्रदेशों से शरीर में रहे हुए मुख, जठर, कान आदि छिद्रों को भर देता है। शरीर परिमाण आयाम-विष्कम्भ क्षेत्र में परिव्याप्त होकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहता है, जीव उस अन्तर्मुहूर्त मे बहुत ही असाता वेदनीय-कर्म की निर्जरा करता है।

२. **कषाय-समुद्घात**—तीव्र कषायों के उदय से व्याकुल हुआ जीव अपने आत्म-प्रदेशों को बाहर निकालकर और उनसे भीतर विद्यमान शून्य-भाग को पूर्ण करके शरीर परिमाण लम्बे चौड़े क्षेत्र में परिव्याप्त होकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहता है और उसमें जीव बहुत ही कषाय पुद्गल की निर्जरा करता है।

३. **मारणान्तिक-समुद्घात**—मृत्यु के समय होनेवाले समुद्घात को मारणान्तिक समुद्घात कहते है। जब जीव की आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है, तब मारणान्तिक समुद्घात होता है। कोई जीव आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर अपने आत्मप्रदेशो को बाहर निकालकर उनसे शरीर के भीतर रहे हुए मुख-जठर आदि अन्तरालों को पूर्णकर मोटाई में शरीर परिमाण और लम्बाई में कम से कम अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण और अधिक से अधिक एक दिशा में असख्यात योजन परिमाण क्षेत्र को परिव्याप्त करता है और उस समय आयुकर्म के पुद्गलो की बहुत निर्जरा करता है।

४. **वैक्रिय-समुद्घात**—यह समुद्घात वैक्रियशरीर नामकर्म के आश्रित होता है। वैक्रिय-लब्धि-वाला जीव वैक्रिय करते समय अथवा भवधारणीय वैक्रिय शरीरवाला जीव उत्तरवैक्रिय करते समय अपने आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर विस्तार और मोटाई मे शरीर परिमाण और लबाई में सख्यात योजन परिमाण दड वनाता है और दड बनाकर यथास्थूल वैक्रिय-शरीर नाम-कर्म के पुद्गलो की निर्जरा करता है।

५. **तैजस-समुद्घात**—यह तैजस शरीर के आश्रित होता है। इसका उपयोग तेजोलेश्या का प्रयोग करते समय किया जाता है। तेजोलेश्या लब्धिवाला महासाधक कुछ कदम पीछे हट कर अपने भीतर से सख्येय योजन परिमाण जीव के प्रदेशो को दडाकार बाहर निकालकर क्रोध के विषयभूत जीवादि पदार्थों को जला देता है, इससे तैजस-नामकर्म की अधिक निर्जरा करता है। इसका प्रयोग क्रोध के वशीभूत होकर ही किया जाता है।

६. **आहारक-समुद्घात**—जिन जीवो ने आहारक नामकर्म का बध किया हुआ है, उस कर्म के उदय होने पर ही उसका प्रयोग किया जाता है। आहारक शरीर की लब्धिवाला साधु आहारक शरीर निर्माण की इच्छा करता हुआ चौडाई और मोटाई मे शरीर परिमाण तथा लबाई मे सख्येय योजन तक अपने आत्म-प्रदेशो को दडाकार शरीर से बाहर निकालकर यथास्थूल पूर्ववत् आहारक शरीर नाम कर्म के प्रभूत पुद्गलो की निर्जरा करता है। जैसे दधि के मथन करने से मक्खन निकलता

है, वैसे ही समुद्घात करने से आहारक-शरीर का तथा वैक्रिय-शरीर का निर्माण होता है। यहां केवल समुद्घात की व्याख्या की जा रही है, शरीर की नहीं।

७. **केवलि-समुद्घात**—अन्तर्मुहूर्त मे मोक्ष प्राप्त करनेवाले केवली के द्वारा होनेवाले समुद्घात को केवली समुद्घात कहते हैं। यह तब होता है जबकि आयुकर्म स्वल्प हो और वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म अधिक स्थितिवाले हों। सभी केवली समुद्घात नही करते है। जिसने छः मास की आयु शेष रहने पर केवलज्ञान को प्राप्त किया हो वह केवलिसमुद्घात करता है। वेदनीय आदि अघाती तीन कर्मों की स्थिति को और आयुकर्म की स्थिति के बराबर करने के लिये समुद्घात किया जाता है, इसमें कुल आठ समय लगते हैं। पहले समय मे आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर दडाकार निकालता है, दूसरे समय में कपाटाकार, तीसरे समय मे मथानी के आकार मे और चौथे समय में आत्मप्रदेश सर्वलोक में व्याप्त हो जाते हैं। केवली भगवान पांचवे, छठे, सातवे और आठवे समय मे विपरीत क्रम से आत्मप्रदेशों का सकोच करते है।[1]

प्रवचन-निन्हव और उनके उत्पत्ति-स्थान

मूल— समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवयणणिण्हगा पण्णत्ता, तं जहा—बहुरया, जीवपएसिया, अवत्तिया, सामुच्छेइया, दोकिरिया, तेरासिया, अबद्धिया। एएसिं णं सत्तण्हं पवयण-णिण्हगाणं सत्त धम्मायरिया हुत्था, तं जहा— जमालि, तीसगुत्ते आसाढे, आसमित्ते, गंगे, छलुए, गोट्ठा-माहिले। एएसि णं सत्तण्हं पवयण-णिण्हगाणं सत्तुप्पत्तिनगरा होत्था, तं जहा—

सावत्थी उसभपुरं सेयविया, मिहिल्लमुल्लूगातीर।
पुरिमंतरंजि दसपुरं, णिण्हग-उप्पत्तिनयराई॥

छाया—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य तीर्थे सप्त प्रवचननिह्नवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—बहुरताः, जीव-प्रदेशिकाः, अवक्तव्यिकाः, सामुच्छेदिकाः, द्वैक्रियाः, त्रैराशिकाः, अबद्धिकाः। एतेषां सप्तानां प्रवचननिह्नवानां सप्त-धर्माचार्याः अभूवन्, तद्यथा—जमालिः, तिष्यगुप्तः, आषाढः, अश्वमित्र, गङ्गः, षडुलूक, गोष्ठामाहिलः। एतेषां सप्तानां प्रवचननिह्नवानां सप्तोत्पत्ति नगराणि अभूवन्, तद्यथा—

श्रावस्ती ऋषभपुरं, श्वेतिका, मिथिलोल्लुकातीरम्।
पुरिमताल-दशपुरं, निह्नवोत्पत्तिनगराणि॥

१. इस विषय का विशेष वर्णन प्रज्ञापना-सूत्र के ३६वें पद मे देखिए।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर के तीर्थ में सात प्रवचन-निह्नव प्रतिपादन किये गए है—जैसे कि बहुरत, जीव-प्रदेशिक, अवक्तव्यिक, सामुच्छेदिक, द्वैक्रिय, त्रैराशिक और अबद्धिक ।

इन प्रवचन-निह्नवों के क्रमशः सात धर्माचार्य थे— जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ, अश्वमित्र, गङ्ग, षडुलूक और गोष्ठामाहिल ।

इन प्रवचन-निह्नवों के क्रमशः सात उत्पत्ति-नगर थे, श्रावस्ती, ऋषभपुर, श्वेतिका, मिथिला, उल्लुकातीर, पुरिमताल और दशपुर ।

विवेचनिका -

पूर्व सूत्र मे समुद्घात का वर्णन किया गया है। समुद्घात आदि पदार्थो का निरूपण केवली भगवान ने किया है और केवली-भाषित सिद्धान्त से अन्यथा प्ररूपणा करनेवाले प्रवचन-बाह्य माने जाते है, उन्ही को यहां निह्नव कहा गया है। अब सूत्रकार उन्हीं निह्नवों का परिचय देते है।

निपूर्वक ह्नु धातु से निह्नव शब्द बनता है, जिस का अर्थ होता है अनाप-शनाप बोलनेवाला। जो किसी महापुरुष के प्रवचन को मानता हुआ भी किसी विशेष बात में उनके प्रवचन का विरोध करता है, जो बुद्धिदोष के कारण सत्य बात को भी असत्य समझता है और समझाने-बुझाने पर भी सत्याश को न समझ कर हठधर्मी बन कर सत्य से विपरीत चलता है और लोगो मे उलटी प्ररूपणा करता है, इतना ही नही स्वय एक अलग मत का प्रवर्त्तक बन बैठता है ऐसे व्यक्ति को निह्नव कहा जाता है, अर्थात् सत्याशरूप प्रवचन का अपलाप करनेवाला निह्नव कहलाता है।

श्रमण भगवान महावीर के शासन मे सात निह्नव हुए है, प्रस्तुत सूत्र मे उनका नामोल्लेख और उनकी मान्यताओ का उल्लेख किया गया है, उनकी मान्यताए जैन दर्शन से कितनी विपरीत है, इसका विवरण नीचे दिया जाता है, जैसे कि :—

१ **बहुरता**— बहुत समयो मे कार्य-निष्पन्न होता है, एक समय मे नही । जब तक किसी कार्य की पूर्णता नही होती, तब तक उसे पूर्ण नही कहा जा सकता, अत क्रिया की निष्पत्ति अर्थात् पूर्णता अन्तिम समय मे ही होती है। प्रत्येक क्रिया की पूर्त्ति के लिये अनेक क्षणो की आवश्यकता रहती है, किसी भी क्रिया की पूर्णता एक क्षण मे सभव नही है। ऐसी मान्यता रखनेवाले विचारक इस मत के अनुयायी माने जाते है ।

जैन-दर्शन व्यवहारनय और निश्चयनय को ले कर प्रवृत्ति करता है। जिस बात को निश्चयनय से कथन किया गया है, उसका सर्वेक्षण यदि निश्चय-नय से ही किया जाए तो वह यथार्थ है, यदि उसी दृष्टिकोण से व्यवहारनय पर विचार किया जाए तो वह असत्य प्रमाणित होता है। प्रत्येक सिद्धान्त का सर्वेक्षण निश्चयनय से ही होना चाहिये, व्यवहारनय से नही। जब विचार आचार-विचार

लोक-व्यवहार को लक्ष्य में रख कर किया जाता है, वही व्यवहारनय की प्रवृत्ति होती है। निश्चय-नय को यदि सिद्धान्त की अन्तरात्मा कहा जाए, तो व्यवहार-नय को उसकी बाह्यात्मा कहना अनुचित न होगा, किन्तु नयाभास तो सिद्धान्त को बिल्कुल भी स्पर्श नही करता। उक्त मान्यता का मूल स्रोत है भगवती सूत्र के प्रथम शतक का प्रथम उद्देशक। वह पाठ निम्नलिखित है—

> **"से णूणं भंते ! चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए ? वेइज्जमाणे वेइए ? पहिज्जमाणे पहीणे ? छिज्जमाणे छिन्ने ? भिज्जमाणे भिन्ने ? डज्झमाणे दड्ढे ? मिज्जमाणे मडे ? निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ? हंत गोयमा ! चलमाणे चलिए, निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे।"**

शास्त्रकार का उक्त संकेत निश्चयनय का ही पूर्णतया स्पर्श करता है। जिस व्यक्ति को एक कोस चलना है, उसके एक डग भरने पर भी निश्चयनय से यह कहा जा सकता है कि वह चल चुका है, क्योंकि उसने एक कदम की गति पूरी कर ली है, किन्तु व्यवहारनय से उसके सम्बन्ध में "वह चल चुका है" यह तभी कहा जाएगा, जब वह गंतव्य स्थान पर पहुंच जाएगा । इसी प्रकार जिस ने वर्णमाला में से अ आ भी सीख लिया है उसे पढ़ा हुआ कहा जा सकता है, क्योंकि अब उसे उन अक्षरो को पुन: सीखने की आवश्यकता नही रही, किन्तु व्यवहारनय उसे पठित नही मानता । वस्त्र का एक कोना जलते समय 'वस्त्र जल गया' ऐसा कहा जा सकता है । अवयव मे अवयवी का उपचार करके चादर 'जल गई' यह कहा जा सकता है। किसी भी औषध के द्वारा यदि पहले ही क्षण मे रोग कुछ शान्त हो गया हो तो कहा जा सकता है कि 'रोग नष्ट हो गया है,' उत्पन्न होते हुए रोग को 'उत्पन्न हो गया' ऐसा भी कहा जा सकता है। इस तरह ऋजुसूत्रनय से क्रियमाण को कृत कहा जाता है और व्यवहारनय से अकृत । ऋजुसूत्र निश्चयनय का ही एक भेद है। व्यवहारनय की एकान्त दृष्टि को लेकर जमाली भगवान महावीर के सिद्धान्त को मिथ्या समझने लगा।

धारणा बदलने का मूल कारण

कुण्डपुर नगर में जमाली नाम का एक क्षत्रियपुत्र राजकुमार रहता था, वह भगवान महावीर की बहिन का लडका था और दामाद भी। भगवान महावीर को सर्वज्ञ हुए जब सोलह वर्ष हो गए थे, तब जमाली ने ५०० राजकुमारो के साथ भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की। उसकी स्त्री ने १००० क्षत्रियाणियो के साथ प्रव्रज्या ले ली। जमाली ने स्थविरो के पास रहकर ग्यारह अगो का अध्ययन किया।

किसी दिन जमाली ने भगवान महावीर से अपने ५०० साथियो के साथ विचरने के लिये अनुमति मागी, परन्तु भगवान मौन ही रहे। दूसरी और तीसरी बार पूछने पर भी भगवान ने कोई उत्तर नही दिया। जमाली ने अनुमति के बिना ही श्रावस्ती नगरी की ओर विहार कर दिया। वहा जाकर वह अपने साथी साधुओ के साथ तेंदुक बगीचे के कोष्ठक चैत्य मे ठहर गया। तपस्या करते-करते जब उसका शरीर कृश हो गया, तो पारणे के दिन रूखा-सूखा अपथ्य आहार करने से जमाली ज्वराक्रान्त हो गया। उसके शरीर में कुछ देर बैठने की शक्ति भी नही रही। फलत: उसने अपने शिष्यो को आसन बिछाने की आज्ञा दी। गुरु आज्ञा के अनुसार साधु आसन बिछाने लगे।

कुछ क्षणो में पुन. जमाली ने पूछा—'क्या मेरे लिये बिस्तर बिछा दिया गया है ?" उन्होने उत्तर 'हा' मे दिया, परन्तु पूर्णता मे कुछ कमी थी । यह सुनकर जमाली अनगार के मन मे विचार उठे कि भगवान महवीर जो यह कहते है कि 'चलता हुआ चलित कहलाता है' इसी प्रकार 'उदीर्यमाण को उदीर्ण, वेद्यमान को वेदित, प्रहीयमाण को प्रहीण, छिद्यमान को छिन्न, भिद्यमान को भिन्न, दह्यमान को दग्ध, म्रियमाण को मृत, निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण कहा जाता है" वह बिल्कुल मिथ्या है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है "कि जो शय्या बिछाई जा रही है, बिछी हुई नही है" जो काम किया जा रहा है, उसे किया हुआ नही कहना चाहिए, जो चला जा रहा है उसे चला हुआ नही कहना चाहिये, जो क्रिया वर्तमान में की जा रही है, उसके लिये भूत कालिक क्रिया का प्रयोग कैसे किया जा सकता है ?" अत. "चलमाणे चलिए" ऐसा कहना और मानना सर्वथा मिथ्या धारणा है ।

सत्याश का अपलाप करना और असत्याश को अपनाना मिथ्यात्व है । किसी समर्थ ज्ञानी के समझाने पर भी अपना हठ न छोडना, ज्ञान और ज्ञानी की आशातना करना निन्दा करना निह्नवता है ।

सूत्र मे '**बहुरया**' यह बहुवचनान्त का प्रयोग किया गया है, इससे ध्वनित होता है कि जमाली कुमार के विचारो का समर्थन करनेवाले जितने भी उसके अनुयायी थे या है, वे भी निह्नव ही माने जाते है ।[1]

२. **जीव-पएसिया**—'जीव का अन्तिम प्रदेश ही जीव है' ऐसी मान्यता रखनेवाले को जीव-प्रदेशिक निह्नव कहते है । वस्तुत: जीव के असख्यात प्रदेश है, असख्यात प्रदेशो के समूहात्मक द्रव्य को जीव या आत्मा कहते है । उसके पहले या अन्तिम प्रदेश को जीव माननेवाले दार्शनिक जीव-प्रदेशिक कहलाते है ।

एक बार राजगृह नगर के गुणशीलक उद्यान मे १४ पूर्वधर वसु नामक आचार्य अपने शिष्यो सहित पधारे । वे सयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए समय-यापन करने लगे । उनका तिष्यगुप्त नाम का एक शिष्य जोकि आत्म-प्रवाद पूर्व का क्रमशः अध्ययन कर रहा था । उसमे एक प्रसग ऐसा आया जिसका उदाहरण देना आवश्यकीय हो जाता है, जैसे कि—

> **"एगे भंते । जीवप्पएसे जीवेत्ति वत्तव्व सिया ? नो इणट्ठे समट्ठे, एवं दो, तिन्नी, सखेज्जा वा, असखेज्जा जाव एक्केणवि पएसेण ऊणो नो जीवे त्ति वत्तव्व सिया, जम्हा कसिणे पडिपुण्ण लोगागास-पएस-तुल्लप्पएसे जीवेत्ति वत्तव्वं सिया ॥"**

अर्थात्—भगवन् ! क्या जीव का एक प्रदेश जीव है ? यह अर्थ ठीक नही है, इसी तरह भगवन् ! क्या जीव के दो प्रदेश, तीन, दस, सख्यात या असख्यात जीव-प्रदेश जीव है ? यह भी ठीक नही, जिसमें एक प्रदेश भी कम हो उस प्रदेश-समूह को भी जीव नही कहा जा सकता, क्योंकि सपूर्ण लोकाकाश प्रदेशों के तुल्य सम्पूर्ण प्रदेश-समूह रूप जीव है, इस प्रदेश-समूहात्मक जीव तत्त्व को ही जीव

---

१. जमालीकुमार का आद्योपान्त जीवन-चरित और उसकी मान्यता का सारा वर्णन भगवती सूत्र के ९वे शतक के ३३वे उद्देशक मे उपलब्ध है ।

कहा जा सकता है।

इस स्थल के आधार से तिष्य-गुप्त की धारणा आत्मा के सम्बन्ध मे विपरीत हो गई। एक प्रदेश भी जीव नही है। इसी तरह सख्यात, असख्यात प्रदेश भी जीव नही है। अन्तिम प्रदेश के विना शेष सर्व प्रदेश निर्जीव है, अत: वही एक प्रदेश जीव है जो जीव को पूर्ण बनाता है। उसके सिवाय सभी प्रदेश अजीव है। उसने समझा अन्तिम प्रदेश के होने पर ही जीव का जीवत्व है। उसके बिना उसका अस्तित्व ही नही, अत: वह अन्तिम एक प्रदेश ही जीव है।

इस मिथ्या धारणा को बदलने के लिये गुरु ने समझाना प्रारम्भ कर दिया कि जैसे 'अन्य प्रदेश जीव नही है, वैसे ही अन्तिम प्रदेश भी जीव नही हो सकता, क्योकि जीव के सभी प्रदेश समान है।' यदि ऐसा कहा जाए कि 'अन्तिम प्रदेश पूरक है, अत: उसे ही जीव मानना चाहिए तो यह कथन भी सत्य नही है, क्योकि पहले से लेकर अन्तिम तक सभी प्रदेश पूरक है। किसी भी एक के बिना जीव अपूर्ण है। इस तरह जब सभी जीव प्रदेश पूरक हो जाएगे तो अन्तिम प्रदेश की तरह सभी प्रदेशो को जीव मानना पड़ेगा।'

यह मानने पर एक दूसरी आपत्ति खडी हो जाएगी, वह यह कि जितने भी जीव-प्रदेश है, उतने ही जीव हो जाएगे और उन से निर्मित जीव भी जीव न रहेगा।

यदि ऐसा माना जाए कि सभी प्रदेशो के पूरक होने पर भी केवल अन्तिम प्रदेश ही जीव है तो यह कथन भी निराधार ही है। पहला प्रदेश ही जीव है, अन्य सब प्रदेश अजीव है अथवा, कुछ प्रदेश जीव है और कुछ को अजीव कहा जाये तो यह भी उचित नही होगा, अन्य प्रदेशो मे जीव आशिक रहता है, किन्तु अतिम प्रदेश मे सर्वात्मना रहता है, तो यह कथन भी समीचीन नही है। अन्तिम प्रदेश मे भी जीव सर्वात्मना नही रह सकता, क्योकि वह भी अन्य प्रदेशो के समान ही है। जिस हेतु से अन्तिम प्रदेश को जीवत्व का साधक माना जा सकता है, उसी हेतु से अन्य प्रदेशो को भी जीव ही कहा जाएगा, क्योकि सभी अशपूरक होते है। शास्त्रकार का आशय यह नही है कि प्रथमादि प्रदेश अजीव है, केवल अन्तिम प्रदेश ही जीव है। इस प्रकार देखा जाए तो अन्तिम अश भी एक अश होने के कारण अजीव है। वस्तुत: सभी जीव प्रदेशो के मिलने पर ही जीव माना जाता है। जैसे वर्तमान मे १०० पैसो के समुदाय को ही रुपया कहा जाता है, ९९ पैसो को भी रुपया नही कहते और एक पैसे को भी रुपया नही कहते। १०० पैसो के मिलने पर ही रुपया कहा जा सकता है, वैसे ही सम्पूर्ण प्रदेशो के समुदाय को ही आत्मा कहा जाता है। वस्तुत: वस्तु के किसी भी देश और प्रदेश की कल्पना से रहित अखड वस्तु ही एवभूतनय" का विषय है।

इस तरह अनेक युक्तियो से विषय को प्रमाणित करने पर भी वह नही माना, हठ मे दृढ रहा, फलत: उसे गुरु ने अपनी आज्ञा एव सघ से बाहर कर दिया। ऋषभपुर राजगृह नगर का ही अपर नाम है।

३. अवत्तिया—अवक्तव्यिका:—यह कैसे जाना जा सकता है कि यह संयत है या असयत, अत: यह अवक्तव्य है। जिन दार्शनिको की ऐसी सदिग्ध मान्यता है, वे सब इसी कोटि के निह्नव माने जाते है। इस मान्यता की प्रारम्भिक कथा इस प्रकार है—

वीर निर्वाण सम्वत् २१४ वर्ष के बाद तीसरा निह्नव हुआ है। श्वेतांबिका नगरी के पोलास उद्यान मे आचार्य आषाढ अपने शिष्यों सहित पधारे। उनके साधुओ ने विशेष प्रकार का उग्र तप प्रारम्भ किया हुआ था, वाचनाचार्य भी वे ही थे। अकस्मात् रात को हृदयशूल रोग से उन की आयु पूर्ण हुई और वे पहले देवलोक के नलिनीगुल्म नामक महाविमान मे देव के रूप मे उत्पन्न हुए।

वे अवधिज्ञान से अतीत सबध को जानकर साधुओ पर अनुकपा भाव से मर्त्यलोक के अन्तर्गत जहां उनका परित्यक्त भौतिक शरीर पड़ा था, उसी शरीर मे प्रविष्ट होकर साधुओ को उपदेश देने लगे। उद्देश, समुद्देश और अनुज्ञा की उन्होने आज्ञा दी। उद्देश का अर्थ है—उपदेश पढाना, समुद्देश है सिखाना, अर्थात् शिक्षा, अनुज्ञा है साधु-विरति के योग्य उचित कर्त्तव्य का पालन। इन सब वातो के लिये उन्होंने आज्ञा दी। इस प्रकार दिव्य प्रभाव से साधुओ को देह-बाधक और सयम-बाधक क्रियाओ से उनका योगावहन पूरा करा दिया। शास्त्रवाचना और तपश्चर्या समाप्त होने पर स्वर्ग मे जाते हुए आचार्य के रूप मे देव ने साधुओं से कहा—"आप सब मेरे अपराध को क्षमा करे, क्योकि असयत होकर मैंने आप सयतो से वन्दना करवाई है। आप सब पर अनुकम्पा करके मै सौधर्म देवलोक से यहां आया हू।" यह कहते हुए सबसे क्षमा याचना करके देव अपने स्थान मे चला गया।

उसके बाद साधु सोचने लगे कि 'हमने बहुत दिनो तक असयत को वन्दना की, उससे उनको पश्चात्ताप हो रहा था और दूसरी ओर वे सदेह करने लगे कि कोई पता नही है कि सयत कौन है? और असयत कौन है? अतः अब किसी को वदना ही नही करनी चाहिए; इसी कारण उन्होने आपस मे भी वन्दना-व्यवहार बिल्कुल छोड़ दिया। प्रत्येक स्थान मे उन्हे सदेह होने लगा कि यह साधु है या असाधु? कहा भी है—

को जाणइ कि साहू देवो वा तो न वंदणिज्जो त्ति।
होज्जाऽसंजय नमण होज्जमुसावायममुगोत्ति॥

थेरवयणं जइ परे संदेहो किं सुरोत्ति साहूत्ति।
देवे कहन्न संका? किं सो देवो अदेवोत्ति॥

तेणकहियत्ति व मई देवोऽहं देवदरिसणाओ य।
साहुत्ति अहं कहिए समाण रूवम्मि किं संका॥

देवस्स व किं वयण सच्चति न साहुरूवधारिस्स।
न परोप्परंपि वदह ज जाणताविं जयओ त्ति॥"

प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले पदार्थो मे भी जब उन्हे इस तरह का सदेह होने लगा तो जीवाजीवादि अप्रत्यक्ष तत्त्वो मे सदेह का होना स्वभाविक था, क्योकि सदेहशील व्यक्ति के मन मे यह सदेह हो सकता है कि ये तत्त्व सर्वज्ञ प्रतिपादित है या नही? स्थान, विहार, भ्रमण, भाषा और विनय आदि से भी साधुओ की पहचान हो सकती है। प्रत्येक स्थान पर यदि शका करने लग जाए तो आहार, उपधि, शय्या आदि का लेना भी कठिन हो जाएगा। कौन जानता है जो आहार लिया जा रहा हे वह शुद्ध है या अशुद्ध? इस तरह वड़ो के समझाने पर भी वे नही माने विपरीत प्ररूपणा

करने से वे निह्नव कहलाए ।

४. सामुच्छेदिका—वीर निर्वाण सवत् २२० के लगभग की बात है कि आचार्य महागिरि का पौत्र-शिष्य अश्वमित्र हुआ है, वह अपने गुरु कौण्डिन्य के साथ मिथिला नगरी के लक्ष्मीगृह उद्यान में ठहरा हुआ था । अश्वमित्र दसवें विद्यानुप्रवादपूर्व के नैपुणक वस्तु अधिकार मे "छिन्नच्छेदनकनय" की वक्तव्यता में निम्नलिखित सूत्र पढ रहा था । **"पडुप्पन्नसमयनेरइया वोच्छिज्जिस्संति, एवं जाव वेमाणियत्ति, एवं बिईयाइ समएसु वत्तव्वं"** ।

इस आलापक का अध्ययन करते हुए, उसके मन मे मिथ्यात्व उत्पन्न हो गया । तब वह कहने लगा यदि सभी वर्तमान समय के नारकियो का व्यवच्छेद हो जाएगा तो पुण्य-पाप का फल-भोग कैसे होगा, क्योकि सभी जीव तो पैदा होते ही नष्ट हो जाएगे ?

"एवं च कओ कम्माण वेयणं सुकय दुक्कयाणंति ?
उप्पायाणंतरओ सव्वस्स विणास सब्भावा ॥

इस प्रकार जब वह प्ररूपणा कर रहा था तब उसके गुरु ने समझाने का प्रयास किया कि यह कथन एक नय की अपेक्षा से है। क्योकि प्रत्येक पदार्थ द्रव्य से नित्य है और पर्याय से अनित्य । वस्तु का सर्वनाश किसी प्रकार से भी नही हो सकता, अतः यह कथन सापेक्षक नय के मत से जानना चाहिए, जैसे कि—

एगनयमएणमिदं सुत्तं वच्चाहि माहु मिच्छत्तं ।
निरवेक्खोसे सार्णाव नयाण हिययं वियारेहि ॥
नहि सव्वहा विणासो अद्धा पज्जाय मेत्ता नासमि ।
सपरपज्जायाणंतधम्मिणो वत्थुणो जुत्तो ॥
अह सुत्ताउत्ति मई नणु सुत्ते सासयमि निद्दिट्ठं ।
वत्थुं दव्वट्ठयाए असासयं पज्जायट्ठाए ॥
तत्थवि न सव्वनासो समयादि विसेसणं जओऽभिहियं ।
इहरा न सव्वणासे समयादि विसेसणं जुत्तंति ॥

तुम्हारी विचारणा ने केवल ऋजुसूत्रनय का एकान्त अवलबन लिया है, इसलिये यह मिथ्या है । वस्तु का सर्वनाश कभी नही होता । नारक आदि जीवों मे प्रतिक्षण अवस्था बदलते रहने पर भी जीव द्रव्य एक ही बना रहता है । केवल पर्यायार्थिक नय को दूसरे शब्दो मे क्षणिकवाद भी कहते है । प्रत्येक समय मे वस्तु का नाश मान लेने से जो मनुष्य भोजन या जलपान करेगा, उसे तृप्ति नही होगी, क्योकि भोजन करनेवाला तो नष्ट हो चुका । इस तरह थकान, ग्लानि, प्रत्यभिज्ञान, स्मृति, ध्यान, अध्ययन, अपनी रखी हुई वस्तु को पुनः ढूढना इत्यादि बाते क्षणिकवाद मे कुछ भी नही बन सकती, क्योकि सभी मे चित्त, आत्मा या शरीर की स्थिरता का होना आवश्यक है । पर्यायार्थिकनय का आश्रयण करने से सुख-दुःख आदि की व्यवस्था नही बन सकती ।

इसी तरह केवल द्रव्यार्थिकनय का आश्रयण करने से भी सुख-दुःखादि की व्यवस्था नही बन सकती, क्योकि एकान्त-नित्य मानने से प्रत्येक वस्तु आकाश की तरह अपरिणामी हो जाएगी, अतः द्रव्य और पर्याय दोनो का आश्रयण-उपाश्रयण करने से कार्यसिद्धि होती है, जैसे कि नैगेटिव और पौजेटिव की तारे मिलने से विद्युत् के द्वारा सभी कार्य सिद्ध हो जाते है, एक से नही, वैसे ही द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय से वस्तुस्वरूप की पूर्णता होती है, एक से नही।

आचार्य ने अश्वमित्र को बहुत समझाया और कहा यदि जैन सिद्धात मानना है तो तुम्हें उक्त दोनो नयो को लक्ष्य में रखकर आगमों का चिन्तन-मनन करना चाहिए। क्षणिकवाद को मानने से कोई भी व्यवस्था संसार की नही चल सकती। अनेक सुयुक्तियो के द्वारा समझाए जाने पर भी अश्वमित्र नही माना। परिणाम स्वरूप आचार्य ने अश्वमित्र को सघ से बहिष्कृत कर दिया।

५. दोकिरिया—सभी अरिहत भगवतों ने यही कहा है कि एक समय में एक ही क्रिया होती है, दो नही। परन्तु आर्यगंग ने अपने अनुभव के आधार पर यह मानना प्रारम्भ कर दिया कि एक समय में दो क्रियाएं भी हो सकती है। इस धारणा का जन्म इस प्रकार हुआ—

वीर निर्वाण सम्वत २८८ के लगभग उल्लुका नदी के तट पर एक उल्लुकातीर नामक नगर बसा हुआ था। नदी के दूसरे किनारे एक धूली के आकार का नगर था। उस नगर मे धनगुप्त नामक मुनिराज रहते थे। उनका एक शिष्य था गग। नदी के उस पार आचार्य को वदना करने के लिये जाते हुए आर्य गग को नदी पार करनी पडी। लु चितकेश होने से एक ओर खोपडी धूप से तप रही थी और दूसरी ओर नदी का जल अतिशीत होने से दोनो पैरो में अतिशीत का अनुभव हो रहा था। मिथ्यात्व-मोह के उदय से उसके मन मे सकल्प उठे कि शास्त्र में दो क्रियाओ का एक साथ होना निषिद्ध है, किन्तु मै शीतता और उष्णता दोनो का एक साथ अनुभव कर रहा हू। अनुभव-विरुद्ध होने से शास्त्रीय वचन ठीक नही है। उसने अपने अनुभव-सिद्ध विचार गुरु के समक्ष रखे।

गुरु ने कहा एक साथ दो क्रियाओ का अनुभव होना वस्तुतः वह अनुभवाभास है। सर्व देश और सर्वकाल में अनुभव क्रम से ही होता है। समय की अत्यन्त सूक्ष्मता से तथा मन की अतीन्द्रिय शीघ्र गति एव चचलता से ऐसी भ्रान्ति होती है कि दो क्रियाओ का अनुभव एक साथ ही हो रहा है। वास्तवमे भ्रान्ति के आधार से किसी भी तत्त्व की सिद्धि नही होती। जीव उपयोगमय है, उसकी सारी शक्ति एक क्षण मे एक ही ओर लगी रहती है, अत. वह उस समय मे दूसरी वस्तु को अनुभव नही कर सकता। जैसे बहुत से कोमल पत्तो को एक दूसरे पर रखकर यदि उन्हें तीक्ष्ण भाले से एक दम जोर मे छेदा जाए तो ऐसा मालूम पडेगा मानो सब पत्ते एक साथ ही विध गए हो, किन्तु यह बात सर्वमान्य है कि पहले पत्ते के बिना बिंधे दूसरा नही बिंध सकता। सभी पत्ते क्रमश ही बिंधते है, फिर शीघ्रता के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि सभी पत्ते एक साथ बिंध गए है।

इसी तरह एक दूसरा उदाहरण भी है कि लाठी की दोनो कोटियो मे आग लगा कर यदि आलात-चक्र को बडी तेजी से घुमाया जाए तो वह अग्निचक्र बन जाता है। घुमाने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि वह अग्नि का एक चक्कर है जिसके चारो ओर आग फैल रही है, वस्तुत. ऐसा नही है, जैसे इन दोनो स्थानो पर शीघ्रता के कारण भ्रान्ति हो जाती है, वैसे ही समय और मन की सूक्ष्मता और

शीघ्रता के कारण काल-भेद होने पर भी ऐसी भ्रांति हो जाती है कि हम दो क्रियाओं का अनुभव एक साथ कर रहे हैं।

जैसे शर्बत पीते हुए शीतलता, मधुरता, सुगंध इत्यादि बातों का ज्ञान एक साथ होता हुआ प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में सभी बातों का ज्ञान क्रमिक होता है, वैसे ही पैरों से शीत और सिर से उष्ण स्पर्श का ज्ञान भी क्रमिक होता है, एक साथ नही। विभिन्न ज्ञानो के क्रमिक होने पर भी ज्ञाता सभी ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति मान लेता है। एक साथ ज्ञान उत्पन्न न होने देना मन का धर्म है। मान लीजिए एक व्यक्ति १४ भाषाओ का ज्ञाता है। एक बहुत बड़े फलक (साइनबोर्ड) पर तीन भाषाओं में सुवाक्य लिखे हुए हैं। उन्हें वह क्रमशः ही पढ सकता है, एक साथ नही। उपयोग का ऐसा ही स्वभाव है।

इस प्रकार अनेक युक्तियों के द्वारा आर्यगग को समझाने पर भी उसने अपना असत्याग्रह नही छोडा। श्रद्धा एव प्ररूपणा विपरीत होने से वह निह्नव बना। आचार्य ने उसे और उसके अनुयायी वर्ग को संघ से बाहर निकाल दिया ताकि उनकी सगति से औरो की श्रद्धा-प्ररूपणा विपरीत न हो जाए।

६. **तैरासिया—त्रयराशिकः**—आगम-साहित्य में जीवराशि और अजीवराशि, इन दो राशियो का उल्लेख मिलता है, तीन का नही। फिर यह त्रैराशिक सिद्धान्त क्यो ? इस विषय मे बताया जाता है, कि—

वीर-निर्वाण के संवत् के ५४४ वर्ष बाद षडुल्लुक नामक छट्ठा निह्नव हुआ है। अन्तरजिका नगरी के बाहर भूतगृह उद्यान मे श्रीगुप्त नामक एक आचार्य अपने शिष्यों के साथ पधारे। श्री गुप्ताचार्य का एक शिष्य रोहगुप्त था। वह दूसरे नगर मे रहता था। एक बार गुरुदर्शनो के हेतु वह अन्तरजिका नगरी मे पहुंचा। उस नगरी मे बलश्री राजा का राज्य था। एक दिन एक परिव्राजक लोहे की पत्ती से पेट बांध कर जामुन (जम्बू) वृक्ष की शाखा हाथ मे लिये नगरी मे परिभ्रमण कर रहा था। किसी के पूछने पर उसने कहा—"मेरा पेट ज्ञान से अधिक भरा हुआ है। मैने फूटने के भय से इस पर लोहे की पत्ती बाध रखी है। जबूद्वीप मे मेरा कोई प्रतिवादी नही है, इसलिये जबू-वृक्ष की शाखा हाथ मे ले रखी है।"

एक दिन उसने सभी प्रतिवादियो को चुनौती दी। इस चुनौती को सुनकर रोहगुप्त ने शास्त्रार्थ करने के लिये स्वीकृति दे दी। रोहगुप्त राजसभा मे गया और उसने कहा—

"यह शाखावाला परिव्राजक क्या जानता है ? स्वेच्छया यह पूर्वपक्ष स्थापन करे, मै उसका खडन करू गा।"

परिव्राजक ने सोचा यह चतुर लगता है, इन्ही का सम्मत-पक्ष ही इसके समक्ष रखता हूं, जिसका निराकरण यह न कर सके। परिव्राजक ने कहा 'ससार मे दो ही राशिया है जीव और अजीव, इनके अतिरिक्त तीसरी कोई राशि नही।'

रोहगुप्त ने उसे पराजित करने के लिये अपने सिद्धान्त का खडन करना प्रारम्भ कर दिया,

वह बोला—"यह हेतु असिद्ध है, क्योंकि जीव और अजीव के अतिरिक्त नो-जीव नामक एक तीसरी राशि भी अनुभव-सिद्ध है। नारकी, तिर्यंच आदि जीव है और आकाश, परमाणु एव घट आदि अजीव है। कटी हुई सर्प या छिपकली की पूछ नोजीव है। ये तीन राशिया है, क्योंकि इसी प्रकार की उपलब्धि होती है। जैसे उत्तम, मध्यम और अधम नामक तीन राशियां है।"

इस तरह की युक्तियो से परिव्राजक निरुत्तर एव पराजित हो गया और रोहगुप्त की विजय हुई। विजय पाकर वह गुरु के समीप आया और उसने वहां का सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

आचार्य ने कहा—"यह तुमने बहुत अच्छा किया कि उसे जीत लिया, किन्तु वहा से उठते समय यह क्यों नही कहा कि यह हमारा सिद्धान्त नहीं है। जैन-शास्त्र मे दो ही राशिया कही है - जीव राशि और अजीव राशि, तीसरी राशि की कल्पना तो उसे पराजित करने के लिये ही की गई थी। अब भी जाकर सभा मे तुम यह कह दो कि परिव्राजक का मिथ्याभिमान चूर करने के लिये ही मैंने तीसरी राशि की कल्पना की, वस्तुत: ऐसी बात नही है"।

गुरु के बहुत समझाने पर भी रोहगुप्त ने कहा यह अपसिद्धान्त नही है, तीसरी राशि नोजीव मानने मे मुझे कोई आपत्ति नही है। कट कर अलग पडी तडपती हुई छिपकली की पूछ नोजीव है। इसका अर्थ अजीव नही, अपितु जीव का एक हिस्सा है छिपकली की कटी हुई पूछ को जीव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीव का एक अश होने के कारण वह जीव से विलक्षण है उसे अजीव भी नही कहा जा सकता, क्योंकि उसमे स्पन्दनशीलता है, अत: उसे नोजीव मानना ही युक्ति-सगत है। नोजीव का अर्थ है 'जीव-प्रदेश', क्योंकि वह जीव और अजीव दोनो से विलक्षण है। समभिरूढनय के मत से जीव-प्रदेश को नोजीव माना गया है। जीव के एक देश को नोजीव कहा जाता है। जैसे घट का एक देश नोघट कहा जाता है, वैसे ही नोजीव नाम की तीसरी राशि भी है ही। वह भी जीवाजीवादि तत्त्वो की तरह युक्ति-युक्त और आगम-सिद्ध है।

उत्तर मे आचार्य ने कहा—"स्थानाङ्ग सूत्र मे दो ही राशिया कही गई है—जीव और अजीव-अनुयोग द्वार में भी कहा गया है—जीव-द्रव्य और अजीव-द्रव्य। उत्तराध्ययन सूत्र का भी कथन है—कि जीव और अजीव इन दो द्रव्यों से लोक व्याप्त है। आगम मे तीसरी राशि का वर्णन कही भी उपलब्ध नही है। उसकी सत्ता बताना आगम की अवहेलना है। धर्मास्तिकाय आदि का देश, प्रदेश भी उनसे सर्वथा भिन्न नही है। उनमें भिन्नत्व की कल्पना तो सिर्फ विवक्षा को लेकर ही की गई है। इसी तरह पूछ भी छिपकली से अभिन्न ही है, क्योंकि वह उसी के साथ लगी हुई है। इसलिये पूछ में रहे हुए आत्मप्रदेश जीव से भिन्न न होने से जीव ही है, नो जीव नही। किसी शस्त्र आदि से जब छिपकली की पूछ कट जाती है, तब उसके अलग हो जाने पर भी बीच में जीव के प्रदेशों का सम्बन्ध बना रहता है। शरीर का अवयव कट कर अलग हो सकता है, किन्तु आत्मा के प्रदेशों का छेदन-भेदन नही होता, आत्मा तो अच्छेद्य एवं अभेद्य है।"

भगवती सूत्र मे गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से प्रश्न किया कि "भगवन्! कछुआ और उसके अवयव, मनुष्य और उसके अवयव, गोह और उसके अवयव, गौ और उसके अवयव, भैंस और उसके अवयव, इनके दो, तीन यावत् सख्यात असख्यात टुकडे हो जाने पर क्या बीच में भी

जीव-प्रदेश रहते हैं ? उत्तर मिला "हा गौतम ! रहते हैं।"

भगवन् ! क्या कोई पुरुष उन जीव-प्रदेशों को अपने हाथ से छूकर किसी तरह पीड़ा पहुंचा सकता है ?"

"गौतम यह बात सम्भव नही है, वहां शस्त्र की गति नहीं होती।"

उक्त प्रश्नोत्तर से जीव और उनके कटे हुए भाग के बीच में जीव प्रदेशों का होना सिद्ध है। अत्यन्त सूक्ष्म एव अमूर्त होने से उन मध्यवर्ती प्रदेशो को कोई भी छद्मस्थ देख नही सकता।

जो तुम कहते हो कि अनुयोग द्वार सूत्र के आधार पर समभिरूढनय नोजीव को पृथक् मानता है, वह कथन भी उचित नही है, क्योकि जीव-प्रदेश को जीव से भिन्न समभिरूढनय नही मानता। अपितु जीव से अभिन्न जीव-प्रदेश को ही समभिरूढ नय 'नोजीव' कहता है। वह जीव को अलग मानकर उसके एक खड को नोजीव नही मानता। जिस तरह छिपकली की पूछ को तुम अलग नोजीव मानते हो, वह तुम्हारी तरह जीव और अजीव राशि से भिन्न 'नोजीव' राशि को नही मानता वह तीसरी राशि का अंतर्भाव दो में ही कर लेता है। आदि के पाच नय भी जीव को प्रदेशो से अलग नही मानते। सूत्र में कहे गए एक भी पद या अक्षर को जो नही मानता, वह शेष सब कुछ मानते हुए भी मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार जब एक अक्षर या पद में सदेह होने पर जीव मिथ्यात्व से मलिन हो जाता है, तब अलग राशि की कल्पना या प्ररूपणा करने से तो कहना ही क्या ?

इस प्रकार बहुत समझाने पर जब भी रोहगुप्त नही माना तो आचार्य ने उसे श्रद्धा-भ्रष्ट जानकर सघ से बाहर निकाल दिया। रोहगुप्त ने छः भावो की स्थापना की अतः उसका षडुल्लूक नाम पडा और वही भविष्य में कणादमुनि के नाम से प्रख्यात हुआ।

७. **अबद्धिया**—जीव कर्म से स्पृष्ट है, बद्ध नही। इस मत के प्रवर्त्तक गोष्ठामाहिल हुआ है। वह वीर-निर्वाण सवत् की छट्ठी शताब्दी मे हुआ था। आर्यरक्षित जी नौ पूर्वो और २४ यविको मे प्रवीण विद्वान् थे। उनके गच्छ में चार मुनि अग्रगण्य थे—दुर्वलिकापुष्पमित्र, विन्ध्य, फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल। इन में गोष्ठामाहिल आर्यरक्षित का मामा था और फल्गुरक्षित उनका छोटा भाई था। ये सब ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न हुए थे।

आर्यरक्षित के बाद चतुर्विध श्रीसघ के शास्ता दुर्वलिकापुष्पमित्र बने। वे नौ पूर्वो के समर्थ विद्वान् थे। उधर गोष्ठामाहिल उनकी निंदा कर के साधुओं को बहकाने लगा, किन्तु उसकी बात को कोई भी नहीं मानता था। वह अभिमानवश आचार्य के पास स्वाध्याय के लिये भी नही जाता था। वाचना लेने के बाद लौटे हुए साधुओं से तथा एकान्त मे वैठकर चिंतन करते हुए विंध्य अनगार से वह शास्त्र-ज्ञान प्राप्त कता रहा। एक दिन आठवे कर्म-प्रवाद पूर्व और नौवे प्रत्याख्यान-प्रवाद पूर्व के अधिकार के विषय में उसने विवाद खडा कर दिया। उस विवाद की सक्षिप्त रूप रेखा इस प्रकार है—

कर्म-प्रवाद नामक आठवें पूर्व में कर्मो पर विचार करते हुए आचार्य श्री जी ने व्याख्यान दिया—"जीव के साथ कर्मों का सयोग तीन तरह का होता है—स्पृष्टकर्म, स्पृष्टबद्ध कर्म और स्पृष्ट-

बद्ध निकाचित कर्म।

कषाय रहित ईर्यापथिकी क्रिया से होनेवाला कर्म-सयोग स्पृष्टकर्म कहलाता है। वह स्थिति को बिना प्राप्त किए ही जीव से अलग हो जाता है। सूखी हुई दीवार पर फैंकी हुई धूल जैसे तुरन्त अलग हो जाती है, वैसे ही स्पृष्टकर्म भी अनायास ही दूर हो जाते है।

स्पृष्टबद्धकर्म उसे कहते है—जो कर्म बद्ध होने के साथ-साथ जीव-प्रदेशो के साथ मिल जाते है, परन्तु कुछ समय पाकर ही अलग हो जाते हैं, जैसे गीली दीवार पर फैंकी हुई धूल चिपक जाती है, परन्तु समय पाकर वह अलग हो जाती है। वैसे ही स्पृष्टबद्धकर्म भी समयान्तर में आत्मा से अलग हो जाते है।

जो कर्म तीव्र कषाय के उदय से बाधे जाते हैं उनका बिना भोगे छूटना असभव है। ऐसे कर्मो को ही "स्पृष्टबद्धनिकाचित" कहते है। कालान्तर मे भी वे कर्म फल दिए बिना क्षय नही होते। जैसे गीली दीवार पर लगाया हुआ हाथ का चित्र सूखने के बाद भी मिटता नही है।

तीन तरह के कर्मो को समझाने के लिये दूसरा उदाहरण है—जो कर्म धागे से बाधी हुई सूचि-कलाप के समान हैं, उन्हें "स्पृष्ट" कहा जाता है। लोहे की तार से बाधी हुई सूइयो की तरह रहनेवाले कर्म "बद्धस्पृष्ट" कहलाते है। सूचि-कलाप को आग मे तपाकर हथोडे से कूटने पर उनसे बने हुए पिड की तरह जो कर्म होते है, उन्हे "बद्ध-स्पृष्ट-निकाचित" कहते है। निकाचित और अनिकाचित मे यही अतर है कि जिन कर्म प्रवृतियो मे उद्वर्तन, अपवर्तन, सक्रमण, उदीरणा, आदि न हो सके, वे कर्म निकाचित कहलाते है और जिनमे हो सके, उन्हे अनिकाचित या निधत्त भी कहते हैं। कर्मो का सबध जीव के साथ दूध-पानी की तरह या लोह-पिड एव अग्नि की तरह होता है,। जैसे ताबा और सोना दोनो को पिघलाने पर वे एकमेक हो जाते है, वैसे ही आत्मा और कर्म का सम्बन्ध होता है।

विध्य मुनिवर से कर्मो के विषय मे उपर्युक्त व्याख्या सुनकर गोष्ठामाहिल कहने लगा—कर्मो की यह व्याख्या समीचीन नही है। यदि जीव-प्रदेशो का और कर्मो का तादात्म्य सबन्ध माना जाए, तो वे कर्म कभी भी अलग नही हो सकेंगे, अलग हुए बिना मोक्ष का अभाव सिद्ध हो जाएगा। अत: कर्मो का सबध अग्नि और लोहपिड की तरह या क्षीर-नीर की तरह सवन्ध न मानकर साप और केचुली की तरह या चावल और छिलके की तरह मानना उचित है। इस प्रकार मानने से कर्म-बध और मोक्ष दोनो मे कोई वाधा या दोषापत्ति नही आएगी। कहा भी है—

"सोउं भणइ सदोस वक्खाणमिणंति पावइ जओ ते।
मोक्खाभावो जीवप्पएस कम्माविभागाओ ॥
नहि कम्म जीवाओ अवेइ अविभागओ पएस व्व।
तदणवगमादमोक्खो जुत्तमिणं तेण वक्खाणं ॥"

अत: यही सिद्ध होता है कि जीव कर्म से स्पृष्ट है, न कि पूर्णतया वद्ध।

विध्य अनगार गोष्ठामाहिल को पूर्णतया समझाने में अपने को समर्थ न समझकर वे आचार्य श्री जी मे निवेदन करने लगे—'गुरुदेव ! इनकी कर्म-विषयक और प्रत्याख्यान-विषयक शकाओ का समाधान आप ही कर सकते है। गुरु ने स्वय वात-चीत करके समझाने का निश्चय किया। उन्होने सबसे पहले कर्म-विषयक विवाद को निपटाने के लिये गोष्ठामाहिल से प्रश्न किया –

"कर्म यदि जीव को साप की केंचुली की तरह ही छूते है, तो क्या वे जीव के प्रत्येक प्रदेश को छूते है या शरीर के चारों ओर चिपके रहते हैं ? पहला पक्ष भी तुम्हारी मान्यता को सिद्ध नही करता, क्योंकि प्रत्येक प्रदेश के सब ओर कर्म आ जाने से कोई भी जीव का मध्य भाग या प्रदेश नही बचेगा, जहां कर्म न हो।। जैसे आकाश जीव के हर प्रदेश मे व्याप्त है, वैसे ही कर्म भी जीव के प्रत्येक प्रदेश मे व्यापक होने से कर्म सर्वगत हो जाएगे, क्योंकि प्रति प्रदेश व्यापकता रूप जो सबध तुम जीव के साथ कर्मो का सिद्ध करना चाहते हो, वह केंचुली के द्वारा सिद्ध नही होता, अत केंचुली का दिया हुआ दृष्टान्त साध्य-विकल है। यदि कर्मो का सम्बन्ध शरीर के चारो ओर मानते हो तो जन्मान्तर मे जाते हुए जीव के साथ कर्म नहीं रहेगे, क्योकि शरीर के मल की तरह वे कर्म भी शरीर के साथ ही छूट जाएगे। कर्म न रहने से जन्म नही, इस तरह ससार ही नही रहेगा। यदि विना कर्म के ससार मान लिया जाए, तो सयम, तप आदि साधनो से होनेवाली कर्मो की निर्जरा भी व्यर्थ हो जाएगी, क्योकि ससार तो कर्म-रहित होने पर भी रहेगा। इस तरह मानने से सिद्धो को भी ससार मे आना पड़ेगा और इस प्रकार ससारी जीवों और सिद्धो में कोई अतर ही नही रह जाएगा। जैसे चावल पर रहा हुआ जन्मजात छिलका उसे वाहर से ही आवृत करता है भीतर से नही, वैसे ही शरीर के भीतर जो सुख-दुःख की अनुभूति होती है, वह उक्त दृष्टान्त से घटित नही होती, क्योकि कम शरीर के मध्य मे रहते है, जहा सुख-दुख की अनुभूति होती है, वहा उस अनुभूति के कारणभूत कर्म का होना अनिवार्य है। जैसे त्वचा को जब अनुभूति होती है, तब शरीर के मध्य मे भी उसकी प्रतीति होती है वहा कर्म है, यह बात तभी सिद्ध हो सकती है, जब कि आत्मा और कर्म का सबन्ध क्षीर नीरवत् मानेगे।"

"कर्मो का वन्ध मिथ्यात्व आदि आश्रवो के कारण होता है। मिथ्यात्व आदि आश्रव जैसे जीव के बाह्य प्रदेशो मे रहते है, वैसे ही मध्यप्रदेश मे भी रहते है। कर्म-बन्ध के कारण जब वे जीव के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेते है तब उनका कार्य कर्म-बध भी सर्वत्र ही होता है, अत अग्नि और लोहपिंड के समान तथा क्षीर-नीर की तरह जीव के साथ कर्म का तादात्म्य सबध स्वीकार करना पड़ता है, अत यही पक्ष युक्ति सगत है।

"प्रयोग के द्वारा जैसे दूध से पानी को अलग किया जा सकता है, सोने के साथ मिले पत्थर को या सोने के साथ मिले हुए तावे को भी रासायनिक प्रयोग द्वारा अलग कर दिया जाता है, वैसे ही ज्ञान और क्रिया के द्वारा कर्मो को भी जीव से अलग कियर जा सकता है। जैसे परस्पर तादात्म्यभाव से स्थित होने पर भी पदार्थ अलग किए जा सकते है, वैसे ही आध्यात्मिक प्रक्रियाओ से जीव द्वारा कर्म भी अलग किए जा सकते है, अत: मोक्ष होने मे कोई भी आपत्ति नही है।"

आचार्य ने अन्य भी बहुत से हेतु दिए, किन्तु उसने यही स्वीकार किया कि जीव और कर्म

का सम्वन्ध क्षीर-नीरवत् नहीं है, अपितु सर्प केंचुलीवत् मानना ही ठीक है। उसने अपना हठ नही छोडा, अत: वह और उसके अनुयायी सभी निह्नव कहलाए। आचार्य ने उन्हे सघ से वहिष्कृत कर दिया।

यहा यह शका होनी स्वाभाविक है कि जो निन्हव श्रमण भगवान महावीर के अनन्तर हुए है, उनका उल्लेख अग-शास्त्रों मे कैसे किया गया ? "होत्था" इस क्रिया-पद से भी यह स्पष्ट है कि वे हुए थे, इससे सूत्रकार अतीत काल का स्मरण कराते है। अत: निह्नवो का अस्तित्व महावीर से पूर्व ही प्रमाणित होता है, परन्तु उपर्युक्त विवेचन उनका होना महावीर के वाद सिद्ध करता है।

इस शका के समाधान मे कहा जा सकता है कि सभव है कि क्षमाश्रमण देवर्द्धि गणि ने जव आगमों को ग्रन्थ रूप दिया था, उस समय सातवे स्थान के अनुरोध से सात निह्नवो का उल्लेख भी उन्होने कर दिया होगा। क्योकि वे पहले ही लिखते है—**"समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवयणनिण्हगा पण्णत्ता"** इस प्रकरण मे **तित्थसि"** पद दिया गया है जिसका भाव है भगवान महावीर के तीर्थ में सात निह्नव कहे गए है। तीर्थ का काल-प्रमाण २१००० वर्ष पर्यन्त है। 'होत्था' क्रिया पद से सामान्यभूत अभिप्रेत है। तव वे नगर भी उन निह्नवो से सवधित थे, उस अतीतकाल का निर्देश किया गया है। सभव है भगवान के समय में भी इस तरह के निह्नव होगे। तभी तो औपपातिक सूत्र मे प्रश्नो के द्वारा उनकी गति-विधियो का उल्लेख करते हुए उनकी धारणाओ का निराकरण किया गया है।[1]

उस सूत्र पाठ मे 'भवति' इस वर्तमान कालिक क्रिया का प्रयोग किया गया है। जिससे ज्ञात होता है कि प्रश्नकार के युग मे भी प्रवचन-निह्नव होगे।[2] 

वेदनीय कर्म का विपाक

मूल—**सायावेयणिज्जस्स कम्मस्स सत्तविहे अणुभावे पण्णत्ते, तं जहा—मणुन्ना सद्दा, मणुण्णा रूवा, जाव मणुन्ना फासा, मणोसुहया, वइसुहया।**

---

१. से जे इमे गामागर जाव सण्णिवेसेसु णिण्हगा भवति, त जहा—वहुरया, जीवपएसिया, अव्वत्तिया, सामुच्छेइया, दो किरिया, तेरासिया, अवद्धिया, इच्चेते सत्त पवयणणिण्हगा केवलचरिया, लिंगसामण्णा, मिच्छद्दिट्ठी बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं, मिच्छत्ताभिणिवेसेहिं य अप्पाण च पर च तदुभय च वुग्गाहेमाणा, वुप्पाएमाणा विहरित्ता बहूइ वासाइ सामण्णपरियाग पाउणति, त्ता [' ' 'तस्स ठाणस्स अणालोइया अपडिकता] कालमासे काल किच्चा उक्कोसेण उवरिमेसु गेवेज्जेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति, तेहि तेसि गई, एक्कतीस सागरोवमाइ ठिई, परलोगस्स अणाराहगा, सेस त चेव।

२. निह्नवो की मान्यताओ के खडन का विस्तृत वर्णन क्षमाश्रमण जिनभद्रगणी कृत विशेषावश्यक भाष्य मे मिलता है।

असायावेयणिज्जरस णं कम्मस्स सत्तविहे अणुभावे पण्णत्ते, तं जहा—

अमणुन्ना सद्दा जाव वइदुहया ।४८।

छाया—सातावेदनीयस्य कर्मणः सप्तविधोऽनुभावः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—मनोज्ञाः शब्दाः, मनोज्ञानि रूपाणि यावन्मनोज्ञाः स्पर्शाः, मनःसुखता, वाक्सुखता ।

असातावेदनीयस्य कर्मणः सप्तविधोऽनुभावः प्रज्ञप्तस्तद्यथा- अमनोज्ञाः शब्दाः यावद् वागदुःखता ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

भावार्थ—साता-वेदनीय कर्म का सात प्रकार का विपाक कथन किया गया है, जैसे—मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप से लेकर मनोज्ञ स्पर्श तक पाच प्रकार का और मन का सुख तथा वचन का सुख ।

असाता वेदनीय कर्म का विपाक भी सात प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे—अमनोज्ञ शब्द से लेकर वचन-दुःख तक ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे निह्नवों का वर्णन किया गया है। वे निह्नव चार गतियो मे भटकते हुए कर्मो के सुख-दुःख को भोगते है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे सुखात्मक सातावेदनीय और दुखात्मक असातावेदनीय कर्मो के विपाक का वर्णन किया गया है ।

पाचो इन्द्रियो, मन और वचन मे शुभता का होना साता है और उनमे अशुभता का होना असाता है। 'सुहया' शब्द की सस्कृत छाया 'सुखता' और 'शुभता है' । इसी प्रकार 'दुहया' शब्द का सस्कृत रूप 'दुःखता' है ।

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतिया है। साता और असाता जब साता वेदनीयकर्म का उदय होता है, तब जीव उसका सुखमय फल सात प्रकार से भोगता है। उसे सुनने के लिये प्रिय शब्द, देखने के लिये मगलकारी रूप, सूघने के लिये इष्ट गध, आस्वादन के लिये स्वादिष्ट रस, स्पर्श के लिये सुखकारी स्पर्श इत्यादि पाच इन्द्रियो के पचविध सुख प्राप्त होते है तथा मानसिक और वाचिक सुख भी मिलते है। इस तरह सात प्रकार से साता वेदनीय कर्म अपना फल देता है।

असाता वेदनीय कर्म का फल भी जीव सात प्रकार से ही भोगता है, जैसे कि—सुनने के लिये कटु शब्द, देखने के लिये भयकर घृणित रूप, सूघने के लिये अनिष्ट दुर्गन्ध, आस्वादन के लिये अनिष्ट रस, छूने के लिये दुःखद स्पर्श इस प्रकार पाच इन्द्रियो के प्रतिकूल विषयो के समागम से दुख अनुभव करना तथा मानसिक दुःख और वाचिक दुःखो का अनुभव करना असातावेदनीय है। रोग और आघात आदि का होना भी अनिष्ट स्पर्श है ।

नक्षत्र-द्वार

मूल—महा णक्खत्ते सत्ततारे पण्णत्ते ।

अभिईयादिया णं सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, तं जहा—अभिई, सवणे, धणिट्ठा, सयभिसया, पुव्वाभद्दवया, उत्तराभद्दवया, रेवई ।

अस्सणियादिया णं सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता, तं जहा—अस्सिणी, भरणी, कित्तिया, रोहिणी, मिगसिरे, अद्दा, पुणव्वसू ।

पुस्साइया णं सत्त णक्खत्ता अवरदारिया पण्णत्ता, तं जहा—पुस्सो, असिलेसा, मघा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता ।

साइयाइया णं सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता, तं जहा—साइ, विसाहा, अणुराहा, जेट्ठा, मूलो, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा ।४९।

छाया—मघानक्षत्रं सप्ततारकं प्रज्ञप्तम् । अभिजिदादिकानि सप्त नक्षत्राणि पूर्वद्वारिकाणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—अभिजित्, श्रवण., धनिष्ठा, शतभिषक्, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती ।

अश्विन्यादिकानि सप्त नक्षत्राणि दक्षिणद्वारिकाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिर , आर्द्रा, पुनर्वसुः ।

पुष्यादीनि सप्त नक्षत्राण्यपरद्वारिकानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पुष्य., अश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्तः, चित्रा ।

स्वात्यादिकानि सप्त नक्षत्राण्युत्तरद्वारिकाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—स्वातिः, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल , पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—मघा नक्षत्र के सात तारे वर्णन किये गए है । अभिजित् आदि सात नक्षत्र पूर्वद्वारी कथन किये गए है, जैसे—अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती ।

अश्विनी आदिक सात नक्षत्र दक्षिण द्वारी कथन किये गए है, जैसे—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु ।

पुष्य आदि सात नक्षत्र पश्चिमद्वारी कथन किये गए है, जैसे, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त और चित्रा।

स्वाति आदिक सात नक्षत्र उत्तरद्वारी कथन किये गए है, जैसे—स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में सातावेदनीय एव असातावेदनीय कर्मों के विपाक अर्थात् फल का वर्णन किया गया है। जीव कर्मो का फल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त को पाकर ही भोगता है। काल-गणना मे सहायक होने से नक्षत्रो का समावेश काल मे ही होता है, अत. प्रस्तुत सूत्र मे नक्षत्रो का विषय वर्णित है। २८ नक्षत्रो मे मघा ही एक ऐसा नक्षत्र है, जिसके सात तारे है।

अभिजित् नक्षत्र से लेकर रेवती पर्यन्त सात नक्षत्र पूर्वद्वार सज्ञक है। अश्विनी से लेकर पुनर्वसु पर्यन्त सात नक्षत्र दक्षिणद्वार सज्ञक है। पुष्य से लेकर चित्रा तक सात नक्षत्र पश्चिमद्वार संज्ञक है। स्वाति से लेकर उत्तराषाढा नक्षत्र तक सात नक्षत्र उत्तरद्वार सज्ञक है।

चद्रप्रज्ञप्ति सूत्र के अतर्गत इस विषय में पाच लौकिक अभिमत प्रकट किये गए है। कुछ ज्योतिर्विद कृत्तिका से लेकर आश्लेषा तक सात नक्षत्र पूर्वद्वारिक मानते है, कुछ ज्योतिर्विद मघा से लेकर विशाखा तक सात नक्षत्र पूर्वद्वारिक स्वीकार करते है, कुछ नक्षत्रज्ञ धनिष्ठा से लेकर सात नक्षत्र पूर्वद्वारिक मानते है, कुछ ऐसे भी खगोलशास्त्री है, जो अश्विनी से लेकर पुनर्वसु तक सात नक्षत्र पूर्वद्वारिक स्वीकार करते है, कुछ भरणी से लेकर पुष्य तक सात नक्षत्र पूर्वद्वारिक मानते हैं।

भगवान महावीर के प्रवचनानुसार नक्षत्रो की गणना अभिजित् नक्षत्र से प्रारम्भ होती है। इसीलिये अभिजित् आदि सात नक्षत्र पूर्व द्वारिक कहे गए है। यहा छठे मत का आश्रय लेकर वर्णन किया गया है। अवलौकिक अभिमतो मे से पहले मत का आश्रय लेकर निम्नलिखितश्लोको मे वर्णन किया जाता है, जैसे कि—

"दहनाद्यमृक्षसप्तकमैन्द्र्यां तु मघादिकं च याम्यायाम्।
अपरस्यां मैत्रादिकमथ सौम्यां दिशि धनिष्ठादि॥

भवति गमने नराणामभिमुखमुपसर्प्पतां शुभप्राप्तिः।
अथ पूर्वमृक्षसप्तकमुद्दिष्टं मध्यममुदीच्याम्॥

पूर्वायामौदीच्यां प्रातीच्यां दक्षिणाभिधानायाम्।
याम्यां तु भवति मध्यममपरस्यां यातुराशायाम्॥

येऽतीत्य यान्ति मूढाः परिघाख्यामनिलदहनदिग्रेखाम्।
निपतन्ति तेऽचिरादपि दुर्व्यसने निष्फलारंभाः॥

अर्थात् कृत्तिका आदि सात नक्षत्र पूर्व दिशा के है, मघादि सात नक्षत्र दक्षिण दिशा के है,

अनुराधादि सात नक्षत्र पश्चिम दिशा के है, धनिष्ठा आदि सात नक्षत्र उत्तर दिशा के है। इस क्रम से जिस दिशा का जो नक्षत्र है उस नक्षत्र के दिन उस दिशा मे जाने पर वह नक्षत्र सामने होता है, अत: उस दिशा में यात्रा करनेवाले यात्री को उस यात्रा में शुभ फल की प्राप्ति होती है। जो नक्षत्र पूर्व दिशा के कहेगए है, वे उत्तर दिशा की यात्रा मे मध्यम है। इसी तरह उत्तरदिशा के नक्षत्र पूर्व दिशा की यात्रा मे मध्यम हैं। दक्षिण दिशा के नक्षत्र पश्चिमदिशा की यात्रा मे मध्यम है तथा पश्चिम दिशा के नक्षत्र दक्षिण दिशा की यात्रा मे मध्यम है। जो अनभिज्ञ वायव्यकोण से आग्नेयकोण तक गई हुए परिघ नामक रेखा के नक्षत्रों को लाघकर दक्षिण दिशा मे यात्रा करते है वे शीघ्र ही सकट के गर्त्त मे पड जाते है, और वे जिस कार्य का प्रारम्भ करते है उस में उन्हे सफलता नही मिलती साराश यह कि कृत्तिकादि सात-सात नक्षत्र क्रमश पूर्वादि चारो दिशाओ मे लिखकर आग्नेयकोण से वायव्यकोण तक रेखा खीच देनी चाहिये उसे परिघदड समझकर अपने-अपने भाग वाले १४-१४ नक्षत्रों मे उसी-उसी भाग मे यात्रा आदि शुभ कार्य होना चाहिए। किन्तु दड को लाघकर कभी-भी यात्रा नही करनी चाहिए।

यद्यपि यह विपय खगोल शास्त्र का है, अध्यात्मविद्या-प्रधान आगमो में इसकी विशेष आवश्यकता नही थी, तथापि विकासोन्मुख आत्मा के उत्थान मे नक्षत्रो का सहयोग भी सुनिश्चित है, क्योकि आत्मिक आस्थाओ के अनुरूप वातावरण मिलने पर लौकिक सिद्धियों और अलौकिक अभिलाषाओ की पूर्ति शीघ्र हो जाया करती है।

वक्षस्कार पर्वतो के कूट

मूल—जंबूद्दीवे णं दीवे सोमणसे वक्खारपव्वए सत्त कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे सोमणसे, तह बोद्धव्वे मंगलावइकूडे।
देवकुरू विमल कंचण, विसिट्ठकूडे य बोद्धवे॥

जंबूद्दीवे दीवे गंधमायणे वक्खारपव्वए सत्त कूडा पण्णत्ता तं जहा—

सिद्धे य गंधमायण, बोद्धव्वे गंधिलावईकूडे।
उत्तरकुरू, फलिहे, लोहियक्ख आणंदणे चेव॥५०॥

छाया—जम्बूद्वीपे खलु द्वीपे सौमनसे वक्षस्कारपर्वते सप्त कूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

सिद्धः सौमनसस्तथा बोद्धव्यं मंगलावतीकूटम्।
देवकुर्विमल: काञ्चन, विशिष्टञ्च बोद्धव्यम्॥

जम्बूद्वीपे द्वीपे गन्धमादने वक्षस्कारपर्वते सप्त कूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

सिद्धञ्च गन्धमादनं बोद्धव्यं गन्धिलावतीकूटम् ।
उत्तरकुरु - स्फटिकं, लोहिताक्ष आनन्दनश्चैव ॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप के सौमनस वक्षस्कार पर्वत पर सात कूट कथन किये गए हैं, जैसे—सिद्धकूट, सौमनसकूट, मंगलवतीकूट, देवकुरुकूट, विमलकूट, काञ्चनकूट और विशिष्टकूट ।

जम्बूद्वीप में गन्धमादन वक्षस्कार पर्वत पर सात कूट विद्यमान हैं, जैसे—सिद्ध, गन्धमादन, गन्धिलावती, उत्तरकुरु, स्फटिक, लोहिताक्ष और आनन्दनकूट ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में नक्षत्रो का वर्णन किया गया है, नक्षत्र देवाधिष्ठित माने गए है, अत: देव-अधिकार होने से प्रस्तुत सूत्र मे देव-निवास-भूत कूटो का वर्णन किया गया है। जिस पर्वत के शिखर पर देव भवन हो उसे कूट कहते है। जवूद्वीप नामक द्वीप मे देवकुरु क्षेत्र से पूर्व की ओर सौमनस वक्षस्कार पर्वत पर सात कूट है। वह सौमनस पर्वत गजदन्ताकार है, जो नाम कूटो का है, वही नाम उसमे रहने वाले प्रमुख देव का है। विशेषता यह है कि विमल और काचनकूट पर क्रमश: वत्सा और वत्समित्रा इन दो नामोंवाली अधोलोक-निवासिनी दिशाकुमारियो का आधिपत्य है।

जंवूद्वीप नामक द्वीप में उत्तरकुरु क्षेत्र से पश्चिम की ओर गधमादन वक्षस्कार पर्वत है। उस पर्वत पर सात कूट है। उनमें से स्फटिक और लोहिताक्ष इन दो कूटो पर अधोलोक निवासिनी भोगंकरा और भोगवती नामवाली क्रमश: दो दिशाकुमारियो का आधिपत्य है।

शेष पांच कूटो पर जो नाम कूट का है उसी नाम के देव का निवास है। इन दो पर्वतों का तथा उनके सात-सात कूटो का विस्तृत वर्णन जवूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र के गज-दतो के अधिकार मे किया गया है।

द्वीन्द्रिय जीवों की कुल कोटियां

मूल—बेइंदियाणं सत्त जाइकुलकोडिजोणी पमुह सयसहस्सा पण्णत्ता ।५१।

छाया—द्वीइन्द्रयाणां सप्त जातिकुलकोटियोनय: प्रमुखा.शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ।

शब्दार्थ—**वेदियाणं**—द्वीन्द्रिय जीवो की, **सत्तसय सहस्सा**—सात लाख, **जाइकुलकोडिजोणी**—जाति कुलकोटि योनि, **पमुह**—प्रमुख, **पण्णत्ता**—कथन की गई है।

मूलार्थ—द्वीन्द्रिय जीवों की सात लाख जाति कुलकोटि कही गई है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे कूटो एव पुष्करणिय का वर्णन किया गया है। कूटस्थित पुष्करणियों में द्वीन्द्रिय जीव भी होते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में द्वीन्द्रिय जीवो की कुलकोटियो की सख्या बताई गई है। उनकी योनिया दो लाख हैं और जाति-कुलकोटिया सात लाख है। कोटि से तात्पर्य एक समान कुल से है, अर्थात् एक कुल के अनेक प्रकार है, जैसे एक ही प्रकार के गोबर मे अनेक जाति के कृमि उत्पन्न होते हैं उन सबको सामूहिक रूप से कुल कहते है। इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं—

"द्वीन्द्रियजातौ याः योनयस्तत्प्रभवा याः कुलकोटयस्तासां लक्षणानि सप्त प्रज्ञप्तानीति, तत्र योनिर्यथा गोमयस्तत्र चैकस्यामपि कुलानि—विचित्राकाराः कृम्यादय इति"।

एक ही योनि मे अनेक कुल होते है, अत दो इन्द्रिय जीवो की योनियो में ७ लाख कुल-कोटिया बताई गई है। आज प्राणी-शास्त्र का अध्ययन बहुत ऊचे स्तर पर हो रहा है और प्राणी-विज्ञान भी पर्याप्त समुन्नत हो चुका है, परन्तु डार्विन ने पशु-पक्षियो की जिस विकास-परम्परा पर प्रकाश डाला था, उसे भी आज नए वैज्ञानिक तथ्यहीन बताते जा रहे है। डार्विन ने सूक्ष्म जीवो के भेदो आदि का वर्णन नहीं किया, किन्तु सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु महावीर ने इस विषय पर जो प्रकाश डाला है हमारा विश्वास है प्राणी-विज्ञान अपने विकास की चरम अवस्था मे उसे ही स्वीकार करेगा।

जीवों द्वारा पाप कर्म के रूप में पुद्गल-ग्रहण

मूल—**जीवा णं सत्तट्ठाणनिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा चिणंति वा, चिणिस्सति वा, तं जहा—नेरइयनिव्वत्तिए जाव देवनिव्वत्तिए एवं चिण जाव णिज्जरा चेव।५२।**

छाया—**जीवाः सप्तस्थाननिर्वर्तितान् पुद्गलान् पापकर्मतया अचिन्वन् वा चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, तद्यथा—नैरयिकनिर्वर्तितान् यावत् देवनिर्वर्तितान्। एवं चयो यावत् निर्जरा चैव।**

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जीवों ने सात स्थानों से निर्वर्तित पुद्गलो को पाप-कर्म रूप से एकत्र किया, करते है और करेंगे, जैसे नारकीपने तक। इसी प्रकार पाप-कर्म-रूप पुद्गलों का चय तथा निर्जरा भी करेंगे।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे द्वीन्द्रिय जीवों का वर्णन किया गया है। द्वीन्द्रिय आदि जीव अपनी-अपनी योनि मे पाप-कर्म के पुद्गलों को सचित करके ही उत्पन्न होते है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे पाप-कर्म के पुद्गलो के संचयन की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है ।

नारकी, तिर्यञ्च, तिर्यञ्ची, मनुष्य, मानुषी, देव और देवी, ससार भर के सभी जीव इन सात जीव-समूहों में समाविष्ट हो जाते है। इनमें रहते हुए जीव पाप-कर्मो का उपार्जन करते है इनके अतिरिक्त और कोई स्थान नही है जहां पापकर्मो का उपार्जन हो सके, अत कर्मफल भोगने के स्थान भी ये ही सात है।

सात स्थानो में उत्पन्न होकर जीवो ने पापकर्म के रूप में पुद्गलो का सचय अतीत काल मे किया, वर्तमान मे कर रहे है और भविष्य में भी करेंगे। इसी प्रकार उपचय, वध, उदय, उदीरणा, वेदना और निर्जरा के विषय मे भी समझना चाहिए ।

पुद्गलों की अनन्तता

मूल—सत्तपएसिया खंधा अणता पण्णत्ता। सत्तपएसोगाढा पोग्गला जाव सत्त-गुणलुक्खा पोग्गला अणंत्ता पण्णत्ता।५३।

छाया—सप्त प्रदेशिकाः स्कन्धा अनन्ताः प्रज्ञप्ताः। सप्त प्रदेशावगाढाः पुद्गल यावत्सप्तगुण-रूक्षाः पुद्गला अनन्ता: प्रज्ञप्ताः।

शब्दार्थ—**सत्त पएसिया**—सात प्रदेशिक; **खधा**— स्कन्ध; **अणता पण्णत्ता**—अनन्त कथन किये गए है। **सत्त पएसोगाढा**—सात प्रदेशो पर अवगाढ पुद्गल, **जाव**—यावत्, **सत्त गुणलुक्खा**--सात गुना रूक्ष, **पोग्गला अणंता पण्णत्ता**—पुद्गल अनन्त कथन किये गए है।

मूलार्थ —सप्त प्रदेशिक पुद्गल-स्कन्ध अनन्त वर्णन किये गए है। सात आकाश प्रदेशों मे अवगाहन करनेवाले पुद्गल अनन्त हैं, यावत् सात गुणा रूक्ष पुद्गल अनन्त वर्णन किये गए है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे पापकर्म के पुद्गलों के सचय-स्थानों का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार वे पुद्गल कितने प्रकार के होते है इस विषय पर प्रकाश डालते है।

द्रव्य क्षेत्र काल और भाव का आश्रय लेकर पुद्गल का निरूपण करना ही इस सूत्र का उद्देश्य है, जैसे कि सात प्रदेशी स्कन्ध अनन्त है। आकाश के सात प्रदेशो को अवगाहन करनेवाले पुद्गल भी अनन्त हैं। सात समय स्थितिवाले पुद्गल भी अनन्त है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन को गुण या भाव भी कहते हैं। जिनमे सात गुणा गुण पाए जाए ऐसे पुद्गल भी अनन्त है।

सप्तम स्थान पूर्ण

स्थानाङ्ग-सूत्र

स्थान अष्टम

एक ही उद्देशक

प्रथम उद्देशक

प्रस्तुत स्थान में

(एक ही उद्देशक)

प्रस्तुत स्थान में एकलविहारी अनगार के गुण, योनि संग्रह, चयनीय प्रकृतियां, प्रायश्चित्त आदि की उपेक्षा के कारण, मायावी द्वारा कृत आलोचना-कारण, मायावी की तपन, अनालोचना का पारलौकिक फल, आलोचना-जन्य पारलौकिक फल, संवर-असंवर, स्पर्श-भेद, लोक स्थिति के प्रकार, गणि-सम्पदा, महानिधियों की उच्चता, समितियां, आलोचना के गुण, प्रायश्चित्त, मद-स्थान, अक्रियावादी, महानिमित्त, वचन-विभक्ति, छद्मस्थ-अज्ञेय, केवली-ज्ञेय, आयुर्वेद, इन्द्रों की अग्रमहिषियां महाग्रह, तृण-वनस्पति, चतुरिन्द्रियासमारम्भजन्य संयम, समारम्भ-जन्य असंयम, अष्ट सूक्ष्म, चक्रवर्ती के मोक्षगामी वंशज, श्री पार्श्वनाथ जी के गण-गणधर, दर्शन, औपमिक काल, श्री नमिनाथ जी की युगान्तकृद् भूमि, श्रीमहावीर-दीक्षित नृप, अष्टविध आहार, कृष्ण-राजियों के संस्थान आदि, धर्मास्तिकाय आदि के मध्य प्रदेश, महापद्म जी द्वारा दीक्षित होनेवाले राजा, श्रीनेमिनाथ जी से दीक्षित होकर सिद्ध हुई श्री कृष्ण की अग्रमहिषियां, वीर्यपूर्व की वस्तुएं और चूलिकाएं, अष्ट गति, गंगा आदि देवियों के द्वीप, उल्कामुख आदि के द्वीप, कालोद समुद्र का विस्तार, आभ्यन्तर-बाह्य-पुष्करार्ध का विस्तार, काकिणी रत्न का मान, मगधदेशीय योजन-मान, सुदर्शना और कूटशाल्मलि का मान, तिमिस्रगुहा और खण्डप्रपातगुहा का उच्चत्वमान शीता और शीतोदा महानदी के वक्षस्कार, विजय और चक्रवर्ती महाराजाओं की राजधानियां शीता और शीतोदा महा नदी के तटों पर अवस्थित वैताढ्यादि, ज्ञातव्य पदार्थ, मेरु-चूलिका का मध्यमान, धातकीवृक्ष के उच्चत्व आदि का मान, भद्रशाल वन के दिशा-हस्ती और जम्बूद्वीप का मध्यमान, वर्षधरों के कूट आदि, तिर्यक् मिश्रोत्पन्नक कल्प, अष्ट-अष्टमिका भिक्षु प्रतिमा, संसार-समापन्नक जीव, अष्टविध सयम, आठ पृथ्वियां अप्रमाद-स्थान, सहस्रार कल्प का उच्चत्वमान, श्री अरिष्टनेमि जी की वादि-सम्पदा, केवली-समुद्घात, श्री महावीर की अनुत्तरोपातिक सम्पदा, अष्टविध वानव्यन्तर देव और चैत्यवृक्ष, रत्न-प्रभा से सूर्य-विमान की दूरी, चन्द्र-प्रमर्दयोगकारी नक्षत्र, द्वीपसमुद्र-द्वारों की ऊंचाई, पुरुषवेदनीय और यशः-कीर्ति की स्थिति, त्रीन्द्रिय जीवों की कुल-कोटियां, अष्टस्थान निर्वर्तित पुद्गलों की अनन्तता आदि का वर्णन किया गया है।

अष्टम स्थान

प्रथम उद्देशक

सामान्य परिचय

पहले के सात स्थानो मे जीव, अजीव आदि तत्वो का सख्या-अपेक्षा की दृष्टि से वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार उन्ही पदार्थो का आठ की सख्या की अपेक्षा रखते हुए पदार्थो की अष्टविधता का वर्णन करते हैं।

एकाकी विहारयोग्य अनगार गुण

मूल—**अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, तं जहा—सड्ढी पुरिसजाए, सच्चे पुरिसजाए, मेहावी पुरिसजाए, बहुस्सुए पुरिसजाए, सत्तिमं, अप्पाहिगरणे, धिइमं, वीरियसंपन्ने ।१।**

छाया—**अष्टभिः स्थानैः सम्पन्नोऽनगारोऽर्हति एकलविहारप्रतिमामुपसम्पद्य विहर्तु, तद्यथा—श्रद्धिपुरुषजातं, सत्यपुरुषजातं, मेधाविपुरुषजातं, बहुश्रुतपुरुषजातं, शक्तिमान्, अल्पाधिकरणः, धृतिमद्, वीर्यसम्पन्न ।**

शब्दार्थ—**अट्ठहिं ठाणेहिं**—आठ स्थानो (गुणो) से; **संपन्ने अणगारे**—सम्पन्न अनगार; **एगल्लविहारपडिमं**—एकाकी विहार प्रतिमा को; **उवसंपज्जित्ताणं**—ग्रहण कर के; **विहरित्तए**—विहार करने के लिये, **अरिहइ**—योग्य माना जाता है; **त जहा**—यथा; **सड्ढीपुरिसजाए**—श्रद्धावान्; **सच्चेपुरिसजाए**—सत्यवादी, **मेहावी पुरिसजाए**—मेधावी; **बहुस्सुए पुरिसजाए**—बहुश्रुत; **सत्तिमं**—तप आदि की शक्तिवाला; **अप्पाहिगरणे**—क्लेश न करनेवाला; **धिइम**—धैर्यवान्, **वीरियसंपन्ने**—वीर्य-सम्पन्न।

मूलार्थ—आठ गुणों से युक्त अनगार एकाकी विहार-प्रतिमा ग्रहण कर विचरने के योग्य माना जाता है, जैसे—श्रद्धावान्, सत्यवादी, मेधावी, बहुश्रुत, शक्ति-सम्पन्न, क्लेश न करनेवाला, धृतिमान् और वीर्यवान्।

विवेचनिका—

स्थानाङ्ग-सूत्र की यह शैली है कि जीवगुण के वर्णन से प्रत्येक स्थान का आरम्भ होता है और अजीवगुणों के वर्णन मे प्रत्येक स्थान की समाप्ति होती है। उसी क्रम में प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने सर्वप्रथम अनगार के उन आठ गुणो का वर्णन किया है, जिनके होने पर वह एकाकी विहार कर सकता है। जिन-कल्प-प्रतिमा या मासिकी आदि भिक्षु-प्रतिमा अगीकार करके साधु के अकेले विचरने रूप अभिग्रह को एकल-विहार प्रतिमा कहते हैं। जो साधु आठ गुणो से सपन्न हो वही एकल-विहार प्रतिमा को ग्रहण करके विचर सकता है। वे आठ गुण इस प्रकार है—

१ **सड्ढीपुरिसजाए**—जो जीव आदि नव तत्त्वों पर सम्यक् रूप से श्रद्धा रखता हो, मोक्षमार्ग मे सयम तप में दृढ श्रद्धावान् हो, जो किसी देव या देवेन्द्र के द्वारा भी श्रद्धामार्ग से विचलित न हो सके, जो किसी भी स्थिति मे श्रद्धा से डावाडोल न हो सके जिसकी अन्तरात्मा जिन-धर्म से अनु-रंजित हो उसे ही "श्रद्धिपुरुपजात" कहते है। 'जात' शब्द प्रकार का अर्थ है प्रकार, एकल विहारी सन्त का पहला प्रकार अर्थात् रूप यही है।

२. **सच्चे पुरिसजाए**—जो पूर्ण सत्यवादी हो, अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहनेवाला हो, हित--वचन बोलनेवाला हो, चारित्र-पालन में अटल हो, किसी का बुरा न सोचता हो, सबका भला सोचने वाला हो, न्याय-प्रिय, विश्वस्त और प्रामाणिक हो, उसे 'सत्य-पुरुपजात" कहते है। ऐसा सत्यनिष्ठा सम्पन्न मुनीश्वर ही एकाकी विहार का अधिकारी होता है।

३. **मेहावी पुरिसजाए**—शास्त्र एव तत्त्व के ग्रहण में समर्थ तथा विवेक-सपन्न बुद्धिमान् पुरुष को "मेधावी पुरुषजात" कहते है, क्योंकि ऐसा मेधावी मुनि सत् और असत् की परख करने मे कुशल होता है, उसकी बुद्धि विलक्षण होती है, अतः वह विहार की समस्याओ का सयमोचित समाधान निकालने में समर्थ होता है। ऐसा मुनीश्वर एकल-विहारी बन सकता है। ऐसा मुनीश्वर अपने आपको अपने ही ज्ञान बल से सुरक्षित रख सकता है।

४. **बहुस्सुय-पुरिसजाए**—एकल विहार करनेवाला साधु शास्त्रों का पारगत होना चाहिए। आगमों के सूत्र और अर्थ रूप से पूर्णतया परिचित होना चाहिए, कम से कम वह नौवे पूर्व की तीसरी वस्तु का ज्ञाता अवश्य होना चाहिए, तभी वह एकलविहार प्रतिमा का वहन कर सकता है। तीर्थङ्करो के युग मे ग्यारह अङ्गो का पाठी भी इस प्रतिमा को धारण कर एकाकी विहार कर सकता था, जैसे स्कन्धक संन्यासी ने भिक्षु की प्रतिमा ग्रहण की थी।

५. **सत्तिमं**—शारीरिक शक्ति, विद्या एव मत्र-शक्ति वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन इत्यादि अनेक शक्तियों से संपन्न साधु ही एकलविहार प्रतिमा को ग्रहण कर सकता है क्योकि शक्ति के बिना संयम-मार्ग में आनेवाले परीषह-उपसर्गो को सहन करना कठिन होता है और सहन-शक्ति के बिना निरतिचार चारित्र की आराधना नही हो सकती।

६. **अप्पाहिगरणे**—जो मुनीश्वर क्लेश-विद्वेष से रहित, शान्त एव क्षमावान् हो, वही एकल

विहार-प्रतिमा को अगीकार कर सकता है। क्रोधी एव वाणी पर नियन्त्रण न रखनेवाला इस प्रतिमा का अधिकारी नही हो सकता।

७. **धिइमं**—धृतिमान्, जिस मुनीश्वर की चित्तवृत्तिया स्वस्थ रहती हों, जो रति-अरति, अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गो को सहन करने में समर्थ हो, वही धृतिमान् कहलाता है। धृतिमान् साधु ही इस प्रतिमा को धारण कर एकाकी विहार कर सकता है।

८. **वीरियसपन्ने**—जो सयम-स्थानो में उत्तरोत्तर बढने का उत्साह रखता हो, जिसका उत्साह कभी भी अपने कर्त्तव्य से पीछे न रहता हो। "सयमम्मि य वीरिय" के अनुसार जो सयम-सुरक्षा के लिये पुरुषार्थ करनेवाला हो, वही साधु एकाकी विहार के योग्य होता है।

इन आठ गुणो से सपन्न साधु आचार्य की आज्ञा से एकल-विहार प्रतिमा को अगीकार कर विचरण कर सकता है, परन्तु अपनी इच्छा से नही।

जो साधु जिन-कल्प-वृत्ति को धारण करना चाहता है उसकी तुलना पाच बातो से की जाती है जैसे कि तप से, सत्त्व से, सूत्र से, एकत्व से और बल से। जो इन शक्तियो से सपन्न हो वही इस प्रतिमा का अधिकारी होता है।[1]

अष्टविध योनि-सग्रह

मूल—अट्ठविहे जोणि-संगहे पण्णत्ते, त जहा–अंडगा, पोयगा जाव उब्भिया, उववाइया। अंडया अट्ठगइया पण्णत्ता, तंजहा अंडए अंडएसु उववज्जमाणे अंडएहिंतो वा, पोयएहिंतो वा, उववाइएहिंतो वा उववज्जेज्जा, से चेव ण से अंडए अंडगत्त विप्पजहमाणे अंडगत्ताए वा, पोयगत्ताए वा जाव उववाइयत्ताए वा गच्छेज्जा। एवं पोयगावि, जराउयावि, सेसाणं गईरा-गई णत्थि।२।

छाया—अष्टविधो योनि-संग्रहः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अण्डजाः, पोतजा, यावदुद्भिज्जाः, औपपातिकाः। अण्डजा अष्टगतिका अष्टागतिका प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अण्डजोऽण्डजेषूत्पद्यमानोऽण्डजेभ्यो वा, पोतजेभ्यो वा, औपपातिकेभ्यो वा उपपद्यत, स एव सोऽण्डजोऽण्डजत्वं विप्रजहन् अण्डजतया वा, पोतजतया वा यावदौपपतिकतया गच्छेत्। एवं पोतजा अपि, जरायुजा अपि, शेषाणां गतिरागतिर्नास्ति।

---

१. तवेण सत्तेण सुत्तेण एगत्तेण बलेण य।
तुलणा पचहा वुत्ता जिणकप्प पडिवज्जओ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आठ प्रकार का योनि-संग्रह कहलाता है, जैसे—अण्डज, पोतज आदि से लेकर उद्भिज तक और आठवां औपपातिक। अण्डज जीव अण्डज से पैदा होता हुआ अण्डज मे अथवा पोतज से लेकर औपपातिकों तक से आकर उत्पन्न होता है और वही जीव अण्डज-भाव को छोडता हुआ अण्डजपने अथवा पोतजपने से लेकर औपपातिकपने तक उत्पन्न हुआ करता है। इसी प्रकार पोतज भी, जरायुज भी उत्पन्न हो सकता है, किन्तु शेष जीवों की गति अथवा आगति नहीं होती।

विवेचनिका—

अनगार का प्रमुख व्रत है 'अहिंसा'। अहिंसाव्रती साधु जीव-रक्षा के लिये सर्वदा यत्नशील रहता है। प्रश्न होता है कि वे कौन से जीव हैं जिनकी रक्षा के लिये अनगार को यत्नशील रहना चाहिए? अब इसी प्रश्न का उत्तर सूत्रकार स्वयं देते हैं। उत्पत्ति-स्थान को योनि कहा जाता है। त्रस योनियों के अनेक भेद होने पर भी उन सबका इस सूत्र मे आठ रूपो में समाहार कर लिया गया है। विश्व भर मे जितने भी त्रस प्राणी है, उन सब के उत्पत्ति-स्थानों की यदि गणना की जाए तो वे आठ ही है, जैसे कि अडज, पोतज, जरायुज, रसज, सस्वेदज, समूर्छिम, उद्भिज और औपपातिक। अडज, पोतज और जरायुज इन जीवो की गति भी आठ प्रकार की है और आगति भी आठ ही प्रकार की मानी गई है। इन से भिन्न जो रसज, सस्वेदिम, सम्मूर्छिम, उद्भिज और औपपातिक जीव हैं उनकी गति और आगति आठ तरह की नही होती। औपपातिक शब्द से देव और नारक दोनो का ग्रहण होता है। रसज आदि जीव देव-गति और नरक-गति मे उत्पन्न नही हो सकते और न ही देव और नारक ये रसज आदि मे उत्पन्न हो सकते है। देव और नारक, अण्डज, पोतज और जरायुज मे ही उत्पन्न हुआ करते है। मनुष्य का अन्तर्भाव जरायुज मे होता है। जितने भी त्रस प्राणी हैं उन सबका अन्तर्भाव इन आठ योनियो मे ही हो जाता है।

सम्मूर्छिम पद से यहा असज्ञी तिर्यञ्च और असज्ञी मनुष्य ग्रहण किये गए है। समूर्छिम तिर्यञ्च, देव और नारक-भव मे जन्म ले सकता है, किन्तु देव और नारक ये समूर्छिम योनि मे जन्म नहीं ले सकते। इस अपेक्षा से ही सातवे स्थान के तीसरे सूत्र मे योनि-सग्रह की सप्तविधता पर प्रकाश डाला गया था। यहा आठवा औपपातिक भेद उपस्थित करने के लिये पुन: योनि-सग्रह का वर्णन किया गया है।

अष्ट विध कर्म-प्रकृतियां

मूल—जीवाणमट्ठ कम्मपगडीओ चिणिसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा, तं

जहा-णाणावरणिज्जं, दरिसणावरणिज्जं, वेयणिज्जं, मोहणिज्जं, आउयं, नामं, गोत्तं, अंतराइयं ।

नेरइया णं अट्ठकम्मपगडीओ चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा । एवं निरंतरं जाव वेमाणियाण २४ ।

जीवाणमट्ठ कम्मपगडीओ उवचिणिंसु वा, एवं चेव। एवं चिण, उवचिण, बंध, उदीर, वेय तह णिज्जरा चेव । एए छ चउवीसा दंडगा भाणियव्वा ।३।

छाया—जीवा अष्टकर्म-प्रकृतीः अचिन्वन् वा, चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, तद्यथा—ज्ञानावरणीयं, दर्शनावरणीयं, वेदनीयं, मोहनीयम्, आयुष्कं, नाम, गोत्रम् , अन्तरायिकम् । नैरयिका अष्टकर्मप्रकृतीः अचिन्वन् , चिन्वन्ति, चेष्यन्ति एवमेव । एव निरन्तरं यावद् वैमानिकानाम् २४ ।

जीवा अष्टकर्म-प्रकृतीः उपाचिन्वन् वा एवमेव । एवं चयः, उपचयः, बन्धः, उदीरः, वेदस्तथा निर्जरा चैव । एते षट् चतुर्विंशतिर्दण्डका भणितव्या. ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जीवों ने कर्मो की आठ प्रकृतियो का पूर्व काल मे चयन किया, वर्तमान में कर रहे है और आगामी काल मे करेगे, वे आठ कर्म-प्रकृतिया है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायकर्म ।

नारकीयों से लेकर वैमानिको पर्यन्त जीवो ने आठ कर्म-प्रकृतियो का चय किया, करते है और करेगे । इसी प्रकार चौबीस दण्डको के जीवो के सम्बन्ध में कथन करना चाहिए । जीवो ने जैसे अष्ट कर्म-प्रकृतियो का चयन किया, कर रहे है, या करेगे, उसी प्रकार चय, उपचय, वन्ध, उदीरणा, वेदन तथा निर्जरा ये छह सूत्र तीनो कालों को लक्ष्य मे रखकर चौवीस दण्डकों में कहने चाहिये ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में अण्डज आदि त्रस जीवों की योनियों का वर्णन किया गया है। वे अण्डज आदि जीव आठ

प्रकार की प्रकृतियों का संग्रह करते है, इसलिये प्रस्तुत सूत्र मे उन्ही क्रम-प्राप्त आठ कर्म-प्रकृतियो का नामोल्लेख किया गया है। जीवों ने भूत काल में आठ कर्मों का उपार्जन किया, कर रहे है और भविष्य मे करेंगे। वे आठ कर्म-प्रकृतियां इस प्रकार हैं—जैसे कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम गोत्र और अन्तराय।

नारको जीवो से लेकर वैमानिक देवो तक चौवीस दडकों में रहनेवाले जीवों ने आठ कर्मों का उपचय एव बध किया, करते है और करेगे। इसी प्रकार उन्होंने आठ कर्मो की उदीरणा की, करते हैं और करेंगे। आठ कर्मो का फल भोगा, भोग रहे हैं और भोगेगे। आठ कर्मो की अकाम निर्जरा की थी, करते है और करेंगे। इसी प्रकार ससार की रचना तथा ससार में ससरण हो रहा है। जब आत्मा सकाम निर्जरा के द्वारा आत्म-प्रदेशों से सभी कर्म-वर्गणाओ को दूर कर देता है, तभी वह शुद्ध होकर निर्वाण-पद को प्राप्त कर सकता है। इन कर्मो की विस्तृत व्याख्या प्रज्ञापना सूत्र मे और भगवती सूत्र मे उपलव्ध है तथा कर्म-ग्रन्थों मे मिलती है।

प्रायश्चित्त आदि की उपेक्षा के कारण

मूल—अट्ठहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु नो आलोएज्जा, नो पडिक्कमेज्जा जाव नो पडिवज्जेज्जा, तं जहा—करिंसु वाऽहं, करेमि वाऽहं, करिस्सामि वाऽहं, अकित्ती वा मे सिया, अवण्णे वा मे सिया, अवणए वा मे सिया, कित्ती वा मे परिहाइस्सइ, जसे वा मे परिहाइस्सइ।४।

छाया—अष्टभिः स्थानैर्मायी मायां कृत्वा नो आलोचेद्, नो प्रतिक्रमेत्, यावत् नो प्रतिपद्येत्, तं जहा—अकुर्वं वाऽहम्, करोमि वाऽहम्, करिष्यामि वाऽहम्, अकीर्तिर्वा मे स्यात्, अवर्णो वा मे स्यात्, अविनयो वा मे स्यात्, कीर्तिर्वा मे परिहास्यति, यशो वा मे परिहास्यति।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आठ कारणों से मायावी माया करके आलोचना और प्रतिक्रमण आदि प्रायश्चित्त ग्रहण नही करता है, जैसे—पीछे पापकर्म मैंने किया, अब कर रहा हूँ और आगे भी करूंगा, मेरी अकीर्त्ति होगी, मेरा अवर्णवाद हो जायेगा, मेरा पूजा-सत्कार दूर हो जायेगा, मेरी कीर्त्ति को हानि पहुंचेगी, और मेरा यश समाप्त हो जायेगा।

पूर्वसूत्र में आठ कर्म-प्रकृतियो का वर्णन किया गया है, कर्म-बन्ध से मुक्ति का साधन है प्रायश्चित्त। प्रायश्चित्त वही कर सकता है जो मायावी नही है, मायावी व्यक्ति ही प्रायश्चित्त की उपेक्षा करता है, वह क्या सोचकर उपेक्षा करता है इस सूत्र में इसी विषय का वर्णन किया गया है---

आठ प्रकार के कर्मचय के कारणों का सेवन करके उनके दु:ख-कारक परिणामों को जानते हुए भी कुछ व्यक्ति कर्म-भार अधिक होने के कारण उन कर्मो की आलोचना नही करते। दोषों का सेवन प्राय. मायावी व्यक्ति ही किया करते है। इसी कारण सूत्रकार ने मायावी शब्द का प्रयोग किया है। मायी अर्थात् कपटी व्यक्ति माया करके पश्चात्ताप नही करता। यह मैंने अच्छा नही किया, यह कह कर वह अपनी दूषित आत्मा की निन्दा नही करता, गुरुजनो के समक्ष अपनी भूल स्वीकार नही करता, कृत-कर्मो की गर्हा नही करता, किए हुए अतिचारो से निवृत्ति नही पाता, शुद्ध भावों के द्वारा अशुद्ध भावो का प्रक्षालन नही करता। फिर कभी ऐसा कुकृत्य नही करूगा, यह प्रतिज्ञा नही करता। प्रायश्चित्त के रूप में यथायोग्य तप.कर्म स्वीकार नही करता, ऐसा साधक कभी भी आराधक नही हो सकता। आठ कारणो से मायावी व्यक्ति गुरुजनों के समक्ष किए हुए दोषो की आलोचना नही करता। वे आठ कारण इस प्रकार है, जैसे कि—

१. अतीतकालीन जीवन में मैंने जानबूझ कर नही करने योग्य दुष्कृतों का सेवन किया है, अतः अब उनकी निंदना-गर्हणा से क्या हो सकता है ?
२ मैं अकृत्य-कर्म करने का व्यसनी बन गया हूं, अतः दूषित कर्म मेरे से नही छूट सकते, अतः मैं इनकी आलोचना क्या करू ? क्योकि मै वर्तमान मे भी वही कर्म कर रहा हू जो कि पहले करता था।
३ भविष्य में भी मैं दोषो का सेवन करता ही रहूंगा, फिर उनकी आलोचना करने से क्या लाभ ?
४. आलोचना करने से मेरी अपकीर्ति अर्थात् बदनामी हो जाएगी, अत मैं उस बदनामी से बचने के लिये अति-चारो की आलोचना नही करता।
५. आलोचना करने से मेरा अवर्ण अर्थात् अपयश बढ़ेगा, क्योकि समाज में जो व्यक्ति मेरे पापों को नही जानते वे भी उसे जान जाएगे। इस कारण से भी मायावी आलोचना नहीं करता।
६. मेरी मान-प्रतिष्ठा को हानि पहुंचेगी, इसलिये भी मायावी आलोचना नही करता।
७. ख्याति-प्राप्त मायावी सोचता है कि आलोचना करने से मेरी सचित कीर्ति क्षीण हो जाएगी इस कारण से भी वह आलोचना नही करता।
८. धर्म एव समाज से विरुद्ध आचरण तो मैंने जरूर किया है, किन्तु आलोचना करने से मेरी आज तक की इज्जत मिट्टी मे मिल जाएगी।

इन आठ कारणो से मायी दूषित कर्म करके भी आलोचना नही करता।

एक दिशा या एक जाति में फैली हुई इज्जत को कीर्ति कहते है तथा सभी दिशाओं में या सभी जातियो व कुलो मे फैली हुई इज्जत को यश कहते है। अथवा भौतिक पदार्थो से बढ़ी हुई इज्जत कीर्ति है और गुणो से बढ़ी हुई इज्जत को यश कहते है।

जो मूत्र में 'अवणए' शब्द का प्रयोग किया गया है उसका आशय यह है कि यदि मैंने आलोचना की तो कुछ क्षणों में या दिनों मे मिलनेवाली मान-बड़ाई एवं प्रतिष्ठा मुझे नहीं मिलेगी, इस भय से भी मायी आलोचना नहीं करता। 'अवणए' पद के स्थान में 'अविणए' पाठ भी प्राप्त होता है। उसका आशय है जो मेरी विनय करते हैं संभव है आलोचना करने से उनके हृदय में मेरे प्रति अविनय-भाव जागृत हो जाएगा, वे मेरी विनय नही करेंगे, इसलिये भी मायावी आलोजना नहीं करते।

मायावी द्वारा कृत आलोचना के कारण

मूल—अट्ठहिं ठाणेहिं माई मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा, तं जहा—माइस्स णं अस्सि लोए गरहिए भवइ, उववाए गरहिए भवइ, आजाई गरहिया भवइ, एगमवि माई माय कट्टु नो आलोएज्जा जाव नो पडिवज्जेज्जा, णत्थि तस्स आराहणा। एगमवि माई मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा, अत्थि तस्स आराहणा। बहुओवि माई मायं कट्टु नो आलोएज्जा जाव नो पडिवज्जेज्जा, नत्थि तस्स आराहणा। बहुओवि माई मायं कट्टु आलोएज्जा जाव अत्थि तस्स आराहणा। आयरियउवज्झायस्स वा मे अइसेसे नाणदंमणे समुप्पज्जेज्जा, से तं ममालोएज्जा—माई णं एसे ।५।

छाया—अष्टभिः स्थानैर्मायी मायां कृत्वाऽऽलोचयेत् यावत् प्रतिपद्येत्, तद्यथा—मायिनोऽयं लोको गर्हितो भवति, उपपातो गर्हितो भवति, आयाति गर्हिता भवति, एकामपि मायी मायां कृत्वा नो आलोचयेत् यावत् नो प्रतिपद्येत्, नास्ति तस्य आराधना। एकामपि मायी मायां कृत्वाऽऽलोचयेत् यावत् प्रतिपद्येत्, अस्ति तस्य आराधना। बहुतोऽपि मायी मायां कृत्वा आलोचयेत् यावत् नो प्रतिपद्येत्, नास्ति तस्य आराधना। बहुतोऽपि मायी मायां कृत्वा आलोचयेत् यावत् अस्ति तस्य आराधना। आचार्योपाध्यायस्य वा मे अतिशेषं ज्ञानदर्शनं समुत्पद्येत्, स च मामालोकयेत्—मायी एषः।

शब्दार्थ—अट्ठहिं ठाणेहिं—आठ स्थानों से; मायी—मायावी, मायं कट्टु—माया कर के, आलोएज्जा—आलोचना करे, जाव पडिवज्जेज्जा—यावत् प्रायश्चित्त ग्रहण करे, तं जहा—यथा, माइस्स णं अस्सि लोए गरहिए भवइ—मायावी की इस लोक मे निन्दा होती है; उववाए गरहिए भवइ—उपपात गर्हित होता है, आजाई गरहिया भवइ—तृतीय जन्म गर्हित होता है, एगमवि माई मायं कट्टु—मायावी एक भी माया कर के, नो आलोएज्जा—यदि आलोचना न करे, जाव—यावत्,

नो पडिवज्जेज्जा—प्रायश्चित्त ग्रहण न करे तो; **तस्स नत्थि आराहणा**—उसकी आराधना नही होती, **एगमवि माई मायं कट्टु**—एक बार माया का सेवन कर के यदि मायावी, **आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा**—आलोचना कर के यदि प्रायश्चित्त आदि ग्रहण करता है, **तस्स अत्थि आराहणा**—तो वह आराधक होता है; **बहुओ वि माई मायं कट्टु**—मायावी बहुत प्रकार से माया करके, **नो आलोएज्जा जाव नो पडिवज्जेज्जा**—यदि आलोचना नही करता और प्रायश्चित्त आदि ग्रहण नहीं करता तो, **तस्स नत्थि आराहणा**—तो वह आराधक नही होता, **बहुओवि माई माय कट्टु आलोएज्जा**—बहुत प्रकार से माया का सेवन करके भी यदि मायावी आलोचना करे, **जाव पडिवज्जेज्जा**—और प्रायश्चित्त आदि ग्रहण करे तो, **अत्थि तस्स आराहणा**—तो उस की आराधना है, **आयरियउवज्झायस्स वा मे**—अथवा मेरे आचार्य-उपाध्याय को, **अइसेसे नाणदंसणे समुप्पज्जेज्जा**—यदि अतिशेष ज्ञान-दर्शन हो जाए और, **से**—वे, **ममालोएज्जा**—मुझे अवलोकन करेंगे, **माई णं एसे**—तो वे यह मायावी है, ऐसा कहेंगे, इस कारण आलोचना कर लेता है।

मूलार्थ—मायावी आठ कारणो से माया कर के आलोचना और प्रायश्चित्त आदि ग्रहण करता है, यथा—मायावी व्यक्ति का यह लोक गर्हित होता है, परलोक गर्हित होता है और तीसरा जन्म भी गर्हित होता है। जो मायी एक माया का सेवन कर उस माया की आलोचना और प्रायश्चित्त आदि ग्रहण नहीं करता उसकी आराधना नही होती और जो मायी एक माया का भी आलोचना आदि कर लेता है, वह आराधक होता है। जो मायी बहुत प्रकार का मायाचार सेवन करके आलोचना नही करता, उसकी आराधना नही होती। बहुत प्रकार का माया-आचार सेवन करके जो आलोचना कर लेता है, वह आराधक है। मेरे आचार्य-उपाध्याय को यदि अतिशेष ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो गया तो वे मुझे जान लेंगे कि यह मायावी है, "तब मैं उन की दृष्टि से गिर जाऊंगा" यह सोच कर मायावी प्रायश्चित्त आदि ग्रहण कर लेता है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे मायावी लोग क्यों प्रायश्चित्त आदि नही करते इस विषय पर प्रकाश डाला गया था। अब सूत्रकार यह निर्देश करते है कि मायावी व्यक्ति माया-सेवन करने के बाद आठ कारणो मे से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर भी आलोचना कर सकता है जैसे कि—

१. दोषी का जीवन इस लोक मे निन्दनीय होता है, क्योंकि कहा भी है: —

"भीउव्विग्गनिलुक्को पायड पच्छन्न दोससयकारी ।
अप्पच्चयं जणंतो जइस्स धी जीवियं जियइ ॥"

अर्थात् मायावी अपने दोषों के कुप्रभाव से भयभीत एव शंकित चित्तवाला होता है. मेरे पापकर्मों का पर्दा कही खुल न जाए इस विचार से वह अपने पापों को ढाकने के लिये अनेक-अनेक प्रयत्न करता है। इस तरह वह प्रकट और प्रच्छन्न रूप से सैकडों दोषों का कर्त्ता होता है, अतः उसका विश्वास साधारण मनुष्य भी नही करता, ऐसे जीवन को सर्वथा धिक्कार है। अतः मायी का यह भव निंदनीय हो जाता है। आलोचना करने से मन की सब खट-पट दूर हो जाती है।

२ मायी का देव-भव भी निंदनीय होता है। मायावी साधक अगले भव में भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, परमाधामी, आभियोगिक और किल्विषिक देव बनता है। ये देव जाति मे उच्च देव नही माने जाते। यदि मैं आलोचना नही करूंगा तो घृणित देवजाति मे मेरा जन्म होगा, यही सोचकर भावी जन्म के सुधार के लिये मायी आलोचना करता है।

३ मायी का ससार मे आगमन भी निंदनीय होता है, देवलोकों से लौट कर वह जीव दुर्गति मे जन्म लेता है, तिर्यञ्च गति तो दुर्गति है हीं, किन्तु यदि वह मनुष्य गति मे भी जन्म ले ले, तो वह जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप आदि से हीन बनता है। इस दुर्दशा से बचने के लिये भी मायी आलोचना करता है।

४. जो मायावी किसी भी अतिचार का सेवन करके उसकी आलोचना नही करता, वह ज्ञानादि की प्राप्ति का आराधक नही बन सकता, यह सोचते हुए मायावी आलोचना एव प्रायश्चित्त आदि मे लग जाता है।

५ जो मायावी एक भी अतिचार का सेवन करके आलोचना-प्रायश्चित्त के रूप मे तप-कर्म अगीकार कर लेता है, वह मोक्षमार्ग का आराधक बन जाता है। इन कारणो से भी मायी प्रायश्चित्त आदि सयम-मार्ग पर आ जाता है।

६. मायी यदि बहुत बार अतिचारों का सेवन करके आलोचना नही करता एव प्रायश्चित्त नही करता, तो वह मोक्ष-मार्ग का आराधक नही बन पाता।

७ बहुत बार दोषो का सेवन करके भी यदि मायी आलोचना करता है और उन दोषो की निवृत्ति के लिये तप आदि भी करता है, तो वह मोक्ष-मार्ग का आराधक बन सकता है। इन कारणो को लक्ष्य में रखकर भी अनेक व्यक्ति मायावी होते हुए भी आलोचना करते हैं।

८. कभी-कभी मायावी व्यक्ति यह भी विचार करता है कि यदि आचार्य-उपाध्याय या गुरु को किसी सच्चे प्रमाण से यह पता लग गया कि मैं मायावी एवं कपटी हूं तो वे मेरे दोषो को जान जाएगे या उन्हे कोई ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो जाए, तो वे मेरे गुप्ताचरित दोषो को जान लेगे, इससे अच्छा यही है कि मैं स्वय उन के पास आलोचना कर लूं और कृत कर्मो का प्रायश्चित्त कर लू। इस कारण से भी कुछ मायावी आलोचना कर लेते है।

जो साधु लज्जा से, गौरव से या बहुश्रुत के मद से गुरु के सामने आलोचना नही करता, वह आराधक नहीं, विराधक बन जाता है। कहा भी है—

"लज्जाए गारवेण य बहुस्सुयमएण वावि दुच्चरियं,
जे न कहिंति गुरूणं न हु ते आराहया होंति ॥"

जो साधु सयतावस्था में भी भाव-शल्य का उद्धरण नही करता, वह दुर्लभबोधि और अनत ससार रूप अनर्थों को उत्पन्न करता है। वैसा अनर्थ न शस्त्र करता है, न विष करता है; न दुष्प्रयुक्त वैताल करता है, न दुष्प्रयुक्त यत्र करता है और न कोई सर्प ही करता है, जैसा कि मायी माया-दोप सेवन कर आलोचना न करने से स्वय अनर्थ करता है।[1]

सूक्ष्म या बादर अर्थात् स्थूल, प्रकट या प्रच्छन्न सभी तरह से दोषों से बचना ही श्रेष्ठ है, जो व्यक्ति दोषों को छिपाए रखता है उससे सयम दुर्गन्धित एव दूषित हो जाता है। दूषित जीवन का विश्व मे कोई महत्त्व नही है, अत: साधको को पहले तो मायावी बनने से ही बचना चाहिये, यदि कोई भूल से कपट-कार्य हो भी जाय तो निस्सकोच होकर उसकी निंदना, गर्हणा करते हुए उसकी निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए।

मायावी किस प्रकार तपता है?

मूल—माई णं मायं कट्टु, से जहा नामए अयागरेइ वा, तंबागरेइ वा, तउआगरेइ वा, सीसागरेइ वा, रुप्पागरेइ वा, सुवन्नागरेइ वा, तिलागणीइ वा, तुसागणीइ वा, बुसागणीइ वा, णलागणीइ वा, दलागणीइ वा, सोंडियालिच्छाणि वा, भंडियालिच्छाणि वा, गोलियालिच्छाणि वा, कुंभारावाएइ वा, कवेल्लुवा, वाएइ वा, इट्टावाएइ वा, जंतवाडचुल्लीइ वा, लोहारंबरिसाणि वा, तत्ताणि समजोइ भूयाणि किंसुक-फुल्लसमाणाणि, उक्कासहस्साइं विणिम्मुयमाणाइं विणिम्मुयमाणाइं, जालासहस्साइं, पमुंचमाणाइं, इंगालसहस्साइं परिकिरमाणाइं, अंतो-अंतो झियायंति। एवं माई मायं कट्टु अंतो अंतो झियायइ। जइवि य णं अन्ने केइ वयइ, तंपि य णं माई जाणइ—अहमेसे अभिसंकिज्जामि अभिसंकिज्जामि।६।

---

१. नवि त सत्थ व विस व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो,
जत व दुप्पउत्त सप्पो व पमाइणो कुद्धो ॥
ज कुणइ भावसल्ल अणुद्धिय उत्तमट्ठकालम्मि।
दुल्लहबोहित्त अणत - संसारियत्त वा ॥

छाया—मायी मायां कृत्वा, स यथानामकम्—अय-आकर इति वा, ताम्र-आकर इति वा, त्रप्वाकर इति वा, सीस-आकर इति वा, रूप्य-आकर इति वा, सुवर्ण-आकर इति वा, तिलाग्नि इति वा, तुषाग्नि इति वा, बुसाग्नि इति वा, नडाग्नि इति वा, दल-अग्नि इति वा, शुण्डिकालिच्छानि वा, भाण्डिकालिच्छानि वा, गोलिकालिच्छानि वा, कुम्भकार-आपाक इति वा, कवेल्लुक-आपाक इति वा, इष्ट-आपाक इति वा, यन्त्रवाडचुल्ली इति वा, लोहाकार-अम्बरीषाणि इति वा, तप्तानि वा समज्योतिर्भूतानि, किंशुकफुल्लसमानानि, उल्कासहस्राणिविनिर्मुञ्चन्ति वि निर्मुञ्चन्ति, ज्वाला सहस्राणि प्रमुञ्चन्ति, अङ्गारसहस्राणि परिकिरन्ति, अन्तरन्तो ध्मायति। एवं मायी मायं कृत्वा अन्तरन्तो ध्मायति। यद्यपि चान्यान् कोऽपि वदति, तदपि च मायी जानाति—अहमेष अभिशङ्क्ये।

शब्दार्थ—**माई णं मायं कट्टु**—मायावी माया करके, **से जहा नामए**—वह यथानामक दृष्टान्त से जैसे, **अयागरेइ वा**—लोहा ढालने की भट्टी, **तबागरेइ वा**—ताम्र ढालने की भट्टी, **तउआगरेइ वा**—त्रपु ढालने की भट्टी; **सीसागरेइ वा**—सीसा ढालने की भट्टी, **रुप्पागरेइ वा**—रौप्य ढालने की भट्टी; **सुवन्नागरेइ वा** सुवर्ण ढालने की भट्टी, अथवा; **तिलागणीइ वा**—तिलाग्नि; **तुसागणीइ वा**—तुषाग्नि; **बुसागणीइ वा**—भूसे की अग्नि; **णलागणीइ वा**—नडाग्नि; **दलागणीइ वा**—दल-अग्नि; **सोंडियालिच्छाणि वा**—सुरा निकालने की भट्टी की अग्नि, **भंडियालिच्छाणि वा**—स्थाली आदि के गर्म करने की अग्नि, **गोलियालिच्छाणि वा**—बड़े भाण्डे पकाने की आग; **कुंभारावाएइ वा**—कुम्हार के आवे की आग, **कवेल्लुवावाएइ वा**—चूने की भट्टी की आग; **इट्टावाएइ वा**—ईट पकाने के भट्टे की आग; **जंतवाडचुल्लीइ वा**—गन्ने का रस पकाने के चूल्हे की आग; **लोहारंबरिसाणि वा**—लोहार की भट्टी की आग जो; **तत्ताणि**—तप्त, **समजोइभूयाणि**—ज्योति के समान; **किंसुकफुल्लसमाणाणि**—पलाश के पुष्पो की तरह लाल और; **उक्कासहस्साइं विणिम्मुयमाणि**—जो सहस्रों चिंगारिणा छोड रही हो, **जालासहस्साइं पमुंचमाणाइं**—जिसमे सहस्रो ज्वालाये निकल रही हो; **इंगालसहस्साइं परिकिरमाणाइं**—जो सहस्रो अगारों को बिखेर रही है, जो; **अंतो अंतो झियायंति**—भट्टी आदि के अन्दर ही अन्दर दीप्त हो रही है; **एवमेव**—इसी दृष्टान्त द्वारा, **माई मायं कट्टु**—मायी माया कर के, **अंतो अंतो झियायइ**—अन्दर ही अन्दर शोकाग्नि से तप्त रहता है; **जइ वि य णं**—जब भी, **अन्ने केइ वयइ** किसी भी अन्य व्यक्ति से कोई कुछ कहता है; **तंपि य णं माई जाणइ**—तभी वह मायावी यह समझता है कि, **अहमेसे**—पाप करनेवाला यह मैं ही हूं; **अभिसंकिज्जामि**—और मेरे विषय मे ही ये लोग शकाए करते हैं।

मूलार्थ—मायावी माया कर के यथा लोहे की धमनभट्टी, ताम्र एवं त्रपु अर्थात् पीतल

की धमनभट्टी की आग, सीसे की रजत तथा सुवर्ण पिघलाने की आग एवं तिल, तुष, भूसा, नड, पत्र, मदिरा की भट्टी, भण्डित तथा गोलिक, कुम्हार का आवा, कवेलु का आवा, ईंटो का भट्टा, इक्षुयन्त्र, पाटक, चुल्ली, लुहार की भट्टी की अग्नि तप्त ज्योतिभूत, केसू के फूलों के समान, हजारों उल्काये छोडती हुई हजारों ज्वालाये छोडती हुई, हजारों अगारे बिखेरती हुई जैसे भीतर ही भीतर जलती रहती है, इसी प्रकार मायावी का हृदय स्वपाप से अन्दर ही अन्दर जलता रहता है। जहा कही अन्य कोई किसी से कोई बात करता है तो वह मायावी यही समझता है कि–"ये मेरी बाते कर रहे है", इस प्रकार वह सदैव शकाशील ही बना रहता है।

विवेचनिका–

पूर्व सूत्र में मायावी व्यक्ति किन कारणो से प्रायश्चित्त आदि के लिये प्रस्तुत होता है, इस विषय का विवेचन किया गया है। यदि मायावी व्यक्ति प्रायश्चित्त आदि नही करता तो उसकी मानसिक दशा कैसी हो जाती है? अब सूत्रकार इस विषय पर प्रकाश डालते है।

दोष सेवन करने वाले सभी व्यक्ति मायावी कहलाते हैं। मायावी साधक अपने चारित्र से गिर जाता है, वह सदैव शकित एव भयभीत रहता है, हर एक व्यक्ति उसे डरा देता है। सज्जन व्यक्ति उसका सम्मान नहीं करते और वह मरकर नीच योनियो मे जन्म लेता है। जो अपने किये हुए पापो की आलोचना नही करता तथा प्रायश्चित्त नही करता, वह मायावी पुरुष मन ही मनभयो चिन्ताओं और शकाओ की आग से झुलसता रहता है। जिस तरह लोहा, ताबा, जस्ता, सीसा, चादी, सोना इत्यादि धातुओं को पिघलाने वाली धमनभट्टिया भीतर ही भीतर सतप्त एव जाज्वल्यमान रहती है, तिल-चावल जौ, कोद्रव इत्यादि की एव भूसे की आग, सरकडों एव पत्तो की आग, अर्क आदि निकालने की भट्टी, किरमिची आदि बर्तन पकाने एव रगने की भट्टी, बडे-बड़े बर्तन पकाने एव बनाने की भट्टी, कुम्हारो के आवे मे जलती हुई आग, नलिया पकाने का आवा, ईटे पकाने का भट्टा, गुड-शक्कर, चीनी आदि बनाने की भट्टी, लुहार के बड़े-बड़े तपे हुए भट्टो मे केसू के फूल की तरह जलते हुए लाल अगारे जो कि सैकड़ो ज्वालाए तथा हजारो चिंगारिया छोड़ते रहते है, जिनके भीतर आग जोर से सुलग रही हो शोले भडक रहे हो, अन्दर ही अन्दर आग भडकती रहती हो, ऐसी भट्टियो और भट्टो की तरह माथावी मनुष्य भी सदैव पश्चात्ताप रूपी आग से झुलसता ही रहता है। वह जिसे देखता है, उसीको अपने प्रति शकाशील समझने लगता है और सोचता है इसने मेरे दोष को या माया को जान लिया होगा। यदि कही कुछ व्यक्ति एकान्त मे बाते कर रहे हो, तो वह यही समझेगा कि मेरी ही बाते हो रही है, जिससे वह भय-भीत हो जाता है। इसी कारण सूत्रकार ने कहा है "जइ वि य णं अन्ने केइ वयइ, तंपि य ण मायी जाणइ अहमेसे अभिसंकिज्जामि"।

पाप करनेवाला अपने पाप के कारण आप ही डरता रहता है। उसके मन में सदैव खलबली, अशान्ति, भय, शका परेशानियां इत्यादि विकार भडकते ही रहते हैं। सूत्रकार ने जो "उक्कासहस्साइं विणिम्मुयमाणाइं, जालासहस्साइं पमुंचमाणाइं, इगालसहस्साइं परिकिरमाणाइं" पद दिये है इन पदो से प्रतीत होता है कि पूर्वकाल मे भी बडी-बडी भट्टिया होती थी, जिनमे लोहा आदि धातुओ को पिघला कर अनेक तरह की चीजें ढाली जाती थी।

अनालोचना का पारलौकिक फल

मूल—मायी णं माय कट्टु अणालोइयपडिक्कते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवइ, तं जहा—नो महिड्ढिएसु जाव ना दूरंगइएसु, नो चिरट्ठिइएसु। से णं तत्थ देवे भवइ णो महिड्ढिए जाव नो चिरठिईए। जावि य से तत्थ बाहिरब्भंतररिया परिसा भवइ, सावि य णं नो आढाइ, नो परियाणाइ, णो महरिहेणमासणेणं उवनिमंतेइ। भासंपि य से भासमाणस्स जाव चत्तारि पंच देवा अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति—मा बहु देवे! भासउ।

से णं तओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं अणंतर चयं चइत्ता इहेव माणुस्सए भवे जाइं इमाइं कुलाइं भवंति, तं जहा—अंतकुलाणि वा, पंतकुलाणि वा, तुच्छकुलाणि वा, दरिद्दकुलाणि वा, भिक्खागकुलाणि वा, किवणकुलाणि वा तहप्पगारेसु कुलेसु पुमत्ताए पच्चायाइ। से णं तथा पुमे भवइ—दुरूवे, दुवन्ने, दुग्गंधे, दुरसे, दुफासे, अणिट्ठे, अकंते, अप्पिए, अमणुण्णे, अमणामे, हीणस्सरे, दीणसरे, अणिट्ठसरे, अकंतसरे, अप्पिएस्सरे, असणुण्णस्सरे, अमणामस्सरे, अणाएज्जवयणपच्चायाए। जावि य से बाहिरब्भतरिया परिसा भवइ, सावि य णं णो आढाइ, णो परियाणाइ, नो महरिहेणं आसणेणं उवणिमंतेइ। भासंपि य से भासमाणस्स जाव चत्तारि पंच जणा अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति—मा बहुं अज्जउत्तो भासउ-२ ।७।

छाया—मायी मायां कृत्वा अनालोचितप्रतिक्रान्तः कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु देवलोकेषु देवतया उत्पन्नो भवति, तद्यथा—नो महर्द्धिकेषु यावन्नो दूरगतिकेषु, नो चिरस्थिति-

केषु । स तत्र देवो भवति नो महर्द्धिको यावन्नोचिरस्थितिकः । याऽपि च तस्य बाह्याभ्यन्तरिका परिषद् भवति, साऽपि च नो आद्रियते, नो परिजानाति, नो महार्हेणासनेनोपनिमन्त्रयते । भाषामपि च तस्य भाषमाणस्य यावच्चत्वारः पञ्च देवा अनुक्ता एवाभ्युतिष्ठन्ति,— मा बहु देव ! भाषस्व !

स ततो देवलोकाद् आयुक्षयेण, भवक्षयेण, स्थितिक्षयेणानन्तरं च त्यक्त्वा इहैव मानुष्यके भवे यानीमानि कुलानि भवन्ति, तद्यथा—अन्तकुलानि वा, प्रान्तकुलानि वा, तुच्छकुलानि वा, दरिद्रकुलानि वा, भिक्षाककुलानि वा, कृपणकुलानि वा तथा प्रकारेषु कुलेषु पुंस्तया प्रत्यायाति । स तत्र पुमान् भवति—दूरूपः, दुर्वर्णः, दुर्गन्धः, दूरसः, दुःस्पर्शः, अनिष्टः, अकान्तः, अप्रियः, अमनोज्ञः, अमनामः, हीनस्वरः, दीनस्वरः, अनिष्टस्वरः, अकान्तस्वरः, अप्रियस्वरः, अमनोज्ञस्वरः, अमनामस्वरः, अनादेयवचनप्रत्यायातः । याऽपि च बाह्याभ्यन्तरिका परिषद् भवति, साऽपि च नो आद्रियते, नो परिजानाति, नो महार्हेणासनेनोपनिमन्त्रयते । भाषामपि च तस्य भाषमाणस्य यावच्चत्वारः पञ्च जना अनुक्ता चैवाभ्युतिष्ठन्ति, मा बहु आर्यपुत्र ! भाषस्व ! मा बहु आर्यपुत्र ! भाषस्व !

शब्दार्थ—माई मायं कट्टु—मायावी माया का सेवन कर के; अणालोइयपडिक्कंते—आलोचना न करके और प्रायश्चित्त न ग्रहण कर के, कालमासे कालं किच्चा—कालमास अर्थात् मृत्यु दिवस और मृत्यु मुहूर्त मे काल कर के; अण्णतरेसु देवलोएसु—अन्य व्यन्तर आदि देवलोकों मे, देवत्ताए—देवपने; उववत्तारो भवइ—उत्पन्न होता है; तं जहा—यथा; नो महिड्ढिएसु—महर्द्धिक देवो मे नही, जाव नो दूरगइएसु—यावत् दूरगतिक—सौधर्म आदि देवलोको में भी नही; नो चिरट्ठिइएसु च—चिरस्थिति वाले देवों मे भी नही; से ण तत्थ देवे भवइ—वह वहां देव बनता है, णो महड्ढिए—किन्तु महर्द्धिक देव नहीं, जाव नो चिरट्ठिईए—यावत् चिरस्थित वाला देव भी नही होता है, जाऽवि य णं से तत्थ—जो वहा पर देवलोक की, बाहिरब्भंतरिया परिसा भवइ—बाह्य और आभ्यन्तर परिषद् होती है; सावि य णं नो आढाइ—वह भी उस देव का आदर नही करती है; नो परियाणाइ—उसे अच्छा नही मानती, णो महरिहेण मासणेणं उवनिमतेइ—उसे अच्छे आसन पर बैठने के लिये निमन्त्रण नही करती, भासंपि य से भासमाणस्स—उसकी भाषा के भाषण करते समय, चत्तारि पंच देवा अवुत्ता चेव—चार-पाच देव बिना कहे, अब्भुट्ठेंति—खड़े हो जाते हैं और कहते है, मा बहुं देवे ! भासउ—हे देव ! अधिक भाषण मत करो ।

से ण तओ देवलोगाओ—तत्पश्चात् वह देव, आउक्खएणं—देव आयु के समाप्त होने पर भवक्खएणं—देव-भव का क्षय करके; ठिइक्खएणं—देवत्व की स्थिति पूर्ण करने के; अणंतर चयं चइत्ता—अनन्तर ही च्यव कर; इहेव माणुस्सए भवे—इस मनुष्य-भव

में; जाइं इमाइं कुलाइं भवंति—जो निम्न प्रकार के ये कुल हैं; तं जहा—जैसे, अंतकुलाणि वा—चर्मकार, छीपी आदि कुल अथवा; पंतकुलाणि वा—चाण्डाल आदि का कुल; तुच्छकुलाणि वा—अल्प मनुष्य वाला अथवा अपमानित जीवन व्यतीत करने वाले कुल; दरिद्दकुलाणि वा—दरिद्र कुल; भिक्खागकुलाणि वा—भिक्षाको के कुल; किवणकुलाणि वा—कृपण कुल; तहप्पगारेसु कुलेसु—तथाप्रकार के कुलों में; पुमत्ताए पच्चायाइ—पुरुष रूप में उत्पन्न होता है; से ण तत्थ - वहां पर वह; पुमो भवइ—पुरुष बनता है, परन्तु वह; दुरूवे—दूरूप, दुवन्ने—दुवर्ण, दुग्गंधे—दुर्गन्ध वाला; दुरसे—आनन्द-रहित; दुफासे - दु स्पर्श वाला, अणिट्ठे—अनिष्ट; अकंते—अकान्त; अप्पिए—अप्रिय, अमणुण्णे—अमनोज्ञ, अमणामे—सौभाग्य-रहित; हीणस्सरे—हीन स्वरवाला; दीणस्सरे—दीन स्वरवाला, अणिट्ठस्सरे—अनिष्ट स्वरवाला; अकंतस्सरे—अकान्त स्वर वाला; अप्पियस्सरे—अप्रिय स्वरवाला; अमणुण्णस्सरे—अमनोज्ञ स्वरवाला, अमणामस्सरे—मन प्रतिकूल स्वरवाला और; अणाएज्जवयणपच्चायाए—जिस का कहा कोई नही मानता, ऐसी स्थिति में पैदा होता है; जावि य से तत्थ—उसकी वहा जो भी; बाहिरब्भंतरिया परिसा भवइ—मनुष्य भव मे उसकी बाह्य और आभ्यन्तर परिषद् होती है; सावि य णो आढाइ—वह भी उस का आदर नही करती, णो परिजाणाइ—उसे अच्छा नही जानती; नो महारिहेण आसणेण उवणिमतेइ - न ही योग्य आसन पर बैठने के लिये निमन्त्रण करती है, भासं पि य से भासमाणस्स—उस के बोलने पर; चत्तारि पंच जणा—चार पांच मनुष्य; अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति—बिना कहे ही खड़े होते हैं, और कहते हैं; मा बहुं अज्जउत्तो! भासउ—हे आर्यपुत्र! अधिक मत बोलो।

मूलार्थ—मायावी व्यक्ति माया कर के आलोचना किये बिना और बिना प्रतिक्रमण किये मृत्यु-समय में मर कर किसी अन्य व्यन्तरादि देव-लोक मे देव रूप में उत्पन्न हो जाता है, परन्तु वह चिरस्थितिक और महर्द्धिक सौधर्म आदि देवलोकों में उत्पन्न नहीं होता। वह वहां देव बनता है। परन्तु उस की जो बाह्य और आभ्यन्तर परिषद् होती है, वह भी उसका आदर नही करती, न ही उसे वह अच्छा समझती है, न उसे उपयुक्त आसन पर बैठने के लिये निमन्त्रण देती है। जिस समय वह भाषण करता है यावत् उस समय तब चार-पांच देव बिना कहे ही खड़े हो जाते है और कहते हैं—हे देव! अधिक भाषण मत करो अर्थात् अधिक मत बोलो। तत्पश्चात् उस देवलोक से आयु-क्षय भव-क्षय और स्थिति क्षय करने के

अनन्तर ही च्युत हो कर इसी मनुष्य-भव में जो ये कुल, यथा—अन्तकुल, प्रान्तकुल, तुच्छकुल, दरिद्रकुल, भिक्षाककुल, कृपणकुल आदि कुल हैं, उनमें पुरुष रूप में उत्पन्न होता है। वह पुरुष दूरूप, दुर्वर्ण, दुर्गन्धयुक्त, दूरस, दु.स्पर्श, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ, मन के प्रतिकूल, हीन-स्वर, दीन-स्वर, अनिष्ट-स्वर, अकान्त-स्वर, अप्रिय-स्वर, अमनोज्ञ-स्वर, मन के प्रतिकूल स्वर और अनादेय वचनवाला होता है। उसकी जो बाह्य एवं आभ्यन्तर परिषद् होती है, वह भी उसका आदर-सत्कार नहीं करती, और न ही अच्छे आसन पर बैठने के लिये उसे निमन्त्रण देती है। जब वह भाषण करने लगता है, उस समय चार-पांच मनुष्य बिना कहे ही उठ खडे होते है और कहते है—हे आर्यपुत्र ! अधिक मत बोलो। इस प्रकार उस का जीवन इस लोक में भी गर्हित हो जाता है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे बताया गया है कि पाप-कर्मों का प्रायश्चित्त न करनेवाले साधक अन्दर ही अन्दर किस प्रकार सन्तप्त होते रहते है। अब सूत्रकार यह बताना चाहते हैं कि ऐसे व्यक्ति परलोक में भी चैन नही पा सकते और देवलोकों से धरती पर आकर भी उन्हे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

प्रायश्चित्त आदि के बिना साधक मर कर यदि देवलोक मे जाता है तो वह वहां पर भी देवों की छोटी जातियो में जन्म लेता है। छोटी जाति के देवों से अभिप्राय निम्न जातियों के देवो से है। जैसे कि—

नो महिड्ढिएसु :— जिन देव-देवियों का परिवार बहुत बडा नही होता, ऐसे अल्पसमृद्धिवाला देव बनता है।

नो महज्जुइएसु :— जिन देवो की शरीर और आभरण आदि की दीप्ति उद्दीप्त है, उनमे वह उत्पन्न नही होता।

नो महाणुभावेसु :—जो देव वैक्रिय आदि करने की अधिक शक्ति वाले है, उनमें उसका जन्म नही होता।

नो महाबलेसु :—जो अधिक बलवान है, उन मे उसकी कोई गणना नही होती।

नो महासोक्खेसु :—जो देव अधिक सुखी हैं, उनके समक्ष वह नगण्य ही रहता है।

नो परक्कमेसु :—जो देव पराक्रमी है, वह उनमें उत्पन्न नही होता है।

नो महाजसेसु :—महायशस्वी देवो मे उसकी उत्पत्ति नही होती।

नो महेसक्खेसु :—श्रेष्ठपदवीधर देवों में वह उत्पन्न नही होता।

जाव :—पद से इन्हीं सात विशेषणों का ग्रहण किया जाता है।

नो दूरंगइएसु:—वह उच्च देवलोको मे उत्पन्न नही होता।

नो चिरठिईएसु :—वह दीर्घस्थितिवाले देवों मे भी उत्पन्न नही होता।

बाह्य परिषद के देव और देवियां भी उसका सम्मान नही करते और न ही आभ्यन्तर परिषद् के देव उसका सत्कार करते हैं। उसको कोई अपना स्वामी नही समझता, यहा तक कि उसे बैठने के लिये कोई उचित आसन भी नही देता। जब कही किसी परिषद मे वह बोलने के लिये खडा होता है, तब चार पांच देव उसका अपमान करते हुए खड़े होकर कहते हैं "बस रहने दो, अधिक मत बोलो, बैठ जाओ।" इस प्रकार उस मायावी का देव-भव स्वल्पसुख और अपमान के साथ बीतता है।

जो मायावी व्यक्ति दूषित कर्म हो जाने पर अपनी साधना को दूषित ही रखता हुआ आलोचना एव प्रायश्चित्त आदि के द्वारा जीवन को शुद्ध नहीं बनाता, उसका देव भव भी निन्दनीय होता है, वहां वह स्वल्पसुखी और अपमान से जीवन-यापन करता है।

जब वह मायावी जीव देवगति की आयु, देवभव और देवभव मे भोगने योग्य पुण्यो के समाप्त हो जाने पर यहां मनुष्य के रूप में उत्पन्न होता है। यहां पर भी वह मायावी चर्मकार चाण्डाल, नट, दरिद्र, भिखमगे आदि नीच कुलों मे उत्पन्न होता है। उसका अपनी बिरादरी मे कोई सम्मान नहीं होता, उदरपूर्ति के लिये भोजनाभाव, इष्ट-वियोग एव अनिष्ट सयोग मे पीडित आधि-व्याधि से ग्रस्त रहता है। उसका शरीर ऐसा अशुभ वर्ण, गध, रस और स्पर्श वाला होता है कि जिसे कोई देखना भी पसन्द नहीं करता। ऐसा दीन-हीन वृत्तिवाला बनता है कि जिस की बात तक भी कोई सुनना पसन्द नहीं करता। स्त्री-पुत्र भी उसकी आज्ञा नही मानते। लोग उसे बैठने के लिये उचित आसन तक भी नही देते। वह यदि किसी सभा में बोलने लगता है तो चार-पांच सदस्य चुपके खडे होकर उसका अपमान करते हुए कहने लगते है—"बस रहने दो, अधिक मत बोलो।" इस तरह वह सब जगह अपमानित होता है।

इस प्रकार मायावी के तीन जन्म दुःख, क्लेश एव अपमान से बीतते हैं। जिस तरह उत्तम वस्त्र के थान में जगह-जगह भद्दे-भद्दे धब्बे लग जाने से उसका अवमूल्यन हो जाता है, उसका क्रेताओ में कोई महत्त्व नही रहता, वैसे ही दूषित साधना का भी कोई महत्त्व नही रहता। मायावी बाह्य जगत् में दूसरो को चकमा देकर अपनी प्रतिष्ठा बढा सकता है, किन्तु आध्यात्मिक जगत् मे वह सुख एवं शान्ति का पात्र नही बन सकता।

आलोचनाजन्य पारलौकिक फल

मूल—माई णं मायं कट्टु आलोइयपडिकंते कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा—महिड्ढिएसु जाव चिर-

ट्ठिईएस । से णं तत्थ देवे भवइ, महिड्ढीए जाव चिरट्ठिईए, हारविराइय वच्छे, कडयतुडियथंभियभुए, अंगय-कुंडल-मउड-गंडतल-कन्नपीढधारी, विचित्तहत्थाभरणे, विचित्तवत्थाभरणे, विचित्तमालामउली, कल्लाणग-पवरवत्थपरिहिए, कल्लाणग-पवर-गंध-मल्लाणुलेवणधरे, भासुरबोंदी, पलंब-वणमालधरे।

दिव्वेणं वन्नेणं दिव्वेणं गंधेणं, दिव्वेणं रसेणं, दिव्वेणं फासेणं, दिव्वेण संघाएणं, दिव्वेणं संट्ठाणेणं, दिव्वाए इड्ढीए, दिव्वाए जूईए, दिव्वाए पभाए, दिव्वाए छायाए, दिव्वाए अच्चीए, दिव्वेणं तेएणं, दिव्वाए लेस्साए, दस दिसाओ उज्जोवेमाणे, पभासेमाणे महयाऽहय-णट्ट-गीय-वाइय-तंती-तल-ताल-तुडिय-घण मुइंग-पडुप्पवाइयरवेणं, दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

जावि य से तत्थ बाहिरब्भंतरिय परिसा भवइ, सावि य णमाढाइ, परियाणाइ, महारिहेण आसणेण उवनिमंतेइ। भासंपि य से भासमाणस्स जावचत्तारि पंच देवा अवुत्ता चेव अब्भुट्ठिंति—बहुं देवे! भासउ-भासउ। से णं तओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव चइत्ता इहेव माणुस्सए भवे जाइं इमाइं कुलाइं भवंति, अड्ढाइ जाव बहुजणस्स अपरिभूयाइ तहप्पगारेसु कुलेसु पुमत्ताए पच्चायाइ। से णं तत्थ पुमे भवइ, सुरूवे, सुवन्ने, सुगंधे, सुरसे, सुफासे, इट्ठे, कंते जाव मणामे। अहीणस्सरे जाव मणामस्सरे, आदेज्जवयणे पच्चायाए।

जाऽवि य से तत्थ बाहिरब्भंतरिया परिसा भवइ, सावि य णं आढाइ जाव बहुमज्जउत्ते! भासउ-भासउ।८।

छाया—मायी मायां कृत्वाऽऽलोचितप्रतिक्रान्तः कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु देवलोकेषु देवतया उपपत्ता भवति, तद्यथा महर्द्धिकेषु यावच्चिरस्थितिकेषु। स खलु तत्र देवो भवति, महर्द्धिको यावच्चिरस्थितिकः, हारविराजितवक्षाः, कटक-त्रुटित-स्तम्भित-भुजः, अङ्गद-कुण्डल-मृष्ट-गण्डतल-कर्णपीठधारी, विचित्रहस्ताभरणः, विचित्रवस्त्राभरणः, विचित्रमालामौलिः, कल्याणक-प्रवरवस्त्रपरिहित, कल्याणक-प्रवरगन्ध-माल्यानुलेपनधरः, भास्वरबोंदी, प्रलम्ब-वनमालाधरः।

दिव्येन वर्णेन, दिव्येन गन्धेन, दिव्येन रसेन, दिव्येन स्पर्शेन, दिव्येन संघातेन, दिव्येन

संस्थानेन, दिव्यया ऋद्धया, दिव्यया द्युत्या, दिव्यया प्रभया, दिव्यया छायया, दिव्यया अर्च्या, दिव्येन तेजसा, दिव्यया लेश्यया, दशदिश उद्योतयमानः, प्रभासयमानो महताऽहत - नाट्य - गीत - वादिततन्त्री - तल-ताल-त्रुटित-घन-मृदङ्ग-पटुप्रवादितरवेण दिव्यान् भोग-भोगान् भुञ्जानो विहरति।

याऽपि च तस्य वाह्याभ्यन्तरिका परिषद् भवति, साऽपि चाद्रियते, परिजानाति, महार्हेणासनेनोपनिमन्त्रयते। भाषामपि च तस्य भाषमाणस्स यावच्चत्वारः पञ्च देवा अनुक्तवैव अभ्युत्तिष्ठन्ति—बहुं देव! भाषताम्, भाषताम्।

स ततो देवलोकात् आयुःक्षयेण यावत् च्युत्वेहैव मानुषके भवे यानीमानि कुलानि भवन्ति—आढ्यानि यावत् वहुजनस्य अपरिभूतानि तथाप्रकारेषु पुंस्तया प्रत्यायाति। स तत्र पुमान् भवति, सुरूपः, सुवर्ण, सुगन्धः, सुरस, सुस्पर्शः, इष्टः, कान्तो यावत् मन आम', अहीनस्वरः, यावन्मन आमस्वर', आदेयवचनः प्रत्यायातः।

याऽपि च तस्य तत्र वाह्याभ्यन्तरिका परिषद् भवति, साऽपि च आद्रियते यावत् वहु आर्यपुत्र! भाषताम् भाषताम्।

शब्दार्थ—माई णं मायं कट्टु—मायावी माया सेवन कर, आलोइपडिकंते—यदि आलोचना तथा प्रतिक्रमण करे तो वह; कालमासे कालं किच्चा—कालमास मे काल करके; अण्णतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति—अन्यतम देवलोको मे देवपने मे उत्पन्न होता है; तं जहा—जैसे; महिड्ढिएसु जाव चिरट्ठिईएसु—जो देवलोक महर्द्धिक एव यावत् चिरस्थिति वाले है, से णं तत्थ देवे भवइ, महिड्ढिए जाव चिरट्ठिईए—वह उस महर्द्धिक देवलोक में महर्द्धिक यावत् चिरस्थिति वाला देव होता है, उसका; हार-विराइयवच्छे—वक्षस्थल हारो से सुशोभित होता है, कडयतुडियथंभियभुए—उसकी भुजाये कटक और त्रुटितांग से स्तम्भित होती हैं; अंगय-कुंडल-मउड-गडतल-कन्न-पीढधारी—केयूर कुण्डल और मृष्ट कपोल पर घर्षण करनेवाले कर्णकुण्डलो को धारण करनेवाला; विचित्तहत्थाभरणे—विचित्र प्रकार के हस्ताभरण धारण करनेवाला. विचित्तवत्थाभरणे—नाना प्रकार के वस्त्राभरण धारण करनेवाला, विचित्तमाला-मउली—विचित्र माला युक्त शेखर वाला, कल्लाणगपवरवत्थ परिहिए—कल्याण-कारी प्रधान वस्त्रो को धारण करनेवाला; कल्लाणगपवरगधमल्लाणुलेवणधरे—कल्याणकारी प्रधान गन्ध-माल्य एव अनुलेपन को धारण करनेवाला; भासुरवोंदी—देदीप्यमान शरीरवाला; पलंववणमालधरे—लटकती हुई वनमाला को धारण करनेवाला।

दिव्वेणं वन्नेणं—दिव्य वर्ण से; दिव्वेणं गंधेणं—दिव्य गन्ध से; दिव्वेणं रसेणं—दिव्य रस से; दिव्वेणं फासेणं—दिव्य स्पर्श से, दिव्वेणं संघाएणं—दिव्य सहनन से; दिव्वेणं संठाणेणं—दिव्य संस्थान से; दिव्वाए इड्ढीए—प्रधान दैविक ऋद्धि से; दिव्वाए जुईए—दिव्य कान्ति से; दिव्वाए पभाए—दिव्य प्रभा से; दिव्वाए छायाए—दिव्य प्रतिविम्ब से; दिव्वाए अच्चीए—दिव्य शरीर निर्गत तेज से; दिव्वेणं तेएणं—प्रधान शारीरिक

कान्ति से; **दिव्वाए लेस्साए**—दिव्य लेश्या से; **दस दिसाओ उज्जोवेमाणे**—दश दिशाओं को उद्योतित करता हुआ; **पभासेमाणे** प्रकाशित करता हुआ; **महयाहत-णट्ट-गीय-वाइय-तती-तल-ताल-तुडिय-घणमुइग पडुप्पवाइयरवेणं** बृहत महान् अनुबद्ध नाट्य, गीत, वादित्र, तन्त्री, तल-ताल, तूर्य, घन, मृदग, पटह पटु प्रवादित शब्दपूर्वक, **दिव्वाइं भोगभोगाइ**—प्रधान भोगो को; **भुंजमाणे विहरइ**—भोगता हुआ विचरता है। **जावि य से तत्थ**— और जो उसकी वहा पर; **बाहिरब्भतरिया परिसा भवइ**—बाह्य तथा आभ्यन्तर की परिषद होती है; **सावि य णं**—वह भी; **आढाइ**—उसका आदर करती है; **परियाणाइ**—उसे अच्छा जानती है और, **महारिहेण आसणेणं उवनिमतेइ**—महान् अर्ह आसन से उसका सत्कार करती है, **भासपि य भासमाणस्स**—और किसी विषय पर भाषण करते समय; **जाव**—यावत्; **चत्तारि पंच देवा**—चार पाच देव, **अवुत्ता चेव**—बिना कहे ही; **अब्भुट्ठित्ति**—सभा मे उठ खड़े होते है और कहते है, **बहु देवे ! भासउ-भासउ**—हे देव ! आपने बहुत अच्छा कहा, बहुत अच्छा कहा।

से ण तओ देव लोगाओ—तत्पश्चात् वह उस देवलोक से; **आउक्खएणं**—आयुक्षय कर; **जाव**—यावत्; **चइत्ता**—वहा से च्युत होकर; **जाइ**—जो; **इमाइं**—ये; **कुलाइं भवंति**—कुल होते है; **अड्ढाइं**—आढ्य, **जाव**—यावत्; **बहुजणस्स अपरिभूयाइ**—बहुजन अपरिभूत; **तहप्पगारेसु कुलेसु**—तथा प्रकार के कुलों मे; **पुमत्ताए पच्चायाइ**—पुन. पुरुषत्वेन उत्पन्न होता है।

से ण तत्थ पुमे भवइ—वह वहा पर पुरुष होता है; **सुरूवे**—सुरूप, **सुवन्ने**—सुवर्ण **सुगधे**—सुगन्ध युक्त, **सुरसे**—सुरस, **सुफासे**—सुस्पर्श वाला, **इट्ठे कते**—इष्ट तथा कान्त; **जाव**—यावत्; **मणामे**—मन के अनुकूल, **अहीणस्सरे**—अहीन स्वर; **जाव मणामस्सरे**—यावत् मन के अनुकूल शब्द अर्थात् स्वर वाला और; **आदेज्जवयणे पच्चायाए**—आदेय वचन वाला उत्पन्न होता है। **जावि य से तत्थ**—जो उसकी वहां पर; **बाहिरब्भंतरिया परिसा भवइ**—जो उसकी बाहिर और आभ्यन्तर की परिषद होती है; **सावि य णं आढाइ**—वह भी उसका आदर करती है; **जाव**—यावत्; **बहुमज्जउत्ते ! भासउ-भासउ**—कहती है—हे आर्य पुत्र ! आपने बहुत अच्छा कहा, बहुत अच्छा कह।

मूलार्थ—मायावी माया करके जब उस मायारूप अकृत्य कर्म की आलोचना करता है और यथायोग्य प्रायश्चित्त ग्रहण करता है, तत्पश्चात् मरण-वेला मे मृत्यु को प्राप्त कर, किसी अन्यतर देवलोक मे उत्पन्न होता है। वह वहा पर महर्द्धिक एवं चिरस्थितिक देव बनता है। उसका वक्षस्थल हारों से सुशोभित होता है। उसकी भुजाएं कटक और त्रुटित आभूषणों से

स्तम्भित होती है। वह अंगद-भुजबन्ध, कुण्डल, सुन्दर स्वच्छ कपोल अथवा कस्तूरी से चित्रित गण्डस्थलवाला एव कर्ण-आभूषणो के धारण करनेवाला होता है। उसके वस्त्राभरण तथा हस्ताभरण विचित्र प्रकार के होते हैं। उसके मस्तक पर विचित्र पुष्पमाला का मुकुट होता है। वह प्रधान कल्याणकारी वस्त्रों को धारण करता है। प्रधान कल्याणकारी श्रेष्ठ गन्धयुक्त पुष्पमालाओं और विलेपनों को धारण करनेवाला होता है। उसका शरीर प्रकाशमान होता है। वह झूलती हुई तथा सब ऋतुओ के पुष्पों से निर्मित लटकती हुई मालाओं को धारण करता है।

वह देव दिव्यवर्ण, दिव्यगन्ध, दिव्यरूप, दिव्यस्पर्श, दिव्य संहनन अर्थात् शारीरिक गठन, दिव्य-संस्थान, दिव्य-ऋद्धि, दिव्य-द्युति, दिव्य-प्रभा, दिव्य-छाया दिव्य-कान्ति, दिव्य-अर्चि, दिव्य-तेज और दिव्य-लेश्या से दश दिशाओं को उद्योतित करता हुआ एवं प्रकाशित करता हुआ बृहत् अविच्छिन्न नृत्य गीत, वादित्र, तन्त्री, तल-ताल, तूर्य, घन-मृदंग पटुप्रवादित शब्दयुक्त प्रधान भोगों को भोगता हुआ विचरण करता है। उसकी जो वहां बाह्य और आभ्यन्तर परिषद् होती है, वह भी उसका आदर करती है और उसे अच्छा जानती है तथा उसे बड़ों के योग्य आसन के लिए भी निमन्त्रण करती है। जब भी वह किसी विषय पर बोलता है, तब चार पांच देव बिना कहे ही खड़े हो जाते हैं और कहते हैं—'हे देव ! आपने अति सुन्दर कथन किया, अभी आप और बोलें।

तत्पश्चात् देवलोक से आयु क्षय करके यावत् वहां से च्युत होकर, यहां मनुष्य भव में महाऋद्धिवाले यावत् बहुत जनो से आदृत, तथाप्रकार के जो उत्तम कुल हैं, उनमे पुरुष रूप में उत्पन्न होता है। वह वहां पर सुरूप, सुवर्ण, सुगन्ध, सुरस, सुस्पर्श, इष्ट, कान्त यावत् मन के अनुकूल, अदीनस्वर यावत् मन के अनुकूल स्वर एवं आदेय वचनवाला मनुष्य होता है। वहां पर जो उसकी बाह्य तथा आभ्यन्तर परिषद् होती है, वह भी उसका आदर करती है, यावत् "हे आर्यपुत्र। आपने बहुत अच्छा कहा।" इस प्रकार आलोचना करनेवाला तीन भवों में सुखों का अनुभव करता है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में दूषित कर्म करके प्रायश्चित्त आदि न करनेवाले विराधक साधकों की पारलौकिक दुर्गति और देवलोकों से धरती पर लौटने के अनन्तर होनेवाली दुर्दशा का वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार आलोचना आदि द्वारा आतमशुद्धि करनेवाले साधक के साधना-फल का वर्णन करते है।

आलोचना और तप:कर्म ये जन्म-जन्मान्तर के पापों को नष्ट करनेवाले तथा जीवन को सयम में प्रवृत्त कर शुद्ध करनेवाले है। जो साधक हृदय से विनयशील बन कर अपने गुरु या धर्माचार्य के समक्ष आन्तरिक एव बाह्य सभी दोषों को प्रकट कर देता है, उसे इसी जन्म में परम शान्ति प्राप्ति हो जाती है। कहा भी है—

"लहुयाल्हाइयजणणं अप्पपरनिवत्ति अज्जवं सोही।
दुक्करकरण आढा निस्सल्लत्तं च सोहिगुणा॥"

अर्थात् आलोचना करने से साधक को आठ गुणों का लाभ होता है, जैसे कि—

१. लहुया—साधक कर्मो के भार से मुक्त होकर लघुता प्राप्त कर लेता है।
२. अल्हाइयजणणं—उसके मन मे सदैव आनन्द ही आनन्द भरा रहता है तथा उसके आनन्द की वृद्धि होती रहती है।
३. अप्पपरनिवत्ति—आलोचना करने से साधक अपने जीवन को सयमित कर लेता है और अनेक भव्य जीवो को भी सयम में प्रवृत्त कर देता है। अपने को और दूसरो को भी वह दोषो से दूर रखने का सदैव प्रयत्न करता रहता है।
४. अज्जवं—आलोचना करने मोक्ष के अभिमुख हो जाता है। जो व्यक्ति संसार के अभिमुख है, उसमे कुटिलता पाई जाती है और जो मोक्षाभिमुख है, उस मे ऋजुता अर्थात् आर्जवगुण पाया जाता है।
५. सोही—आलोचना करनेवाले का चारित्र विशुद्ध होता है।
६. दुक्करकरण—आलोचना करनेवाला दुष्कर से दुष्कर साधना करने में समर्थ हो जाता है।
७. आढा—वह चतुर्विध सघ में आदरणीय ही नही, परमादरणीय बन जाता है।
८. निस्सल्लत्तं—जिस प्रकार पैर के किसी भी भाग में लगा हुआ कांटा मनुष्य को व्याकुल कर चलने में असमर्थ बना देता है, वैसे ही मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शन-शल्य नामक तीनों शल्य साधक की साधना में प्रगति नही होने देते, अत: शल्यमुक्त हो कर ही आत्मा को शान्ति मिलती है। आलोचना करने से साधक नि:शल्य हो सकता है। उसकी नि:शल्य होने से साधना के पथ पर बेरोक टोक प्रगति होती है। इन आठ गुणों से सम्पन्न जीव भगवान की आज्ञा का आराधक होता है। आराधक के लिये सब ओर अमृत ही अमृत है, सुख, सम्मान-समृद्धि ये सब उसके आगे अठखेलियां करते हैं।

आराधक साधक जब देवलोक में पहुंचता है तो वहां पर भी उसका सम्मान होता है।

देव और देवियां दास-दासियों की तरह उसके सामने हाथ जोडे खड़े रहते है। उस की आज्ञा का पालन करते है। वह ऐसा महर्द्धिक देव बनता है कि जिसका शरीर आभरणों से देदीप्यमान रहता है, उसे द्युतिमान, तेजस्वी कहकर सम्मानित किया जाता है। उसमें वैक्रिय आदि की अर्थात् नाना-विध रूप आदि धारण करने की शक्ति अधिक होनी है, अत: देव उसे 'महानुभाव' कह कर सम्मानित करते हैं। जिसकी शारीरिक शक्ति प्रबल है उसे महाबल कहते है। जो अन्य देवों से अधिक सुखी है उसे महासुखी कहते हैं, जिसका अदम्य पराक्रम है, उसे महापराक्रमी कहते हैं, जिसका यश देवो के हृदय को भी प्रभाविन कर रहा हो उसे महायशस्वी कहा जाता है, जो किसी विशेष माननीय पद पर आसीन हो, उसे महेशाख्य कहते है। जो उच्च से भी उच्च देवलोक में उत्पन्न होता है, वह दूरगत कहलाता है, जो देव अनेक सागरोपम की स्थितिवाले है, वे चिरस्थितिक कहलाते है।

चारित्र आराधक साधक कर्मशेष रहने पर निश्चय ही उक्त दस विशेषणो से सम्पन्न देव बनता है। दिव्य वस्त्रो से सुशोभित होता है उसके सिर, कान, कठ, भुजाए, हाथ और वक्षस्थल इत्यादि अङ्ग विविध प्रकार के आभरणो से अलकृत होते है। वह लम्बी लटकती हुई वनमाला को धारण करता है, दिव्य वर्ण, दिव्य गंध, दिव्य रस एव दिव्य स्पर्श, दिव्य सस्थान-शक्ति-ऋद्धि-द्युति-कान्ति-प्रभा-छाया-तेजोलेश्या इन सब से दस दिशाओ को प्रकाशित करता हुआ विविध प्रकार के नाट्य सगीत वादित्रो के साथ पांच इन्द्रियों का सुख भोगते हुए देव जीवन व्यतीत करता है। उसके अधीन रहनेवाले देव और देवियां उसका हृदय से बहुमान करते हैं और उसे अपना स्वामी समझते है। उसके लिये उचित आसन देते है। जब कभी वह देव किसी देव-सभा मे भाषण करते हुए विषय का उपसहार करने के लिये उद्यत होता है, तब बिना किसी की प्रेरणा के ही चार पाच देव खडे हो कर नम्र निवेदन करते है कि देव! अभी आप और कहिए, और कहिए, आपका कथन सब के लिये अधिक रुचिकर हो रहा है। इस प्रकार वह देवलोक मे सत्कार प्राप्त करता है।

वह देव देवलोक मे रहता हुआ जब अपनी देव-आयु और स्वर्ग मे भोगने योग्य कर्म-स्थिति का क्षय कर देता है, तब वह इस कर्म-भूमि मे ऐसे उत्तम कुल मे उत्पन्न होता है जहां यान, वाहन, खान-पान, नौकर-चाकर, पाच इन्द्रियो को सुख-सामग्री, अपार धनराशि पहले से ही विद्यमान हो। उत्पन्न होने के बाद उसके हितैषी मित्र, श्रेष्ठ ज्ञातिजन उच्च गोत्रवाला, खूबसूरत, नीरोग शरीर, प्रतिभाशाली, विनीत, यशस्वी बलसम्पन्न इन समस्त सुखसाधनो मे परिपूर्ण होता है। इतना ही नही वह अपने युग मे लोकप्रिय भी होता है, उसके स्वर मे माधुर्य और उसकी आज्ञा सर्व-ग्राहिणी होती है। नौकर चाकर तथा घर के सभी सदस्य उसका सम्मान करते है। उसको बैठने के लिये उचित एवं माननीय आसन से निमन्त्रित करते हैं। उसके एक-एक वाक्य को बडे आदर से सुनते है। ये सब उत्तम एव मधुर फल आलोचना करने से प्राप्त होते है।

सवर और असंवर

मूल—अट्ठविहे संवरे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदियसंवरे, जाव फ.सिंदियसंवरे, मण-

संवरे, वइसंवरे, कायसंवरे ।

अट्ठविहे असंवरे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदिय असंवरे जाव काय असंवरे ।९।

छाया—अष्टविधः संवरः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियसंवरो यावत्स्पर्शनेन्द्रिय संवरः, मनः-संवरः वाक्-संवरः काय-संवरः ।

अष्टविधोऽसंवरः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियासंवरो यावत्कायासंवरः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—संवर आठ प्रकार का वर्णन किया यया है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय संवर से लेकर स्पर्शनेन्द्रियसवर तक पाच प्रकार का इन्द्रिय-संयम और मन-संवर, वचन-संवर तथा काय-संवर ।

असंवर भी आठ प्रकार का ही होता है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय-असंवर से लेकर काय-असंवर तक ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्रो में आलोचना करनेवाले साधको का वर्णन किया गया है आलोचना करनेवाला साधक ही सवृत और आलोचना न करनेवाला असवृत कहलाता है । अतः प्रस्तुत सूत्र मे सवर और असवर का निरूपण किया गया है ।

आश्रव अर्थात् इन्द्रिय-मार्गो से अन्त करण मे प्रविष्ट होनेवाले विषयो का अवरोध करना ही सवर है, अर्थात् पाच इद्रियो और तीन योगो को वश मे करना ही सवर कहलाता है । जितने-जितने अश मे इन्द्रिय-विषयो का निरोध होगा, उतने-उतने अश मे वह सवर कहलाएगा । इन्द्रिय और योग इन आठ को शुभ की ओर लगाना और उन्हे अशुभ से हटाना ही सवर कहलाता है । सवर को ही शास्त्रीय भाषा मे चारित्र कहा गया है । जैसे-जैसे आश्रव अर्थात् विषय-निरोध वढता जाता है, उस के अनुसार गुणस्थानों की भी वृद्धि होती जाती है । आत्म-तत्त्व को पाने का सब से बड़ा अमोघ साधन सवर ही है ।

आश्रव का दूसरा नाम ही असवर है । इन्द्रियो पर नियत्रण न करना तथा योगों को वश मे न करना ही असवर है । इन आठों को पापो मे लगाना और धर्म में न लगाना असवर का ही दूसरा रूप है ।

असवर ससार का मार्ग है और सवर मोक्ष का । जब इन आठ का प्रयोग आत्मकल्याण में किया जाता है, तब वही सवर वन कर मोक्ष-साधक हो जाता है और जब इनकी प्रवृत्ति बहिर्मुखी हो जाती है, तब उस क्रिया को असवर कहा जाता है ।

स्पर्श भेद

मूल—अट्ठ फासा पण्णत्ता, तं जहा—कक्खडे, मउए, गरुए, लहुए, सीए, उसिणे, णिद्धे, लुक्खे ।१०।

छाया—अष्ट स्पर्शाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कर्कशः, मृदुकः, गुरुकः, लघुकः, शीतः, उष्णः, स्निग्धः, रूक्षः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आठ स्पर्श वर्णन किये गए है, जैसे—कर्कश अर्थात् कठोर, मृदु अर्थात् सुकोमल, गुरु अर्थात् भारी, लघु अर्थात् हलका, शीत, उष्ण, स्निग्ध अर्थात् चिकना और रूक्ष ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में सवर के साध्यरूप इन्द्रिय-विषयो का वर्णन किया गया है। इन्द्रियो के विषयो में स्पर्श ही ऐसा विषय है जो आठ प्रकार का होता है, अतः अब सूत्रकार स्पर्श की अष्टविधता का वर्णन करते है।

पुद्गलद्रव्य में आठ स्पर्श पाए जाते है और उनका ग्रहण स्पर्शनेन्द्रिय अर्थात् त्वचा द्वारा किया जाता है। जैनेतर दर्शनकारों ने स्पर्शनेन्द्रिय के दो ही विषय निर्दिष्ट किए हैं, जैसे कि शीत और उष्ण, किन्तु जैनागमो में स्पर्शनेन्द्रिय के आठ विषय बतलाए हैं। जो पदार्थ पत्थर की तरह कठोर एव खुरदरा है उसे कर्कश-स्पर्श कहते है, जो फूल की तरह सुकोमल एव मखमल की तरह मुलायम है, वह मृदु-स्पर्श कहलाता है। जो रजकण, धूम, भाप आदि हलके पदार्थ हैं, उन्हे लघु कहा गया है। जो वस्तु भारी है, उसे गुरु कहते है, जैसे कि सोना, पारा या हीरा आदि। जो वस्तु ठंडी है, उसे शीत-स्पर्श कहते है, जैसे बरफ आदि । जो पदार्थ गर्म है, वह उष्ण स्पर्श माना जाता है, जैसे धूप, अग्नि आदि । जो घृत एव मक्खन आदि की तरह चिकने पदार्थ है, उन्हे स्निग्ध-स्पर्श कहते हैं। जो भस्म, क्षार आदि की तरह रूखा है, उसे रूक्ष-स्पर्श कहते है। घोराधकार में भी स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा जिन पदार्थों का ज्ञान हो सकता है, उन सब का अन्तर्भाव उक्त आठ मे ही होता है।

जैनदर्शन यद्यपि अन्तर्मुखी दर्शन है, फिर भी उसने विज्ञान सम्मत उस भौतिक जगत का सूक्ष्म वर्णन किया है, जिसका 'ज्ञेय' के रूप मे जानना साधक के लिये आवश्यक है।

लोक-स्थिति के प्रकार

मूल—अट्ठ विहा लोगठिई पण्णत्ता तं जहा—आगासपइट्ठिए वाए, वायपइट्ठिए,

उदही, एवं जहा छट्ठाणे जाव जीवा कम्मपइट्ठिया, अजीवा जीवसंगहीया, जीवा कम्मसंगहीया ।११।

छाया—अष्टविधा लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता तद्यथा—आकाशप्रतिष्ठितो वातः, वातप्रतिष्ठितः, उदधिः। एवं यथा षष्ठस्थाने यावज्जीवाः कर्म प्रतिष्ठिताः, अजीवा जीवसगृहीताः, जीवाः कर्मसंगृहीताः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आठ प्रकार की लोक-स्थिति वर्णन की गई है, जैसे—वायु आकाश पर ठहरा हुआ है, घनोदधि वात पर स्थित है। ऐसे ही जिस प्रकार छठे स्थान में वर्णन किया गया है, यावत् जीव कर्मो पर आधारित हैं, जीव अजीव से संगृहीत है और जीव कर्मो से संगृहीत है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में वर्णित स्पर्श आठ ही होते है, यह लोक-मर्यादा है, अतः प्रस्तुत सूत्र में लोक-मर्यादा की आधारभूत लोकस्थिति का वर्णन किया गया है। आठ प्रकार की लोकमर्यादा कही गई है जैसें कि—आकाश के आधार पर तनुवात और घनवात है, घनवात पर घनोदधि, घनोदधि पर पृथिवी, पृथिवी पर त्रस और स्थावर जीव ठहरे हुए है, जीव शरीर आदि पुद्गल का आश्रय लेकर ठहरे हुए है, जीव कर्मों के आधार पर ठहरे हुए है और जीव कर्मों के आधार पर ही नरक आदि गतियो में अवस्थित है। मन वचन और शरीर रूप पुद्गल जीवो द्वारा सगृहीत हैं तथा जीव कर्मो द्वारा सगृहीत है। पाचवी और छठी लोक-स्थिति में आधाराधेय भाव की विवक्षा है और सातवी और आठवी लोकस्थिति से सग्राह्य-सग्राहक भाव की सिद्धि होती है। इसका विस्तृत वर्णन भगवती सूत्र के पहले शतक के छठे उद्देशक से जानना चाहिए।

अष्टविध गरिग-सम्पदा

मूल—अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता, तं जहा—आयारसंपया, सुयसंपया, सरीर-संपया, वयणसंपया, वायणासंपया, मइसपया, पओगसपया, सगहपरिण्णा-णाम अट्ठमा ।१२।

छाया—अष्टविधा गणिसम्पत् प्रज्ञप्ता, तद्यथा—आचारसम्पत्, श्रुतसम्पत्, शरीरसम्पत्, वचनसम्पत्, वाचनासम्पत्, मतिसम्पत्, प्रयोगसम्पत्, संग्रहपरिज्ञा नामाष्टमी।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—गणि-सम्पत् आठ प्रकार की वर्णन की गई है, यथा—आचारसम्पत्, श्रुत-सम्पत्, शरीरसम्पत्, वचनसम्पत्, वाचनासम्पत्, प्रयोगसम्पत्, मतिसम्पत्, और आठवीं संग्रहपरिज्ञा नामक संपत् है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में लोकस्थिति का वर्णन किया गया है। वह लोकस्थिति गणियो के उपदेश से जानी जाती है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे गणी-सम्पदा का वर्णन किया गया है। गण का अर्थ है समुदाय। साधुसमुदाय के जो अधिष्ठाता हैं या गुणों के समुदाय से युक्त हैं, वे गणी कहलाते है। उनको सपत्ति को गणि-संपत् कहते हैं कहा भी है 'गणः समुदायो भूयानतिशयवान् वा गुणानां साधूना वा, यस्यास्ति स गणी—आचार्यस्तस्य सम्पत्—समृद्धिर्भावरूपा गणिसम्पत्"। यहा गणी शब्द आचार्य का वाचक है। जैसे राजा अनेक प्रकार की सपत्ति का स्वामी होता है, वैसे ही आचार्य आठ प्रकार की सपत्ति के स्वामी होते है। एक-एक सपत्ति के चार-चार भेद होते हैं, उनका विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि—

१. आचार-सम्पत्—चारित्र का दृढ़ता से पालन करना आचार-सपदा है। सयम की सभी क्रियाओं में स्थिरता पूर्वक मन, वचन, काया को लगाना, गणी की उपाधि मिलने पर जाति आदि के अहकार से रहित तथा विनयभाव सहित होना। अप्रतिबद्धविहार—चातुर्मास काल को छोड़कर एक कल्प से अधिक कही भी न ठहरना। वृद्धशीलता अर्थात् शरीर और मन से निर्विकार रहना, अपने स्वभाव मे गभीरता, दीर्घदर्शिता रखना, चचलता रहित होना।

२. श्रुत-संपत्—शास्त्रीय विशिष्ट ज्ञान ही श्रुतसपदा है। आचार्य के लिये शास्त्रों का वेत्ता होना आवश्यकीय है। इसके भी चार भेद हैं, जैसे कि—वर्तमान काल मे जितने शास्त्र है, उन सबका अध्ययन जिसने गुरु आम्नाय से किया हो उन मे वर्णित पदार्थो का भली भाति ज्ञान प्राप्त कर लिया हो तथा ज्ञान का प्रचार एव प्रसार करने में समर्थ हो, सभी शास्त्र जिसे अपने नाम की तरह याद हो, जिसने स्वमत और परमत के शास्त्रो का अध्ययन करके शास्त्रीय ज्ञान मे विचित्रता प्राप्त करली हो, सभी दर्शनों का अध्ययन तुलनात्मक दृष्टि से कर लिया हो, सुललित व्याख्यानो से और उत्तर देकर श्रोताओं को और प्रश्नकार को सतुष्ट करने में समर्थ हो, शास्त्रो का अध्ययन या उच्चारण करते समय स्वर व्यजन का पूरा ध्यान रखता हो, क्योकि उच्चारण शुद्धि के बिना अर्थ की शुद्धि नही होती, अशुद्ध उच्चारण से श्रोताओ पर अच्छा प्रभाव भी नही पडता।

३ शरीर-संपत्—शरीर का प्रभावशाली तथा सुसगठित होना ही गणी की शरीर-सपदा है। इसके भी चार भेद है, जैसे कि— गणी का शरीर लम्बाई, चौड़ाई, ऊचाई सब तरह से सुसगठित होना चाहिए। शरीर मे कोई ऐसा अङ्ग भी नही होना चाहिए, जिसमे वह लज्जास्पद प्रतीत हो, कोई भी अग अधूरा न होना या बेडौल न होना गणी के लिये अनिवार्य है, क्योकि सर्वाङ्गपूर्ण शरीर ही प्रभावक होता है। अतः शरीर का सहनन स्थिर होना चाहिए। पाच ज्ञानेन्द्रिया और पाच कर्मेन्द्रिया पूरी

होनी चाहिए। केशीकुमार का प्रभाव महाराजा प्रदेशी पर और अनाथी मुनि का प्रभाव महाराजा श्रेणिक के ऊपर सबसे पहले शरीर का ही पड़ा था। जिस कारण वे महाराज उनके आगे नतमस्तक हो गए थे।

४. वचन-संपत्—आदेय, मधुर, सरस एव सत्य वचनो का होना गणी की वचनसपत् है। इसके भी चार भेद है, जैसे कि—गणी के वचन जनता के द्वारा ग्राह्य एव मान्य हो। गणी के वचन मीठे और सरस होने चाहिए, कर्णकटु नही। सत्र का हित रखते हुए शान्त चित्त से वचन बोलना, किसी का पक्षपात किए बिना मध्यस्थ होकर वचन बोलना, गणी की वचनसपत् है। जिस वचन का आशय बिल्कुल स्पष्ट हो, सुननेवाले के लिये किसी तरह का सदेहजनक न हो, वैसा सुस्पष्ट वचन बोलना ही बड़ों का बडप्पन है।

५. वाचना-सपत्—शिष्यों को शास्त्र पढाने की योग्यता को वाचनासपत् कहते है। इसके भी चार भेद हैं, जैसे कि—किस शिष्य को कौन-सा सूत्र, कौन-सा अध्ययन किस प्रकार पढ़ाना उचित है? इन सब बातों को जानकर उन्हे मनोवैज्ञानिक पद्धति से पढाना। शिष्य की बुद्धि रुचि और योग्यता देखकर पढाना। जितना वह सूत्ररूप से या अर्थ रूप से ग्रहण कर सकता है उतना ही उसे पढाना। अर्थ को नय, निक्षेप और अनुयोग आदि के द्वारा विशद समझाना, रूप मे यह गणी की पांचवी सपत्ति है।

६. मति-संपत्—मतिज्ञान की उत्कृष्टता को मतिसपत् कहते है। इसके भी चार भेद है, जैसे कि अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। प्रत्येक भेद के साथ क्षिप्र, बहु, बहुविध, ध्रुव, अनिश्रित और असदिग्ध इन छः भेदों का प्रयोग करना चाहिए। ऐसी विशिष्ट बुद्धि से सपन्न होना, गणी की छठी मतिसंपत् है।

७. प्रयोग-सपत्— गणी को अनुकूल और प्रतिकूल समय का भी जानकार होना चाहिए। यदि कोई वादी शास्त्रार्थ या विवाद के लिये चुनौती देता है, तो उस समय अवसर आदि का परिज्ञान होना ही प्रयोग-सपत् कहलाता है। इसके भी चार भेद हैं, जैसे कि अपनी शक्ति देखकर ही किसीके साथ शास्त्रार्थ करना। इस शास्त्रार्थ मे मुझे प्रवृत्त होना चाहिए या नही, इसमें सफलता मिलेगी या नही? उसे इस बात को पहले से ही सोच लेना चाहिए। सभा कैसी है? किन विचारो की है? सभ्य विज्ञ है या अनभिज्ञ? वे किस बात को पसद करते है? इन सब बातो को पहले जान लेना चाहिए। जिस क्षेत्र मे शास्त्रार्थ होना है, वहा जाना या रहना उचित है या अनुचित, वहा किसी तरह के उपसर्ग होने की सम्भावना तो नही? इस प्रकार गणी को क्षेत्रबल को भी देखना आवश्यक होता है। वादी किस मत का जानकार है? उसकी मान्यता क्या है? उसके मान्य ग्रन्थ कौन-कौन से है? पहले शास्त्रार्थ के विषय को जानकर फिर उसमें प्रवृत्त होना चाहिए, अन्यथा नही।

८. संग्रहपरिज्ञासंपत्—इसका अर्थ होता है—ज्ञान दर्शन और चारित्र के सहयोगी बाह्य साधनों का उपयोग पूर्वक सग्रह करना। इसके भी पूर्व की तरह चार भेद हैं, जैसे कि—साधु और साध्वियो को वर्षावास में ठहरने योग्य क्षेत्र एव स्थान देखना, पीठ चौकी, पाट-पाटला, मकान, फूस वगैरा की व्यवस्था करना। यथासमय स्वय स्वाध्याय, ध्यान आदि करना और दूसरों को भी प्रवृत्त कराना। अपने से बड़ो का विनय करना, सत्कार करना ही सग्रहपरिज्ञासपत् है। गणी की ये आठ सपदाए हैं। इनके बिना गणी द्वारा गण का सचालन नही हो सकता।

महानिधियों की उच्चता

मूल—एगमेगे णं महानिही अट्ठचक्कवालपइट्ठाणे, अट्ठजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ते ।१३।

छाया—एकैको महानिधिरष्टचक्रवालप्रतिष्ठानः, अष्ट योजनान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तः ।

शब्दार्थ—एगमेगे णं महानिही—प्रत्येक महानिधि; अट्ठचक्कवालपइट्ठाणे—आठ पहियो पर प्रतिष्ठित है और, अट्ठ जोयणाइं—आठ योजन, उड्ढं उच्चत्तेण पण्णत्ते—ऊचाई मे वर्णन की गई है ।

मूलार्थ—चक्रवर्त्ती की प्रत्येक महानिधि आठ-आठ चक्रों (पहियो) पर प्रतिष्ठित है तथा प्रत्येक की आठ योजन की ऊंचाई बताई गई है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में गणी की आध्यात्मिक सम्पदा का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार उसकी प्रतिपक्ष भूत चक्रवर्तियों की द्रव्य-सम्पदा रूप महानिधियो का परिचय देते हैं।

प्रत्येक चक्रवर्त्ती के शासन-काल में नव महानिधान होते है, उनका आकार सन्दूक के समान होता है। प्रत्येक निधान के आठ-आठ पहिए होते हैं और वे निधान आठ-आठ योजन ऊचे हुआ करते हैं। यदि उन्हें रेल के डिब्बे के समान कहा जाए तो अधिक सगत जान पडता है। ये महानिधान नौ योजन चौड़े, बारह योजन लम्बे और आठ योजन ऊचे हैं, जिनके नीचे आठ-आठ पहिए लगे रहते हैं और एक हज़ार यक्ष उनकी रक्षा के लिये सदैव नियुक्त रहते है।[1]

इन का पूर्ण परिचय आगे नवम स्थान में दिया जाएगा।

अष्ट समितियां

मूल—अट्ठ समिईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—ईरियासमिई, भासासमिई, एसणासमिई, आयाणभंडमत्त-समिई, उच्चारपासवण-समिइ, मण-समिई, वइसमिई, कायसमिई ।१४।

---

१. नवयोयणविच्छिन्ना, बारसदीहा, समूसिया अट्ठ ।
जक्खसहस्सपरिवुडा चक्कपइट्ठिया नववि ।।

छाया—अष्ट समितयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ईर्यासमितिः, भाषासमितिः, एषणासमितिः, आदान-भाण्डमात्रनिक्षेपणसमितिः, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-शिघाण-परिष्ठापनासमितिः, मनः-समितिः, वाक्-समितिः, काय-समितिः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आठ समितियां वर्णन की गई है, जैसे—ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-भाण्ड-मात्र निक्षेपण-समिति, उच्चार-प्रस्रवण-समिति, मनो-गुप्ति, वचन-गुप्ति, काय-गुप्ति ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में जिन द्रव्यात्मक महानिधियों का वर्णन किया गया है वे द्रव्यनिधियां उसीको प्राप्त होती हैं, जिसने भावनिधियों की पूर्णतया रक्षा की हो, अतः प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार भाव-निधि रूप आठ समितियों का उल्लेख करते है। समिति का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना, "सम्यगितिः—प्रवृत्तिः समितिः"। समितिया आठ है:—

१. किसी भी प्राणी को पीडा न हो, इसलिये सावधानता पूर्वक गति करना ईर्यासमिति कहलाती है।

२. हितकारी, सदेह-रहित, परिमित सत्य भाषण ही भाषा-समिति है।

३. जीवन-यात्रा के लिये आवश्यक एव उपयोगी, निर्दोष आहार-पानी, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों को जुटाना एषणा-समिति है।

४. किसी भी वस्तु को प्रतिलेखन, प्रमार्जन किए बिना न उठाना, न रखना और न काम में लाना आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षेपणा-समिति है।

५. मल-मूत्र आदि अनुपयोगी वस्तुओं को जीव-रहित अचित भूमि पर भली प्रकार देखकर यतना से परिष्ठापन करना उच्चार-प्रस्रवण-खेल-सिंघान-परिष्ठापन समिति है। मुह से निकले हुए श्लेष्म को खेल और नाक के श्लेष्म को सिंघान कहते हैं। इनको एकान्त-प्रासुक भूमि जहा न कोई आता है और न किसी की नजर पडती हो वहां परठना[1] चाहिए। उसमे कोई कीट पतंग फस न जाए, इसलिये उसके ऊपर मिट्टी डाल देनी चाहिए, यही पाचवी समिति है।

६. मन पर नियन्त्रण रखना, उसे दुष्प्रवृत्तियो से रोक कर सुप्रवृत्तियों में लगाना मनः-समिति है।

---

१. परठना—इस क्रिया का अर्थ है—इस प्रकार त्याग करना कि मानो उसे कहीं पर विधिवत् संभाल कर रखा जा रहा हो।

७. वाणी पर नियन्त्रण रखना, सोचकर बोलना, विचार कर कहना, सत्य बोलना, वाणी-समिति है।

८. प्रत्येक शारीरिक चेष्टा पर नियन्त्रण ही काय-समिति है।

यद्यपि अन्य आगमो में पांच समितियो और तीन गुप्तियों को आठ प्रवचन-माताए कहा गया है किन्तु तीन गुप्तियों से पहले पांच समितियों की आराधना अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि सूत्रकार ने इस स्थान पर तीन गुप्तियों का भी आठ समितियो के रूप में वर्णन किया है।[1]

आलोचना सुनने और करने वाले के गुण

मूल—अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ आलोयणा पडिच्छित्तए, तं जहा—आयारव, आहारवं, ववहारवं, ओवीलए, पकुव्वए, अपरिस्साई, निज्जावए, अवायदंसी।

अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ अत्तदोसमालोइत्तए, तं जहा—जाइसंपन्ने, कुलसंपन्ने, विणयसंपन्ने, णाणसपन्ने, दंसणसंपन्ने, चरित्तसंपन्ने, खंते, दंते।१५।

छाया—अष्टभिः स्थानैः सम्पन्नोऽनगारोऽर्हति आलोचनाः प्रत्येष्टुम्, तद्यथा - आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, अपव्रीडकः, प्रकारकः, अपरिश्रावी, निर्यापकः, अपायदर्शी।

अष्टभिः स्थानैः सम्पन्नोऽनगारोऽर्हति आत्मदोषमालोचयितुम्, तद्यथा—जातिसम्पन्नः, कुलसम्पन्नः, विनयसम्पन्नः, ज्ञानसम्पन्नः, दर्शनसम्पन्नः, चारित्रसम्पन्नः, क्षान्त, दान्तः।

शब्दार्थ—अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे—आठ गुणों से युक्त अनगार; आलोयणा पडिच्छित्तए—आलोचना ग्रहण करने के; अरिहइ—योग्य होता है; तं जहा—यथा; आयारवं—आचारवान्; आहारवं—अवधारण करने वाला; ववहारवं—आगमादि पांच व्यवहारों का ज्ञाता; ओवीलए—लज्जा दूर करने में समर्थ; पकुव्वए—विशेषतया शुद्धि कराने में समर्थ; अपरिस्साई—आलोचना सुनकर उसे प्रकाशित न करने वाला; निज्जावए—जितना निर्वहण कर सके, तदनुसार प्रायश्चित्त देने वाला, अवायदंसी—अपाय आदि बता कर आलोचना करानेवाला।

1. पूर्ण व्याख्या के लिए देखिए प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवरद्वार।

अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे—आठ स्थानों से सम्पन्न अनगार; **अत्तदोसमालोइत्तए अरिहइ**—आत्म-दोषों की आलोचना करने में समर्थ होता है; **तं जहा**—जैसे; **जाइ-सपन्ने**—जाति-सम्पन्न; **कुलसंपन्ने**—कुल-सम्पन्न; **विणयसंपन्ने**—विनय-वान्; **णाण-संपन्ने**—ज्ञानवान्; **दंसणसंपन्ने**—दर्शन-युक्त; **चरित्तसंपन्ने**—चारित्रसम्पन्न; **खंते**—क्षमायुक्त; **दंते**—दमनशील।

मूलार्थ—आठ गुणों से सम्पन्न अनगार आलोचना सुनने योग्य होता है, जैसे कि पांच आचारों का पालन करनेवाला, आलोचना की स्मृति रखनेवाला, आगम आदि पांच व्यवहारों का ज्ञाता, लज्जा दूर करानेवाला, शुद्धि कराने में समर्थ, आलोचना सुन कर अन्य के पास न कहनेवाला, शक्ति के अनुसार प्रायश्चित्त देनेवाला, जो आलोचना नहीं करता उसका क्या दुष्परिणाम होता है, ऐसी बातें बताने में सामर्थ्य रखनेवाला।

आठ गुणों से सम्पन्न अपने दोषों की आलोचना कर सकता है, यथा—जिसका मातृ-पक्ष शुद्ध हो, जिस का पितृ-पक्ष शुद्ध हो, जो विनयी हो, ज्ञानवान्, दर्शनवान्, चारित्रवान्, क्षमाशील और दमितेन्द्रिय।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में आठ समितियों का वर्णन किया गया है। उन आठ समितियों का पालन करते समय यदि किसी में अतिचार लग गया हो तो उस की आलोचना करनी चाहिए। अतः प्रस्तुत सूत्र मे आलोचना का स्वरूप बताया गया है। आलोचना का अर्थ है मन से, माया का पर्दा उठाकर अपने द्वारा की हुई छोटी वडी भूलो को प्रकट करना। आलोचना सुनना एक प्रकार का विष पीने के समान है। विष को पचाना जैसे कठिन है, वैसे ही उस दोष से अपने मन को अस्पृश्य रखना, तथा शास्त्रीय पद्धति से दोषी को प्रायश्चित्त देकर शुद्धीकरण करना कठिन है। आलोचना वही सुन सकता है जिस में आठ गुण विद्यमान हों। गुणहीन के पास आलोचना नही करनी चाहिए, अनभिज्ञ चिकित्सक जैसे रोग का समूल नाश नही कर सकता, वैसे ही गुणहीन गुरु भी दोषों का मूलोच्छेदन नही कर सकता। इसीलिये सूत्रकार ने आठ गुणो से सम्पन्न अनगार को आलोचना सुनने का अधिकारी बताया है, जैसे कि

१. आचारवान्—जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-आचार तथा वलवीर्य-आचार का विशेषज्ञ है और साथ ही इनका आराधक भी है, वही आलोचना सुन सकता है।

२. आहारवान्—जो आलोचना के द्वारा सुने हुए अतिचारो को मन में धारण करनेवाला हो, वही अतिचारो के प्रकार का निर्णायक होता है। जब सब अतिचार स्मृति में होंगे, तभी उनका उचित प्रायश्चित्त देने में आचार्य आदि समर्थ हो सकते है।

३. व्यवहारवान्—आगम, सूत्र, आज्ञा, धारणा और जीताचार इन पांच प्रकार के व्यवहारों का ज्ञाता होना उस के लिये आवश्यकीय है। ये पांच व्यवहार प्रायश्चित्त देने में काम आते है जो इन का जानकार हो वही आलोचना सुनने का अधिकारी है।

४. अपव्रीडक—यदि आलोचक लज्जा के वश पूर्णतया आलोचना न कर सके तो उसकी लज्जा को दूर करने मे समर्थ हो, वही आलोचना सुन सकता है।

५. प्रकुर्वक—आलोचित अपराध का प्रायश्चित्त देकर जो अतिचारों की शुद्धि कराने में समर्थ है वह आलोचना सुनने का अधिकारी है।

६. अपरिस्रावी—आलोचक के दोषों को दूसरों के सामने प्रकट न करनेवाला गभीर स्वभावी आलोचना सुन सकता है।

७. निर्यापक—उसमें शक्ति न होने पर या अन्य किसी कारण से एक साथ पूरा प्रायश्चित्त लेने में असमर्थ साधक को थोडा प्रायश्चित्त देकर निर्वाह करानेवाला होना चाहिए। जिस प्रायश्चित्त का साधक निर्वाह कर ही नही सकता उस प्रायश्चित्त को देने का क्या प्रयोजन हो सकता है ?

८. अपायदर्शी—जो व्यक्ति आलोचना विधिवत् नही करता है वह, आराधक नही बन सकता। आलोचना न करने से जीव दुर्लभबोधि बनता है। आलोचना न करनेवाले को किस प्रकार के संकट भोगने पड़ते हैं ? ऐसा दर्शानेवाला होना चाहिए।

आलोचक के आठ गुण—

जिस साधक में आठ गुण होते हैं, वही आलोचना कर सकता है, अथवा जो आलोचना करनेवाला है उसमें नियमेन आठ गुण तो होते ही हैं, जैसे कि—

१. जिसका मातृपक्ष निर्मल एवं शुद्ध है उसे जाति-सपन्न कहते है। जाति-सम्पन्न साधक प्रायः अकृत्य सेवन नही करता, यदि किसी कारणवश उससे कोई अकृत्य हो भी जाए है तो वह उसकी सम्यक्तया आलोचना करने में प्रमाद एव विलम्ब नहीं करता, वह शीघ्र ही पश्चात्ताप आदि द्वारा आत्मा की विशुद्धि कर लेता है।

२. जिसका पितृपक्ष विशुद्ध होता है, उसे कुल-संपन्न कहते हैं। जातिवान् में लज्जा, विनय की बहुलता होती है और कुलवान् में धैर्य और बल का आधिक्य पाया जाता है।

३. जिसमें अहंभाव पाया जाता है, वह कभी भी आलोचना नही कर सकता। अहभाव का प्रतिपक्षी विनय है। विनयवान ही सुखपूर्वक आलोचना कर सकता है, इसलिये तीसरा गुण विनय-संपन्न कहा गया है।

४. जो ज्ञानवान् होता है वह आलोचना के न करने पर उसके दोषों और विपाक को भलीभांति जानता है। अतः वह आलोचना सुखपूर्वक करके प्रायश्चित्त ग्रहण और वहन-कर लेता है।

५. जिसमें श्रद्धा प्रबल होती है, वही आलोचना कर सकता है, क्योंकि उसका पूर्ण विश्वास

होता है कि मेरी शुद्धि प्रायश्चित्त से ही हो सकती है तथा आत्म-विशुद्धि का मुख्य कारण प्रायश्चित्त ही है, इसलिये पांचवा गुण दर्शन-सपन्न होना कहा गया है ।

६ जो साधक चारित्रवान होता है उससे कभी अपराध नही होता, यदि हो भी जाए तो वह उसकी शुद्धि की चेष्टा करता है, अतः आलोचना करनेवाले का चारित्र-सपन्न होना भी आवश्यक है ।

७ जो क्षमाशील है, वही आलोचना कर सकता है, यदि गुरु ने उसे कठिन एव परुष वचनो से उपालम्भ दिया हो, तो वह रोप नही करता, अत. उसका क्षमावान होना भी आवश्यकीय है ।

८ जो साधक जितेन्द्रिय होगा, वही गुरु के द्वारा दिए गए प्रायश्चित्त का वहन करने मे समर्थ होगा, इसीलिये आठवां गुण दान्त कहा गया है । ये सभी गुण महत्त्वपूर्ण है और साधना की सफलता के लिये आवश्यक है ।



प्रायश्चित्त-भेद

मूल—अट्ठविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते, तं जहा—आलोयणारिहे, पडिक्कमणारिहे, तदुभयारिहे, विवेगारिहे, विउस्सग्गारिहे, तवारिहे, छेयारिहे, मूलारिहे । । १६ ।

छाया—अष्टविधं प्रायश्चित्तं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आलोचनार्हं, प्रतिक्रमणार्हं, तदुभयार्हं, विवेकार्हं, व्युत्सर्गार्हं, तपोऽर्हं, छेदार्हं, मूलार्हम् ।

शब्दार्थ—अट्ठविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते, तं जहा—आठ प्रकार का प्रायश्चित्त होता है, जैसे कि—आलोयणारिहे—आलोचना के योग्य; पडिक्कमणारिहे—प्रतिक्रमण के योग्य, तदुभयारिहे—दोनो के योग्य; विवेगारिहे—विवेक के योग्य; विउस्सग्गारिहे—व्युत्सर्ग के योग्य; तवारिहे—तप के योग्य; छेयारिहे—दीक्षा छेद के योग्य, मूलारिहे—मूल दीक्षा के योग्य ।

मूलार्थ—प्रायश्चित्त आठ प्रकार का है, जैसे—आलोचना के योग्य, प्रतिक्रमण के योग्य, आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो के योग्य, विवेक के योग्य, व्युत्सर्ग के योग्य, तप के योग्य, दीक्षा-छेद के योग्य, मूल दीक्षा के योग्य ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में आलोचना सुननेवाले और आलोचना करनेवाले के गुणों का वर्णन किया गया है । आलोचना सुननेवाला सुनकर ही दोष-निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त देता है, वह प्रायश्चित्त कितने प्रकार का है ? अब प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार इसी प्रश्न का उत्तर देते है ।

प्रमादवश यदि किसी व्रत में दोष लग जाये तो उसकी निवृत्ति के लिये जो तप:कर्म आदि का विधान किया जाता है, उसे ही प्रायश्चित्त कहते है। वह आठ प्रकार का होता है, जैसे कि आलोचना के योग्य, प्रतिक्रमण के योग्य, आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो के योग्य, विवेक के योग्य, कायोत्सर्ग के योग्य, तप के योग्य, दीक्षापर्याय के छेद के योग्य, मूलदीक्षा अर्थात् पुन: महाव्रत आरोपण के योग्य।

शास्त्रकार का अभिप्राय यह है कि कुछ दोष आलोचना करने मात्र से दूर हो जाते है, कुछ प्रतिक्रमण करने से दूर हो जाते है और कुछ ऐसे भी दोष होते है जो दोनों से निवृत्त होते हैं।

जो दोष जिस प्रायश्चित्त के योग्य हो उसकी निवृत्ति उसी प्रायश्चित्त से करनी चाहिए। जबकि पत्थर पर लगी हुई मैल को पानी से साफ किया जा सकता हो, तब तेजाब का प्रयोग करने कि क्या आवश्यकता हो सकती है ? तेजाब का प्रयोग तभी किया जाता है जबकि कोई धब्बा पानी आदि से साफ न हो सके। वैसे ही दोष भी एक प्रकार का जीवन की चादर पर लगा धब्बा है, उसकी निवृत्ति जिस प्रायश्चित्त से हो सके उसीका उपयोग प्रायश्चित्त दाता को करना चाहिये। दीक्षा-पर्याय के छेद के योग्य से अभिप्राय है—साधक के दीक्षा-काल को कम कर देना और मूल दीक्षा-छेद से अभिप्राय है -साधक को साधुत्व से सर्वथा अलग कर देना और उसे पुन दीक्षित करना।

मद-स्थान

मूल—अट्ठ मयट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—जाइमए, कुलमए, बलमए, रूवमए, तवमए, सुयमए, लाभमए, इस्सरियमए।१७।

छाया—अष्ट मदस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—जातिमदः, कुलमदः, बलमदः, रूपमदः, तपोमदः, श्रुतमदः, लाभमदः ऐश्वर्यमदः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आठ मद है, जैसे कि जाति-मद, कुल-मद, बल-मद, रूप-मद, तप-मद, श्रुत-मद, लाभ-मद और ऐश्वर्य-मद।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे प्रायश्चित्त की विवेचना की गई है। जाति आदि का मद होने पर ही मनुष्य प्रायश्चित्त की उपेक्षा करता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे आठ मद-स्थानो का परिचय दिया गया है।

यद्यपि 'मद' शब्द कस्तूरी, नशा, मद्य, शहद, वीर्य, घमड, कामोन्मत्तता, हाथी के गडस्थल से बहने वाला गधरस इत्यादि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, तथापि प्रस्तुत प्रकरण में इसका

अभिमान अर्थ ही अभीष्ट है। उत्तम जाति का तथा कुल का घमड होना सहज ही है। जिसको किसी भी तरह का अधिक बल प्राप्त हो जाता है, वह बल के नशे मे चूर हो ही जाता है। जिस का रूप लोकप्रिय बना हुआ है वह रूप पर अहकार करता ही है। जिस तपस्वी की प्रसिद्धि तप के द्वारा हो रही है, उसे तप का अभिमान हो ही जाता है। जो व्यक्ति विद्वत्ता में बहुत बढ़ा-चढा है, उसे श्रुत का मद हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है। जिसको सब ओर से अभीष्ट पदार्थो का लाभ ही लाभ हो रहा है, उसे लाभ का मद हो जाता है। जिस व्यक्ति को किसी भी तरह की राज-सत्ता, समाज-सत्ता प्राप्त है अथवा अपार धन-राशि उपलब्ध है, उसे ऐश्वर्यमद हो जाता है। जब मनुष्य अभिमान के मद मे चूर हो जाता है, तब वह किसी भी तरह के पापाचरण से हिचकिचाता नही है, वह किसी को कुछ समझता ही नही है, वह अपने को ही सर्वेसर्वा मानने लग जाता है। इसीलिये नीतिकार कहते है .—

"जात्यादिमदोन्मत्तः पिशाचवद्भवति दुःखितश्चेह।
जात्यादिहीनतां परभवे च निःसशयं लभते ॥"

अर्थात् जाति आदि के मदो से उन्मत्त हुआ व्यक्ति इस लोक में पिशाच की तरह पापों का आचरण करने लगता है, अंत मे वह दुखित होता है। जन्मान्तर में वह निश्चय ही जाति आदि से सर्वथा हीन हो जाता है। जिस बात का वह अभिमान करता है, परभव मे वह उसी बात से हीन होता है। अतः यह समझना चाहिये कि मुझे उच्च जाति एव विद्वत्ता आदि सब सयम तप एव विनय से ही प्राप्त हुए है, फिर भी ये सब नाशवान् है. अत· इन पर मुझे अभिमान नही करना चाहिए। विनय से उच्चगोत्र का बध होता है और अभिमान करने से नीच गोत्र का बध होता है, अत. मदस्थानों को सभी दृष्टियों से हेय माना गया है।

अक्रियावादी के भेद

मूल—अट्ठ अकिरियावाई पण्णत्ता, तं जहा—एगावाई, अणेगावाई, मितवाई, निम्मितवाई, सायवाई, समुच्छेदवाई, णियवाई, ण संति परलोगवाई। १८।

छाया—**अष्ट अक्रियावादिनः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकवादी, अनेकवादी, मितवादी, निर्मितवादी, सातवादी, समुच्छेदवादी, नित्यवादी, न सन्ति परलोकवादी।**

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—अक्रियावादी आठ प्रकार के कथन किये गये है, जैसे कि एक आत्मा को सर्वव्यापी माननेवाले, एकान्त विशेष को माननेवाले, आत्मा, और लोक आदि पदार्थों को परिमित माननेवाले, ईश्वर आदि को जगत्कर्ता मानने-

वाले, विषय आदि सुखो से पारलौकिक सुख मानने वाले, पदार्थ को क्षणिक माननेवाले, जगत् को नित्य माननेवाले, आत्मा तथा परलोक को न माननेवाले ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे आठ मदों का वर्णन किया गया है। लोक में प्रायः अभिमानी व्यक्ति ही नास्तिक वन जाते हैं और सत्य मार्ग से भटक जाते हैं। जो सत्य-मार्ग से भटका हुआ है वही नास्तिक है और उसे ही अक्रियावादी कहा जाता है। अत प्रस्तुत सूत्र में अक्रियावादियों के आठ रूपों का परिचय दिया गया है। सभी पदार्थो के पूर्ण स्वरूप को वनाते हुए स्वर्ग, नरक इत्यादि के अस्तित्व को मान कर तदनुसार करणीय और अकरणीय की शिक्षा देनेवाले सिद्धान्त को क्रियावाद कहते है। इन बातों का निषेध या विपरीत प्ररूपणा करनेवाले सिद्धान्त को अक्रियावाद कहा जाता है। उसके माननेवाले अक्रियावादी माने जाते हैं। वे आठ प्रकार के होते है, जैसे कि—

१. एकवादी—ससार को एक ही वस्तुरूप माननेवाले अद्वैतवादी एकवादी कहलाते है। अद्वैतवादी भी अनेक तरह के होते हैं, जैसे कि आत्माद्वैत, ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, सामान्याद्वैत। इस प्रकार की मान्यता रखनेवाले अद्वैतवादी वेदान्ती तथा आत्माद्वैत या ब्रह्माद्वैत के माननेवाले हैं। उनका कहना है कि ब्रह्म एक ही है **"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"** उसके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नही है। जैसे कि चन्द्र एक ही होता है, परन्तु अलग-अलग जल-पात्रो मे अनेक चन्द्र दिखाई देते है, वैसे ही भिन्न-भिन्न अन्त.करणो मे वही एक ब्रह्म नाना रूपो मे प्रतिविंवित हो रहा है। पृथिवी, जल-तेज आदि महाभूत तथा सारा ससार आत्मा का ही विवर्त है। अन्धकार में जैसे रस्सी को देखकर साप का भ्रम हो जाता है, वैसे ही भौतिक पदार्थों मे आत्मा की भ्रान्ति होती है, वस्तुतः इस भ्रम को दूर करना ही मोक्ष है।

शब्दाद्वैतवादी का कथन है कि इस सृष्टि की रचना शब्द से ही हुई है। ब्रह्म भी शब्द रूप हैं। वैय्याकरण-दर्शन के अनुयायी इसी सिद्धान्त के उपासक है।

सामान्यवादी वस्तु को सामान्यात्मक मानते है। इसके अनुयायी साख्यदर्शन और योगदर्शन के अनुगामी है।

ये सव दूसरी वस्तुओ का अपलाप करते है तथा प्रमाण-विरुद्ध अद्वैतवाद को स्वीकार करते है, इसलिये जैनदर्शन इन्हे अक्रियावादी कहता है।

वस्तुतः चद्र का प्रतिविंव जैसे विभिन्न जलाशयो में पड़ता है, वैसे ही यदि ब्रह्म के विषय में भी माना जाए, तो सव जीवो की एक ही अवस्था हो जाएगी, क्योकि यदि चद्र पूर्णिमा का होगा तो प्रतिविंव भी पूर्ण ही होगा। यदि अष्टमी का होगा तो प्रतिविंव भी चन्द्र सदृश अर्ध ही होगा। इसी प्रकार एक ही ब्रह्म का प्रतिविंव मानने पर सभी आत्माओ की एक ही दशा होनी चाहिए, किन्तु ऐसा कही भी देखा नहीं जाता। कोई विद्वान् है और कोई मूर्ख, कोई श्रीमान है

और कोई निर्धन, कोई सुखी है और कोई दु:खी इत्यादि जीवों की अनेक दशाए एक ब्रह्म को सिद्ध नही करती, अत: एकवादी की मान्यताए तर्क एव अनुभव से सिद्ध नही है।

२. अनेकवादी—अनेक आत्माए मानने पर भी परलोक का न मानना अक्रियावादिता है। जो लोग यह मानते है कि सभी पदार्थ अनेक हैं अर्थात् अलग-अलग प्रतीत होने से सभी पदार्थ भिन्न ही है। उनका कहना है कि पदार्थो को यदि हम अभिन्न मानेगे तो जीव अजीव, सुखी-दु:खी, बद्ध-मुक्त इत्यादि सब एक हो जाएगे। ऐसी स्थिति मे तप-सयम आदि धार्मिक कार्य व्यर्थ हो जाएगे। दूसरी बात यह है कि एकवादिता मे दोषापत्ति है, क्योकि एकता सामान्य की अपेक्षा से ही मानी जाती है। वस्तुत' देखा जाए तो विशेप से भिन्न कोई वस्तु नही है विशेष अनेक है। जैसे रूप से भिन्न रूपत्व नाम की कोई वस्तु नही है। वैसे ही अवयवो से भिन्न अवयवी, धर्मो से भिन्न कोई धर्मी भी नही है। यह अनेकवादी केवल विशेष को ही मानते है, सामान्य को नही। अनेक को मानते है, एक को नही। इसी कारण इन्हे अनेकवादी कहते है।

वास्तव में सभी पदार्थ किसी अपेक्षा से एक तथा किसी अपेक्षा से अनेक है, इसी तरह अवयव और अवयवी तथा धर्म और धर्मी कथचित् भिन्न भी है और कथचित् अभिन्न भी, कथचित् नित्य भी है और कथचित् अनित्य, कथचित् एक है और कथचित् अनेक। इस तरह मानने से सब प्रकार की व्यवस्था ठीक हो जाती है। पदार्थो को एकान्त रूप से अनेक मानना जैन-दर्शन को मान्य नही है।

३. मितवादी :—जीवों के अनन्त-अनन्त होने पर भी उन्हे परिमित सख्यावाला मान लेना मितवादिता है। मितवादियों का कहना है कि यदि भव्य जीव मुक्त होते रहे, तो कभी न कभी ससार भव्य जीवो से रिक्त हो जाएगा। अथवा जो वादी जीव को अगुष्ठ परिमाण या श्यामाकतण्डुल परिमाण या अणुपरिमाण मानते है, वे भी मितवादी ही कहलाते है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को न मानकर असत्य पद्धति को अपनाना अक्रियावादिता है। अथवा लोक को सात द्वीप और सात समुद्रो तक सीमित मानना भी मितवादिता ही है।

जैनदर्शन जीव को असख्यात प्रदेशी एव अनियत परिमाणवाला मानता है वह अगुल के असख्यातवे भाग से लेकर सारे लोक को प्रदेशो से व्याप्त कर सकता है। अत. आत्मा को अगुष्ठ-परिमाण श्यामाकतण्डुल परिमाण या अणुपरिमाण मानना असगत है। जैसे भविष्य के गर्भ मे अनन्त दिन छिपे हुए है, एक-एक दिन वर्तमान मे आते-आते और भूत मे समाते हुए भविष्यत् काल कभी भी समाप्त नही होगा। इसी तरह भव्य जीव मुक्त होते-होते ससार खाली नही होता, क्योकि जीव अनन्तानन्त है। द्वीप और समुद्र भी गिनती के नही है, अपितु असख्यात द्वीप है और असख्यात समुद्र है। जैसी वस्तु है, वैसी न मानने से उन्हे मितवादी कहा है, जो कि अक्रियावादिता का तीसरा भेद है।

४. निर्मितवादी—जगत् का किसी ने निर्माण किया है। इस मान्यता के अनुयायी निर्मितवादी कहलाते है। इस विषय में लोगो के हृदयो मे तरह-तरह की धारणाए बैठी हुई हैं। कुछ कहते है कि जैसे किसान बीज बोकर धान्य उत्पन्न करता है, वैसे ही किसी देव ने इस लोक को उत्पन्न किया है। दूसरी परम्परा के लोग कहते है कि जीव-अजीव एव सुख-दु:ख से समन्वित इस जगत् की रचना ईश्वर ने की है। साख्यवादी कहते है यह लोक प्रधानकृत है। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि ब्रह्मा

ने यह लोक बनाया है। किसी की मान्यता है कि सृष्टि की रचना विष्णु ने की है। कुछ दार्शनिको की यह भी धारणा है कि इस जगत् की उत्पत्ति अण्डे से हुई है। सृष्टि के विषय में इस प्रकार की अनेक धारणाए प्रचलित है। इस प्रकार की धारणाओंवाले सभी दार्शनिक निर्मितवादी कहलाते है। वे निर्मितवादी भी अपनी मान्यता को सत्य बताते है और दूसरों की मान्यता को असत्य।

पूर्वोक्त वादी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नही जानते कि इस लोक का यथार्थ स्वभाव क्या है? वस्तुतः यह लोक कभी भी एकान्त रूप से नष्ट नही होता, क्योंकि द्रव्य से यह अनादि है, इसका आदि केवलज्ञानी के ज्ञान मे है ही नहीं। यह लोक पहले था, अब है और भविष्यत् काल मे भी रहने वाला है। इसकी पर्याय बदलती रहती है। ह्रास-विकास भी होता रहता है, किन्तु इसकी रचना किसी ने नही की, अतः यह ससार सदाकाल से अनिर्मित है।

५. **सातावादी**—जिन दार्शनिकों की मान्यता है कि ससार में सुख से रहना चाहिए, सुख ही सुख का मूल कारण है। संयम, तप, ब्रह्मचर्य आदि सुख के कारण नही है। जैसे सफेद तन्तुओ से बना हुआ वस्त्र भी सफेद ही होता है, काला या लाल नही, इसी प्रकार सुख से ही सुख की उत्पत्ति हो सकती है। सुख भोगने से सुख मिलता है, जैसे कि कहा भी है :—

"मृद्वी शय्या, प्रातरुत्थाय पेया, भक्त मध्ये पानकं चापराह्णे।
द्राक्षाखण्डं शर्कराचार्द्धरात्रे मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः॥"

सोने के लिये कोमल शय्या, प्रातः उठते ही सुन्दर पेय पदार्थों का पान, दोपहर में स्वादिष्ट भोजन, दोपहर बाद दुग्धादि स्वादिष्ट पदार्थों का पान, अर्धरात्रि में किसमिस मिश्री आदि का खाना और इस प्रकार अन्त में मोक्ष, शाक्य पुत्र ने यही जीवन का सार बताया है।

पारमार्थिक प्रशमसुख का मूल कारण सयम-तप आदि शुभानुष्ठान को दुःख रूप में स्वीकार करने से तथा वैषयिक सुख को निर्वाणसुख का मूलकारण मानने से सातावादी भी अक्रियावादी ही है।

६. **समुच्छेदवादी**—इस मान्यता के अनुयायी बौद्ध हैं, उनका कहना है कि प्रत्येक वस्तु प्रति-क्षण सर्वथा नष्ट हो रही है। पहले क्षण में उत्पन्न और दूसरे क्षण में विनाश, यह क्रम सदा चलता ही रहता है, किसी भी अपेक्षा से कोई भी पदार्थ नित्य नही है। सभी पदार्थ क्षणिक हैं। किसी कार्य का होना या करना यही वस्तु का लक्षण है। नित्य वस्तु से कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती, क्योकि दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति होने पर वह नित्य नहीं रह सकता, इसलिये वस्तु को क्षणिक मानना युक्ति-सगत है।

जैन दर्शन का इस विषय में कहना है कि द्रव्य की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु नित्य है उत्पाद और व्यय रूप पर्याय की अपेक्षा सभी पदार्थ अनित्य हैं। यदि द्रव्य को ही क्षणिक मान लिया जाए तो आत्मा भी प्रतिक्षण बदलता ही रहेगा। इससे स्वर्ग-नरक आदि की प्राप्ति उस आत्मा को नही होगी, जिसने स्वर्ग-प्राप्ति के योग्य सयम का पालन किया है और नरक-प्राप्ति के योग्य पापाचरण किए है। परलोक का अभाव फलार्थी को शुभ क्रियाओं में कभी प्रवृत्त ही न होने देगा, क्योकि प्रत्येक क्रिया करते समय असख्यात समय लगते हैं, उच्छेदवादी के मत मे सकल व्यवहार का उच्छेद हो जाएगा। अतः एकान्त क्षणिक मानने से कुलाल आदि के द्वारा की जाने वाली अर्थ-क्रिया की भी सिद्धि न हो

सकेगी। हां पर्याय से वस्तु का समुच्छेद मानना कथचित् युक्ति-युक्त है, द्रव्य से नहीं। कहा भी है "तस्मात् पर्यायतो वस्तु समुच्छेदवद्, द्रव्यतस्तु न तथेति।"

७. **नियतवादी**—जो दर्शन पदार्थ को कूटस्थ नित्य मानते है, वे भी अक्रियावादी ही है। उनका कहना है कि जो पदार्थ सत् है, वह कूटस्थ नित्य है। वस्तुत: एकान्त नित्य मानने से सभी व्यावहारिक क्रियाओं का उच्छेद हो जाएगा, क्योकि जो उन्होंने "अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वं नित्यत्वम्"—जो उत्पत्ति और विनाश से रहित स्थिर एक स्वभाव वाला है, वह नित्य है, यह उनका दिया हुआ लक्षण है। इस लक्षण के अनुसार कोई भी नित्य पदार्थ अर्थ-क्रिया करने मे समर्थ नही है। बौद्ध द्रव्य को सर्वथा अनित्य मानते है और सांख्यदर्शन सर्वथा नित्य मानता है। एकान्त अनित्य मानना भी दोषपूर्ण है।

अनेकान्तवाद सभी पदार्थो को द्रव्य से नित्य और पर्याय से अनित्य मानता है। यही मान्यता युक्ति-संगत है। कूटस्थनित्य वादियो के अभिमत से आत्मा अकिंचित्कर सिद्ध हो जाता है। जो सयम, तप, पुण्य-पाप आदि क्रिया करने मे समर्थ नही, वह सुख-दु:ख आदि का उपभोक्ता भी नही हो सकता, क्योंकि कूटस्थ नित्य में अर्थ-क्रिया घटित नही होती।

८. **अनात्मवादी**—जो आत्मा के अस्तित्व को नही मानते वे भी अक्रियावादी है। आत्मा के न मानने से परलोक और मोक्ष दोनों का अभाव हो जाएगा। चार्वाक लोग आत्मा को मानने से सर्वथा इन्कार करते है। वे आत्मा को पाच भूत स्वरूप ही मानते है। चेतना-शक्ति का अस्तित्व अनेक प्रमाणो से सिद्ध है। विशिष्ट आत्माओ को जाति-स्मरण आदि पूर्वजन्म का ज्ञान देखने और सुनने मे आता है। इससे आत्मा की सिद्धि होती है। क्योकि गुण और गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध होता है। जो आत्मवादी पांच भूतो से चैतन्य पदार्थ की सिद्धि करना चाहते है, उनका कहना युक्ति-हीन होने से अप्रामाणिक है। अत: आत्मा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम प्रमाण से सिद्ध है। सूत्रकार ने अक्रियावादी के जो आठ भेद किए है, वे सब अनात्मवादी है, क्योकि वे सत्य-सिद्ध सिद्धान्त को स्वीकार नही करते हैं।

आठ महानिमित्त

मूल—अट्ठविहे महानिमित्ते पण्णत्ते, तं जहा—भोमे, उप्पाते, सुविणे, अंतलिक्खे, अंगे, सरे, लक्खणे, वंजणे।१९।

छाया—अष्टविधानि महानिमित्तानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—भौमम्, औत्पातं, स्वप्नम्, आन्तरिक्षम्, अंगं, स्वरः, लक्षणं, व्यञ्जनम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—महानिमित्त आठ कहे गये है, जैसे—भौम, औत्पात, स्वाप्न, आन्तरिक्ष, आङ्ग, स्वर, लक्षण और व्यञ्जन।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे आठ प्रकार के वादियों का वर्णन किया गया है, ये वादी प्राय: चमत्कार-प्रदर्शन के लिये निमित्त-शास्त्र का अभ्यास कर लेते है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे आठ महानिमित्तों के नामो का निर्देश किया गया है।

जिन कारणो से मनुष्य भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल की घटनाओं एव पदार्थों को जानने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है, उन सभी कारणो को निमित्त कहते है। उन कारणो एव साधनो का वर्णन जिन ग्रन्थों में होता है, वे ग्रथ भी निमित्त ही कहलाते है। उन ग्रन्थो का सूत्र, वार्तिक भाष्य आदि के द्वारा विस्तार किया जाता है, इसलिये उन ग्रन्थो का परिमाण सैकडो-हजारो तथा लाखो श्लोकों का हो जाता है, अत: ये महान् ग्रथ महानिमित्त कहलाते हैं। महानिमित्त के आठ भेद है। प्रत्येक भेद की सक्षिप्त व्याख्या निम्न लिखित है :—

१. भौम—भूमि से सम्बन्धित लक्षणों का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र को भौम कहते है। भूमि में हलचल का होना, सशब्द भूकम्प का होना, यह भूमि उर्वरा है या ऊपर ? यह भूमि किस बीज को उत्पन्न कर सकती है ? इस भूगर्भ मे कौन-सी धातु है ? कितनी दूर है ? जल है, गैस है या तेल है अथवा यूरेनियम की तरह का कौन-सा बहुमूल्य तत्त्व है ? इत्यादि पदार्थों को जानने के लक्षणो और शुभ-अशुभ फल का ज्ञान करानेवाले शास्त्रो को भौम-महानिमित्त कहते है। इसके विषय मे एक श्लोक मे कुछ भाव प्रदर्शित किए गए है, जैसे कि—

"शब्देन महता भूमिर्यदा रसति कम्पते।
सेनापतिरमात्यश्च राजा राज्यं च पीड्यते॥"

अर्थात् महान शब्द करती हुई जब भूमि कापती है, तब सेनापति, मत्री, राजा और प्रजा पीड़ा को प्राप्त होते हैं। इत्यादि वर्णन भी भौम-शास्त्र से सम्बन्धित हैं।

२. औत्पात—इसका अर्थ है—उपद्रव, आकस्मिक दुःखदायी घटना, हलचल, दंगा-फिसाद इत्यादि। यह मुख्यत. तीन प्रकार का होता है—दैविक, भौतिक और आध्यात्मिक। जिन लक्षणो से भावी उत्पातों को जाना जाए, उन लक्षणों का ज्ञान करानेवाले शास्त्र को औत्पात महानिमित्त कहते हैं।

३. स्वाप्न—सोते समय गाढी नीद न आने के कारण कुछ घटनाएं दिखाई देती हैं, जिन्हे स्वप्न कहा जाता है। जिस शास्त्र में स्वप्नो का तथा उनके भेद-प्रभेदो का वर्णन हो और उनके द्वारा शुभ-अशुभ फलादेश का विधान हो उस शास्त्र को स्वाप्न-महानिमित्त कहते हैं।

अच्छे या बुरे स्वप्नो का शुभाशुभ बताना, जैसे कि देव, गुरु, छत्र, कमल आदि का देखना, हाथी या घोड़े की सवारी करना, पर्वत के शिखर पर, महल पर या प्राकार पर चढना, समुद्र को पार

करना दूध-दही या अमृत का पीना, चन्द्र और सूर्य का मुख मे प्रवेश करना इत्यादि स्वप्न शुभ फल देनेवाले माने गए है। यदि स्वप्न-द्रष्टा लाल रग वाला पेशाव करे या मलोत्सर्ग करे और उसी समय यदि स्वप्न भग हो जाए, तो स्वप्नद्रष्टा को अर्थ-हानि होती है।

४. आन्तरिक्ष—आकाश से सम्बन्ध रखनेवाले निमित्त को आन्तरिक्ष कहते है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारो की गति विशेष से, ग्रह-वेध से, अभ्र-विकार से, धूमकेतु के उदय से, दिग्दाह से, बिजली के विभिन्न रगो से गधर्वनगर की बनावट से, इन्द्रधनुष से, वायुमण्डल से सूर्य और चन्द्र को ग्रहण लगने से तथा उनके परिवेष-कुण्डल से जो शुभाशुभ बताया जाता है, वह आन्तरिक्ष शास्त्र के महानिमित्त से जाना जाता है। गंधर्वनगर के विषय मे दिग्दर्शन कराते हुए वृत्तिकार लिखते है—

"कपिले सस्यघाताय माञ्जिष्ठं हरणं गवाम्।
अव्यक्तवर्णं कुरुते बलक्षोभं न संशयः ॥
गन्धर्वनगरं स्निग्धं सप्राकारं सतोरणम्।
सौम्यां दिश समाश्रित्य राज्ञस्तद्विजयं करम् ॥"

अर्थात्—पीले गधर्वनगर से धान्य का विनाश होता है, मजीठ के रगवाले से गौओ का हरण होता है। अव्यक्त वर्णवाले से सेना मे क्षोभ जागता है। यदि पूर्व दिशा मे स्निग्ध प्राकार तथा तोरण सहित गधर्वनगर हो, तो वह राजा की विजय का सूचक है। इस प्रकार के फलादेश बताने वाला भी आन्तरिक्ष महानिमित्त कहलाता है।

५ आङ्ग—शरीर के विभिन्न अगो के स्फुरण से शुभाशुभ फल का बताना। आङ्ग-शास्त्र का विषय है। पुरुष के दाए और स्त्री के बाए अगो का स्फुरण शुभ माना गया है। सिर के फडकने से पृथ्वी-लाभ तथा ललाट के स्फुरण से पदवृद्धि होती है। जिस शास्त्र मे अग-स्फुरण के शुभाशुभ फलो का उल्लेख हो, उसे आङ्ग महानिमित्त कहते हैं।

६. स्वर—इस पद से तीन अर्थ ग्रहण किए जाते हैं, षड्ज आदि सात स्वरो के द्वारा शुभाशुभ बताना, अथवा इडा, पिगला और सुषुम्ना इन तीन स्वरो के द्वारा शुभाशुभ फल बताना और पक्षियो के शब्द से शुभाशुभ बताना। इन सबका समावेश स्वर मे हो जाता है। इनका वर्णन जिस शास्त्र में है उसे स्वरशास्त्र महानिमित्त कहते है।

७. लक्षण—स्त्री और पुरुष के शरीर की बनावट या रेखा आदि मे शुभाशुभ फल बताना लक्षण कहलाता है। साधारण मनुष्यो मे ३२ लक्षण पाए जाते है। बलदेव और वासुदेव के १०८ लक्षण होते है। चक्रवर्ती और तीर्थङ्करो मे १००८ लक्षण होते है। सामुद्रिक शास्त्र मे अच्छे-बुरे अगोपागो का तथा रेखा-विज्ञान (पामिस्ट्री साइंस) का विस्तृत वर्णन मिलता है। "अगविज्जा" नामक ग्रथ मे बडे विस्तार के साथ शारीरिक लक्षणों का वर्णन किया गया है और साथ ही वहा शुभाशुभ फल भी निर्दिष्ट है, अतः इस प्रकार के शास्त्र को लक्षण-महानिमित्त कहते है। लक्षण-निमित्त का दिग्दर्शन कराना भी आवश्यकीय हो जाता है, जैसे कि—

'अस्थिष्वर्थाः सुख मांसे, त्वचि भोगाः स्त्रियोऽक्षिषु ।
गतौ यानं स्वरे चाज्ञा सर्वं सत्वे प्रतिष्ठितम् ॥''

अर्थात्—पुष्ट हड्डियो से जाना जाता है कि यह व्यक्ति धनवान होगा, मासल होने से सुखी समझा जाता है। शरीर को त्वचा प्रशस्त होने से व्यक्ति विलासी होता है। आखे सुन्दर होने से सुन्दरियों का वल्लभ बनता है, राजहस, वृषभ एव हाथी की तरह मस्त चाल वाले को यान—सवारी का साधन मिलता है। ओजस्वी एव गभीर शब्द वाला सत्ताधीश होता है, उसकी आज्ञा सर्वमान्य होती है। विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति सबका स्वामी होता है।

८. व्यजन—जिस शास्त्र में तिल-मसा आदि का विशेष वर्णन हो, उसे ''व्यञ्जन-शास्त्र'' कहते हैं। जिस स्त्री की नाभि से नीचे के भाग में कु कुम की बूंद के समान तिल या मस्सा हो या कोई और लक्षण हो वह अच्छी मानी जाती है। लक्षण शरीर के साथ उत्पन्न होते है और व्यञ्जन बाद मे उत्पन्न होते हैं। जो चिह्न पुरुष या स्त्री के होते है, उनके फलादेश से जीवन की पूर्ण दशा का ज्ञान हो जाता है। यद्यपि उक्त शास्त्रों को समवायाङ्ग सूत्र के २९वें समवाय मे पापश्रुत के नाम से उल्लेख किया गया है, तथापि इनका ज्ञान होना पापश्रुत नही है, किन्तु इनके द्वारा जो पापाचरण किया जाता है उसकी अपेक्षा से इसको पापश्रुत नाम दिया गया है। ज्ञाता धर्मकथा आदि शास्त्रो मे अष्टाङ्ग महानिमित्त के पण्डितो का वर्णन मिलता है। जब किसी राजकुमार आदि का जन्म होता था तब नैमित्तिको को अवश्य ही आमन्त्रित किया जाता था और वे अपनी-अपनी विद्या के अनुसार जातक के जीवन का पूर्ण विवरण प्रस्तुत कर देते थे।

यद्यपि आज सामुद्रिक और स्वप्नशास्त्र के अतिरिक्त अन्य शास्त्र प्रायः अनुपलब्ध है, फिर भी इन आठों से सम्बन्धित सामग्री यत्र-तत्र लिखित रूप में प्राप्त हो जाती है।

आठ वचन-विभक्तियां

मूल—अट्ठविहा वयणविभत्ती पण्णत्ता, तं जहा—

निद्देसे पढमा होइ, बीइया उवएसणे ।
तइया करणंमि कया, चउत्थी संपयावणे ॥१॥

पंचमी य अवायाणे, छट्ठी सस्सामिवायणे ।
सत्तमी सन्निहाणत्थे, अट्ठमी आमंतणी भवे ॥२॥

तत्थ पढमा विभत्ती, निद्देसे सो इमो अहं वत्ति ।
विईया उण उवएसे, भण कुण व इमं व तं वत्ति ॥३॥

तइया करणंमि कया, णीयं च कयं च तेण व मए वा ।
हंदि णमो साहाए, हवइ चउत्थी पयाणंमि ॥४॥

अवणे गिण्हसु त्तो इत्तो त्ति व पंचमी अवायाणे ।
छट्ठी तस्स इमस्स व, गयस्स वा सामिसंबंधे ॥५॥

हवइ पुण सत्तमी, तमिमंमि आहारकालभावे य ।
आमंतणा भवे, अट्ठमी उ जह हे जुवाणत्ती ॥६॥ ।२०।

छाया—अष्टविधा वचनविभक्तिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—

निर्देशे प्रथमा भवति, द्वितीया उपदेशने ।
तृतीया करणे कृता, चतुर्थी सम्प्रदापने ॥१॥

पञ्चमी च अपादाने, षष्ठी स्वस्वामिवचने ।
सप्तमी सन्निधानार्थे, अष्टमी आमन्त्रणी भवेत् ॥२॥

तत्र प्रथमा विभक्तिर्निर्देशे—'सः' 'अयम्' 'अहं' वेति ।
द्वितीया पुनरुपदेशे—'भण' 'कुरु' वा 'इद' वा 'तद्' वेति ॥३॥

तृतीया करणे कृता—'नीत' च 'कृत' च 'तेन' वा 'मया' वा ।
'हन्दि' 'नमः' 'स्वाहायै', भवति चतुर्थी प्रदाने ॥४॥

'अपनय' 'गृहाण' 'ततः' 'इतः' इति वा पञ्चमी अपादाने ।
षष्ठी 'तस्य' 'अस्य' वा 'गतस्य' वा स्वामिसम्बन्धे ॥५॥

भवति पुनः सप्तमी, 'तस्मिन्' 'अस्मिन्' आधार-कालभावे च ।
आमन्त्रणी भवेत्, अष्टमी तु यथा हे युवन् ! इति ॥६॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—वचन विभक्ति आठ प्रकार की वर्णन की गई है, यथा—निर्देश में प्रथमा, उपदेश में द्वितीया, करण मे तृतीया, सम्प्रदान में चतुर्थी, अपादान में पञ्चमी, स्व-स्वामि-सम्बन्ध मे षष्ठी, सन्निधान में सप्तमी और आमन्त्रण मे अष्टमी विभक्ति होती है ।

निर्देश मे प्रथमा, जैसे—सः, अयम्, अहम् आदि । उपदेश में द्वितीया,

जैसे—भण, कुरु, इमम्, तद् आदि। करण में तृतीया, जैसे—तेन वा, मया वा, नीतम्, कृतम् वा। सम्प्रदान में चतुर्थी, जैसे—'हन्दि' नामक अव्यय उपदर्शन में है, नमः, स्वाहा, ते इत्यादि। अपादान में पञ्चमी, जैसे—अपनय, गृहाण, इत, ततः आदि। स्वसम्बन्ध में षष्ठी, जैसे—कस्य, अस्य, गतस्य आदि। आधार, काल और भाव में सप्तमी, जैसे—आधार में—स्थाल्यां पचति, काल में—मधौ रमते, भाव में—चारित्रेऽवतिष्ठते। आमन्त्रण में अष्टमी, जैसे—हे युवन्! हे अमनस्के! इत्यादि।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे आठ निमित्त शास्त्रो का वर्णन किया गया है। शास्त्र वाणी-प्रधान है और वाणी और उसके अर्थ का परिज्ञान विभक्ति-ज्ञान पर निर्भर है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे वचन-विभक्तियो का स्वरूप और उनके भेदो का निरूपण किया गया है।

प्रकृति-प्रत्यय के विभाग से जो वचन कहा जाए, उसे वचन-विभक्ति कहते है। यद्यपि आज के युग में जितने भी सस्कृत-व्याकरण उपलब्ध है, उनमे सात विभक्तियो का सकेत मिलता है। सबोधन का अन्तर्भाव प्रथमा मे ही किया गया है, तथापि प्राचीनकाल मे आगमकार तथा वृद्ध वैयाकरण लोग आमन्त्रण को साथ मिलाकर आठ विभक्तिया माना करते थे। इस तरह प्रस्तुत सूत्र मे तथा अनुयोगद्वार सूत्र मे दिए गए आठ नामो से स्पष्ट ध्वनित होता है कि विभक्तिया आठ ही होती है। उनके प्रयोग निम्न प्रकार से दिए गए है, जैसे कि—

१. निर्देश—प्रातिपादिक शब्दो के अर्थमात्र का जो प्रतिपादन है, वह निर्देश कहलाता है। इस निर्देश मे प्रथमा विभक्ति होती है। क्रिया करने में जो स्वतत्र हो, वह कर्त्ता है। कर्त्ता के प्रति जो निर्देश किया जाता है, उसमे प्रथमा विभक्ति प्रयुक्त होती है, जैसे कि सः अयम्, अहम् आदि। जब कोई व्यक्ति किसी दूरस्थ व्यक्ति को कुछ कहता है, तब कहा जाता है कि "वह क्रिया करता है।" जब वह निकटस्थ व्यक्ति को कहता है, तब कहा जाता है—"यह क्रिया करता है" और जब वक्ता अपनी ओर सकेत करके कहता है, तब कहा जाता है कि मैं क्रिया करता हू। कर्त्ता के प्रति इसी सकेत विशेष को निर्देश कहते हैं।

२ उपदेशन—उपदेश मे द्वितीया होती है, जैसे कि प्रत्यक्षवर्ती शास्त्र को पढो और यह कार्य करो तथा परोक्षवर्ती अमुक सूत्र को पढो और अमुक कार्य करो। इसी तरह किसी को आज्ञा देना, उपदेश करना भी उपदेशन विभक्ति है। उपलक्षण से वह "पानी" पीता है। मै "पुस्तक" पढता हू। इन वाक्यो मे भी द्वितीया का प्रयोग किया गया है, पानी और पुस्तक कर्म है। कर्त्ता क्रिया के द्वारा जिस वस्तु को पाना चाहता है, उसे कर्म कहा जाता है।

३. करण—क्रिया की सिद्धि मे जो वस्तु साधन रूप हो उसे करण कहते हैं। जैसे कि—धन्न

गार ने सयम और तप से देवत्व को प्राप्त किया। वह कलम से लिखता है। यहा सयम, तप और कलम, ये तीन कार्य-सिद्धि मे साधकतम है, अत· इन्हें करण कहा जाता है। करण में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। **तेन शकटेन सस्य नीतं, मयाकुण्डं कृतम्** आदि।

४. **सप्रदान**—जिसके लिए क्रिया की जाती है, उसे सप्रदान कहते है। जैसे वह भिक्षु के लिये भोजन देता है। उपलक्षण से नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अल, वषट् आदि शब्दों के योग में भी चतुर्थी विभक्ति होती है। **अर्हते नमः, धर्माय स्वस्ति, इन्द्राय स्वाहा, गुरुभ्यः स्वधा, पुरुषायालं युवतिः, अग्नये वषट्, सर्वस्मै हितम्** इत्यादि। सप्रदान मे चतुर्थी का प्रयोग किया जाता है। अन्य निमित्त के योग से भी चतुर्थी का प्रयोग होता है।

५. **अपादान**—जहां एक वस्तु दूसरी वस्तु से अलग होती हो, उसे अपादान कहते हैं। इसमें पचमी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है, जैसे वृक्ष से पत्ता गिरता है। वह धर्म से भ्रष्ट होता है। राम कर्मो से सर्वथा मुक्त हो गए, अमुक साधु-ससार व्यवहार से विमुक्त हो गया। इन वाक्यों में वृक्ष, धर्म कर्म, ससार शब्द अपादान ही हैं।

६. **सम्बन्ध**—जहां दो वस्तुओ मे परस्पर संबन्ध बताया गया हो, उसे सम्बन्ध विभक्ति कहते है। इसमे षष्ठी का प्रयोग किया जाता है। जैसे कि इन्द्रभूति भगवान महावीर के ज्येष्ठ शिष्य थे। राम दशरथ राजा के पुत्र थे। यह उसका सेवक है। इस प्रकार स्वामी-सेवक का सबन्ध दर्शाना ही सम्बन्ध है।

७. **अधिकरण**—आधार को अधिकरण कहते है, जैसे कि वृक्ष पर पक्षी बैठा है। काल और भाव मे भी सप्तमी का प्रयोग किया जाता है, जैसे मधौ रमते, यह काल मे सप्तमी विभक्ति का प्रयोग है। चारित्रेऽवतिष्ठते, यह भाव मे सप्तमी विभक्ति का प्रयोग है।

८. **आमंत्रणी**—जिसको सम्बोधित करके बुलाया जाए, उसे आमत्रणी कहते है। जैसे कि 'हे राम! हे युवन्! हे साधो!' आदि प्रथमा में जो प्रत्यय प्रयुक्त होते है, वे ही प्रत्यय आमत्रणी मे प्रयोग किए जाते है। फिर भी व्यवहार मे अन्य विभक्तियों से यह अपना काम स्वतत्र करती है इसी लिये यह आठवी विभक्ति कही गई है, इसे सम्बोधन भी कहते है।

सूत्रकार ने सक्षेप से कारक-प्रकरण का दिग्दर्शन कराया है। इसका वितृस्त वर्णन शाकटायन आदि व्याकरण ग्रन्थो मे देखना चाहिए।

छद्मस्थ और केवली-ज्ञेय का विषय

मूल—अट्ठ ठाणाइं छउमत्थे णं सव्वभावेणं ण जाणइ, न पासइ, तं जहा—धम्मत्थिकायं जाव गंधं, वायं।

एयाणि चेव उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली जाणइ, पासइ, जाव गंधं, वायं ।२१।

छाया—अष्ट स्थानानि छद्मस्थः सर्वभावेन न जानाति, न पश्यति, तद्यथा—धर्मास्तिकायं यावद् गन्धं, वातम् ।

एतान्येव उत्पन्नज्ञानदर्शनधरोऽर्हन् जिनः केवली जानाति, पश्यति, यावद् गन्धं वातम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आठ स्थानों को छद्मस्थ आत्मा सर्व प्रकार से न जानता है और न ही देखता है, यथा—धर्मास्तिकाय से लेकर गन्ध और वायु तक आठ पदार्थों का ।

इन्हीं धर्मास्तिकाय यावत् गन्ध और वायु के स्वरूप को उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक अर्हन्, जिन और केवली सर्वतोभावेन जानते और देखते है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे विभक्तियों का वर्णन किया गया है। विभक्तियुक्त भाषा अर्थात् श्रुत की आवश्यकता छद्मस्थ अवस्था तक ही रहती है, छद्मस्थ अवस्था को पार करते ही महासाधक सर्वज्ञ हो कर विना श्रुतज्ञान के ही सब कुछ जानने मे समर्थ हो जाता है। अतः प्रस्तुत सूत्र में छद्मस्थ की ज्ञान-सीमा और केवली भगवान की अनन्तज्ञानवत्ता का वर्णन किया गया है, जैसे कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अशरीरी आत्मा तथा परमाणुपुद्गल, शब्द, गन्ध और वायु। इन मे से पहले चार पदार्थ अरूपी एवं अमूर्त हैं, और अन्तिम चार पदार्थ रूपी एव मूर्त हैं। छद्मस्थ जीव इन आठ का प्रत्यक्ष सर्वतोभावेन नही कर सकता है, भले ही वह अणुवीक्षणयन्त्र का प्रयोग कर ले।

अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान इन आठ पदार्थों का यत्किंचित् प्रत्यक्ष तो कर सकते है, किन्तु सर्वभाव से वे भी इनका प्रत्यक्ष करने में असमर्थ ही है। केवलज्ञानी ही इन को सर्वभाव से जानता और देखता है।

आयुर्वेद के आठ रूप

मूल—अट्ठविहे आउवेए पण्णत्ते, तं जहा—कुमारभिच्चे, कायतिगिच्छा, सालाई, सल्लहत्ता, जंगोली, भूयवेज्जा, खारतंते, रसायणे ।२२।

छाया—अष्टविधः आयुर्वेदः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—कौमारभृत्यं, कायचिकित्सा, शालाक्यं, शल्यहत्यं, जगोली, भूतविद्या, क्षारतन्त्रं, रसायनम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आयुर्वेद आठ प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—कुमारों की चिकित्सा का शास्त्र, काय-चिकित्सा, कण्ठ से ऊपर के रोगों की चिकित्सा, शल्योद्धरण, सर्प आदि के दंश की चिकित्सा, भूत, यक्षादि के निग्रह की चिकित्सा, वीर्य वृद्धि बतानेवाला शास्त्र, रसायन-चिकित्सा।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में छद्मस्थ ज्ञेय और अछद्मस्थ की ज्ञान-विस्तार-सीमा का वर्णन किया गया है, लौकिक क्षेत्र में ज्ञानाधार शरीर है और उस की रचना मे पूर्वोक्त आठो पदार्थ कारण है। शरीरस्थ आत्मा तभी छद्मस्थावस्था से ऊपर उठ कर ज्ञान का विस्तार कर सकता है यदि वह स्वस्थ है, अस्वस्थ आत्मा में ज्ञान-विस्तार की शक्ति का विकास नही हो सकता। शारीरिक स्वस्थता का विधायक शास्त्र आयुर्वेद को ही माना गया है, अतः प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार आयुर्वेद के आठ अगो का परिचय देते है। जिस शास्त्र मे शरीर को नीरोग और पुष्ट रखने का मार्ग बताया गया है, उसे आयुर्वेद कहते हैं अथवा जो जीवन-तत्त्व को जानता है और उस की रक्षा का उपाय भी बताता है, उसे आयुर्वेद कहा जाता है। दूसरे शब्दों मे चिकित्सा-शास्त्र को आयुर्वेद कहते हैं। चिकित्सा शास्त्र के जितने भी प्रकार है, उन सब का अन्तर्भाव उक्त आठ प्रकारों मे ही हो जाता है। उन का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है, जैसे कि—

१. कुमारभृत्य—जिस शास्त्र में सब तरह के बाल-रोगों का निदान, क्षीर-दोष का सशोधन, रोगों का उपशमन, बच्चों के भरण-पोपण के लिये कौन सी औषधि, कितने परिमाण मे कितने समय के बाद देनी चाहिए ? इन सब बातो का वर्णन हो, उसे "कुमारभृत्य चिकित्साशास्त्र" कहा गया है।

२. कायचिकित्सा—ज्वर, प्रमेह, अतिसार, रक्तविकार, शोथ अर्थात् सूजन, उन्माद, कुष्ठ इत्यादि व्याधियों को दूर करने का विधि-विधान बताने वाला चिकित्सा शास्त्र।

३. शालाक्य—गले से ऊपर कान, आंख, नाक, मुंह आदि अवयवों की व्याधिया—जिनकी चिकित्सा के लिये सलाई जैसे उपकरणों की आवश्यकता पड़ती हो, उसका ज्ञान करानेवाले शास्त्र को 'शालाक्य-तन्त्र' कहा जाता है।

४. शल्यहत्या—किसी के शरीर मे तिनका, लकड़ी, पत्थर, धूल, लोह, हड्डी, काटा इत्यादि निमित्तो से उत्पन्न हुई अगपीड़ा को दूर करने के उपाय बतानेवाले चिकित्सा-शास्त्र को 'शल्य-हत्या'

कहा गया है।

५. जंगोली—विषनाशक औषध विशेष को जगोली कहा जाता है। जिस चिकित्साशास्त्र में सांप, बिच्छू आदि के विष को दूर करने के उपाय, अथवा सखिया, मीठा तेलिया, अफीम इत्यादि से विषाक्त शरीर मे विष उतारने के उपाय अथवा जहर को मारने के उपाय वर्णित हो, वह चिकित्सा शास्त्र जगोली कहलाता है।

६. भूतविद्या— जिस शास्त्र मे भूत, पिशाच, यक्ष, राक्षस देव, असुर आदि के द्वारा अभिभूत व्यक्ति को शान्ति और स्वस्थता के लिये विद्या-प्रयोग करने की रीति-नीति या उपाय करने का ढग बतलाया गया हो उसके अनुसार उसका उपचार करना 'भूतविद्या' कहलाती है।

७. क्षारतंत्र—इस शास्त्र में वीर्यवृद्धि के उपाय बतलाए गए है। वीर्य के क्षरण को क्षार कहते हैं। जिस ग्रन्थ में इस विषय का वर्णन हो उसे क्षारतत्र कहते है। सुश्रुत आदि ग्रन्थो मे इसे वाजीकरण तत्र कहा जाता है। उसका भी अर्थ यही है कि जिस मनुष्य का वीर्य क्षीण हो गया है वीर्य बढाकर उसे हृष्ट-पुष्ट करना। जो पुरुष होकर नामर्द या नपुसक हो जाते है, उनका उपचार इसी तन्त्र के आधार से किया जाता है।

८. रसायन—रस का अर्थ है अमृत और आयन का अर्थ है प्राप्ति, अर्थात् जिससे अमृत की प्राप्ति हो, उसे रसायने कहते है। रसायन के प्रयोग से बुढापा जल्दी नही आता, बुद्धि बढ़ती है और आयु की गति ठीक चलती है तथा रोगो का अपहरण होता है। रसायन के निर्माण और प्रयोग की विधि बताने वाला शास्त्र रसायन-तन्त्र कहलाता है।

आज ऐलोपैथिक चिकित्सा के विस्तार और उसकी सद्य: प्रभावशीलता को देख कर प्राय लोग कहने लग गए है कि भारतीय आयुर्वेद चिकित्सा अपूर्ण है, परन्तु चिकित्सा-शास्त्र के अङ्गो का उपर्युक्त विभाग यह प्रमाणित करता है कि भारतीय आयुर्वेद किसी युग मे पूर्ण समर्थ एव सर्वतो-मुखी चिकित्सा के विस्तार से पूर्ण था, परन्तु विदेशी आक्रमणो ने उस विद्या के ज्ञाताओ को नष्ट कर दिया, उसके ग्रन्थो को जलाकर भस्मसात् कर दिया, अत वह नष्ट-सा हो गया है। यदि उसके उपर्युक्त आठो अगों का पुनः प्रचार-प्रसार और विश्लेषण हो सके, तो आज भी वह सभी चिकित्सा-पद्धतियो से श्रेष्ठ प्रमाणित हो सकता है।

आठ-आठ महिषियों और महाग्रहों वाले इन्द्र

मूल—सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो अट्ठ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

पउमा, सिवा, सई, अंजू, अमला, अच्छरा, णवमिया, रोहिणी।

ईसाणस्स णं देविंदिस्स देवरन्नो अट्ठ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

कण्हा, कण्हराई, रामा, रामरक्खिया, वसू, वसुगुत्ता, वसुमित्ता, वसुंधरा।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो अट्ठ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ।

ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो वेसमणस्स महारन्नो अट्ठ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ।

अट्ठ महग्गहा पण्णत्ता, तं जहा—चंदे, सूरे, सुक्के, बुहे, बहस्सई, अगारे, सणिचरे, केऊ।२३।

छाया—शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य अष्टाग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पद्मा, शिवा, शची, अञ्जू, अमला, अप्सरा, नवमिका, रोहिणी।

ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य अष्टाग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृष्णा, कृष्णराजी, रामा, रामरक्षिता, वसूः, वसुगुप्ता, वसुमित्रा, वसुन्धरा।

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य अष्ट अग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः।

ईशानस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य वैश्रमणस्य महाराजस्य अष्टाग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः।

अष्ट महाग्रहाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चन्द्रः, सूर्यः, शुक्रः, बुधः, बृहस्पतिः, अङ्गारकः, शनैश्चर, केतुः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—शक्रेन्द्र देवेन्द्र देवराज के आठ अग्रमहिषियां कथन की गई है, यथा—पद्मा, शिवा, शची, अञ्जू, अमला, अप्सरा, नवमिका, रोहिणी।

ईशान देवेन्द्र देवराज की आठ अग्रमहिषियां कथन की गई है, जैसे—कृष्णा, कृष्णराजी, रामा, रामरक्षिता, वसु, वसुगुप्ता, वसुमित्रा, वसुन्धरा।

शक्र देवेन्द्र देवराज के सोम लोकपाल की आठ अग्रमहिषियां कथन की गई हैं।

ईशान देवेन्द्र देवराज के वैश्रमण महाराज की आठ अग्रमहिषियां कथन की गई है।

आठ महाग्रह वर्णन किये गए है, यथा—चन्द्रमा, सूर्य, शुक्र, बुध, बृहस्पति, अगारक अर्थात् मंगल, शनैश्चर और केतु।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में आयुर्वेद का वर्णन किया गया है और आयुर्वेद के द्वारा देवों की तरह निरुपक्रम आयु हो जाती है, अतः प्रस्तुत सूत्र में देव और देवियों के विषय में निरूपण किया गया है। शक्र देवेन्द्र की आठ मुख्य देवियां है। प्रत्येक पट्टदेवी का १६०००, १६००० देवी परिवार है। इन के परिवार का वर्णन भगवती सूत्र के शतक १०वे और उद्देशक पांचवे तथा इनके पूर्वजन्म का वृत्तान्त ज्ञातासूत्र के धर्मकथा नामक दूसरे श्रुतस्कन्ध में विस्तार से वर्णित है।

ईशान देवेन्द्र की भी आठ पट्टदेवियां है और शक्रेन्द्र के लोकपाल सोम महाराजा की भी आठ अग्रमहिषियां हैं। ईशानेन्द्र के वैश्रवण नामक लोकपाल की भी आठ अग्रमहिषी देविया हैं। देवियों के नामों का निर्देश मूलार्थ मे किया जा चुका है।

आठ महाग्रह कथन किए गए हैं, जैसे कि चन्द्र, सूर्य, शुक्र, बुध, बृहस्पति, मगल, शनिश्चर और केतु। यहां आठवे स्थान के अनुरोध से राहु का नामोल्लेख नही किया गया। किसी भी राशि में अधिक से अधिक आठ महाग्रह एकत्रित हो सकते हैं, नौ नही सम्भव है। इसी दृष्टि से यहा आठ ग्रहों के नाम दिए गए हो।

इन ग्रहो की गति से मनुष्य दुःख-सुख प्राप्त करते हैं। यह वर्णन व्यावहारिक दृष्टि को लेकर कथन किया गया है। इस से ज्योतिषचक्र का वर्णन तथा गणित एव फलित की भी ध्वनि निकलती है, क्योंकि ज्ञातासूत्र के आठवें अध्ययन में भगवान मल्लि जी के जन्मसमय के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि उनके जन्म के समय ये आठों ग्रह उच्च स्थान में आए हुए थे। जीवाभिगम सूत्र में यह पाठ विद्यमान है कि ग्रहों की गति के कारण से मनुष्य दुःख-सुख प्राप्त करते है। वृत्तिकार भी लिखते हैं—"महाग्रहाश्च मनुष्य-तिरश्चामुपघातानुग्रहकारिणो......"। ये महाग्रह मनुष्य और तिर्यञ्चो का उपघात और अनुग्रह करनेवाले होते है।

इन ग्रहों का पूर्ण विवर्ण चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि आगमो से तथा ज्योतिष ग्रन्थो से जानना चाहिए।

आठ प्रकार की तृण-वनस्पति

मूल—अट्ठविहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता, तं जहा—मूले, कंदे, खंधे, तया, साले, पवाले, पत्ते, पुप्फे।२४।

छाया—अष्टविधास्तृणवनस्पतिकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मूलं, कन्दः, स्कन्धः, त्वक्, शाला, प्रवालः, पत्रं, पुष्पम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आठ प्रकार की तृणवनस्पतिकाय वर्णन की गई है, जैसे—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र और पुष्प ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र के अन्तिमांश में महाग्रहों का वर्णन किया गया है। महाग्रह अन्य प्राणियों के समान वनस्पतियो का भी उपघात एव विकास करते है। सूर्य-चन्द्र का तो वनस्पतियों पर सीधा प्रभाव पड़ता है सूर्योदय के साथ कमलो के विकास और चन्द्रोदय के साथ कुमुदो के खिल उठने की घटना हम प्रतिदिन देखते ही है, अत: सूत्रकार महाग्रहो के वर्णन के अनन्तर अब अष्टविध वनस्पतियों का वर्णन करते है। वनस्पतियो के आठ भेद है, जैस कि—मूल अर्थात् जड़े, कन्द अर्थात् उगकर सीधा बाहर आने वाला अकुर, स्कन्ध—वृक्ष का स्थूल भाग जहां से शाखाए निकलती हैं, त्वक्—ऊपर की छाल, शाखाए, प्रवाल अर्थात् कोपलें, पत्र और पुष्प। ये आठ स्थूल वनस्पति के भेद दिखलाए गए है।

जिन वृक्षो मे फल और बीज नही होते, प्रस्तुत सूत्र में उन वनस्पतियो का ही वर्णन किया गया है।[1] इसीलिये फल और बीज रूप अगो का उल्लेख यहा नही किया गया।

चतुरिन्द्रिय संबन्धित संयम और असंयम

मूल—**चउरिंदिया णं जीवा असमारभमाणस्स अट्ठविहे संजमे कज्जइ, तं जहा—चक्खुमयाओ सोक्खाओ अववरोवित्ता भवइ, चक्खुमएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवइ। एवं जाव फासामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, फासामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवइ।**

चउरिंदिया णं जीवा समारभमाणस्स अट्ठविहे असंजमे कज्जइ, तं जहा-चक्खुमयाओ सोक्खाओ ववरोवेत्ता भवइ, चक्खुमएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवइ। एवं जाव फासामयाओ सोक्खाओ० ।२५।

छाया—चतुरिन्द्रियान् जीवान् असमारभमाणस्य अष्टविधः संयमः क्रियते, तद्यथा—चक्षुर्मयात् सौख्याद् अव्यपरोपयिता भवति, चक्षुर्मयेन दुखेन असंयोजयिता भवति, एवं यावत्स्पर्श-मयात् सौख्याद् अव्यपरोपयिता भवति, स्पर्शमयेन दु:खेनासंयोजयिता भवति।

चतुरिन्द्रियान् जीवान् समारभमाणस्य अष्टविधोऽसंयमः क्रियते, तद्यथा—चक्षुर्मयाल्

1. विशेष वर्णन के लिये देखिए—प्रज्ञापना सूत्र का प्रथम पद और भगवतीसूत्र का ग्यारहवा शतक।

सौख्याद् व्यपरोपयिता भवति, चक्षुर्मयेन दुःखेन संयोजयिता भवति। एवं यावत् स्पर्शमयात् सौख्यात्।

शब्दार्थ—चउरिंदिया णं जीवा—चतुरिन्द्रिय जीवों का, असमारभमाणस्स—समारम्भ न करनेवाला; अट्ठविहे—आठ प्रकार का; संजमे कज्जइ—सयम करता है; तं जहा—जैसे—चक्खुमयाओ सोक्खाओ—चक्षु के सुख का; अववरोवित्ता भवइ—विनाश करनेवाला नही होता; चक्खुमएणं दुक्खेण चक्षुसम्बन्धी दु.ख को, असजोएत्ता भवइ—उत्पन्न नही करता, एवं—इसी प्रकार; जाव—यावत्; फासामयाओ सोक्खाओ—स्पर्शनेन्द्रियसम्बन्धी सुख का; अववरोवेत्ता भवइ—विनाश नही करता; फासामएण दुक्खेण—स्पर्शनेन्द्रियसम्बन्धी दुःख को; असजोगेत्ता भवइ—उत्पन्न नही करता।

चउरिंदिया ण जीवा—चतुरिन्द्रिय जीवों का; समारभमाणस्स—समारम्भ करने वाला; अट्ठविहे असंजमे कज्जइ—आठ प्रकार का असयम करता है; तं जहा—यथा; चक्खुमयाओ सोक्खाओ—चक्षुसम्बन्धी सुख का, ववरोवेत्ता भवइ—विनाश करता है; चक्खुमएणं दुक्खेण—चक्षुसम्बन्धी दुःख का, सजोगेत्ता भवइ—उत्पन्न करनेवाला होता है, एवं जाव—इसी प्रकार यावत्; फासामयाओ सोक्खाओ—स्पर्शनेन्द्रिय के सुख का विनाश करता है।

मूलार्थ - चतुरिन्द्रिय जीवों का समारम्भ अर्थात् हिंसा न करनेवाला साधक आठ प्रकार का संयम करता है, जैसे—उनके चक्षुमय सुख का विनाश नही करता और चक्षुमय दुःख को उत्पन्न नही करता। इसी प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय पर्यन्त तत्सम्बन्धी सुख का विनाश नही करता और तत्सम्बन्धी दुःख को उत्पन्न भी नही करता।

चतुरिन्द्रिय जीवों का समारम्भ करने वाला व्यक्ति आठ प्रकार का असंयम करता है, जैसे—चक्षु सम्बन्धी सुख का नाश करता है और तत्सम्बन्धी दुःख को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय पर्यन्त समझना चाहिये।

विवेचनिका—

विकलेन्द्रिय जीव वनस्पतियो के आश्रय से ही रहते है, अत. प्रस्तुत सूत्र में चतुरिन्द्रिय जीवों की रक्षा करने से आठ प्रकार के सयम का तथा रक्षा न करने से आठ तरह के असयम का निरूपण किया गया है। चतुरिन्द्रिय जीवों की चक्षु, घ्राण, जिह्वा और त्वचा ये चार इन्द्रियां होती हैं। उनके विषय में सयम और असंयम इस प्रकार होता है, जैसे कि—

१. चक्षुर्मय सुख से वियुक्त न करना सयम है ।
२. चक्षुर्मय दुःख से संयुक्त न करना सयम है ।
३. घ्राणमय सुख से वियुक्त न करना सयम है ।
४ घ्राणमय दुःख से सयुक्त न करना सयम है ।
५. जिह्वामय सुख से वियुक्त न करना सयम है ।
६ जिह्वामय दुःख से सयुक्त न करना सयम है ।
७ स्पर्शमय सुख से वियुक्त न करना सयम है ।
८. स्पर्शमय दुःख से सयुक्त न करना सयम है ।

चतुरिन्द्रिय सवन्धी आठ प्रकार का असयम इस प्रकार है :—

१. चक्षुर्मय सुख से वियुक्त करना असंयम है ।
२. चक्षुर्मय दुःख से सयुक्त करना असयम है ।
३. घ्राणमय सुख से वियुक्त करना असयम है ।
४. घ्राणमय दुःख से सयुक्त करना असयम है ।
५ जिह्वामय सुख मे वियुक्त करना असयम है ।
६ जिह्वामय दुःख से सयुक्त करना असयम है ।
७. स्पर्शमय सुख से वियुक्त करना असयम है ।
८. स्पर्शमय दुःख से सयुक्त करना असयम है ।

साराश यह कि प्राणियो के लिये सुख की प्राप्ति का प्रयत्न और दुःख के विनाश का यत्न ही सयम है । इससे विपरीत सुख का विनाश तथा दुःख की प्राप्ति असंयम है । इन्द्रियो की रक्षा करना सयम है और उनकी रक्षा न करना असयम है । सयम और असयम जीवों की रक्षा और अरक्षा पर निर्भर है ।

अष्ट-सूक्ष्म

मूल—अट्ठ सुहमा पण्णत्ता, तं जहा—पाणसुहुमे, पणगसुहुमे, बीयसुहुमे, हरियसुहुमे, पुप्फसुहुमे, अंडसुहुमे, लेणसुहुमे, सिणेहसुहुमे ।२६।

छाया—अष्ट सूक्ष्माणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—प्राणसूक्ष्मं, पनकसूक्ष्मं, बीजसूक्ष्मं, हरितसूक्ष्मं, पुष्पसूक्ष्मं, अण्डसूक्ष्मं, लेनसूक्ष्मं, स्नेहसूक्ष्मं ।

शब्दार्थ—अट्ठ सुहुमा पण्णत्ता, तं जहा—आठ प्रकार के सूक्ष्म जीव कथन किये गए है, जैसे; पाणसुहुमे—प्राणीसूक्ष्म; पणगसुहुमे—निगोदसूक्ष्म; बीयसुहुमे—बीजसूक्ष्म; हरियसुहुमे—हरितसूक्ष्म, पुप्फसुहुमे—पुष्पसूक्ष्म, अंडसुहुमे—अण्डसूक्ष्म; लेणसुहुमे—लेनसूक्ष्म; सिणेहसुहुमे—स्नेहसूक्ष्म अर्थात् ओस, धुन्ध आदि सूक्ष्म ।

मूलार्थ—आठ प्रकार के सूक्ष्म जीव कथन किये गए है, जैसे–प्राणिसूक्ष्म कुन्थु आदि। पनकसूक्ष्म–पांच प्रकार की नीलन-फूलन–निगोद। बीजसूक्ष्म, हरितसूक्ष्म–वनस्पति सूक्ष्म, पुष्प-सूक्ष्म, अण्डसूक्ष्म, लयन–कीटिका नगर आदि, स्नेह सूक्ष्म–ओस, धुन्ध आदि।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में वर्णित संयम और असंयम सूक्ष्म जीवों के आश्रित करके भी होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे जिन जीवों की गणना की गई है, वे स्थूल होते हुए भी अपेक्षाकृत सूक्ष्म हैं। बहुत मिले हुए होने के कारण या छोटे परिमाणवाले होने के कारण जो जीव दृष्टि में नहीं आते या कठिनता से दृष्टिगोचर होते है, व्यवहार दृष्टि से उन्हे भी सूक्ष्म कहा जाता है। उनका विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि—

१. प्राणिसूक्ष्म—जो त्रस प्राणी चलते हुए ही दीखते हैं, स्थिर होने पर नही। वे प्राणिसूक्ष्म कहलाते है, जैसे कुन्थु आदि।

२. पनकसूक्ष्म—वर्षाकाल में भूमि, काठ आदि पर होने वाली पांच रगों की लीलन-फूलन हो जाया करती है, उसे पनक-सूक्ष्म अर्थात् निगोद भी कहते हैं।

३. बीज-सूक्ष्म—इसका अर्थ होता है बींज का मुखमूल, जिससे अकुर उत्पन्न होता है। इसी को लोक में तुषमुख भी कहते है।

४. हरितसूक्ष्म—नवीन उत्पन्न हुई वनस्पति जो कि पृथिवी के समान वर्णवाली हो, उसे हरित-काय सूक्ष्म कहते हैं।

५. पुष्पसूक्ष्म—जो फूल अति छोटे होते है, उन्हें पुष्पसूक्ष्म कहते है, जैसे कि बड़, शिंशप आदि के फूल।

६. अंडसूक्ष्म—जो अतिसूक्ष्म अडे होते है उन्हें अण्डसूक्ष्म कहते है जैसे कि—कीड़ी, छिपकली, मक्खी, गिरगिट आदि के अडे अत्यन्त सूक्ष्म होते है।

७. लेनसूक्ष्म—लेन शब्द का अर्थ होता है कीड़ियों का भवन—चीटियों की बाम्बी। उसमें अन्य सूक्ष्म जीव भी रहते है। लेन के स्थान पर लयन शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। लयन में रहनेवाले जीव लयनसूक्ष्म कहलाते है।

८. स्नेहसूक्ष्म—ओस, धुन्ध इत्यादि सूक्ष्म जल को स्नेहसूक्ष्म कहा जाता है। इन सूक्ष्म जीवो की उपयोग-पूर्वक यतना करने से सयम की वृद्धि होती है और इनकी रक्षा न करने से असयम बढता है। अतः अहिंसा-व्रतधारी साधक को इन सूक्ष्म जीवो की रक्षा का प्रयत्न अवश्य करते रहना चाहिए।[1]

1. विशेष वर्णन के लिये देखिये दशवैकालिक सूत्र ८।१५

चक्रवर्ती भरत के मोक्षगामी वंशज

मूल—भरहस्स णं रन्नो चाउरंत चक्कवट्टिस्स अट्ठ पुरिसजुगाइं अणुबद्धं, सिद्धाइं, जाव सव्वदुक्खप्पहीणाइं, तं जहा–आदिच्चजसे, महाजसे, अइबले, महाबले, तेयवीरिये, कत्तवीरिए, दंडवीरिए, जलवीरिए ।२७।

छाया—भरतस्य खलु राज्ञश्चातुरन्तचक्रवर्तिनोऽष्ट पुरुषयुगानि अनुबद्ध सिद्धानि, यावत् सर्वदुःख-प्रहीणानि, तद्यथा—आदित्ययशः, महायशः, अतिबल, महाबलः, तेजोवीर्यः, कार्त्तवीर्यः, दण्डवीर्यः, जलवीर्यः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—चातुरन्त चक्रवर्ती महाराज भरत के क्रमस्थित आठ पुरुष-युग निरन्तर सिद्ध हुए यावत् सब दुःखों से रहित हुए, जैसे कि–आदित्ययश, महायश, अतिबल, महावल, तेजोवीर्य, कार्त्तवीर्य, दण्डवीर्य और जलवीर्य ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति का वर्णन किया गया है । असयम-निवृत्ति और सयम-प्रवृत्ति का अतिम परिणाम मोक्ष है, अतः इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि महाराज भरत चक्रवर्ती के बाद क्रमबद्ध आठ पट्टधर महाराजाओं ने सयम और तप से सिद्धगति को प्राप्त किया । जिनके पवित्र नाम है—आदित्ययश, महायश, अतिबल, महाबल, तेजोवीर्य, कार्त्तवीर्य, दण्डवीर्य और जलवीर्य हैं ।

कुछ आचार्यों के अभिमत में नामों का भेद दिखाई देता है, जैसे कि—

"राया आइच्चजसे महाजसे अइबले अ बलभद्दे ।
बलवीरिय कत्तवीरिए जलवीरिए दंडवीरिए य ॥"

इस गाथा के अनुसार मोक्षगामी राजाओं के नाम थे—आदित्ययश, महायश, अतिबल, बलभद्र, बलवीर्य, कार्त्तवीर्य, जलवीर्य और दण्डवीर्य । ये आठ 'पुरुष-युग' कहलाए । वे आठ महाराज क्रमशः सिद्ध हुए यावत् सब दुखो से रहित हुए । जिनका कोई कार्य करना शेष नही रह जाता, उन्हें कृतकृत्य या सिद्ध कहते है । 'जाव' पद से बुद्धाइं, मुक्काइं, परिनिव्वुडाइं, पद ग्रहण किए जाते है । जो केवल ज्ञान रूपी आलोक से आलोकित हो गए है उन्हे बुद्ध कहते है । जो कर्मों से सर्वथा मुक्त हो गए है, वे मुक्त कहलाते है । समस्त कर्म कृत विकारो से जो शीतलीभूत हो गए है, वे परिनिवृत्त कहलाते हैं । जिनके सर्व दुःख क्षय हो गए है, उन्हे सर्वदुःख-प्रहीण कहा जाता है । ये सब सिद्धों के विशेषण है । सयम और तप का अतिम परिणाम सिद्धत्व-प्राप्ति ही है ।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के गण और गणधर

मूल—पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणियस्स अट्ठ गणा, अट्ठ गणहरा होत्था, तं जहा–सुभे, अज्जघोसे, वसिट्ठे, बंभयारी, सोमे, सिरिधरे, वीरिए, भद्दजसे ।२८।

छाया—पार्श्वस्य अर्हतः पुरुषादानीयस्य अष्ट गणाः, अष्टगणधराः अभवन्, तद्यथा—शुभः, आर्यघोषः, वसिष्ठः, ब्रह्मचारी, सोमः, श्रीधरः, वीर्यः, भद्रयशः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—पुरुषादानीय अर्थात् पुरुषों में पूज्य अरिहन्त भगवान पार्श्वनाथ के आठ गण थे और आठ गणधर थे, यथा–शुभ, आर्यघोष, वशिष्ठ, ब्रह्मचारी, सोम, श्रीधर, वीर्य और भद्रयश ।

विवेचनिका—

सयमवानो के अधिकार को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकर्ता ने सयमवान गण और गणधरों का उल्लेख किया है । २३वे तीर्थङ्कर भगवान पार्श्वनाथ के आठ गण और आठ ही गणधर थे । उनके पुनीत नाम हैं—शुभ, आर्यघोष, वशिष्ठ, ब्रह्मचारी, सोम, श्रीधर, वीर्य और भद्रयश ।

सूत्रकार ने भगवान पार्श्वनाथ के साथ—"पुरिसादाणियस्स" विशेषण दिया है, जिनका भाव है कि भगवान पार्श्वनाथ जी पुरुषो में सबसे अधिक उपादेय थे । 'पुरुषाणां मध्ये-आदीयत इत्यादानीय उपादेय इत्यर्थः"—पुरुषो द्वारा उपादेय का अर्थ है मानव जाति के मान्य महापुरुष ।

गण शब्द का अर्थ है—एक जैसी क्रिया करनेवाले सर्वविरति तथा एक जैसी वाचना लेनेवाले साधुओं का समुदाय, जिसे कक्षा भी कहते हैं ।

गणधर का अर्थ है—तीर्थङ्कर भगवान के प्रधान शिष्य । यद्यपि आवश्यक की वृत्ति मे भगवान पार्श्वनाथ के दस गणधर माने गए है और कहा गया है कि उनमे दो गणधर अल्पायुवाले हुए है । इसी कारण उनकी गणना यहां नही की गई, किन्तु यह समाधान युक्ति-सगत नही है, क्योंकि स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग और कल्प इन तीन सूत्रो मे गणधरों की संख्या आठ ही वताई गई है । वृत्ति से आगम प्रमाण बलवान होता है, अतः उनके गणधरो की सख्या आठ ही समझनी चाहिए ।

अष्टविध-दर्शन

मूल—अट्ठविहे दंसणे पण्णत्ते, तं जहा–सम्मदंसणे, मिच्छद्दंसणे, सम्मामिच्छ-दंसणे, चक्खुदंसणे जाव केवलदंसणे, सुविणदंसणे ।२९।

छाया—अष्टविधं दर्शनं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन, सम्यग्-मिथ्यादर्शनं, चक्षु-दर्शन, यावत्केवलदर्शन, स्वप्नदर्शनम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दर्शन आठ प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे–सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन, सम्यग्-मिथ्यादर्शन अर्थात् मिश्रदर्शन, चक्षुदर्शन से लेकर केवलदर्शन और स्वप्नदर्शन तक ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे गणधरो का वर्णन किया गया है। वे सभी गणधर सम्यग्दर्शन मे सपन्न होते है, अतः प्रस्तुत सूत्र में आठ दर्शनों का वर्णन किया गया है।

दर्शन शब्द के अनेक अर्थ है, जैसे कि नेत्रो के द्वारा होनेवाला ज्ञान, किसी देवता या महापुरुष का साक्षात्कार, वह शास्त्र-विद्या जिससे ससार के सभी पदार्थों के कार्य-कारण भाव के सम्बन्ध एव तत्त्वो आदि का बोध हो। आख, बुद्धि एव धर्म को भी दर्शन कहा जाता है। इन्ही बातों से सम्बन्धित आठ प्रकार के दर्शनो का प्रस्तुत सूत्र में उल्लेख किया गया है, जैसे कि—

१. सम्यग्दर्शन—सम्यक् तत्त्वो पर दृढ निश्चय ही सम्यग्दर्शन कहलाता है अथवा ससार के प्रत्येक पदार्थ का यथार्थ ज्ञान।
२. मिथ्यादर्शन—वस्तु-तत्त्व से विपरीत श्रद्धान एव भ्रम-युक्त ज्ञान ।
३ मिश्रदर्शन—वस्तु-तत्त्व का कुछ सत्य और कुछ मिथ्या श्रद्धान एव परिज्ञान ।
४ चक्षुर्दर्शन—नेत्रो के द्वारा वस्तु का दर्शन होना ।
५. अचक्षुर्दर्शन—अन्य इन्द्रियो के द्वारा वस्तु का ज्ञान होना ।
६. अवधिदर्शन—इन्द्रियो और मन के अतिरिक्त रूपी पदार्थो का प्रत्यक्ष होना ।
७. केवलदर्शन—रूपी और अरूपी सभी पदार्थों का यथार्थ साक्षात्कार होना ।
८. स्वप्नदर्शन—निद्रावस्था मे चिन्त्य-अचिन्त्य पदार्थों का प्रत्यक्ष होना ।

उपर्युक्त आठ प्रकार के दर्शनो मे से पहले तीन दर्शन श्रद्धा से सबन्धित है। विश्व के सभी मत-मतान्तर एव दर्शनशास्त्र विषयक निष्ठाओ का अतर्भाव उक्त तीनो मे हो जाता है। चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन दो ये सामान्य इन्द्रिय-जन्य दर्शन के वाचक है। अवधिदर्शन और केवलदर्शन का सम्बन्ध आध्यात्मिक शक्ति से है। जिस महासाधक ने अपनी आध्यात्मिक शक्तियो का विकास कर लिया है वही अवधिदर्शन और केवलदर्शन प्राप्त कर सकता है। स्वप्नदर्शन का अतर्भाव यद्यपि अचक्षुदर्शन मे हो हो जाता है, तथापि उपाधि भेद से इसकी गणना पृथक् की गई है।

जब तक साधक आत्मा सम्यग्दर्शन सम्पन्न नही होता, तब तक यह निर्वाणपद के योग्य नही हो सकता। आत्मविकास एव कल्याण-परम्परा का यदि कोई मुख्य साधन है, तो वह सम्यग्दर्शन तथा केवल दर्शन ही है।

औपमिक काल

मूल—अट्ठविहे अद्धोवमिए पण्णत्ते, तं जहा—पलिओवमे, सागरोवमे, उस्सप्पिणी, ओसप्पिणी, पोग्गलपरियट्टे, तीयद्धा, अणागयद्धा, सव्वद्धा ।३०।

छाया—अष्टविधमद्धौपम्यं प्रज्ञप्तं तद्यथा—पल्योपमं, सागरोपमम्, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, पुद्गलपरिवर्तः, अतीतद्धा अनागताद्धा, सर्वाद्धा ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—उपमा द्वारा समझाया जानेवाला काल आठ प्रकार का है, यथा—पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, पुद्गलपरावर्त्त, अतीताद्धा, अनागताद्धा और सर्वाद्धा ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में अष्टविध दर्शन का वर्णन किया गया है। दर्शन का सम्बन्ध काल से भी सर्वमान्य है, क्योंकि काल-विशेष में ही आत्मा वस्तु-प्रत्यक्ष करता है। अवधि-दर्शन एवं केवल-दर्शन द्वारा साधक ऐसे सुदूर भविष्य मे स्थित पदार्थों का भी दर्शन कर सकता है जिनकी गणना सामान्य गणित नही कर सकता। सामान्य-गणित की प्रक्रियाओ से परे काल की जो महासत्ता है, जहा तक अवधि-दर्शन एवं केवल-दर्शन की ही पहुच हो सकती है, शास्त्रकार अब उस औपमिक काल का परिचय देते है।

जिस काल की गणना बुद्धि के द्वारा नही हो सकती, उसे उपमा के द्वारा जाना जा सकता है। पल्य की उपमा से जिस काल को नापा जाता है, उसे पल्योपम कहते हैं[1]। दस करोडा-करोड[2] पल्यो का एक सागरोपम होता है। दस करोड़ाकरोड़ सागरोपम का एक उत्सर्पिणी काल होता है और इतने ही लम्बे काल को अवसर्पिणी काल कहते हैं। अनत उत्सर्पिणी और अनंत अवसर्पिणी के कालमान को पुद्गलपरावर्तन कहते हैं। अनत-पुद्गलपरावर्तन अतीत काल में बीत

---

१. सात दिन की अवस्था वाले बालक के बालो को इतने छोटे-छोटे भागो मे बांट दिया जाये कि फिर उसके टुकड़े न हो सकें, ऐसे केश-खण्डो से यदि एक योजन लम्बे, एक योजन चौडे और एक योजन गहरे गड्ढे को ठूस-ठूस कर भर दिया जाये और फिर उस गड्ढे मे से सौ-सौ वर्ष के अन्तर मे एक-एक केश-खण्ड को निकाला जाय—जितने समय में वह गड्ढा खाली हो सकेगा, उतने काल को सांस्कृतिक भाषा में पल्योपम कहा जाता है।

२. करोड की संख्या को करोड से गुणा करने पर प्राप्त होनेवाले गुणन-फल को करोड़ाकरोड या कोटा-कोडी कहते हैं।

चुके है और अनत पुद्गलपरावर्तन-काल भविष्यत् के गर्भ में हैं। तीन काल के समयों को मिला कर सर्वाद्धा वनता है। यह काल-चक्र सदाकाल से वीत रहा है और अनंत काल तक बीतता ही रहेगा। अतीत काल अनादि-सान्त है, अनागत काल सादि, अनत और वर्तमान सादि-सन्त है। ससार के सभी जीव और अजीव पदार्थ इस अनन्तानन्त काल-चक्र से प्रभावित एवं सम्बद्ध हैं और रहेगे।

श्री अरिष्टनेमि जी की युगान्तकृद् भूमि

मूल—अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स जाव अट्ठमाओ पुरिसजुगाओ जुगंतकरभूमी दुवासपरियाए अंतमकासी ।३१।

छाया—अर्हतोऽरिष्टनेमेर्यावद् अष्टमपुरुषयुगं युगान्तकरभूमिर्द्विवर्षपर्याये अन्तमाकार्षुः।

शब्दार्थ **अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स**—अरिहन्त अरिष्टनेमिनाथ से; **जाव अट्ठमाओ पुरिसजुगाओ** क्रमस्थित आठवे युग-पुरुष पर्यन्त; **जुगतकरभूमी**—निरन्तर निर्वाण प्राप्त करने वालों का काल था, तथा; **दुवासपरियाए**—उन की केवलज्ञानपर्याय के दो वर्ष होने पर; **अंतमकासी**—मुनि निर्वाण प्राप्त करने लगे।

मूलार्थ—अरिहन्त अरिष्टनेमिनाथ भगवान के आठ शिष्य-प्रशिष्यों तक क्रमशः युगान्तकर-भूमि काल था और भगवान की केवलपर्याय के दो वर्ष पीछे मुनि मोक्ष जाने लगे।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में काल का वर्णन किया गया है। उसी काल के अधिकार को लेकर प्रस्तुत सूत्र मे दो प्रकार की भूमि का वर्णन किया गया है।

प्रत्येक तीर्थङ्कर के शासन में दो तरह की भूमि होती है—एक युगांतकर भूमि और दूसरी पर्यायान्तकर भूमि। तीर्थ कर के निर्वाण होने के बाद जब तक सर्वविरति महापुरुष मोक्ष-पद प्राप्त करते रहते है, तब तक उसे युगान्तकर भूमि नही कहते, किन्तु जिस युग-प्रवर्तक आचार्य के निर्वाण होने के बाद अन्य कोई आचार्य निर्वाण प्राप्त न कर सके, उसे युगान्तकर भूमि कहते है। भगवान् अरिष्टनेमि से लेकर आठवी पीढी तक आचार्य केवल-ज्ञान प्राप्त करके मोक्षगामी होते रहे। उनके वाद अन्य कोई आचार्य या उनके शासन में रहनेवाले साधु-साध्वी वर्ग मे से किसी ने भी निर्वाण-पद प्राप्त नही किया।

पर्यायान्तकर भूमि से अभिप्राय है कि जिस किसी तीर्थङ्कर ने जब से तीर्थ-स्थापन की है, तब से लेकर जितने समय के बाद उस तीर्थ मे से निर्वाण प्राप्त होने लगे, उस काल को पर्यायान्तकर काल कहते है। भगवान अरिष्टनेमि के केवल-ज्ञान प्राप्त करने के दो वर्ष बाद से उनके शासन में सर्वविरति निर्वाण प्राप्त करने लगे, इसीको उनकी पर्यायान्तकर-भूमि कहा गया है। भूमि का अर्थ यहां काल-विशेष है।

यद्यपि अष्टम स्थान के अनुरोध से केवल युगान्तकर-भूमि का ही वर्णन होना चाहिये था, क्योकि उसमें आठ आचार्य मोक्ष प्राप्त करते है, परन्तु सूत्रकार ने सम्बद्ध विषय होने से पर्यायान्तकर भूमि का भी साथ ही वर्णन कर दिया है।

श्रमण महावीर द्वारा दीक्षित आठ राजा

मूल—समणेणं भगवया महावीरेणं अट्ठ रायाणो मुंडे भवेत्ता अगाराओ अणगारियं पव्वाविया, तं जहा—

वीरंगय वीरजसे, संजय एणिज्जए या रायरिसी।
सेय सिवे उदायणे, तह संखे कासिवद्धणे।३२।

छाया—श्रमणेन भगवता महावीरेण अष्टौ राजानो मुण्डान् भावयित्वा आगाराद् अनगारितां प्रव्राजिताः, तद्यथा—

वीराङ्गदो वीरयशः, सञ्जयः एणेयकश्च राजर्षिः।
श्वेतः शिव उदायनः तथा शङ्खः काशिवर्द्धनः॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर ने आठ राजाओ को मुण्डित कर गृहस्थ धर्म से अनगार धर्म में दीक्षित किया, उन राजाओं के नाम इस प्रकार हैं—वीरांगद, वीरयश, सञ्जय, राजर्षि एणेयक, श्वेत, शिव, उदायन और काशी नगर का संवर्द्धक राजा शंख।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में भगवान् अरिष्टनेमि के मोक्ष-गामी आठ शिष्य-प्रशिष्यों का परिचय दिया गया है। इस प्रकार अरिहन्त-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर के शिष्य उन आठ राजाओं का वर्णन किया गया है, जिनको उन्होने स्वयं दीक्षित किया था और जिन्होंने

गृहस्थवास का परित्याग करके भगवान के पास प्रव्रज्या ग्रहण की थी तथा सयम और तप से आत्मा को भावित करके परमपद को प्राप्त किया था। उनके पुनीत नाम है—वीरागद, वीरयश, सजय, राजर्षि एणेयक, श्वेत, शिव, उदायन और शख।

राजर्षि एणेयक के विषय में वृत्तिकार लिखते है :—एणेयको गोत्रत, स च केतकार्द्धजनपद श्वेताम्वी नगरी राजस्य प्रदेशिनाम्नः श्रमणोपासकस्य निजकः कश्चिद् राजर्षिः।" अर्थात् एणेयक यह गोत्रपरक नाम है, एणेयक केतकार्ध प्रदेश की राजधानी श्वेताम्वी नगरी के राजा प्रदेशी का कोई निकट-वन्धु होना चाहिए।

श्वेत राजा का वर्णन राजप्रश्नीय सूत्र मे किया गया है। शिवराजर्षि का वर्णन भगवती सूत्र मे वर्णित है। तथा उदायन राजा का उल्लेख भी भगवती सूत्र मे ही दिया गया है। काशी देश के संवर्द्धक शख राजा के विषय मे विचारणीय वात यह है कि अन्तकृत सूत्र में अलक्ष नामक राजा का वर्णन छठे वर्ग में मिलता है। उनकी दीक्षा भगवान के कर-कमलों के द्वारा हुई, वे अंतकृत् केवली होकर निर्वाण-पद को प्राप्त हुए। हो सकता है कि उन्हीका दूसरा नाम शख हो।

काशी देश का दूसरा राजा मल्लि भगवान के द्वारा दीक्षित हुआ था। इस प्रकरण में उसकी सगति नही वैठती। दोनों राजा काशी देश के अधिपति हुए हैं। दोनों दीक्षित होकर सिद्ध हुए। है, अतः इस स्थान मे शख से तात्पर्य अलक्ष राजा से ही हो सकता है।

अष्टविध आहार

मूल—अट्ठविहे आहारे पण्णत्ते, तं जहा—मणुण्णे असणे, पाणे, खाइमे, साइमे, अमणुण्णे जाव साइमे।३३।

छाया - अष्टविध आहारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—मनोज्ञमशन, पानं, खादिम, स्वादिमं, अमनोज्ञं यावत् स्वादिमम्।

शब्दार्थ—अट्ठविहे—आठ प्रकार का; आहारे पण्णत्ते—आहार कथन किया गया है; तं जहा—जैसे कि; मणुण्णे—मनोज्ञ अर्थात् सुन्दर, असणं—भोजन; पाणे—पान, अर्थात् पेय पदार्थ; खाइमे—खादिम—अन्न वर्जित अन्य फल, औषध आदि; साइमे—स्वादिम—पान-सुपारी आदि; अमणुण्णे—अमनोज्ञ अर्थात् असुन्दर; जाव साइमे—यावत् स्वादिम—पान-सुपारी आदि।

मूलार्थ—आठ प्रकार का आहार वर्णन किया गया है, जैसे कि—मनोज्ञ, अशन, पान, खादिम, स्वादिम, अमनोज्ञ—अशन, पान, खादिम, स्वादिम।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में भगवान महावीर द्वारा दीक्षित साधु-समुदाय का वर्णन किया गया है, साधुत्व की सर्वोत्तम अवस्था वही है जिसमें साधु-जीवन के लिये अनिवार्य आहार के प्रति सममाव रहता है, अतः सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र में प्रिय और अप्रिय आहार की अष्टविधता का वर्णन करते है।

जो आहार भोजन करनेवाले की इच्छा के अनुकूल हो, वह मनोज्ञ और जो इच्छा के प्रतिकूल हो वह आहार अमनोज्ञ होता है। जो अशन, पेय, खाद्य और स्वाद्य पदार्थ शुभ वर्ण, शुभ गन्ध, शुभरस और शुभ स्पर्शयुक्त से हों वे इष्ट और इनसे विपरीत भोज्य एव वस्तुओं को अनिष्ट कहा जाता है।

'अशन' वे पदार्थ कहलाते है, जो अन्न से निर्मित हों और चबा कर खाए जाते है।

'पान' वे दूध-शर्वत पानी आदि पदार्थ है जिनका प्रयोग पीने के रूप मे ही किया जाता है।

'खादिम' उन पदार्थों को कहा गया है, जिनका निर्माण अन्न से न हो और जो कुछ चबा कर खाए जाते हो (जैसे फल आदि)।

'स्वादिम' पान, सुपारी, लौंग, इलायची आदि वे पदार्थ स्वादिम कहलाते हैं जिन्हे मुख-शुद्धि के लिए बहुत देर तक चबाया या चूसा जाता है।

इस संसार मे जितने भी जीव है वे सब आहार के ही आश्रित हैं। इसकी विशेष जानकारी के लिए जिज्ञासुओ को प्रज्ञापना सूत्र के आहारपद का और सूत्रकृताग के आहार-परिज्ञा नामक अध्ययन का स्वाध्याय करना चाहिए।

वस्तुतः प्रिय और अप्रिय की कोई परिभाषा नही है, क्योकि भोज्य पदार्थों की प्रियता और अप्रियता खानेवाले की रुचि पर निर्भर होती है। एक व्यक्ति को जीरे की सुगन्ध अच्छी लगती है, दूसरे को बुरी, भारतीयों को तेज मसालेवाली सब्जियां प्रिय लगती है और पश्चिमवालो को उबली हुई, फिर भी शास्त्रकार उन भोज्य पदार्थों को प्रिय कहते है जो देखने मे सुन्दर हो, जिनकी सुगन्ध सर्वप्रिय हो, जो बुद्धि को सात्विक, विचारो को पवित्र एव भावनाओ को परिशुद्ध बनाता हो और जिन पदार्थों का स्पर्श भी सुखकारी हो।

कृष्णराजियों के संस्थान आदि

मूल—उप्पिं सणंकुमारमाहिंदाणं कप्पाणं, हेट्ठि बंभलोए कप्पे रिट्ठविमाणपत्थडे, एत्थ णमक्खाडगसमचउरंससंठाणसंठियाओ अट्ठ कण्हराईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पुरच्छिमेणं दो कण्हराईओ, दाहिणेणं दो कण्हराइओ, पच्चच्छिमेणं दो कण्हराईओ, उत्तरेणं दो कण्हराईओ।

पुरच्छिमा अब्भंतरा कण्हराई दाहिणं बाहिरं कण्हराइं पुट्ठा, दाहिणा अब्भंतरा कण्हराई पच्चच्छिमगं बाहिरं कण्हराइं पुट्ठा, पच्चच्छिमा अब्भंतरा कण्हराई उत्तर बाहिरं कण्हराइ पुट्ठा, उत्तरा अब्भंतरा कण्हराई पुरच्छिमं बाहिरं कण्हराइं पुट्ठा। पुरच्छिमपच्चच्छिमिल्लाओ बाहिराओ दो कण्हराईओ छलंसाओ, उत्तरदाहिणाओ बाहिराओ दो कण्हराईओ तंसाओ, सव्वाओऽवि णं अब्भंतरकण्हराईओ चउरंसाओ।

एयासि णं अट्ठण्हं कण्हराईणं अट्ठ नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—कण्हराईइ वा, मेहराईइवा, मघाइ वा, माघवईइ वा, वायफलिहेइ वा, वायपलिक्खोभेइ वा, देवपलिहे वा, देवपलिक्खोभेइ वा।

एयासि णं अट्ठण्हं कण्हराईणं अट्ठसु उवासंतरेसु अट्ठ लोगंतियविमाणा पण्णत्ता, तं जहा—अच्ची, अच्चिमाली, वइरोअणे, पभंकरे, चंदाभे, सूराभे, सुपइट्ठाभे, अग्गिच्चाभे।

एएसु णं अट्ठसु लोगंतियविमाणेसु अट्ठविहा लोगंतिया देवा पण्णत्ता, तं जहा—

सारसयमाइच्चा, वण्ही वरुणा य गद्दतोया य।
तुरिया अव्वाबाहा, अग्गिच्चा चेव बोद्धव्वा॥

एएसिं णमट्ठण्हं लोगंतियदेवाणं अजहण्णमणुक्कोसेणं अट्ठ सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।३४।

छाया—उपरि सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः कल्पयोरधस्तात् ब्रह्मलोके कल्पे रिष्टविमानप्रस्तटः, अत्राक्षवाटकसमचतुरस्रसंस्थिता अष्ट कृष्णराजयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पौरस्त्ये द्वे कृष्णराजी, दाक्षिणात्ये द्वे कृष्णराजी, पाश्चात्ये द्वे कृष्णराजी, उत्तरीये द्वे कृष्णराजी।

पौरस्त्याऽऽभ्यंतरा कृष्णराजिः दाक्षिणात्यां बाह्यां कृष्णराजिं स्पृष्टा, दाक्षिणात्याऽऽभ्यन्तरा कृष्णराजिः पाश्चात्यां बाह्यां कृष्णराजिं स्पृष्टा, पाश्चात्याऽऽभ्यन्तरा कृष्णराजिं उत्तरीयां बाह्यां कृष्णराजिं स्पृष्टा, उत्तरीयाऽऽभ्यन्तरा पौरस्त्यां बाह्यां कृष्णराजिं स्पृष्टा। पौरस्त्यपाश्चात्ये बाह्ये द्वे कृष्णराजी षडस्रे, उत्तरीयदाक्षिणात्ये बाह्ये द्वे कृष्णराजी त्र्यस्रे। सर्वा अपि अभ्यन्तरकृष्णराजयश्चतुरस्राः।

एतासामष्टानां कृष्णराजीनामष्टनामधेयानि, प्रज्ञप्तानि तद्यथा—कृष्णराजिरिति वा,

मेघराजिरिति वा, मघा इति वा, माघवतीति वा, वातपरिघेति वा, वातप्रतिक्षोभेति वा, देव परिघेति वा, देव प्रतिक्षोभेति वा ।

एतासामष्टाना कृष्णराजीनाम् अष्टस्ववकाशान्तरेष्वष्टलोकान्तिकविमानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अर्चि., अर्चिमाली, वैरोचनं, प्रभकरं, चन्द्राभ, सराभं, सुप्रतिष्ठाभं, आग्नेयाभम् ।

एतेष्वष्टसु लोकान्तिकविमानेष्वष्टविधा लोकान्तिका देवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सारस्वता आदित्याः, वन्हयो वरुणाश्च गर्दतोयाश्च ।
तुषिता अव्याबाधाः आग्नेयाश्चैव बोद्धव्याः ॥

एतेषामष्टानां लोकान्तिकदेवानामजघन्यानुत्कर्षेण अष्टौ सागरोपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।

शब्दार्थ—**सणकुमारमाहिंदाणं कप्पाणं**—सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोकों के; **उप्पि**—ऊपर और; **बंभलोए कप्पे**—ब्रह्मलोक कल्प के; **हेट्ठि**—नीचे; **रिट्ठविमाणे पत्थडे**—रिष्ट नामक विमान के प्रस्तर अर्थात् पाथड़े है; **एत्थ णं**—वहा पर; **अक्खाडग-समचउरंससंठाणसंठियाओ**—अक्षवाटक रूप (प्रेक्षको के बैठने के स्थान विशेष) समचतुरस्र सस्थानवाली; **अट्ठ**—आठ; **कण्हराईओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—कृष्ण राजिया अर्थात् कृष्ण वर्ण की शिलाये कथन की गई है, यथा—; **पुरच्छिमेणं**—पूर्व की ओर; **दो कण्हराईओ**—दो कृष्णराजिया है; **दाहिणेण दो कण्हराईओ**—दक्षिण की ओर दो कृष्णराजिया है; **पच्चच्छिमेणं दो कण्हराईओ**—पश्चिम दिशा मे दो कृष्णराजिया है; **उत्तरेणं दो कण्हराईओ**—उत्तर की ओर दो कृष्णराजियां हैं। **पुरच्छिमा अब्भंतरा कण्हराई**—पूर्व दिशा की आभ्यन्तर कृष्णराजि; **दाहिण बाहिरं कण्हराइं पुट्ठा**—दक्षिण की बाह्य कृष्णराजि को छूती है; **पच्चच्छिमा अब्भंतरा कण्हराई**—पश्चिम की आभ्यन्तर कृष्णराजि; **उत्तरं बाहिर कण्हराइं पुट्ठा**—उत्तर की बाह्य कृष्णराजि से स्पृष्ट है; **उत्तरा अब्भतरा कण्हराई**—उत्तर की आभ्यन्तर कृष्णराजि; **पुरच्छिमं बाहिरं कण्हराइं पुट्ठा**—पूर्व की बाह्य कृष्णराजि को छूती है; **पुरच्छिमपच्चच्छिमिल्लाओ बाहिराओ दो कण्हराईओ**—पूर्व और पश्चिम दिशा की बाहिर की जो दो कृष्णराजियां है वे; **छलसाओ**—षट्कोण है; **उत्तरदाहिणाओ बाहिराओ दो कण्हराईओ**—उत्तर और दक्षिण में बाहिर की दो कृष्णराजिया, **तंसाओ**—त्रिकोण है; **सव्वाओऽवि णं अब्भंतरकण्हराईओ**—आभ्यन्तर की सब कृष्णराजियां; **चउरंसाओ**—चौकोण है ।

एयासि णं—इन; **अट्ठण्हं कण्हराईणं**—आठ कृष्णराजियों के; **अट्ठ नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा**—आठ नाम कथन किये गए है, यथा—; **कण्हराईइ वा**—कृष्ण-राजि; **मेहराईइ वा**—मेघराजि; **मघाइ वा**—मघा; **माघवईइ वा**—माघवती; **वायफलिहेइ वा**—वातपरिघा; **वायपलिक्खोभेइ वा**—वातप्रतिक्षोभा; **देवपलिहेइ वा**—देवपरिघा; **देवपलिक्खोभेइ वा**—देव-प्रतिक्षोभा ।

एयासि णं अट्ठण्हं कण्हराईणं—इन आठ कृष्णराजियो के; **अट्ठसु उवासंतरेसु**—आठ अवकाशान्तरो अर्थात् खाली स्थानो मे, **अट्ठ लोगंतिय विमाणा पण्णत्ता, तं जहा**—आठ लोकान्तिक विमान कथन किये गए हैं, जैसे कि, **अच्ची**—अर्चि; **अच्चिमाली**—अर्चिमाली, **वइरोअणे**—वैरोचन, **पभंकरे**—प्रभकर; **चंदाभे**—चन्द्राभ; **सूराभे**—सूराभ; **सुपइट्ठाभे**—सुप्रतिष्ठाभ, **अग्गिच्चाभे**—आग्नेयाभ।

एएसु णं अट्ठसु—इन आठ, **लोगतियविमाणेसु**—लोकान्तिक विमानो में; **अट्ठविहा लोगतिया देवा पण्णत्ता तं जहा**—आठ प्रकार के लोकान्तिक देव निवास करते है, यथा; **सारसयमाइच्चा**—सारस्वत और आदित्य; **वण्ही**—वह्नि; **वरुणा य**—और वरुण; **गद्दतोया य**—तथा गर्दतोय, **तुसिया**—तुषित; **अव्वाबाहा**—अव्याबाध, **अग्गिच्चा चेव**—तथा आग्नेय भी, **बोद्धव्वा**—समझ लेने चाहिये।

एएसि णं अट्ठ लोगंतिय देवाणं—इन आठ लोकान्तिक देवो की; **अजहण्णमणुक्कोसेणं**—न जघन्य और न ही उत्कृष्ट अर्थात् एक-सी; **अट्ठ सागरोवमाइं**—आठ सागरोपम; **ठिई पण्णत्ता**—स्थिति कथन की गई है।

मूलार्थ—सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पो के उपर तथा ब्रह्मलोक कल्प के नीचे रिष्ट नामक विमान के प्रस्तट मे अखाटक रूप चौकोण आठ कृष्णराजिया वर्णन की गई है, जैसे कि–पूर्व दिशा मे दो, दक्षिण में दो, पश्चिम में दो एव उत्तर दिशा मे भी दो कृष्णराजिया है।

पूर्व दिशा मे आभ्यन्तर की कृष्णराजि दक्षिण दिशा की बाहिर को कृष्णराजि को छू रही है, इसी तरह दक्षिण की आभ्यन्तर कृष्णराजि पश्चिम की बाह्य कृष्णराजि को, पश्चिम की आभ्यन्तर कृष्णराजि उत्तर की बाह्य कृष्णराजि को और उत्तर की आभ्यन्तर कृष्णराजि पूर्व की बाहिर वाली कृष्णराजि को स्पर्श किये हुए है।

पूर्व एव पश्चिम की दो बाह्य कृष्णराजिया छः कोनो वालो है। उत्तर और दक्षिण की दो बाह्य कृष्णराजियां त्रिकोण है। आभ्यन्तर की सब कृष्णराजियां चतुष्कोण है।

इन आठ कृष्णराजियो के आठ नाम इस प्रकार है–कृष्णराजि, मेघराजि, मघा, माघवती, वातपरिघा, वातप्रतिक्षोभा, देवपरिघा, देवप्रतिक्षोभा।

इन आठ कृष्णराजियो के आठ अवकाशान्तरो वाले मध्यम भागो में आठ

लोकान्तिक विमान है उनके नाम इस प्रकार हैं अर्चि, अर्चिमाली, वैरोचन, प्रभंकर, चन्द्राभ, सूराभ, सुप्रतिष्ठाभ और आग्नेयाभ।

इन आठ लोकान्तिक विमानों में आठ लोकान्तिक देव रहते है–सारस्वत, आदित्य, वह्नि, वरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्यावाध और आग्नेय।

इन आठ प्रकार के लोकान्निक देवो की अजघन्य-अनुत्कृष्ट अर्थात् एक जैसी आठ सागरोपम स्थिति वर्णन की गई है।

विवेचनिका–

पूर्वसूत्र में अष्टविध आहार का वर्णन किया गया है। सयम निश्रा से आहार-विषयक लालसाओं पर विजय प्राप्त करनेवाले महासाधक देव-विमानों में जन्म लेते है, अतः सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र में देवलोकों के अगभूत रिष्ट विमान की कृष्णराजियों का वर्णन करते है। रिष्ट विमान की सभी राजिया काले रंग की हैं। सचित्त-अचित्त पृथ्वी की भित्ति के आकारवाली आठ पक्तिया ही कृष्णराजि कहलाती है। उनसे युक्त क्षेत्र विशेष भी कृष्णराजि नाम से व्यवहृत होते है।

सनत्कुमार और माहेन्द्रकल्प के ऊपर और ब्रह्मलोक कल्प के नीचे रिष्टविमान नाम का एक प्रस्तट है। वहां पर अखाटक अर्थात् अखाडे के आकार की समचतुरस्र सस्थानवाली आठ कृष्णराजियां हैं। पूर्वादि चारो दिशाओ मे दो-दो कृष्णराजिया हैं। पूर्व में दक्षिण और उत्तर दिशा में तिरछी फैली हुई दो कृष्णराजियां हैं। दक्षिण में पूर्व और पश्चिम मे तिरछी फैली हुई दो कृष्णराजिया है। इसी तरह पश्चिम मे दक्षिण और उत्तर दिशा मे फैली हुई दो कृष्णराजिया हैं। उत्तर मे पूर्व और पश्चिम मे फैली हुई दो कृष्ण राजिया हैं।

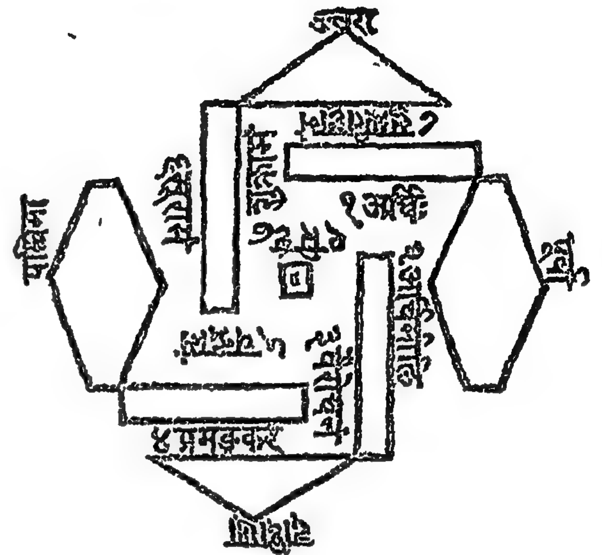
पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा की आभ्यन्तर कृष्णराजियां क्रमशः दक्षिण, उत्तर, पूर्व और पश्चिम की बाह्यवाली कृष्णराजियो का स्पर्श करती है, जैसे कि पूर्व की आभ्यन्तर कृष्णराजि दक्षिण की बाह्य कृष्णराजि का स्पर्श कर रही है। दक्षिण की आभ्यन्तर कृष्णराजि पश्चिम की बाह्य कृष्णराजि का, पश्चिम की आभ्यन्तर कृष्णराजि उत्तर की बाह्य कृष्णराजि का और उत्तर की आभ्यन्तर की कृष्णराजि पूर्व की बाह्य कृष्णराजि का स्पर्श करती है।

इन आठ कृष्णराजियो मे पूर्व और पश्चिम की बाह्य दो कृष्ण राजिया छः कोणो वाली हैं, किन्तु उत्तर-दक्षिण की बाह्य दो कृष्णराजिया तीन कोणवाली हे। अन्दर को चार कृष्णराजिया चार कोण वाली है। ये कृष्णराजिया असख्यात योजन लम्बी हैं और असख्यात योजन चौडी है। इस प्रकार इनका घेरा असख्यात योजन विस्तार वाला है।[1]

आठ कृष्णराजियो के अन्तराल मे आठ लोकान्तिक विमान हैं। उन के नाम इस प्रकार हैं—अर्चि, अर्चिमाली, वैरोचन, प्रभकर, चन्द्राभ, सूराभ, सुप्रतिष्ठाभ और रिष्टाभ। अर्चि विमान

१. विशेष वर्णन के लिये देखिए भगवती सूत्र शतक ६, उद्देशक ५।

उत्तर और पूर्व कृष्णराजियों के मध्य मे है। अर्चिमाली विमान पूर्व में है। इसी तरह शेष विमानों के विषय में जान लेना चाहिए। रिष्टाभ विमान ठीक मध्यभाग में है। इन आठ विमानों में लोकान्तिक देव रहते है। जिस क्रम से विमानो के नाम दिए गए हैं, उसी क्रम से देवों के नाम हैं, जैसे कि सारस्वत, आदित्य, वह्नि, वरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और आग्नेय। इन सब देवों की आयु आठ सागरोपम की है।



जब तीर्थङ्कर के दीक्षित होने का समय होता है तब वे देव श्री भगवान को सम्बोधित कर कहते है—'भगवन्! अब आप के दीक्षा का समय आ रहा है, सब जीवो के हित के लिये भावतीर्थ की स्थापना कीजिये।' ऐसा विनम्र निवेदन करके वे देव अपने-अपने विमानों मे चले जाते है। तब श्री भगवान दीक्षा के लिये उद्यत हो जाते है। चार कल्याणको के समय तो देव आते ही है, किन्तु दीक्षा ग्रहण की तैयारी से पहले लोकान्तिक देव ही आते है।

आठ कृष्णराजियों के नाम और उनकी सार्थकता

काले वर्ण वाली पृथिवी और पुद्गल परिणामरूप होने से कृष्णराजि, काले मेघ की रेखा के समान होने से मेघराजि, छट्ठी और सातवी पृथिवी में रहे हुए अन्धकार की तरह होने से मघा और माघवती, काली आंधी के समान सघन अन्धकार वाली तथा दुर्लंघ्य होने से वातपरिघा, वायु के क्षुब्ध होने से वातप्रतिक्षोभ, देवो के लिये भी दुर्लंघ्य होने से देवपरिघा, देवों को भी क्षुब्ध करने से देवपरिक्षोभा, ये इन कृष्णराजियो के शाश्वत नाम है।

धर्मास्तिकाय आदि के आठ मध्य प्रदेश

मूल—अट्ठ धम्मत्थिकायमज्झपएसा पण्णत्ता, अट्ठ अहम्मत्थिकायमज्झपएसा, एवं चेव अट्ठ आगासत्थिकायमज्झपएसा पण्णत्ता, एवं चेव अट्ठ जीव-मज्झपएसा पण्णत्ता।३५।

छाया अष्टौ धर्मास्तिकायमध्यप्रदेशाः प्रज्ञप्ताः, अष्टौ अधर्मास्तिकायमध्यप्रदेशाः प्रज्ञप्ता, एवमेव अष्टौ आकाशास्तिकायमध्यप्रदेशाः प्रज्ञप्ताः, एवमेव अष्टौ जीवमध्यप्रदेशाः प्रज्ञप्ताः।

शब्दार्थ—अट्ठ धम्मत्थिकायमज्झपएसा पण्णत्ता—आठ धर्मास्तिकाय के मध्यप्रदेश कथन किये

गए है; अट्ठ अहम्मत्थिकायमज्झपएसा पण्णत्ता—आठ अधर्मास्तिकाय के मध्यप्रदेश कथन किये गए है, एवं चेव—इसी तरह; अट्ठ आगासत्थिकायमज्झपएसा पण्णत्ता—आठ आकाशास्तिकाय के मध्यप्रदेश कथन किये गए हैं, एव चेव—इसी तरह; अट्ठ जीवमज्झपएसा पण्णत्ता—एक-एक जीव के मध्यप्रदेश भी आठ ही है ।

मूलार्थ—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और प्रत्येक जीव के आठ-आठ मध्यप्रदेश वर्णन किये गए है ।

विवेचनिका—

पूर्व-सूत्र में कृष्णराजियो का वर्णन किया गया है। आठ कृष्णराजिया ऊर्ध्वलोक के मध्य भाग में अवस्थित है, अत: मध्यभाग के प्रकरण को लेकर प्रस्तुत सूत्र मे धर्मादि चार अस्तिकाय के आठ-आठ रुचक-प्रदेशो का वर्णन किया गया है।

अवयवी के अविभाज्य अश को प्रदेश कहते है। उसके ठीक मध्यभाग मे रहनेवाले प्रदेशो को रुचक प्रदेश कहा जाता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और प्रत्येक जीव के प्रदेश समान ही है, न न्यून और न अधिक। ये सब असख्यात प्रदेशी है। आकाश अलोक मे भी व्याप्त है। किन्तु अन्य कोई द्रव्य अलोक मे नही है, अत आकाश के मध्य भाग मे आठ रुचक प्रदेश है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के आठ-आठ रूचक प्रदेश भी वैसे ही है।

आत्मा का परिमाण न तो आकाश की तरह व्यापक है और न परमाणु की तरह अणु है किन्तु मध्य परिमाण माना जाता है। उन असख्यात प्रदेशो के ठीक मध्यभाग मे आठ रूचक प्रदेश है। शेष प्रदेश कार्मण शरीर के प्रभाव से सकोच-विस्तार को प्राप्त होते रहते है। इन रुचक-प्रदेशो को मध्यप्रदेश भी कहा जाता है। शेप तीन अस्तिकायो के प्रदेश सकोच-विस्तार स्वभाव वाले नही है। वे तत्त्व अनादिकाल से अवस्थित एव निष्क्रिय ही है।

भावी अरिहन्त महापद्म जी द्वारा दीक्षित होनेवाले राजा

मूल—अरहता णं महापउमे अट्ठ रायाणो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वावेस्सइ, तं जहा—पउमं, पउमगुम्मं, नलिणं, नलिनगुम्मं, पउमद्धयं, धणुद्धयं, कणगरहं, भरहं ।३६।

छाया—अर्हन् महापद्मोऽष्टौ राज्ञो मुण्डान् भावयित्वा अगारादनगारितां प्रव्राजयिष्यति, तद्यथा—पद्मं, पद्मगुल्मं, नलि नं, नलिनगुल्मं, पद्मध्वज, धनुर्ध्वज, कनकरथं, भरतम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—महापद्म नामक अरिहन्त आठ राजाओं को मुण्डित करके गृहस्थ धर्म से निकाल कर अनगारधर्म अर्थात् साधु धर्म में प्रवेश कराएंगे। वे आठ राजा इस प्रकार है—पद्म, पद्मगुल्म, नलिन, नलिनगुल्म, पद्मध्वज, धनुर्ध्वज, कनकरथ और भरत।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में धर्मास्तिकाय आदि के आठ-आठ रुचक प्रदेशो का वर्णन किया गया है। केवली भगवान ने ही उन मध्यप्रदेशो का प्रत्यक्ष किया है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे भावी तीर्थङ्कर महापद्म के उन राजर्षि शिष्यो का उल्लेख किया गया है जिनको भावी तीर्थङ्कर भगवान् महापद्म दीक्षित करके मोक्ष-पथ-गामी बनाएगे। इस भरत क्षेत्र के अतर्गत आनेवाले उत्सर्पिणी काल मे राजा श्रेणिक का जीव पहले तीर्थङ्कर के रूप मे महापद्म नामवाला तीर्थङ्कर होगा। वह अपने जीवन मे आठ राजाओ को प्रव्रजित करेगा। उनके नाम है—महापद्म, पद्मगुल्म, नलिन, नलिनगुल्म, पद्मध्वज, धनुर्ध्वज, कनकरथ और भरत। इस सूत्र मे केवल नामो का ही दिग्दर्शन कराया गया है। इन प्रव्रजित होनेवाले राजाओ का जीवन-वृत्तान्त किसी भी आगम मे दृष्टिगोचर नही होता। भगवान् महावीर स्वामी ने जैसे आठ राजाओ को दीक्षित एव मु डित करके उन्हे निर्वाण-पथ के पथिक बनाया था, वैसे ही महापद्म तीर्थङ्कर भी आठ राजाओ को दीक्षित एव मु डित करके उन्हे मोक्ष-पथ का पथिक बनाएगे। ऐसा इस सूत्र से ध्वनित होता है।

अरिष्टनेमि द्वारा दीक्षित श्रीकृष्ण की अग्रमहिषियां

मूल—कण्हस्स णं वासुदेवस्स अट्ठ अग्गमहिसीओ अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स अंतिए मुंडा भवेत्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्ता, सिद्धाओ जाव सव्व-दुक्खप्पहीणाओ, तं जहा—पउमावई, गोरी, गंधारी, लक्खणा, सुसीमा, जंबवई, सच्चभामा, रुप्पिणी, कण्हस्स अग्गमहिसीओ।३७।

छाया—कृष्णस्य खलु वासुदेवस्य अष्टाग्रमहिष्योऽरिष्टनेमेः अन्तिकं मुण्डाः भूत्वा आगारादनगारितां प्रव्रजिताः, सिद्धाः यावत् सर्वदुःखप्रहीणाः, तद्यथा—पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवती, सत्यभामा, रुक्मिणी, कृष्णस्याग्रमहिष्यः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—कृष्ण वासुदेव की आठ अग्रमहिषियां अर्थात् पट्टरानियां अरिहन्त अरिष्ट-नेमि जी के पास मुण्डित होकर आगार-धर्म से अनगार-धर्म मे दीक्षित हुई और उन्होंने सिद्ध-गति को प्राप्त किया तथा सब दु:खों का अन्त किया। इन आठों के नाम इस प्रकार है—पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्ववती, सत्यभामा, रुक्मिणी।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्रों में अरिहन्तों के द्वारा दीक्षित होनेवाले राजाओ का वर्णन किया गया है। उसी वर्णन-परम्परा में ऐसी आठ महारानियों का सूत्रकार वर्णन करते हैं, जिन्हो ने अरिहन्त भगवान् श्री अरिष्टनेमि से दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त किया।

श्री कृष्ण वासुदेव की सोलह सहस्र रानिया थी। दो-दो सहस्र रानियों के ऊपर एक-एक पट्टरानी थी, इस तरह कृष्णवासुदेव की आठ पट्टरानिया थी। जिन के नाम है—पद्मावती, गाधारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जांववती, सत्यभामा और रुक्मिणी। इन आठ पट्टरानियों ने गृहवास का परित्याग कर भगवान् अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ग्रहण करके तप और सयम के द्वारा कर्मों पर विजय पाकर और सर्व प्रकार के दुखो से छूटकर सिद्धत्व को प्राप्त किया था। इनका जीवनवृत्त अतकृद्-दशाङ्ग सूत्र में वर्णित है।

यहां यह ज्ञातव्य है कि अन्तकृद्दशा आदि सूत्रों मे रुक्मिणी का नामोल्लेख पहले किया गया है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में उनका नाम सब से पीछे दिया गया है, क्योकि गृहवास मे रुक्मिणी की सर्वदा प्रधानता रही है, इसलिये उनके नाम का पहले निर्देश किया जाता रहा है, किन्तु इस प्रसंग में जिन्हों ने सांसारिक सुखों का त्याग करके संयम-मार्ग को पहले अपनाया है, यहा उनकी प्रधानता सूत्रकार को अभीष्ट है। इन आठ पट्टरानियों में से सर्व-प्रथम पद्मावती ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी, उसके बाद गौरी ने। इस क्रम के अनुसार सब से पीछे रुक्मिणी ने गृहवास का परित्याग करके प्रव्रज्या ग्रहण की थी। इसीलिये रुक्मिणी का नाम पीछे दिया गया है।

भगवान अरिष्टनेमि के शासन में बड़ी साध्वी यक्षिणी थी। उनकी देख-रेख में उनका सयमी जीवन व्यतीत हुआ है। बीस वर्ष सयम-तप की आराधना करके ये आठ साध्वियां परम-पद को प्राप्त हुई, और जन्म जरा-मरण के दु:खो से सदा के लिये मुक्त हो गई।

वीर्यप्रवादपूर्व की वस्तु और चूलिकाएं

मूल—वीरियपुव्वस्स णं अट्ठ वत्थू, अट्ठ चूलियावत्थू पण्णत्ते ।३८।

छाया—वीर्यपूर्वस्य खलु अष्टौ वस्तूनि, अष्टौ चूलिकावस्तूनि प्रज्ञप्तानि ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—वीर्य प्रवाद नामक पूर्व की आठ वस्तु अर्थात् प्रकरण विशेष और आठ चूलिकावस्तु वर्णन की गई हैं ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्रो में अरिहन्तों द्वारा दीक्षित होकर सिद्धि-गति प्राप्त करनेवाली दिव्यात्माओं के उल्लेख किए गए है, परन्तु दिव्यात्माएं पडितवीर्य से ही कर्मों पर विजय प्राप्त कर सकती हैं, अत: प्रस्तुत सूत्र मे वीर्यप्रवाद पूर्व का सक्षिप्त परिचय दिया गया है।

वीर्य का अर्थ है शक्तिविशेष, उस का वर्णन जिस पूर्व से प्राप्त होता है, उसे 'वीर्यप्रवादपूर्व' कहते हैं। शक्ति जीवों में भी है और अजीवों में भी । जीव ही अजीवों की शक्ति का उपयोग करता है। कुछ जीव अपनी शक्ति का प्रयोग सयम में करते है, कुछ असयम मे और कुछ सयम एव असयम दोनो में प्रयोग किया करते हैं। अपनी शक्तियो को संयम और तप मे लगाना 'पण्डितवीर्य' है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह मे अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना 'बालवीर्य' है। जिसकी प्रवृत्ति न पूर्णतया धर्म मे है और न पाप मे ऐसी प्रवृत्ति को 'बालपण्डितवीर्य' कहते हैं। इस के स्वामी देशविरति श्रावक होते है। पण्डितवीर्य में सात्त्विकबल, बाल-पण्डितवीर्य में राजसी-बल और बालवीर्य में तामसी बल की प्रधानता रहती है ।

विश्वभर में जितने भी अजीव पदार्थ है, उन में भी अद्भुत एव चमत्कारी शक्तिया विद्य-मान है, परन्तु उन शक्तियो का उपयोग जीव ही कर सकता है। अमृत भी जड़ पदार्थ है और विष भी, इन दोनो की शक्तियो का वर्णन भी वीर्यप्रवादपूर्व मे किया गया है।

पूर्वो के बड़े अधिकार को वस्तु कहते है। वीर्यप्रवादपूर्व मे आठ वस्तु हैं और आठ ही चूलिका वस्तु हैं[1]।

---

१. 'वीरियपुव्वे' त्यादि वीर्यप्रवादाख्यस्य तृतीयपूर्वस्य वस्तूनि मूलवस्तूनि, अध्ययन-विशेषा', आचारे ब्रह्म-चर्याध्ययनवत्, चूलावस्तूनि त्वाचाराग्रवदिति ।

अष्टविध गति

मूल—अट्ठ गइओ पण्णत्ताओ, तं जहा–णिरयगई, तिरियगई जाव सिद्धिगई, गुरुगई, पणोल्लणगई, पब्भारगई।३९।

छाया—अष्ट गतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—निरयगतिः, तिर्यग्गतिः, यावत् सिद्धिगतिः, गुरुगतिः, प्रणोदनगतिः, प्राग्भारगतिः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आठ गतियां वर्णन की गई हैं, यथा–नरक-गति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, देवगति, सिद्ध-गति, गुरुगति अर्थात् गुरुत्ववाले की गति, प्रणोदनगति अर्थात् प्रेरणा से उत्पन्न होनेवाली गति, प्राग्भार गति अर्थात् भार आदि के दवाब से उत्पन्न होनेवाली गति।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में वीर्यप्रवादपूर्व का वर्णन किया गया है। वीर्य का अर्थ है—पदार्थ मे रहनेवाली विशेष प्रकार की शक्ति। यह शक्ति गति को जन्म देती है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे आठ प्रकार की गतियो का वर्णन किया गया है।

नरक के लिये होनेवाली जीव-गति को नरकगति कहा जाता है। तिर्यञ्च योनियो के लिये होनेवाली गति तिर्यञ्च-गति कहलाती है। मनुष्यभव को पाने के लिये हो रही गति मनुष्यगति है। देवभव को पाने के लिये हो रही गति को देवगति कहा जाता है। सिद्धत्व को पाने के लिये की जानेवाली जीव-गति को सिद्धिगति कहा जाता है। जो गति स्वभावजन्य होती है, वह गुरुगति कहलाती है। गुरु शब्द यहा भावपरक है अर्थात् स्वभाव से गति का होना गुरुगति है। प्रकाश-गति, शब्द-गति और वायु-गति आदि का समावेश गुरुगति मे हो जाता है। किसी की प्रेरणा से गति का होना, जैसे तीर का चलना, गोली का चलना, यानवाहन का चलना इत्यादि सभी गतियो का समावेश प्रणोदन-गति में हो जाता है। भार-विशेष के कारण उत्पन्न गति का (जैसे नौका का अधिक भार से पानी मे डूबना आदि) प्राग्भारगति कहा जाता है। इन आठ गतियो मे से पहली पाच प्रकार की गतिया जीव की है और शेष तीन पौद्गलिक गतिया है।

गगा आदि देवियों के अष्ट योजन प्रमाण द्वीप

मूल—गंगा-सिंधु-रत्ता-रत्तवइदेवीणं दीवा अट्ठ-अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं पण्णत्ता।४०।

छाया—गङ्गा-सिन्धु-रक्ता-रक्तवतीदेवीनां द्वीपा अष्टाष्टयोजनानि आयामविष्कम्भेन प्रज्ञप्तानि ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—गङ्गा, सिन्धु, रक्ता और रक्तवती नामक देवियों के द्वीप आयाम-विष्कम्भ की अपेक्षा से आठ-आठ योजन के बतलाये गये है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में अष्टविध गतियो का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार निरन्तर गतिशीला नदियों की अधिष्ठात्री देवियो के द्वीपो का स्वरूप प्रस्तुत करते है । पाच भरत क्षेत्रों में गगा और सिन्धु तथा पांच ऐरावत क्षेत्रों मे रक्ता एव रक्तावती नदियां बहती है । गगा-प्रपात कुण्ड ६० योजन का लम्बा-चौड़ा है । उसके ठीक मध्यभाग में आठ योजन का लम्बा-चौडा द्वीप है । उस पर गगा देवी का एक वहुत बड़ा भवन है । वही गगादेवी का निवास-स्थान है ।

इसी तरह सिन्धु महानदी की अधिष्ठात्री देवी का द्वीप सिन्धु-प्रपात कुण्ड मे तथा रक्ता और रक्तावती महानदी के प्रपातकुण्ड में रक्ता और रक्तावती देवी के द्वीपों के विषय मे जान लेना चाहिए । चारो देवियो के द्वीप आठ-आठ सौ योजन के लम्वे चौडे है । वे द्वीप अपने-अपने प्रपात-कुण्ड मे है । चारो महानदियो के प्रपात-कुण्ड ६०-६० योजन के लम्बे-चौडे है । इनका विस्तृत वर्णन जम्बू-द्वीप प्रज्ञप्ति मे प्राप्त होता है ।

आठ-आठ सौ योजन के अंतर द्वीप

मूल—उक्कामुह-मेहमुह-विज्जुमुह-विज्जुदंतदीवाणं दीवा अट्ठ-अट्ठ जोयणसयाइं आयामविक्खंभेण पण्णत्ता ।४१।

छाया—उल्कामुख-मेघमुख-विद्युन्मुख-विद्युद्दन्तद्वीपानां द्वीपा अष्टाष्ट योजनशतान्यायाम-विष्कम्भेन प्रज्ञप्ताः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—उल्कामुख, मेघमुख, विद्युन्मुख और विद्युद्दन्त नामक अन्तर्द्वीप आयाम-विष्कम्भ की अपेक्षा से आठ-आठ सौ योजन प्रतिपादन किये है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे द्वीपो का वर्णन किया गया है । अब सूत्रकार उसी द्वीप वर्णन-परम्परा में चार अन्तर-द्वीपों का वर्णन करते है । हिमवान् पर्वत की और शिखरी पर्वत की दो-दो कोटियां पूर्व और

पश्चिम के लवण-समुद मे प्रविष्ट हैं। प्रत्येक कोटि मे से-दो दो दाढाए निकली हुई है। प्रत्येक दाढ पर सात-सात अन्तरद्वीप है। हिमवान पर्वत पर २८ अन्तरद्वीप हैं और २८ अन्तरद्वीप शिखरी वर्षधर पर्वत पर है। प्रत्येक दाढ पर ३०० योजन का अन्तर और ३०० योजन का द्वीप, ४०० योजन का अन्तर और ४०० योजन का द्वीप इसी क्रम से अन्तर और द्वीप वढते-बढते हुए सातवा द्वीप ९०० योजन का है, किन्तु छठा अन्तरद्वीप आठ सौ योजन का लम्वा चौड़ा है। पूर्व मे जो दाढ आग्नेय कोण की ओर है उस पर जो छठा अन्तरद्वीप है उसका नाम उल्कामुख है। पश्चिम मे नैर्ऋत्य कोण की जो दाढे हैं, उन पर स्थित छठे अन्तरद्वीप का नाम मेघमुख है। वायव्य कोण की ओर दूसरी दाढ पर छठे अन्तर द्वीप का नाम विद्युन्मुख है। पूर्व मे दूसरे ईशान कोण की ओर स्थित छटे अन्तरद्वीप का नाम विद्युद्दन्त है। ये चार अन्तरद्वीप आठ-आठ सौ योजन लम्वे-चौडे हैं। इसी क्रम से शिखरी पर्वत की चार दाढो पर छठे अन्तरद्वीपो के नाम वे ही हैं जिस क्रम से ऊपर लिखे गए है। इनका विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र मे किया गया है।

कालोद समुद्र का विस्तार

मूल—कालोए णं समुद्दे अट्ठ जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं पण्णत्ते। ।४२।

छाया—कालोदः खलु समुद्रोऽष्टयोजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेण प्रज्ञप्तः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—परिधि-परिमाण की अपेक्षा से कालोद समुद्र आठ लाख योजन विस्तार वाला है।

विवेचनिका—

द्वीप वर्णन की परम्परा मे प्रस्तुत सूत्र मे भी धातकी खण्ड के चारो ओर खाई के समान विद्यमान कालोद समुद्र का वर्णन किया गया है। उस समुद्र की गोलाकार चौडाई आठ लाख योजन की है। चक्र की तरह गोलाकार विस्तार को चक्रवाल-विष्कम्भ कहा जाता है।

आभ्यन्तर और बाह्य पुष्करार्ध का विस्तार

मूल—अब्भंतरपुक्खरद्धे णं अट्ठ जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खभेणं पण्णत्ते। एवं बाहिरपुक्खरद्धेवि ।४३।

छाया—आभ्यन्तरपुष्करार्द्धमष्टयोजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेण प्रज्ञप्तम् । एवं बाह्य-पुष्करार्द्धमपि ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आभ्यन्तर पुष्करार्द्ध परिधि-परिमाण की अपेक्षा से आठ लाख योजन का वर्णन किया गया है । इसी तरह बाह्य पुष्करार्द्ध का विस्तार भी समझना चाहिये ।

विवेचनिका—

द्वीप-वर्णन की परम्परा मे प्रस्तुत सूत्र मे भी पुष्करार्द्धद्वीप के विस्तार का परिमाण बताया गया है । पुष्करार्द्ध द्वीप को चक्रवाल-विष्कभ से दो भागो मे विभक्त करनेवाला मानुपोत्तर पर्वत है । आधा पुष्कर द्वीप अदर की ओर है और आधा पुष्करद्वीप बाहर की ओर है । दोनो का चक्रवाल-विष्कभ परिमाण आठ-आठ लाख योजन का है ।

चक्रवर्ती के काकिणी रत्न का मान

मूल—एगमेगस्स णं रन्नो चाउरतचक्कवट्टिस्स अट्ठसोवन्निए कागिणिरयणे छत्तले, दुवालसंसिए, अट्ठकण्णिए अहिगरणिसंठिए पण्णत्ते ।४४।

छाया—एकैकस्य खलु राज्ञश्चातुरन्तचक्रवर्तिनोऽष्टसौर्वाणिकं काकिणीरत्नं षट्तलं, द्वादशास्त्रिकम्, अष्टकार्णिकमधिकरणिसंस्थितं प्रज्ञप्तम् ।

शब्दार्थ—एगमेगस्स णं—प्रत्येक, रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स—चातुरन्त चक्रवर्ती महाराजा का, कागिणिरयणे—काकिणी रत्न; अट्ठसोवन्निए—आठ सुवर्ण परिमाणवाला, छत्तले—छः तल वाला, दुवालसंसिए—बारह अशो वाला; अट्ठकण्णिए—आठ कोनो वाला एव; अहिगरणिसंट्ठिए पण्णत्ते—अधिकरणि—ऐरन के सस्थानवाला कथन किया गया है ।

मूलार्थ—प्रत्येक चातुरन्त चक्रवर्ती महाराज का काकिणी नामक रत्न आठ सौवर्णिक—आठ सुवर्ण परिमाण में, षट् तल, बारह अशो, आठ कोणों तथा अधिकरणी अर्थात् लोहार की ऐरन के आकारवाला वर्णन किया गया है ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे आभ्यन्तर पुष्करार्ध का वर्णन किया गया है। आभ्यन्तर पुष्करार्द्ध में चक्रवर्ती भी होते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र मे चक्रवर्ती के प्रमुख चिन्ह काकणीरत्न का उल्लेख किया गया है।

प्रत्येक चक्रवर्ती नरदेव के पास काकणी-रत्न होता है, उस रत्न का भार आठ सौवर्णिक होता है। उसके छः तल, बारह कोटियां और आठ कोण होते हैं।

एक सौवर्णिक का भार परिमाण इस प्रकार समझना चाहिए—१६ सरसों का एक उड़द का दाना, उड़द के दो दानो के बराबर एक रत्ती, पाच गु जाओ का एक कर्म-मापक और आठ कर्म-माषकों के वज़न का परिमाण एक सौवर्णिक होना है। आठ सौवर्णिक परिमाण वज़न का एक काकणीरत्न होता है। उक्त तोल का परिमाण भरत चक्रवर्ती के कालानुमार जानना चाहिए, क्योकि सभी चक्रवर्ती नरदेवों के काकणी-रत्न समान होते है। उसका सस्थान अर्थात् आकृति ऐरन के समान होती है और वह उत्सेध अगुल से चार अगुल प्रमाण का हुआ करता है।

मगध देशीय योजन-मान

मूल—मागधस्स णं जोयणस्स अट्ठ धणुसहस्साइं निधत्ते पण्णत्ते ।४५।

छाया—मागधस्स योजनस्य अष्ट चतुःसहस्राणि निधत्तं प्रज्ञप्तम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—मगधदेश के योजन का निश्चित परिमाण आठ हज़ार धनुष प्रतिपादन किया गया है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में चक्रवर्ती के काकिणीरत्न का मान बताया गया है। मान-वर्णन की परम्परा मे अब सूत्रकार मगधदेश मे प्रसिद्ध योजन-मान का वर्णन करते हैं। आठ यव-मध्य का एक अगुल, २४ अगुलों का एक हाथ, ४ हाथ का एक धनुष, २००० धनुपो का एक कोस और चार कोस का एक योजन होता है। इस परिमाण से मगधदेश मे ८००० धनुष का एक योजन निश्चित है। इसलिये सूत्रकार ने 'मागध' शब्द का ग्रहण किया है।

अन्य प्रान्तों मे १६०० धनुष का एक कोस माना गया है। उनके कथनानुसार ६४०० धनुपो का एक योजन बताया है।[1] योजनो का विस्तृत वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र मे विहित है।

१. तत्र यस्मिन् देशे षोडशभिर्धनु शतैर्गव्यूत स्यात्तत्र षड्भि सहस्रैश्चतुर्भिश्शतैर्धनुपा योजनं भवतीति ।

सुदर्शन और कूटशाल्मलि वृक्षका मान

मूल—जंबू णं सुदंसणा अट्ठ जोयणाइं उद्धं उच्चत्तेणं बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं, साइरेगाइं अट्ठ जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते। कूड-सामली णं अट्ठ जोयणाइं एवं चेव ।४६।

छाया—जम्बू सुदर्शनो अष्टौ योजनान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन बहुमध्यदेशभागे अष्टौ योजनानि विष्कम्भेण सातिरेकाणि अष्टौ योजनानि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तानि। कूटशाल्मलिरपि अष्ट योजनानि एवञ्चैव।

शब्दार्थ—जंबू णं सुदंसणा—सुदर्शन नामक जम्बू वृक्ष; उद्धं उच्चत्तेणं—ऊचाई की अपेक्षा से; अट्ठ जोयणाइं—आठ योजन का; बहुमज्झदेसभाए—अत्यन्त मध्य भाग में; विक्खभेणं—चौडाई की अपेक्षा; अट्ठ जोयणाइं—आठ योजन का है; सव्वग्गेणं—सम्पूर्ण परिमाण मे; साइरेगाइं अट्ठ जोयणाइं पण्णत्ते—आठ योजन से कुछ अधिक प्रतिपादन किया गया है। एवं चेव—इसी प्रकार, कूडसामली—कूटशाल्मलि वृक्ष, अट्ठ जोयणाइं—आठ योजन परिमाण वाला है।

मूलार्थ—सुदर्शन नामक जम्बू वृक्ष ऊचाई की अपेक्षा से आठ योजन ऊंचा है। अत्यन्त मध्य भाग में चौडाई की अपेक्षा आठ योजन का है और सम्पूर्ण परिमाण मे कुछ अधिक आठ योजन का वर्णन किया गया है। इसी तरह कूटशाल्मलि वृक्ष भी आठ योजन का बतलाया गया है।

विवेचनिका—

योजन का अधिकार होने से प्रस्तुत सूत्र मे जम्बूवृक्ष और कूटशाल्मलि वृक्ष का परिचय दिया गया है। जम्बूअपर नाम सुदर्शन वृक्ष आठ योजन ऊचा है तथा आठ योजन परिमाण उस का मध्यभाग है और आधा कोस का गहरा है। उसका सर्वाङ्ग आठ योजन से भी कुछ अधिक है।

इसी तरह कूटशाल्मलि वृक्ष के विषय मे भी जानना चाहिए। इन वृक्षो का विस्तृत वर्णन जीवा भिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति मे प्राप्त होता है।

तिमिस्र-गुहा और खण्ड-प्रपात गुहा का उच्चत्व-मान

मूल—तिमिस्सगुहा णं अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं। खंडप्पवायगुहा णं अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं एवं चेवं ।४७।

छाया—तिमिस्रगुहा अष्ट योजनान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन। खण्डप्रपातगुहा अष्ट योजनान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन एवमेव।

शब्दार्थ—तिमिस्सगुहा णं—तिमिस्रगुफा; अट्ठ जोयणाइं—आठ योजन; उड्ढं उच्चत्तेणं—ऊंचाई की अपेक्षा से कथन की गई है। खंडप्पवायगुहा ण—खण्डप्रपात नामक गुफा; उड्ढं उच्चत्तेणं—ऊचाई की अपेक्षा से; एवं चेव—इसी प्रकार आठ योजन ऊंची है।

मूलार्थ—ऊचाई की अपेक्षा से तिमिस्र नामक गुफा आठ योजन परिमाण है। खण्ड-प्रपात गुफा भी ऊंचाई की अपेक्षा से आठ योजन ऊंची बताई गई है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे जम्बू अपर नाम सुदर्शन वृक्ष तथा कूटशाल्मलि वृक्ष की ऊचाई का वर्णन किया गया है। अब उसी देवस्थान की वर्णन-परम्परा मे सूत्रकार दो गुफाओ की ऊचाई का वर्णन करते है। वैताढ्य पर्वत भरत क्षेत्र को दो भागों में विभक्त करता है, दक्षिणार्द्ध भरत और उत्तरार्द्ध भरत। वासुदेव का राज्य दक्षिणार्द्ध भरत क्षेत्र में ही होता है, किन्तु चक्रवर्ती का राज्य दोनो में होता है। वैताढ्य पर्वत में दो गुफाए अर्थात् सुरगे है, एक तिमिस्रा और दूसरी खडप्रपात। दोनो सुरगे आठ आठ योजन ऊची और पचास-पचास योजन लम्बी है। जब चक्रवर्ती तिमिस्रगुफा द्वार को खोलकर उत्तरार्द्ध भरत क्षेत्र की दिग्विजय के लिये जाता है तब वहां से लौटते समय खड-प्रपात गुफा द्वार को खोलकर दक्षिणार्ध भरत क्षेत्र मे वापिस आता है। चक्रवर्ती की दिग्विजय यात्रा का विस्तृत वर्णन जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति मे किया गया है।

वक्षस्कार पर्वत, विजय और राजधानियां

मूल—**जंबूमंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं सीयाए महानईए उभओ कूले अट्ठ वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—चित्तकूडे, पम्हकूडे, नलिणकूडे, एगसेले, तिकूडे, वेसमणकूडे, अंजणे, मायंजणे।**

जंबूमंदरपच्चच्छिमेणं सीओयाए महानईए उभओ कूले अट्ठ वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—अंकावई, पम्हावई, आसीविसे, सुहावहे, चंदपव्वए, सूरपव्वए, णागपव्वए, देवपव्वए।

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महानईए उत्तरेणं अट्ठ चक्कवट्टिविजया पण्णत्ता,

कच्छे, सुकच्छे, महाकच्छे, कच्छगावई, आवत्ते, जाव पुक्खलावई।

जबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महानईए दाहिणेणमट्ठचक्कवट्टिविजया पण्णत्ता, तं जहा—वच्छे, सुवच्छे, जाव मगलावई।

जबूमदरपच्चच्छिमेण सीओया एमहानईए दाहिणेणं अट्ठ चक्कवट्टिविजया पण्णत्ता, त जहा—पम्हे जाव सलिलावई।

जंबूमंदरपच्चत्थिमेणं सीओयाए महानईए उत्तरेणं अट्ठ चक्कवट्टिविजया पण्णत्ता, तं जहा—वप्पे, सुवप्पे जाव गंधिलावई।

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महानईए उत्तरेणमट्ठ रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—खेमा, खेमपुरी चेव जाव पुंडरीगिणी।

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए दाहिणेणं अट्ठरायहाणीओ पण्णत्ताओ, त जहा—सुसीमा, कुंडला चेव जाव रयणसंचया।

जंबूमंदरपच्चच्छिमेणं सीओयाए महाणईए दाहिणेणं अट्ठ रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आसपुरा जाव वीयसोगा।

जंबूमंदरपच्चच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं अट्ठ रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—विजया, वेजयंतीजाव अउज्झा।४८।

छाया—जम्बूमन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्ये सीताया महानद्या उभयकूले अष्ट वक्षस्कारपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चित्रकूटः, पद्मकूट., नलिनकूटः, एकशैलः, त्रिकूटः, वैश्रवणकूटः, अञ्जनः, मातञ्जनः।

जम्बूमदरपाश्चात्ये शीतोदायाः महानद्याः उभयकूले अष्टौ वक्षस्कारपर्वता प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अङ्कावती, पक्ष्मावती, आशीविष., सुखावह., चन्द्रपर्वतः, सूर्यपवत, नागपर्वतः, देवपर्वतः।

जम्बूमंदरपौरस्त्ये शीतायाः महानद्याः उत्तरे अष्ट चक्रवर्तिविजयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कच्छः, सुकच्छः, महाकच्छ., कच्छगावती, आवर्तो यावत् पुष्कलावती।

जम्बूमन्दरपौरस्त्ये शीतायाः महानद्या दक्षिणेनाष्टौ चक्रवर्त्तिविजयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वत्स., सुवत्सो यावत् मङ्गलावती।

जम्बूमन्दरपाश्चात्ये शीतोदाया. महानद्याः दक्षिणेन अष्ट चक्रवर्त्तिविजयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पक्ष्मो यावत् सलिलावती।

जम्बूमंदरपौरस्त्ये शीतोदायाः महानद्याः दक्षिणे अष्टौ चक्रवर्त्तिविजयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वप्रः, सुवप्रो यावत् गन्धिलावती।

जम्बूमंदरपौरस्त्ये शीतायाः महानद्याः उत्तरे अष्ट राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्षेमा, क्षेमपुरी चैव यावत् पुण्डरीकिणी।

जम्बूमन्दरपौरस्त्ये शीतायाः महानद्या दक्षिणे अष्ट राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सुसीमा, कुण्डला चैव यावत् रत्नसञ्चया।

जम्बूमन्दरपश्चिमे शीतोदायाः महानद्याः दक्षिणे अष्टौ राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अश्वपुरा यावत् वीतशोका।

जम्बूमन्दरपश्चिमे शीतोदाया महानद्याः उत्तरे अष्टौ राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—विजया, वैजयन्ती यावत् अयोध्या।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूमन्दर पर्वत अर्थात् जम्बूद्वीप सम्बन्धित मेरुपर्वत के पूर्व में सीता महानदी के दोनो किनारो पर आठ वक्षस्कार पर्वत है यथा—चित्रकूट, पद्मकूट,नलिनकूट, एकशैल, त्रिकूट, वंश्रमणकूट, अञ्जन, मातञ्जन।

जम्बूद्वीप सम्बन्धित मन्दर पर्वत के पश्चिम में सीता महानदी के दोनों किनारों पर आठ वक्षस्कार पर्वत हैं यथा—अंकावती, पक्ष्मावती, आशीविष, सुखावह, चन्द्रपर्वत, सूरपर्वत, नागपर्वत, देवपर्वत।

जम्बूमन्दर के पूर्व में सीता महानदी के उत्तर में आठ चक्रवर्ती-विजय हैं, यथा—कच्छ, सुकच्छ, महाकच्छ, कच्छगावती यावत् पुष्कलावती तक आठ।

जम्बूमन्दर के पूर्व में सीता महानदी के दक्षिण में आठ चक्रवर्ती-विजय हैं, जैसे—वत्स, सुवत्स, यावत् मङ्गलावती तक आठ।

जम्बूमन्दर के पश्चिम में शीतोदा महानदी के दक्षिण में आठ चक्रवर्ती विजय हैं, यथा—पक्ष्म से लेकर सलिलावती तक आठ।

जम्बूमन्दर के पश्चिम में शीतोदा महानदी के उत्तर में आठ चक्रवर्ती-विजय कथन किये गए हैं, यथा—वप्र, सुवप्र से लेकर गन्धिलावती तक आठ।

जम्बूमन्दर की पूर्ववर्तिनी सीता महानदी के उत्तर में आठ राजधानियां

नामक पर्वत है। इसी तरह यावत् ऋषभ कूटनामक देव वर्णन किये गए है। वहा इतनी विशेषता है कि नदियो के नाम रक्ता और रक्तावती तथा इन्हीं के उद्भव-स्थान कुण्ड है।

जम्बूमन्दर की पश्चिमवर्तिनी शीतोदा महानदी के दक्षिण में आठ दीर्घ वैताढ्य नामक पर्वत यावत् आठ नाट्यमालक देव, आठ गंगा-कुण्ड, आठ सिन्धु-कुण्ड, आठ गगायें, आठ सिन्धु, आठ ऋषभकूट पर्वत और आठ ऋषभकूट देव वर्णन कि ये गए है।

जम्बूमन्दर की पश्चिमवर्तिनी शीतोदा महानदी के उत्तर में आठ दीर्घ-वैताढ्य पर्वत यावत् आठ नाट्यमालक देव, आठ रक्तकुण्ड, आठ रक्तावतीकुण्ड, आठ रक्ता यावत् आठ ऋषभकूटदेव वर्णन किये गए हैं।

विवेचनिका—

जम्बूद्वीप के अन्तर्गत मेरुपर्वत से पूर्व की ओर शीता महानदी के उत्तर की ओर आठ विजय है। प्रत्येक विजय मे एक दीर्घवैताढ्य पर्वत है, एक तिमिस्र-गुफा है, एक खण्डप्रपात गुफा है, एक कृतमालदेव और एक नट्टमालदेव है। एक गङ्गाकुण्ड और एक सिन्धुकुण्ड है। एक गङ्गा महानदी है और एक सिन्धु महानदी है। एक ऋषभकूट है और एक ऋषभकूट देव है।

वैताढ्य के साथ दीर्घपद इसलिये जोड़ा गया है कि वैताढ्य पर्वत वृत्ताकार भी है, अतः उस का व्यवच्छेद करने के लिये दीर्घपद की योजना की गई है।

ऋषभकूट सभी गोलाकार है, वे सब आठ योजन ऊचे है। उनकी मूल मे १२ योजन चौड़ाई है, मध्य मे आठ योजन की और ऊपर चार योजन की चौड़ाई है। जिस-जिस पर्वत, गुफा, नदी आदि के नाम ऊपर दिये गए हैं, उसी के कारण प्रत्येक विजय के षट् खण्ड बनते है। शीता महानदी की दक्षिण दिशा मे जो आठ विजय है, उनमे भी सब वर्णन पहले की तरह है। अन्तर केवल इतना ही है कि गङ्गा-सिन्धु के स्थान पर रक्ता और रक्तवती कुण्ड कहने चाहिये। इनके कुण्ड ६० योजन प्रमाण लम्बे चौडे है। उन के ठीक मध्यभाग मे ८-८ योजन के लम्बे चौड़े द्वीप है। जिन पर नदी की अधिष्ठात्री देवियो का प्रभुत्व है।

शीतोदा महानदी के दक्षिण की ओर जो आठ विजय है, उनके प्रत्येक विजय मे गङ्गा और सिन्धु महानदिया है। शीतोदा महानदी के उत्तर की ओर आठ विजयों मे रक्ता और रक्तवती महा नदी प्रवाहित होती है। शीता महानदी के उत्तर और दक्षिण मे जो आठ-आठ विजय है, उन मे ८ गङ्गा, ८ सिन्धु तथा ८ रक्ता और ८ रक्तवती, ये ३२ महानदिया शीता महानदी मे मिलती है। इसी तरह पश्चिम की ३२ महानदियां शीतोदा महानदी मे मिलती है। शेष सब वर्णन एक समान है।[1]

१. विस्तृत वर्णन के लिये देखिए जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति।

शीतोदा महानदी के उत्तर की ओर आठ चक्रवर्त्ती विजय है—वप्र, सुवप्र, महावप्र, वप्रावती, वल्गु, सुवल्गु, गंधिला, गंधिलावती।

चक्रवर्ती के आठ-आठ विजयो मे एक-एक राजधानी है। प्रत्येक राजधानी १२ योजन लम्बी और ९ योजन चौडी है। कच्छ विजय में क्षेमा, सुकच्छ में क्षेमपुरी, महाकच्छ मे अरिष्टा, कच्छकावती में रिष्टावती, आवर्त्त में खड्गी, मगलावर्त्त में मजूषा, पुष्कल में ऋषभपुरी, पुष्कलावती मे पुंडरीकिणी राजधानी है।

वत्स नामक विजय में सुसीमा राजधानी है, सुवत्स मे कुण्डला, महावत्स मे अपराजिता, वत्सवती में प्रभकरा, रम्य विजय में अंकावती, रम्यक में पक्ष्मावती, रमणीय विजय में शुभा, मगलावती विजय में रत्नसचया राजधानी है।

पश्चिम महाविदेह मे शीतोदा महानदी के दक्षिण की ओर आठ विजयों मे आठ राजधानियां है। पक्ष्मविजय में आसपुरा, सुपक्ष्म मे सिंहपुरा, महापक्ष्म मे महापुरा, पक्ष्मावती मे विजयपुरा, शख-विजय में अपराजिता, नलिन में अपरा, कुमुद में अशोका, सलिलावती मे वीतशोका राजधानी है।

पश्चिम महाविदेह में शीतोदा महानदी के उत्तर की ओर आठ चक्रवर्ती विजयों की आठ राजधानियां हैं, जैसे कि वप्र विजय मे विजया, सुवप्र मे वैजयन्ती, महावप्र मे जयन्ती, वप्रवती मे अपराजिता, वल्गु मे चक्रपुरा, सुवल्गु में खड्गपुरा, गन्धिला मे अवध्या और गन्धिलावती मे अयोध्या राजधानी है। इस प्रकार महाविदेह क्षेत्र मे ३२ विजय हैं और ३२ ही राजधानिया हैं। प्रत्येक विजय मे ६-६ खण्ड हैं। प्रत्येक विजय की लम्बाई चौडाई भरतक्षेत्र-प्रमाण है।

बत्तीस विजयों में शलाका पुरुषों का अस्तित्व

मूल—जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं उक्कोसपए अट्ठ अरहंता, अट्ठ चक्कवट्टी, अट्ठ बलदेवा, अट्ठ वासुदेवा उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जंति वा, उप्पज्जिस्संति वा।

जंबूमदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए दाहिणेणं उक्कोसपए एवं चेव।

जंबूमदरपच्चत्थिमेणं सीओयाए महाणईए दाहिणेण उक्कोसपए एवं चेव।

एवं उत्तरेणवि।४९।

छाया—जम्बूमन्दर पौरस्त्ये शीताया महानद्याः उत्तरे उत्कर्षपदे अष्टौ अर्हन्तः, अष्टौ चक्र-वर्तिनः, अष्टौ बलदेवाः, अष्टौ वासुदेवा उदपद्यन् वा, उत्पद्यन्ते वा, उत्पत्स्यन्ते वा।
जम्बूमन्दरपौरस्त्ये शीतायाः महानद्या दक्षिणेन उत्कर्षपदे एवमेव।
जम्बूमन्दरपश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे उत्कर्षपदे एवमेव। एवमुत्तरेऽपि।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूमन्दर की पूर्ववर्तिनी शीता महानदी के उत्तर की ओर उत्कर्षपद में आठ अरिहन्त, आठ चक्रवर्ती, आठ वासुदेव आठ बलदेव भूत काल मे उत्पन्न हुए, वर्तमान में है और भविष्यत् काल में उत्पन्न होगे ।

जम्बूमन्दर की पूर्ववर्तिनी शीता नदी के दक्षिण में उत्कर्षता की अपेक्षा से उपरोक्त वर्णन समझना चाहिये ।

जम्बूमन्दर की पश्चिमवर्तिनी शीतोदा महानदी के दक्षिण में और उत्तर में भी उत्कृष्ट संख्या इसी तरह जाननी चाहिये ।

विवेचनिका—

पूर्व महाविदेह और पश्चिम महाविदेह में शीता और शीतोदा महानदियो के दक्षिण और उत्तर की ओर आठ-आठ विजय है, जिनका विवरण पूर्व सूत्र मे दिया जा चुका है। अब सूत्रकार उनकी उपयोगिता बतलाते है। सभी विजयो मे अधिक से अधिक ३२ तीर्थङ्कर हो सकते है। आठ-आठ विजयों मे आठ-आठ तीर्थङ्कर, आठ-आठ चक्रवर्ती, आठ-आठ वासुदेव एव बलदेव अतीत काल में उत्पन्न हुए, उत्पन्न होते है और उत्पन्न होगे।

तीर्थङ्कर तो एक युग में ३२ हो सकते है, किन्तु चक्रवर्ती एक युग मे ३२ नही, २८ ही हो सकते हैं, कारण यह है कि चार वासुदेव तो नियमेन होते ही है। एक समय है और एक विजय में चक्रवर्ती और वासुदेव दोनो का राज्य एक साथ नही हो सकता। जब ३२ विजयो में २८ चक्रवर्ती होते है, तब चार विजयो में चार वासुदेव और चार बलदेव होते हैं, किन्तु जब २८ वासुदेव और २८ बलदेव होते है, तब शेष चार विजयो मे चार ही चक्रवर्ती होते है। अरिहन्त चार से कम नही, ३२ से अधिक नही होते। चक्रवर्त्ती कम से कम चार और अधिक से अधिक २८ होते है। इसी तरह वासुदेव और बलदेव के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

महाविदेह के ज्ञातव्य भौगोलिक पदार्थ

मूल—जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीताए महानईए उत्तरेणं अट्ठ दीहवेयड्ढा, अट्ठ तिमिस्स-गुहाओ, अट्ठ खंडगप्पवायगुहाओ, अट्ठ कयमालगा देवा, अट्ठ णट्टमालगा देवा, अट्ठ गंगा कुंडा, अट्ठ सिंधुकुंडा, अट्ठ गंगाओ, अट्ठ सिंधूओ, अट्ठ उसभकूडा पव्वया, अट्ठ उसभकूडा देवा पण्णत्ता।

जंबूदीवस्स णं दीवस्स जगई अट्ठ जोयणाइं उड्ढ उच्चत्तेणं बहुज्झदे भाए अट्ठ जोयणाइं विक्खभेणं ।५३।

छाया—जम्बू .ीपे द्वीपे मन्दरे पर्वते भद्रशालवनेऽष्टौ दिशाहस्तिकूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

पद्मोत्तरो नीलवान् सुहस्ती, अञ्जनगिरिः कुमुदश्च ।
पलाशकोऽवतंसः अष्टमकः रोचन गरि. ॥

जम्बूद्वीपस्य खलु द्वीपस्य जगती अष्ट योजनान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन बहुमध्यदेशभागे अष्ट योजनानि विष्कम्भेण ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप सम्बन्धित मेरु पर्वत के भद्रशाल वन मे आठ दिग्-हस्ती कूट कथन किये गए है, जैसे—पद्मोत्तर, नीलवान्, सुहस्ती, अञ्जन-गिरि, कुमुद, पलाशक, अवतंस और आठवा रोचनगिरि हस्तीकूट है ।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप की जगती की ऊचाई आठ योजत है और सबसे अधिक चौड़ाई मध्य भाग में आठ योजन की वर्णन की गई है ।

विवेचनिका—

जम्बूद्वीप की वर्णन-परम्परा के अतर्गत प्रस्तुत सूत्र मे दिशा-हस्ति-कूट और जगती का संक्षिप्त परिचय दिया गया है । मेरुपर्वत के चारो ओर भद्रशालवन है । मेरुपर्वत के चारों दिशाओं मे पचास-पचास योजन की दूरी पर जाकर चार सिद्धायतन है । सभी सिद्धायतन ३६ योजन ऊचे, २५ योजन चौड़े और ५० योजन लम्बे है । प्रत्येक सिद्धायतन के चारो ओर बावडिया है ।

भद्रशालवन की चार विदिशाओ मे पचास-पचास योजन दूरी पर जाकर चार प्रासाद हैं । प्रत्येक प्रासाद ५०० योजन ऊचा है । जो महल वायव्य और ईशान कोण मे है, उन पर ईशानेन्द्र का आधिपत्य है, किन्तु आग्नेय और नैऋत्य कोण मे जो प्रासाद है, उन पर शक्रेन्द्र का अधिकार है ।

शीता और शीतोदा महानदी के दोनो तटो पर चारो दिशाओ मे आठ हस्तिकूट हैं । प्रत्येक दिशा मे दो-दो हस्तिकूट हैं । जो कि हिमवान कूट के समान ५०० योजन ऊचे और हाथी के आकार वाले हैं । इसीसिए उन्हे दिग्गज भी कहते है । पूर्वदिशा मे पद्मोत्तर और नीलवत, दक्षिण मे सुहस्ती और अजनगिरि, पश्चिम मे कुमुद और पलाशक और उत्तर में अवतसक और रोचनगिरि है । इन आठ हस्तिकूटों का आकार-प्रकार एक समान है ।

जम्वूद्वीप की जगती आठ योजन ऊची है, उसका मध्यभाग भी आठ योजन विस्तार वाला है । वह जगती जम्बूद्वीप के कोट के समान है । दिग्गजों और जगती का विस्तृत वर्णन जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और जीवाभिगम त्र में प्राप्त होताहै ।

है, यथा–क्षेमा, क्षेमपुरी यावत्–पुण्डरीकिणा।

जम्बूमन्दर की पूर्ववर्तिनो शीता महानदी के दक्षिण में आठ राजधानियां है, यथा–सुसीमा, कुण्डला यावत्–रत्नसञ्चया।

जम्बूमन्दर की पश्चिमवर्तिनी शीतोदा महानदी के दक्षिण में आठ राजधानियां है, यथा–अश्वपुरा यावत् वीतशोका।

जम्बूमन्दर की पश्चिमवर्तिनी शीतोदा महानदी के उत्तर में आठ राजधानिया है, यथा–विजय, वैजयन्ती यावत् अयोध्या।

विवेचनिका–

पूर्वसूत्र मे भरत क्षेत्र को दो भागो में विभक्त करनेवाले वैताढ्य पर्वत की तिमिस्रगुहा और खण्ड-प्रपात नामक दो गुहाओ का वर्णन किया गया है। अब उसी भौगोलिक परिचय की परम्परा मे सूत्रकार जम्बूद्वीप सम्बन्धी पर्वतो आदि का परिचय प्रस्तुत करते है।

इस सूत्र के दस अनुच्छेद है। पहले दो अनुच्छेद सूत्रो मे १६ वक्षस्कार पर्वतो का नामोल्लेख किया गया है। ३,४,५,६, अनुच्छेद सूत्रो मे ३२ चक्रवर्त्ती विजयो के नामोल्लेख किये गए है। ७,८,९, और १० अनुच्छेद सूत्रों मे ३२ राजधानियो का नामोल्लेख हुआ है।

जम्बूद्वीप में एक महाविदेह क्षेत्र है जो दो भागो मे विभक्त है। पूर्वमहाविदेह और पश्चिम महाविदेह। पूर्व महाविदेह को शीता नामक महानदी ने दो भागो में विभक्त किया हुआ है। इसी तरह पश्चिम महाविदेह क्षेत्र को शीतोदा महानदो दो भागो मे विभक्त करती है। शीता महानदी के दोनो किनारो पर आठ वक्षस्कार पर्वत है, चार दक्षिणी किनारे पर और चार उत्तरी किनारे पर।

यहां इतना स्मरणीय है कि कोई भी वक्षस्कार पर्वत एक दूसरे के सामने नही है। चित्रकूट, पक्ष्मकूट, नलिनकूट और एकशैल ये चार वक्षस्कार पर्वत शीता महानदी के उत्तर की ओर है, तथा त्रिकूट, वैश्रवणकूट, अजन और मातजन ये चार वक्षस्कार पर्वत उसके दक्षिणतट पर है।

शीतोदा महानदी के उत्तरी किनारे पर चार वक्षस्कार पर्वत है, उनके नाम है—अकावती, पक्ष्मावती, आशीविष, सुखावह और चन्द्रपर्वत, सूर्यपर्वत, नागपर्वत और देवपर्वत ये चार वक्षस्कार पर्वत दक्षिणी तट पर अवस्थित है, वक्षस्कार का अर्थ है—गज-दन्त के आकार का पर्वत।

शीता महानदी के उत्तर की ओर आठ चक्रवर्त्ती विजय हैं। उनके नाम है—कच्छ, सुकच्छ महाकच्छ, कच्छकावती, आवर्त्त, मगलावर्त्त पुष्कल और पुष्कलावती।

शीता महानदी के दक्षिण की ओर वच्छ, सुवच्छ महावच्छ, वच्छावती, रम्य, रम्यक, रमणीय और मगलावती ये आठ चक्रवर्त्ती विजय है। शीतोदा महानदी के दक्षिण की ओर आठ चक्रवर्ती विजय हैं, उनके नाम है—पक्ष्म, सुपक्ष्म, महापक्ष्म, पक्ष्मावती, शख, नलिन, कुमुद और सलिलावती।

मेरु-चूलिका का मध्यमान

मूल—मंदरचूलिया णं बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते ।५१।

छाया—मन्दरचूलिका खलु बहुमध्यदेशभागेऽष्टौ योजनानि विष्कम्भेन प्रज्ञप्ता ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—मन्दरपर्वत की चूलिका का अत्यन्त मध्यभाग चौड़ाई की अपेक्षा आठ योजन परिमाण कथन किया गया है ।

विवेचनिका—

भौगोलिक वर्णन परम्परा में मन्दर भी महत्त्वपूर्ण पर्वत है । उसकी चूलिका चालीस योजन ऊची है उसका ऊपरी भाग चार योजन, मूल भाग वारह योजन और उसका ठीक मध्य भाग आठ योजन विस्तार वाला है ।

धातकी खण्ड और पुष्करार्द्ध का संक्षिप्त विवरण

मूल—धायइसंडदीवे पुरत्थिमद्धे ण धायइरुक्खे अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ते, बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं अट्ठ जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते । एवं धायइरुक्खाओ आढवेत्ता सच्चेव जंबूदीववत्तव्वया भणियव्वा जाव मंदरचूलियत्ति । एवं पच्चत्थिमद्धे वि महाधायइरुक्खाओ आढवेत्ता जाव मंदरचूलियत्ति । एवं पुक्खरवरदीवड्ढ-पुरच्छिमद्धेवि पउमरुक्खाओ आढवेत्ता जाव मंदरचूलियत्ति । एवं पुक्खरवरदीवपच्चत्थिमेणं महापउमरुक्खाओ जाव मंदरचूलियत्ति ।५२।

छाया—धातकीखण्डद्वीपे पौरस्त्यार्द्धे धातकीवृक्षोऽष्टौ योजनान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तः, बहुमध्यदेशभागेऽष्टौ योजनानि विष्कम्भेण, सातिरेकाण्यष्टौ योजनानि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तः । एव धातकीवृक्षादारम्य सैव जम्बूद्वीपवक्तव्यता भणितव्या यावन्मन्दरचूलिकेति । एवं पाश्चात्यार्द्धेऽपि महाधातकीवृक्षादारम्य यावन्मन्दरचूलिकेति । एवं पुष्करवरद्वीपार्द्ध-पौरस्त्यार्द्धेऽपि पद्मवृक्षादारम्य यावन्मन्दरचूलिकेति । एवं पुष्करवरद्वीपपाश्चात्यार्द्धेऽपि महापद्मवृक्षाद् यावद् मन्दरचूलिकेति ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—धातकीखण्ड के पूर्वार्द्ध में धातकीवृक्ष ऊंचाई की अपेक्षा से आठ योजन है और उसके अत्यन्त मध्यभाग चौड़ाई की अपेक्षा से आठ योजन कथन किया गया है। वह सम्पूर्ण परिमाण की अपेक्षा से आठ योजन से कुछ अधिक है।

इसी प्रकार धातकीवृक्ष से लेकर वही जम्बूद्वीप की सारी वक्तव्यता मन्दर-चूलिका तक कहनी चाहिये। इसी प्रकार पाश्चात्यार्द्ध में भी महाधातकी वृक्ष से लेकर मदरचूलिका पर्यन्त वर्णन जानना चाहिए। इसी तरह पुष्करवरद्वीप के पूर्वार्द्ध में पद्मवृक्ष से लेकर मन्दरचूलिका पर्यन्त तथा पुष्करवरद्वीप के पाश्चात्यार्द्ध में महापद्मवृक्ष से लेकर मन्दरचूलिका पर्यन्त जानना चाहिये।

विवेचनिका—

जम्बूद्वीप में जिस प्रकार जम्बूवृक्ष से लेकर मदरचूलिका पर्यन्त जिन पदार्थों का वर्णन किया गया है, उसी तरह धातकीखड द्वीप मे धातकीवृक्ष से लेकर मदरचूलिका पर्यन्त समस्त पदार्थों का वर्णन यहा पर भी समझलेना चाहिए।

पश्चिमार्द्ध मे महाधातकी वृक्ष से लेकर मदरचूलिका पर्यन्त सव वर्णन एक समान है और नाम भी वे ही है, जो पहले वर्णित है।

इसी तरह पुष्करवरद्वीप के पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्द्ध के विषय में भी जानलेना चाहिए। अन्तर केवल इतना ही है कि पूर्वार्द्ध पुष्करवर द्वीप मे पद्मवृक्ष से अन्य पदार्थो की गणना प्रारम्भ की जाती है और पश्चिमार्द्ध पुष्करवर द्वीप मे महापद्म वृक्ष से गणना प्रारम्भ होती है। शेष सव वर्णन एक समान ही है और नाम भी वे ही हैं, जिन नामो का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

जिन वृक्षो के नामोल्लेख किए गए है, वे सव उत्तरकुरु क्षेत्र विद्यमान मे हैं। उत्तरकुरु क्षेत्र पाच हैं। किस क्षेत्र मे कौन-सा वृक्ष है? इसका निर्देश सूत्रकार ने स्वय ही दे दिया है। सभी वृक्ष आठ योजन ऊचे हैं और उनके मध्य भाग का विस्तार भी आठ योजन का ही है। ●

भद्रशाल वन के दिशा-हस्तिकूट

मूल—जंबूदीवे दीवे मंदरे पव्वए भद्दसालवणे अट्ठ दिसाहत्थिकूडा पण्णत्ता, तं जहा—

पउमत्तर नीलवंते सुहत्थि अंजणागिरी कुमुए य।
पलासए वडिंसे अट्ठमए रोयणगिरी ॥

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीताए महानईए दाहिणेणं अट्ठ दीहवेअड्ढा एवं चेव, जाव अट्ठ उसभकूड-देवा पण्णत्ता। नवरमेत्थ रत्ता-रत्तावईओ, तासि चेव कुंडा।

जंबूमंदरपच्चत्थिमे णं सीओयाए महानईए दाहिणेणं अट्ठ दीहवेयड्ढा जाव अट्ठ नट्टमालगा देवा, अट्ठ गंगाकुंडा, अट्ठ सिंधुकुंडा, अट्ठ गंगाओ, अट्ठ सिंधूओ, अट्ठ उसभकूडपव्वया, अट्ठ उसभकूडा देवा पण्णत्ता।

जंबूमंदरपच्चत्थिमेण सीओयाए महानईए उत्तरेणं अट्ठ दीहवेयड्ढा जाव अट्ठ नट्टमालगा देवा, अट्ठ रत्तकुंडा, अट्ठ रत्तावइकुंडा, अट्ठ रत्ताओ जाव अट्ठ उसभकूडदेवा पण्णत्ता।५०।

छाया—जम्बूमन्दरपौरस्त्ये शीताया महानद्या उत्तरेऽष्टौ दीर्घवैताढ्याः, अष्टौ तिमिस्रगुहाः, अष्टौ गङ्गाकुण्डानि, अष्टौ सिन्धुकुण्डानि, अष्टौ गङ्गाः, अष्टौ सिन्धवः, अष्टौ ऋषभकूटाः पर्वताः, अष्टौ ऋषभकूटदेवाः प्रज्ञप्ताः।

जम्बूमन्दरपौरस्त्ये शीताया महानद्या दक्षिणेऽष्टदीर्घवैताढ्या एवमेव यावद् अष्टौ ऋषभकूडदेवाः प्रज्ञप्ताः, नवरमत्र रक्तारक्तवत्यः, तासामेव कुण्डानि।

जम्बूमन्दरस्य पाश्चात्ये शीतोदाया महानद्या दक्षिणे अष्ट दीर्घवैताढ्याः यावद् अष्ट नाट्यमालकाः देवा, अष्ट गङ्गाकुण्डानि, अष्ट सिन्धुकुण्डानि, अष्ट गङ्गाः, अष्ट सिन्धवः, अष्ट ऋषभकूटपर्वताः, अष्ट ऋषभकूटदेवाः प्रज्ञप्ताः।

जम्बूमदरपाश्चात्ये शीतोदाया महानद्या उत्तरे अष्टौ दीर्घवैताढ्या यावद् अष्ट नाट्यमालका देवाः, अष्ट रक्तकुण्डानि, अष्ट रक्तावतिकुण्डानि, अष्टौ रक्ता यावद् अष्टौ ऋषभकूटदेवा प्रज्ञप्ताः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूमन्दर की पूर्ववर्तिनी शीता महानदी के उत्तर में आठ दीर्घवैताढ्य पर्वत है, आठ तिमिस्रगुफाए है, आठ खण्डप्रपात गुफाये है, आठ कृतमालक नामक देव है, आठ नाट्यमालक देव है, आठ गङ्गाकुण्ड है। आठ सिन्धुकुण्ड हैं, आठ गङ्गा है और आठ ही सिन्धु है। आठ ऋषभकूट पर्वत है, तथा आठ ही ऋषभकूट देव है।

जम्बूमन्दर की पूर्ववर्तिनी शीता महानदी के दक्षिण मे आठ दीर्घवैताढ्य

पर्वतों एवं कूट दिक्कुमारियां

मूल—जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं महाहिमवंते वासहरपव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे महाहिमवंते, हिमवंते रोहिया हरिकूडे ।
हरिकंता हरिवासे, वेरुलिये चेव कूडा उ ॥१॥

जंबूमंदरउत्तरेणं रुप्पिम्मि वासहरपव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे य रुप्पो रम्मग नरकंता बुद्धि रुप्पकूडे य ।
हिरण्णवए मणिकचणे य, प्पिम्मि कूडा उ ॥२॥

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं रुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

रिट्ठे तवणिज्ज-कचणरययं, दिसासोत्थिए पलंबे य ।
अंजण अजणपुलए, रुयगस्स पुरच्छिमे कूडा ॥३॥

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति, तं जहा—

णंदुत्तरा य णंदा, आणंदा णंदिवद्धणा ।
विजया य वेजयंती, जयंती अपराजिया ॥४॥

जंबूमंदरदाहिणेणं रुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

कणए कंचणे पउमे, नलिणे ससि दिवायरे चेव ।
वेसमणे वेरुलिए रुयगस्स उ दाहिणे कूडा ॥५॥

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ जाव पलिओवमट्ठिईयासो परिवसंति, तं जहा—

समाहारा सुप्पइण्णा सुप्पबुद्धा जसोहरा ।
लच्छिवई सेसवई, चित्तगुत्ता वसुंधरा ॥६॥

जंबूमंदरपच्चत्थिमेण रुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सोत्थिए य अमोहे य, हिमवं मंदरे तहा।
रुअगे रुयगुत्तमे चंदे, अट्ठमे य सुदसणे ॥७॥

तत्थ णंमट्ठ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति, तं जहा—

इलादेवी सुरादेवी, पुढवी पउमावई।
एगनासा णवमिया, सीया भद्दा य अट्ठमा ॥८॥

जंबूमंदरउत्तरेणंरुअगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता, त जहा—

रयणे रयणुच्चए य सव्वरयण रयणसचए चेव।
विजय य विजयंते, जयंते अपराजिए ॥९॥

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति, तं जहा—

अलंबुसा मियकेसी, पोंडरिगी य वारुणी।
आसा य सव्वगा चेव, सिरी हिरी चेव उत्तराओ ॥१०॥

अट्ठ अहेलोगवत्थव्वाओ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ, पण्णत्ताओ, तं जहा—

भोगंकरा भोगवई, सुभोगा भोगमालिणी।
सुवच्छा वच्छमित्ता य, वारिसेणा बलाहगा ॥११॥

अट्ठ उड्ढलोगवत्थव्वाओ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

मेघंकरा मेघवई, सुमेघा मेघमालिणी।
तोयधारा विचित्ता य, पुप्फमाला अणिंदिया ॥१२॥ ।५४।

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणे महाहिमवति वर्षधरपर्वते अष्टकूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

सिद्धो महाहिमवान्, हिमवान् रोहितो हरिकूटम्।
हरिकान्ता हरिवर्षः, वैडूर्यश्चैव कूटानि तु ॥१॥

जम्बूमन्दरोत्तरे रुक्मिणिवर्षधरपर्वतेऽष्टौ कूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

सिद्धश्च रुक्मी, रम्यको नरकान्ता बुद्धोरुप्यकूटश्च।
हिरण्यवान् मणिकाञ्चनश्च, रुक्मिणि कूटानि तु ॥२॥

जम्बूमन्दरपौरस्त्ये रुचकवरे पर्वते अष्टकूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

रिष्टं तपनीयं काञ्चन रजतं, दिशासौवस्तिक प्रलंबश्च।
अञ्जनमञ्जनपुलकं, रुचकस्य पौरस्त्ये कूटानि ॥३॥

तत्र अष्टौ दिक्कुमारीमहत्तरिका महर्द्धिका यावत्पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—

नन्दोत्तरा च नन्दाऽऽनन्दा नन्दिवर्धना।
विजया च वैजयन्ती, जयन्ती अपराजिता ॥४॥

जम्बूमन्दरदक्षिणे रुचकवरे पर्वने अष्टकूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

कनकं काञ्चनं, पद्मं नलिन शशी दिवाकरश्चैव।
वैश्रमणो वैडूर्यञ्च, रुचकस्य तु दक्षिणे कूटानि ॥५॥

तत्र अष्टदिक्कुमारीमहत्तरिका महर्द्धिका यावत्पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति तद्यथा—

समाहारा सुप्रतिज्ञा, सुप्रतिबुद्धा यशोधरा।
लक्ष्मीवती शेषवती, चित्रगुप्ता वसुन्धरा ॥६॥

जम्बूमन्दरपाश्चात्ये रुचकवरे पर्वतेऽष्टकूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

स्वस्तिकश्चामोघश्च, हिमवान् मन्दरस्तथा।
रुचको रुचकोत्तमः, चन्द्रोऽष्टमश्च सुदर्शनः ॥७॥

तत्र अष्ट दिक्कुमारीमहत्तरिका महर्द्धिका यावत्पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—

इलादेवी सुरादेवी, पृथ्वी पद्मावती।
एकनासा नवमिका, सीता भद्रा चाष्टमी ॥८॥

जम्बूमन्दरोत्तरे रुचकवरे पर्वतेऽष्टकूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

रत्नं रत्नोच्चयश्च, सर्वरत्नं रत्नसञ्चयश्चैव।
विजयश्च वैजयन्त., जयन्तोऽपराजितः ॥९॥

तत्र अष्ट दिक्कुमारीमहत्तरिका महर्द्धिका यावत् पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—

अलम्बुषा मितकेशी, पुण्डरीकि च वारुणी।
आशा च सर्वगा चैव, श्रीः ह्रीश्चैव उत्तरे ॥१०॥

अष्टौ अधोलोकवास्तव्याः दिक्कुमारीमहत्तरिका महर्द्धिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

भोगंकरा भोगवती, सुभोगा भोगमालिनी।
सुवत्सा सुवत्समित्रा च, वारिषेणा बलाहका ॥११॥

अष्ट ऊर्ध्वलोकवास्तव्याः दिक्कुमारीमहत्तरिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

मेघंकरा मेघवती, सुमेघा मेघमालिनी।
तोयंधरा विचित्रा च, पुष्पमाला अनिन्दिता ॥१२॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप-सम्बन्धी मेरुपर्वत के दक्षिण मे महाहिमवान् नामक वर्षधर पर्वत पर आठ कूट अर्थात् चोटियां वर्णन की गई है, यथा—सिद्ध, महाहिमवान्, हिमवान्, रोहित, हरिकूट, हरिकान्ता, हरिवर्ष और आठवां वैडूर्यकूट।

जम्बूमन्दर के उत्तर में रुक्मी नामक वर्षधर पर्वत के आठ कूट कथन किये गए है, यथा—सिद्ध, रुक्मी, रम्यक, नरकान्ता, बुद्धि, रूप्यकूट, हिरण्यवान् और मणिकाञ्चन।

जम्बूमन्दर के पूर्व मे रुचकवर नामक पर्वत के आठ कूट कथन किये गए है, यथा—रिष्टकूट, तपनीय, काञ्चन, रजत, दिशासौवस्तिक, प्रलम्ब, अञ्जन, अञ्जनपुलक।

वहां पर महाऋद्धि वाली प्रधान यावत् पल्योपम स्थितिवाली आठ दिशाकुमारिकाएं निवास करती है, जैसे—नन्दोत्तरा, नन्दा, आनन्दा, नन्दिवर्धना, विजया, वैजयन्ती जयन्ती और अपराजिता।

जम्बूमन्दर के दक्षिण में रुचकवर पर्वत के आठ कूट हैं, यथा—कनक, काञ्चन, पद्म, नलिन, शशी, दिवाकर, वैश्रमण और वैडूर्य।

वहां पर आठ महर्द्धिक प्रधान यावत् पल्योपम स्थितिवाली दिशाकुमारियां निवास करती है, जैसे, समाहारा, सुप्रतिज्ञा, सुप्रबुद्धा, यशोधरा, लक्ष्मीवती, शेषवती, चित्रगुप्ता और वसुन्धरा।

जम्बूमन्दर के पश्चिम में रुचकवर पर्वत पर आठ कूट हैं, यथा—स्वस्तिक, अमोघ, हिमवान्, मन्दर, रुचक, रुचकोत्तम, चन्द्र और सुदर्शन।

वहां पर महर्द्धिक प्रधान यावत् पल्योपमस्थितिवाली आठ दिशा-

कुमारियां निवास करती है, जैसे—इलादेवी, सुरादेवी, पृथिवी, पद्मा-वती, एकनासा, नवमिका, सीता तथा भद्रा ।

जम्बूमन्दर के उत्तर मे रुचकवर पर्वत पर आठ कूट है, जैसे—रत्न, रत्नोच्चय, सर्वरत्न, रत्नसञ्चय, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित।

वहां पर आठ महती ऋद्धिवाली प्रधान यावत् पल्योपम स्थिति-वाली दिशा कुमारिया निवास करती है जैसे—अलम्बुषा, मितकेशी, पुण्डरीकिणी, वारुणी, आशा, सर्वगा, श्री और ह्री ।

अधोलोक मे रहनेवाली आठ महर्द्धिक दिशाकुमारियां है, यथा—भोगंकरा भोगवती, सुभोगा, भोगमालिनी, सुवत्सा, वत्समित्रा, वारिषेणा, बलाहका।

ऊर्ध्वलोक मे रहनेवाली प्रधान आठ दिशाकुमारियां निवास करती है, जैसे—मेघंकरा, मेघवती, सुमेघा, मेघमालिनी, तोयधरा, विचित्रा, पुष्पमाला और अनिन्दिता ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे जवूद्वीप की जगती का वर्णन किया गया है । अब प्रस्तुत सूत्र में देव और देवियों से अधिष्ठित कूटों का वर्णन किया जा रहा है । जवूद्वीपस्थ मेरुपर्वत से दक्षिण की ओर हेमवत और हरिवर्ष क्षेत्र की मर्यादा धारण करनेवाला महाहिमवान वर्षधर पर्वत है, जिस पर आठ कूट है । पूर्व की ओर सिद्धकूट है । शेष सात कूट क्रमश. पश्चिम में है । कूटों के जैसे नाम है, वैसे ही नाम देवों और देवियो के है जैसे कि किसी देव विशेष का नाम सिद्ध है, उसमे अधिष्ठित कूट को सिद्ध-कूट कहते है ।

जो देव महाहिमवान और हिमवान वर्षधर पर्वतो के अधिष्ठाता है, उन्ही के नाम से दूसरा और तीसरा कूट है । चौथा कूट रोहिता नामक नदी की अधिष्ठात्री देवी से अधिष्ठित है । ह्री नामक देवी महापद्म ह्रद में निवास करनेवाली है । उसका पाचवें कूट पर भी अधिकार है । हरि-कान्ता एक नदी की अधिष्ठात्री देवी है, छठे कूट पर उसी का अधिकार है । इसी तरह शेष कूटों के विषय मे भी समझना चाहिए ।

जम्वूद्वीपस्थ मेरु से उत्तर दिशा की ओर रुक्मी पर्वत है । वह हैरण्यवत और रम्यगवर्ष इन दो क्षेत्रों की मर्यादा धारण करनेवाला वर्षधर पर्वत है । उस पर भी आठ कूट हैं । वह पर्वत भी पूर्व पश्चिम की ओर महाहिमवान की तरह लम्बा है । जिस देव और देवी का जिस कूट पर आधिपत्य है । उसका नाम कुछ कूट के सदृश और कुछ असदृश है ।

४८ दिक्कुमारियों के निवास-स्थान –

दिशाओं का विभाग जम्बूद्वीपस्थ मेरु पर्वत से किया जाता है। जम्बूद्वीप से यदि द्वीपो की गणना की जाए, तो १७वा चक्रवालविष्कभ वाला वलयाकार रुचकवर द्वीप है। उस द्वीप के ठीक मध्यभाग मे गोलाकार रुचक पर्वत के चारो दिशाओ मे आठ-आठ कूट हैं। उन पर ३२ दिक्कुमारियो के आवास-स्थान है। वे देवियां महाऋद्धिवाली महानेजवाली, महासुखवाली, अचिन्त्य प्रभाववाली पल्योपमस्थिति वाली है। उनके नाम मूलार्थ मे दिए जा चुके है। ये दिक्कुमारिया तीर्थङ्करो के जन्म-कल्याणक के समय उपस्थित होती है। रुचक वर पर्वत की पूर्व दिशा मे जो रिष्ट आदि आठ कूटों पर रहनेवाली आठ दिक्कुमारिया हैं, वे श्री भगवान के जन्म-समय के भवन मे आकर हाथ मे दर्पण लेकर गीत गाती हुई श्री भगवान को उपासना करती है। नन्दोत्तरा, नन्दा, आनन्दा, नन्दिवर्द्धना, विजया, वैजयंती, जयन्ती और अपराजिता ये उन देवियो के नाम है।

जम्बूद्वीपस्थ मेरु से दक्षिण की ओर रुचकपर्वत पर कनक आदि आठ कूट हैं, उन मे रहनेवाली आठ दिक्कुमारियो के नाम क्रमश: निम्नलिखित है—समाहारा, सुप्रतिज्ञा, सुप्रबुद्धा, यशोधरा, लक्ष्मीवती, शेषवती, चित्रगुप्ता, वसुधरा। ये आठ दिक्कुमारिया श्री भगवान के जन्म-समय उपस्थित होती हैं, शृगार-प्रसाधन हाथ में लिये सूतिका भवन की दक्षिण दिशा मे खडी होकर गीत गाती हुई श्री भगवान की उपासना करती है।

जम्बूद्वीपस्थ मेरु से पश्चिम की ओर रुचकपर्वत पर स्वस्तिक आदि आठ कूटों पर क्रमश; आठ दिक्कुमारियां रहती है। उनके नाम नीचे लिखे अनुसार हैं, जैसे कि इलादेवी, सुरादेवी, पृथिवी, पद्मावती, एकनासा, नवमिका, सीता और भद्रा। ये आठ दिक्कुमारिया जिन-भवन से पश्चिम की ओर तालवृन्त हाथ में लिए खड़ी होकर भक्ति के गीत गाती हुई श्री भगवान की उपासना करती है

जम्बूद्वीपस्थ मेरु से लेकर उत्तर की ओर जो रुचक पर्वत पर रत्न आदि आठ कूट है, उन पर क्रमश. आठ दिक्कुमारिया निवास करती है। उनके नाम क्रमश नीचे लिखे अनुसार हैं जैसेकि अलम्बुषा, मितकेशी, पुण्डरीकिणी, वारूणी, आशा, सर्वगा, श्री और ह्री। ये आठ दिक्कुमारिया अरिहन्त भगवान के जन्मोत्सव के समय हाथ में चवर लिए खडी होकर भक्ति के गीत गाती हुई श्री भगवान की उपासना करती है।

अधोलोक मे आठ दिक्कुमारियो का निवास है। उनके नाम इस प्रकार हैं—भोगकरा, भोगवती, सुभोगा, भोगमालिनी, सुवत्सा, वत्समित्रा, वारिषेणा और वलाहका। इन मे पहली दो सौमनस पर्वत पर निवास करती है। तीसरी और चौथी गधमादन पर्वत पर रहती है। पाचवी और छटी विद्युत्प्रभ पर्वत पर रहती हैं। सातवी और आठवी माल्यवत पर्वत पर रहती है। भोगकरा आदि आठ दिक्कुमारियां जिन-जन्मोत्सव पर आती हैं। जिन-भवन के आस-पास की भूमि को संवर्त्तक वायु के द्वारा साफ करती हैं। यदि मल आदि अशुभ एव अनिष्ट वस्तु कही पर हो, उसे दूर हटाती हैं।

ऊर्ध्वलोक में रहनेवाली आठ दिक्कुमारी देवियां नन्दनवन आदि के कूटो में रहती है, जो कि श्री भगवान के जन्म-भवन के चारों ओर योजन प्रमाण मद-मद वर्षा के द्वारा रज को शान्त करती हैं। इनकी नामावली नीचे लिखे अनुसार है, मेघकरा, मेघवती, सुमेघा, मेघमालिनी, तोयधरा, विचित्रा, पुष्पमाला, अनिन्दिता।[1]

तिर्यक् मिश्रोपपन्नक कल्प

मूल—अट्ठ कप्पा तिरियमिस्सोववन्नगा पण्णत्ता, तं जहा—सोहम्मे जाव सहस्सारे।

एएसु णमट्ठसुकप्पेसु अट्ठ इंदा पण्णत्ता, तं जहा—सक्के जाव सहस्सारे।

एएसि णं अट्ठण्हमिंदाणं अट्ठ परियाणिया विमाणा पण्णत्ता, तं जहा—पालए, पुप्फए, सोमणसे, सिरिवच्छे, णंदावत्ते, कामकमे, पीइमणे, विमले।५५।

छाया—अष्ट कल्पास्तिर्यङ्मिश्रोपपन्नकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सौधर्मो यावत् सहस्रारः।
एतेषु खलु अष्टसु कल्पेषु अष्टौ इन्द्राः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शक्रो यावत् सहस्रारः।
एतेषामष्टानामिन्द्राणामष्टौ पारियानिकानि विमानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पालकः, पुष्पकः, सौमनसः, श्रीवत्सः, नन्दावर्त्तः, कामकमः, प्रीतिमनः, विमल.।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—तिर्यञ्च और मनुष्य जिन कल्पदेवलोकों में पैदा हो सकते है, वे सौधर्म कल्प से लेकर सहस्रार पर्यन्त आठ देवलोक है।

इन आठ कल्पो मे क्रमशः शक्रेन्द्र से लेकर सहस्रार पर्यन्त आठ इन्द्र है।

इन आठ इन्द्रो के पालक, पुष्पक, सौमनस, श्रीवत्स, नन्दावर्त्त, कामकमा, प्रीतिमना और विमल नामक आठ यात्रिक विमान वर्णन किये गए है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे देव-वर्णन के अन्तर्गत दिक् कुमारियो का परिचय दिया गया है। अब सूत्रकार उसी परम्परा मे तिर्यञ्च मिश्रित देवलोको, उनके अधिष्ठाता इन्द्रो और उनके यात्रिक विमानों का परिचय देते है।

---

1. इनका पूर्ण विवरण जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र के जिन-जन्म-महिमा अधिकार मे देखें।

इस सूत्र से यह बात सिद्ध की गई है कि भवनपति, वानव्यन्तर और ज्योतिष्क तथा पहले देवलोक से लेकर आठवे देवलोक पर्यन्त जितने भी देव और देविया है, उनकी आगति मनुष्य और तिर्यञ्च दोनो मे से होती है। आठवे कल्प देवलोक पर्यन्त जितनी भी देव जातिया है, वे न केवल मनुष्य से जाकर उत्पन्न होते है, अपितु तिर्यञ्च पचेन्द्रिय से भी जीव आठवे देवलोक को प्राप्त कर सकते है। कहा भी है **"तिरियमिस्सोववन्नग त्ति-अष्टसु तिर्यञ्चोऽप्युत्पद्यन्ते इति भूतभवापेक्षया तिर्यग्भिर्मिश्रस्तिर्यङ्मिश्रास्ते मनुष्या उपपन्ना देवतया जाता येषु ते तिर्यङ्मिश्रोपपन्नका इति।"**

इन आठ कल्पो से च्यव कर जीव तिर्यञ्च गति मे भी उत्पन्न हो सकते है। ९वे देवलोक से लेकर छब्बीसवे देवलोक तक देव मनुष्यगति से ही जाकर उत्पन्न होते है और वहा से च्यव कर मनुष्यगति मे ही लौटते है।

आठ कल्पो मे आठ इन्द्र हैं, शक्र, और यावत् पद से ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र ये नाम ग्रहण किए जाते है।

इन आठ इन्द्रों के आठ पारियानिक विमान है। उनके नाम इस प्रकार है—पालक, पुष्पक, सौमनस श्रीवत्स, नन्दावर्त्त, कामकम, प्रीतिमन, विमल। जब इन्द्र किसी कारणवश कही दूसरे स्थान में जाने की इच्छा करते है, तब आभियोगिक देवो द्वारा विमान बनाए जाते है, ये विमान सब वैक्रियमय होते है। जो जिस विमान का नाम है, उसी नाम का आभियोगिक देवता इन्द्र का आदेश मिलने पर उसे तैयार करता है। विमानो के नाम तो स्थायी है, किन्तु विमान स्थायी नही है। आवश्यकता पड़ने पर वे तैयार किये जाते है और कार्य की पूर्णता होने पर स्वय ही अदृश्य हो जाते हैं।

अष्ट-अष्टमिका भिक्षु प्रतिमा

मूल—अट्ठट्ठमियाणं भिक्खुपडिमाणं चउसट्ठीए राइंदिएहिं दोहि य अट्ठासीएहिं भिक्खासएहिं अहासुत्तं जाव अणुपालियावि भवइ।५६।

छाया—**अष्टाष्टमिका भिक्षुप्रतिमा चतुष्षष्ट्या रात्रिदिवैर्द्वाभ्याञ्चाष्टाशीतिभिक्षाशताभ्यां यथासूत्रं यावद् अनुपालिताऽपि भवति।**

शब्दार्थ—**अट्ठट्ठमियाणं**—अष्टाष्टमिका नामक; **भिक्खुपडिमाणं**—भिक्षु प्रतिमा; **चउसट्ठीएहिं राइदिएहिं** - चौसठ रात-दिनो में; **दोहि य अट्ठासीएहिं भिक्खासएहिं**—और दो सौ अठासी भिक्षाओ द्वारा; **अहासुत्तं**—सूत्रानुसार, **जाव**—यावत्, **अणुपालियावि भवइ**—अणुपालन की जाती है।

मूलार्थ—अष्टाष्टमिका नामक भिक्षुप्रतिमा चौसठ रात-दिनों में दो सौ अठासी भिक्षाओ द्वारा सूत्रानुसार पालन की जाती है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे आठ इन्द्रो और उनके विमानो का वर्णन किया गया है जिन्हे देव-ऋद्धि कहा जा सकता है। ये ऋद्धिया भिक्षु-प्रतिमा आदि साधनाओ द्वारा ही प्राप्त होती है, अत: सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र मे विविधविध भिक्षु-प्रतिमाओ मे से अष्ट-अष्टमिका भिक्षु-प्रतिमा का वर्णन करते है। प्रतिमा शब्द अभिग्रह-विशेप का वाची है। अष्ट-अष्टमिका भिक्षुप्रतिमा की पूर्ति मे ६४ अहोरात्र लगते है और २८८ भिक्षा की दत्तिया लगती हैं। इस अनुष्ठान की प्रक्रिया इस प्रकार है—पहले आठ दिन एक दत्ति भोजन की और एक ही दत्ति पानी की ली जाती है। द्वितीय अष्टक में दो-दो दत्तिया भोजन की और दो-दो दत्तिया पानी की। इसी तरह तीसरे अष्टक मे तीन-तीन एव आठवे अष्टक मे आठ-आठ दत्तिया भोजन की और पानी की ग्रहण करनी होती है। इस प्रकार इसकी पूर्ति मे कुल ६४ अहोरात्र लगते है। दत्तियो की कुल सख्या २८८ होती है। इतनी ही पानी की दत्तिया होती है।

अट्ठअट्ठमिया भिक्खू-पडिमा

१	१	१	१	१	१	१	१	८
२	२	२	२	२	२	२	२	१६
३	३	३	३	३	३	३	३	२४
४	४	४	४	४	४	४	४	३२
५	५	५	५	५	५	५	५	४०
६	६	६	६	६	६	६	६	४८
७	७	७	७	७	७	७	७	५६
८	८	८	८	८	८	८	८	६४

६४ दिवसा ❀ २८८ दत्तिओ

स्थापना-यन्त्र

इस अनुष्ठान का पूर्ण विवरण दशाश्रुत-स्कन्धसूत्र की सातवी दशा मे उपलब्ध होता है। सूत्र में आए हुए 'जाव पद से **अहाकप्पा, अहामग्गा, अहातच्चा, सम्मं काएण फासिया, पालिया, सोहिया, तीरिया, किट्टिया, आराहिया** पद ग्रहण किए जाते है। जिनका क्रमश अर्थ है—कल्प अर्थात् आचार के अनुरूप, मोक्षादि के मार्गानुकूल, तत्त्व के अनुसार, साम्य भाव से शरीर के द्वारा स्पर्श करना, उपयोग मे लाकर उसकी रक्षा करना, अतिचारो से शुद्धीकरण करना, कीर्ति द्वारा उसे पूर्ण करना, उसकी सम्यक्तया आराधना करना एव गुरुजनो की आज्ञा के अनुरूप प्रतिमा का पालन करना साधक का कर्त्तव्य है।

संसार-समापन्नक जीव

मूल—अट्ठविहा संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—पढमसमय-नेरइया, अपढमसमय-नेरइया, एवं जाव अपढम-समयदेवा।

अट्ठविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—नेरइया, तिरिक्खजोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, मणुस्सा, मणुस्सीओ, देवा, देवीओ, सिद्धा।

अहवा अट्ठविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—आभिणिबोहियनाणी जाव केवलनाणी, मइ-अन्नाणी, सुय-अण्णाणी, विभंगणाणी।५७।

छाया—अष्टविधाः संसारसमापन्नका जीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रथमसमय-नैरयिकाः, अप्रथमसमय-नैरयिकाः, एवं यावद् अप्रथमसमयदेवाः।

अष्टविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैरयिकाः, तिर्यग्योनिकाः, तिर्यग्योनिकाः, मनुष्याः, मानुष्यः, देवाः, देव्यः, सिद्धा.।

अथवा अष्टविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानी, यावत् केवलज्ञानी, मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आठ प्रकार के संसारी जोव वर्णन किये गए, है, यथा-प्रथमसमय-नारकीय, अप्रथमसमय-नारकीय यावत् अप्रथम-समयदेव।

आठ प्रकार के सब जीव वर्णन किए गए है, यथा—नारकीय, नियंच, तिर्यची, मनुप्य, मानुपी. देव, देवी और सिद्ध।

अथवा आठ प्रकार के मर्वजोव कथन किये गए है, यथा-आभिनिवोधिक-ज्ञानी यावत् केवलज्ञानी, मति-अज्ञानी, श्रुन-अज्ञानी, विभग-ज्ञानो।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे अष्ट अष्टमिका भिक्षु-प्रतिमा का वर्णन किया गया है। इस प्रकार की तपस्याए सयम-परायण मुनीश्वर ही कर सकते है, सामान्य ससारी जीव तप और सयम की आराधना नही कर पाते है, अत प्रस्तुत सूत्र मे आठ प्रकार के उन ससारी जीवो का वर्णन किया गया है।

वे आठ प्रकार के जीव है—प्रथम समय मे उत्पन्न हुए नारकी और अप्रथम समय मे उत्पन्न हुए नारकी। इसी तरह तिर्यञ्च, मनुष्य और देवो पर्यन्त जानना चाहिए। जिन जीवो को नरक मे उत्पन्न हुए एक ही समय हुआ है, वे 'प्रथम-समय-नैरयिक' और जिनको उत्पन्न हुए अनेक समय हो चुके है वे 'अप्रथम-समय-नैरयिक' कहलाते है। इसी तरह तिर्यच मनुष्य तथा देवो के विषय मे भी दो-दो भेद जानने चाहिए।

आठ प्रकार के सर्व जीव—

सभी जीवो का अन्तर्भाव आठ बोलो मे हो जाता है जैसे कि नारकी, तिर्यञ्च, तिर्यञ्ची, मनुष्य, मानुषी, देव, देवी और सिद्ध । सभी नारको केवली नपु सक वेदी होते है । सिद्ध तीनो वेदों से रहित होते है । तिर्यञ्च और मनुष्य इन पदो से पुरुष और नपुंसक दोनो का ग्रहण हो जाता है। देव-गति मे नपु सक वेदी नही होते है । वहा स्त्री-वेदी और पुरुष-वेदी ही होते है ।

आठ प्रकार के सवजीव—

जीव ज्ञान और अज्ञान के कारण आठ तरह के है जैसे कि आभिनिवोधिक-ज्ञानी, श्रुत-ज्ञानी, अवधि-ज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी, केवल-ज्ञानी, मति-अज्ञानी, श्रुताज्ञानी और विभगज्ञानी । सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होते है और मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी । आत्म-ज्ञान से युक्त साधक ज्ञानी और अज्ञान से युक्त मानव अज्ञानी होता है । आभिनिवोधिक शब्द मतिज्ञान के लिये ही प्रयुक्त होता है, अज्ञान के लिये नही । इसीलिए सूत्रकार ने अभिनिवोधिक न कहकर मति-अज्ञानी कहा है । विभगज्ञानी का भाव है— विपरीतावधिज्ञानी । जिस तरह अवधिज्ञानी पदार्थो के यथार्थ रूपो को जानता एव देखता है, उसी तरह विभगज्ञानी सम्यक्तया न जान सकता है और न देख सकता है । क्योकि उसका ज्ञान एकान्त वाद को लिये हुए होता है। विभगज्ञान के स्वरूप का विवेचन सातवे स्थान मे किया जा चुका है ।

अष्टविध-संयम

मूल—अट्ठविहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा—पढम-समय-सुहुमसंपराय-सरागसंजमे, अपढम-समय-सुहुम-संपराय-सरागसंजमे, पढम-समय-बादरसंजमे, अपढम-समय-बादर-संजमे, पढम-समय-उवसंत-कसाय-वीयराग-संजमे, अपढम-समय-उवसंत-कसाय-वीयराग-संजमे, पढम-समय-खीणकसाय-वीयराग संजमे, अपढम-समय-खीणकसाय-वीयराग-संजमे ।५८।

छाया—अष्टविधः संयमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रथमसमय-सूक्ष्म-सम्परायसराग-संयमः, अप्रथम-समय-सूक्ष्मसम्पराय-सरागसयमः, प्रथमसमय-बादरसंयमः अप्रथमसमय-बादरसंयमः, प्रथमसमयोपशान्तकषाय-वीतरागसयमः, अप्रथमसमयोपशान्तकषाय-वीतरागसंयमः, प्रथमसमय-क्षीणकषायवीतरागसयमः, अप्रथमसमय-क्षीणकषाय-वीतरागसंयमः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आठ प्रकार का सयम बतलाया गया है, जैसे—प्रथम समय का सूक्ष्म सम्पराय संयम, अप्रथम-समय का सूक्ष्मसम्पराय-संयम, प्रथम-समय का बादर सम्पराय सयम, अप्रथम-समय का बादर सम्पराय-सयम, प्रथम-समय का उपशान्त-कषाय-वीतराग-सयम, अप्रथम-समय का उपशान्त-कषाय-वीतराग-सयम। प्रथम-समय का क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम, अप्रथम-समय का क्षीण-कषाय-वीतराग-सयम।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में ससार-समापन्नक जीवो का ही वर्णन किया गया है। ससार मे रहे हुए जीव ही सयम-आराधना करके ससार से मुक्ति प्राप्त कर सकते है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे सयम के आठ भेदों का वर्णन किया गया है।

सयम के मूलतः दो भेद है—'सराग-सयम' और 'वीतराग-सयम'। इनमें मे सराग-सयम के दो भेद है—सूक्ष्म-सपराय-सराग-सयम और बादर-सपराय-सराग-सयम। प्रत्येक सयम के साथ प्रथम-समय और अप्रथम-समय जोड देने मे सराग-सयम के चार भेद हो जाते है। सज्वलन कषाय की मात्रा अत्यन्त सूक्ष्म होने पर जो चारित्र होता है, उसे 'सूक्ष्म-सपराय-सराग-सयम' कहा जाता है। स्थूल सज्वलन कषायों के होने पर जिस चारित्र का पालन किया जाता है वह "बादर-सपराय-सराग-सयम" कहलाता है। इनमे सयम के पहले दो भेद दसवे गुणस्थान मे होते है और सयम का तीसरा और चौथा भेद छठे से लेकर नौवे गुणस्थान तक पाया जाता है। दसवें गुणस्थान मे प्रवेश करते ही पहले समय मे 'प्रथम-समय-सूक्ष्म-सपराय-सराग-सयम' होता है। शेष समयो मे 'अप्रथम-समय-सूक्ष्म-सपराय-सराग-सयम' हुआ करता है। दसवे गुणस्थान से नीचे उतरते ही पहले समय मे 'प्रथम समय बादर-सपराय-सराग-सयम' होता है। शेष मे अप्रथम-समय-बादर-सपयराय-सराग-सयम' पाया जाता है।

वीतराग सयम भी दो प्रकार का होता है– उपशान्त-कषाय-वीतराग-सयम और क्षीण-कषाय वीतराग-सयम। इनमे से पहला सयम ग्यारहवे गुणस्थान मे होता है और दूसरा बारहवे गुणस्थान मे पाया जाता है। इन दोनो के दो-दो भेद है—प्रथमसमय और अप्रथम समय। इन दो पदो को जोड-कर वीतराग सयम चार प्रकार का हो जाता है, अर्थात् प्रथम-समय-उपशान्त कषाय-वीतराग-सयम, अप्रथम-समय-उपशान्त-कषाय-वीतराग-सयम। प्रथम-समय-क्षीण-कषाय-वीतराग-सयम और अप्रथम-समय-क्षीण-कषाय-वीतराग-सयम के रूप मे वीतराग सयम के चार भेद माने जाते है।[1]

---

१. विस्तृत वर्णन के लिये देखिए भगवती सूत्र शतक २५।

आठ पृथ्वियां

मूल—अट्ठ पुढवीओ पण्णत्ताओ, तं जहा–रयणप्पभा जाव अहे सत्तमा, ईसिपब्भारा।

ईसीपब्भाराए णं पुढवीए बहुमज्झदेसभागे अट्ठजोयणिए खेत्ते अट्ठजोयणाइ बाहल्लेणं पण्णत्ते।

ईसीपब्भाराए णं पुढवीए अट्ठ नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा–ईसिइ वा, ईसिपब्भाराइ वा, तणूइ वा, तणुतणुइ वा, सिद्धीइ वा, सिद्धालएइ वा, मुत्तीइ वा, मुत्तालएइ वा।५६।

छाया—अष्टौ पृथिव्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—रत्नप्रभाः यावत् अधःसप्तमी, ईषत्प्राग्भारा।

ईषत्प्राग्भारायाः पृथिव्या बहुमध्यदेशभागेऽष्टयोजनिकक्षेत्रमष्टयोजनानि बाहुल्येन—प्रज्ञप्तम्।

ईषत्प्राग्भारायाः, पृथिव्या अष्टनामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—ईषद् इति वा, ईषत्प्राग्भारेति वा, तनुरिति वा, तनु-तनुरिति वा, सिद्धिरिति वा, सिद्धालय इति वा, मुक्तिरिति वा, मुक्तालय इति वा।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ आठ पृथिविया वर्णन की गई है, यथा–रत्नप्रभा से लेकर सातवी अधः-सप्तमी और आठवो ईषत्प्राग्भारा।

ईषत्प्राग्भारा पृथिवी के अत्यन्त मध्यभाग में आठ योजन का क्षेत्र मोटाई की अपेक्षा आठ योजन का कथन किया गया है।

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के आठ नाम इस प्रकार है, यथा–ईषत्, ईषत्प्राग्भारा तनु, तनु-तनु, सिद्धि, सिद्धालय, मुक्ति और मुक्तालय।

विवेचनिका—

सयम का पालन पृथ्वीस्थ प्राणी ही करते है, अत पूर्वसूत्र मे सयम-भेदो का वर्णन करके अब सूत्रकार आठ पृथिवियो का परिचय देते है। पृथिविया आठ है—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा, तमतमाप्रभा और ईषत्प्राग्भारा पृथिवी। इनमे से ईषत्प्राग्भारा पृथिवी का मध्यभाग आठ योजन मोटा है। उस पृथिवी के गुणनिष्पन्न आठ नाम हैं, जैसे कि सबसे छोटी होने से उसे ईषत् कहते है। वह अन्य पृथिवियो की अपेक्षा सब से ऊपर है, लम्बाई चौड़ाई में स्वल्प है,

इस कारण उसे ईपत्प्राग्भारा कहते है। सबसे पतली होने से उसे तनु भी कहते है। अति तन्वी होने से, उसे तनुतनु भी कहा जाता है, क्योंकि उसके किनारे मक्खी के पख के समान अति पतले है। सिद्धो के समीप होने से उसे सिद्धि या सिद्धालय भी कहते हैं। इसी तरह उसे मुक्ति और मुक्तालय भी कहते हैं। यह व्यावहारिक दृष्टि को लक्ष्य में रखकर कथन किया गया है। जैसे कि "गङ्गायां घोषः" गगा मे कुटीर है, अर्थात् गगा के किनारे कुटीर है, यह लक्षणा से जाना जाता है। इसी तरह सिद्धि, सिद्धालय, मुक्ति और मुक्तालय ये चार नाम लक्ष्यार्थ के रूप मे लिये गए हैं। ●

आवश्यकीय-कर्त्तव्य

मूल—अट्ठहिं ठाणेहिं सम्मं संघडियव्वं, जइयव्वं, परक्कमियव्वं, अस्सिं च णं अट्ठे णो पमाएयव्वं भवइ—असुयाणं धम्माणं सम्मं सुणणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, सुयाणं धम्माणं ओगिण्हणयाए अवधारणयाए अब्भुट्ठियव्वं भवइ, पावाणं कम्माणं संजमेणमकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, पोराणाणं कम्माणं तवसा विगिंचणयाए, विसोहणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, असंगिहीयपरियणस्स संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, सेहं आयारगोयरगहणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, साहम्मियाणमधिगरणंसि उप्पण्णंसि तत्थ अनिस्सियोवस्सिओ अपक्खग्गाही मज्झत्थभावभूए, कह णु साहम्मिया अप्पसद्दा, अप्पझंझा, अप्पतुमंतुमा उवसामणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ ।६०।

छाया—अष्टसु स्थानेषु सम्यक् संघटितव्यं, यतितव्य, पराक्रमितव्यमस्मिश्चार्थे नो प्रमादयितव्यं भवति—अश्रुतानां धर्माणां सम्यक् श्रवणतायै अभ्युत्थातव्यं भवति, श्रुताना धर्माणामवग्रहणतायै उपधारणतायै अभ्युत्थातव्यं भवति, पापानां कर्मणां संयमेनाकरणतायै अभ्युत्थातव्यं भवति, पुराणानां कर्मणां तपसा विवेचनतायै विशोधनतायै अभ्युत्थातव्यं भवति, असंगृहीतपरिजनस्य संग्रहणतायै अभ्युत्थातव्य भवति, शैक्षस्याचारगोचरग्रहणतायै अभ्युत्थातव्यं भवति, ग्लानस्याग्लान्या वैयावृत्यकरणतायै अभ्युत्थातव्यं भवति, सार्धमिकाणामधिकरणे उत्पन्ने तत्रानिश्रितोपश्रितोऽपक्षग्राही, मध्यस्थभावभूतः कथं नु सार्धमिका अल्पशब्दाः, अल्पझंझा, अल्पतुमंतुमाः उपशामनतायै अभ्युत्थातव्यं भवति।

शब्दार्थ—अट्ठहिं ठाणेहिं—आठ स्थानों में; सम्मं—सम्यक् प्रकार से; संघडियव्वं—अप्राप्त

वस्तु को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये; **जइयव्वं**—प्राप्त को वनाये रखने के लिये प्रयत्न करना चाहिये; **परक्कमियव्व**—शक्ति क्षीण होने पर भी पराक्रम वनाए रखना चाहिये, **अंस्सि च ण अट्ठे**—इस विपय मे; **णो पामाएयव्वं भवइ**—प्रमाद न करना चाहिये, यथा; **असुयाणं धम्माण**—न सुने हुए धर्मो को; **सम्मं सुणणयाए**—सम्यक् प्रकार से सुनने के लिये; **अब्भुट्ठेयव्व भवइ**—उद्यम करना चाहिये; **सुयाण धम्माण**—सुने हुए धर्मों को, **ओगिण्हणयाए**—चिन्तन करने के लिये और, **अवधारणयाए**—तत्सम्वन्धी दृढ सस्कार वनाने के लिये, **अब्भुट्ठेयव्वं भवइ**—उद्यम करना चाहिये। **पावाण कम्माण सजमेणमकरणयाए**—सयम द्वारा पाप-कर्मो को न करने के लिये; **अब्भुट्ठेयव्वं भवइ**—उद्यम करना चाहिये। **पोराणाणं कम्माण**—पहले कृतकर्मो की, **तवसा विगिंचणयाए**—तप द्वारा निर्जरा और, **विसोहणयाए**—विशुद्धि के लिये, **अब्भुट्ठेयव्व भवइ**—प्रयत्न करना चाहिये। **असंगिहीयपरियाणस्स**—अनाश्रित शिष्यादि परिजन की; **सगिण्हणयाए**—सार सभाल करने के लिये, **अब्भुट्ठेयव्वं भवइ**—प्रयत्न करना चाहिये। **सेह आयार-गोयर-गहणयाए**—नवदीक्षित—शिष्यादि को आचार-विचार और भिक्षाचर्या आदि सिखाने के लिये, **अब्भुट्ठेयव्व भवइ**--प्रयत्न करना चाहिये। **गिलाणस्स अगिलाए**—रोगी की घृणा छोडकर, **वेयावच्चकरणयाए**—सेवा-भक्ति करने के लिये, **अब्भुट्ठेयव्व भवइ**—प्रयत्न करना चाहिये। **साहम्मियाणमहिगरणसि उप्पण्णसि**—सार्धमियो मे क्लेश उत्पन्न हो जाने पर, **तत्थ**—उस विवाद मे, **अनिस्सिओवस्सिओ**—राग-द्वेप से रहित होकर; **अपक्खग्गाही**—किसी का पक्ष न लेकर, **मज्झत्थभावभूए**—मध्यस्थ भाव को प्राप्त हो कर; **कह णु**—किस प्रकार; **साहम्मिया**—साधर्मी, **अप्पसद्दा**—व्यर्थ के महान शब्द न बोलनेवाले; **अप्पझझा**—व्यर्थ व असगत वचन न वोलने वाले, **अप्पतुमंतुमा**—क्रोध और मान से तू-तू शब्द न बोलने वाले होंगे, इस प्रकार; **उवसामणयाए**—क्लेश को शान्त करने के लिये, **अब्भुट्ठेयव्वं भवइ**—उद्यम करना चाहिये।

मूलार्थ—आठ स्थानो मे साधक को सम्यक् प्रकार से अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने और प्राप्त वस्तु के संरक्षण करने का प्रयत्न करना चाहिये। इस विषय मे क्षणमात्र भी प्रमाद नही करना चाहिये।

अश्रुत धर्मो को सम्यक् प्रकार से श्रवण के लिये और श्रुत धर्मो का चिन्तन करने तथा तद्विषयक दृढ सस्कार बनाने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। सयम द्वारा पाप कर्मो को न करने लिये यत्न करना चाहिये। पुराने कर्मो की तप द्वारा निर्जरा और विशुद्धि करने के लिये यत्न

करना चाहिये। आश्रय-रहित शिष्यादि रूप परिवार को आश्रय देने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये। नवदीक्षित शिष्यादि को आचार तथा भिक्षाचर्या आदि की विधि सिखाने के लिये यत्न करना चाहिये। घृणा को छोड़कर रोगियों की सेवा के लिये प्रयत्नवान बनना चाहिये। स्व-धर्मियों में क्लेश उत्पन्न होने पर उस विवाद में राग-द्वेष रहित होकर किसी का पक्ष न लेकर मध्यस्थ भाव को धारण कर इस बात के लिये यत्न करना चाहिये कि यह क्लेश किस प्रकार शान्त हो? जिससे व्यर्थ के शब्द और असंगत तथा क्रोध और मान से उत्पन्न परस्पर की तू-तूं 'मैं-मैं' शब्द का बोलना समाप्त हो जाये।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे आठ पृथिवियों का वर्णन किया गया है। पृथ्वी पर स्थित साधकों के लिये ही साध्य का निर्देश किया जाता है, अत. प्रस्तुत सूत्र में साधको के लिये आठ साधनीय विषयो का वर्णन किया गया है। अप्रमत्त-भाव से शुभानुष्ठान करने पर सिद्धिया प्राप्त होती है, इस शुभ-अनुष्ठान के रूप मे भगवान् की आठ शिक्षाओ का पालन करना अनिवार्य है। इसीलिये कहा गया है—**'सम्म सघडियव्व'** —अर्थात् सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। **जइयव्वं**—वे शिक्षाए यदि प्राप्त हो, तो उनकी रक्षा के लिये सावधान रहना चाहिए। **परक्कमियव्वं**—शक्ति क्षीण होने पर भी उन शिक्षाओ की आराधना मे दत्त-चित्त रहना चाहिए। उनके पालन के लिये दिन-प्रतिदिन उत्साह बढाते रहना चाहिए। यदि उत्साह प्रबल होगा, तो शक्ति न होने पर भी साधक स्वकर्त्तव्य के प्रति हतोत्साह नही हो सकता। **अंसि च णं अट्ठे नो पमायव्वं भवइ**—उन आठ शिक्षाओ के पालन करने मे विल्कुल भी प्रमाद नही करना चाहिए। यहा प्रमाद का अर्थ है "स्वकर्त्तव्य-विस्मृति"। इन चार पदो से उन आठ शिक्षाओ की महत्ता एव साधक-जीवन के लिये उपयोगिता स्पष्ट की गई है।

आठ सुशिक्षाएं

१. नही सुने हुए धर्मो को सम्यक् प्रकार से सुनने के लिये उद्यत रहना चाहिए। सूत्रकार ने यहां धर्म शब्द का प्रयोग बहुवचवान्त किया है, क्योकि धर्म के अनेक अंग है, जैसे कि—सम्यक्त्व-धर्म, श्रुत-धर्म, और चारित्रधर्म, अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप धर्म, अथवा अगार-धर्म और अनगार-धर्म इत्यादि। इन समस्त धर्मो के पालन के लिये साधक को यत्नशील रहना चाहिए।

२. साधक भेद-प्रभेदों सहित सुने हुए धर्म को मनन का विषय बनाए, उसमें सतत मन को एकाग्र करे, स्मृति-पथ में रखे, जिससे आत्मा में धर्म सस्कारों की अमिट छाप पड़ सके। धर्म की स्मृति बनी रहने से ही आत्मा कर्म-मल से सर्वथा निर्लिप्त हो सकता है।

३ सयम आराधना से पापकर्मो को दूर करने के लिये भी साधक को प्रयत्नशील रहना चाहिए। विकार एव दोषजनक सभी उपाधियों का सयम के द्वारा निराकरण करना, उन पाप-कर्मो को पुन: न करने के लिये ही उद्यत होना साधक के लिये परम आवश्यक है।

४ साधक को पूर्वबद्ध कर्मो का क्षय करने के लिये यथाशक्य तप भी करना चाहिए। तप करने से घातिकर्मो का स्थितिघात तथा रसघात होता है, जिससे कर्मो से छुटकारा पाना सहज हो जाता है। सयम-आराधना से पाप-कर्म न करने के लिये प्रतिज्ञा की जाती है और तप से सचित कर्मो का क्षय किया जाता है।

५ नये शिष्यो के सग्रह करने के लिये अथवा निराश्रित सहधर्मी को अपने समुदाय में सम्मिलित के लिये अथवा जैनेतर को जिन धर्म से प्रभावित करने के लिये साधक को निरतर प्रयास करना चाहिए। जिसका कोई नही है, उसके तुम बनो" यह भगवान की उक्ति जीवो को आश्रय देनेवाली है।

६ नये शिष्यो को साधु-धर्म की मर्यादाए सिखाने के लिये यत्नशील होना चाहिए, क्योकि नव साधक के लिये सयम-सुमेरु के शिखर पर पहुचानेवाली यदि कोई शिक्षा है तो वह आचार-गोचर ही है।' जैसे प्रशिक्षण के विना सैनिक विजय नही पा सकता, वैसे ही आचार-गोचर शिक्षा प्राप्त किए विना साधक कर्मो पर विजय नही पा सकता।

७ रोगग्रस्त या पीडाग्रस्त सर्व-विरति की बिना किसी तरह खेद माने सयम-पूर्वक वैयावृत्य करने के लिये साधक को यत्नशील रहना चाहिए, क्योकि अनुकम्पाजन्य सुकोमलता ही धर्म की जननी है। रोगग्रस्त को सयम मे सुदृढ़ वनाये रखने से साधक और साधना-शिक्षक दोनों का कल्याण होता है।

८ जव सहधर्मियो मे किसी कारणवश परस्पर विरोध खडा हो जाए मनमुटाव हो या क्लेश उत्पन्न हो जाए, तव साधक को अपने या दूसरे का पक्ष न लेकर राग-द्वेष से अलग होकर मध्यस्थ भाव से झगडो का निपटारा एव परस्पर खिमत-खिमावना करके सघ मे शान्ति स्थापन करनी चाहिए। पहले के शान्त हुए कलह की पुन: उदीरणा भी नही करनी चाहिए। जिस से सघ में विद्या-विनय एव विवेक का प्रसार हो, वैसी क्रियाए करने का प्रयास करना चाहिए। जैनधर्म शान्ति, सहिष्णुता, एकता, वात्सल्य आदि सद्गुणों मे परिव्याप्त है, कषायो के उभारने मे जैन धर्म आज्ञा नही देता।

ये शिक्षाए प्राणीमात्र के लिये उपयोगी है, न कि केवल जैन साधको के लिये। अत. इनकी सर्वजनीन महत्ता सब के लिये मान्य है।

कल्प द्वय का उच्चत्व-मान

मूल—महासुक्क-सहस्सारेसु णं कप्पेसु विमाणा अट्ठ जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता ।६१।

छाया—महाशुक्र-सहस्रारयोर्विमानानि अष्टौ योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—महाशुक्र एवं सहस्रार कल्पदेवलोकों मे ऊंचाई की अपेक्षा से विमान आठ सौ योजन ऊचे वर्णन किये गये है ।

विवेचनिका—

जो साधक प्रमाद से रहित हैं, वे उच्चदेवलोको मे उत्पन्न होते है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे विमानो का प्रमाण बताया गया है। सातवे और आठवे देवलोक मे जितने भी विमान हैं, वे सब आठ सौ योजन प्रमाण ऊचे है ।

श्री अरिष्टनेमि की वादि-सम्पदा

मूल—अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स अट्ठसया वाईणं सदेवमणुयासुराए परिसाए वाए अपराजियाणं उक्कोसिया वाइसंपया हुत्था ।६२।

छाया—अर्हतोऽरिष्टनेमेः अष्टवादिशतानां सदेवमनुजासुराणां परिषदि वादेऽपराजितानामुत्कृष्टा वादिसंपदभूत् ।

शब्दार्थ—अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स—अर्हत् अरिष्टनेमि जी के; अट्ठसयावाईणं—आठ सौ वादियो की, सदेवमणुयासुराए—देवो, मनुष्यो और असुरो की, परिसाए—सभा मे; वाए अपराजियाणं—वाद मे अपराजित अर्थात् जिन्हे जीता नही जा सकता; उक्कोसिया—उत्कृष्ट; वाइसपया हुत्था—वादियो की सम्पदा थी ।

मूलार्थ—अरिहन्त अरिष्टनेमि जी की उत्कृष्ट वादि-सम्पदा आठ सौ वादियों की थी। ये वादी ऐसे थे कि देव, मनुष्यो और असुरों की परिषद् मे किसी से भी नही जीते जा सकते थे ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में सातवे और आठवे देवलोक के विमानो की ऊचाई का वर्णन किया गया है। उन

विमानों में अरिहन्तो की चरण-शरण में रहनेवाले अपराजेय विद्याभ्यासी निवास किया करते हैं, अत प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार अरिहन्त श्री अरिष्टनेमि जी के अजेय विद्याभ्यासियो की गणना वताते हुए कहते हैं:—

अरिहन्त अरिष्टनेमि भगवान के शासनकाल मे आठ सौ शास्त्रार्थ महारथी हुए है। उन साधुओं को देव, मनुष्य या असुर कोई भी वाद मे पराजित नही कर सकता था। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र की प्रभावना वाद द्वारा ही हो सकती है। जैसे हेतु के सम्मुख हेत्वाभास नही ठहर सकता। जैसे दिवाकर के सामने अधकार नहीं ठहर सकता, वैसे ही सम्यग्-ज्ञान के सामने अज्ञान नही ठहर सकता, सम्यग्दर्शन के सामने मिथ्यादर्शन नही ठहर सकता, सयमी के सामने पाखडी नही ठहर सकता। अत: धर्म प्रभावना सम्यग्वाद की भी अत्यत आवश्यकता रहती है। सम्यग्वाद से ही मिथ्यावाद का निराकरण किया जा सकता है। मिथ्यादृष्टियो को शास्त्रार्थ मे पराजित करने से धर्म-प्रभावना होती है, प्रभावना से जीव सुलभवोधि वनता है तथा सुगति का अतिथि, भी वे वादी सदैव प्रमाण और नय के द्वारा वाद का प्रारम्भ किया करते थे, इसी कारण वे किसी से पराजित नही होते थे। भगवान अरिष्टनेमि के युग मे उन वादी मुनिवरो की कुल सख्या आठ सौ थी।

केवलि-समुद्घात

मूल—अट्ठसमइए केवलिसमुग्घाए पण्णत्ते, तं जहा–पढमे समए दंडं करेइ, बीए समए कवाडं करेइ, तइए समए मंथान करेइ, चउत्थे समए लोगं पूरेइ, पंचमे समए लोगं पडिसाहरइ, छट्ठे समए मंथं पडिसाहरइ, सत्तमे समए कवाडं पडिसाहरइ, अट्ठमे समए दंड पडिसाहरइ।६३।

छाया - अष्टसामयिकः केवलिसमुद्घातः प्रज्ञप्तस्तद्यथा--प्रथमे समये दण्डं करोति, द्वितीये समये कपाटं करोति, तृतीये समये मन्थान करोति, चतुर्थे समये लोकं पूरयति, पञ्चमे समये लोक प्रतिसहरति, षष्ठे समये मन्थानं प्रतिसहरति, सप्तमे समये कपाटं प्रति-संहरति, अष्टमे समये दण्ड प्रतिसहरति।

शब्दार्थ—केवलिसमुग्घाए—केवलि-समुद्घात, अट्ठसमइए पण्णत्ते—आठ समय का प्रतिपादन किया गया है; त जहा—यथा; पढमे समए—पहले समय में आत्म प्रदेशो को; दंड करेइ—दण्डाकार वनाता है, बीए समए कवाड करेइ—दूसरे समय मे कपाटाकार वनाता है; तइए समए मंथानं करेइ—तीसरे समय मे मन्थानक वनाता है, चउत्थे समए लोगं पूरेइ—चौथे समय मे लोक को पूरता है, पंचमे समए लोगं पडिसाह-

रइ—पाञ्चवें समय मे लोक का प्रतिसंहार करता है, छट्ठे समए मंथ पडिसाहरइ—छठे समय में मन्थानक का प्रतिसहार करता है; सत्तमे समए कवाड पडिसाहरइ—सातवें समय मे कपाट का प्रतिसहार करता है, और; अट्ठमे समए दंडं पडिसाहरइ—आठवे समय मे दण्ड का प्रतिसहार करता है ।

मूलार्थ—केवलिसमुद्घात आठ समय का कथन किया गया है, यथा—प्रथम समय मे आत्म-प्रदेशों को दण्डरूप मे परिणत करता है, द्वितीय समय में कपाट बनाता है, तृतीय समय मे मन्थानक बनाता है, चतुर्थ समय मे समस्त लोक को आत्म-प्रदेशों से परिव्याप्त कर देता है, पञ्चम समय मे लोक का प्रतिसंहार करता है, छट्ठे समय मे मन्थानक का प्रतिसंहार करता है, सातवे मे कपाट का तथा आठवे समय में दण्ड का प्रतिसहार करके यथावस्थित हो जाता है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे भगवान् अरिष्टनेमि जी की वादी-सम्पदा का वर्णन किया गया है । अपराजेय ज्ञान-शक्ति से सम्पन्न मुनीश्वर ही 'केवली' पद प्राप्त किया करते है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे केवली-समुद्घात का वर्णन किया गया है ।

अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त करने वाले किसी-किसी केवली भगवान के जब वेदनीय आदि कर्म अत्यधिक हो और आयु-कर्म स्वल्प हो, तब वे कर्मो को सम करने के लिये समुद्घात किया करते हैं । अन्तर्मुहूर्त पहले आवर्जिकर्म होता है । आवर्जिकर्म का अर्थ है—कर्मो की उदीरणावलिका मे लाने की क्रिया ।[1]

केवलीसमुद्घात मे आठ समय लगते है । पहले समय मे केवली के आत्मप्रदेशो की रचना दण्डाकार हो जाती है, वह दण्ड मोटाई मे स्वशरीर परिमाण और लम्बाई मे लोकान्तपर्यन्त विस्तृत होता है । दूसरे समय मे वह दण्ड पूर्व और पश्चिम या उत्तर और दक्षिण में फैल जाता है । फिर उस दण्ड का लोकपर्यन्त फैला हुआ कपाट सा आकार बन जाता है । तीसरे समय में दक्षिण, उत्तर तथा पूर्व-पश्चिम चारो दिशाओ मे लोकान्तपर्यन्त आत्मप्रदेशो को फैलाकर वह उसी कपाटाकार को मथानीरूप बना देता है । ऐसा करने से लोक का अधिकाश भाग आत्मप्रदेशो से व्याप्त हो जाता है, किन्तु मंथानी की तरह अन्तराल प्रदेश खाली रहते है । चौथे समय मे मथानी के अन्तरालो को पूर्ण करता हुआ समस्त लोकाकाश को आत्मप्रदेशों मे परिव्याप्त कर देता है, क्योकि लोकाकाश के प्रदेश

१. "तत्र समुद्घात प्रारभमाण प्रथममेवावर्जीकरणमभ्येति, अन्तर्मौहूर्तिक उदीरणावलिकाया कर्मप्रक्षेपव्यापार-रूपमित्यर्थ" ।

और जीव प्रदेश दोनो समान एव बराबर है। पाचवे समय मे पुन: मथानी, छट्ठे समय में कपाट, सातवे समय में दण्ड और आठवे समय मे समस्त आत्मप्रदेश शरीर मे प्रविष्ट होकर शरीरस्थ हो जाते हैं।

पहले और आठवें समय मे औदारिक काय-योग होता है। सातवे, छट्ठे और दूसरे समय मे औदारिक मिश्रकाय योग होता है। चौथे, पाचवे और तीसरे समय में कार्मणकाय योग होता है। तीसरे चौथे और पांचवे समय मे केवली अनाहारक होते है। इस प्रकार केवली भगवान समुद्घात के द्वारा वेदनीय आदि कर्मों को आत्मप्रदेशो से पृथक् कर डालते है। सभी केवली समुद्घात नही करते, केवल वही करते है जिन के वेदनीय आदि कर्मो की अभी बहुलता होती है।[2]

वस्तुत. केवली महापुरुष समुद्घात करते नही, तो उनके साधना-प्रभाव से स्वत. ही होता है, परन्तु यहा केवल विषय की स्पष्टता के लिये 'करेइ' शब्द का प्रयोग किया गया है। समुद्घात भी तभी होता है जबकि वेदनीय आदि कर्म अत्यधिक होते है और आयुष्य कर्म स्वल्प होता है सभी केवलियो को समुद्घात नही करना पड़ता। छः मास आयु शेष रहने पर जिसे केवल ज्ञान उत्पन्न होता है, वही केवलिसमुद्घात करता है।

भगवान महावीर की अनुत्तरौपपातिक सम्पदा

मूल—समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अट्ठसया अणुत्तरोववाइयाणं गइकल्लाणाणं जाव आगमेसिभद्दाणं उक्कोसिया अणुत्तरोववाइयसंपया हुत्था ।६४।

छाया—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अष्टशतान्यनुत्तरौपपातिकानि गतिकल्याणानां यावद् आगमिष्यद्भद्राणामुत्कृष्टा अनुत्तरौपपातिकसंपदाऽभूत्।

शब्दार्थ—समणस्स णं भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर की; अट्ठसया अणुत्तरोववाइयाण—आठ सौ अनुत्तर विमानो मे उत्पन्न होनेवालो; गइकल्लाणाणं—कल्याण-रूप देव गति को प्राप्त करने वालो; जाव—यावत्; आगमेसिभद्दाणं—भविष्यत् काल में निर्वाणरूप कल्याण को प्राप्त करनेवालो की; उक्कोसिया—उत्कृष्ट; अणुत्तरोववाइयसंपया हुत्था—अनुत्तर विमानो में जानेवालो की उत्कृष्ट सपदा थी।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर की अनुत्तर विमानो में जानेवालों, कल्याणरूप

---

२ विस्तृत विवेचन के लिये देखिए औपपातिक सूत्र एव प्रज्ञापना सूत्र में समुद्घात पद।

देवगति प्राप्त करनेवालों एवं यावद् भविष्य में निर्वाण रूप कल्याण पाने वालों की उत्कृष्ट सम्पदा आठ सौ थी ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में केवली समुद्घात का वर्णन किया गया है । अब उसी परम्परा में भगवान महावीर के उन मुनीश्वरों का वर्णन किया जा रहा है जिन्होने अपनी उत्कृष्ट साधना के द्वारा सर्वोच्च देवलोकों को प्राप्त किया अथवा जो भविष्य में उत्कृष्टतम साधना द्वारा मोक्षगामी होंगे ।

जो केवली तो नही, किन्तु उत्कृष्ट साधना-सम्पन्न भिक्षु होते हैं, वे उच्च देवलोकों को प्राप्त करते है । श्रमण भगवान महावीर के समय में १४००० मुनिवरो मे से ८०० मुनिवर पाच अनुत्तर विमानो में उत्पन्न हुए, जो कि भविष्य में निर्वाण-पद को प्राप्त करेंगे । उनकी गति और स्थिति दोनो ही कल्याणकारी है । अनुत्तर विमानों में जितने भी देव निवास करते है, वे सब एकान्त सम्यग्दृष्टि, परित्त-संसारी, सुलभबोधि एवं आराधक होते है ।

वानव्यन्तरदेव और उनके चैत्यवृक्ष

मूल—अट्ठविहा वाणमंतरा देवा पण्णत्ता, तं जहा—पिसाया, भूया, जक्खा, रक्खसा, किन्नरा, किंपुरिसा, महोरगा, गंधव्वा । एएसि णं अट्ठण्हं वाणमंतरदेवाणं अट्ठ चेइयरुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—

कलंबो अ पिसायाणं, वडो जक्खाण चेइयं ।
तुलसी भूयाणं भवे, रक्खसाणं च कंडओ ॥
असोओ किन्नराणं य, किंपुरिसाण य चंपओ ।
नागरुक्खो भुयंगाणं, गंधव्वाण य तेंदुओ ।६५।

छाया—अष्टविधा वाणव्यन्तरा देवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पिशाचाः, भूताः, यक्षाः, राक्षसाः, किन्नराः, किम्पुरुषाः, महोरगाः, गन्धर्वाः । एतेषामष्टानां वाणव्यन्तरदेवानामष्टौ चैत्यवृक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

कदम्बश्च पिशाचानां, वटो यक्षाणां चैत्यम् ।
तुलसी भूतानां भवेत्, राक्षसानाञ्च कण्डकः ॥
अशोकः किन्नराणाञ्च, किम्पुरुषाणाञ्च चम्पकः ।
नागवृक्षो भुजंगानां, गन्धर्वाणाञ्च तिन्दुकः ॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आठ प्रकार के वाणव्यन्तर देव वर्णन किये गये है, जैसे कि–पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व ।

इन आठ व्यन्तर देवों के आठ चैत्यवृक्ष है, जैसे–पिशाचों का कदम्ब, यक्षो का बट, भूतो का तुलसी, राक्षसों का कण्डक, किन्नरो का अशोक, किम्पुरुषो का चम्पक, भुजंगो का नागवृक्ष और गन्धर्वों का तिन्दुक ।

विवेचनिका—

देवाधिकार होने से प्रस्तुत सूत्र में वानव्यतर देवों के नाम और उनके निवास-योग्य चैत्य-वृक्षो के नाम निर्दिष्ट किए गए है। व्यन्तर देव १६ प्रकार के होते हैं। उनमें आठ प्रकार के वान-व्यन्तर प्रधान माने जाते है। जैसेकि– पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गधर्व। इन देवो के आठ चैत्यवृक्ष होते है, जैसे कि—

पिशाचो का कदम्व, यक्षो का वरगद, भूतों का तुलसी, राक्षसों का कण्डक, किन्नरों का अशोक, किंपुरुषो का चम्पक, भुजगो का नागवृक्ष और गधर्वों का तिन्दुक।

ये आठ चैत्यवृक्ष मणिपीठिका के ऊपर होते है और सभी रत्नमय है। ऊपर छत्र एव ध्वजाओं से समलंकृत हैं। ये चैत्यवृक्ष सौधर्म सभा के आगे अवस्थित है।

लौकिक दृष्टि से भी यदि देखा जाए तो इन वृक्षो पर देवो की विशेष दृष्टि रहती है। देव-साधक इन देवो की साधना उक्त वृक्षो के नीचे सुखपूर्वक कर सकता है। भुजग शब्द महोरग देव जाति के लिये प्रयुक्त हुआ है।

रत्नप्रभा से सूर्यविमान की दूरी

मूल—इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ अट्ठजो-यणसए उड्ढवाहाए सूरविमाणे चारं चरइ ।६६।

छाया—अस्याः रत्नप्रभायाः पृथिव्याः बहुसमरमणीयाद् भूमिभागाद् अष्ट योजनशतान्यूर्ध्वंम सूरविमानं चारं चरति।

शब्दार्थ—इमीसे—इस; रयणप्पभाए पुढवीए—रत्नप्रभा नामक पृथिवी के; बहुसमरम-णिज्जाओ भूमिभागाओ—अत्यन्त सम और रमणीय भूमिभाग से; अट्ठजोयणसए—

आठ सौ योजन की; उड्ढवाहाए—ऊचाई पर; सूरविमाणे—सूर्य का विमान; चार चरइ—चलता है।

मूलार्थ—इस रत्नप्रभा पृथिवी के अत्यन्त सम और रमणीय भूमि-प्रदेश से आठ सौ योजन की ऊचाई पर सूर्य का विमान परिभ्रमण करता है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे वानव्यतर देवों का वर्णन किया गया है, ज्योतिष्क देव विमानो में रहते है, अत: प्रस्तुत में सूर्य-विमान इस धरातल से कितना ऊचा है ? इस रहस्य का सूत्रकार ने अनावरण किया है। इस रत्नप्रभा पृथिवी के वहुसमतल भूमिभाग से सूर्य विमान ८०० योजन ऊचा चलता है। वह विमान इतना बड़ा है कि यदि एक योजन के ६१ भाग किए जाए तो वह ४८ भागमात्र लम्बा चौड़ा है। १६००० देवता इस विमान के रक्षक, सेवक एव सचालक है।

यद्यपि आज के वैज्ञानिक सूर्य-मण्डल की पृथ्वी से दूरी सवा नौ करोड मील स्वीकार करते है और आठ सौ योजन का अर्थ लगभग ३२००००० मील हो होता है, परन्तु युग-युग का मान-भेद इस विपय मे विरोध की प्रतीति नही होने देता।

प्रमर्द-योग नक्षत्र

मूल—अट्ठ नक्खत्ता चंदेणं सद्धिं पमद्दं जोगं जोयेंति, तं जहा—कत्तिया, रोहिणी, पुणव्वसू, महा, चित्ता, विस्साहा, अणुराहा, जेट्ठा।६७।

छाया—अष्टौ नक्षत्राणि चन्द्रेण सार्द्धं प्रमर्दं योगं योजयन्ति, तद्यथा—कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आठ नक्षत्र चन्द्रमा के साथ मिलकर प्रमर्द नामक योग उत्पन्न करते है, जैसे—कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में सूर्य-विमान का वर्णन किया गया है, अव सूत्रकार उसी विपय मे सम्वन्ध चन्द्र-

नक्षत्र योग से उत्पन्न प्रमर्द योग का वर्णन करते है।

प्रमर्दयोग का अर्थ होता है—निर्दिष्ट नक्षत्रो का दक्षिण या उत्तर की ओर से चन्द्र के साथ योग होना। यह योग कभी-कभी ही होता है। इसका फल मनुष्यलोक में सुभिक्ष आदि कथन किया गया है। वृत्तिकार भी लिखते है—एतानि नक्षत्राण्युभययोगिनि चन्द्रस्य दक्षिणेनोत्तरेण च युज्यन्ते, कथञ्चिच्चन्द्रेण भेदमप्युपयान्तीति'। एतत्फल चेदम्—"एतेषामुत्तरगा ग्रहाः सुभिक्षाय चन्द्रमा नितरामिति'। प्रमर्द योगकारी आठ नक्षत्र निम्नलिखित है—कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसू, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा।

द्वीप-समुद्र-द्वारों की ऊचाई

मूल—जंबूद्दीवस्स णं दीवस्स दारा अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता। सव्वेसिंपि दीवसमुद्दाणं दारा अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता।६८।

छाया—जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य द्वाराणि अष्ट योजनान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि। सर्वेषामपि द्वीप-समुद्राणां द्वाराणि अष्ट योजनानि उर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के द्वार ऊचाई की अपेक्षा आठ योजन ऊचे वर्णन किये गये है। सभी द्वीप-समुद्रो के द्वार ऊंचाई की अपेक्षा आठ योजन-कथन किये गए है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे सूत्रकार खगोल-सम्बन्धी वर्णन कर रहे थे, अब उसके प्रतिपक्षभूत भूगोल का आंशिक वर्णन करते है। जंबूद्वीप के चार द्वार है जिनके नाम विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित है। ये द्वार आठ योजन ऊचे है। सभी द्वीपो और समुद्रो के द्वारो के नाम भी ये ही है और वे भी आठ-आठ योजन ऊचे हैं।[1]

पुरुषवेद और यशःकीर्ति नाम कर्म की जघन्य स्थिति

मूल—पुरिसवेयणिज्जस्स णं कम्मस्स जहण्णेणं अट्ठसंवच्छराइं बंधठिई पण्णत्ता।

१. विशेष वर्णन के लिये देखिए जीवाभिगम सूत्र।

जसोकित्तीनामएणं कम्मस्स जहण्णेणं अट्ठ मुहुत्ताइं बंधठिई पण्णत्ता। उच्चगोयस्स णं कम्मस्स एवं चेव।६९।

छाया—पुरुषवेदनीयस्य कर्मणो जघन्येन अष्टौ सम्वत्सराणि बन्धस्थितिः प्रज्ञप्ता। यशःकीर्तिनामकस्य कमणो जघन्येन अष्टौ मुहूर्त्ताणि बन्धस्थितिः प्रज्ञप्ता। उच्चगोत्रस्य कर्मण एवमेव।

शब्दार्थ—पुंसिवेयणिज्जरस ण कम्मस्स—पुरुष वेदनीय कर्म की; जहण्णेणं—जघन्य—कम से कम, बंधठिई—बन्धन-स्थिति; अट्ठ संवच्छराइं पण्णत्ता—आठ वर्ष की कथन की गई है। जसोकित्तीनामएणं—यश:कीर्त्तिनामक; कम्मस्स—कर्म की; जहण्णेणं—जघन्य; बंधठिई—बन्ध-स्थिति; अट्ठ मुहुत्ताइं पणत्ता—आठ मुहूर्त्त की कथन की गई है। उच्चगोयस्स णं कम्मस्स—उच्चगोत्र कर्म की बन्ध स्थिति, एव चेव—इसी तरह समझनी चाहिये।

मूलार्थ—पुरुष वेदनीय कर्म को जघन्य बन्ध-स्थिति आठ वर्ष की कथन की गई है। यश.-कीर्त्ति नाम-कर्म की जघन्य बन्ध स्थिति आठ मुहूर्त्त बताई गई है। उच्चगोत्र कर्म की बन्ध स्थिति भी इसी प्रकार जान लेनी चाहिए।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे जम्बूद्वीप-समुद्रो के द्वारों का वर्णन किया गया है। उन द्वारों में कर्मबद्ध जीव निवास करते हैं. अत. सूत्रकार इस सूत्र में जिन कर्मों की स्थिति आठ वर्ष को है या आठ मुहूर्त्त की है, उनका उल्लेख करते है। जीव जघन्य स्थिति का बन्ध दसवे गुण-स्थान मे करता है। नीचे के गुणस्थानो मे जघन्य स्थिति का बध नही होता। पुरुषवेद की जघन्य-स्थिति का यदि कोई बध करता है तो आठ वर्ष का स्थिति-बध होता है। उसका उदयकाल आठ वर्ष तक ही रहता है उसके बाद स्त्री या नपुंसक भाव को प्राप्त हो जाता है।

यश:-कीर्त्ति और ऊच्चगोत्र इन प्रकृतियो की कम से कम स्थिति आठ मुहूर्त्त की है। इससे कम इन प्रकृतियों का बध नही हो सकता। कर्मो की जघन्य और उत्कृष्ट स्थितियो का विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के २३वे, २४वे, २५वे पदो मे द्रष्टव्य है।

त्रीन्द्रिय जीवों की कुल-कोटियां

मूल—तेइंदियाणमट्ठ जाईकुलकोडी जोणीपमुह सयसहस्सा पण्णत्ता।७०।

छाया—त्रीन्द्रियाणामष्टौ जातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—त्रीन्द्रिय जाति के जीवों की कुल-कोटिया आठ लाख वर्णन की गई है।

विवेचनिका—

शुभाशुभ कर्मो के उदय से जीव विचित्र जाति कुल कोटियो मे परिभ्रमण करता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में त्रीन्द्रिय जीवों की जाति-कुल-कोटि का निर्देश किया गया है। त्रीन्द्रिय जीवों की दो लाख योनियां है। उनमे उत्पन्न होनेवाले त्रीन्द्रिय जीवो की आठ लाख जाति-कुल-कोटियां बतलाई गई है। यद्यपि त्रीन्द्रिय जीव असख्यात है, परन्तु एक ही प्रकार से उत्पन्न होनेवाले जीव-समूह की एक ही जाति-कुलकोटि मानी जाती है। त्रीन्द्रिय जीवो की इस प्रकार की जाति-कुलकोटियां आठ लाख है।

अशुभ कर्म और पुद्गलों की अनन्तता

मूल—**जीवा णं अट्ठ ठाणणिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा, तं जहा—पढमसमयनेरइयनिव्वत्तिए जाव अपढम-समय-देवनिव्वत्तिए। एवं चिण, उवचिण जाव निज्जरा चेव।**

अट्ठ पएसिया खंधा अणता पण्णत्ता। अट्ठपएसोगाढा पोग्गला अणंता पण्णत्ता, जाव अट्ठगुणलुक्खा पोग्गला अणता पण्णत्ता।७१।

छाया—जीवा खलु अष्टस्थाननिर्वर्तितान् पुद्गलान् पापकर्मतया अचैषुर्वा, चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, तद्यथा—प्रथम-समय-नैरयिकनिर्वर्तितान् यावत् अप्रथम-समय-देव-निर्वर्तितान्। एवं चयः, उपचयो यावद् निर्जरा चैव।
अष्ट प्रदेशिकाः स्कन्धा अनन्ता प्रज्ञप्ताः। अष्टप्रदेशावगाढाः पुद्गला अनन्ता प्रज्ञप्ताः, यावद् अष्ट गुणरूक्षाः पुद्गला अनन्ताः प्रज्ञप्ताः।

शब्दार्थ—जीवाणं—जीवो ने; अट्ठ ठाणणिव्वत्तिए पोग्गले—आठ स्थानों मे निष्पादित पुद्गलो को; पावकम्मत्ताए—पाप कर्म रूप से, चिणिसु वा—एकत्रित किया; चिणति वा—वर्तमान काल मे एकत्रित करते है; चिणिस्संति वा—भविष्यत् काल मे एकत्रित करेगे, त जहा—जैसे कि, पढमसमयनेरइयनिव्वत्तिए—प्रथम समय के नारकीयों द्वारा उपार्जित; जाव—यावत्, अपढमसमयदेवनिव्वत्तिए—अप्रथम समय के देवो द्वारा उपार्जित; एवं—इसी प्रकार; चिण-उवचिण जाव निज्जरा चेव—चय, उपचय और निर्जरा के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिये।
अट्ठ पएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता—आठ प्रदेशी स्कन्ध अनन्त है। अट्ठ पए-

सोगाढा—आठ प्रदेशों पर अवगाहित; पोग्गला अणता पण्णत्ता—पुद्गल अनन्त कथन किये गए हैं; जाव—यावत्; अट्ठ गुणलुक्खा पोग्गला—आठ गुण रूक्ष पुद्गल, अणता पण्णत्ता—अनन्त प्रतिपादन किये गए है।

मूलार्थ—जीवो ने आठ स्थानों से उपार्जित पुद्गलों को भूतकाल मे पाप-कर्म रूप से एकत्रित किया, वर्त्तमान में करते है और भविष्य में करेगे, यथा—प्रथम समय के नारकियो द्वारा उपार्जित यावत् अप्रथम समय के देवों द्वारा उपार्जित। इसी तरह कर्मो का चय—एक बार इकट्ठा करना, उपचय—बारम्बार इकट्ठा करना और यावत् निर्जरा अर्थात् कर्मक्षय आदि के सम्बन्ध मे समझना चाहिये।

आठ प्रदेशी स्कन्ध अनन्त प्रतिपादन किए गए है। आठ आकाश प्रदेशों में व्याप्त पुद्गल अनन्त वर्णन किये गए हैं। यावत् अष्ट गुणरूक्ष पुद्गल अनन्त प्रतिपादन किये गये है।

विवेचनिका—

जीव वर्णन की परम्परा के अन्तर्गत प्रस्तुत सूत्र में जीव और अजीव दोनो का वर्णन किया गया है। ससार भर में जितने भी जीव है, उन सब ने भूतकाल में कर्मो का सचय किया, वर्तमान में कर रहे है और आगे भी करते ही रहेगे, भले ही वे प्रथम समय के उत्पन्न हो या अप्रथम समय के उत्पन्न। इसी तरह उपचय, बध वेदना, उदीरणा एव निर्जरा के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

आठ प्रदेशी स्कन्ध अनन्त है। आकाश के आठ प्रदेशो पर अवगाहन करनेवाले पुद्गल भी अनन्त है। आठ समय तक अवस्थित होनेवाले पुद्गल भी अनन्त है। यावत् आठ गुणा रूक्ष पुद्गल भी अनन्त है, क्योकि प्रत्येक द्रव्य गुण और पर्याय से युक्त माना गया है। पुद्गल द्रव्य में पाच वर्ण, दो गध, पाच रस और आठ स्पर्श होते है, अत आठवे स्थान के अनुरोध से अष्ट गुण रूक्ष पुद्गल पर्यन्त सब का वर्णन जान लेना चाहिए।

आठवां स्थान समाप्त

स्थानाङ्ग-सूत्र

नवम स्थान

(एक उद्देशक)

प्रथम उद्देशक

इस उद्देशक में

इस उद्देशक में साम्भोगिक सम्बन्ध का विच्छेद, ब्रह्मचर्य-अध्ययन, ब्रह्मचर्य-गुप्तियां, चौथे और पांचवें तीर्थङ्करों का मध्यकाल, नव तत्त्व, संसार-समापन्नक जीव, रोग-उत्पत्ति के कारण, दर्शनावरणीय कर्म, नक्षत्र-चन्द्र-योग, रत्न-प्रभा से नक्षत्र-मण्डल की दूरी, जम्बूद्वीप में प्रवेश योग्य मत्स्य, बलदेवों और वासुदेवों के पिता, महानिधियां, विकृतियां, मलद्वार, पुण्य-भेद, पाप-बन्ध के कारण, पाप-श्रुत-प्रसंग, नैपुणिक पुरुष, महावीर स्वामी के नौ गण, निर्दोष आहार, वरुण-देव की अग्रमहिषियां, ईशानेन्द्र की अग्रम-हिषियों का स्थितिकाल, देव-निकाय, ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट, आयु-परिमाण, नव नवमिका-भिक्षु प्रतिमा, जम्बू-मन्दरादि के कूट, श्री पार्श्वनाथ जी का देहमान, तीर्थङ्कर गोत्र-उपार्जन करनेवाले जीव, आगामी उत्सर्पिणी काल के सिद्ध, महापद्म चरित्र, चन्द्र-पृष्ठ-योगकारी नक्षत्र, देव-विमानों की ऊंचाई, विमलवाहन का देहमान, ऋषभदेव जी का तीर्थ प्रवर्तन-काल, घनदन्तादि द्वीपों का मान, शुक्रग्रह की नव वीथियां, नौ कषाय, पुद्गल-चयन के नौ स्थान और नव प्रदेशी स्कन्ध आदि का वर्णन किया गया है।

नवमस्थान

प्रथम उद्देशक

सामान्य परिचय—

जिन जीवादि पदार्थों का वर्णन आठवें स्थान मे, किया जा चुका है। उन्ही पदार्थों का वर्णन नौवें स्थान मे नौ-नौ प्रकार से हेय, ज्ञेय और उपादेय रूप मे वर्णन किया जाएगा।

साम्भोगिक को विसाम्भोगिक करने के कारण

मूल—नवहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे संभोइयं विसंभोइयं करेमाणे णाइक्कमइ, तं जहा—आयरियपडिणीयं, उवज्झायपडिणीयं, थेरपडिणीयं, कुलपडिणीयं, गणपडिणीयं, सघपडिणीयं, नाणपडिणीयं, दंसणपडिणीयं, चरित्त-पडिणीय ।१।

छाया—नवभि· स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थ. साम्भोगिकं विसाम्भोगिकं कुर्वन् नातिक्रामति, तद्यथा—आचार्य-प्रत्यनीकम्, उपाध्याय-प्रत्यनीकम्, स्थविर-प्रत्यनीकम्, कुल-प्रत्यनीकम्, गण-प्रत्यनीकम्, सघ-प्रत्यनीकम्, ज्ञान-प्रत्यनीकम्, दर्शन-प्रत्यनीकम्, चारित्र-प्रत्यनीकम् ।

शब्दार्थ—नवहिं ठाणेहिं—नव स्थानों मे; समणे णिग्गथे—श्रमण निर्ग्रन्थ; संभोइयं—साम्भोगिक को, विसभोइय करेमाणे—विसाम्भोगिक करता हुआ; णाइक्कमइ—भगवान की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता; तं जहा—यथा; आयरियपडिणीयं—आचार्य के प्रत्यनीक, उवज्झायपडिणीयं—उपाध्याय के प्रत्यनीक; थेरपडिणीयं—स्थविर के प्रत्यनीक; कुलपडिणीयं—कुल के प्रत्यनीक; गणपडिणीयं—गण के प्रत्यनीक; सघ पडिणीयं—सघ के प्रत्यनीक; नाणपडिणीयं—ज्ञान के प्रत्यनीक; दंसण पडिणीय—दर्शन के प्रत्यनीक; चरित्तपडिणीयं—चारित्र के प्रत्यनीक ।

मूलार्थ—नौ कारणो से श्रमण निर्ग्रन्थ संभोगी साधु से आहार-पानी के सम्बन्ध का

विच्छेद करता हुआ भगवदाज्ञा का उल्लघन नहीं करता है, यथा—आचार्य प्रत्यनीक अर्थात् आचार्य के साथ शत्रुसदृश व्यवहार करनेवाले, इसी तरह उपाध्याय के प्रत्यनीक, स्थविर के प्रत्यनीक, कुल के प्रत्यनीक, गण के प्रत्यनीक, संघ के प्रत्यनीक, ज्ञान के प्रत्यनीक, दर्शन और चारित्र के प्रत्यनीक ।

विवेचनिका—

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि कोई भी साधु नौ कारणों में से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर सांभोगिक सहधर्मी को विसांभोगिक करते हुए भगवान की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता, अर्थात् जो साधु परस्पर बारह प्रकार के मिलवर्तनों से सम्बन्धित है उनका सम्बन्ध तोडते हुए जिनेन्द्र देव की आज्ञा का उल्लघन नही करता है। सहधर्मी साधुओं का जो परस्पर मिलवर्तन एव आहारादि बारह प्रकार का आदान-प्रदान होता है, उसे सभोग कहा जाता है। उन्हे तोडना विसभोग है। स्मरण रहे कि बिना किसी प्रबल प्रमाण के मिल वर्तन तोडना निषिद्ध है। वे नौ कारण निम्न-लिखित है, जैसे कि—

१. आचार्य से विरुद्ध चलने वाले प्रत्यनीक साधु से ।
२. उपाध्याय से विपरीत चलनेवाले प्रत्यनीक साधु से ।
३. स्थविर से प्रतिकूल चलनेवाले प्रत्यनीक साधु से ।
४. अपने साधु-कुल से विरुद्ध चलनेवाले प्रत्यनीक साधु से ।
५. अपने साधु-गण से विपरीत चलनेवाले प्रत्यनीक साधु से ।
६. चतुर्विध श्री सघ से प्रतिकूल चलनेवाले साधु से ।
७. सम्यग्ज्ञान से विरुद्ध चलनेवाले प्रत्यनीक साधु से ।
८. सम्यग्दर्शन से विपरीत चलनेवाले प्रत्यनीक साधु से ।
९. सम्यक् चारित्र से प्रतिकूल प्रक्रिया करनेवाले साधु से ।

प्रत्यनीक का अर्थ है—निन्दा, ईर्ष्या, वैरभाव रखनेवाला। अत. जो प्रत्यनीक है वह सघ में रखने के योग्य नही होता। यदि वह समझाने पर भी अपने कदाग्रह को छोड़ने के लिये तैयार न हो, तो उसे अपने गण से बहिष्कृत ही कर देना चाहिये। इसी में सघ का भला है।

जो आचार्य आदि नव स्थानो के साथ प्रेम, विनय, भक्ति तथा साधु-जीवन के उपयुक्त व्यवहार करता है वही साधक सघ में रहता हुआ आत्मविकास करके निर्वाण-पद को प्राप्त कर सकता है। प्रत्यनीकता से साधक ससार-भ्रमण की वृद्धि एवं दुःख का पात्र बनता है, अतः प्रत्यनीकता कभी भी नही करनी चाहिए ।

ब्रह्मचर्य-अध्ययन

मूल—णव बंभचेरा पण्णत्ता, तं जहा—सत्थपरिन्ना, लोगविजयो जाव उवहाण-सुयं, महापरिण्णा ।२।

छाया—नव ब्रह्मचर्याणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—शस्त्रपरिज्ञा, लोकविजयो यावत् उपधानश्रुतं, महापरिज्ञा ।

मूलार्थ—नौ ब्रह्मचर्य-अध्ययन प्रतिपादन किये गए है, यथा—शस्त्र-परिज्ञा, लोक-विजय यावत्, उपधान-श्रुत और महापरिज्ञा ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे विसाम्भोगिक बनाने के कारणो पर प्रकाश डाला गया है, विसाम्भोगिक उसे ही बनाया जा सकता है जो ब्रह्मचर्य आदि सयम का पालन नही करता, अतः प्रस्तुत सूत्र मे ब्रह्मचर्य के प्रकारो का वर्णन किया गया है। आगमकारो ने सभी कुशल अनुष्ठानो को ब्रह्म कहा है, चर्य का अर्थ है—आचरण, अत: इन दोनो पदो का आशय है—सयम का आचरण । जैसे कि कहा भी है—ब्रह्म-कुशलानुष्ठानं, तच्च तच्चर्यं चासेव्यमिति ब्रह्मचर्यं—संयम इत्यर्थः ।

संयम के योग्य बाते जिस शास्त्र मे हो, वह शास्त्र भी ब्रह्मचर्य कहलाता है। आचारांग सूत्र के पहले श्रुत-स्कन्ध मे नौ अध्ययन हैं, उनमे सयम का ही विस्तृत वर्णन है, अत. उन अध्ययनो के समुदाय को ब्रह्मचर्य कहा जाता है। उसके प्रत्येक अध्ययन मे सयम का वर्णन है, अत· सूत्रकार ने 'बभचेरा' इस बहुवचनान्त पद का प्रयोग किया है। उन अध्ययनो के नाम और उनका सक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है।

१. **शस्त्र-परिज्ञा**—इस अध्ययन में द्रव्य और भाव-भेदो से उन अनेक प्रकार के शस्त्रो का वर्णन किया गया है जिनसे जीव-हिंसा होती है। उनका ज्ञान-पूर्वक त्याग करना ही शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन कहलाता है। इस प्रथम अध्ययन मे जीव-हिंसा के त्याग करने का विधान किया गया है।

२. **लोक-विजय**—इस अध्ययन में बताया गया है कि साधक को लोकेषणा के बहाव में नही बहना चाहिए। द्रव्यलोक को छोडकर रागद्वेष लक्षणरूप भाव-लोक पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा भी दी गई है, इसलिये इसका नाम लोक-विजय निर्धारित किया गया है।

३. **शीतोष्णीय**—इस अध्ययन मे अनुकूल और प्रतिकूल परीषहो को सहने का उपदेश दिया है। स्त्री आदि अनुकूल परीषह कहलाते है और वध आदि प्रतिकूल परीषह माने जाते है। दोनो तरह के परीपह साधक को आत्म-लक्ष्य से गिरानेवाले है, अतः परीपहो के जीतने से ही साधक शूरवीर कहलाता है। यही इस अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।

४. **सम्यक्त्व**—इस अध्ययन मे सम्यक्त्व-रत्न को सुरक्षित रखने के लिये उपदेश दिया गया

है। तापस आदि के अज्ञान कष्ट को देखकर या उनके आठ प्रकार के ऐश्वर्य को देखकर साधक को विवेक-समूढ नही होना चाहिए। सम्यक्त्व मे दृढ रहने की प्रेरणा ही इस अध्ययन का प्रमुख विषय है।

५. लोकसार—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, ये ही लोक मे सारभूत है। इनके अतिरिक्त शेष सब कुछ निःसार है, अतः इस अध्ययन का मुख्य विषय है—सारभूत को ग्रहण कर, निःसार पदार्थों का त्याग करना। इस अध्ययन को आदान-पद से 'आवन्ति' भी कहते हैं।

६. धूताध्ययन—इसमे सयमी को कुसग का त्यागकर सुसग या सत्संग की उपासना का उपदेश दिया गया है, अथवा कर्मरज को धुनने की प्रेरणा दी गई है इसीलिये इसका नाम धूताध्ययन रखा गया है।

७. विमोहाध्ययन—इसमे मोह-रहित होकर विचरने का उपदेश दिया गया है। निर्मोही व्यक्ति ही परीषह-उपसर्गो को जीतने मे पूर्णतया सफल हो सकता है। बाह्य मोह की अपेक्षा अन्तरग मोह आत्मविकास मे अधिक बाधक है, उससे अलग कैसे होना चाहिए, इस विषय का मार्ग-दर्शन किया गया है।

८. उपधानश्रुत—इस अध्ययन मे शासनपति तीर्थङ्कर भगवान की साधना का उल्लेख किया गया है। श्रमण भगवान महावीर ने साढे बारह वर्ष जिस प्रकार साधनापथ पर चलते हुए सयम-तप की आराधना की तथा देव, मनुष्य और तिर्यञ्चो के घोर-अतिघोर उपसर्गों को समता से सहन किया, उन सब बातों का विस्तृत वर्णन मिलता है। लक्ष्य-बिन्दु पर पहुचने तक दृढता से की जाने वाली तपश्चर्या ही उपधान है। इसीलिये इसे श्रुत-साहित्य मे उपधान-श्रुत कहा गया है।

९. महापरिज्ञा—इस अध्ययन मे निर्वाण पद की प्राप्ति के लिये दृढ प्रतिज्ञा का प्रतिपादन किया गया है। अन्तक्रिया कैसे करनी चाहिए ? सम्भव है, इस बात का भी उल्लेख हो, परन्तु यह अध्ययन आज के युग मे उपलब्ध नही है। आचाराङ्ग-सूत्र मे इस अध्ययन का स्थान सातवा है और इस प्रसंग में इसे नौवा अध्ययन कहा गया है, कारण अज्ञात है।

इन नौ अध्ययनो को ब्रह्मचर्य अध्ययन कहते है। मुमुक्षुओ के लिये ये अध्ययन मननीय हैं। उन अध्ययनो में कथित नियमो के पालन करने से साधक शीघ्र ही सिद्धत्व को प्राप्त कर सकता है।

ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियां

मूल—**नव बंभचेरगुत्तीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता भवइ णो इत्थिसंसत्ताइं, नो पसुसंसत्ताइं, नो पंडगसंसत्ताइं, नो इत्थीणं कहं कहेत्ता, नो इत्थिठाणाइं सेवित्ता भवइ, णो इत्थीणमिंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवइ, नो पणीयरसभोई, नो पाणभोयणस्स अइमत्तं आहारए सया भवइ, नो पुव्वरयं पुव्वकीलियं समरेत्ता भवइ, नो सद्दाणुवाई, णो रूवाणुवाई, णो सिलोगाणुवाई, नो**

सायसोक्ख पडिबद्धे यावि भवइ ।

नव बंभचेर अगुत्तीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णो विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता भवइ, इत्थिससत्ताइं, पसुसंसत्ताइं, पंडगसंसत्ताइं, इत्थीणं कहं कहेत्ता भवइ, इत्थीणं ठाणाइं सेवित्ता भवइ, इत्थीणं इंदियाइ जाव निज्झाइत्ता भवइ, पणीयरसभोई, पाणभोयणस्स अइमायमाहारए सया भवइ, पुव्वरयं पुव्वकीलियं सरित्ता भवइ सद्दाणुवाई, रूवाणुवाई, सिलोगाणुवाई जाव सायासुक्ख पडिबद्धे यावि भवइ ।

छाया—नव ब्रह्मचर्यगुप्तय प्रज्ञप्तास्तद्यथा—विविक्तानि शयनासनानि सेविता भवति, नो स्त्रीससक्तानि, नो पशुसंसक्तानि, नो पण्डकससक्तानि नो स्त्रीणा कथां कथयिता भवति, नो स्त्रीस्थानानि सेवित्ता भवति, नो स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाणि आलोकयिता निर्ध्याता भवति, नो प्रणीतसरसभोगी, नो पानभोजनस्यातिमात्रमाहारकः सदा भवति, नो पूर्वरतं पूर्वक्रीडितं स्मर्त्ता भवति, नो शब्दानुपाती, नो रूपानुपाती, नो श्लोकानुपाती, नो सात-सौख्यप्रतिबद्धश्चापि भवति ।

नव ब्रह्मचर्याऽगुप्तय· प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नो विविक्तानि शयनासनानि सेविता भवति, स्त्री-संसक्तानि, पशुससक्तानि, पण्डकसक्तानि, स्त्रीणा कथां कथयिता भवति, स्त्रीणां स्थानानि सेविता भवति, स्त्रीणामिन्द्रियाणि यावत् निर्ध्याता भवति, प्रणीतरसभोगी, पानभोजनस्य अतिमात्रमाहारक सदा भवति, पूर्वरतं, पूर्वक्रीडित स्मर्त्ता भवति, शब्दानुपाती, रूपानुपाती, श्लोकानुपाती यावत् सात-सौख्यप्रतिबद्धश्चापि भवति ।

शब्दार्थ—नव बंभचेरगुत्तीओ पण्णत्ताओ, त जहा—ब्रह्मचर्य की नव गुप्तिया प्रतिपादन की है, यथा, विवित्ताइ सयणासणाइ—एकान्त शय्या, वसति और आसनो का; सेवित्ता भवइ—सेवन करनेवाला हो, णो इत्थिससत्ताइ, नो पसुससत्ताइ. नो पंडगससत्ताइ—स्त्री-सहित, पशु-सहित, नपुसक-सहित वसतियो और आसनो का सेवन करनेवाला न हो; नो इत्थीणं कह कहेत्ता—स्त्रियो को कथा करनेवाला न हो; नो इत्थिठाणाइ सेवित्ता भवइ स्त्रियो के स्थानो का सेवन न करे; णो इत्थीणमिंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइ आलोइत्ता भवइ—स्त्रियो की मनोहर और मनोरम इन्द्रियो को देखकर उनका चिन्तन करनेवाला न होवे, नो पणीयरसभोई—प्रणीत—पौष्टिक रस का सेवन करनेवाला न हो, नो पाणभोयणस्स अइमत्त आहारए सया भवइ—साधारण पान-भोजनादि का भी अत्यधिक मात्रा मे आहार करनेवाला न हो; नो सद्दाणुवाई, नो रूवाणुवाई, नो सिलोगाणुवाई—शब्द, रूप और प्रशसा में आसक्ति रखनेवाला न होवे; नो सायसोक्खपडिबद्धे यावि भवइ—

भौतिक सुख में आसक्ति रखनेवाला न हो।

नव बंभचेर अगुत्तीओ पण्णत्ताओ, त जहा—ब्रह्मचर्य की नौ अगुप्तियां वर्णन की गई है, यथा; **णो विवित्ताइ सयणासणाइ सेवित्ता भवइ**—एकान्त शय्यासन का सेवन करनेवाला न हो; **इत्थी ससत्ताइ, पसुससत्ताइ, पडगससत्ताइ**—स्त्री-सहित, पशु-सहित और नपु सक-सहित वसति और आसनों का सेवन करता हो; **इत्थीणं कह कहेत्ता**—स्त्रियों की कथा करनेवाला हो; **इत्थीण ठाणाइ सेवित्ता भवइ**—स्त्रियो के स्थान का सेवन करनेवाला हो; **इत्थीण इदियाइ जाव निज्झाइत्ता भवइ**—स्त्रियो की मनोहर और मनोरम इन्द्रियो का अवलोकन एव चिन्तन करनेवाला हो; **पणीय-रसभोई, पाणभोयणस्स अइमायमाहारए सया भवइ**—प्रणीत—पौष्टिक रस तथा आहार-पानी अत्यधिक मात्रा मे सेवन करनेवाला हो, **पुव्वरय, पुव्वकोलिय सरित्ता भवइ**—पूवकालीन भुक्त-भोगो का तथा रति-क्रीड़ा का स्मरण करनेवाला हो, **सद्दा-णुवाई, रूवाणुवई सिलोगाणुवाई**—शव्द, रूप तथा प्रशसा मे आसक्ति रखनेवाला, **जाव सायासोक्खपडिबद्धे यावि भवइ**—भौतिक सुख मे आसक्ति रखनेवाला हो।

मूलार्थ—ब्रह्मचर्य को नौ गुप्तियां वर्णन को गई है, यथा—एकान्त शय्या-वसति और आसन का सेवन करना, स्त्री-सहित. पशु-सहित और नपुसक-सहित वसति एवं आसन का सेवन न करना, स्त्रो कथा न करना, स्त्रीसम्बन्धी स्थान का सेवन न करना, स्त्रियों की मनोहर तथा मनोरम इन्द्रियों को देखकर उनका चिन्तन न करना, प्रणीत रसयुक्त भोजन न करना, सावारण पान-भोजन का भी अधिक मात्रा मे सेवन न करना, पूर्वकालोन भुक्त-भोगो और रति-क्रीड़ाओं का स्मरण न करना, शव्द, रूप तथा प्रशसा में आसक्ति न रखना, भौतिक सुखमे अनासक्ति भाव रखना।

ब्रह्मचर्य की नौ अगुप्तियां प्रतिपादन को गई हैं, यथा—एकान्त शय्या तथा आसन का सेवन न करना तथा स्त्री, पशु और पण्डक-सहित शय्या का सेवन करना, स्त्रियों की कथा करना, स्त्री-सम्बन्धी स्थान का आसेवन करना, स्त्रियो की मनोहर तथा मनोरम इन्द्रियों का चिन्तन करना, प्रणीत रसयुक्त भोजन का सेवन करना, आहार आदि का अत्यधिक मात्रा मे उपभोग करना, पूर्वकालिक भुक्त-भोगो तथा रति-क्रीडा का चिन्तन करना, शव्द, रूप तथा प्रशंसा मे आसक्त होना और भौतिक सुख मे आसक्त होना।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे ब्रह्मचर्य अध्ययन का वर्णन किया गया है। उसी ब्रह्मचर्य के दूसरे अर्थ का प्रस्तुत सूत्र मे प्रकाश डाला गया है। वीर्य के धारण और रक्षण को ब्रह्मचर्य कहते हैं। शारीरिक एवं आध्यात्मिक सभी शक्तियों का आधारभूत वीर्य है। वीर्यरहित पुरुष लौकिक तथा लोकोतरिक किसी तरह की भी सफलता प्राप्त नही कर सकता। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये नौ बाडें बतलाई गई हैं। उनके विना ब्रह्मचर्य सुरक्षित नही रह सकता। वे नौ बाड़े इस प्रकार हैं—

१. जिस मकान, आवास या भवन मे स्त्री पशु या नपुंसक रहते हों, वह ब्रह्मचारी न ठहरे।

२. ब्रह्मचारो को किसी दूसरे के सामने विकार उत्पन्न करनेवाली स्त्रियो की बाते या कथा कहानी नही कहनी चाहिए।

३ ब्रह्मचारी को स्त्री के साथ एक आसन पर नही बैठना चाहिए। जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो, उसके उठ जाने पर भी दो घडी तक उस स्थान पर नही बैठना चाहिए। अथवा जिस जगह स्त्रियो का आगमन अधिक हो उसमे स्थान भी ब्रह्मचारी को नही ठहरना चाहिए।

४. ब्रह्मचारी स्त्रियों के मनोहारी रूप या अगोपागो को न देखे। यदि अचानक दृष्टि पड भी जाय तो उस ओर ध्यान न देना चाहिए।

५ ब्रह्मचारी विकार-उत्पादक गरिष्ठ भोजन भी न करे, ऐसे भोजन को विषाक्त समझ कर ग्रहण न करे।

६ ब्रह्मचारी अतिमात्रा मे रूखा भोजन भी न करे। ऊनोदरी तप करे अर्थात् आधा पेट भोजन करे, आधे में से दो भाग पानी से और एक भाग वायु के लिये छोडना चाहिए।

७ ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने से पहले जो कामचेष्टाए की है, ब्रह्मचारो उनका पुनः स्मरण न करे।

८ ब्रह्मचारी स्त्रियो के शब्द, रूप और ख्याति का अनुसरण करने वाला नही होना चाहिए, क्योकि इन से मन चंचल हो उठता है। अत· इन बातो मे ध्यान न दे।

९. पुण्योदय मे प्राप्त अभीष्ट वर्ण, गध, रस और स्पर्श आदि के सुखो में ब्रह्मचारी को आसक्त नही होना चाहिए, क्योकि सुखशील बनने से ही वासनाएं पीडित करती हैं, अतः सुखशील नही होना चाहिए। इन नौ बाडो का पालन करने से ही ब्रह्मचर्य की रक्षा की जा सकती है।

जो साधक ब्रह्मचर्य का पालन नही करते, उनकी नौ बाडें सुरक्षित नही रहती या जिन की नौ बाड़ें सुरक्षित नही हैं, उनका ब्रह्मचर्य रत्न असुरक्षित है, वे किसी भी समय अपने इस महाव्रत को भङ्ग कर भ्रष्ट हो सकते है। अतः सूत्रकार ने नौ गुप्तियो और नौ अगुप्तियों का भी निर्देश करके 'द्विर्बद्ध सुबद्ध भवति', इस न्याय के अनुसार ब्रह्मचर्य की महती सुरक्षा की आवश्यकता को व्यक्त किया है।

चौथे और पांचवें तीर्थङ्कर का मध्यकाल

मूल—अभिणंदणाओ णं अरहओ सुमई अरहा नवहिं सागरोवमकोडीसय-सहस्सेहिं विइक्कतेहिं समुप्पन्ने ।४।

छाया—अभिनन्दनाद् अर्हतः सुमतिरर्हन् नवसु सागरोपमकोटिशतसहस्रेषु व्यतिक्रान्ते समुत्पन्नः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—अरिहन्त अभिनन्दन जी से अरिहन्त सुमतिनाथ जी नौ लाख सागरोपम कोटि-काल व्यतीत होने पर उत्पन्न हुए थे ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के नौ साधनो पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार की महती सुरक्षा के निदर्शन अरिहन्त ही होते हैं, और उन्ही के चरण-चिह्नो के अनुयायी ब्रह्मचर्य महाव्रत की पूर्ण साधना कर सकते हैं। अतः प्रस्तुत सूत्र में इन दो अरिहन्तो का स्मरण किया गया है जिनका मध्यकाल नवम स्थान के अनुरोध से नौ की सख्या से सम्बद्ध है ।

चौथे तीर्थङ्कर भगवान अभिनन्दन देव से नौ लाख करोड़ सागरोपम काल बीतने पर पाचवे तीर्थङ्कर भगवान सुमति नाथ के कल्याणकों का प्रारम्भ हुआ।

नव तत्त्व

मूल—नव सब्भावपयत्था पण्णत्ता, तं जहा—जीवा, अजीवा, पुण्णं, पावो, आसवो, संवरो, निज्जरा, बधो, मोक्खो ।५।

छाया—नव सद्भावपदार्थाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जीवाः, अजीवाः, पुण्यं, पापम्, आश्रवाः, संवराः, निर्जरा, बन्धः, मोक्षः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—नौ सद्भाव पदार्थ वर्णन किये गए है, जैसे—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में भगवान अभिनन्दन एवं सुमति नाथ का मध्यकाल वर्णन किया गया है। काल

का अन्तर चाहे कितना भी हो, परन्तु सभी तीर्थङ्कर नौ तत्त्वो का ही प्रतिपादन करते हैं। अत: प्रस्तुत सूत्र मे तीर्थङ्कर प्ररूपित नौ तत्त्वो का परिचय दिया गया है। नव तत्त्व सदाकाल भावी हैं। इसीलिये सूत्रकार ने इनके लिये **'सब्भावपयत्था'—सद्भाव पदार्थ,** विशेषण का प्रयोग किया है। इन तत्त्वो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। जैसे कि—

१. **जीव**—जिसका लक्षण उपयोग है, जिसे सुख-दुःख का ज्ञान होता है और जो ज्ञानदि शक्तियो का पुञ्ज है, उसे ही जीव कहते है। जीवो के मध्यम १४ भेद हैं और उत्कृष्ट ५६३ भेद हैं।

२. **अजीव**—जीव का विपक्षी अजीव है, जोकि जड़ पदार्थ है, उपयोग शून्य है और सुख-दुःख की अनुभूति मे रहित है। अजीव के मध्य भेद १४ हैं और उत्कृष्ट ५६० हैं।

३. **पुण्य**—कर्मो की शुभ-प्रकृतिया पुण्य कहलाती है। यह नौ तरह मे बाधा जाता है और ४२ प्रकार से भोगा जाता है।

४. **पाप**—कर्मों की वे अशुभ-प्रकृतियां पाप कहलाती हैं जिनमे आत्मा का पतन हो जाता है। पाप-कर्मो का बन्ध १८ प्रकार से बांधा जाता है और ८२ प्रकार से उसका फल भोगा जाता है।

५. **आश्रव**—जिसके द्वारा शुभ और अशुभ कर्मो का ग्रहण किया जाए, उसे आश्रव कहते हैं। इसी को बध का कारण भी कहते हैं।

६. **संवर**—समिति-गुप्ति द्वारा आश्रवो का निरोध ही सवर कहलाता है।

७. **निर्जरा**—फल भोगकर या सयम और तप मे कर्मों को धीरे-धीरे क्षय करना ही निर्जरा है।

८. **बन्ध**—आश्रव के द्वारा आए हुए कर्मो का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना बन्ध है।

९. **मोक्ष**—कर्मो के बध से सर्वथा छूट जाने पर आत्मा का अपने स्वरूप मे लीन हो जाना ही मोक्ष है।

इन मे मुख्य रूप से दो तत्त्व हैं—जीव और अजीव। पुण्य भौतिक सुख का कारण है और पाप दुःखो का कारण माना जाता है। आश्रव बध का कारण है और सवर आश्रव का निरोधक है। पूर्वबद्ध कर्मों को आत्मा से अलग करने वाली प्रक्रिया निर्जरा है। जब तक बध है, तब तक ससार है। बंध से सर्वथा मुक्त होना ही मोक्ष है। सभी पदार्थ ज्ञेय हैं। ज्ञात होने के अनन्तर आश्रव, पाप और बध इनको छोडना चाहिए। सवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीन तत्त्व उपादेय है। सवर और निर्जरा साधन हैं तथा, मोक्ष साध्य है।

ससार समापन्नक जीव

मूल—नवविहा संसार समावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइया जाव

वणस्सइकाइआ, बेइंदिया जाव पंचिंदियत्ति ।

पुढविकाइया नवगइया नव आगइआ पण्णत्ता तं जहा—पुढवीकाइए पुढविकाइएसु उववज्जमाणे पुढविकाइएहिंतो वा जाव पंचिंदिएहिंतो वा उववज्जेज्जा । से चेव णं से पुढविकाइए पुढविकायत्तं विप्पजहमाणे पुढविकाइयत्ताए जाव पंचिंदियत्ताए वा गच्छेज्जा । एवमाउकाइयावि, जाव पंचिंदियत्ति ।

णवविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, नेरइया, पंचेंदियतिरिक्खजोणिया, मणुस्सा, देवा, सिद्धा । अहवा णवविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—पढमसमयनेरइया, अपढमसमय नेरइया जाव अपढमसमयदेवा, सिद्धा ।

नवविहा सव्वजीवोगाहणा पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइओगाहणा, आउकाइकाइओगाहणा जाव वणस्सइकायओगाहणा, बेइंदियओगाहणा, तेइंदियओगाहणा, चउरिंदियओगाहणा, पंचिंदियओगाहणा ।

जीवाणं नवहिं ठाणेहिं संसारं वत्तिसु वा, वत्तंति वा, वत्तिस्संति वा, तं जहा—पुढविकाइयत्ताए जाव पंचिंदियत्ताए ।६।

छाया—नवविधाः ससारसमापन्नकाः जीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिका यावत् वनस्पतिकायिकाः, द्वीन्द्रियाः यावत् पञ्चेन्द्रिया इति ।

पृथिवीकायिका. नवगतिकाः नवागतिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिकाः पृथिवीकायिकेषूपपद्यमानः पृथिवीकायिकेभ्यो वा यावत् पञ्चेन्द्रियेभ्यो वोत्पद्येत । स एव सः पृथिवीकायिकत्वं विप्रजहन् पृथिवीकायिकतया यावत् पञ्चेन्द्रियतया वा गच्छेत् एवमप्कायिका अपि । यावत् पञ्चेन्द्रिया इति ।

नवविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकेन्द्रियाः, द्वीन्द्रियाः, त्रीन्द्रियाः, चतुरिन्द्रियाः, नैरयिकाः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिजाः, मनुष्याः, देवाः, सिद्धाः ।

अथवा नवविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रथमसमयनैरयिकाः, अप्रथमसमयनैरयिका यावद् अप्रथमसमयदेवाः, सिद्धाः ।

नवविधा. सर्वजीवावगाहना प्रज्ञप्ता, तद्यथा—पृथिवीकायिकावगाहना, अप्कायिकावगाहना यावत् वनस्पतिकायिकावगाहना, द्वीन्द्रियावगाहना, त्रीन्द्रियावगाहना, चतुरिन्द्रियावगाहना, पञ्चेन्द्रियावगाहना ।

जीवा नवसु स्थानेषु संसारमवर्तिषत वा, वर्तंते वा, वर्तिष्यन्ते वा, तद्यथा—पृथिवी-कायिकतया यावत् पञ्चेन्द्रियतया ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—संसारी जीव नौ प्रकार के कथन किये गए है, यथा–पृथिवीकायिकों से लेकर वनस्पतिकायिकों तक और द्वीन्द्रिय जीव से लेकर पञ्चेन्द्रिय जीवो तक ।

पृथिवीकायिक जीव नौ प्रकार की गति वाले तथा नौ प्रकार की आगति वाले वर्णन किये गए है, यथा—पृथिवीकाय में उत्पन्न होनेवाला जीव, पृथिवीकाय जीवों से यावत् पञ्चेन्द्रिय जीवों से आकर उत्पन्न हो सकता है और पृथिवीकायिक जीव पृथिवीकाय को छोडकर पृथिवीकाय में यावत् पञ्चेन्द्रिय रूप मे उत्पन्न हो सकता है । इसी प्रकार अप्कायिक यावत् पञ्चेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिये ।

सर्व जीव नौ प्रकार के कथन किये गए है, यथा–एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, नैरयिक, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिज, मनुष्य, देव और सिद्ध ।

अथवा सर्वजीव नौ प्रकार के है, यथा–प्रथम समय के नारकीय, अप्रथम समय के नारकीय यावत् अप्रथम समय के देव और मुक्तात्मा सिद्ध ।

जीवों की अवगाहना नौ प्रकार की कथन की गई है, यथा–पृथिवीकाय के जीवो की अवगाहना, अप्काय के जीवो की अवगाहना यावत् वनस्पति-काय के जीवों की अवगाहना, द्वीन्द्रिय जीवो की अवगाहना यावत् पञ्चे-न्द्रिय जीवो की अवगाहना ।

जीव संसार मे नव स्थानों मे रह चुके है, रह रहे है और भविष्यत् मे रहते रहेंगे, यथा–पृथिवीकाय के रूप मे यावत् पञ्चेन्द्रिय काय के रूप मे ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे जिन नौ पदार्थों का वर्णन किया गया है, उनमें से प्रथम तत्त्व जीव है । प्रस्तुत सूत्र

में सूत्रकार जीव-भेदों में से संसार समापन्नक जीवों के नौ भेदों का वर्णन करते हैं वे पृथिवी आदि पाच स्थावर जीव और द्वीन्द्रिय आदि चार त्रस जीव है। पृथिवीकायिक जीवो की नौ गतिया है और नौ ही आगतिया होती है। सभी जीव अपने वर्तमान जीवन मे उक्त नौ जीव-भेदों में से किसी एक भव से ही आए हुए हैं और वर्तमान भव को छोडकर वे किसी भी उक्त जीव-भेद मे उत्पन्न होते हैं। किसी जीव योनि मे जाने को गति और आने को आगति कहते है। इसी तरह अप्कायिक जीवो से लेकर पंचेन्द्रिय जीवो तक नौ प्रकार से गति-आगति का स्वरूप समझना चाहिए।

सभी जीव नौ प्रकार के होते है, जैसे कि—प्रथम समय का नैरयिक, अप्रथम समय का नैरयिक, प्रथम समय का तिर्यञ्च, अप्रथम समय का तिर्यञ्च, प्रथम समय का मनुष्य, अप्रथम समय का मनुष्य, प्रथम समय का देव और अप्रथम समय का देव, नौवा भेद सिद्धो का है। क्योकि सिद्ध भगवान् भी जीवास्तिकाय से भिन्न नहीं है।

सब जीवो की अवगाहना नौ प्रकार की होती है, जैसे पृथिवीकाय की अवगाहना, अप्काय की अवगाहना तेजस्काय की अवगाहना, वायुकाय की अवगाहना, वनस्पतिकाय की अवगाहना, द्वीन्द्रिय जीवो की अवगाहना, त्रीन्द्रियो की अवगाहना, चतुरिन्द्रियो की अवगाहना और पचेन्द्रिय जीवो की अवगाहना। आत्मा जितने आकाश-प्रदेशो को शरीर के द्वारा या आत्मप्रदेशो के द्वारा घेरता है उसे अवगाहना कहते है।

ससार भर में जितने भी प्राणी है, वे सब नौ प्रकार के है, जैसेकि पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तैजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव। इन भवों मे रहकर जीवो ने अतीतकाल मे पाप किए, वर्तमान मे पाप कर रहे है और अनागत काल मे पाप-कर्म करेंगे, इसी कारण भव-भ्रमण किया, करते हैं और करते रहेगे।

रोग-उत्पत्ति के कारण

मूल—णवहिं ठाणेहिं रोगुप्पत्ती सिया, तं जहा—अच्चासणाए, अहियासणाए, अइणिद्दाए, अइजागरिएण, उच्चारनिरोहेणं, पासवणनिरोहेणं, अद्धाणगमणेणं, भोयणपडिकूलयाए इंदियत्थविकोवणयाए ।७।

छाया—नवभिः स्थानैः रोगोत्पत्तिः स्यात्, तद्यथा—अत्यशनतया, अहिताशनतया, अतिनिद्रया, अतिजागरितेन, उच्चारनिरोधेन, प्रश्रवणनिरोधेन, अध्वगमनेन, भोजनप्रतिकूलतया, इन्द्रियार्थविकोपनतया।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—नौ कारणों से रोगो की उत्पत्ति होती है, जैसे—अधिक मात्रा मे भोजन

करने से, अजीर्णावस्था मे भोजन करने से, अथवा अधिक बैठने से, अत्यधिक सोने से, अति जागरण मे, मल की वाधा रोकने से, प्रश्रवण—मूत्र की वाधा रोकने से, अति चलने से प्रकृति-विरुद्ध भोजन करने से, काम-विकारों का सेवन करने से।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में ससार-समापन्नक जीवों का वर्णन किया गया है। ससारी जीव सशरीरी होते हैं और भौतिक शरीर रोगो का घर माना गया है, इसलिये प्रस्तुत सूत्र मे यह विवेचन किया गया है कि शरीर में विविध प्रकार के विकार अर्थात् रोग उत्पन्न होते हैं। रोग नौ कारणो से उत्पन्न होते हैं। उन कारणो का उल्लेख सक्षेप में किया गया है, जैसे कि—

१. अच्चासणाए—अधिक वैठने से बवासीर आदि रोग और अजीर्ण आदि रोग उत्पन्न हो जाते है।

२. अहियासणाए—जो आसन अनुकूल न हो, उस आसन मे बैठना रोग का दूसरा कारण है। जिस आसन मे शरीर अस्वस्थ हो जाए वह आसन अहितकर होता है; अथवा अहितकर भोजन करने से तथा अधिक भोजन करने से भी रोगोत्पत्ति होती है।

३. अतिनिद्दाए—आवश्यकता से अधिक निद्रा लेने से भी शरीर रोग-ग्रस्त हो जाता है।

४. अतिजागरिएण—बहुत जागने से भी शरीर अस्वस्थ हो जाता है।

५. उच्चारनिरोहेण—मल-निरोध करने पर नाना प्रकार के रोग पैदा होते हैं।

६. पासवणनिरोहेणं—लघुशका की वाधा रोकने से नेत्रो के अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते है।

७. अद्धाणगमणेण—शक्ति से अधिक यात्रा करने से रोगोत्पत्ति होती है।

८ भोयणपडिकूलयाए—प्रकृति-विरुद्ध भोजन करने से भी रोग उत्पन्न होते है।

९. इंदियत्थविकोवणयाए—विषयो के अधिक सेवन करने से तपेदिक—राजयक्ष्मा आदि विविध रोग उत्पन्न होते है। काम-क्रीडा मे आसक्ति भी रोगो की जननी है।[1]

जब इन्द्रियो मे कामविकार उत्पन्न होता है; तब स्त्री आदि के सयोग की सबसे पहले इच्छा होती है। उसके बाद वह स्त्री-आदि का सयोग कैसे हो सकता है ? इस विषय मे चिन्ता उत्पन्न होती है और उस निमित्त की याद सताने लग जाती है। फिर उस निमित्त के गुण, स्नेह, माधुर्य आदि

---

१ इन्द्रियार्थाना—शब्दादिविषयाणा विकोपन विपाक, इन्द्रियार्थ-विकोपन कामविकार इत्यर्थः, ततो हि स्त्र्यादिष्वभिलाषादुन्मादादिरोगोत्पत्ति, यदुक्तम्—आदावभिलाषः स्याच्चिन्ता तदनन्तर, तत स्मरणम्, तदनुगुणाना कीर्तनमुद्वेगश्च, प्रलापश्च, उन्मादस्तदनु, ततो व्याधिर्जडता, ततस्ततो मरणम्।

का कीर्तन होने लगता है। सयोग न मिलने पर उद्वेग पीडित करता है, फिर प्रलाप होता है। इस प्रकार अन्त में उन्माद अर्थात् पागलपन हो जाता है, व्याधिग्रस्त होना, फिर अगोपागो का शून्य हो जाना, फिर निमित्त को बिना ही प्राप्त किए परलोक का अतिथि बन जाना ये सब काम-विकार के दुष्परिणाम हैं, अतः काम-विकार के अधिक बढ जाने से उक्त दस प्रकार से जीवो को हानि उठानी पडती है।

पहले आठ कारण कष्ट माध्य रोगो के है, नौवां कारण तो असाध्य कोटि का ही माना जाता है, क्योकि काम-विकार की मात्रा अधिक वढने पर शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं, अत. काम-रोग को सबसे बडा रोग माना गया है।

दर्शनावरणीय कर्म

मूल—णवविहे दरिसणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—निद्दा, निद्दानिद्दा, पयला, पयलापयला, थीणगिद्धी, चक्खुदंसणावरणे, अचक्खुदसणावरणे, अवधिदंसणे, केवलदंसणे ।८।

छाया—नवविधं दर्शनावरणीय कर्म प्रज्ञप्तं, तद्यथा—निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धिः, चक्षुर्दर्शनावरणः, अचक्षुर्दर्शनावरणः, अवधिदर्शनावरणः, केवल-दर्शनावरणः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—नौ प्रकार का दर्शनावरणीय कर्म कथन किया गया है, जैसे—निद्रा—सुख-पूर्वक सोना और सुखपूर्वक जागना। निद्रानिद्रा—सुखपूर्वक सोना और दुःखपूर्वक जागना। प्रचला—खडे-खड़े अथवा बैठे-बैठे सो जाना, प्रचला-प्रचला—चलते-चलते सो जाना, स्त्यानगृद्धि—जागृत अवस्था की आकाक्षाये स्वप्नावस्था मे करना अथवा जिस निद्रा मे वासुदेव के वल से आधे वल की प्राप्ति हो जाये। चक्षुर्दर्शनावरण—नेत्रो द्वारा देखने की शक्ति रोकने-वाला कर्म, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शन की शक्ति को रोकनेवाला कर्म, केवलदर्शनावरण—केवलदर्शन की शक्ति को रोकनेवाला कर्म।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में शारीरिक रोगो का वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने रोग के

कारणी भूत कर्म-विशेष का वर्णन करते हुए दर्शनावरणीय कर्म-प्रकृति के नौ भेदो का उल्लेख किया है।

दर्शन का अर्थ है—जो बोध सामान्यमात्र को ग्रहण करता है, उसको आवृत करनेवाला कर्म दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। उसके नौ भेदो की व्याख्या इस प्रकार है—

१. निद्रा—जिसमे सुखपूर्वक ही शयन किया जाए और सुखपूर्वक जागा जाए वह निद्रा है।

२. निद्रानिद्रा—जो सुख के साथ नीद आए और दु:खपूर्वक खुले वह निद्रानिद्रा है।

३. प्रचला—जो नीद बैठे-बैठे या खडे-खडे आ जाए अर्थात् ऊघना, उसे प्रचला कहते है।

४. प्रचलाप्रचला—जिसके प्रभाव मे जीव चलते-चलते सो जाए उसे प्रचलाप्रचला कहते हैं।

५. स्त्यानगृद्धि—इस निद्रा मे सोए हुए मनुष्य मे वासुदेव के आधे वल जितनी शक्ति उत्पन्न हो जाती है। साराश यह कि जीव मे सहज वल से कही अनेक गुणा अधिक वल प्रकट हो जाता है। इस वल के जागृत होने पर अप्रशस्त विचार ही उत्पन्न होते है। उस निद्रा मे यदि कोई जीव काल कर जाए तो उसको नरक गति ही प्राप्त होती है।

उक्त पाच प्रकार की निद्राए दर्शनावरणीय कर्म के उदय से आती है। इनके क्षयोपशम-भाव से या क्षायिक भाव से आत्मा की जागृत अवस्था की प्राप्ति होती है। उक्त दर्शनावरण के पांच भेद दर्शन-लब्धि को आवृत करनेवाले होते हैं, अत: इनको दूर करने के लिये साधक को निरन्तर जागरूक रहना चाहिए।

६. चक्षुर्दर्शनावरण—सामान्यमात्रग्राही बोध को आवृत करनेवाली कर्म-प्रकृति को चक्षुर्दर्शनावरण कहते हैं। इस कर्म के उदय से जीव को चक्षु की प्राप्ति नही होती। वह जीव एकेन्द्रिय से लेकर त्रीन्द्रिय पर्यन्त कही भी उत्पन्न हो सकता है। यदि मनुष्य-जन्म प्राप्त कर भी ले, तो वह जन्मान्ध ही उत्पन्न होता है, या पीछे से नेत्रविहीन हो जाता है। नेत्र-शक्ति को येन केन प्रकारेण आवृत करना ही इसका फल है।

७. अचक्षुर्दर्शनावरण—नेत्रो के अतिरिक्त शेप चार इन्द्रियो और मन को अचक्षु कहते हैं। अचक्षु से जायमान सामान्यग्राही वोध को अचक्षुर्दर्शन कहा जाता है। इस दर्शन का जो आवरण करनेवाला कर्म है, उसे अचक्षुदर्शनावरण कहते हे।

८. अवधिदर्शनावरण—इन्द्रियो की अपेक्षा किए विना जो रूपी पदार्थो का सामन्यग्राही बोध होना, वही अवधिदर्शन है, उसे आवृत करनेवाली कर्म-प्रकृति अवधिदर्शनावरण कहलाती है।

९. केवलदर्शनावरण—समस्त वस्तुओ को प्रत्यक्ष करनेवाले सामान्य-ग्राही बोध को केवलदर्शन कहते है। उसे आवृत करनेवाले कर्म को केवलदर्शनावरण कहा जाता है। क्षयोपशम भाव में दर्शन की तारतम्यता रहती है किन्तु क्षायिकभाव मे तारतम्य नही होता है। ●

नक्षत्र-चन्द्रयोग

मूल—अभिई णं णवखत्ते साइरेगे नवमुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोयेइ। अभीइ-आइया णं णव नवखत्ता चंदस्स उत्तरेणं जोयं जोएंति, तं जहा—अभीई, सवणो, धणिट्ठा जाव भरणी।९।

छाया—अभिजिन्नक्षत्रं सातिरेकान्नवमुहूर्त्तान् चन्द्रेण सार्द्धं योग युंक्ते। अभिजिदादीनि नव नक्षत्राणि-चन्द्रस्योत्तरे योग युञ्जन्ति, तद्यथा—अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा यावत् भरणी।

शब्दार्थ—अभिई ण णवखत्ते—अभिजित् नामक नक्षत्र; साइरेगे नवमुहुत्ते—कुछ अधिक नव मुहूर्त्तों तक; चंदेण सद्धिं—चन्द्रमा के साथ; जोयं जोयेइ—योग जोडता है, अभीइ-आइया णं णवनक्खत्ता चंदस्स उत्तरेणं—अभिजित् आदि नौ नक्षत्र उत्तर दिशा में स्थित होते हुए चन्द्रमा के साथ; जोय जोएंति योग जोड़ते है, तं जहा—जैसे—; अभीइ—अभिजित्, सवणो—श्रवण; धणिट्ठा जाव भरणी—धनिष्ठा से लेकर भरणी तक।

मूलार्थ—अभिजित् नक्षत्र नौ मुहूर्त्तों से कुछ अधिक समय तक चन्द्रमा के साथ युक्त रहता है। अभिजित् आदि नौ नक्षत्र उत्तर दिशा मे स्थित रहते हुए चन्द्रमा से योग जोड़ते है, यथा—अभिजित्, श्रवण और धनिष्ठा से लेकर भरणी तक।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे दर्शनावरणीय कर्म के भेद बताए गए है। मानवीय कर्म-गति के साथ ज्योतिष-शास्त्र ग्रहगति का घनिष्ट सम्बन्ध बताता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार चन्द्र-नक्षत्र-योग का वर्णन करते है।

ज्योतिष शास्त्र कहता है कि सभी नक्षत्रों का योग सभी ग्रहो से होता है। प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि अभिजित् नक्षत्र-चन्द्रमा के साथ कितने काल तक युक्त रहता है? कुछ नक्षत्र ४५ मुहूर्त-तक, कुछ ३० मुहूर्त तक और कुछ नक्षत्र १५ मुहूर्त तक युक्त रहा करते हैं। किन्तु एक अभिजित् नक्षत्र ही नौ मुहूर्त से कुछ अधिक क्षणो तक चन्द्रमा के साथ युक्त रहा करता है।

अभिजित् आदि नौ नक्षत्र चन्द्र के उत्तर भाग मे योगवाले होते है, वे नौ नक्षत्र ये है—अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी और भरणी। ये नौ नक्षत्र उत्तर दिशा मे रहते हुए दक्षिण दिशा में स्थित चन्द्र के साथ योग किया करते हैं। ●

रत्नप्रभा से नक्षत्रमण्डल की दूरी

मूल—इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ णव-जोअण सयाइं उड्ढं अवाहाए उवरिल्ले ताराख्वे चारं चरइ ।१०।

छाया—अस्याः रत्नप्रभायाः पृथिव्याः बहुसमरमणीयाद् भूमिभागाद् नवयोजनशतान्यूर्ध्वमबाधायामुपरिष्ठात् ताराख्पं चार चरति ।

शब्दार्थ—इमीसे ण रयणप्पभाए पुढवीए—इस रतणप्रभा पृथ्वी के; बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ—अत्यन्त सम और रमणीय भूमिभाग से; नवजोअणसयाइं—नौ सौ योजन की; उड्ढं अवाहाए उवरिल्ले—ऊचाई तक, ताराख्वे—तारासमूह; चारं चरइ—गति करता है ।

मूलार्थ—इस रत्नप्रभा पृथिवी के अत्यन्त सम और रमणीय भूमि-भाग से नौ सौ योजन की ऊंचाई तक ताराख्प—तारामण्डल भ्रमण करता है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे चन्द्र और नक्षत्र-योग का वर्णन किया गया है । अत्र प्रस्तुत सूत्र मे उसी विषय से सम्बद्ध विपय अर्थात् रत्नप्रभा पृथ्वी से नक्षत्र-मण्डल की दूरी का वर्णन किया गया है ।

इस भूमि के समतल भूमिभाग से ७६० योजन ऊपर तारामण्डल गति करता है । ८०० योजन की ऊचाई पर सूर्य गति करता है । ६०० योजन की ऊचाई पर शनि का विमान है । यह ज्योतिष-चक्र अधिक से अधिक नौ सौ योजन की ऊचाई पर परिभ्रमण कर रहा है ।[1]

जम्बूद्वीप में प्रवेश-योग्य मत्स्य

मूल—जंबूद्दीवे णं दीवे णवजोयणिआ मच्छा पविसिंसु वा, पविसंति वा, पविसिस्सति वा ।११।

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे नवयोजनिकाः मत्स्याः प्रविक्षन् वा, प्रविशन्ति वा, प्रवेक्ष्यन्ति वा ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप मे नौ योजन की लम्बाई वाले मत्स्य भूतकाल में प्रविष्ट हुए, वर्तमान मे प्रविष्ट होते है और भविष्य मे प्रवेश करेगे ।

---

१. विस्तृत वर्णन के लिये देखिए—जीवाभिगम सूत्र एव जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में खगोल के नक्षत्रो का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार अपनी विशिष्ट शैली के अनुसार भूगोल-सम्बन्धी वर्णन करते हुए मत्स्य-मान के माध्यम से शीता और शीतोदा महानदियो के समुद्रसगल-स्थल के विस्तार का वर्णन करते हैं।

इस सूत्र में बतलाया गया है कि लवण-समुद्र मे ५०० योजन की अवगहना वाले लम्बे-लम्बे मच्छ है। जम्बूद्वीप में शीता और शीतोदा ये दो महानदिया सब मे बडी है। जहां लवण समुद्र में उन का सगम होता है यदि उस मार्ग से कोई मच्छ जम्बूद्वीप मे प्रवेश करे तो अधिक से अधिक नौ योजन लम्बा मच्छ उसमें प्रवेश कर सकता है, ऐसे ही मत्स्यो ने पहले प्रवेश किया, वर्तमान मे प्रवेश करते हैं और भविष्य मे प्रवेश करेंगे।

बलदेवों और वासुदेवों के पिता

मूल—जंबूद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए णव बलदेववासुदेवपियरो हुत्था, तं जहा—

पयावई, य बंभे य, रोद्दे सोमे सिवेइया।
महासीहे अग्गिसीहे, दसरह नवमे य वसुदेवे॥

इत्तो आढत्तं जहा समवाये निरवसेसे जाव एगा से गब्भवसही सिज्झिस्सति आगमेस्सेणं।

जबूद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमेस्साए उस्सप्पिणीये नव बलदेववासुदेवपियरो भविस्संति, नव बलदेवमायरो भविस्संति। एव जहा समवाये निरवसेसं जाव—महाभीमसेण सुग्गीवे य अपच्छिमे।

एए खलु पडिसत्तू, कित्ती पुरिसाण वासुदेवाणं।
सव्वेवि चक्कजोही, हम्मेहंती सचक्केहिं ॥१२॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां नवबलदेववासुदेवपितरोऽभूवन्, तद्यथा—

प्रजापतिश्च ब्रह्मा च, रुद्रः सोमः शिव इति च।
महासिंहोऽग्निशिखः, दशरथो नवमश्च वसुदेवः॥

इत आरभ्य यथा समवाये निरवशेष यावद् एका तस्य गर्भवसतिः सेत्स्यत्यागमिष्यति।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां नव बलदेववासुदेवपितरो भविष्यन्ति, नव बलदेववासुदेवमातरो भविष्यन्ति । एवं यथा समवाये निरवशेषं यावन्महाभीमसेनः सुग्रीवश्चापश्चिमः ।

एते खलु प्रतिशत्रवः, कीर्तिपुरुषाणां वासुदेवानाम् ।
सर्वेऽपि चक्रयोधिनः, हनिष्यन्ते स्वचक्रैः ॥

शब्दार्थ—जंबूद्दीवे दीवे—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के; भारहे वासे—भारतवर्ष में; इमीसे ओसप्पिणीए—इस अवसर्पिणी काल मे, णव बलदेव-वासुदेवपियरो हुत्था--नौ बलदेव और नौ वासुदेवो के पिता थे, तं जहा—जैसे; पयावई य—प्रजापति, बंभे य—ब्रह्मा; रोद्दे—रुद्र; सोमे—सोम; अग्गिसीहे—अग्निसिंह और, दसरह—दशरथ, नवमे य वसुदेवे—नौवे वसुदेव । इत्तो आढत्त जहा समवाये निरवसेसं—यहा से लेकर जैसे समवायाङ्ग मे है, उसी प्रकार सम्पूर्ण रूप से जानना चाहिये; जाव—यावत्, एगा से गब्भवसही—वे एक जन्म लेकर; आगमेस्साए—आगामी काल मे, सिज्झिस्सइ—सिद्ध होगे ।

जबुद्दीवे दीवे भारहे वासे—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भारत वर्ष मे; आगमेस्साए उस्सप्पिणीए—आगामी उत्सर्पिणी मे, णव बलदेववासुदेवपियरो—नौ बलदेवो तथा वासुदेवो के नव पिता, भविस्सति—होगे; नव बलदेववासुदेवमायरो भविस्संति—नौ बलदेव और वासुदेवो की नौ मातायें होगी, एव जहा समवाये निरवसेसं—जिस प्रकार समवायाङ्ग मे वर्णन आया है, उसी प्रकार यहा भी जानना चाहिये; जाव यावत्; महाभीमसेणे सुग्गीवे य अपच्छिमे—महाभीमसेन और अन्तिम सुग्रीव होगा, एए खलु पडिसत्तू—निश्चय ही ये शत्रु है, कित्तीपुरिसाण वासुदेवाणं—कीर्तिमान् वासुदेवो के और ये, सव्वेवि चक्कजोही—सब के सब चक्र से युद्ध करनेवाले है, हम्मेहती सचक्केहि—और अपने ही चक्र से मारे जाते है ।

मूलार्थ—जम्बूद्वीप के भारत वर्ष मे इस अवसर्पिणी मे बलदेव तथा वासुदेवों के नौ पिता हो चुके है, उनके नाम इस प्रकार है—प्रजापति, ब्रह्मा, रुद्र, सोम, शिव, महासिह, अग्निशिख, दशरथ और वसुदेव । यहा से लेकर समवायाङ्ग सूत्र मे जिस प्रकार वर्णन आया है, उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये, यावत् आगामी काल में एक जन्म लेकर सिद्धगति को प्राप्त होगे ।

जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में आगामी उत्सर्पिणी काल में बलदेव और वासुदेवों के नौ पिता और नौ मातायें होगी । समवायाङ्ग सूत्र में जिस प्रकार

वर्णन किया गया है ठीक उसी तरह यहां भी जानना चाहिये, यावद् महा-भीमसेन और अन्तिम सुग्रीव होंगे।

कीर्तिमान् वासुदेवो के ये प्रतिवासुदेव अर्थात् प्रतिशत्रु—वैरी होंगे। ये सब चक्र-युद्ध करनेवाले होंगे तथा अपने ही चक्र से मार डाले जायेंगे।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में जम्बूद्वीप के एक अश का वर्णन किया गया है। जम्बूद्वीप में ही बलदेव एव वासुदेव आदि होते है, अत. प्रस्तुत सूत्र मे इस अवसर्पिणीकाल मे होनेवाले नौ बलदेवो और नौ वासुदेवो के नौ पिताओ के नामो का निर्देश किया गया है। इनकी माताए अलग-अलग होती हैं और पिता एक ही होता है। इस दृष्टि से नौ बलदेवो की नौ माताए और नौ वासुदेवो की नौ माताए हुई, किन्तु पिता नौ ही हुए है। उन पिताओ के नाम इस प्रकार हैं—प्रजापति, ब्रह्मा, रुद्र, सोम, शिव, महासिंह अग्निशिख, दशरथ और वसुदेव।

बलदेव और वासुदेवो के पूर्वभव के नाम, धर्माचार्य, निदान, कर्मबध के कारण, प्रतिशत्रु और उनकी गति आदि बातो का वर्णन समवायाङ्ग सूत्र के अनुसार जान लेना चाहिए। क्रमशः पहले आठ बलदेव सिद्धगति को प्राप्त हुए और नौवें बलदेव जिनका नाम बलभद्र था, ब्रह्म देवलोक में देवता के रूप में उत्पन्न हुए हैं। वहा से च्यव कर इस भरत क्षेत्र में तीर्थङ्कर पद को प्राप्त कर निर्वाण पाएगे।

बलदेव और वासुदेव का परस्पर घनिष्ठ प्रेम होता है। वासुदेव प्रतिवासुदेव पर विजय पाकर आजीवन निष्कटक राज्य-श्री का उपभोग करते है। उनके देहावसान के बाद बलदेव सयम ग्रहण करते है। आजीवन शुद्ध सयम पालकर निर्वाण-पद को प्राप्त होते हैं। यदि कर्म पूर्णतया क्षय न हो सके तो वैमानिक देव बनते है, ऐसा अनादि नियम है।

इस स्थान पर यह शका उत्पन्न हो सकती है कि स्थानाङ्ग सूत्र तीसरा अग है और समवायाङ्ग सूत्र चौथा अग-शास्त्र है, तो फिर तीसरे अग-सूत्र मे चौथे अग-शास्त्र का प्रमाण क्यो दिया गया है?

इस शका के समाधान मे कहा जा सकता है कि उक्त दोनो अंगो मे श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने एक समान वर्णन किया है। दोनो शास्त्र उन्हे कण्ठस्थ थे। उन कठस्थ शास्त्रो को पुस्तकारूढ करते समय उन्होने इस स्थान पर समवायाग सूत्र का प्रमाण देकर विषय-पूर्ति की है, क्योंकि समवायाङ्ग उनके लिये बुद्धि-प्रत्यक्ष था। अत यह कथन युक्तियुक्त है।

सूत्रकर्त्ता ने वासुदेव और प्रति-वासुदेव के विषय मे निम्नलिखित वर्णन किया है—

एए खलु पडिसत्तू कित्ती पुरिसाण वासुदेवाण।
सव्वेवि चक्कजोही हम्मेहंति सचक्केहिं ॥

इस गाथा का भाव यह है कि कीर्ति-पुरुष वासुदेवों के नव प्रतिशत्रु होते हैं जो कि चक्र से युद्ध करते हैं, वे अपने ही चक्र से मारे जाते है। सूत्रकार ने वासुदेवो को कीर्ति-पुरुष कहा है, क्योकि ये महापुरुष कीर्ति-प्रधान पुरुष होते है। तीसरे स्थान में इन महापुरुषो को उत्तम-पुरुष भी कहा गया है क्योकि इनका राज्यशासन न्याय-पूर्वक होता है। इसी कारण इन्हे लोक-पूज्य भी कहा जाता है।

महानिधियां

मूल—एगमेगे णं महानिही णं णव णव जोयणाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते—एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स नव महानिहीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

णेसप्पे पंडुयए पिंगलए, सव्वरयण महापउमे ।
काले य महाकाले, माणवग महानिहो सखे ॥१॥

णेसप्पंमि निवेसा, गामागरनगरपट्टणाणं य ।
दोणमुहमडबाणं, खंधाराण गिहाणं य ॥२॥

गणियस्स य बीयाणं, माणुम्माणस्स जं पमाण य ।
धन्नस्स य बीयाणं, उप्पत्ती पंडुए भणिया ॥३॥

सव्वा आभरणविही, जा य होइ महिलाणं ।
आसाण य हत्थोण य, पिंगलनिहिंमि सा भणिया ॥४॥

रयणाइं सव्वरयणे, चोद्दस पवराइं चक्कवट्टिस्स ।
उप्पज्जंति, एगिंदियाइ पंचिंदियाइं य ॥५॥

वत्थाण य उप्पत्ती, निप्पत्ती चेव सव्वभत्तीणं ।
रंगाण य धोयाण य, सव्वा एसा महापउमे ॥६॥

काले कालण्णाणं, नव्वपुराणं य तोसु वासेसु ।
सिप्पसयं कम्माणि य, तिन्नि पयाए हियकराइं ॥७॥

लोहस्स य उप्पत्ती, होइ महाकाले आगराणं च ।
रुप्पस्स सुवन्नस्स य, मणिमोत्तिसिलप्पवालाणं ॥८॥

जोहाण य उप्पत्ती, आवरणाणं य पहरणाणं य ।
सव्वा य जुद्धनीई, माणवए दंडनोई य ॥९॥

नट्टविही नाडगविही, कव्वस्स चउविहस्स उप्पत्ती ।
संखे महानिहिम्मी, तुडियगाणं य सव्वेसिं ॥१०॥

चक्कट्ठ पइट्ठाणा, अट्ठुस्सेहा य नव य विक्खंभे ।
बारसदीहा, मंजूससंठिया जह्नवीई मुहे ।११॥

वेरुलियमणि कवाडा, कणगमया विविहरयणपडिपुन्ना ।
ससि सूर-चक्कलक्खण, अणु-सम-जुगबाहु-वयणा य ।१२॥

पलिओवमट्ठिईया, णिहिसरिणामा य तेसु खलु देवा ।
जेसिं ये आवासा, अक्किज्जा आहिवच्चा वा ॥१३।

एए ये नवनिहओ, पभूयधणरयण संचय समिद्धा ।
जे वसमुवगच्छंतो, सव्वेसिं चक्कवट्टीणं ।१४॥।१३।

छाया—एकैकः खलु महानिधिर्नव-नव योजनानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः। एकैकस्य राज्ञश्चातुरन्तचक्रवर्त्तिनो महानिधयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

नैसर्पः पाण्डुकः पिङ्गलः, सर्वरत्नः महापद्मः ।
कालश्च महाकालो, माणवको महानिधिः शङ्खः ॥१॥

नैसर्पे निवेशाः, ग्रामाकर - नगरपत्तनानि च ।
द्रोणमुखमडम्बानां, स्कन्धावाराणां गृहाणाञ्च ॥२॥

गणितस्य च बीजानां, मानोन्मानयो. यत्प्रमाणञ्च ।
धान्यस्य च बीजानामुत्पत्तिः, पाण्डुके भणिता ॥३॥

सर्वाभरणविधिः, पुरुषाणां, यश्चभवति महिलानाम् ।
अश्वानां हस्तिनाश्च, पिङ्गलनिधौ स भणित ॥४॥

रत्नानि सर्वरत्ने. चतुर्दश प्रवराणि चक्रवर्त्तिनः ।
उत्पद्यन्ते एकेन्द्रियाणि, पञ्चेन्द्रियाणि च ॥५॥

वस्त्राणामुत्पत्तिः, निष्पत्तिश्चैव सर्व - भक्तीनाम् ।
रागाणां - धौतानाञ्च, सर्वा एषः महापद्म ॥६॥

काले कालज्ञान, नव - पुराणञ्च त्रिषु वर्षेषु ।
शिल्पशतं कर्माणि च, त्रीणि प्रजाया हितकराणि ॥७॥

लौहस्य चोत्पत्तिर्भवति, महाकाले आकराणाञ्च ।
रुप्यस्य सुवर्णस्य च, मणिमुक्ताशिलाप्रवालानाम् ॥८॥

योधानाञ्चोत्पत्तिः, आवरणानाञ्च प्रहरणानाञ्च ।
सर्वा च युद्धनीतिः, माणवके दण्डनीतिश्च ॥९॥

नाट्यविधिर्नाटकविधिः, काव्यस्य चतुर्विधस्योत्पत्तिः ।
शङ्खे महानिधौ, त्रुटिताङ्गानाञ्च सर्वेषाम् ॥१०॥

चक्राष्टप्रतिष्ठानाः, अष्टोत्सेधाश्च नव च विष्कम्भाः ।
द्वादशदीर्घमञ्जूषा - संस्थिता जाह्नव्या मुखे ॥११॥

वैडूर्य - मणि - कपाटा, कनकमया-विविधरत्न-प्रतिपूर्णाः ।
शशिसूर - चक्रलक्षणाः, अनु - समयुग - बाहु - वदनाश्च ॥१२॥

पल्योपमस्थितिकाः, निधिसदृङ्नामानश्च तेषु खलु देवाः ।
येषाञ्चावासाः, अक्रेया अधिपत्या वा ॥१३॥

एते ते नवनिधय, प्रभूत - धनरत्न - समृद्धाः ।
ये वशमुपगच्छन्ति, सर्वेषाञ्चक्र - वर्तिनाम् ॥१४॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—प्रत्येक महानिधि विष्कम्भ की अपेक्षा नौ योजन प्रमाण वर्णन की गई है। प्रत्येक चक्रवर्त्ती के आधीनस्थ नव निधान होते है। इनके नाम इस प्रकार है—नैसर्प, पण्डुक, पिंगल, सर्वरत्न, महापद्म, काल, महाकाल, माणवक और शख।

नैसर्प महानिधान में ग्राम, नगर, पत्तन, द्रोणमुख, मडम्ब, स्कन्धावार और गृह-निर्माण सम्बन्धी वर्णन प्राप्त होता है।

पण्डुक महानिधान में गणना-योग्य वस्तु, बीज-गणित, मान, उन्मान, प्रमाण आदि का तथा धान्यो और बीजों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

पिंगल महानिधान मे पुरुष और स्त्रियो के सर्वप्रकार के आभूषणो की निर्माण-विधि तथा घोड़ो और हस्तियों के अभूषणों के विषय में वर्णन प्राप्त होता है।

सर्वरत्न नामक महानिधि में चक्रवर्त्ती के चौदह महारत्नों का और पञ्चेन्द्रिय सेनापति आदि रत्नों के विधान का उल्लेख है।

महापद्म नामक महानिधि मे रगे हुए और धोये हुए सर्व प्रकार के वस्त्रों की उत्पत्ति तथा निष्पत्ति का विधान है।

काल महानिधि मे नवीन और प्राचीन वस्तुओं का तीन-तीन वर्ष तक का कालज्ञान है। सौ प्रकार का शिल्प तथा प्रजा के हितकर तीन प्रकार के कामो का विवरण है।

महाकाल महानिधि में चान्दी, सोना, मणि, मोती, पत्थर, मूगा और लौह आदि धातुओं की उत्पत्ति तथा खानों के विषय मे विवेचन प्राप्त होता है।

माणवक महानिधि में शूरवीरों और तत्सम्बन्धी कवच, शस्त्रास्त्र तथा युद्ध-नीति और दण्डनीति के विधान का उल्लेख है। शङ्ख महानिधि में नृत्यविधि, नाट्यविधि, चार प्रकार के काव्य की उत्पत्ति तथा सर्व प्रकार के तूर्यादि वादित्रों का विधान है।

ये सब महानिधान आठ चक्रों पर आश्रित है। आठ-आठ योजन ऊंचे, नौ-नौ योजन चौड़े तथा बारह योजन लम्बे है। मञ्जूषा अर्थात् पेटी के आकारवाले और गङ्गा के अग्रभाग पर अवस्थित है।

इन महानिधियों के कपाट वैडूर्य-मणिमय तथा सुवर्णमय है और नाना प्रकार के रत्नो से परिपूर्ण है। ये सभी निधान, चन्द्र, सूर्य और चक्र के चिह्नो से चिह्नित है। सम है अर्थात् विषम नही है। इनके अग्रभाग मे यूप अर्थात् स्तम्भ के समान दीर्घ और वृत्ताकार द्वार शाखाये है।

इन सभी महानिधानों के अधिष्ठातादेव पल्योपम स्थितिवाले हैं। इन निधियो के देवो के नाम भी निधियो जैसे ही हैं। ये निधान इन देवो के आवास-स्थान है। इन निधानो का क्रय-विक्रय नही हो सकता। इनका आधिपत्य भी इन्ही देवो के पास हैं।

ये सभी महानिधान अत्यधिक धन एवं रत्नो से भरपूर है। ये निधान सभी चक्रवर्त्तियो के आधीन होते है।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे बलदेव-वासुदेव आदि महापुरुषो का वर्णन किया गया है। महापुरुषों की उस वर्णन-परम्परा में चक्रवर्ती भी आते है, अतः प्रस्तुत सूत्र में चक्रवर्तियो के विशाल नौ निधानो का वर्णन प्राप्त होता है।

चक्रवर्तियो के विशाल कोषो को निधान कहा जाता है। चक्रवर्तियों का प्रत्येक महानिधान नौ योजन विस्तार वाला होता है। चक्रवर्त्ती की समस्त सम्पत्ति इन नौ निधानों में सुरक्षित रहती है। इनके विषय मे परम्परागत कथन चला आ रहा है कि एक-एक महानिधि के ३-३ भाग हैं, पहले भाग मे देवासन है, दूसरे भाग मे रत्नसचय है और तीसरे भाग में रत्नमय ग्रन्थो का सग्रह है। उन नौ महानिधियो के ग्रन्थो में निम्नलिखित विषय वर्णन किये गए है, जैसे कि—

१. **नैसर्पमहानिधि**—इस मे नए ग्रामो एव नगरो को बसाना तथा पुराने ग्रामो को व्यवस्थित करना, खनिज पदार्थों की जितनी खाने है, उनका प्रबन्ध करना, जितनी बन्दरगाहे हैं जितने व्यापारिक नगर है, जितनी छावनिया है, उन सब का प्रवन्ध एव व्यवस्था करन का विधि-विधान है।

२. **पाडुकमहानिधि**—इस निधि मे गणितविद्या, बीजगणित तथा जो पदार्थ गणित के द्वारा क्रय-विक्रय किये जाते है, उनके बनाने की सामग्री, जिनका व्यवहार माप के द्वारा किया जाता है, तोली जाने वाली वस्तुए है, धान्यादि की उत्पत्ति आदि का सारा विधि-विधान निहित है।

३. **पिंगलमहानिधि**—इस निधि मे सभी प्रकार के आभूपणो का वर्णन है। ससार भर मे जितने प्रकार के स्त्री-पुरुपो के आभूषण है, बालक-बालिकाओ के आभूषण है और हाथी-घोड़ो आदि के शृङ्गार के साधन हैं, उन सब के आकार-प्रकार उनके बनाने की पद्धति और उनका सग्रह विद्यमान है।

४. **सर्वरत्नमहानिधि**—इस मे सब प्रकार के रत्नो का विधान है। जो ससार भर में सर्वोत्तम हो, अप्रतिम हो, उसे रत्न कहा जाता है। चक्र आदि एकेंद्रियरत्न, सेनापति आदि पचेन्द्रिय रत्न, इन की उत्पत्ति, परीक्षा की शैली इत्यादि रत्नो से सम्बन्धित वर्णन इस महानिधि में उपलब्ध होता है।

५. **महापद्मनिधि**—इसमे उत्तम-उत्तम सभी प्रकार के वस्त्रो का उत्पादन, सिलाई, रगाई, धुलाई, कटाई इत्यादि सभी कलाओ का वर्णन और साथ ही उनका सग्रह भी है। वस्त्रो से संवधित सभी बातो का वर्णन इसमे उपलब्ध होता है।

६. **कालमहानिधि**—इस मे तीन वर्ष की पुरानी वाते और तीन वर्ष मे होनेवाली सभी बातो का ज्ञान होता है और साथ ही वर्तमान कालिक ज्ञान भी। घट, लोह, चित्र, वस्त्र और नापित इन के २०-२० भेद करने से कुल १०० भेद होते हैं। इसी को १०० प्रकार का शिल्प कहते हैं। कृषि-वाणिज्य आदि विविध कर्मो का ज्ञान इस से होता है। कालज्ञान, शिल्पज्ञान औह कर्मज्ञान ये तीन ज्ञान प्रजा-हित के लिये होते है। तीन वर्ष मे जो कुछ होने वाला है, उस से बचने का उपाय पहले किया जा सकता है।

७. महाकालमहानिधि—खानो से निकलने वाले जितने भी उत्तमोत्तम पदार्थ है, जैसे कि सोना, चादी लोहा, मणि, यूरेनियम आदि उन की उत्पत्ति, परीक्षा तथा उनका सशोधन इन सब बातो का वर्णन इसमें है। इतना ही, नही ये मव पदार्थ जिस-जिस काम मे आते हैं या जिस तरह से इनका ग्रहण किया जाता है, उन सब विधि-विधानो का वर्णन इसमे निहित है और उनका सग्रह भी। साधारण जनता के लिये यह विषय अत्यन्त लाभप्रद है। ये निधिया चक्रवर्ती को ही प्राप्त होती है।

८. माणवकमहानिधि—इस मे सैनिक विद्या, युद्ध-नीति, साम, दाम, भेद और दण्डनीति का विधान है। सब प्रकार के सैनिक शस्त्र-अस्त्र, कवच-परिधान, दुश्मन को घेरे में लाने के उपाय शत्रु से बचने के उपाय आदि विषयों का वर्णन निहित है और साथ ही उन का सग्रह भी।

९. शखमहानिधि—इस मे सगीत के साज-बाज, बैंड, ३२ प्रकार के नाटक, गद्य, पद्य, गेय, काव्य, छन्द, अलकार, समछन्द विपमछन्द और अर्द्धसम छदो का विस्तृत वर्णन है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थो का साधन तथा सस्कृत-प्राकृत, अपभ्रश एव सकीर्ण भाषा मे बने हुए ग्रन्थो का सग्रह है।

ये नौ महानिधियां आठ योजन ऊची, नौ योजन चौडी और बारह योजन लम्बी, सदूक के आकारवाली है तथा गंगा के मुख पर इनका निवास स्थान है। उनके किवाड वैडूर्य मणि से जटित एव स्वर्णमय है। विविध प्रकार के रत्नो से परिपूर्ण हैं। सूर्य-चद्र आदि शुभ लक्षणो से युक्त है। इन्ही नामो वाले निधियो के अधिष्ठाता देव है। जिनकी स्थिति पल्योपम की है। ये नौ निधिया जिस के वश होती है, उसी को चक्रवर्ती कहते है। ये निधियां तप-सयम के प्रभाव से ही मिल सकती है। लोकोपकारी जितनी क्रियाए है, वे सब इन से ही प्राप्त होती है।

नौ विकृतियां

मूल—णव विगईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—खीरं, दहिं, णवणीयं, सप्पि, तेलं, गुलं, महुं, मज्जं, मंसं।१४।

छाया—नव विकृतय. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्षीरं, दधि, नवनीतं, सर्पिः, तैलं, गुड़ः, मधु, मद्य, मांसम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—नव विकृतियां-विकारजनक पदार्थ कथन किये गये है, यथा—दूध, दही, नवनीत, मक्खन, घी, तेल, गुड़, मधु, मद्य और मास।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे महानिधियों का वर्णन किया गया है। उन महानिधियो के देखने सुनने वा स्मरण करने मात्र से लोभी मनुष्य के मन में विकार उत्पन हो जाते है, अत: प्रस्तुत सूत्र में उन मानसिक विकारों के द्रव्यो का वर्णन किया गया है जो विकारोत्पत्ति मे सहायक होते है।

नौ प्रकार की विकृतिया ब्रह्मचर्य को नष्ट करने मे कारण बनती है। ब्रह्मचर्य के नष्ट हो जाने से दुर्गति एव जीवन का पतन होने लगता है। वे विकृति-जनक पदार्थ इस प्रकार है—

१. दूध—दूध गाय का भी होता है, भैंस, भेड, बकरी और ऊटनी का भी। इन पशुओ का दूध ही अधिकतर मनुष्य अपने काम में लाता है। 'कामोत्पादक पय:' की उक्ति के अनुसार दूध को काम विकार का जनक माना गया है, अत उसे विकार कहा गया है।

२. दही—ऊटनी के दूध का दही नही बनता, शेष सबका बनता है। दही को श्लेष्म-सवर्धक एव आलस्य का उत्पादक माना जाता है।

३. नवनीत—जिस दूध का दही बनता है उसी से मक्खन भी बनता है। मक्खन चर्बी बढ़ाता है और साथ ही पौष्टिक भी होता है, अत: इसे भी कामोत्पादक माना गया है।

४. घृत—जितने प्रकार का मक्खन होता है उतने ही प्रकार का घी भी होता है। वनस्पति घी भी इसी में सम्मिलित है। घृत स्मृति-वर्धक और शक्ति-वर्धक है, परन्तु उसे कामोत्पादक भी माना गया है।

५. तैल—बादामरोगन, तिलो एव सरसो आदि का तेल और जो तेल खाने के काम आते है, उन सब तेलो का समावेश इसीमे हो जाता है, तैल को भी चिकनाहट के कारण विकारोत्पादक कहा गया है।

६. गुड़—यह दो तरह का होता है—ढीला और बधा हुआ। शक्कर, खाड, मिश्री आदि सभी मीठी वस्तुए उसमे ग्रहण की जाती है। गुड आदि पदार्थ मधुमेह आदि रोगो के जनक हैं और रोग साधना-मार्ग मे बाधक होते ही है।

७. मधु—शहद तीन तरह का होता है—मकरन्द का, फलो का और चीनी का। मधुमक्खियो द्वारा इकट्ठा किया हुआ, भ्रमरो द्वारा इकट्ठा किया हुआ, कौन्तिक—भिरडो आदि द्वारा इकट्ठा किया हुआ, सभी प्रकार के मधु काम-विकार के जनक और शारीरिक शक्ति के उत्पादक माने गए है।

८. मद्य—मद्य अर्थात् शराब के अनेक रूप है और इसके सभी रूप उन्मादकारी और बुद्धि को भ्रष्ट करनेवाले है।

९. मांस—यह तीन तरह का होता है—जलचर-मछली आदि का, खेचर—पक्षी आदि का तथा भूमि पर चलनेवाले जीव का मास। इनके अतिरिक्त अडे भी मास से भिन्न नही है। अण्डा भी मास का प्रथम रूप है। इनमे मद्य और मास तो सर्वथा वर्जित एव अपेय तथा अभक्ष्य

हैं शेष विकृतियो का भी साधक यथाशक्ति त्याग करे, जिससे वह इन विकृतियो से बचकर रहे तभी उसकी ब्रह्मचर्य समाधि निष्प्रकप रह सकती है।

नौ मल-द्वार

मूल—णव सोयपरिस्सवा बोंदी पण्णत्ता, तं जहा–दो सोत्ता, दो णेत्ता, दो घाणा, मुह, पोसे, पाऊ ।१५।

छाया—नव स्रोत-परिश्रवा बोन्दी प्रज्ञप्ता:, तद्यथा—द्वे श्रोत्रे, द्वे नेत्रे, द्वे घ्राणे, मुख, पोस:, पायु: ।

शब्दार्थ—णवसोयपरिस्सवा बोंदी पण्णत्ता, तं जहा—शरीर नौ छिद्रो द्वारा मल का त्याग करता है, यथा; दो सोत्ता—दो कान; दो णेत्ता—दो नेत्र; दो घाणा—दो नासिकायें, मुहं—मुख, पोसे—मूत्रेन्द्रिय; पाऊ—गुदा ।

मूलार्थ—शरीर से मल निकलने के नौ मार्ग कथन किये गए है, यथा—दो कान, दो आंखे, दो नासिका-छिद्र, एक मुख, मूत्रेन्द्रिय और गुदा ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में नौ प्रकार की विकृतियों का वर्णन किया गया है। ये विकृतिजनक पदार्थ भौतिक शरीर में विकार भी उत्पन्न करते है और मल भी। वह मल स्वभावत: शरीर छिद्रो से प्रवाहित होता रहता है, अत. प्रस्तुत सूत्र में उन मलस्रावी नौ छिद्रो का परिज्ञान कराया गया है।

बोंदी का अर्थ औदारिक शरीर है। उस मे मल झरने के नौ द्वार होते है, जिन मे यदा-कदा मल निकलता ही रहता है वे द्वार है दो कान, दो आखें, दो नासिका-छिद्र मु ह, मूत्रेन्द्रिय और गुदा। इन नौ छिद्रो से अन्दर की मैल बाहर निकलती है। इन के अतिरिक्त शेष अंगों या उपागो के क्षत-विक्षत होने से, फोडा फुन्सी हो जाने से या आप्रेशन करके मलमूत्र के द्वार का रास्ता बदल देने से तथा शरीर के सभी अवयवो से अन्दर रही हुई घृणास्पद मैल निकला करती है। वह तो कादाचित्क एव कृत्रिम होती है, किन्तु उक्त नौ द्वार तो स्वस्थ अवस्था में भी खुले ही रहते है। इसलिये प्रस्तुत सूत्र में नौ द्वारो का ही वर्णन किया गया है।

यद्यपि शरीर के रोमो से भी पसीना आदि मल निकलता है, वह भी तो मैल ही है, फिर नौ ही द्वार क्यो कहे गए है ? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि प्रस्तुत सूत्र मे गर्मी-सर्दी सभी कालों में मलप्रवाही द्वारो का वर्णन किया गया है न कि सामान्य छिद्रो का। पसीना गर्मी में ही निकलता है, शीतकाल मे नही। रोम छिद्र है, द्वार नही, अत: प्रस्तुत सूत्र मे तो द्वारो का ही वर्णन किया गया है, न कि सूक्ष्म छिद्रों का।

पुण्य-प्रकार

मूल—णवविहे पुण्णे, पण्णत्ते, तं जहा—अन्न पुण्णे, पाणपुण्णे, वत्थपुण्णे, लेण-पुण्णे, सयणपुण्णे, मणपुण्णे, वइपुण्णे, कायपुण्णे, नमोक्कारपुण्णे ।१६।

छाया—नवविधं पुण्यं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अन्नपुण्यं, पानपुण्यं, वस्त्रपुण्यं, लयनपुण्यं, शयनपुण्यं, मनःपुण्यं, वाक्पुण्यं, कायपुण्यं, नमस्कारपुण्यम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—नौ प्रकार के पुण्यों का वर्णन किया गया है, यथा—अन्न-पुण्य, पान-पुण्य, वस्त्र-पुण्य, लयन-पुण्य, शयन-पुण्य, मनः-पुण्य, वचन-पुण्य, काय-पुण्य, नमस्कार-पुण्य ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में मलस्रावी शरीर-द्वारो का वर्णन किया गया है। शरीर जहां मलस्रावी है वहां पुण्य-साधना मे सहायक भी है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे मानव-शरीर द्वारा सम्पन्न होनेवाले पुण्य-प्रकारों का वर्णन किया गया है।

जो जीव को पवित्र बनाता है और आत्मा को समुन्नत करता है, उसे पुण्य कहते है, अथवा जिस प्रक्रिया से शुभ प्रकृतियो का बध होता है, वह पुण्य है। आठ कर्मों की १४८ प्रकृतिया है, उन मे से ४२ प्रकृतिया पुण्य के उदय से भोगी जाती है। पुण्य के नौ भेद है, जैसे कि—

१. अन्नपुण्य—दया-बुद्धि से किसी को भोजन देना पुण्य है।
२. पानपुण्य—दया-बुद्धि से किसी प्यासे की प्यास बुझाना पुण्य है।
३ वस्त्रपुण्य—अनुकम्पा भाव से किसी गरीब को वस्त्र देना भी पुण्य है।
४. लयनपुण्य—किसी को ठहरने के लिये मकान देना पुण्य है।
५. शयनपुण्य—आराम करने के लिये किसी को आसन या बिस्तर देना पुण्य है।
६. मनःपुण्य—मानसिक भावो को पवित्र रखना मनःपुण्य है।
७. वचनपुण्य—किसी को वाणी के द्वारा धैर्य एव दिलासा देना गुणी जनों की प्रशसा करना हितभाव से मीठा बोलना और प्रभु-स्तुति एव स्वाध्याय करना वचन-पुण्य है।
८. कायपुण्य—गुणीजनों या दुखियों की शरीर से सेवा करना काय-पुण्य है।
९. नमस्कारपुण्य—विनय एव नम्रता से किसी को नमस्कार करना, नमस्कार पुण्य है ।

इस स्थान पर यह जानना आवश्यक है कि पुण्योपार्जन करने के नौ भेद प्राणीमात्र के लिये कथन किये गए है, न कि केवल साधु के लिये, क्योंकि जिस स्थान पर 'श्रमण-माहन' के लिये सूत्र-

पाठ आता है, वहा "फासुए एसणिज्जेणं असणं पाण खाइमं साइमं" इत्यादि पाठ आता है। इस सूत्र में 'फासुए' और 'एसणिज्जे' यह पाठ नही है, अतः यह सूत्र प्राणीमात्र के पुण्य-बंध के कारणो को बता रहा है। उत्तम साधु के लेने योग्य अन्न यदि सुपात्र को दिया जाए तो वह तीर्थङ्कर नाम आदि पुण्य प्रकृतियो के बध का कारण बनता है। शेष पुण्य अन्य प्रकृतियो के पुण्य बध के कारण हुआ करते है।

पाप बन्ध के कारण

मूल—णव पावस्सायणा पण्णत्ता, तं जहा—पाणाइवाए, मुसावाए जाव परिग्गहे, कोहे, माणे, माया, लोहे ।१७।

छाया—नव पापस्याऽऽयतनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—प्राणातिपातः, मृषावादो यावत् परिग्रहः, क्रोधः, मानः, माया, लोभः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—नौ प्रकार से पाप का बन्ध होता है, यथा—प्राणातिपात से, मृषावाद से लेकर परिग्रह आदि करने से, क्रोध से, मन से, माया से और लोभ से।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में पुण्य का वर्णन किया गया है। पुण्य का विरोधी पाप है, अत प्रस्तुत सूत्र में नौ प्रकार के पाप-स्थानो अर्थात् कारणो का वर्णन किया गया है। पाप के सभी भेद कर्म बध के मूल कारण है। जीव-हिसा करने से, झूठ बोलने से, चोरी की बुद्धि से किसी की वस्तु उठाने से, दुराचार का सेवन करने से, परिग्रह अर्थात् आसक्ति भाव से, क्रोध करने से, मान करने से, माया अर्थात् कपट करने मे तथा लोभ करने से पाप का उपार्जन होता है।

यद्यपि पाप १८ तरह का होता है तथापि उन सब पाप-रूपो का अन्तर्भाव उक्त नौ भेदो मे हो जाता है। राग का माया और लोभ मे, द्वेष का क्रोध और मान मे, कलह का क्रोध में, अभ्याख्यान का मृषावाद मे, पैशुन्य तथा पर-परिवाद का मृषावाद और क्रोध मे, रति-अरति का कषाया मे, माया-मृषा का माया और मृषावाद मे, और मिथ्यात्व का अनन्तानुबधी कषायो मे अन्तर्भाव हो जाता है, अतः पाप-स्थान नौ ही है।

प्राणातिपात अर्थात् हिंसा आदि को प्रस्तुत सूत्र में 'पाप-आयतन' कहा गया है, क्योंकि ये ऐसे पाप-कर्म है जिन्हें पाप का बीज कहा जा सकता है। जैसे एक घर में पति-पत्नी से परिवार बढता जाता है। इसी प्रकार हिसा आदि से पापो की विविध-विध परम्परा बढती जाती है, अतः हिंसा आदि को पाप का आयतन अर्थात् पापो का घर बताया गया है।

पाप-श्रुत प्रसंग

मूल—णवविहे पाव-सुयपसंगे पण्णत्ते, तं जहा—

उप्पाए निमित्ते मते, आइक्खिए तिगिच्छए ।
कला आवरणेऽन्नाणे मिच्छापावयणेइ य ।१८।

छाया—नवविधः पाप-श्रुत-प्रसंगः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—

उत्पातो निमित्तं मंत्रं, आख्यायिकं चैकित्सिकम् ।
कलाऽऽवरणमज्ञानं, मिथ्याप्रवचनमिति च ॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—नौ प्रकार का पाप-श्रुत-प्रसंग प्रतिपादन किया गया है, यथा—उत्पातशास्त्र, निमित्तशास्त्र, मन्त्रशास्त्र, मातङ्गविद्या, वैद्यकशास्त्र, कलाशास्त्र, आवरण-शास्त्र, अज्ञानशास्त्र, मिथ्या-प्रवचन ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे पाप के नौ रूपो का वर्णन किया गया है । अब सूत्रकार उस प्रसग में नौ प्रकार के ऐसे श्रुत अर्थात् साहित्य का वर्णन करते हैं जिसके पढने में पाप-प्रवृत्ति जागृत होती है । जिस श्रुत अर्थात् साहित्य के पढने से पाप में प्रवृत्ति हो उसे "पाप-श्रुत प्रसग" कहते हैं । वह पापश्रुतप्रसग नौ प्रकार का होता है । जिसका विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि—

१. उत्पात—दैविक एव भौतिक उपद्रव होने के आसार देखकर उनकी निवृत्ति के लिए हिंसादि उपायो का प्रयोग बतानेवाला, किसी पशु आदि के बलिदान द्वारा, राष्ट्र-रक्षा के उपाय बतानेवाला साहित्य पाप-श्रुत कहलाता है ।

२. निमित्त—हिसादि पाप निमित्तो द्वारा शुभ-अशुभ फल बताने वाला शास्त्र ।

३. मंत्र—जिस शास्त्र मे मारण, उच्चाटन, मोहन, वशीकरण आदि मंत्रो की साधना, उनके अधिष्ठाता देवो का आह्वान आदि का वर्णन हो, और साथ ही उनके प्रयोगो का वर्णन भी किया गया हो, वह शास्त्र ।

४. मातङ्गविद्या—जिसके उपदेश से भोपा आदि के द्वारा भूत और भविष्यत् की बाते बताई जाती है । कहा भी है "मातङ्गविद्या-यदुपदेशादतीतादिः कथयन्ति डोण्ड्यो बधिरा इति ।

५. चैकित्सिक—जिस शास्त्र मे रोग-निदान और उनकी चिकित्सा का वर्णन हो, जैसे कि आयुर्वेद शास्त्र ।

६. कला—जिस शास्त्र में पुरुषों सम्बन्धी ७२ कलाए और स्त्रियो सम्बन्धि ६४ कलाए उनकी विधि एव उनके प्रयोग का कथन किया गया हो, वह शास्त्र।

७. आवरण—जिस शास्त्र मे भवन, प्रासाद, नगर आदि बसाने का वर्णन हो, भूमि के शुभ-अशुभ लक्षणों का विवेचन हो, तलघर आदि बनाने की विधि लिखी हो, जिस को दूसरे शब्दो में वास्तु-शास्त्र भी कहते हैं।

८. अज्ञान—जिस शास्त्र मे अज्ञान-वर्धक बाते लिखी हो, पदार्थो का यथार्थ स्वरूप वर्णित न हो, जैसे कि काव्य-नाटक उपन्यास आदि तथा कोकशास्त्र आदि ही अज्ञान-शास्त्र कहलाते है।

९. मिथ्या-प्रवचन—लोकायतिक, षष्टीतंत्र चार्वाक आदि शास्त्र।

जिन शास्त्रों में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप का वर्णन न हो, वे सब पापश्रुत हैं। संसार भर मे जितने भी पाप-साहित्य है, उनका समावेश उक्त नौ में ही हो जाता है, किन्तु ये ही दृढधर्मी द्वारा यदि लोकहित की भावना से जाने जाए या काम मे लाए जाएं तो ये पाप-श्रुत नही कहलाते। जब इनके द्वारा वासना-पूर्ति या दूसरे को हानि पहुंचाई जाए तभी ये पापश्रुत कहलाते है।[1] पापश्रुत या मिथ्याश्रुत को भी सम्यग्दृष्टि सयत सम्यक्श्रुत के रूप में परिणत कर देते हैं, किन्तु साधारण साधको के लिये कोई भी पापश्रुत हितकर एव लाभप्रद नही है।

नैपुणिक पुरुष

मूल—नव णेउणिया वत्थू पण्णत्ता, तं जहा—संखाणे, निमित्ते, काइए, पोराणे, पारिहत्थिए, परपंडिए, वाइए, भूइकम्मे, तिगिच्छए।१९।

छाया—नव नैपुणिकानि वस्तूनि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—संख्यानं, निमित्तं, कायिकं, पुराणः, पारिहस्तिकः, परपण्डितः वादिकः, भूति-कर्म, चिकित्सिकः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—नौ नैपुणिक पुरुष प्रतिपादन किये गए है, यथा—संख्या-शास्त्र में निपुण, निमित्त शास्त्र में निपुण, कायिक-शास्त्र में निपुण, पुराण शास्त्र मे निपुण, जन्म से निपुण सर्वोत्तम विद्वान मन्त्रवादी, ज्वर आदि का राख आदि से प्रतिकार करनेवाला और चिकित्सावेदी।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में पापश्रुत साहित्य का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार उसी परम्परा में साहित्य

१. एवञ्चसर्वमपि पापश्रुत सयतेन पुष्टावलवनेनासेव्यमानमपापश्रुतमेवेति। —इति वृत्तिकार.

कुशल व्यक्तियों का वर्णन करते है। श्रुत के पारगामो विद्वान् ही निपुण कहलाते है। जिसने किसी भी कार्य को जानने में निपुणता प्राप्त कर ली है, उसे नैपुणिक कहा जाता है। वस्तु का अर्थ होता है आचार्य आदि। कहा भी है—

"निपुणं सूक्ष्म ज्ञानं, तेन चरन्तीति नैपुणिकाः, निपुणा एव वा नैपुणिकाः "वत्थू" त्ति आचार्यादि पुरुषवस्तूनि, पुरुष इत्यर्थः"

अर्थात् पदार्थ के अन्तस्तल को जाननेवाले व्यक्ति ही नैपुणिक वस्तु कहलाते है। वे नौ प्रकार के होते है जैसे कि—

१. **सख्यान**—गणित-शास्त्र के विशेषज्ञ।

२. **निमित्त**—मुहूर्त-चिन्तामणि आदि ज्योतिष शास्त्र के पारगामी विद्वान्।

३. **कायिक**—स्वरोदय के पूर्ण वेत्ता—प्राण-तत्व के विज्ञ विद्वान्।

४. **पुराण**—जिसने अपने जीवन में लोकनीति को देखकर एव स्वय अनुभव प्राप्त करके बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया है या पुराणशास्त्र या इतिहास का मर्मज्ञ विद्वान् है, अथवा जो कथाकार है उसे भी पुराण कहा जाता है।

५. **पारिहस्तिक**—जो जन्मसिद्ध निपुण है, अपने सब प्रयोजन समय-समय पर पूरे कर लेते हैं, उन्हे पारिहस्तिक नैपुणिक कहते है।

६. **पर-पण्डित**—इसके दो अर्थ होते है—जिससे बढकर उस युग मे अन्य पण्डित न हो, जिस को आगम की भाषा में श्रुतकेवली कहाजाता है। इस पद का दूसरा अर्थ है—जिसके ससर्ग से दूसरे लोग भो पण्डित हो जाते हो, उसे पर-पडित कहते है। वृत्तिकार भी लिखते हैं—**"परः प्रकृष्टः पण्डितः परपण्डितो बहुशास्त्रज्ञः, परो वा मित्रादिः पण्डितो यस्य स तथा, सोऽपि निपुणसंसर्गान्निपुणो भवति।"**

७. **वादी**—जिसको शास्त्रार्थ में कोई न जीत सके, उसे वादी कहते है। यह वाद-लब्धि हर एक विद्वान् के पास नही होती है। मत्रवादी, धातुवादी आदि का समावेश भी इसी पद मे हो जाता है।

८. **भूति-कर्म**—जो ज्वरादि को या यक्षावेश को उतारने के लिये राख को मत्रित करके देने में निपुण है, वह भूति-कर्म नैपुणिक कहलाता है।

९. **चिकित्सिक**—जो आयुवद शास्त्र में निपुण है, वह चिकित्सक कहलाता है। रोग के मूल कारण को समझने मे तथा उसके शमन या संशोधन में जो निपुण है, वह नैपुणिक कहलाता है।

वास्तव मे देखा जाए तो ये नौ कारण सांसारिक क्रियाओं के लिये उपयोगी है, अथवा अनुप्रवाद पूव के नौ वस्तु-अध्ययन विशेष है। उन्हे जानने वाला पुरुष भी नैपुणिक कहलाता है। ●

महावीर स्वामी के नौ गण

मूल—समणस्स णं भगवओ महावीरस्स णव गणा हुत्था, तं जहा—गोदासगणे, उत्तरबलिस्सहगणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उद्दवाइयगणे, विस्सवाइयगणे, कामड्डियगणे, माणवगणे, कोडियगणे ।२०।

छाया—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य नव गणा अभूवन्, तद्यथा—गोदासगणः, उत्तरबलिस्सहगणः, उद्देहगणः, चारणगणः, ऊर्ध्ववादिकगणः, विश्ववादिकगणः, कामर्द्धिकगणः, मानवगणः, कोटिकगणः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर स्वामी के नौ गण हुए है, यथा—गोदास-गण, उत्तरबलिस्सह-गण, उद्देह-गण, चारण-गण, ऊर्ध्ववातिक-गण, विश्ववादिक-गण, कामर्द्धिक-गण, मानव-गण और कोटिक-गण ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में पाप-प्रवृत्तियो का वर्णन किया गया है, उन पाप-प्रवृत्तियो से गणाधिष्ठाता आदि वचते हैं और साधकों को उनसे बचने का उपदेश देते है, अत· प्रस्तुत सूत्र में नवम स्थान के अनुरोध से उन गणो का उल्लेख किया गया है जिनकी संख्या नौ थी ।

जिन साधुओं की क्रिया-सामाचारी एक समान हो, वाचना भी एक सदृश हो उन साधुओ के समुदाय को गण कहते है । श्रमण भगवान महावीर स्वामी के नौ गण थे ।

गोदास भद्रवाहु स्वामी के वड़े शिष्य थे, उन्ही के नाम से गोदास-गण प्रचलित हुआ ।

उत्तरबलिस्सह स्थविर महागिरि के प्रथम शिष्य हुए है उनके नाम से उत्तरबलिस्सह-गण प्रचलित हुआ । शेष गणो के नामों का उल्लेख मूलार्थ में किया जा चुका है ।

इन गणों के नाम किस अर्थ को लिए हुए है या ये नव गण किस आधार पर स्थापित किए गए हैं ? इस विषय में इतिहास मौन है हां इनका कुछ वर्णन कल्पसूत्र की स्थविरावली में उपलब्ध होता है । यहां केवल उन गणो का नामोल्लेख ही किया गया है । संभव है महावीर स्वामी के निर्वाण के अनन्तर श्रमण-सघ नौ गणों में विभक्त हो गया हो । यहा जिनके नाम दिए गए हैं ऐसा भी सभव है, कि वे नाम गणाग्रणी महापुरुषों के ही हों । जिनसे गणों की प्रवृत्ति हुई है ।

निर्दोष आहार

मूल—समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णव कोडिपरिसुद्धे भिक्खे पण्णत्ते, तं जहा—ण हणइ ण हणावइ, हणंतं णाणुजाणइ। ण पयइ, ण पयावेइ, पयंत णाणुजाणइ। ण किणइ, ण किणावेइ, किणंतं णाणुजाणइ।२१।

छाया—श्रमणेन भगवता महावीरेण श्रमणानां निर्ग्रन्थानां नवकोटि परिशुद्धं भैक्षं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—न हन्ति, न घातयति, घ्नन्त नानुजानाति। न पचति, न पाचयति, पचन्तं नानुजानाति। न क्रीणाति, न क्रापयति, क्रीणन्तं नानुजानाति।

शब्दार्थ—**समणेणं भगवया महावीरेणं**—श्रमण भगवान महावीर ने; **समणाणं णिग्गंथाणं**—श्रमण निर्ग्रन्थो के लिये, **णव कोटिपरिसुद्धे**—नौ विभागो से निर्दोष; **भिक्खे पण्णत्ते**—भैक्ष कथन किया गया है; **त जहा**—यथा; **ण हणइ**—न हनन करता है, **ण हणावइ**—न हनन करवाता है; **हणतं णाणुजाणइ**—हनन करनेवाले को अच्छा नही समझता है। **ण पयइ**—न पकाता है; **ण पयावेइ**—न पकवाता है; **पयंतं णाणुजाणइ**—पकाते हुए को अच्छा नही जानता है। **ण किणइ**—स्वय क्रय नही करता; **ण किणावेइ**—न क्रय करवाता है, **किणंतं णाणुजाणइ**—क्रय करते को अच्छा नही समझता है।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने श्रमण-निर्ग्रन्थो का नौ प्रकार का परिशुद्ध अर्थात् निर्दोष आहार वर्णन किया है, यथा—स्वयं मारता नही अर्थात् स्वयं हनन नहो करता, दूसरे से किसी जोव का हनन करवाता नहीं है, हनन करनेवाले की अनुमोदना नही करता। स्वयं पकाता नही, अन्य से पकवाता भी नहीं और पकानेवाले का अनुमोदन भी नही करता। स्वयं खरीदता नही है, अन्य से खरीदवाता नहीं और खरीदनेवाले का अनुमोदन भो नहो करता है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में गणो का वर्णन किया गया है। गण में रहनेवाले साधु भैक्ष वृत्ति वाले होते है। श्रमण भगवान महावीर ने श्रमण-निर्ग्रन्थो को नौ प्रकार की विशुद्ध भिक्षा ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत सूत्र में निर्देश किया है। भिक्षा से प्राप्त होनेवाला आहार भैक्ष कहलाता है। कहा भी है—**भिक्षाणां**

समूहो भैक्षम् । नौ प्रकार से विशुद्ध आहार आदि वस्तु लेनी ही साधु-साध्वी के लिये उचित है। भिक्षा की नौ कोटियों का विवरण इस प्रकार है। जैसे कि—

१. साधु आहार के लिये स्वय जीव हिंसा नही करता है।
२. न किसी गृहस्थ आदि से जीव-हिंसा करवाता है।
३ और न ही हिंसा करते हुए का अनुमोदन करता है।
४. साधु स्वय न आहार पकाता है।
५ न किसी गृहस्थ के द्वारा पकवाता है।
६. और न पकाते हुए को भला ही समझता है।
७ साधु आहार आदि वस्तु न खरीदता है।
८. न किसी गृहस्थ को खरीदने के लिये कहता है।
९. खरीदने वाले व्यक्ति का अनुमोदन भी नही करता।

ऊपर लिखी हुई सभी कोटियां मन-वचन और काय रूप तीन योगो से हैं। पहली तीन कोटियो से यह ध्वनित होता है कि—

जिस साधक ने त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा का परित्याग कर दिया है वह कद-मूल एव फल-फूल आदि सचित्त वस्तुओ का आहार नही कर सकता तथा गेहूं आदि धान्य का कुट्टन-पीसन, दलन आदि हिंसक प्रवृत्तिया भी नही कर सकता है, न ऐसी प्रवृत्ति के लिये दूसरे को प्रेरणा दे सकता है और ऐसी हिंसक प्रवृत्तियो का वह समर्थन भी नही कर सकता।

दूसरे प्रकार की तीन कोटियो का आशय यह है—कि खाद्य और पेय पदार्थो को साधु अग्नि या विद्युत् आदि के प्रयोग से न स्वय पकाए, न दूसरो से कहकर पकवाए, पकानेवाले का समर्थन भी न करे।

तीसरे प्रकार की तीन कोटियो का भाव यह है कि साधु खाद्य, पेय पदार्थ न तो स्वय खरीदे, न खरीदने के लिये किसी को प्रेरणा करे और यदि कोई अपने आप ही खरीद कर दे तो उसका समर्थन भी न करे।

इन नौ कोटियो की विशुद्धि से विशुद्ध भैक्ष ग्रहण करने का विधान शास्त्रकारो ने साधक के लिए किया है। इसी से मानव आत्म-विकास करके निर्वाण पद की प्राप्ति कर सकता है। साधु का जीवन गृहस्थ के लिये भारभूत नही होना चाहिए। निर्दोष एव विशुद्ध भिक्षाचरी से आहार ग्रहण करना वृत्ति-सक्षेप तप है। तप से ब्रह्मचर्य की विशुद्धि होती है। ब्रह्मचर्य से आत्मा पूर्णता की ओर अग्रसर होता है और पूर्णता ही मोक्ष है।

वरुण देव की अग्रमहिषियां

मूल—ईसाणस्स णं देविंस्स देवरण्णो वरुणस्स महारन्नो णव अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ।२२।

छाया—ईशानस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य वरुणस्य महाराजस्य नव अग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—ईशान देवेन्द्र देवराज के वरुण महाराज की नौ अग्रमहिषियां है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में नौ प्रकारों से विशुद्ध आहार का वर्णन किया गया है । नव कोटि विशुद्ध आहार करनेवाले भिक्षु यदि निर्वाण प्राप्त न कर सके तो वे देवगति प्राप्त करते है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे क्रम-प्राप्त देव और देवियों का वर्णन किया गया है ।

व्यन्तर और ज्योतिष्क इन्द्रों के अतिरिक्त शेप सभी इन्द्रों के चार-चार लोकपाल होते है, जो कि सीमाओं की सुरक्षा किया करते है । ऐसे सभी लोकपाल महाराज कहलाते है, जिनका विस्तृत वर्णन भगवती सूत्र के तीसरे शतक में किया गया है, किन्तु इस स्थान पर केवल इतना ही वर्णन है कि ईशान देवेन्द्र के लोकपाल जो कि उत्तर दिशा के अधिपति है, उनका नाम वरुण है । उनकी नौ अग्रमहिषी देवियां है । स्मरण रहे, जो दक्षिणदिशा में इन्द्र है उनके लोकपालो के नाम, सोम यम वरुण और वैश्रवण है, किन्तु जो इन्द्र उत्तर दिशा में है, उनके लोकपालो के नाम सोम, यम, वैश्रवण और वरुण हैं । वैश्रवण पश्चिमदिशा का अधिनायक है और वरुण लोकपाल उत्तरदिशा का महाराजा है ।

ईशानेन्द्र की अग्रमहिषियों का स्थितिकाल

मूल—ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरण्णो अग्गमहिसीणं णव पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ।
ईसाणे कप्पे उक्कोसेणं देवीणं णव पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ।२३।

छाया—ईशानस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य अग्रमहिषीणां नव पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ताः ।
ईशाने कल्पे उत्कर्षेण देवीनां नव पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—ईशान देवेन्द्र देवराज की पटरानियों की नौ पल्योपम की स्थिति कथन की गई है । ईशान नामक कल्प-देवलोक मे देवियों की उत्कृष्ट स्थिति नौ पल्योपम की वर्णन की गई है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे वर्णित विषय के अनुरूप प्रस्तुत सूत्र में भी देवियों की स्थिति का वर्णन किया गया है। ईशान देवेन्द्र की जितनी अग्रमहिषी देवियां हैं, उनकी स्थिति नव पल्योपम की मानी गई है। ईशान कल्प देवलोक मे परिगृहीता देवियो की उत्कृष्ट स्थिति नव पल्योपम की है और अपरिगृहीता देवियों की उत्कृष्ट स्थिति ५५ पल्योपम की होती है। परिगृहीता देवी विवाहिता स्त्री के समान होती है और अपरिगृहीता देवियों की स्थिति को स्पष्ट करने के लिये एक गाथा दी जाती है जैसे कि—

"सपरिग्गहेयराण सोहम्मीसाण पलिय-साहिय,।
उक्कोस सत्तपन्ना नव पणपन्ना य देवीण॥"

अर्थात् सौधर्म देवलोक मे परिगृहीता देवी की स्थिति कम से कम एक पल्योपम की और अधिक से अधिक सात पल्योपम की तथा अपरिगृहीता देवी की कम से कम स्थिति पल्योपम की और अधिक से अधिक पचास पल्योपम की होती है। दूसरे देवलोक मे परिगृहीता देवी की स्थिति कम से कम पल्योपम से कुछ अधिक और अधिक से अधिक नौ पल्योपम की मानी गई है। अपरिगृहीता देवी की कम से कम एक पल्योपम से कुछ अधिक और उत्कृष्ट स्थिति पच्चपन पल्योपम की मानी गई है।

लोकान्तिक देव-निकाय

मूल—नव देव निकाया पण्णत्ता, तं जहा—

सारस्सयमाइच्चा, वण्ही वरुणा य गद्दतोया य।
तुसिया अव्वाबाहा, अग्गिच्चा चेव रिट्ठा य॥

अव्वाबाहाणं देवाणं नव देवा, नव देवसया पण्णत्ता, तं जहा—अग्गिच्चावि, एवं रिट्ठावि।२४।

छाया—नव देवनिकायाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सारस्वता आदित्याः, वह्नयो वरुणाश्च गर्दतोयाश्च।
तुषिता अव्याबाधाः, आग्नेयाश्चैवरिष्टाश्च॥१॥

अव्याबाधाना देवानां नव देवाः, नव देवशतानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—एवमाग्नेयानामपि, एव रिष्टानामपि।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—देवों के नौ निकाय वर्णन किये गए है, यथा—सारस्वत, आदित्य, वह्नि, वरुण, गर्द्दतोय, तुपित, अव्याबाध, आग्नेय और रिष्ट।

अव्यावाध, आग्नेय तथा रिष्टदेवों के नौ देव मुख्य और उनका नौ सौ देवों का परिवार वर्णन किया गया है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्रों में देवियों का वर्णन किया गया है। अव सूत्रकार उस देव-वर्णन की परम्परा में लोकान्तिक देवों का वर्णन करते हैं। लोकान्तिक देवो के नौ विमान हैं। उनका निवास स्थान ब्रह्म-देवलोक है। उन मे से पहले आठ भेद कृष्णराजियो के अन्तरालों में पाए जाते है, किन्तु नौवां भेद कृष्णराजि के ठीक मध्यभाग के रिष्टाभ प्रस्तट मे है। उनका नामोल्लेख मूलार्थ मे किया जा चुका है।

तत्त्वार्थ सूत्र में वरुण के स्थान मे अरुण और अगिच्च के स्थान मे मरुत नामोल्लेख किए गए हैं। इसका मूलाधार क्या है ? यह अभी तक अज्ञात है। दिगम्बर परम्परा में लोकान्तिको के आठ भेद ही प्रसिद्ध हैं।

अव्यावाध, आग्नेय और अरिष्ट इन विमानो में नौ-नौ देव हैं और उनका ९००-९०० देव-परिवार है। नव लोकान्तिक देव आपस मे छोटे-बड़े नही होते, सभी स्वतन्त्र हैं, तथा वे तीर्थङ्कर के गृहत्याग के समय प्रतिवोध करने का अपना आचार पालन करते है। उनकी आयु पूर्ण आठ सागरोपम की होती है। भद्र स्वभावी होने के नाते उन पर किसी भी इन्द्र का शासन नही है।

ग्रैवेयक विमान-प्रस्तट

मूल—णव गेवेज्ज-विमाण-पत्थडा पण्णत्ता, तं जहा—हेट्ठिमहेट्ठिमगेवेज्जविमाण-पत्थडे, हेट्ठिममज्झिम-गेविज्जविमाण-पत्थडे, हेट्ठिमउवरिमगे-विज्ज-विमाण-पत्थडे। मज्झिमहेट्ठिम-गेविज्जविमाण-पत्थडे। मज्झिममज्झिम-गेविज्ज-विमाण-पत्थडे, मज्झिमउवरिम-गेविज्जविमाण-पत्थडे, उवरिमहेट्ठिमगे-विज्ज-विमाण-पत्थडे, उवरिममज्झिम-गेविज्जविमाण-पत्थडे, उवरिम-उवरिम-गेविज्जविमाण-पत्थडे।

एएसि णं णवण्हं गेविज्जविमाण-पत्थडाणं णव नामधिज्जा पण्णत्ता, तं जहा—

भद्दे सुभद्दे सुजाए, सोमणसे, पियदरिसणे ।
सुदंसणे अमोहे य, सुप्पबुद्धे जसोहरे ।२५।

छाया—नव ग्रैवेयकविमानप्रस्तटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अधस्तनाधस्तनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, अधस्तनमध्यमग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, अधस्तनोपरितनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः । मध्यमाधस्तनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, मध्यममध्यमग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, मध्यमोपरितनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः । उपरितनमध्यमग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, उपरितनाधस्तनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, उपरितनोपरितनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः ।

एतेषां नवानां ग्रैवेयकविमान-प्रस्तटानां नव नामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

भद्रः सुभद्रः सुजातः, सौमनसः प्रियदर्शनः ।
सुदर्शनोऽमोघश्च, सुप्रबुद्धो यशोधरः ॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—नौ ग्रैवेयक विमान-प्रस्तट कथन किये गए है, यथा—अधस्तनाधस्तनग्रैवेयक विमान प्रस्तट, अधस्तनमध्यमग्रैवेयकविमान प्रस्तट, अधस्तनोपरितनग्रैवेयक विमान-प्रस्तट । मध्यमाधस्तन ग्रैवेयक विमान-प्रस्तट, मध्यममध्यमग्रैवेयक विमान-प्रस्तट, मध्यमोपरितनग्रैवेयक विमान प्रस्तट। उपरितनाधस्तनग्रैवेयक विमान-प्रस्तट, उपरिस्तनमध्यमग्रैवेयक विमान-प्रस्तट, उपरितनोपरितनग्रैवेयक विमान-प्रस्तट ।

इन नौ ग्रैवेयक विमान-प्रस्तटों के नौ नाम बताए गए है, यथा—भद्र, सुभद्र, सुजात, सौमनस, प्रियदर्शन, सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध और यशोधर।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में देव-निकायों का वर्णन किया गया है, अब उसी परम्परा में सूत्रकार नौ ग्रैवेयक देवलोको का परिचय देते हैं।

बारह कल्प देवलोकों से ऊपर क्रमशः नौ विमान एक दूसरे के ऊपर हैं। जो कि पुरुषाकृति-लोक के ग्रीवास्थानीय भाग में होने के कारण ये ग्रैवेयक कहलाते है।

उनके तीन-तीन त्रिक है। एक-एक त्रिक में तीन-तीन प्रस्तट है। पहले त्रिक मे १११ विमान है, दूसरे में १०७ और ऊपर के त्रिक मे १०० विमान हैं।

नौ ग्रैवेयक विमान-प्रस्तटों के नौ नाम है, जैसे कि—भद्र, सुभद्र, सुजात, सौमनस, प्रियदर्शन,

सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध और यशोधर। इनमें रहनेवाले देवों में दो दृष्टियां पाई जाती है—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि। वहां सभी देव उपशान्त-कषाय वाले होते है और उनमें सदैव शुक्ललेश्या ही पाई जाती है।[1]

नौ प्रकार का आयु-परिणाम

मूल—नवविहे आउपरिणामे पण्णत्ते, तं जहा—गइपरिणामे, गइबंधणपरिणामे, ठिइपरिणामे, ठिइबंधणपरिणामे उड्ढंगारवपरिणामे, अहेगारवपरिणामे, तिरियगारवपरिणामे, दीहंगारवपरिणामे, रहस्संगारवपरिणामे।२६।

छाया—नवविध आयुष्यपरिणामः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—गतिपरिणामः, गतिबन्धन-परिणामः, स्थिति-परिणामः, स्थितिबन्धन-परिणामः, ऊर्ध्वगौरव-परिणामः, अधोगौरव-परिणामः, तिर्यग्गौरव-परिणामः, दीर्घगौरव-परिणामः, ह्रस्वगौरव-परिणामः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आयु का परिणमन नौ प्रकार से कथन किया गया है, यथा—गतिपरिणाम, गति का बन्धन परिणाम, स्थिति-परिणाम, स्थिति-बन्धन परिणाम, ऊर्ध्वगमन परिणाम, अधोगमन परिणाम, तिर्यग्गमन परिणाम, दीर्घगमन परिणाम और ह्रस्वगमन परिणाम।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे दीर्घ आयुष्क देवों का वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत सूत्र में उस आयु का परिणाम वर्णन किया गया है।

आयु का अर्थ है—जीवनकाल अथवा आयु के कारणीभूत कर्म-पुद्गल। आयुष्यकर्म की स्वाभाविक शक्ति को आयु-परिणाम कहते हैं। परिणाम शब्द स्वभाव, शक्ति, धर्म इत्यादि अर्थों का बोधक है। आयु कर्म जिस-जिस रूप में परिणत होकर फल देता है, वह आयु-परिणाम है। इसके नौ भेद है और उनकी व्याख्या इस प्रकार है—

१. गति-परिणाम—चार गतियों में से जिस जीव ने जिस गति मे जाना होता है, उसी गति मे पहुचा देनेवाले आयुष्य-कर्म को गति-परिणाम कहते है।

---

१. विस्तार के लिए देखिए, प्रज्ञापना सूत्र का दृष्टिपद और लेश्यापद।

२. गति-बंधन परिणाम—जिस आयु के स्वभाव से जीव नियत गति के योग्य कर्म का बध करता है, वह गति-बंधन परिणाम कहलाता है, जैसे कि देव, मनुष्य और तिर्यञ्च की आयु का वन्ध कर सकता है, अन्य किसी गति का नहीं। इसी तरह नारकी के विषय में भी समझना चाहिए।

३. स्थिति-परिणाम—आयु-कर्म की जिस शक्ति से जीव किसी भी गति विशेष में अंतर्मुहूर्त से लेकर तैतीस सागरोपम परिमाण आयु बांधता है, उसे आयु-स्थिति-परिणाम कहते है। २५६ आवलिका से कम आयु कोई भी जीव नही बांधता और ३३ सागरोपम से अधिक भी कोई नही बांधता। इसी आयु को स्थिति-परिणाम कहते है।

४. स्थिति-बंध-परिणाम—आयु-कर्म की जिस शक्ति के द्वारा जीव आगामी भव के लिये प्रतिनियत स्थिति की आयु का वध करता है, उसे 'आयु स्थिति बंध परिणाम' कहते है। जैसे कि तिर्यञ्च भव मे जीव देवायु का वध उत्कृष्ट १८ सागरोपम कर सकता है, जबकि नरकायु का वन्ध उत्कृष्ट ३३ सागरोपम कर सकता है।

५. ऊर्ध्वगौरव-परिणाम—जिस आयु-स्वभाव से जीव की गमन-शक्ति ऊर्ध्व दिशा की ओर हो, वह 'आयु ऊर्ध्वगौरव परिणाम' है। कहा भी है—येनायुःस्वभावेन जीवस्योर्ध्वदिशि गमनशक्तिलक्षणः परिणामो भवति, सः ऊर्ध्वगौरवपरिणामः। इह गौरवशब्दो गमनपर्यायः। गौरव शब्द यहां गमन अर्थ का बोधक है।

६. अधो-गौरव-परिणाम—जिस आयु की शक्ति से जीव नीची दिशा को प्राप्त हो, वह आयु अधोगौरव-परिणाम वाली होती है।

७. तिर्यग्गौरव-परिणाम—जिस आयु की शक्ति से जीव को पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर रूप तिरछी दिशाओं में जाने की शक्ति प्राप्त हो, वह आयु तिर्यग्गौरव-परिणाम वाली है।

८. दीर्घगौरव परिणाम—जिस आयु की शक्ति से जीव को बहुत दूर जाने की शक्ति प्राप्त हो, वह आयु दीर्घ-गौरव परिणाम वाली होती है। इस आयु परिणाम के उत्कृष्ट होने से जीव लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक जा सकता है।

९. ह्रस्व-गौरव परिणाम—जिस आयु-शक्ति से जीव को थोड़ी दूर जाने की शक्ति प्राप्त हो, वह आयु 'ह्रस्व-गौरव परिणाम' वाली होती है।

जीव जिस-जिस परिणाम से आयु का बध करता है, वह उसी परिणाम से परभव को प्राप्त करता है। जिस भव मे जिस जीव ने जाना है, वह उस भव के योग्य अन्य कर्म-प्रकृतियो को भी साथ ही बांधता है। शुभ या अशुभ कर्मों को भोगने के लिये आयु-कर्म सहयोगी होता है। आयु स्वतंत्र रूप से न शुभ है और न अशुभ, किन्तु शुभ कर्मों के योग से शुभ कहलाती है और अशुभ कर्मों के योग से अशुभ। आयु सुख-दुःख की अनुभूति के लिये औदारिक आदि शरीरो मे जीव को स्थित रखती है। संख्यातकाल की आयुवाले मनुष्य और तिर्यञ्च वर्तमान आयु के तीसरे भाग मे से चाहे किसी भी समय में परभव की आयु बांधते है, किन्तु असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यञ्च तथा नारकी और देव, ये सव छः मास शेष रहने पर परभव की आयु का वध किया करते हैं। उनकी और

उत्तम पुरुषो की आयु निश्चय ही निरुपक्रमी होती है। शेष मनुष्यों एव तिर्यञ्चो की आयु सोपक्रमी भी होती है और निरुपक्रमी भी। जो आयु किसी प्रबल निमित्त से भेदन हो वह सोपक्रमी और जो महानिमित्त मिलने पर भी समय की ही पूर्णता करे, वह निरुपक्रमी आयु कहलाती है।

नव नवमिका भिक्षु-प्रतिमा

मूल—णव-णवमिया णं भिक्खुपडिमा एगासीए राइंदिएहिं चउहिं य पंचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं अहासुत्ता जाव आराहिया यावि भवइ ।२७।

छाया—नव-नवमिका भिक्षुप्रतिमा एकाशीत्या रात्रिंदिवैश्चतुर्भि पञ्चोत्तरभिक्षाशतैर्यथासूत्रं यावद् आराधिता चाऽपि भवति।

शब्दार्थ—**णवणवमिया णं भिक्खुपडिमा**—नवनवमि का भिक्षु प्रतिमा; **एगासीए राइंदिएहिं**—इक्यासी रात दिनो मे, **चउहिं य पचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं**—तथा चार सौ पाच भिक्षाओं द्वारा; **अहासुत्ता**—सूत्रानुसार; **जाव**—यावत्; **आराहित्ता यावि भवइ**—आराधन की जाती है।

मूलार्थ—**नवनवमिका भिक्षु प्रतिमा इक्यासी रात-दिनो में तथा चार सौ पांच भिक्षाओं द्वारा सूत्रानुसार आराधन की जाती है।**

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे आयु का वर्णन किया गया है। आयु की उत्तमता तप विशेष पर निर्भर होती है। आयु के परिणाम विशेष से तप का सामर्थ्य प्राप्त होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे नव नवमिका भिक्षु प्रतिमा का स्वरूप, अनुष्ठानकाल तथा दत्ति परिमाण का सकेत किया गया है। पहली नवमिका में एक-एक दत्ति भोजन की और एक दत्ति पानी की लेनी होती है। इसी प्रकार दूसरी नवमिका में दो-दो दत्तिया भोजन और पानी की प्रतिदिन नौ दिन ग्रहण करनी होती हैं। इसी क्रम से नव नवमिका में प्रतिदिन नौ-नौ दत्ति भोजन और पानी की ग्रहण करनी होती है। इस प्रतिमा की आराधना मे ८१ दिन लगते है और दत्तियो की कुल सख्या ४०५ होती है। इस सूत्र पाठ में जाव पद से **"अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएण फासिया पालिया सोहिया किट्टिया"** इन पदो का ग्रहण हुआ है, इन पदो की व्याख्या पहले की जा चुकी है। यह तपस्या आत्म शुद्धि के लिये अतीव महत्त्वपूर्ण है।

नौ प्रकार का प्रायश्चित्त

मूल—णवविहे पायच्छित्तए पण्णत्ते, तं जहा—आलोयणारिहे जाव मूलारिहे,

अणवट्ठप्पारिहे ।२८।

छाया—नवविधं प्रायश्चित्तं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—आलोचनार्हं यावन्मूलार्हम्, अनवस्थाप्यार्हम् ।

शब्दार्थ—नवविहे पायच्छित्तए पण्णत्ते, तं जहा—नौ प्रकार का प्रायश्चित्त कथन किया गया गया है, जैसे—आलोयणारिहे—आलोचना योग्य, जाव—यावत्; मूलारिहे—मूल के योग्य; अणवट्ठप्पारिहे—अनवस्थाप्यार्ह ।

मूलार्थ—नव प्रकार का प्रायश्चित्त वर्णन किया गया है, जैसे—आलोचनार्ह—जिस प्रायश्चित्त में केवल आलोचना करनी पड़ती है यावत् मूलार्ह—जिस प्रायश्चित्त में नवीन दीक्षा लेनी पड़ती है । अनवस्थाप्यार्ह—एक प्रकार का गुरु प्रायश्चित्त ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में भिक्षु-प्रतिमा का वर्णन किया गया है । प्रतिमा की अराधना मे कभी किसी तरह कमी रहने पर दोष की सम्भावना भी बनी रहती है, उन दोषो की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त भी करना आवश्यक है, अत. प्रस्तुत सूत्र मे प्रायश्चित्त का वर्णन किया गया है ।

प्रायश्चित्त का सामान्य अर्थ तो पश्चात्ताप भी होता है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में इसका अर्थ है—ऐसी साधना करना, जिससे पूर्वकृत दोष नष्ट हो जाय और नवीन दोष के उत्पन्न होने की पुनः सम्भावना न रह जाय ।

१. जो प्रायश्चित्त सिर्फ आलोचना के योग्य ही है उसे आलोचनार्ह प्रायश्चित्त कहते हैं ।

२. हार्दिक भावना से "तस्स मिच्छा मि दुक्कड" कहना प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त है ।

३. जिसकी शुद्धि आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो से होती हो, उसे तदुभयार्ह कहते हैं ।

४. सदोष आहार-पानी का त्याग करना या "ऐसी प्रवृत्ति पुनः कभी नही होगी" गुरु की साक्षी से इस तरह की प्रतिज्ञा करना विवेकार्ह प्रायश्चित्त है ।

५. जिस दोष की शुद्धि कायोत्सर्ग से हो सकती है वह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है ।

६. जिस की शुद्धि किसी तप विशेष से हो सकती हो, उसे तपोऽर्ह प्रायश्चित्त कहते हैं ।

७, जिस दोष की निवृत्ति दीक्षा की पर्याय कम करने से हो, उसे देना छेदार्ह प्रायश्चित्त कहा गया है ।

८. महाव्रतो के पुन. आरोपण करने से जिस दोष की निवृत्ति हो, उसे मूलार्ह कहा जाता है ।

९. जिस ने पहले दोष निवृत्ति के लिए विशिष्ट तपस्या कर ली हो, फिर उसे दीक्षा देना अनवस्थाप्यार्ह प्रायश्चित्त कहलाता है ।

प्रायश्चित्त करना आभ्यन्तर तप है । आभ्यन्तरिक तप साधक को कभी भी साधना से विचलित नहीं होने देता तथा उससे कर्मों की महानिर्जरा भी होती है ।

नौ-नौ कूटों वाले पर्वत

मूल—जंबूमंदर-दाहिणेणं भरहे दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे भरहे खंडग माणो वेयड्ड पुन्न तिमिस्सगुहा ।
भरहे वेसमणे या भरहे कूडाण णामाइ ॥१॥

जंबूमंदर-दाहिणेणं निसहे वासहरपव्वए णव कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे निसहे हरिवास विदेह हिरि धिइ असोओया ।
अवरविदेहे रुयगे निसहे कूडाण नामाणि ॥२॥

जंबूमंदर-पव्वए णंदणवणे णव कूडा पण्णत्ता तं जहा—

णंदणे मंदरे चेव निसहे हेमवए रयय रुयए य ।
सागरचित्ते वइरे बलकूडे चेव बोद्धव्वे ॥३॥

जंबूमालवंतवक्खारपव्वए णव कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे य मालवंते उत्तरकुरु कच्छ सागरे रयए ।
सीया तह पुण्णणामे हरिस्सहकूडे य बोद्धव्वे ॥४॥

जंबू कच्छ दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे कच्छे खंडग माणी वेयड्ढ पुण तिमिस्सगुहा ।
कच्छे वेसमणे या कच्छे कूडाण नामाइं ॥५॥

जंबू सुकच्छे दीहवेयड्ढे णव कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे सुकच्छे खंडग माणी वेयड्ढ पुन्न तिमिस्सगुहा ।
सुकच्छे वेसमणे या सुकच्छि कूडाण णामाइ ॥६॥

एवं जाव पोक्खलावइंमि दीहवेयड्ढे । एवं वच्छे दीहवेयड्ढे । एवं जाव मंगलावइम्मि दीहवेयड्ढे ।

जंबूविज्जुप्पभे वक्खार-पव्वए नव कूडा पण्णत्ता, तं जहा—

सिद्धे अ विज्जुणामे देवकूरा पम्ह कणग सोवत्थी ।
सीओयाए सजले हरिकूडे चेव बोद्धव्वे ॥७॥

जंबूमन्दरे पम्हे दीहवेयड्ढे णव कूडा पण्णत्ता, तं जहा–

सिद्धे पम्हे खंडग माणी वेयड्ढ एवं चेव जाव सलिलावइंमि दीहवेयड्ढे। एवं वप्पे दीहवेयड्ढे। एवं जाव गंधिलावइंमि दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता, तं जहा–

सिद्धे गंधिल खंडग माणी वेयड्ढे पुन्न तिमिस्सगुहा।
गंधिलावइ वेसमण कूडाणं होंति णामाइं ॥८॥

एवं सव्वेसु दीहवेयड्ढेसु दो कूडा सरिसणामगा, सेसा ते चेव।

जंबूमंदरेणं उत्तरेणं नीलवंते वासहरपव्वए णव कूडा पण्णत्ता, तं जहा–

सिद्धे नीलवंत विदेह सीया कित्ती नारिकंता य।
अवरविदेहे रम्मगकूडे उवदंसणे चेव ॥९॥

जंबूमंदर उत्तरेणं एरवए दीहवेयड्ढे नव कुडा पण्णत्ता, तं जहा–

सिद्धे रयणे खंडग माणी वेयड्ढ पुण्ण तिमिस्सगुहा।
एरवए वेसमणे एरवए कूडणामाइं ॥१०॥ ।२९।

छाया—जम्बूमन्दरदक्षिणे भरते दीर्घवैताढ्ये नव कूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धो भरतः खण्डको माणिः वैताढ्यः पूर्णस्तिमिस्रगुहा।
भरतो वैश्रमणश्च भरते कूटानां नामानि ॥१॥

जम्बूमन्दरदक्षिणे निषधे वर्षधरे पर्वते नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धो निषधो हरिवर्षो विदेहो ह्रीधृतिश्च शीतोदा।
अपरविदेहः रुचको निषधे कूटानां नामानि ॥२॥

जम्बूमन्दरपर्वते नन्दनवने नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

नन्दनो मन्दरश्चैव निषधो हिमवान् रजतः रुचकश्च।
सागरचित्रो वज्रो बलकूटश्चैव बोद्धव्यः ॥३॥

जम्बूमाल्यवद्वक्षस्कारपर्वते नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धश्चमाल्यवान् उत्तरकुरुः कच्छः सागरो रजतः।
शीता तथा पूर्णनामो हरिस्सहः कूटश्च बोद्धव्यः ॥४॥

जम्बूमन्दरे कच्छे दीर्घवैताढ्यपर्वते नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धः कच्छः खण्डको माणिः वैताढ्यः पूर्णस्तिमिस्रगुहा ।
कच्छो वैश्रमणश्च कच्छे कूटानां नामानि ॥५॥

जम्बूमन्दरे सुकच्छे दीर्घवैताढ्ये नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धः सुकच्छः खण्डको माणिर्वैताढ्यः पूर्णस्तिमिस्रगुहा ।
सुकच्छो वैश्रमणश्च सुकच्छकूटानां नामानि ॥६॥

एवं यावत् पुष्कलावत्यां दीर्घवैताढ्ये । एवं वत्से दीर्घवैताढ्ये । एवं यावन्मङ्गलावत्यां दीर्घवैताढ्ये ।

जम्बूविद्युत्प्रभे वक्षस्कारपर्वते नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धश्च विद्युन्नामानःदेवकुरवः पद्मः कनकः स्वस्तिकः ।
शीतोदा च सजलः हरिकूटश्चैव बोद्धव्यः ॥७॥

जम्बूमन्दरे पद्मे दीर्घवैताढ्ये नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धः पद्मः खण्डकोमाणिः वैताढ्यः। एवं चैव यावत्सलिलावत्यां दीर्घवैताढ्ये । एवं वप्रे दीर्घवैताढ्ये । एवं यावद् गन्धिलावत्यां दीर्घवैताढ्ये नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धो गन्धिलः खण्डको माणिः वैताढ्यः पूर्णस्तिमिस्रगुहा ।
गन्धिलावती वैश्रमणः कूटानां भवन्ति नामानि ॥८॥

एवं सर्वेषु दीर्घवैताढ्येषु द्वौ कूटौ सदृशनामकौ, शेषास्त एव ।

जम्बूमन्दरे उत्तरे नीलवति वर्षधरपर्वते नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धो नीलवान् विदेहः शीता कीर्तिश्च नारिकान्ता च ।
अपरविदेहः रम्यककूट उपदर्शनश्चैव ॥९॥

जम्बूमन्दरोत्तरे ऐरवते दीर्घवैताढ्ये नवकूटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

सिद्धो रत्नः खण्डको मानिः वैताढ्यः पूर्णस्तिमिस्रगुहा ।
ऐरवतो वैश्रमण ऐरवते कूटनामानि ॥१०॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूमन्दर की दक्षिण दिशा के भारत सम्बन्धी दीर्घ वैताढ्य पर्वत पर नौ कूट इस प्रकार वर्णन किये है, यथा—सिद्ध, भरत, खण्डक, मानि, वैताढ्य, पूर्ण, तिमिस्रगुहा, भरत और वैश्रमण ।

जम्बूमन्दर की दक्षिण दिशा सम्बन्धी निषध वर्षधर पर्वत पर नौ कूट

है, जैसे–सिद्ध, निषध, हरिवर्ष, विदेह, ह्री, धृति, शीतोदा, अपरविदेह और रुचक।

जम्बूमन्दर पर्वत सम्बन्धी नन्दन वन पर नौ कूट है, यथा–नन्दन, मन्दर, निषध, हिमवान्, रजत, रुचक, सागरचित्र, वज्र और बलकूट।

जम्बूमन्दर सम्बन्धी माल्यवान वक्षस्कार पर्वत पर नौ कूट है, जैसे–सिद्ध, माल्यवान्, उत्तरकुरु, कच्छ, सागर, रजत, शीता, पूर्ण, हरिस्सह।

जम्बूमन्दर सम्बन्धी कच्छनामक विजय सम्बन्धी दीर्घवैताढ्य पर नौ कूट है, जैसे–सिद्ध, कच्छ, खण्डक, मानि, वैताढ्य, पूर्ण, तिमिस्रगुहा, कच्छ, वैश्रमण।

जम्बूमन्दर सम्बन्धी सुकच्छ विजय के दीर्घ-वैताढ्य पर्वत पर नौ कूट है, यथा–सिद्ध, सुकच्छ, खण्डक, मानि, वैताढ्य, पूर्ण, तिमिस्रगुहा, सुकच्छ, वैश्रमण।

इसी प्रकार यावत् पुष्कलावती सम्बन्धी दीर्घ-वैताढ्य तथा वत्स सम्बन्धी दीर्घ-वैताढ्य एवं मंगलावती विजय सम्बन्धी दीर्घ-वैताढ्य पर नौ-नौ कूटों के विषय में भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये।

जम्बूमन्दर सम्बन्धी विद्युत्प्रभ वक्षस्कार पर्वत पर नौ कूट है, यथा–सिद्ध, विद्युत्, देवकुरु, पद्म, कनक, स्वस्तिक, शीतोदा, सजल, हरिकूट।

जम्बूमन्दर सम्बन्धित पद्म दीर्घवैताढ्य पर नौ कूट है, यथा–सिद्ध, पद्म, खण्डक, मानि, वैताढ्य। शेष नामों की पूर्ववत् कल्पना कर लेनी चाहिये। इसी प्रकार सलिलावती तथा वप्र सम्बन्धी दीर्घ-वैताढ्य के नौ-नौ कूट हैं।

गन्धिलावती विजय सम्बन्धित दीर्घ-वैताढ्य पर नौ कूट हैं, यथा–सिद्ध, गन्धिल, खण्डक, मानि, वैताढ्य, पूर्ण, तिमिस्रगुहा, गन्धिलावती, वैश्रमण, इस प्रकार सर्व दीर्घ वैताढ्यों के दो-दो कूट सदृश नाम वाले हैं।

जम्बूमन्दर के उत्तर में नीलवान् वर्षधर पर्वत पर नौ कूट है, यथा–सिद्ध,

नीलवान्, विदेह, शीता कीर्ति, नारीकान्ता, अपरविदेह, रम्यककूट, उप-
दर्शन।

जम्बूमन्दर के उत्तर में ऐरावत दीर्घ-वैताढ्य पर नौ कूट हैं, जैसे—सिद्ध, रत्न, खण्डक, मानि, वैताढ्य, पूर्ण, तिमिस्रगुहा, ऐरावत, वैश्रमण।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्रों में वर्णित साधना और प्रायश्चित्त आदि भरत आदि कर्म भूमियों में ही होते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में कर्म-भूमि के सम्बन्ध मे ज्ञेय पदार्थों का वर्णन किया गया है। जबूद्वीप में ३४ दीर्घ वैताढ्य पर्वत हैं। एक भरत क्षेत्र में और एक ऐरावत क्षेत्र में तथा महाविदेह क्षेत्र के ३२ विजयों में एक-एक दीर्घ वैताढ्य पर्वत है। प्रत्येक दीर्घ वैताढ्य पर्वत पर नौ-नौ कूट हैं। दीर्घ पद ग्रहण करने से वृत्तवैताढ्य पर्वतों की व्यावृत्ति हो जाती है। निषध और नीलवत इन दो वर्षधर पर्वतों पर नौ-नौ कूट हैं। नन्दन वन में तथा माल्यवान वक्षस्कार पर्वत पर नौ-नौ कूट हैं। प्रत्येक कूट देवाधिष्ठित है। कूटों का विस्तृत वर्णन जंबूद्वीप-प्रज्ञप्ति में वर्णित है। यहां नवम स्थान के अनुरोध से केवल नौ-नौ संख्यावाले कूटों का उल्लेख किया गया है। इन कूटों की लम्बाई चौड़ाई एव ऊंचाई उनमें रहनेवाले देव और देवियों के निवास-स्थान का वर्णन जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति से जानना चाहिए। कूटों के नाम मूलार्थ में दिए जा चुके हैं। ●

श्री पार्श्वनाथ जी का देहमान

मूल—पासे णं अरहा पुरिसादाणिए वज्जरिसहणारायसंघयणे समचउरंससंठ्ठाण-संठिए नव रयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं हुत्था ।३०।

छाया—पार्श्वोऽर्हन् पुरुषादानीयो वज्रऋषभनाराचसंहननः समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितो नव रत्नय उर्ध्वमुच्चत्वेनाऽभूत्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—भगवान् पार्श्वनाथ अर्हन् जो पुरुषों में माननीय एवं आप्त पुरुष थे, उन का शरीर गठन रूप वज्र-ऋषभ-नाराचसंहनन और सुदृढ़ समचतुरस्र संस्थान था तथा ऊंचाई में उनका शरीर नौ हाथ प्रमाण था।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में पर्वत-कूटों का वर्णन किया गया है, उन समस्त कूटों का प्रत्यक्षीकरण केवलज्ञानी

अरिहन्त कर है, अतः इस सूत्र में तीर्थङ्कर भगवान पार्श्वनाथ की अवगहना का निर्देश किया गया है।

बाईसवे तीर्थङ्कर भगवान पार्श्वनाथ जी का शरीर नौ हाथ ऊचा था। उनकी हड्डिया वज्र से भी अधिक दृढ़ थी, उनका शरीर सर्वाङ्ग सुन्दर एव सभी अवयव मानोन्मान प्रमाण—युक्त होने से समचतुरस्र सस्थान वाला था। वे पुरुषो में श्रेष्ठ एव आप्त होने से अरिहन्त हुए।

सूत्रकार ने उनके शरीर की नौ हाथ की अवगाहना का निर्देश किया है वह अपने हाथ से नही, अपितु उत्सेध हाथ से ऊचाई का वर्णन किया गया है।

तीर्थंकर नाम गोत्र का उपार्जन करनेवाले जीव

मूल—**समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तित्थंसि णवहि जीवेहि तित्थगरणाम-गोत्ते कम्मे णिव्वइए—सेणिएणं, सुपासेणं, उदाइणा, पोट्टिलेणं अणगारेणं, दढाउणा, संखेणं, सयएणं, सुलसाए साविंयाए, रेवईए।३१।**

छाया—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य तीर्थे नवभिर्जीवैस्तीर्थङ्करनामगोत्र कर्म निर्वर्तितम्—श्रेणिकेन, सुपार्श्वेन, उदायिना, पोट्टिलेन अनगारेण, दृढायुऽऽषा शङ्खेन, शतकेन, सुलसया श्राविकया, रेवत्या।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—श्रमण भगवान् महावीर के तीर्थ में नौ जीवों ने तीर्थङ्कर नाम गोत्र कर्म का उपार्जन किया, यथा—राजा श्रेणिक ने, सुपार्श्व ने, उदायी ने, पोट्टिल अनगार ने, दृढ़ायु ने, खङ्ख एव शतक श्रावक ने, सुलसा और रेवती श्राविका ने।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में तेईसवें तीर्थङ्कर भगवान पार्श्वनाथ का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार उसी परम्परा मे चौबीसवे तीर्थङ्कर भगवान महावीर से सम्बद्ध विषय का वर्णन करते है।

भगवान महावीर स्वामी के शासनकाल में निम्नलिखित जीवों ने तीर्थङ्कर नाम-गोत्र-कर्म का उपार्जन किया था उन के पवित्र नाम है—महाराज श्रेणिक, सुपार्श्व, उदायी राजा, पोट्टिल अनगार, दृढायु शङ्ख श्रावक, शतक श्रावक, सुलसा श्राविका और रेवती श्राविका। सभव है किसी अन्य तीर्थङ्कर के युग में इतने जीवो ने तीर्थङ्कर नाम गोत्र का उपार्जन न किया हो, जितने कि महावीर के शासन काल में तीर्थङ्कर नाम-गोत्र का उपार्जन कर सके। इसी महत्ता को बताने के लिये इस सूत्र में नौ भव्य व्यक्तियो के नामों का उल्लेख किया गया है।

सिद्धान्त की बात यह है—जिस जीव ने जिस भव में तीर्थङ्कर नाम गोत्र का बध किया है, उससे तीसरे भव मे वह निश्चित ही तीर्थङ्कर बनता है। बध भी मनुष्य भव मे होता है और उसका उदय भी मनुष्य भव मे ही होता है, अन्य किसी भव में नही।

तीर्थङ्कर की आगति अठतीस स्थानो से होती है, जैसे कि छब्वीस देवलोक नौ लोकान्तिक तथा पहला, दूसरा, और तीसरा नरक इन ३८ स्थानो से आकर जीव तीर्थङ्कर बन सकता है, अन्य किसी स्थान से नही। तीसरे भव मे तीर्थङ्कर नाम-गोत्र का उदय हो ही जाता है। विश्व में तीर्थङ्कर से बढ़ कर और कोई पद नही है। जिस जीव ने तीर्थङ्कर नाम-गोत्र-कर्म का बध कर लिया, वह वैमानिक देव के अतिरिक्त अन्य किसी गति में जन्म नही लेता। यदि कुसंगति से, पापाचरण करते हुए पहली दूसरी या तीसरी नरक की आयु बांधने के बाद समयान्तर में तीर्थङ्कर भगवान की सुसगति होने से वह जीव सन्मार्ग में आ जाए, तो पीछे से तीर्थङ्कर नाम-गोत्र बाधा जा सकता है। तीर्थङ्कर नाम-गोत्र बांधने के ज्ञाता धर्मकथाङ्ग सूत्र के आठवे अध्ययन मे बीस कारण बताए गए है, किन्तु तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्ययन में उन्ही को संक्षिप्त कर १६ कारणो का उल्लेख किया गया है, जैसे कि—

१. **दर्शन-विशुद्धि**—वीतराग के कहे हुए तत्त्वो पर निर्मल एव दृढ़ श्रद्धा रखना।

२. **विनय-संपन्नता**—ज्ञान आदि मोक्षमार्ग और उसके साधनो के प्रति योग रीति एवं नीति से सम्मान एव श्रद्धा में तल्लीन रहना।

३. **शीलव्रतानतिचार**--अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इनको व्रत कहा जाता है तथा इनको मूलगुण भी कहते है। इनके पालन करने में उपयोगी जो अभिग्रह आदि अन्य नियम है, वे शील कहलाते है। उनका निरतिचार रूप मे पालन करना।

४. **अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग**—तत्त्वविषयक ज्ञान मे सतत जागरूक रहना, पुनः-पुनः ज्ञान में उपयोग लगाना।

५. **अभीक्ष्ण-संवेग**—वैषयिक भोग जो कि वस्तुत सुख के बदले दुःख के ही साधन बनते है, उनके जाल मे न फसना।

६. **यथाशक्ति त्याग**—थोड़ी शक्ति को भी बिना छिपाए हुए अभयदान देना, आहारदान ज्ञानदान आदि दानो को विवेकपूर्वक देना।

७. **यथाशक्ति तप**—शक्ति के अनुरूप तप करना, इच्छा का निरोध करना, विवेकपूर्वक हर प्रकार की सहनशीलता का अभ्यास करना।

८. **सघ-साधु-समाधि**—सघ और साधुओ को विशेष रूप से समाधि पहुंचाना।

९. **वैयावृत्यकरण**—नवदीक्षित, ग्लान, तपस्वी की सेवा करना।

१०. **अरिहन्त-भक्ति**—तीर्थङ्कर भगवान के प्रति अनन्य निष्ठा रखना।

११. **आचार्य-भक्ति**—आचार्य का बहुमान करना।

१२. **बहुश्रुत-भक्ति**—आगमवेत्ता का बहुसम्मान करना।

१३ **प्रवचन-भक्ति**—जिन वाणी के प्रति हार्दिक श्रद्धा रखना।

१४. **आवश्यक-अपरिहानि**—छः आवश्यकों के अनुष्ठान को न छोडना।

१५. **मार्ग-प्रभावना**—जन-जन के मानस में जिन-धर्म की प्रभावना करना।

१६. **प्रवचन-वात्सल्य**—वैसे ही निर्ग्रन्थ प्रवचन पर और समान धर्मियों पर वात्सल्य भाव रखना, जैसे गाय अपने बछड़े पर स्नेह रखती है।

इन साधनों की साधना से जब साधक को उत्कृष्ट रस या नि:सीम रसानुभूति होती है, तब तीर्थङ्कर नाम-गोत्र का बध होता है। उक्त नौ जीवो ने भी इन में से एक या दो की उत्कृष्ट साधना से तीर्थङ्कर नाम-गोत्र का उपार्जन किया था।

ऊपर जिन नौ महापुरुषो के नामोल्लेख किए गए हैं, उनमें से पोट्टिल अनगार का नाम भी है। अनुत्तरोववाई सूत्र मे जिस पोट्टिल अनगार का वृत्तान्त उपलब्ध है, उसका निर्वाण महाविदेह क्षेत्र से होगा, भरत क्षेत्र से नही। इसमे मालूम होता है कि जिसने तीर्थङ्कर नाम-गोत्र बाधा है, वह पोट्टिल अनगार अन्य है। दृढायु का वृत्तान्त भी अनुपलब्ध है। शङ्ख श्रावक का इतिहास यत्किचित् भगवती सूत्र के बारहवे शतक के पहले उद्देशक में वर्णित है।

सुलसा श्राविका का जीवन-वृत्तान्त वृत्तिकार ने यथासभव लिखा है।

रेवती सेठानी का उल्लेख भगवती सूत्र के १५वे शतक मे मिलता है। उदायी राजा कोणिक का पुत्र और श्रेणिक राजा का पौत्र, १६ राजाओं मे अग्रगण्य एव प्रमुख राजा था। यहा पर तो उनके नामो का निर्देश मात्र ही किया गया है।

चातुर्याम धर्म के प्रतिपादक

मूल—एस णं अज्जो ! कण्हे वासुदेवे, रामे बलदेवे, उदय पेढालपुत्ते, पुट्टिले, सयएगाहावई, दारुएनियंठे, सच्चई नियंठीपुत्ते, सावियबुद्धे अंबडे परिव्वायए, अज्जावि णं सुपासा पासावच्चिज्जा आगमेस्साए उस्सप्पिणीए चाउज्जामं धम्मं पन्नवइत्ता सिज्झिहिन्ति जाव अंतं काहिंति।३२।

छाया—एते खलु आर्या: ! कृष्णो-वासुदेव, रामो-बलदेव, उदकः पेढालपुत्रः, पोट्टिल, शतको गाथापतिः, दारुको निर्ग्रन्थः, सत्यकी निर्ग्रन्थीपुत्रः, श्राविकाप्रतिबुद्धोऽम्बड. परिव्राजकः, आर्याऽपि सुपार्श्वापत्यीया, आगमिष्यति उत्सर्पिण्यां चातुर्यामं धर्मं प्रज्ञाप्य सेत्स्यन्ति, यावदन्तं करिष्यन्ति।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—हे आर्य ! कृष्ण वासुदेव, राम बलदेव, उदक, पेढालपुत्र पोट्टिल, शतक

नामक गाथापति, दारुक निर्ग्रन्थ, निर्ग्रन्थी-पुत्र, सत्यकी सुलसा श्राविका प्रतिबुद्ध अम्बड परिव्राजक और पार्श्वनाथ जी की प्रशिष्या सुपार्श्वा आर्यिका, ये नौ जीव आगामी उत्सर्पिणी में चार महाव्रत रूप धर्म का निरूपण कर सिद्धगति को प्राप्त होंगे यावत् जन्म-मृत्यु का अन्त करेंगे।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में तीर्थङ्कर नाम गोत्र बांधनेवाले जीवों का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार जिन जीवों ने तीर्थङ्कर बनकर चातुर्याम धर्म का प्रतिपादन करके सिद्धत्व को प्राप्त करना है, उनका नामोल्लेख करते हैं। सूत्रकार ने जिन नामों का उल्लेख किया है, उनका परिचय इस प्रकार है—

१. **कृष्ण वासुदेव**—प्रत्येक अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणीकाल में इस भरत क्षेत्र के अन्तर्गत नौ वासुदेव होते हैं, जिन के अधीन १६००० राजा हुआ करते है। 'वासुदेव' यह किसी व्यक्ति विशेष का नाम नही है, अपितु यह एक राजनैतिक पद है। वासुदेव के अधीन ८००० देवता भी होते हैं। प्रत्येक वासुदेव तीन खण्ड का अधिपति होता है। इस पद के अधिनायक नौ वासुदेव हुए हैं। उन में नौवे वासु देव कृष्ण जी हुए हैं। वे आनेवाले उत्सर्पिणीकाल में तीर्थङ्कर पद को अलकृत कर निर्वाण प्राप्त करेगे।

२. **राम बलदेव**—बलदेव भी राजनैतिक पद है। बलदेव की प्रकृति सात्विक होती है। रोहिणी के पुत्र एव श्रीकृष्ण जी के बड़े भाई बलभद्र बलदेव हुए हैं। राम उनका अपर नाम था। श्री कृष्ण जी का शरीर का अन्त हो जाने के बाद राम बलदेव ने संयम और तप की आराधना करके ब्रह्मदेवलोक को प्राप्त किया। वे भी आनेवाले उत्सर्पिणी काल में तीर्थङ्कर बनकर निर्वाण को प्राप्त करेंगे।

३. **उदक पेढालपुत्र**—पेढाल के पुत्र उदक अनगार हुए हैं जो कि पार्श्व भगवान के प्रशिष्य हुए है। इन्होंने नालदा में रहकर गौतमस्वामी के साथ सवाद किया, उनसे अपने सदेह को दूर किया और चातुर्याम धर्म से हटकर पचयाम धर्म को धारण किया। इनका विस्तृत वर्णन सूत्र-कृताङ्ग के २३वें अध्ययन में वर्णित है।

४. **पोट्टिल**—इनका जीवन वृत्तान्त अनुपलब्ध है।

५. **शतक गाथापति**—इनका नाम तो प्रसिद्ध है, किन्तु जीवन-वृत्तान्त उपलब्ध नही।

६. **दारुक निर्ग्रन्थ**—इनका जीवन वृत्तान्त भी अनुपलब्ध है। अन्तकृत् सूत्र के तीसरे वर्ग में जिस दारुक का निर्देश किया गया है। वे अन्तकृत केवली होकर निर्वाण पद को प्राप्त हो चुके हैं, अत: ये दारुक निर्ग्रन्थ अन्य ही होने चाहिए।

७. **निर्ग्रन्थी-पुत्र सत्यकि**—सत्यकि विद्याधरों का एक चक्रवर्ती भी हुआ है। यह वही है या अन्य? इसका स्पष्टीकरण कहीं देखने में नहीं आया। वृत्तिकार ने जिस सत्यकि का उल्लेख

वृत्ति मे किया, वह भी संदेहास्पद है। एक-एक नाम के अनेक व्यक्ति होते हैं। सभव है जो माता प्रव्रज्या ग्रहण कर सर्व प्रकार के ग्रन्थो से मुक्त होकर निर्ग्रन्थी बनी, उसके पुत्र सत्यकि को लोग निर्ग्रन्थी-पुत्र विशेषण से पुकारने लगे हो, इसी कारण सत्यकि निर्ग्रन्थी पुत्र से प्रसिद्ध हुआ होगा।

८. **श्राविका-बुद्ध अवड परिव्राजक**—औपपातिक सूत्र में जिस अवड परिव्राजक का विस्तृत वर्णन है, वह इससे भिन्न है, क्योकि उसने महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य भव को पाकर निर्वाण पद को पाना है। इसी कारण यहा उस के लिए श्राविका प्रतिबुद्ध विशेषण जोडा है। वृत्तिकार इस विषय मे लिखते है, तथा—**श्राविका-श्रमणोपासिका सुलसाभिधाना बुद्ध सर्वज्ञः धर्मे भावितेयमित्य-वगतवान्—श्राविका वा बुद्धा ज्ञाता येन, स श्राविका-बुद्धः 'अबडो', अम्बडाभिधानः परिव्राजकविद्याधरः श्रमणोपासकः"**। अवडपरिव्राजक की कथा भी वृत्तिकार ने दी है।

९. **आर्या सुपार्श्वा**—भगवान पार्श्व जी की प्रशिष्या आर्या सुपार्श्वा नाम की हुई है।

ये नौ जीव आनेवाले उत्सर्पिणीकाल में इसी भरत क्षेत्र के अदर चार महाव्रतो की प्ररूपणा करके सिद्धत्व को प्राप्त करेगे। यहां 'जाव' पद से '**भोत्स्यन्ते मोक्ष्यन्ते परिनिर्वास्यन्ति सर्वदुःखानाम्**।' इन पदों का ग्रहण हुआ है। ये नौ जीव आगामी उत्सर्पिणी काल मे तीर्थङ्कर पदवी पाकर सिद्ध होगें चातुर्याम धर्म के प्रतिपादक तीर्थङ्कर ही हुआ करते है, सामान्य केवली नही।

आद्य-तीर्थंकर महापद्म चरित्त—१

मूल—एस णं अज्जो ! सेणिए राया भिंभिसारे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए सीमंतेनरए चउरासीति वाससहस्स ट्ठिईयंसि निरयंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहिति। से णं तत्थ णेरइए भविस्सइ काले, कालो-भासे जाव परमकिण्हे वन्नेणं। से णं तत्थ वेयणं वेइहिती, उज्जलं जाव दुरहियासं। से णं तओ नरयाओ उव्वट्टेत्ता आगमेसाए उस्सप्पिणीए इहेव जंबूद्दीवे भारहे वासे वेयड्ढगिरिपायमूले पुंडेसु जणवएसु सयदुवारे णगरे संमुइस्स कुलगरस्स भद्दाए भारियाए कुच्छिसि पुमत्ताए पच्चाया-हिती। तए णं सा भद्दा भारिया नवण्हं मासाणं बहुपढिपुण्णाणं अद्धट्ठ-माण य राइंदियाण वीइक्कंताणं सुकुमालपाणिपाय अहीणपडिपुण्ण-पंचिंदियसरीर लक्खण-वंजण जाव सुरूव दारगं पयाहिती।

जं रयणिं च णं से दारए पयाहिती, तं रयणिं च णं सयदुवारे णगरे सब्भंतरबाहिरए भारग्गसो य कुंभग्गसो य पउमवासे य रयणवासे य वासे

वासिहिति । तए णं तस्स दारयस्स अम्मापियरो एक्कारसमे दिवसे वइक्कंते जाव बारसाहे दिवसे अयमेयारूवं गोण्णं गुणनिप्फण्णं नामधिज्जं काहिंति —जम्हा णं अम्हमिमंसि दारगंसि जायंसि समाणंसि सयदुवारे नगरे सब्भिंतरबाहिरए भारग्गसो य कुंभग्गसो य पउमवासे य रयणवासे य वासे वुट्ठे, तं होऊ णमम्हमिमस्स दारगस्स नामधिज्जं महापउमे । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधिज्जं काहिंति—'महापउमेत्ति' । तए णं महापउमं दारगं अम्मापियरो साइरेगं अट्ठवासजायगं जाणित्ता महया रायाभिसेएण अभिसिंचिहिंति । से णं तत्थ राया भविस्सइ महया हिमवंतमहंतमलयमंदररायवन्नओ जाव रज्जं पसाहेमाणे विहरिस्सइ ।३४।

छाया—एष खलु आर्याः ! श्रेणिको राजा भिंभिसारः कालमासे कालं कृत्वा अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्याः सीमन्तके नरके चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिकेषु नैरयिकेषु नैरयिकतयोत्पत्स्यते । स तत्र नैरयिको भविष्यति, कालः कालावभासो यावत्परमकृष्णो वर्णेन । स तत्र वेदनां वेदयिष्यति—उज्ज्वलां यावद् दुरधिसहाम् । स ततो नरकादुद्वृत्य आगमिष्यन्त्या-मुत्सर्पिण्यामिहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे वैताढ्यगिरिपादमूले पुण्ड्रेषु जनपदेषु शतद्वारे नगरे संमुचे कुलकरस्य भद्राया भार्यायाः कुक्षौ पुंस्तया प्रत्याजनिष्यते । ततः सा भद्रा भार्या नवसु मासेषु वहुप्रतिपूर्णेष्वर्द्धाष्टमेषु च रात्रिन्दिवेषु व्यतिक्रान्तेषु सुकुमार-पाणिपादमहीनप्रतिपूर्णपञ्चेन्द्रियशरीरलक्षणव्यञ्जनयावत्सुरूपं दारकं प्रजनिष्यते ।

यस्यां रजन्यां च स दारकः प्रजनिष्यते, तस्यां रजन्यां शतद्वारे नगरे साभ्यन्तरबाह्यके भाराग्रशश्च कुम्भाग्रशश्च पद्मवर्षश्च रत्नवर्षश्च वर्षो वर्षिष्यति । ततस्तस्य दारकस्य अम्बापितरौ एकादशे दिवसे व्यतिक्रान्ते यावद् द्वादशे दिवसे इदमेतद्रूपं गौणं गुणनि-ष्पन्नं नामधेयं करिष्यतः—यस्मादस्माकमस्मिन् दारके जाते सति, शतद्वारे नगरे साभ्यन्तरबाह्ये, भारप्रशश्च, कुम्भाग्रशश्च, पद्मवर्षश्च, रत्नवर्षश्च, वर्षो वृष्टः, तद् भवतु अस्माकमस्य दारकस्य नामधेयं महापद्मः । ततो महापद्मं दारकमम्बापितरौ सातिरेकाष्ट-वर्षं जातकं ज्ञात्वा महता राज्याभिषेकेण अभिषेक्ष्यतः । स तत्र राजा भविष्यति, महाहिमवन्महन्मलयमन्दरराजवर्णको यावद्राज्यं प्रसाधयन् विहरिष्यति ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—हे आर्यो ! श्रेणिक राजा जिसका नाम बिम्बसार भी है यथासमय काल-धर्म को प्राप्त होकर इस रत्नप्रभा नामक पृथिवी के सीमन्त नरक में जोकि चौरासी हजार वर्ष स्थितिवाला है, नैरयिक रूप में उत्पन्न होगा ।

वह कृष्ण वर्ण, कृष्णप्रभा यावत् अत्यन्त कृष्ण वर्ण से युक्त नारक बनेगा। उस नरक में वह घोर एवं दुःस्सह वेदना अनुभव करेगा। तत्पश्चात् उस नरक से निकल कर आगामी उत्सर्पिणी काल में इस जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्र में वैताढ्यगिरि पर्वत के मूल में पुण्ड्रदेश के अन्तर्गत शतद्वार नगर में सम्मुचि कुलकर की भद्रा भार्या की कुक्षि से पुत्रत्वेन उत्पन्न होगा। तत्पश्चात् वह भद्र भार्या नव मास, साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर सुकुमार हाथ-पांव वाले अहीन एवं परिपूर्ण पञ्चेन्द्रिय शरीर तथा लक्षण और व्यञ्जनों से युक्त सुन्दर बालक को उत्पन्न करेगो। जिस रात वह सुन्दर बालक उत्पन्न होगा, उसी रात्रि को शतद्वार नगर के भीतर तथा बाहिर भार-परिमाण और कुम्भ-परिमाण पुष्प-वृष्टि होगी। तदनन्तर बालक के माता-पिता एकादश दिन व्यतीत हो जाने पर जन्म से ठीक बारहवें दिन उस बालक का इस प्रकार का गौण अर्थात् गुण निष्पन्न नाम संस्कार करेंगे- -

क्योंकि हमारे इस पुत्र के जन्म-ग्रहण करते ही शतद्वार नगर और बाहिर भार-प्रमाण तथा कुम्भ-प्रमाण पुष्प-वृष्टि और रत्न-वृष्टि हुई है, इस कारण इस बच्चे का नाम महापद्म रखा जाता है। पुनः माता-पिता यह जानकर कि हमारा यह पुत्र आठ बर्ष से कुछ अधिक आयु का हो चुका है, अतः महान उत्सवपूर्वक उस का राज्याभिषेक करेंगे। वह राजा हिमालय, मलय एवं मेरुसदृश महान् होगा तथा राज्य का शासन करेगा।

विवेचनिका—

महावीर के तीर्थ में जिन जीवों ने तीर्थङ्कर नाम-गोत्र कर्म का उपार्जन किया है उनके नामो का उल्लेख सूत्र ३१ में कर आए हैं। अब सूत्रकार उनमें से महाराजा श्रेणिक के जीव ने आने वाले उत्सर्पिणी काल के तीसरे आरे में तीर्थङ्कर के रूप मे जन्म लेना है। उसका पहले कल्याणक से लेकर निर्वाण कल्याणक पर्यन्त सारा वर्णन आगामी सूत्रों में करते हैं।

गौतम आदि साधु-जनों को संबोधित करते हुए भगवान महावीर कह रहे हैं कि—हे आर्यो! यह राजा श्रेणिक जिसका दूसरा नाम भिंभसार या बिम्बसार है। काल के अवसर पर काल करके इसी रत्नप्रभा पृथिवी के सीमंतक नरकावास में ८४००० वर्ष की स्थितिवाले नैरयिकों में नारकीय के

रूप में उत्पन्न होगा। वहां अन्य नारकियों की तरह उसका भी जीवन-काल दुखान्त एवं विषादान्त होगा।

इस भरत क्षेत्र में २१०००-२१००० वर्ष के पांचवें और छट्ठे आरे के वीतने पर उत्सर्पिणी काल का पहला आरा प्रारम्भ होगा। उस काल का स्वभाव भी छट्ठे आरे के समान होगा। वह काल भी २१००० वर्ष का होगा। उसके पूर्णतया वीत जाने पर दूसरा आरा प्रारम्भ होगा। वह भी २१००० वर्ष का होगा। उसका स्वभाव पांचवें आरे के समान होगा और साथ ही वह काल प्रत्येक दृष्टि से विकासोन्मुख होगा। धर्म-नीति के अतिरिक्त शेष सभी व्यावहारिक नीतियां उपयुक्त होंगी। दूसरे आरे के समाप्त होने पर और तीसरे आरे के तीन वर्ष ८½ महीने वीतने पर इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप में भरत क्षेत्र के अन्तर्गत वैताढ्य गिरि की तलहटी में पुण्ड्रदेश के अदर शतद्वार नामक नगर में शासन करनेवाला तथा कुल की मर्यादा बांधनेवाला समुचि नामक कुलकर होगा। उसकी भार्या भद्रा होगी। वे कुलकर सतान की तरह अपनी प्रजा की हित भावना से रक्षा करते हुए जीवन यापन करेंगे।

समयान्तर में श्रेणिक का जीव नरकायु पूर्णकर भद्रा की कुक्षि में आते ही १४ महास्वप्नों के द्वारा अपने आने की सूचना माता को देगा और पिता संमुचि को भी मालूम हो जाएगा तथा अन्य लोगों को भी। नौ महीने ८½ दिन व्यतीत होने पर भद्रा भार्या सब प्रकार के शुभ लक्षणों एव व्यंजनों से परिपूर्ण, प्रतिपूर्ण इन्द्रियों से युक्त, अनन्य सुन्दर बालक को जन्म देगी। जन्म-कल्याण का सारा वर्णन यहा समझ लेना चाहिए।

जिस रात उस बालक का जन्म होगा उसी रात उस शतद्वार नरक के भीतर और बाहर पुञ्जरूप से फूलों की, पद्मों की तथा रत्नों की वर्षा होगी। माता-पिता यह निश्चय करेंगे कि इस बालक के जन्म होते ही पद्म-पुञ्ज की वृष्टि हुई, अतः इसका नाम महापद्म रखेंगे। जब वह महापद्म कुछ अधिक आठ वर्ष का हो जाएगा, तब उस के माता-पिता बड़े समारोह से उसका राज्याभिषेक करेंगे। वह उस जन-पद का राजा होगा। जैसे महाहिमवान, मलय, मन्दर एव महेन्द्र, ये पर्वत व्यवहार पक्ष मे महान् कहे जाते हैं। वैसे ही वह महापद्म भी राज-लक्षणों से संपन्न होने से अन्य पदाधिकारियों की अपेक्षा महान माना जाएगा और न्याय नीति से राज्य का प्रशासन करेगा।

सूत्र में आए हुए आर्य शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ कुलोत्पन्न। जब भगवान महावीर जनता को सबोधित करके कहा करते थे कि 'हे आर्यो!' तब इस प्रकार संवोधित किया करते थे। यह सम्बोधन उनके भावो की महत्ता का बोधक है।

सूत्रकार ने राजा श्रेणिक के साथ जो भिंभसार विशेषण जोड़ा है, इसका कारण यह है कि एक बार राजा प्रसेनजित ने अपने १०० पुत्रों की परीक्षा लेने के लिये जलते हुए महल से प्रिय वस्तु निकालने के लिये उन्हे भेजा। श्रेणिक ने जयढक्का—(बड़ा नगारा) बाहर निकाली थी तब प्रसेनजित ने श्रेणिक का दूसरा नाम भिंभसार रखा अर्थात् उसे भिंभसार शब्द से सबोधित किया था। वृत्तिकार भी लिखते है—**भिंभीत्ति ढक्का, सा सारो यस्य स तथा, किल तेन कुमारत्वे प्रदीपनके, जयढक्का, गेहान्निष्कासिता, ततः पित्रा भिंभसार उक्त इति।**

इस सूत्र पाठ से यह भी सिद्ध होता है कि जो वर्तमान मे २५½ देश आर्य माने जाते है। उनमे पुण्ड्रदेश की गणना नही की गई, अत: यह जनपद वैताढ्य गिरि के समीप कथन किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि आर्य देश की मर्यादा वैताढ्य गिरि-पर्यन्त सिद्ध होती है। सभव है २५½ देश की मर्यादा भगवान महावीर के समय मे नियत की गई हो, क्योकि प्रज्ञापना सूत्र के पहले पद मे लिखा है—जहां तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, वासुदेव और बलदेव की उत्पत्ति हो, उस क्षेत्र को आर्य क्षेत्र कहा जाता है।

सूत्रकार ने भाराग्र और 'कुम्भाग्र' का उल्लेख किया है। यहा यह ज्ञातव्य है कि १२० पल का एक भार होता है अथवा पुरुष के उठाने योग्य भार को भी भार कहते है। ६० आढको का एक कुम्भ होता है। देवों द्वारा कुम्भ-परिमाण कमलो की वर्षा होने का सकेत किया गया है। ११ दिन बीतने के बाद १२वे दिन माता-पिता उसका गुण-निष्पन्न नाम महापद्म रखेंगे। इससे सिद्ध होता है कि नाम-सस्कार १२वे दिन होने की रीति है।

आद्य तीर्थकर महापद्म-चरित्र-२

मूल—तए णं तस्स महापउमस्स रन्नो अन्नया कयाइ दो देवा महिड्ढिया जाव महेसक्खा सेणाकम्मं काहिंति, तं जहा—पुन्नभद्दे य माणिभद्दे य। तए णं सयदुवारे नगरे बहवे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाहप्पभियओ अन्नमन्नं सद्दावेहिंति, एवं वइस्संति—जम्हा णं देवाणुप्पिया! अम्हं महापउमस्स रन्नो दो देवा महिड्ढिया जाव महेसक्खा सेणाकम्मं करेंति, तं जहा—पुन्नभद्दे य, माणिभद्दे य तं होऊ णमम्हं देवाणुप्पिया! महापउमस्स रन्नो दोच्चेपि नामधेज्जे देवसेणे। तए णं तस्स महापउमस्स दोच्चेवि नामधेज्जे भविस्सइ-देवसेणेति।

तए णं तस्स देवसेणस्स रन्नो अन्नया कयाई सेयसंखतलविमलसन्निकासे चउद्दंते हत्थिरयणे समुप्पज्जिहिति। तए णं से देवसेणे राया तं सेयं संखतउलविमलसन्निकासं चउद्दंतं हत्थिरयणं, दुरूढे समाणे सयदुवारं नयरं मज्झं मज्झेणं अभिक्खणं-अभिक्खणं अइज्जाहि य णिज्जाहि य। तए णं सयदुवारे णयरे बहवे राईसर-तलवर जाव अन्नमन्नं सद्दाविहिंति एवं वइस्संति—जम्हा णं देवाणुप्पिया! अम्हं देवसेणस्स रन्नो सेय संखतलविमलसन्निकासे चउद्दंते हत्थिरयणे समुप्पन्ने, तं होऊ णमम्हं देवाणु-

प्पिया ! देवसेणस्स रन्नो तच्चेवि नामधेज्जे विमलवाहणे । तए णं तस्स देवसेणस्स रन्नो तच्चेवि णामवेज्जे भविस्सइ–विमलवाहणे ।३५।

छाया—ततस्तस्य महापद्मस्य राज्ञोऽन्यदा कदाचिद् द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावन्महेशाख्यौ सेनाकर्म करिष्यतः, तद्यथा—पूर्णभद्रो मणिभद्रश्च । ततः शतद्वारे नगरे बहवो राजेश्वर-तलवर-माडम्बिक-कौटुम्बिकेभ्य-श्रेष्ठि-सेनापति-सार्थवाहप्रभृतयोऽन्योऽन्यं शब्दापयिष्यन्ति, एवं वदिष्यन्ति— यस्माद् देवानुप्रियाः ! अस्माकं महापद्मस्य राज्ञो द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावद् महासौख्यौ सेनाकर्म कुर्वतस्तद्यथा—पूर्णभद्रश्च मणिभद्रश्च, तस्माद् भवतु अस्माक देवानुप्रियाः ! महापद्मस्य राज्ञो द्वितीयमपि नामधेय देवसेनः इति । ततस्तस्य महापद्मस्य द्वितीयमपि नामधेयं भविष्यति—देवसेन इति ।

ततस्तस्य देवसेनस्य राज्ञोऽन्यदा कदाचिच्छ्‌वेतशङ्खतलविमलसन्निकाशं चतुर्दन्तं हस्तिरत्नं दुरूढः सन् शतद्वारं नगरं मध्यमध्येन अभीक्ष्णमभीक्ष्णमतियास्यति च निर्यास्यति च । ततः शतद्वारे नगरे वहवो राजेश्वरतलवरा यावदन्योऽन्यं शब्दापयिष्यन्ति, एवं वदिष्यन्ति च— यस्माद् देवानुप्रियाः! अस्माकं देवसेनस्य राज्ञः श्वेत-शङ्ख-तलविमलसन्निकाश चतुर्दन्तं हस्तिरत्नं समुत्पन्नं, तद् भवतु अस्माक देवानुप्रियाः ! देवसेनस्य राज्ञस्तृतीयमपि नामधेयं विमलवाहनः । ततस्तस्य देवसेनस्य राज्ञस्तृतीयमपि नामधेयं भविष्यति—विमलवाहनः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—तब उस महापद्म राजा का सेनाकर्म किसी समय महान् ऋद्धि तथा महान् ऐश्वर्यशाली दो देव करेंगे । उनके नाम पूर्णभद्र और मणिभद्र होंगे । तत्पश्चात् शतद्वार नगर मे राजा, युवराज, कोतवाल माण्डबिक, कौटुम्बिक, धनाढ्य, नगरसेठ, सेनापति, सार्थवाह आदि बहुत से लोग, परस्पर एक दूसरे को बुलायेगे और इस प्रकार कहेंगे–हे देवानुप्रिय ! क्योकि हमारे राजा का सैन्य-कार्य महर्द्धिक यावत् महान् ऐश्वर्यशालो दो देव करते है, इसलिये हमारे महापद्म नामक राजा का दूसरा नाम "देव सेन" होना चाहिये । तब उस महापद्मराजा का दूसरा नाम देवसेन रखा जायेगा ।

तत्पश्चात् देवसेन राजा को किसी समय श्वेत शंख-तल के समान निर्मल चार दान्तोवाला हस्ति-रत्न उत्पन्न होगा तथा देवसेन राजा उस

चतुर्दन्त हस्तिरत्न पर चढ़कर शतद्वार नगर के मध्य में से बारम्बार गमनागमन करेगा। तत्पश्चात् शतद्वार नगर में राजा, युवराज कोतवाल आदि बहुत से लोग परस्पर एक दूसरे को बुलायेंगे और इस प्रकार कहेंगे कि हे देवानुप्रिय! हमारे देवसेन राजा को शंखतल के समान अतिनिर्मल चतुर्दन्त हस्तिरत्न उत्पन्न हुआ है। इसलिये हमारे देवसेन राजा का तृतीय नाम विमलवाहन होना चाहिये। तत्पश्चात् उस देवसेन राजा का तीसरा नाम विमलवाहन रखा जायेगा।

विवेचनिका—

प्रस्तुत सूत्र में महापद्म के देवसेन और विमलवाहन इन दो नामों की सार्थकता बताई गई है। अन्य किसी समय दो महर्द्धिक, महाद्युतिक, महाबली, महायशस्वी, महासुखी देव उस महापद्म राजा के सेना-कार्य के वाहक होंगे। उनके नाम हैं—पूर्णभद्र और मणिभद्र। दक्षिण दिशा की ओर यक्ष-निकाय देवों का इंद्र पूर्णभद्र और उत्तर की ओर यक्ष-निकाय देवों का इन्द्र माणिभद्र है। दोनों इन्द्रों ने सेनाविभाग का कार्य संभालना है, इस कारण महापद्म का दूसरा नाम देवसेन रखा जाएगा। इससे सिद्ध होता है—सेनापति विद्वान् और युद्ध-विद्या में कुशल होना चाहिए।

कुछ समय के बाद देवसेन राजा को एक हस्तीरत्न प्राप्त होगा जो कि सफेद रंगवाला तथा चार दांतोंवाला होगा। उस पर सवार होकर वह देवसेन राजा शतद्वार नगर के बीचों-बीच अनेक बार गमनागमन करेगा, अतः जनता उस देवसेन का नाम विमलवाहन रखेगी। देवसेन और विमलवाहन ये दो नाम राज्याधिकारी तथा प्रजाधिकारियों के द्वारा रखे जाएंगे।

'तए णं सतदुवारे नगरे बहवे राईसर - तलवर - माडंबिय - कोडुंबिया - इब्भ-सेट्ठि - सेणावइ-सत्थवाह-प्पभितयो''—इन पदों का अर्थ है—जिसका अभिषेक किया गया हो, उसे राजा कहते हैं। मंडलाधीश को भी राजा कहा जाता है। युवराज को ईश्वर अथवा अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यक्ति को भी ईश्वर कहते हैं। जिस पर प्रसन्न होकर नरपति उसे पट्टबंध से विभूषित करे, वह तलवर कहलाता है। सीमा-प्रान्त का अध्यक्ष या चित्र-मंडप के अध्यक्ष को माडम्बिक कहा जाता है। बहुत बड़े परिवार के प्रमुख को कौटुम्बिक कहते हैं। जिसके पास इतनी धनराशि हो कि जिसके पीछे हाथी भी छिप जाए उसे इभ्य कहते हैं, अथवा जिनके पास सवारी आदि के लिये हाथी हो उन्हें भी इभ्य कहा जाता है। जो नगर में सबसे बढ़कर धनाढ्य हो, वह श्रेष्ठी कहलाता है। जो चतुरंगिणी सेना का नायक हो, उसे सेनापति कहते हैं। जो सार्थ का नायक हो, उसे सार्थवाह कहते हैं। इनके होने पर ही राजा की शोभा एवं सौंदर्य की वृद्धि होती है।

तीर्थंकर महापद्म-चरित-३

मूल—तए णं से विमलवाहणे राया तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता अम्मापिईहिं देवत्तगएहिं गुरुमहत्तरएहिं अब्भणुन्नाए समाणे, उउम्मि सरए संबुद्धे, अणुत्तरे मोक्खमग्गे, पुणरवि लोगंतिएहिं जीयकप्पिएहिं देवेहिं, ताहिं, इट्ठाहिं, कंताहिं, पियाहिं, मणुन्नाहिं, मणामाहिं, उरालाहिं, कल्लाणाहिं, धन्नाहिं, सिवाहिं मंगलाहिं, सस्सिरीआहिं वग्गूहिं, अभिणंदिज्जमाणे अभित्थुवमाणे य बहिया सुभूमिभागे उज्जाणे एगं देवदूसमादाय मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वयाहिति ।

तस्स णं भगवंतस्स साइरेगाइं दुवालस वासाइं निच्चं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केई उवसग्गा उप्पज्जंति, तं जहा—दिव्वा वा, मणुसा वा, तिरिक्खजोणिया वा ते उप्पन्ने सम्मं सहिस्सइ, खमिस्सइ, तितिक्खिस्सइ, अहियासिस्सइ । तए णं से भगवं ईरियासमिए जाव गुत्तबंभयारि अममे, अकिंचणे, छिन्नगंथे, निरुवलेवे कंसपाईव मुक्कतोए, जहा भावणाए जाव सुहुयहुयासणेइव तेयसा जलंते—

कंसे संखे जीवे गगणे, वाये य सारए सलिले ।
पुक्खरपत्ते कुम्मे, विहगे खग्गे य भारंडे ॥१॥
कुंजर वसहे सीहे, नागराया चेव सागरमखोभे ।
चंदे सूरे कणगे, वसुंधरा चेव सुहुयहुए ॥२॥

नत्थि णं तस्स भगवंतस्स कत्थइ पडिबंधे भवइ । से य पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—अंडए वा, पोयएइ वा, उग्गहेइ वा, पग्गहिएइ वा । ज णं जं णं दिसं इच्छइ, तं णं तं णं दिसं अपडिबद्धे, सुइभूए, लहुभूए, अणप्पगंथे संजमेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरिस्सइ ।३६।

छाया—ततः स विमलवाहनो राजा त्रिंशत वर्षाणि अगारवासमध्ये उषित्वाऽम्बापित्रोर्देवत्वगतयोर्गुरुमहत्तरैरभ्यनुज्ञातः सन् ऋतौ शरदि सम्बुद्धोऽनुत्तरे मोक्षमार्गे पुनरपि लोकान्तिकैर्जीतकल्पकैर्देवैस्ताभिरिष्टाभिः, कान्ताभिः, प्रियाभिर्मनोज्ञाभिर्मनोऽमाभिरुदाराभिः, कल्याणाभिर्धन्याभिः, शिवाभिर्मङ्गलाभिः, सश्रीकाभिर्वाग्भिरभिनन्द्यमानोऽभि-

स्तूयमानश्च बहिः सुभूमिभागे उद्याने, एकं देवदूष्यमादाय मुण्डो भूत्वा अगाराद् अनगारितां प्रव्रजिष्यति।

तस्य भगवतः सातिरेकाणि द्वादशवर्षाणि नित्यं व्युत्सृष्टकायस्य त्यक्तदेहस्य ये केऽपि उपसर्गा उत्पत्स्यन्ते, तद्यथा—दिव्या वा, मानुषा वा, तिर्यग्योनिका वा तानुत्पन्नान् सम्यक् सहिष्यते, क्षमिष्यते, अध्यासिष्यते। ततः स भगवान् ईर्यासमितो भाषासमितो यावद् गुप्तब्रह्मचारी, अममः, अकिञ्चनः, छिन्नग्रन्थः, निरुपलेपः कांस्यपात्रमिव-मुक्ततोयो यथा भावनायां यावत् सुहुतहुताशन इव तेजसा ज्वलन्—

कांस्यं शङ्खो जीवो गगनं, वातश्च शारदं सलिलम्।
पुष्करपत्रं कूर्मः, विहगः खड्गी च भारण्डः॥

कुञ्जरो वृषभः सिंहः, नागराजश्चैव सागरोऽक्षोभ्यः।
चन्द्रः सूरः कनकं, वसुन्धरा चैव सुहुतहुतः॥

नास्ति तस्य भगवतः कुत्रापि प्रतिबन्धो भवति। स च प्रतिबन्धश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अण्डजो वा, पोतजो वा, अवग्रहिको वा, प्रग्रहिको वा। यां यां दिशमिच्छति, तां तां दिशमप्रतिबद्धः शुचिभूतः, लघुभूतः, अनल्पग्रन्थः संयमेन आत्मानं भावयन् विहरिष्यति।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—तत्पश्चात् वह विमलवाहन राजा तीस वर्ष पर्यंत गृहस्थवास में रहकर माता-पिता के स्वर्गस्थ हो जाने पर अपने बड़ों की आज्ञा प्राप्त कर शरद् ऋतु में सम्यक् बोध प्राप्त कर और प्रधान मोक्षमार्ग में परम्परा का अनुसरण करनेवाले लोकान्तिक देवों द्वारा तत् तत्, इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ और मन अर्थात् आम-मन से चाहे जाने योग्य, उदार, कल्याणरूप, धन्य रूप, शिव रूप, मंगलरूप, श्रीयुक्त वचनों द्वारा जिनकी स्तुति एव प्रशंसा और अभिनन्दन किया जायेगा, वह विमलवाहन राजा नगर से बाहिर सुभूमि-भाग उद्यान में एक देवदूष्य वस्त्र को धारण कर मुण्डित हो घरबार को छोड़कर अनगारवृत्ति को धारण करेगा। उस भगवान् को जिसने अपने शरीर से ममत्व छोड़ दिया है, बारह वर्ष से कुछ अधिक समय तक जो भी कोई उपसर्ग जैसे—देवकृत, मनुष्यकृत तथा तिर्यग्योनिकृत उत्पन्न होगा, उसे वह सम्यक्तया क्षमा, तितिक्षा और दृढतापूर्वक सहन करेगा।

तदनन्तर वह भगवान् ईर्यासमिति, भाषा-समिति से समित यावत् मन, वचन और काया की गुप्ति धारण करनेवाले, ब्रह्मचारी, ममत्व-रहित, सब प्रकार के द्रव्यों से रहित एवं धन-धान्य-रहित, द्रव्य-भाव एवं मल-रहित, कांस्य के उस पात्र समान जिसमें जलस्नेह नहीं रहता, उसी प्रकार जीव की अन्तरात्मा मे किसी प्रकार सांसारिक स्नेह नही है, यावत् भावना नामक आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १५वे अध्ययन में जिस प्रकार वर्णन है, उसी तरह यहां भी जानना चाहिये। तपस्तेज से हुताग्नि के समान देदीप्यमान, कांस्यपात्र समान निस्स्नेह, शङ्ख समान राग-द्वेष रहित होने से विशुद्धतम, गगन समान आलम्बन न चाहनेवाले, वायु समान अप्रतिबद्ध-विहारी, शारदीय जल समान निर्मल मनवाले, कमल समान अलिप्त, कच्छप सदृश मन एवं गुप्तेन्द्रिय, पक्षी समान स्वतन्त्र, खड्गी–गेंडे के सींग की तरह रागादि से मुक्त होने से एकाकी, भारण्ड समान अप्रमत्त, कषाय आदि शत्रुओं को जीतने से हाथी के समान, कृत प्रतिज्ञा को पालन करने मे वृषभ तुल्य, परीषहों को जीतने से सिंह के समान, मेरु-समान अविचलित, समुद्र की भांति अक्षोभ्य, चन्द्र-तुल्य सौम्य-लेश्या सम्पन्न, सूर्य समान तेजस्वी, शुद्धसुवर्ण की भाति दैदीप्यमान कांतिवाले, पृथिवी समान सभी प्रकार के शीतोष्ण स्पर्शो को सहन करनेवाले, हवन की अग्नि समान तेज वाले। उस भगवान् को किसी प्रकार प्रतिबन्ध नही होगा। वह प्रतिबन्ध चार प्रकार का है, जैसे–अण्डज, पोतज, वसति आदि का तथा समुदाय रूप से वस्त्र पात्रादि का।

उनकी जिस-जिस दिशा में विहार करने की इच्छा होगी, उसी दिशा में प्रतिबन्ध रहित शुचिभूत–पवित्र, लघुभूत–द्रव्य-भाव से हलके, माया-कपट आदि की ग्रन्थियों से रहित, सयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुये विचरण करेंगे।

विवेचनिका—

प्रस्तुत सूत्र के इस अनुच्छेद सूत्र में महापद्म के जीवन-काल में त्याग की प्रारम्भिक-दशा से लेकर चारित्र की उत्कृष्टता तक का दिग्दर्शन कराया गया है। प्रव्रज्या ग्रहण करने से पूर्व सभी

तीर्थङ्कर एक वर्ष पर्यन्त प्रतिदिन एक करोड, आठ लाख स्वर्ण-मुद्राएं दान करते हुए जनपद को समृद्ध बनाकर फिर दीक्षित होते है। इस अनादि नियम के अनुसार महापद्म भी एक वर्ष पर्यन्त उपर्युक्त सख्या के अनुरूप अतुल धन-राशि दान मे देकर सर्व प्रथम दान-धर्म की प्रणाली जनता को सिखलाएगे।

माता-पिता का देवलोक-वास होने के अनन्तर लोकान्तिक देवो के द्वारा प्रार्थना करने पर महापद्म आदरणीय ज्येष्ठ-जनों से आज्ञा प्राप्त कर तीस वर्ष का गृहवास पूर्ण होते ही शत-द्वार नगर के बाहर सुभूमिभाग नामक उद्यान मे समस्त वस्त्र-आभूषणों को उतार कर, इन्द्र के द्वारा दिए हुए देवदूष्य वस्त्र से ग्रहण करेंगे और सामायिक चारित्र ग्रहण कर स्वय प्रव्रजित होगे। उन्हे उसी समय मन पर्यवज्ञान उत्पन्न होगा। सभी तीर्थङ्करो को मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान तो जन्म-सिद्ध ही होते है और चौथा ज्ञान चारित्र ग्रहण करते समय हुआ करता है।

महापद्म जब अनगार अवस्था मे प्रव्रजित होगे तथा वे कुछ अधिक १२ वर्ष पर्यन्त बाह्य और आभ्यन्तर तप मे संलग्न रहेगे, तब अपनी देह से ममत्व भाव का त्याग करके केवल चारित्र मे प्रवृत्ति करेंगे। लक्ष्य से विचलित करने के लिये यदि कोई देवता-सबधी, मनुष्य-सबधी और तिर्यञ्च-सबधी उपसर्ग आएगे, तो उन्हे कर्मक्षय के हेतु समता से सहन करेगे। वे कभी भी उपसर्गों के सामने झुकेंगे नही, अपने लक्ष्यबिंदु से कभी विचलित नही होगे।

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-निक्षेपसमिति और उच्चारादि परिष्ठापनीय समिति, मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, इन में से चारित्र के सभी अगों मे प्रवृत्ति करना समिति है और पतन के सभी प्रकारो से निवृत्ति पाना गुप्ति है। भगवान महापद्म समिति-गुप्ति की आराधना मे नित्य दत्तचित्त रहेगे। वे गुप्त ब्रह्मचारी, ममत्वरहित, अनासक्त-कर्मग्रथिरहित विषयो से निर्लिप्त होकर विचरेगे।

आगे चलकर सूत्रकार ने उनके उच्चतम जीवन को २१ उपमाओ से उपमित करते हुए लिखा है—

१. **कंस पाई व मुक्कतोए**—जैसे कासे के पात्र मे जल का लेप नही लगता, पानी के उडेलते ही वह जल के लेप से सर्वथा निर्लिप्त हो जाता है, वैसे ही भगवान महापद्म भी कर्म रूपी जल के लेप से सर्वथा मुक्त रहेगे।

२. **संखे इव निरंजणे**—जैसे शख कालिमा से रहित होता है, वैसे ही भगवान महापद्म भी राग आदि दोषो की कालिमा से रहित होकर विचरेंगे।

३. **जीवे इव अप्पडिहयगई**—जैसे जीव की गति कही पर भी नही रुकती, वैसे ही उनकी गति भी किसी स्थान पर नही रुकेगी। कोई भी बाह्य कारण उन की प्रगति में बाधक नही होगा।

४. **गगणमिव निरालंबणे**—जैसे आकाश सभी प्रकार के आश्रयो के बिना ही रहता है, वैसे ही वे अन्य किसी व्यापार-धधे तथा किसी व्यक्ति का आलबन लिए बिना ही जीवन-यापन करेंगे।

५. **वाउरिव अपडिबद्धे**—जैसे वायु का ऐसा कोई घर नही जहा वह बधी रहे, वैसे ही वे भी घर आदि के बधन से रहित होकर विचरेंगे।

६. सारयसलिलं व सुद्धहियए—शरदऋतु के निर्मल जल की तरह वे निर्मल हृदयवाले होंगे।

७. पुक्खरपत्त व निरुवलेवे—जैसे कमल की पांखुडी जल के लेप से रहित होती है, वैसे ही वे भी मोह-लेप मे रहित होकर विचरेंगे।

८. कुम्मोइव गुत्तिदिए—वे कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को गुप्त रखेंगे।

९. विहगे इव सव्वओ विप्पमुक्के—वे पक्षी की तरह परिवार एव नियत-वास से सर्वथा रहित होकर विचरण करेंगे।

१०. खग्गिविसाणं व एगजाए—जैसे गेंडे का एक सीग होता है, वैसे ही वे भी मोह के सभी परिवारों मे रहित हो एकाकी विचरेंगे।

११. भारण्डपक्खीव अप्पमत्ते—वे भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त रहेंगे। भारण्ड पक्षी के एक शरीर पर दो ग्रीवाए और तीन पैर होते है।[1] ऐसी शारीरिक अवस्था में वह सर्वदा सावधान रहकर जीवन निर्वाह करता है, उसकी सामान्य असावधानी उसके जीवन के लिये विनाशकारी बन सकती है। उसी पक्षी के समान महापद्म भी सतत सावधान रहेंगे।

१२ कुञ्जरो इव सोंडीरे—जैसे हाथी वृक्षों को उन्मूल करने में दक्ष होता है, वैसे ही वे भी कषाय आदि के उन्मूलन करने में दक्ष होंगे।

१३. वसभे इव जायथामे—वृषभ की तरह सयमभार को वहन करने में समर्थ होंगे।

१४. सीहे इव दुद्धरिसे—जैसे सिंह को कोई भी पराजित नही कर सकता, वैसे ही उन्हे भी कोई परीषह एव उपसर्ग पराजित नही कर सकेगा। वे उदित हुए परीषहो को समता से निरतर जीतते ही रहेंगे।

१५. मंदरे इव अप्पकंपे—जैसे प्रलयकाल का पवन भी मेरु को कपा नही सकता, वैसे ही मोह के तूफान उन्हें लक्ष्यविन्दु से विचलित नही कर सकेंगे।

१६. सागरो इव अक्खोभे—सागर के समान गभीर एव हर्ष-शोक आदि-जन्य विक्षोभों से रहित होंगे।

१७. चंदो इव सोमलेसे—चन्द्रमा के समान शान्त प्रकृति के स्वामी होंगे।

१८. सूरे इव दित्ततेए—शरीर और ज्ञान से वे सूर्य के समान देदीप्यमान होंगे।

१९. जच्चकंचणग व जायरूवे—विशुद्ध सुवर्ण के समान कर्म-मल से वे सर्वथा रहित होंगे।

२०. वसुंधरा इव सव्वफासविसहे—पृथिवी के समान वे अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को सहन करने वाले होंगे।

२१. सुहुयहुयासणे इव तेयसा जलंते—वे अच्छी तरह होम की हुई अग्नि के समान तप-तेज से जाज्वल्यमान होंगे।

---

१ भारण्डपक्षिणः किलैकं शरीरं पृथग्ग्रीवं, त्रिपादञ्च भवति। तौ चात्यन्तमप्रमत्ततयैव निर्वाहं लभेते, इतितेनोपमेति। —इति वृत्तिकारः

भगवान महापद्म के साधनामय जीवन में किसी भी प्रकार की सयम और तप सम्बन्धी वाधा नहीं होगी, क्योकि प्रगति मे वाधक चार प्रकार के कारण होते है—अडज, पोतज, अवगृहीत और प्रगृहीत। **अंडज**—हस-मयूर आदि पक्षियो पर ममत्व का होना, अथवा **अंडज**—पट्टसूत्र से बना हुआ वस्त्र तथा **अडक**—मयूरी आदि के अण्डों पर ममत्व भाव का होना, 'ये मेरे है', ऐसी ममता उनके मन में नही होगी। **पोतज**—हस्ती आदि पर ममत्व का होना भी साधुवृत्ति मे प्रतिवधक है अथवा **पोतक**—वालक पर अथवा पोतक एक प्रकार का विशिष्ट वस्त्र भी होता है जिस पर रेशम की कढाई की हुई होती है, ऐसे वहुमूल्यवान् वस्त्रो का मोह भी उनके सयमी जीवन मे प्रतिबन्धक न होगा। वस्तुतः देखा जाए तो ममत्व ही आत्म-साधना मे सबसे बड़ा वाधक होता है।

वापिस करने योग्य ग्रहण किए हुए सभी पदार्थ अवग्रहिक कहे जाते हैं, जैसे कि मकान चौंकी पट्टा आदि। धारण किए हुए सभी पदार्थ प्रग्रहिक माने जाते हैं जैसे कि वस्त्र-पात्रादि। इन सब वस्तुओ पर उन्हे कोई ममत्व नही होगा। अभिप्राय यह है कि बाहर के किसी भी छोटे-बडे पदार्थ पर उन्हे किंचिन्मात्र भी ममत्व नही होगा और न अपने शरीर पर ही ममता होगी, अतः वे जिस दिशा की ओर विचरना चाहेगे, उस ओर बिना किसी प्रतिबन्ध के विचरेंगे।

वाणी के ११ गुण—

इस सूत्र में महत्त्वपूर्ण बात यह भी बतलाई गई है कि ११ गुणो से सपन्न वाणी का प्रयोग करना चाहिए, क्योकि सम्यग्-वाणी सब तरह के विकारों को शान्त करती है। वाणी से ही इन्सान सुशिक्षित वनता है, वाणी से ही उत्तम पुरुषो की तथा अधम पुरुषों की पहचान होती है। वाणी से ही सुख-समृद्धि प्राप्त होती है। धर्म की ओर भावना का वेग भी वाणी से ही होता है, अतः शुभ वाणी ११ विशेषणो से युक्त होती है। वे ११ विशेषण इस प्रकार है—

१. **इष्टा**—जो वाणी अमृत के समान मधुर हो उसे इष्ट कहते हैं।
२. **कान्ता**—जो वाणी मन को अधिक रुचिकर हो वह कान्ता है।
३. **प्रिया**—जो वाणी हृदय मे प्रेम अकुरित करती है वह प्रिया कहलाती है।
४. **मनोज्ञा**—जो मन को भी आकर्षित कर ले वह मनोज्ञावाणी होती है।
५. **मणामा**—हृदय स्पर्शीवाणी को मणामा कहते है।
६. **उदारा**—जो वाणी अर्थ की दृष्टि से महान हो, उसे उदारा कहते हैं।
७. **कल्याणा**—कल्याणकारिणी वाणी को कल्याणा कहते हैं।
८. **धन्या**—प्रशसनीय वाणी को धन्या कहते है।
९. **शिवा**—दोषवर्जित वाणी को शिवा कहते हैं।
१०. **मांगल्या**—मगलकारी वाणी मागल्या कहलाती है।
११. **सश्रीका**—शब्दालङ्कार एवं अर्थालकारो से युक्त वाणी सश्रीका कहलाती हैं।

इस सूत्र से यह ध्वनित होता है कि इन विशेषणों से युक्त वाणी ही वोलनी चाहिए।

तीर्थंकर महापद्म चरित–४

मूल——तस्स णं भगवंतस्स अणुत्तरेण नाणेणं अणुत्तरेण दंसणेणं अणुवचरिएण। एवं आलएण विहारेणं अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, खता, मुत्ती, गुत्ती, सच्च, संजम, तवगुण-सुचरिय-सोवचिय-फलपरिनिव्वाणमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणस्स झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अणंते, अणुत्तरे, निव्वाघाए जाव केवलवरनाण-दंसणे समुप्पज्जिहिंति। तए णं से भगवं अरहा जिणे, केवली भविस्सइ सव्वन्नू, सव्वदरिसी सदेवमणुआसुरस्स लोगस्स परियागं जाणइ, पासइ। सव्वलोए सव्वजीवाणं आगइं, गइं, ठियं, चयणं, उववायं तक्क, मणोमाणसियं, भुत्तं, कडं, पडिसेवियं, आवीकम्मं, रहोकम्मं, अरहा अरहस्स भागी, तं तं कालं मणसवयसकाइए जोगे वट्टमाणाण सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावे जाणमाणे, पासमाणे विहरइ।

तए णं से भगवं तेणं अणुत्तरेणं केवलवरनाणदंसणेणं सदेवमणुआसुरलोग अभिसमिच्चा समणाणं निग्गथाणं [जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति, तं जहा— दिव्वा वा, माणुसा वा, तिरिक्खजोणिया वा, ते उप्पन्ने सम्मं सहिस्सइ, खमिस्सइ, तितिक्खिस्सइ। तए णं से भगव अणगारे भविस्सइ—ईरियासमिए, भासा, एवं जहा वद्धमाणसामी त चेव निरवसेस जाव अव्वावारविउसग्गजोगजुत्ते। तस्स णं भगवंतस्स एएणं विहारेण विहरमाणस्स दुवालसहिं संवच्छरेहिं वोइक्कंतेहिं तेरसहिं य पक्खेहिं, तेरसमस्स णं संवच्छरस्स अंतरावट्टमाणस्स अणुत्तरेणं णाणेणं जहा भावणाए केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जिहिंति, जिणे भविस्सइ, केवली, सव्वन्नू, सव्वदरिसी, सणेरइए जाव] पंच महव्वयाइं सभावणाइं छच्च जीव निकाय-धम्मं देसेमाणे विहरिस्सइ।३७।

छाया—तस्य भगवतोऽनुत्तरेण ज्ञानेन, अनुत्तरेण दर्शनेन, अनुचरितेन (अनुत्तरेण चारित्रेण) एवमालयेन विहारेण, आर्जव-मार्दव-लाघव-क्षान्ति-मुक्ति-गुप्ति-सत्य-संयम-तपोगुण-सुचरित-शौच-फलपरिनिर्वाणमार्गेणाऽऽत्मानं भावयतो ध्यानान्तरिकायां वर्तमानस्य अनन्तमनुत्तरं, निर्व्याघातं, यावत् केवलवरज्ञानदर्शन समुत्पत्स्यते। तत स भगवान् अर्हन् जिनः केवली, भविष्यति, सर्वज्ञः सवदर्शी सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य पर्यायं

ज्ञास्यति, द्रक्ष्यति। सर्वलोके सर्वजीवानामागति, गति, स्थिति, च्यवनमुपपातं-तर्क, मनोमानसिकं भुक्तं, कृतं, प्रतिसेवितमाविष्कर्म, रहःकर्म, अरहा अरहस्य भागी, तं तं कालं मनोवाक्कायिके योगे वर्तमानानां सर्वलोके सर्वजीवानां सवभावान् पश्यन् विहरिष्यति।

ततः स भगवान् तेनानुत्तरेण केवलवरज्ञान-दर्शनेन सदेवमनुजासुरलोकमभिसमेत्य श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यः [ये केचिदुपसर्गा उत्पत्स्यन्ते तद्यथा— दिव्या वा, मानुषा वा, तिर्यग्योनिका वा तान् उत्पन्नान् सम्यक सहिष्यते, क्षमयिष्यते, तितिक्षिष्यते, अध्यासिष्यते। ततः स भगवान अनगारो भविष्यति, ईर्यासमितः भाषा एवं यथा वर्द्धमानस्वामी, तच्चैव निरवशेष यावद् अव्यापारव्युत्सर्गयोगयुक्तः। तस्य भगवत एतेन विहारेण द्वादशसु सम्वत्सरेषु व्यतिक्रान्तेषु त्रयोदशसु पक्षेसु, त्रयोदशस्य सम्वत्सरस्य अन्तरावर्तमानस्य अनुत्तरेण ज्ञानेन यथा भावनायां केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पत्स्यते, जिनो भविष्यति, केवली सर्वज्ञः, सर्वदर्शी, सनैरयिक० यावत्] पञ्च महाव्रतानि सभावनानि षड् जीवनिकायधर्मं दिशन् विहरिष्यति।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—महापद्म भगवान् को सर्वोत्तम ज्ञान-दर्शन और चारित्र द्वारा तथा वसति–स्थिति, विहार-विचरण, आदि से ऋजुता, मृदुता, लघुता क्षान्ति, निर्ममता, गुप्ति, सत्य, संयम और तपरूप उत्तमगुणो एवं उत्तम आचरण के फलस्वरूप मुक्तिमार्ग और शान्तिमार्ग द्वारा आत्मा को भावित करते हुए तथा ध्यान मे अवस्थित होकर अनन्त, सर्वोत्तम, विघ्न-बाधाओ से रहित केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न होगा।

तत्पश्चात् वे जिन होगे और उन से कोई पदार्थ भी छिपा नही रहेगा। उस सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, केवलज्ञानी को देव, मनुष्य, असुर आदि लोक स्वरूप की पर्यायों का ज्ञान एवं दर्शन होगा और समस्त लोक के सम्पूर्ण जीवो की आगति, गति, स्थिति, च्यवन—वैमानिक और ज्योतिष्क देवों का च्यवन, उपपात देव-नारकों का जन्म, तर्क—विचार, मन, मनोगतभाव, भुक्त—खाये हुए पदार्थ, कृत—किये गये घटादि पदार्थ, परिषेवित—प्राणिवध आदि, आविष्करण—प्रकट रूप कार्य, रहःकर्म—गुप्त कर्मो के ज्ञाता, उस-उस काल की अपेक्षा सम्पूर्णलोक मे सव जीवो की मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं एवं सव पदर्थो का ज्ञान तथा दर्शन को धारण

करते हुए विहार करेंगे ।

उस सर्वोत्तम केवलज्ञान, केवलदर्शन द्वारा सम्पूर्ण लोक को सम्यक् प्रकार से जानकर श्रमणनिर्ग्रन्थों को पच्चीस भावनाओं सहित पांच महाव्रतो और षड् जीवनिकायों को रक्षण रूप धर्म का उपदेश करते हुए विचरण करेंगे ।*

विवेचनिका—

इस सूत्र पाठ मे साधना के सभी अगों का सुपरिणाम बतलाया गया है । महानिर्ग्रन्थ महापद्म आत्मोत्थान के लिये किन-किन साधनों का उपयोग करेंगे । अब उनका परिचय देना सूत्रकार को अभीष्ट है, जिससे कि अन्य साधक भी उनका अनुकरण कर सकें ।

उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन और चारित्र की आराधना करने से, विविक्त-शयनासन से तथा आत्म-विहार से, उत्कृष्ट सरलता-विनम्रता-लाघव-क्षान्ति-सतोष-गुप्ति-सत्य-सयम-तपगुणों से एव उत्कृष्ट फल-प्रधान मुक्तिमार्ग से आत्मा को भावित करते हुए शुक्ल ध्यान मे प्रविष्ट होकर घनघाती कर्मों को क्षय करके अनंत, परमप्रधान, निर्व्याघात, प्रतिपूर्ण अखड केवल ज्ञान और केवल दर्शन उन्हे उत्पन्न होगे । तब वे महापद्म अनगार भगवान अर्हन्, जिन, केवली होगे । सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होकर देव, मनुष्य और असुरलोक की सब पर्यायो के ज्ञाता-द्रष्टा होगे ।

तीन लोक मे जीवो के सब पर्यायो का साक्षात् करना ही केवलज्ञान की सार्थकता है । यह जीव किस गति से आया है और यहा से किस गति मे जाएगा ? यह जीव ससार मे कितने काल तक ठहरेगा ? यह जीव किस देवलोक से च्युत होकर यहा आया ? इसका किस देवलोक मे उपपात अर्थात् जन्म होगा ? इसकी बुद्धि मे क्या तर्क-कल्पना-विमर्श हो रहा है ? इसके मानसिक भाव क्या है ? इसने क्या भोगा ? क्या किया ? क्या दोष लगाया ? प्रकट रूप मे या गुप्त रूप में जीवो के मन, वचन और काययोग जो कुछ भी वर्त रहा है, केवलज्ञानी उन सब बातो को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष करते है ।

महापद्म अरिहत भी सब लोक में सब जीवो के सब भावों को जानेगे और देखेगे । केवलज्ञान प्राप्त किए बिना जीव कर्मो से मुक्त नही हो सकता, कर्मक्षय किए बिना दुःखों से छुटकारा नही मिलता । केवलज्ञान पा कर ही जीव अपने स्वरूप मे लय हो सकता है । केवलज्ञानी में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त सुख प्रकट होते है । ये गुण अरिहन्त मे सदा के लिये रहते है, पुनः उनका कभी भी अस्त नही होता ।

अरहा शब्द से अष्टविध महाप्रतिहार्यों से युक्त होने का सकेत किया है ।

*पाठको को ध्यान रहे कि [ ] इस चिह्न के अन्तर्गत पाठ का मूलार्थ पिछले पृष्ठ पर आ चुका है । अत: यहा नही दिया गया ।

तीर्थंकर महापद्म चरित-५

मूल—से जहाणामे अज्जो ! मए समणाणं निग्गंथाणं एगे आरंभठाणे पण्णत्ते, एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं णिग्गथाणं एगं आरभट्ठाणं पण्णवेहिइ। से जहाणामए अज्जो ! मए समणाणं निग्गंथाण दुविहे बंधणे पण्णत्ते, तं जहा—पेज्जबंधणे, दोसबंधणे, एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं णिग्गथाणं दुविह बंधणं पन्नवेहिति, तं जहा—पेज्जबंधणं च दोसबंधणं य। से जहानामए अज्जो ! मए समणाणं निग्गंथाणं तओ दंडा पण्णत्ता, तं जहा—मणदंडे३, एवामेव महापउमेवि समणाणं निग्गंथाणं दंडे पण्णवेहिति, तं जहा मणदंडे३। से जहानामए एएणं अभिलावेणं चत्तारि कसाया पण्णत्ता तं जहा—कोहकसाए४, पंचकामगुणे पण्णत्ते, तं जहा—सद्दे५, छज्जीवनिकाया पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइया जाव तसकाइया, एवामेव जाव तसकाइया। से जहाणामए एएणं अभिलावेणं सत्त भयट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा७ एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं निग्गंथाणं सत्तभयट्ठाणा पन्नवेहिति। एवमट्ठ मयट्ठाणे, णव बंभचेरगुत्तीओ, दसविहे समणधम्मे, एवं जाव तेत्तीसमासायणाओ त्ति।

से जहा नामए अज्जो ! मए समणाण निग्गंथाणं नग्गभावे, मुंडभावे, अण्हाणए, अदंतवणे, अच्छत्तए, अणुवाहणए, भूमिसेज्जा, फलगसेज्जा, कट्ठसेज्जा, केसलोए, बंभचेरवासे, परघरप्पवेसे जाव लद्धावलद्धवित्तीउ पण्णत्ताओ, एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं निग्गंथाणं णग्गभावं जाव लद्धावलद्धवित्ती पन्नवेहिति। से जहानामए अज्जो ! मए समणाणं निग्गंथाणं आहाकम्मिएइ वा, उद्देसिएइ वा, मीसज्जाएइ वा, अज्झोरएइ वा, पूइए, कीए, पामिच्चे, अच्छेज्जे, अणिसट्ठे, अभिहडेइ वा, कंतारभत्तेइ वा, दुब्भिक्खभत्तेइ वा, गिलाणभत्तेइ वा, वद्दलियाभत्तेइ वा, पाहुणभत्तेइ वा, मूलभोयणेइ वा, कंदभोयणेइ वा, फलभोयणेइ वा, बीयभोयणेइ वा, हरियभोयणेइ वा पडिसिद्धे, एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं आहाकम्मियं वा जाव हरियभोयणं वा पडिसेहिस्सइ।३८।

छाया—तद् यथानाम आर्याः ! मया श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्य एकमारम्भस्थानं प्रज्ञप्तम्, एवमेव

महापद्मोऽपि अर्हन् श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्य एकमारम्भस्थानं प्रज्ञापयिष्यति, तद्यथानाम आर्याः ! मया श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यो द्विविध बन्धनं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—प्रेमबन्धनञ्च द्वेषबन्धनञ्च एवमेव महापद्मोऽपि अर्हन् श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यो द्विविधं बन्धनं प्रज्ञापयिष्यति, तद्यथा—प्रेमबन्धनञ्च, द्वेषबन्धनञ्च। तद्यथानाम आर्याः ! मया श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यस्त्रयो दण्डा. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मनोदण्ड: ३, एवमेव महापद्मोऽपि श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यस्त्रीन् दन्डान् प्रज्ञापयिष्यति, तद्यथा—मनोदण्ड. ३। तद्यथानाम आर्याः ! एतेनाभिलापेन चत्वारः कषायाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्रोधकषायः ४। पञ्चकाम गुणाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा शब्द ५। षड्जीवनिकाया. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिका यावत्त्रस-कायिकाः, एवमेव यावत्त्रसकायिकान्। तद्यथानाम एतेनाभिलापेन सप्तभयस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—एवमेव महापद्मोऽपि अर्हन् श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यः सप्तभयस्थानानि प्रज्ञापयिष्यति। एवमष्ट मदस्थनान, नवब्रह्मचर्यगुप्तीः, दशविधान् श्रमण धर्मान्, एवं यावत् त्रयस्त्रिंशतमाशातना इति।

तद्यथानाम आर्या.! मया श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यो नग्नभावः, मुण्डभाव, अस्नानकम्, अदन्तधावनम्, अछत्रकम्, अनुपानत्क, भूमिशय्या, फलकशय्या, काष्ठशय्या, केशलोचः, ब्रह्मचर्यवासः, परगृहप्रवेशे यावल्लब्धापलब्धवृत्ती. प्रज्ञप्ता—एवमेव महापद्मोऽपि अर्हन् श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यो नग्नभावं यावल्लब्धापलब्धवृत्ती प्रज्ञापयिष्यति। तद्यथा-नाम आर्याः ! मया श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्य आधाकर्मिकं वा, औद्देशिकं वा, मिश्रजातं वा, अध्यवपूरकं वा, पूतिकं, क्रीतं वा, प्रमित्यकम्, आच्छेद्यम्, अनिसृष्टम्, अभ्याहृतं वा, कान्तारभक्त वा, दुर्भिक्षभक्त वा, ग्लानभक्तं वा, वार्दलिकाभक्त वा, प्राघूर्णक-भक्तं वा, मूलभोजनं वा, कन्दभोजनं वा, बीज भोजनं वा. हरितभोजनं वा प्रतिषिद्धम्, एवमेव महापद्मोऽप्यर्हन् श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्य आधाकर्मिकं वा यावद् हरितभोजनं वा प्रतिषेधिष्यति।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—हे आर्यो ! जिस प्रकार मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों का एक आरम्भ स्थान वर्णन किया है, उसी तरह महापद्म अरिहन्त भी श्रमण-निर्ग्रन्थों को एक आरम्भ-स्थान कथन करेंगे। जैसे मैंने दो प्रकार के बन्धन यथा—राग-बन्धन और द्वेष-बन्धन कहे है, वैसे ही महापद्म भी कहेंगे। तथा तीन प्रकार के दण्ड—मनोदण्ड, वचन-दण्ड और कायदण्ड का स्वरूप जैसे मैंने वर्णन किया है उसी प्रकार महापद्म भी निरूपण करेंगे। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों का कथन जैसे मैंने किया है, उसी तरह महापद्म भी प्ररूपण करेंगे। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पांच कामगुणो का,

छ. प्रकार के जीवनिकाय—यथा पृथिवीकाय यावत् त्रस-काय, सात भय-स्थान, आठ मद-स्थान, नव ब्रह्मचर्य गुप्तिया, दस प्रकार का श्रमण-धर्म यावत् तेतीस आशातनाओं का निरूपण जैसे मैंने किया है, उसी तरह महापद्म भी करेगे।

हे आर्यो ! मैंने जिस प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थो के लिये नग्नभाव, मुण्डभाव, स्नान न करना, अदन्तधावन, छत्र धारण न करना, जूता न पहनना, पृथिवो पर सोना, फलकशय्या, काष्ठशय्या, केशलोच, ब्रह्मचर्य का पालन करना, गृहस्थो के घरो में प्रवेश करना, यावत् भिक्षा में लाभ होने पर हर्प नहीं, लाभ न होने पर विषाद नही ग्रहण करना एव अनादर पूर्वक ग्रहण न करना इत्यादि साधु की साधना वृत्तियों का निरूपण किया है, वैसे ही महापद्म भी करेंगे।

हे आर्यो ! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिये आधाकर्मिक, औद्देशिक, मिश्रजात, अध्यवपूरक, पूतिकर्म, क्रीतक, प्रामित्य, आच्छिद्य, अनिसृष्ट, अभिहृत्य, दुर्भिक्षभक्त, ग्लान—रोगी के निमित्त बना आहार, वार्दलिका भक्त, प्राघूर्णक आहार, मूल आदि का भोजन, फल आदि का भोजन, बीजादि का भोजन, हरितकाय का भोजन इत्यादि उपर्युक्त पदार्थो का निषेध किया है, उसी प्रकार महापद्म अरिहन्त भी निषेध करेंगे।

विवेचनिका—

इस सूत्रपाठ में सकेत किया गया है कि श्रमण भगवान महावीर श्रमण निर्ग्रन्थों को सबोधित करते हुए प्रतिपादन करते है कि हे आर्यो ! एक आरम्भ-स्थान से लेकर ३३ आशातनाओ तक जिस सख्याक्रम से मैंने शिक्षाए वर्णित की हैं, उसी क्रम से अरिहन्त महापद्म भी श्रमणो को शिक्षाए देगे।

इन ३३ अको मे से २६वें अक मे दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहार और बृहत्कल्प इन तीन सूत्रो के २६ उद्देशक हैं। श्री भगवान स्वय कहते है—उनका कथन जैसे मैंने किया है वैसे ही महापद्म भी प्रतिपादन करेंगे। इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है जो विद्वान् उक्त तीन सूत्रो के २६ उद्देशको को भद्रबाहु-कृत मानते है, वह कथन सूत्र सगत नही है।

साधु स्थूल एव सूक्ष्म सभी जीवो का रक्षक होता है। पिता के मन मे जैसे अपनी सतति पर पूर्णतया वात्सल्य होता है, क्षुधाग्रस्त होने पर वह उसे मारकर खा नही सकता, उसके बच्चे को यदि

कोई मारता है तो वह भी उसके लिये असह्य हो जाता है—वैसे ही साधु अपने स्वार्थ के लिये न किसी को मारता है न मरवाता है, यदि कोई साधुओं के निमित्त हिंसा आदि क्रिया करके आहार-पानी बहराता है तो उसे अकल्पनीय समझकर वे ग्रहण नहीं करते। भगवान महावीर ने अकल्पनीय आहार ग्रहण करना साधु के लिये निषिद्ध बताया है। उनका विवरण सक्षेप में यहां दिया जाता है, जैसेकि—

१. **आधाकर्मिक** - किसी विशेष साधु के निमित्त से सचित्त वस्तु को अचित्त बनाना तथा अचित्त वस्तु को पकाना। इससे सबधित दोष चार प्रकार का होता है, जैसे कि—प्रतिसेवन, प्रतिश्रवण, सवमन, अनुमोदन। इन पदो की सक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित है—आधाकर्मी आहार करना प्रतिसेवन कहलाता है, आधाकर्मी आहार की विनति स्वीकार करना प्रतिश्रवण, आधाकर्मी आहार भोगनेवालो के साथ रहना सवसन और आधाकर्मी आहार सेवन करनेवाले की प्रशसा करना अनुमोदन कहलाता है।

२. **औद्देशिक**—देय वस्तु के अतिरिक्त अन्य प्रकार के आरम्भ-सरंभ आदि दोष साधु के उद्देश्य से लगाना अथवा किसी विशेष साधु के लिये बनाया गया आहार यदि वही साधु ले, तो आधाकर्म, दूसरा ले तो औद्देशिक है।

३. **मिश्रजात**—गृहस्थ के द्वारा अपने और साधु के लिये एक साथ पकाया हुआ या बनाया हुआ आहार मिश्रजात कहलाता है।

४. **अध्यवपूरक**—अपने लिये बनते हुए भोजन मे से साधुओ का आगमन सुनकर उनके निमित्त से उसमें कुछ और मिला देना अध्यवपूरक आहार है।

५. **पूतिकर्म**—शुद्ध आहार मे यदि आधाकर्म आदि का अश मिल जाता है, तो वह आहार भी शुद्ध सयमी के लिये अकल्पनीय होता है।

६. **क्रीत**—साधु के निमित्त मोल लिया हुआ आहारादि क्रीत कहलाता है।

७. **प्रामित्य**—साधु के निमित्त उधारा लिया हुआ आहारादि प्रामित्य कहलाता है।

८. **आच्छेद्य**—साधु के लिये किसी दूसरे से छीनकर लाए हुए आहारादि को आच्छेद्य कहते हैं, जैसे बच्चे से या नौकर आदि से कोई छीन कर दे, तो उसे लेना।

९. **अनिसृष्ट**—किसी वस्तु के एक से अधिक स्वामी होने पर उनकी बिना इच्छा से दिया जानेवाला आहारादि पदार्थ लेना, वह अनिसृष्ट दोष कहलाता है।

१०. **अभिहृत**—साधु के निमित्त गृहस्थ द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाया हुआ आहारादि ग्रहण करना अभिहृत कहलाता है।

वन मे मिलने वाला भोजन कान्तार भक्त है। दुर्भिक्ष के समय दिया जानेवाला भोजन, रोगो की शान्ति के लिये दिया जाने वाला भोजन, वर्षा के लिये होनेवाले यज्ञ से दिया जानेवाला भोजन साधु को ग्रहण करना वर्जित है। लोग उक्त कारणो से पहले भी अन्नादि का दान करते थे, यह उक्त पदो से ध्वनित होता है। शेष पद सुगम होने से यहा उनकी व्याख्या नही की गई। इस प्रकार का

आहार लेना श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिये निषिद्ध है। महावीर कहते हैं, जैसे मैंने उक्त प्रकार से कहा है वैसे ही अरिहंत महापद्म भी निषेध करेंगे। जिस आहार आदि पदार्थ के ग्रहण करने से पाच महाव्रतो मे से किसी भी महाव्रत मे दोष लगे, वैसा आहार यदि सुलभता से मिलता हो या अतिकठिनता से मिलता हो तो उसे ग्रहण करने के लिये मन से भी प्रार्थना न करे, ऐसा अरिहत भगवन्तो का सिद्धान्त है। साधक को अपनी साधना दूषित नही करनी चाहिए, इसी में उसका कल्याण है।

तीर्थंकर महापद्म चरित-९

मूल—से जहानामए अज्जो! मए समणाणं पञ्चमहव्वइए सपडिक्कमणे अचेलए धम्मे पण्णत्ते, एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं णिग्गंथाणं पंचमहव्वइयं जाव अचेलगं धम्मं पण्णवेहिति। से जहानामए अज्जो! मए पंचाणुव्वइए, सत्तसिक्खावइए दुवालसविहे सावगधम्मे पण्णत्ते, एवामेव महापउमेवि अरहा पंचाणुव्वइयं जाव सावगधम्मं पण्णवेस्सइ। से जहानामए अज्जो! मए समणाणं सेज्जायरपिंडेइ वा, रायपिंडेइ वा पडिसिद्धे, एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं सेज्जायरपिंडइ वा पडिसेहिस्सइ। से जहाणामए अज्जो! मम णव गणा, इगारस गणहरा, एवामेव महापउमस्सवि अरिहओ णव गणा, एगारस गणहरा भविस्सति। से जहानामए अज्जो! अहं तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए, दुवालस संवच्छराइं तेरस पक्खा छउमत्थपरियागं पाउणित्ता, तेरसहिं पक्खेहिं ऊणगाइं तीसं वासाइं केवलिपरियागं पाउणित्ता बायालीसं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता बावत्तरि वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिज्झिस्सं जाव सव्वदुक्खाणमंत करेस्सं, एवामेव महापउमेवि अरहा तीसं वासाइं आगारवासमज्झे वसित्ता जाव पव्विहिति, दुवालस संवच्छराइं जाव बावत्तरिवासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिज्झिहिति जाव सव्वदुक्खाणमंतं काहिइ—

"जं सीलसमायारो, अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तस्सीलसमायारो, होइ उ अरहा महापउमे।३९।"

। इइ सिरी महापउमचरियं समत्तं।

छाया—तद्यथा नाम आर्याः ! मया श्रमणेभ्यः पञ्चमहाव्रतिकः सप्रतिक्रमणोऽचेलको धर्मः प्रज्ञप्तः एवमेव महापद्मोऽप्यर्हन् श्रमणेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यः पञ्चमहाव्रतिकं यावदचेलकं धर्मं प्रज्ञापयिष्यति। तद्यथानाम आर्याः ! मया पञ्चानुव्रतिकः सप्तशिक्षाव्रतिको द्वादशविध-श्रावकधर्मः प्रज्ञप्तः, एवमेव महापद्मोऽप्यर्हन् पञ्चानुव्रतिक यावच्छ्रावकं धर्मं प्रज्ञा-पयिष्यति। तद्यथा नाम आर्याः ! मया श्रमणेभ्यः शय्यातरपिण्डो वा, राजपिण्डो वा प्रतिषिद्धः, एवमेव महापद्मोऽप्यर्हन श्रमणेभ्यः शय्यातरपिण्डों वा, राजपिण्डों वा-प्रतिषेधिष्यति। तद्यथा नाम आर्याः ! मम नवगणाः, एकादशगणधराः, एवमेव महापद्मस्यापि अर्हतो नव गणा एकादश गणधरा भविष्यन्ति। तद्यथानाम आर्या ! अहं त्रिंशद् वर्षाण्यागारवासमध्ये उषित्वा, मुण्डो भूत्वा यावत् प्रव्रजितः, द्वादशसम्वत्सरान् त्रयोदशपक्षान् छद्मस्थपर्याय पालयित्वा त्रयोदशभिः पक्षैरूनकानि त्रिंशद्वर्षाणि केवलि-पर्याय प्राप्य द्विचत्वारिंशद्वर्षाणि श्रामण्यपर्यायं प्राप्य द्वासप्तति वर्षाणि सर्वायुः पालयित्वा सेत्स्यामि यावत्सर्वदुःखानामन्तं करिष्यामि, एवमेव महापद्मोऽप्यर्हन् त्रिंशद्वर्षाणि आगारावासमध्ये उषित्वा यावत्प्रव्रजिष्यति, द्वादशसम्वत्सरान् यावत्, द्वासप्ततिवर्षाणि सर्वायुः पालयित्वा सेत्स्यति, यावत् सर्वदुखानामन्तं करिष्यति—

"यच्छीलसमाचारोऽर्हन् तीर्थङ्करो महावीरः।
तच्छीलसमाचारो भविष्यति त्वर्हन् महापद्मः॥"

इति श्री महापद्मचरितं समाप्तम्

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—हे आर्यो ! जिस प्रकार मैंने श्रमणो के लिये प्रतिक्रमण सहित पञ्च महाव्रत रूप अचेलक धर्म का प्ररूपण किया है, उसी तरह महापद्म भी सप्रतिक्रमण पाच महाव्रत रूप अचेलक धर्म का निरूपण करेंगे। जिस प्रकार मैने पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का श्रावक-धर्म कथन किया है, उसी प्रकार महापद्म अर्हन्त भी करेंगे। हे आर्यो ! जिस प्रकार मैने श्रमण निर्ग्रन्थो के लिये शय्यातर-पिण्ड और राजपिण्ड का निषेध किया है, उसी तरह महापद्म भी करेंगे। जिस प्रकार मेरे नव गण और ग्यारह गणधर है, उसी प्रकार महापद्म के भी होगे। हे आर्यो ! जिस प्रकार मैंने तीस वर्ष पर्यन्त गृहस्थ-वास मे रहने के अनन्तर मुण्डित होकर यावत् प्रव्रजित हुआ हू, और मै बारह वर्ष, तेरह पक्ष पर्यन्त छद्मस्थ पर्याय को पालकर, तेरह पक्ष कम तीस वर्ष केवली पर्याय पालकर, बियालीस वर्ष श्रमणपर्याय का पालन कर तथा सर्वायु बहत्तर वर्ष की पाल

कर सिद्ध गति को प्राप्त होऊंगा यावत् सब दुःखों का अन्त करूंगा, इसी प्रकार महापद्म भी करेंगे।

जो शील और आचार तीर्थंकर महावीर का था, वैसा ही शील और समाचार अरिहन्त महापद्म का भी होगा।

। महापद्म चरित्त समाप्त ।

विवेचनिका—

इस सूत्रपाठ में भी अरिहन्त महापद्म के जीवन का परिचय भगवान महावीर के जीवन तुल्य बतलाया गया है। भगवान महावीर कहते है—कि जैसे मैंने प्रतिक्रमण सहित पाच महाव्रत तथा अचेलक धर्म की प्ररूपणा की है, वैसे ही महापद्म भी करेंगे। इसी तरह पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत रूप श्रावक-व्रतो के विषय मे भी जान लेना चाहिए। गृहस्थधर्म उक्त १२ व्रतो मे समाविष्ट हो जाता है।

भगवान ने साधुओ के लिये शय्यातर पिंड तथा राजपिड लेना भी निषिद्ध किया है। जिसके मकान मे साधु ठहरता है उस मकान मालिक को शय्यातर कहते हैं, क्योंकि शय्यादान करने मात्र से ही वह भवसागर से तरने योग्य बन जाता है। उसके घर से आहार-पानी, वस्त्र-पात्र आदि ग्रहण करना शय्यातर-पिंड कहा जाता है। उस घर से उपर्युक्त वस्तु लेनी साधु के लिये उचित नही हैं।[1]

प्रश्न हो सकता है कि भगवान ने शय्यातरपिंड ग्रहण करना सर्वविरत के लिए क्यो निषिद्ध किया है? प्रश्न का उत्तर मननोय है, इसमे मुख्यतया सात दोष बताए है, जैसे कि—

१. शय्यातर के घर से आहार करना सभी तीर्थङ्करो ने निषिद्ध किया है।

२ अज्ञात घरो से लाई हुई गोचरी भी जब पूर्णतया निर्दोष नही होती, तब शय्यातर के घर मे लाई हुई गोचरी कैसे शुद्ध हो सकती है? साधु को स्व-निमित्त से बना आहार नही लेना चाहिए। शय्यातर-पिण्ड ग्रहण करने पर उसे अपने निमित्त से बने हुए आहार को ही ग्रहण करना पडेगा, क्योंकि गृहस्थ साधु के लिये भी उसी तरह आहार तैयार करवाएगा, जैसा कि वह घर मे आए हुए महमानो के लिये तैयार करवाता है।

३. गृहस्थ के द्वारा जितने भी आहार के सदर्भ मे दोष लगते है, वे सब उद्गम कहलाते हैं अतः शय्यातर पिण्ड-विशुद्धि नही हो सकती।

---

१ सेज्जायरे त्ति, शेरते यस्या साधक. सा शय्या, तया तरति भवसागरम् इति, शय्यातरो—वसतिदाता, तस्य पिण्डो भक्तादि शय्यातरपिण्ड, स चाशनादिर्वस्त्रादि, सूच्यादिश्चेति, तद्ग्रहणे दोषास्त्वमी—

तित्थकरपडिकुट्ठो अन्नाय उग्गमो वि य न सुज्झे।
अविमुत्ती अलाघवता दुल्लह सेज्जा विउच्छेदो॥ इतिवृत्तिकार।

४. शय्यातर-पिण्ड ग्रहण करने से जीवन से मतोपधर्म का लोप हो जाता है।

५. शय्यातर-पिण्ड लेने से जीवन मे लाघव-धर्म नही रहता।

६. शय्यातर-पिण्ड ग्रहण करने पर साधु के लिये निवास-योग्य स्थान मिलना भी दुर्लभ हो जाएगा, क्योंकि गृहस्थ सोचेगा कि यदि इन्हें अपने मकान मे ठहराऊगा तो भोजन-पानी का प्रबन्ध भी मुझे ही करना पडेगा।

७. सामुदानिक भिक्षा की रीति-नीति का व्यवच्छेद हो जाएगा। निर्दोष भिक्षा ग्रहण करने से तथा दाता के द्वारा दिए जाने से जो दाता को पुण्यानुबधी पुण्य का एव महानिर्जरा रूपी महालाभ होना था, उसका व्यवच्छेद हो जाएगा। इन सात कारणो से शय्यातर-पिंड ग्रहण करना निषिद्ध है।

वासुदेव एव चक्रवर्ती के लिये बना हुआ भोजन अथवा पौष्टिक पदार्थ सभी राज-पिण्ड हैं, अतः राज-पिंड सेवन कर लेने पर ब्रह्मचर्य सुरक्षित नही रह सकता।

श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे जम्बू! जिस शील-समाचार से युक्त भगवान महावीर का जीवन रहा है, उसी शील-समाचार युक्त महापद्म का जीवन भी रहेगा, जैसे कि नवगण और ग्यारह गणधर का होना, ३० वर्ष गृहवास में रहकर मुण्डित होना, ४२ वर्ष श्रामण्य-पर्याय में रहना, ३० वर्ष केवली पर्याय मे रहना, ७२ वर्ष की सर्वायु पालकर निर्वाण प्राप्त करना। अतः भगवान महावीर का जीवन-चरित्त और महापद्म का जीवन चरित्त परस्पर बहुत कुछ समानता को लिए हुए है।

इस चरित्त को सुनकर साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाओ ने महाराजा श्रेणिक को भावी तीर्थङ्कर जानकर भी उसे वन्दना-नमस्कार नही किया। इससे यह भली भान्ति सिद्ध हो जाता है कि द्रव्य-निक्षेप और बिंब आदि वन्दनीय व पूजनीय नही माने जा सकते।

नौवें स्थान मे तीर्थङ्कर महापद्म चरित्त देने का अभिप्रायः सूत्रकार का क्या हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है जैसे भगवान महावीर के ग्यारह गणधरो के वाचना की दृष्टि से नौ गण बने है, वैसे ही वाचना की दृष्टि से महापद्म के भी ग्यारह गणधरो के नौ ही गण होंगे। इस अपेक्षा नौवे स्थान मे महापद्म चरित्त का उल्लेख किया है। 

चन्द्र-पृष्ठ-योगकारी नक्षत्र

मूल—णव णक्खत्ता चंदस्स पच्छंभागा पण्णत्ता, तं जहा—

अभिई सवणो धणिट्ठा, रेवइ अस्सिणि मग्गसिर पूसो।
हत्थो चित्ता य, तहा पच्छंभागा णव हवंति।४०।

छाया—नव नक्षत्राणि चन्द्रस्य पश्चाद्भागानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

अभिजित् श्रवणो धनिष्ठा, रेवती अश्विनी मृगशिरः पुष्यः।
हस्तश्चित्रा च, तथा पश्चाद्भागानि नव भवन्ति॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जिन नक्षत्रों का योग चन्द्रमा के पश्चिम भाग से होता है, ऐसे नक्षत्र नौ है, जैसे कि—अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, रेवती, अश्विनी, मृगशिरा, पुष्य, हस्त और चित्रा ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे भावी तीर्थङ्कर का चरित वर्णित किया गया है। तीर्थङ्करो के कल्याणक भी किसी विशेष नक्षत्र में ही हुआ करते है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे उन नौ नक्षत्रो का वर्णन किया गया है, जिनका चन्द्र के साथ पृष्ठभाग से योग होता है।

नौ नक्षत्र जो कि चन्द्रमा के पिछले भाग से योग जोड़ते है, उनके नामो का निर्देश मूलार्थ मे किया जा चुका है। किसी प्रति मे ऐसा भी पाठ प्राप्त होता है, जैसे कि—

"अस्सिणि भरणी सवणो, अणुराहा धणिट्ठ-रेवई पूसो।
मियसिर-हत्थो चित्ता, पच्छिमजोगा मुणेयव्वा ।।

अश्विनी, भरणी, श्रवण, अनुराधा, धनिष्ठा, रेवती, पुष्य, मृगशिरा, हस्त और चित्रा इन नौ नक्षत्रो का योग चन्द्रमा मे जब होता है, तब पश्चिम भाग से ही होता है।

सूत्र निर्दिष्ट नौ नक्षत्र चन्द्र के पृष्ठ भाग से योग करते हैं और दूसरी गाथा मे निर्दिष्ट नौ नक्षत्र पश्चिम दिशा से योग करते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि अभिजित चन्द्र के पृष्ठ भाग मे भी पश्चिमी भाग से ही योग करता हो।

देव-विमानों की ऊचाई

मूल—आणय-पाणय-आरणच्चुएसु कप्पेसु विमाणा णव जोयण-सयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं ।४१।

छाया—आनत-प्राणतारणाच्युतेषु कल्पेषु विमानानि नव योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—आनत नवम, प्राणत दसवे, आरण ग्यारहवे और अच्युत बारहवे देवलोक में विमान ऊंचाई की अपेक्षा नौ सौ योजन वर्णन किये गए है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में नक्षत्रो का वर्णन किया गया है, वे नक्षत्र विमान-रूप है, अतः प्रस्तुत सूत्र में देव-विमानो की ऊंचाई का वर्णन किया गया है। नौवे आनत देवलोक, दसवे प्राणत देवलोक, ग्यारहवे आरण देवलोक और बारहवे अच्युत देवलोक मे जितने विमान है, वे सब नौ-नौ सौ योजन के ऊचे है। इन विमानों के आधार रूप पदार्थों का वर्णन जीवाभिगम सूत्र मे विस्तार से दिया गया है। ●

विमलवाहन का देहमान

मूल—विमलवाहणे णं कुलगरे णव धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं हुत्था ।४२।

छाया—विमलवाहनः कुलकरो नवधनुः शतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेनाऽभूत् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—कुलकर विमलवाहन का शरीर ऊंचाई में नौ सौ धनुष प्रमाण था।

विवेचनिका—

इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे में पन्द्रह कुलकर हुए हैं, जिनमें से ७वें कुलकर विमल-वाहन हुए है। उनके शरीर की ऊचाई नौ सौ धनुष की थी।

एक धनुष ९६वे अगुल परिमाण होता है। आगमो में तीन प्रकार के अगुलो का वर्णन प्राप्त होता है, जैसे कि—आत्मागुल, प्रमाणागुल और उत्सेधांगुल। शाश्वत पदार्थों का नाप प्रमाणांगुल से होता है। जिस काल के जो मनुष्य होते है, उनके अगुलों से क्षेत्र आदि का नाप किया जाता है वह है आत्मागुल। जीवो की अवगहना, लम्बाई-ऊचाई और चौड़ाई आदि का नाप उत्सेध अगुल से किया जाता है। उत्सेध और प्रमाण ये दो अगुल नियत है और आत्मागुल अनियत है। अपने हाथ से छोटे-बड़े सभी मनुष्य साढे तीन हाथ के होते हैं, किन्तु ९०० धनुष की अवगहना जो विमलवाहन की लिखी है, वह उत्सेध अंगुल से जाननी चाहिए। उत्सेधांगुल बहुत छोटा होता है। २४ उत्सेध अगुलों का एक हाथ और चार हाथ का एक धनुष होता है।[1] ●

भगवान ऋषभदेव का तीर्थ-प्रवर्तन काल

मूल—उसभेणं अरहा कोसलिए ण इमीसे ओसप्पिणीए णवहिं सागरोवमकोडा-

१. नाप-तोल आदि के विस्तृत विवेचन के लिये देखिए—अनुयोगद्वार सूत्र।

कोडीहिं विइक्कंताहिं तित्थे पवत्तिए ।४३।

छाया—ऋषभेण अर्हता कौशलिकेन अस्यामवसर्पिण्यां नवसु सागरोपमकोटाकोटिषु व्यतिक्रान्ते तीर्थं प्रवर्तितम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—कौशल देशीय अरिहन्त ऋषभदेव ने इस अवसर्पिणी काल के नव सागरोपम कोटा-कोटि वर्ष व्यतीत होने पर तीर्थं की स्थापना की थी ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में कुलकरों का वर्णन किया गया है, कुलकरो की परम्परा भगवान् ऋषभदेव जी के आगमन के साथ समाप्त हो गई । अतः प्रस्तुत सूत्र मे भगवान् ऋषभदेव जी के काल का वर्णन किया गया है ।

इस अवसर्पिणी काल के पहले तीर्थङ्कर कोशलदेश मे उत्पन्न अरिहत ऋषभदेव जी ने नौ करोडा-करोड़ सागरोपम काल बीतने पर धर्म-तीर्थ की स्थापना की थी । पहला आरा ४ करोड़ा-करोड़ सागरोपम का, दूसरा तीन करोडा-करोड़ सागरोपम का और तीसरा दो करोड़ा-करोड़ सागरोपम का है । तीसरे आरे के अतिम भाग में अर्थात् पल्योपम का असख्यातवां भाग शेष रहने पर भगवान ऋषभदेव जी के द्वारा धर्मतीर्थ (चतुर्विधसघ) की स्थापना हुई थी । २४ तीर्थङ्करों मे पहले तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव जी हुए हैं ।

घनदन्तादि द्वीपों का मान

मूल—घणदंत-लट्ठदंत-गूढदंत-सुद्धदंत-दीवाणं दीवा णव-णव जोयणसयाइं आयाम-विक्खंभेणं पण्णत्ता ।४४।

छाया—घनदन्त-लष्टदन्त-गूढ़दन्त-शुद्धदन्त-द्वीपानां द्वीपाः नव-नव योजनशतान्यायाम-विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—घनदन्त, लष्टदन्त, गूढ़दन्त और शुद्धदन्त नामक चार अन्तर्द्वीप लम्बाई-चौड़ाई की अपेक्षा से नौ-नौ सौ योजन के वर्णन किये गए हैं ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे भगवान् ऋषभदेव द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन का वर्णन किया गया है, उनके द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन का कार्य जम्बूद्वीप मे ही हुआ था, अतः अब सूत्रकार जम्बूद्वीप के नौ की सख्या से सम्बद्ध अन्तरद्वीपो का वर्णन करते हैं। जितने योजन का अन्तर हो और उतने योजन का द्वीप हो, उसे अन्तरद्वीप कहते है।

जम्बूद्वीप मे चुल्लहिमवन्त और शिखरी पर्वत से पूर्व और पश्चिम की ओर लवण-समुद्र में दाढ के आकारवाली दो-दो शाखाए निकली हुई हैं। प्रत्येक दाढ पर सात अतरद्वीप है। जैसे कि तीन सौ योजन का अन्तर और तीन सौ योजन का द्वीप, ४०० योजन का अन्तर और ४०० योजन का द्वीप। इस क्रम से सौ-सौ योजन बढाते-बढाते सबके अन्त मे ६०० योजन का अन्तर और ६०० योजन का द्वीप है। पूर्व की ओर आग्नेयकोण में जो सातवा अन्तरद्वीप है, उसका नाम घनदत है। दक्षिण की ओर नैऋत्य कोण में जो सातवां अन्तरद्वीप है, उसका नाम लष्टदन्त है। वायव्यकोण में जो दाढ है उसके सातवे द्वीप का नाम गूढदत है। ईशान कोण में जो दाढ है, उसके सातवे द्वीप का नाम शुद्धदन्त है। ये चार अन्तरद्वीप ६००-६०० योजन लम्बे-चौड़े है। ●

शुक्रग्रह की नव वीथियां

मूल—सुक्कस्स णं महागहस्स णव वोहोओ पण्णत्ताओ, तं जहा—हयवीही, गयवीही, णागवीही, वसहवोही, गोवीही, उरगवीही, अयवोही, मियवीही, वेसानरवोही ।४५।

छाया—शुक्रस्य महाग्रहस्य नव वीथयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हयवीथिः, गजवीथिः, नागवीथिः, वृषभवीथिः, गोवीथिः, उरगवीथिः, अजवीथिः, मृगवीथिः, वैश्वानरवीथिः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—शुक्र महाग्रह की नौ वीथियां अर्थात् गति-मार्ग कथन कि गए हैं, जैसे—हयवीथि, गजवीथि, नागवीथि, वृषभवीथि, गोवीथि, उरगवीथि, अजवीथि, मृगवीथि और वैश्वानरवीथि ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में भूगोल-विषयक वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार उसके प्रतिपक्षीभूत खगोल सम्बन्धी वर्णन करते हैं। शुक्र महाग्रह की नौ वीथिया है। वीथि शब्द का अर्थ है, मार्ग अर्थात् क्षेत्र विभाग।

ये वीथियां प्राय: तीन-तीन नक्षत्रों में विभक्त हैं। वीथियों के नाम मूलार्थ में दिए जा चुके है। वीथि विशेष में चलने से शुक्र आदि ग्रह मनुष्य लोक पर विशेष अनुग्रह और निग्रह करते हैं। कहा भी है— **वीथि विशेषचारेण च शुक्रादयो ग्रहा मनुजादीनामनुग्रहोपघातकारिणो भवन्तीति, द्रव्यादिसामग्र्या कर्मणामुदयादिसद्भावादिति सम्बन्धात् ।**[1]

इस प्रकार इस ज्योतिप-शास्त्र-गम्य विपय का प्रस्तुत सूत्र में सुन्दर, स्पष्ट एव विशद विवेचन हुआ है।

---

१. एक गुजराती पचाग मे ग्रह-वीथि और फलादेश के विषय में जो कुछ लिखा गया था, हम उसका हिन्दी रूपान्तर निम्न टिप्पणि में प्रस्तुत कर रहे हैं।

'स्थानाङ्ग सूत्र' में शुक्र महाग्रह की नौ वीथिया कही गई है, वे नौ वीथिया आकाश मे क्षेत्र का विभाग हैं। उन नौ वीथियो में तीन-तीन नक्षत्रो का विभाग करने पर नौ वीथियो के सत्ताईस नक्षत्र हो जाते हैं। इस प्रकार तीन नक्षत्रो में चलते हुए वह महाग्रह एक वीथी मे विचरण करता है। इन नौ वीथियों मे शुक्र-संचार का शुभाशुभ फल आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी जी ने क्रमशः लिखा है।

पहली 'हयवीथी' है, इसके भरणी, कृत्तिका और रोहिणी ये तीन नक्षत्र है, जब इस वीथि मे अर्थात् भरणी, कृत्तिका और रोहिणी नक्षत्र पर शुक्र संचरण करता है, तव पृथ्वी पर वहुत वर्षा होती है, धान्य अधिक होता है और धन की वृद्धि होती है। वह समय सुकालपूर्ण होता है और जन-सुखकारी होता है।

दूसरी 'गजवीथी' के मृगशिरा, आर्द्रा और पुनर्वसु ये तीन नक्षत्र है। जव शुक्र उनमें सचरण करता है, तो उसका भी फल शुभ होता है। इसका फल प्राय: प्रथम वीथी जैसा ही है।

तीसरी 'नागवीथी' के पुष्य, आश्लेषा और मघा ये तीन नक्षत्र हैं, इनमे शुक्र महाग्रह के सचरण करने का फल भी पहली और दूसरी वीथी के ही समान है।

चौथी 'वृषभवीथी' के पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी और हस्त ये तीन नक्षत्र हैं। जब शुक्र महाग्रह इनमे विचरण करता है तो उसका फल भी पहली वीथी जैसा ही होता है।

पांचवी 'गोवीथी' के चित्रा, स्वाती और विशाखा ये तीन नक्षत्र है इनमे शुक्र-सचरण के फल दूसरी वीथी जैसा ही हुआ करता है।

छठी 'उरगवीथी' के अनुराधा, ज्येष्ठा और मूल ये तीन नक्षत्र हैं इनमें शुक्र-संचरण का फल स्वरूप धान्य तो वहुत उत्पन्न होता है, परन्तु उसके भाव मध्यम रहते हैं। तेजी-मदी वार-वार चलती रहती है।

सातवी 'अजवीथी' के पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा और श्रवण नक्षत्र हैं।

आठवी 'मृगवीथी' के धनिष्ठा, शतभिषा और पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्र हैं और नौवी वैश्वानर वीथी के उत्तराभाद्रपदा, रेवती और अश्विनी नक्षत्र हैं। इन तीनों वीथियो में शुक्र के सचरण करने पर धान्योत्पत्ति कम होती है, धान्य महगे हो जाते हैं, मानव जाति पीड़ित होती है, बरसात कम होती है और दुर्भिक्ष अधिक पड़ता है।

कषाय सहचारी-नोंकषाय

मूल—नवविहे नोकसायवेयणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—इत्थिवेए, पुरिसवेए, णपुंसगवेए, हासे, रई, अरई, भए, सोगे, दुगुंछा ।४६।

छाया—नवविधं नोकषायवेदनीयं कर्म प्रज्ञप्तं, तद्यथा—स्त्रीवेदः, पुरुषवेदः, नपुंसकवेदः, हास्यं, रतिः, अरतिः, भयं, शोकः, जुगुप्सा ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—नोकषाय वेदनीयकर्म नौ प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, यथा—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंमकवेद, हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा ।

विवेचनिका—

शुक्रग्रह का प्रभाव अधिकतर सवेदी जीवों पर पडता है, वेद नोकषाय का अवान्तर भेद है । अतः प्रस्तुत सूत्र में नोकषाय का वर्णन किया गया है । नोकषाय का अविनाभावी सम्बन्ध कषाय के साथ है । यहां "नो" शब्द निषेध का वाचक नही है, अपितु सहचारी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । कषायो के साथ जो मानसिक विकार उत्पन्न होते है, वे कषायो के साथ मिलकर ही अपना फल देते है, उन्हे नोकषाय कहते है । जैसे बुध ग्रह दूसरे के साथ युक्त हो, तो वह अपने साथी ग्रह बल को ही बल देता है, वैसे ही नोकषाय भी कषायो के साथ ही रहते है और उन्ही के साथ रहकर ही अपना फल देते है, स्वतन्त्र नही ।

जितना स्तर कषाय का होता है, उतना ही नोकषाय का भी होता है । नोकषाय-वेदनीयकर्म के नौ भेद है, जैसे कि—

१. **स्त्रीवेद**—जिसके उदय से स्त्री को पुरुष की अभिलाषा होती है, उसे स्त्रीवेद कहा जाता है । पित्त के उदय से जैसे मीठा खाने की इच्छा होती है, सूखे हुए उपलों मे या मीगनों में लगी हुई आग जैमे बाहर नही भडकती, अपितु अन्दर ही अन्दर सुलगती रहती है, वैसे ही स्त्रीवेद भी जब उदय होता है, तब वह भीतर ही भीतर मन को विकृत करता रहता है, उसे स्त्री-वेद कहा जाता है ।

२. **पुरुषवेद**—जिसके उदय से पुरुष को स्त्री की अभिलाषा होती है, वह पुरुष-वेद है । जैसे कफ के प्रकोप से खट्टी वस्तु खाने की इच्छा होती है, वैसे ही जब पुरुषवेद का उदय होता है, तब पुरुप को स्त्री की अभिलाषा होती है । यह उस अग्नि के समान उदय होता है जो एक-दम भडक जाती है और फिर शान्त भी शीघ्र हो जाती है ।

३. **नपुंसकवेद**—जैसे पित्त और कफ के उदय से स्नान की इच्छा होती है, वैसे ही जिस के उदय से स्त्री और पुरुष दोनो से गमन की इच्छा होती है, वह नपु सक वेद कहलाता है । जब इसका उदय होता है, तब बड़े भारी नगर-दाह के समान कामदेव भडकता है । यह तेज और स्थायी दोनों

तरह का होता है। पुरुषवेद से स्त्री वेद प्रबल एव स्थायी और स्त्रीवेद की अपेक्षा नपुंसकवेद प्रबल-तम एव अनुपशान्त होता है।

४ हास्य—जिसके उदय से मनुष्य सकारण या अकारण हसने लग जाए, उसे हास्य कहते हैं। इसके अधम, मध्यम और उत्तम, इस तरह तीन भेद हैं।

५. रति—जिसके उदय से जीव की रुचि सचित्त एव अचित्त बाह्य पदार्थों की ओर आकृष्ट हो, असयम में प्रवृत्ति हो उसे रति कहते है।

६. अरति—जिसके उदय से बाह्य पदार्थों से या सयम से अरुचि हो जाए, वह अरति है अर्थात् मन का किसी भी शुभ या अशुभ वस्तु में न लगना अरति है।

७. भय—जिसके उदय से किसी न किसी प्रकार की भयकरता हृदय में बनी रहे, वह भय-मोहनीय है। अज्ञानता, अपूर्णता, बलहीनता ये सब भय के कारण है।

८. शोक—जिस के उदय से जीव आक्रन्दन, रुदन आदि करने लग जाए, वह शोक-मोहनीय है। इसके उदय से प्राणी शोक-रहित होता हुआ भी कभी-कभी सशोक बन जाता है।

९. जुगुप्सा—जिसके उदय से मनुष्य दूसरो से घृणा करने लग जाता है या जाति, कुल आदि के मद से इतर जीवों से घृणा करने लग जाता है, वह जुगुप्सा प्रकृति है। यह प्रकृति भी धर्म-साधना में बाधक है, इन सबके त्यागने से ही जीव निर्वाण पद के योग्य हो सकता है। ●

जीवों की कुल कोटियां

मूल—चउरिंदियाणं णव जाइकुलकोडि-जोणिप्पमुहसयसहस्सा पण्णत्ता। भुय-गपरिसप्प-थलयर-पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं नव जाइकुलकोडि-जोणिप्प-मुहसयसहस्सा पण्णत्ता।४७।

छाया—चतुरिन्द्रियाणा नव जातिकुलकोटि-योनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। भुजपरि-सर्पस्थलचर-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिकानां नव जातिकुलकोटि-योनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—चतुरिन्द्रिय जीवो की नौ लाख जाति-कुलकोटि योनि प्रमुख कथन की गई है। भुजग-परिसर्प-स्थलचर-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग् योनिक जीवों की जाति-कुलकोटि-योनि-प्रमुख नव लाख वर्णन की गई है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे नोकषायों का वर्णन किया गया है, कषायो और नोकषायो के कारण ही जीव चतुरिन्द्रिय आदि योनियो मे जन्म लेते हैं, अत. अब सूत्रकार चतुरिन्द्रिय आदि जीवो की जाति-कुल-कोटियों का वर्णन करते है। एक जाति में जितने तरह के जीव हो सकते है, उन भेदो को कुलकोटि कहा जाता है।

सडते हुए गोबर की एक ही राशि में अनेकविध जीव उत्पन्न होते है, वे सब जीव एक ही स्थान मे उत्पन्न होने के कारण एक ही जाति के होते है, परन्तु उन की कुलकोटिया भिन्न-भिन्न होती है। इस प्रकार विभिन्न पदार्थों से जन्म लेने वाले चतुरिन्द्रिय आदि जीवों की नौ लाख कुलकोटियां होती है।

भुजाबल से चलने वाले पचेन्द्रिय तिर्यचो को भुजगपरि सर्प कहते है जैसे कि मोह नेवला, गिलहरी आदि। इन पचेन्द्रिय तिर्यञ्चो की भी नौ लाख कुलकोटिया है।

पापकर्म के रूप में पुद्गल चयन

मूल—जीवा णं णवट्ठाणनिवत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा, तं जहा—पुढविकाइयनिवत्तिए जाव पंचिंदियनिवत्तिए। एवं चिण, उवचिण जाव णिज्जरा चेव।४८।

छाया—**जीवा नव स्थाननिर्वर्तितान् पुद्गलान् पापकर्मतया अचैषुर्वा, चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, तद्यथा—पृथिवीकायनिर्वर्तितान् यावत् पञ्चेन्द्रियनिर्वर्तितान्। एवं चयः, उपचयो वा यावन्निर्जरा चैव।**

शब्दार्थ—**जीवा णं**—जीवो ने; **णवट्ठाणनिवत्तिए पोग्गले**—नव स्थानों में निर्वर्तित—निष्पादित पुद्गलो को; **पावकम्मत्ताए**—पाप कर्म रूप से; **चिणिसु वा**—उपार्जन किया, **चिणंति वा**—वर्तमान में करते है और, **चिणिस्सति वा**—भविष्यत् में करेंगे, **तं जहा**—जैसे; **पुढविकाइयनिवत्तिए जाव पंचिदिय निवत्तिए**—पृथिवीकायपने मे निष्पादित यावत् पचेन्द्रियपने मे निष्पादित; **एवं चिण, उवचिण**—इसी तरह उपार्जन किया, अथवा विशेष रूप से उपार्जन किया; **जाव**—यावत्; **णिज्जरा चेव**—निर्जरा की।

मूलार्थ—जीवो ने नव स्थानो मे निर्वर्तित पुद्गलो का पाप कर्म रूप से भूतकाल मे उपार्जन किया, वर्तमान मे करते है और आगामी काल में करेंगे, यथा—पृथिवीकाय मे यावत् पञ्चेन्द्रिय मे निष्पादित पापरूप से उपार्जन किया, उपार्जन करते है और करेंगे यावत् निर्जरा की कर रहे है और भविष्य में करेगे।

विवेचनिका—

जीव अधिकार होने से प्रस्तुत सूत्र में भी नौ प्रकार के पाप-कर्म-रत जीवों का तथा उनके द्वारा पापकर्मों को ग्रहण करने का उल्लेख किया गया है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय, ये नौ प्रकार के जीव पाप-कर्म मे

रत रहकर पुद्गलों का पापकर्म के रूप में तीनों कालों में चय, उपचय और निर्जरा आदि करते है। साराश यह है कि जीव अनादिकाल से पांच स्थावर और त्रसपने में रह कर पापकर्म करते आए हैं, वर्तमान मे कर रहे है और भविष्य में करते रहेंगे।

सूत्रकर्त्ता ने "पोग्गले पावकम्मत्ताए" पाप कर्म से पहले पुद्गल शब्द दिया है। इसका कारण यह है कि कर्म केवल उत्क्षेपण आदि ही नही हैं, किन्तु जैन सिद्धान्त कर्म को पुद्गल द्रव्य मानता है, अत जीव कर्मपुद्गलों का चय-उपचय करते ही रहते है, तथा निर्जरा भी। ●

पुद्गल पर्यायों की अनन्तता

मूल—णव पएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता, नवपएसोगाढा पोग्गला अणंता पण्णत्ता, जाव णव गुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता ।४९।

छाया—नव प्रदेशिका. स्कन्धाः अनन्ताः प्रज्ञप्ताः, नव प्रदेशावगाढ़ा. पुद्गला अनन्ता प्रज्ञप्ताः, यावत् नवगुणरूक्षाः पुद्गला अनन्ता प्रज्ञप्ताः।

शब्दार्थ—**णव**—नौ-नौ; **पएसिया खधा**—प्रदेशो वाले स्कन्ध; **अणंता पण्णत्ता**—अनन्त प्रतिपादन किये गए हैं; **नव पएसोगाढा**—नव प्रदेशो मे अवस्थित पुद्गल; **अणता पण्णत्ता**—अनन्त कथन किये गए हैं; **जाव**—यावत्; **णव गुणलुक्खा पोग्गला**—नवगुण रूक्ष पुद्गल, **अणता पण्णत्ता**—अनन्त वर्णन किये गए हैं।

मूलार्थ—नव प्रदेशिक स्कन्ध अनन्त बतलाये गये है। नव-नव प्रदेशों में आकाश-अवस्थित पुद्गल भी अनन्त है। यावत् नवगुण रूक्ष पुद्गल भी अनन्त प्रतिपादन किये गये है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे पुद्गल ग्रहण की चर्चा की गई है। अब सूत्रकार उसी परम्परा में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा पुद्गल-पर्याय की अनन्तता का वर्णन करते है। नौ प्रदेशोंवाले स्कन्ध अनन्त हैं। आकाश के नौ प्रदेशों पर अवगाहन करनेवाले पुद्गल अनन्त हैं। नौ समय तक ठहरने वाले पुद्गल भी अनन्त हैं, इसी तरह नौ गुणा रूक्ष पुद्गल भी अनन्त है। दो परमाणुओ से लेकर अनन्त परमाणुओं पर्यन्त परमाणु समूह को स्कन्ध कहा जाता है।

पुद्गल-द्रव्य प्रायः जीवो के उपभोग-परिभोग में आता है, क्योंकि छः द्रव्यों में केवल रूपी द्रव्य यदि कोई है तो पुद्गल ही है और यह दुख-सुख वेदने में निमित्त कारण है। अतः जब आत्मा इससे सर्वथा रहित हो जाता है, तब ही वह निर्वाणपद को प्राप्त करता है। सिद्ध-बुद्ध, अजर, अमर, पारं गत इत्यादि नामो के धारण करनेवाला वह तभी होता है, जब कि वह पुद्गल-बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

॥ नवम स्थान समाप्त ॥

दशम स्थान

एक उद्देशक

प्रथम उद्देशक

इस उद्देशक में

लोक-स्थिति, शब्द-भेद, इन्द्रियार्थ, पुद्गल-चलन, क्रोधोत्पत्तिस्थान, संयम, अहंकारोत्पत्ति, समाधि, प्रव्रज्या, जीव-परिणाम, आन्तरिक्षक अस्वाध्याय, अहिंसा-मूलक सयम, सूक्ष्म-भेद, गंगा-सिन्धु-वाहिनी नदियां, दस राजधानियां, मन्दर-मान, दिशा-केन्द्र, लवण-समुद्र-मान, धातकीखण्ड-मेरु-मान, वृत्त-वैताढ्य-पर्वत, जम्बूद्वीप के क्षेत्र, मानुषोत्तर-पर्वत, अंजन-दधिमुख, रतिकर-पर्वत, रुचकवर पर्वत, द्रव्यानुयोग, उत्पात-पर्वत, जीव-अवगाहना, श्री सम्भवनाथ एवं अभिनन्दन जी का मध्यकाल, अनन्त उत्पाद पूर्व की वस्तु, प्रवाद-पूर्व की चूला वस्तु, प्रतिसेवना, आलोचना, प्रायश्चित्त, मिथ्यात्व-भेद, चन्द्र-प्रभ, धर्मनाथ आदि की पूर्ण आयु, भवनवासीदेव उनके चैत्यवृक्ष, सुख, उपघात, विशुद्धि, संक्लेश, वल, सत्य, दृष्टिवाद-नाम, शास्त्र-दोष-विशेष-भेद, वाग्-अनुयोग, दान, गति, मुण्ड-भेद, संख्यान, समाचारी, महावीर के स्वप्न, स्वप्न-फल, सराग-सम्यग्दर्शन, संज्ञा, नैरयिक-वेदना, छद्मस्थ-अज्ञेय, सर्वज्ञ-ज्ञेय, दश अध्ययनोवाले आगम, नैरयिक-भेद, नैरयि-कादियों की स्थिति, कल्याणकारी कर्मोपार्जन के कारण, आशंसा-प्रयोग, स्थविर, पुत्र, केवली-अनुत्तर, समय-क्षेत्र के कुरु-महाद्रुम, महर्धिक देव, दुषम-सुषम-काल के लक्षण, सुषम-सुषमा काल के कल्पवृक्ष, उत्सर्पिणी-कुलकर, वक्षस्कारपर्वत, इन्द्राधिष्ठित कल्प और इन्द्र, दश-दशमिका भिक्षु-प्रतिमा, संसार-समापन्नक जीव, शतायु पुरुष की दशाएं, तृण-वनस्पतिकाय, विद्याधर-श्रेणियां, आभियोगिक-श्रेणियां, ग्रैवेयक विमानों की उच्चता, तेजोलेश्या द्वारा भस्म करने के कारण, दस आश्चर्य, रत्न काण्डादि की चौड़ाई, समुद्रों आदि की गहराई, कृत्तिका और अनुराधा नक्षत्रों के चार-मण्डल, ज्ञान-संवर्धक नक्षत्र, स्थलचरादि की कुलकोटियां, दश स्थान निर्वर्तित पुद्गलों के चयनादि विषयों पर प्रकाश डाला गया है ।

दशम स्थान

प्रथम उद्देशक

[नौवे स्थान मे जिन जीवादि पदार्थों का वर्णन नौ-नौ प्रकार से किया गया है अब सूत्रकार दसवें स्थान मे उन्हीं पदार्थों का वर्णन दस-दस प्रकार से करते हैं]

लोक स्थिति

मूल—दसविहा लोयट्ठिई पण्णत्ता, तं जहा—जण्णं जीवा उद्दाइत्ता-उद्दाइत्ता तत्थेव भुज्जो-भुज्जो पच्चायंति, एवं एगा लोयट्ठिई पण्णत्ता ।

जण्णं जीवाणं सया समियं पावे कम्मे कज्जइ, एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता ।

जण्णं जीवा सया समियं मोहणिज्जे पावे कम्मे कज्जइ, एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता ।

ण एवं भूयं वा, भव्वं वा, भविस्सइ वा, जं जीवा अजीवा भविस्संति एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता ।

ण एवं भूयं वा, भव्वं वा, भविस्सइ वा, जं तसा पाणा वोच्छिज्जिस्संति, थावरा पाणा वोच्छिज्जिस्संति, तसा पाणा भविस्संति वा, एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता ।

ण एवं भूयं वा, भव्वं वा, भविस्सइ वा, जं लोए अलोए भविस्सइ, अलोए वा लोए भविस्सइ, एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता ।

ण एवं भूयं वा, भव्वं वा, भविस्सइ वा, जं लोए अलोए पविस्सइ, अलोए वा लोए पविस्सइ, एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता ।

जाव ताव लोए, ताव-ताव जीवा, जाव ताव जीवा ताव-ताव लोए, एवंप्पेगा लोयट्ठिई।

जाव ताव जीवाण य पोग्गलाण य गइपरियाए, ताव-ताव लोए, जाव ताव लोए, ताव-ताव जीवाण य पोग्गलाण य गइपरियाए, एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता।

सव्वेसुवि णं लोयंतेसु अबद्धपासपुट्ठा पोग्गला लुक्खत्ताए कज्जइ, जेणं जीवा य पोग्गला य नो संचायंति बहिया लोगंता गमणयाए, एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता ।१।

छाया—दशविधा लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—यज्जीवा अपद्राय-अपद्राय तत्रैव भूयो भूयः प्रत्यायान्ति, एवमेका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

यज्जीवाः सदा समितं पापं कर्म कुर्वन्ति, एवैका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

यज्जीवाः सदा समितं मोहनीयं पापं कर्म कुर्वन्ति, एवमेका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

नैवं भूतं वा, भव्यं वा, (भवति वा) भविष्यति वा, यज्जीवाः अजीवा भविष्यन्ति, अजीवा वा जीवा भविष्यन्ति, एवमेका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

नैवं भूतं वा भव्यं वा (भवति वा) भविष्यति वा, यत्त्रसाः प्राणा. व्युच्छेत्स्यन्ति, स्थावराः प्राणा भविष्यन्ति, स्थावराः प्राणाः व्युच्छेत्स्यन्ति, त्रसाः प्राणा भविष्यन्ति, एवमेका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

नैवं भूतं वा, भव्यं वा, (भवति वा) भविष्यति वा, यल्लोकोऽलोको भविष्यति, अलोको वा लोको भविष्यति, एवमेका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

नैवं भूतं वा, भव्यं वा, (भवति वा) भविष्यति वा यल्लोकोऽलोके प्रवेक्ष्यति, अलोको वा लोके प्रवेक्ष्यति, एवमेका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

यावत्तावल्लोकः, तावत्तावज्जीवाः, यावत्तावज्जीवाः, तावत्तावल्लोकः, एवमेका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

यावत्तावज्जीवानां पुद्गलानाञ्च गतिपर्यायः, तावत्तावल्लोकः, यावत्तावल्लोकः, तावत्तावज्जीवानां पुद्गलानाञ्च गतिपर्यायः एवमप्येका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

सर्वेष्वपि लोकान्तेषु अबद्धपार्श्वस्पृष्टाः पुद्गला रूक्षतया क्रियन्ते, येन जीवाश्च पुद्गलाश्च नो शक्नुवन्ति बहिर्लोकान्ताद् गन्तुम्, एवमप्येका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।

शब्दार्थ—दसविहा—दस प्रकार की; लोगट्ठिई पण्णत्ता, तं जहा—लोकस्थिति कथन की गई है, यथा—; जण्णं जीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता—जीव पुनः-पुनः मर-मर कर; तत्थेव—

वही पर; भुज्जो-भुज्जो—वारम्वार; **पच्चायंति**—उत्पन्न होते है; **एवमप्पेगा लोगट्ठिई पण्णत्ता**—इस तरह यह लोकस्थिति का प्रथम कारण कथन किया गया है।

जण्ण जीवा णं—जो कि जीव; **सया समियं**—सदा निरन्तर; **पावे कम्मे कज्जति**—पाप कर्म करते है; **एवमप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—इस कारण भी लोक की स्थिति है।

जण्णं जीवा—जो कि जीव; **सया समियं**—सदा निरन्तर; **मोहणिज्जे पावे कम्मे कज्जंति**—मोहनीय पाप कर्म करते है, **एवमप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—ऐसे भी लोक की एक स्थिति है।

ण एवं भूयं वा—ऐसा कभी नही हुआ; **भव्वं वा**—न हो रहा है; **भविस्सइ वा**—और न ही होगा; **ज**—कि; **जीवा अजीवा भविस्संति**—जीव अजीव हो जाये; **अजीवा जीवा भविस्सति**—अजीव जीव हो जाये; **एवमप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—इस तरह भी एक लोकस्थिति है।

ण एवं भूयं वा, भव्वं वा, भविस्सइ वा—ऐसा नही हुआ न हो रहा है और न होगा कि; **जं तसा पाणा वोच्छिज्जिस्सति**—कि त्रस प्राणी विनष्ट हो जाये; **थावरा पाणा भविस्सति**—और स्थावर प्राणी हो रहे; **थावरा पाणा वोच्छिज्जिस्संति**—स्थावर प्राणी विनष्ट हो जायेगे; **तसा पाणा भविस्संलि वा**—अथवा त्रस प्राणी ही रहेगे; **एवमप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—इस कारण भी एक लोकस्थिति है।

ण एवं भूयं वा, भव्वं वा, भविस्सइ वा—ऐसा न तो हुआ है, न हो रहा है और न होगा; **जं लोए अलोए वा भविस्सइ**—कि लोक अलोक हो जायेगा, **अलोए लोए वा भविस्सइ**—अथवा अलोक लोक हो जायेगा; **एवमप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—इस तरह भी एक लोकस्थिति है।

ण एवं भूयं वा, भव्वं वा, भविस्सइ वा—ऐसा कभी न हुआ है, न हो रहा है और न होगा; **जं लोए अलोए पविस्सइ**—कि लोक अलोक मे प्रविष्ट हो जाय, **अलोए वा लोए पविस्सइ**—अथवा अलोक लोक मे प्रवेश कर जायेगा; **एवमप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—ऐसे भी लोक की एक स्थिति है।

जाव ताव लोए, ताव ताव जीवा—जितने क्षेत्र मे लोक है, उतने क्षेत्र मे जीव है, **जाव ताव जीवा, जाव ताव लोए**—जितने क्षेत्र मे जीव है, उतने क्षेत्र मे लोक है; **एवमप्पेगा लोगट्ठिई पण्णत्ता**—इस तरह भी लोकस्थिति वर्णित है।

जाव ताव जीवाण य पोग्गलाण य गइपरियाए—जितने क्षेत्र मे लोक है, उतने क्षेत्र मे जीव एव पुद्गलों की गति-पर्याय है; **एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—इस तरह भी लोकस्थिति है।

सव्वेसुवि णं लोगंतेसु—लोकान्त के सर्व भागो में; **अबद्धपासपुट्ठा पोग्गला लुक्खत्ताए कज्जइ**—पुद्गल रूक्ष होने से झड जाते है, उन का बन्धन नही होता है, **जेण**

जीवा य पोग्गला य—इस कारण जीव और पुद्गल; **नो संचायंति बहिया लोगता गमणयाए**—लोकान्त से बाहिर जाने में समर्थ नही हो सकते हैं; **एवंप्पेगा लोयट्ठिई पण्णत्ता**—इस प्रकार भी लोकस्थिति कही गई है।

मूलार्थ—दस प्रकार की लोकस्थिति का वर्णन किया गया है, जैसे कि—जीव मर-मर कर वही बार-बार उत्पन्न होते है।

जीव सदा निरन्तर पाप-कर्म करते है।

जीव सदा निरन्तर मोहनीय कर्म करते हैं।

भूतकाल में ऐसा हुआ नही, वर्तमान मे होता नही और भविष्य मे होगा नही कि जीव अजीव हो जाए अथवा अजीव जीव बन जाये।

ऐसा कभी नही हुआ, न होता है तथा न ही होगा कि त्रस प्राणी ही शेष रहें और स्थावर नष्ट हो जायेगे।

ऐसा न हुआ है, न होता है और न होगा ही कि लोक अलोक हो जाये और अलोक लोक हो जाये।

त्रिकाल मे भी ऐसा नही हो सकता कि लोक अलोक मे प्रवेश कर जाये और अलोक लोक में प्रविष्ट हो जाये।

जिस जिस क्षेत्र में लोक है, उस-उस क्षेत्र में जीव है, जितने क्षेत्र में जीव है, उतने क्षेत्र में लोक है।

जहा-जहां जीवो और पुद्गलों की गति-पर्याय है, वहां-वहा पर लोक है। जहां-जहां लोक है, वहां-वहां जीवों और पुद्गलों की गति-पर्याय है।

लोकान्त के सब भागों में पुद्गलो का बन्धन नही होता, केवल स्पर्श-मात्र होता है और वे रूक्षता के कारण झड़ जाते हैं, इसलिये जीव और पुद्गल लोकान्त से बाहिर नही जा पाते हैं। इन उपर्युक्त कारणो से पञ्चास्तिकाय रूप लोक की स्थिति बनी हुई है।

विवेचनिका—

जीव और पुद्गल सक्रिय होते हुए भी लोक में ही पाए जाते हैं। अत. प्रस्तुतसूत्र मे लोक-स्थिति का वर्णन किया गया है।

लोक-स्वभाव को ही लोक-स्थिति कहा जाता है—लोक-स्थिति दस प्रकार की है—

१ जिन प्रदेशों पर जीव अनन्त बार जन्म-मरण कर चुके है, उन्हीं प्रदेशों पर वे पुन· पुन जन्म-मरण कर रहे हैं। लोकाकाश का कोई भी ऐसा प्रदेश शेष नही रह गया, जिसे प्रत्येक जीव ने जन्म-मरण के द्वारा अनन्त वार स्पर्श न किया हो। यह भी एक लोक-स्थिति है।

२. जीव-प्रवाह से निरन्तर पाप-कर्म में सलग्न है। मोक्ष के जितने भी प्रतिबन्धक तत्त्व है, वे सब पाप कर्म है। आठ कर्मों का वन्ध भी पाप कर्म से ही होता है। अत: जीवों द्वारा निरन्तर पापकर्म करते रहना, यह दूसरी लोक-स्थिति है।

३ जीव सदा काल से मोह-कर्म का बन्ध कर रहे है। मोह का नाम ही ससार है, जो ससार है, वही मोह है और जो मोह है, वही ससार है। मोह-कर्म भी लोक-स्थिति का तीसरा कारण है।

४ लोक की अनादि काल से यह व्यवस्था चल रही है कि न कभी जीव जीवत्व को छोड़कर अजीव बना और न कभी अजीव अजीवत्व को छोडकर जीव बना। जीव और अजीव ये दोनों तत्त्व त्रैकालिक है। ये न तो अपने स्वरूप का कभी परित्याग करते है और न दूसरे के स्वरूप को ग्रहण ही करते है। इस दृष्टि से इसे चौथी लोक स्थिति बताया गया है।

५. यह सिद्धान्त भी त्रैकालिक है कि लोक कभी अलोक नही वन सकता और अलोक कभी लोक नही बन सकता। दोनो क्षेत्र अपने-अपने स्थान में अवस्थित है। इनका परस्पर कभी भी परिवर्तन नही होता। यह पाचवी लोक-स्थिति है।

६. यह सिद्धान्त भी अनादि-अनन्त है—ऐसा कभी नही होता कि लोक मे त्रस प्राणी ही रह जाए और स्थावरो का सर्वथा अभाव हो जाए अथवा स्थावर जीव ही ससार मे रह जाए, त्रस प्राणियों का बिल्कुल ही अभाव हो जाए। त्रस जीव रहे स्थावर नही या स्थावर जीव रहे, त्रस नही ऐसा कभी नही हो सकता, प्रत्युत दानो का अस्तित्व सदैव रहता है। यह लोकस्थिति का छटा कारण है।

७ लोक की यह स्थिति भी त्रैकालिक रही है कि लोक का प्रवेश कभी अलोक मे नही होता और अलोक का प्रवेश कभी लोक मे नही होता। जो जहा है, वह वही रहता है। इस दृष्टि से भी लोक-स्थिति त्रैकालिक है।

८. जहां तक लोक है, वही तक जीव है और जहां तक जीव है वही तक लोक है। तीन काल में भी जीव और पुद्गल लोक-मर्यादा का उल्लघन नही करते इस अपेक्षा से भी लोक-स्थिति त्रैकालिक है।

९. जितनी आकाश-परिधि मे जड़-चेतन की एक छोर से दूसरे छोर पर्यन्त उत्कृष्ट गति हो सकती है, उतने आकाश विभाग को लोक कहा जाता है। जहा तक धर्मास्तिकाय है, वहा तक जड़-चेतन की गति होती है। इस अपेक्षा से लोक-स्थिति का यह नौवा कारण है।

१०. गति करने की शक्ति जीव और पुद्गल दोनों में है। अन्य किसी द्रव्य में गति रूप क्रिया नही है। जैसे पूरी शक्ति से छोडा हुआ बाण दीवार आदि के साथ टकरा कर वही गिर जाता है, वैसे ही गतिशील जड और चेतन लोकान्त में जाकर वही रुक जाते हैं। पुद्गलों की रूक्षता से अथवा धर्मास्तिकाय के अभाव से लोकस्थिति ऐसी ही है, जिससे गतिशील पदार्थ भी लोक-मर्यादा का उल्लघन नहीं कर पाते। अलोक में जीव और पुद्गल का सर्वथा अभाव है, अत. वहां न अन्धकार है और न प्रकाश है, न धूप है न छाया, क्योकि ये सब पुद्गल की पर्याय हैं। जब अलोक मे पुद्गल ही नही है, तब उसकी पर्याय कहां सम्भव हो सकती है।

शब्द-भेद

मूल—दसविहे सद्दे पण्णत्ते, तं जहा—

नीहारि पिंडिमे लुक्खे, भिन्ने जज्जरिए इय।
दीहे रहस्से पुहुत्ते य, काकणी खिखिणिस्सरे ॥२।

छाया—दशविधाः शब्दाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

निर्हारी पिण्डिमो रूक्षः, भिन्नो जर्जरित इति।
दीर्घो ह्रस्वः पृथक्त्वञ्च, काकणी (किङ्किणी) स्वरः ॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—शब्द दस प्रकार का वर्णन किया गया है, यथा—निहारी घोष, पिण्डिम-घोष, भिन्न अर्थात् टूटे हुए पदार्थ का शब्द, जर्जरित—जीर्ण पदार्थ का शब्द, दीर्घ, ह्रस्व, पृथक्त्व अर्थात् नाना प्रकार के वादित्रों का संयुक्त शब्द, काकलि अर्थात् सूक्ष्म गीत-ध्वनि, किङ्किणी अर्थात् क्षुद्र घंटियो का शब्द।

विवेचनिका—

लोकस्थिति-वर्णन के अन्तिमांश में पुद्गलो का वर्णन किया गया है। पुद्गलो में शब्द-पुद्गल भी लोकान्त पर्यन्त जा सकता है, यह पुद्गलात्मक शब्द कितने प्रकार का होता है? अब सूत्रकार इसी जिज्ञासा के समाधान के लिये कहते हैं कि यह पुद्गलात्मक शब्द दस प्रकार का होता है। पुद्गलो के सयोग या वियोग होने पर शब्द की उत्पत्ति होती है। उन दस शब्द-भेदो का विवरण निम्नलिखित है—

१. निर्हारी—जिस शब्द की उत्पत्ति के अनन्तर कुछ समय के लिये गूंज बनी रहती है, उस शब्द को निर्हारी कहते हैं। जिस प्रकार घण्टे पर चोट पडते ही शब्द उत्पन्न होता है और उस शब्द की गूंज बहुत समय तक होती रहती है। यही शब्द निर्हारी शब्द कहलाता है, इसी तरह अन्य झांझर नगारा आदि के शब्दों के विषय में भी जानना चाहिए।

२. पिंडिम—जिस शब्द के होने पर गूज न हो, उसे "पिंडिम" कहते है, अर्थात् घोषवर्जित शब्द पिंडिम कहलाता है, जैसे कि ढक्का अर्थात् डमरू के बजाने से गूज नही उठती है।

३. रूक्ष—रूखा, अनिष्ट, भयकर शब्द "रूक्ष" कहलाता है, जैसे कौए का शब्द।

४. भिन्न—शीत-कम्पित एव ज्वरग्रस्त व्यक्ति जैसे शब्द बोलता है, वैसे शब्दों को भिन्न शब्द कहते है। किसी वस्तु के छेदन-भेदन से होने वाला शब्द।

५. जर्जरित—थोथे बांस से निकले हुए शब्द की तरह के जितने भी शब्द हैं, वे सब 'जर्जरित" कहलाते है।

६. दीर्घ—जो शब्द दूर से सुनाई दे, उसे "दीर्घ शब्द" कहते हैं अथवा दीर्घ वर्णों से युक्त शब्द भी इसी के अन्तर्भूत हो जाते हैं।

७. ह्रस्व—ह्रस्व वर्णों से युक्त शब्द को और धीमे से होनेवाले शब्द को "ह्रस्वशब्द" कहा जाता है, जैसे वीणा का शब्द।

८. पृथक्—एक ही समय में एक-साथ उत्पन्न होने वाले वादित्रो आदि के शब्द को "पृथक्त्व शब्द" कहते हैं। वह शब्द अनेक वादित्रो के द्वारा पृथक् रूपो में उत्पन्न होने पर भी एक रूप में सुनाई देता है, अतः इसे "पृथक्त्व शब्द" कहा गया है।

९. काकणी—जिस समय गीत को उठाते हैं, उस समय गीत-ध्वनि अत्यन्त सूक्ष्मरूप में होती है। इसी तरह अन्य द्रव्यों के शब्द भी जानने चाहिए। इसी को दूसरे शब्दो मे "काकली" शब्द भी कहते हैं।

१०. किंकिणी—घु घरुओ के शब्द। छोटे-छोटे घु घरू जो बैलों के गले में बाधे जाते हैं अथवा नाचनेवाले के पैरो में बाधे जानेवाले घु घरू उनसे होनेवाले शब्द को "किंकिणी-शब्द" कहते हैं।

इस सूत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द आकाश का गुण नही है। यह एक प्रकार से पुद्गल का ही एक रूप है। श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होने से भी शब्द को पौद्गलिक मानना युक्ति-सगत है।

शब्द तीन प्रकार के होते है जीव-शब्द, अजीव-शब्द और मिश्र-शब्द। शब्दो के उपर्युक्त दस भेद इन तीन भेदो मे ही गर्भित जाते है। विश्वभर मे जितने भी प्रकार के शब्द सुनने मे आते हैं, उन सबका समावेश उपर्युक्त दस भेदो मे अथवा तीन भेदों में हो जाता है।

त्रैकालिक इन्द्रियार्थ

मूल—दस इंदियत्थाईया पण्णत्ता, तं जहा—देसेणवि एगे सद्दाइं सुणिंसु, सव्वेणवि एगे सद्दाइं सुणिंसु। देसेणवि एगे रूवाइं पासिंसु, सेव्वेणवि एगे रूवाइं पासिंसु। एवं गधाइं, रसाइं, फासाइं जाव सव्वेणवि एगे फासाइं पडिसंवेएंसु।

दस इंदियत्था पडुप्पन्ना पण्णत्ता, तं जहा—देसेणवि एगे सद्दाइं सुणेंति, सव्वेणवि एगे सद्दाइं सुणेंति। एवं जाव फासाइं।

दस इंदियत्था अणागया पण्णत्ता, त जहा—देसेणवि एगे सद्दाइं सुणिस्संति, सव्वेणवि एगे सद्दाइं सुणेस्संति। एवं जाव सव्वेणवि एगे फासाइं पडिसंवेइस्संति।३।

छाया— दश इन्द्रियार्था अतीताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—देशेनापि एके शब्दान् अश्रौषुः, सर्वेणापि एके शब्दान् अश्रौषुः। देशेनापि एके रूपाणि अद्राक्षुः, सर्वेणापि एके रूपाणि अद्राक्षुः। एवं गन्धान्, रसान्, स्पर्शान्, यावत् सर्वेणापि एगे स्पर्शान् प्रतिसमवेदिषुः।

दश इन्द्रियार्थाः प्रत्युत्पन्नाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—देशेनापि एके शब्दान् शृण्वन्ति, सर्वेणापि एके शब्दान् शृण्वन्ति। एवं यावत् स्पर्शान्।

दश इन्द्रियार्था अनागता. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—देशेनापि एके शब्दान् श्रोष्यन्ति, सर्वेणापि एके शब्दान् श्रोष्यन्ति। एवं यावत् सर्वेणापि एके स्पर्शान् प्रतिसंवेदयिष्यन्ति।

शब्दार्थ—दस इंदियत्थाईया पण्णत्ता, तं जहा—दस अतीत-इन्द्रियार्थ अर्थात् इन्द्रियों के विषय कथन किये गए है, यथा—देसेणवि एगे सद्दाइं सुणिंसु—कुछ व्यक्तियो ने देश अर्थात् एक अंश में शब्दों को सुना। सव्वेणवि एगे सद्दाइं सुणिंसु—कुछ व्यक्तियो ने सर्व प्रकार से भी शब्दो को सुना; देसेणवि एगे रूवाइं पासिंसु—कुछ व्यक्तियो ने देश से अर्थात् एक अश के रूपो को देखा; सव्वेणवि एगे रूवाइं पासिंसु—कुछ व्यक्तियो ने सर्व प्रकार से रूपो को देखा; एवं गंधाइं—इसी प्रकार गन्ध; रसाइं—रस; फासाइं—स्पर्श, जाव—यावत्; सव्वेणवि एगे फासाइं पडिसवेएंसु—कुछ व्यक्तियो ने सर्व प्रकार से भी स्पर्शों का अनुभव किया।

दस इंदियत्था पडुप्पन्ना पण्णत्ता तं जहा—दश इन्द्रियार्थ प्रत्युत्पन्न—वर्तमान कालीन कथन किये गए है, यथा— देसेणवि एगे सद्दाइं सुणेति—कुछ व्यक्ति अंशतः शब्दो का श्रवण करते हैं; सव्वेणवि एगे सद्दाइं सुणेंति—कुछ व्यक्ति सभी प्रकार से शब्दो का श्रवण करते है; एवं जाव फासाइं—इसी प्रकार स्पर्श आदि का सवेदन करते हैं।

दस इंदियत्था अणागया पण्णत्ता, तं जहा—दस इन्द्रियार्थ अनागत कथन किये गए हैं; जैसे— **देसेणवि एगे सद्दाइं सणिस्सति**—कुछ व्यक्ति अंशत: शब्दों को सुनेंगे। **सव्वेणवि एगे सद्दाइं सुणेस्संति**—कुछ व्यक्ति सर्व प्रकार से शब्दों का श्रवण करेंगे, **एवं जाव सव्वेणवि एगे फासाइं पडिसंवेएस्सति**—इसी प्रकार कुछ व्यक्ति यावत् सर्व प्रकार से स्पर्शों का सवेदन करेंगे।

मूलार्थ—दश अतीत इन्द्रियार्थ कथन किये गए हैं, जैसे कुछ व्यक्तियो ने अंशतः शब्दों को सुना, कुछ व्यक्तियों ने शब्दों को सभी प्रकार से सुना। कुछ व्यक्तियों ने रूपों को अशत: देखा और कुछ व्यक्तियों ने पूर्णतया देखा। इसी प्रकार गन्ध, रस और स्पर्श का अंशत: अथवा पूर्णतया अनुभव किया।

प्रत्युत्पन्न, वर्तमान कालीन दश इन्द्रियार्थ कथन किये गए है, जैसे—कुछ व्यक्ति अंशत. शब्दों की सुनते है, कुछ व्यक्ति सर्वत: स्पर्श आदि का अनुभव करते है।

अनागत अर्थात् भविष्यत्कालीन इन्द्रियार्थ भी दश ही कथन किये गए हैं, जैसे—कुछ व्यक्ति अंशत: शब्दों को सुनेंगे और कुछ व्यक्ति सर्वत:। एवं यावत् अशतः अथवा पूर्णत: स्पर्शो का संवेदन करेंगे।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में शब्द का वर्णन किया गया है। शब्द इन्द्रिय ग्राह्य है, अत: प्रस्तुत सूत्र में इन्द्रियों के विषयो का तीन कालो की अपेक्षा से दस-दस प्रकार से वर्णन किया गया है। इन्द्रियां भी बाह्य पदार्थों के साक्षात् करने के लिये साधकतम करण हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत विषय को ही ग्रहण कर सकती है, अनियत को नही। श्रोत्रेन्द्रिय शब्द को ही ग्रहण करती है, चक्षुरिन्द्रिय रूप को ही देखती है, घ्राणेन्द्रिय गन्ध को ही सूंघती है, रसनेन्द्रिय रस को ही चखती है और स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श ही करती है। सभी इन्द्रिया देश और सर्व रूप से अपने-अपने विषयो को ग्रहण करती हैं, जैसे कि—

श्रोत्रेन्द्रिय जब अधूरी बात को सुनती है, या एक ओर की बात को, या टेलीफोन की तरह एक कान से सुनती है, उसे देश-श्रवण कहते हैं। जब किसी बात को पूरी तरह सुना जाता है तथा अनेक दृष्टियो से सुना जाता है, तब उसे सर्व-श्रवण कहा जाता है। इसी तरह अन्य शब्दों के विषय मे भी देश और सर्व का प्रयोग करना चाहिए।

चक्षुरिन्द्रिय जब किसी पदार्थ को एकान्त दृष्टि मे देखती है या आंशिक रूप से या लक्ष्य साधते हुए एक आंख से देखती है तब वह देश से देखना कहलाता है। उसी अवयवी को जब सर्वाङ्ग रूप से दो नेत्रों से या अनेकान्त दृष्टि से देखती है, तब वह सर्व रूप से देखना कहा जाता है।

घ्राणेन्द्रिय जब आंशिक रूप से गंध को सूघती है तब वह देश मे सूघना कहलाता है और जब पूर्णतया सूंघती है, तब वह सर्व रूप से सूघना कहलाता है।

रसनेन्द्रिय जब आंशिक रूप से किसी एक रस को चखती है, तब वह देश मे चखना कहलाता है, किन्तु जब वह पूर्णतया रसास्वादन करती है, तब वह सर्व से रसास्वादन करना कहलाता है।

स्पर्शनेन्द्रिय अर्थात् त्वचा जब किसी अवयवी के एक अवयव को छूती है, तब वह स्पर्श देशत होता है, किन्तु जब सर्वाङ्ग रूप से किसी अवयवी को छूती है, तब वह सर्वरूप से स्पर्श कहलाता है। इस तरह पांच इन्द्रियो ने अतीत काल मे देश और सर्वरूप से अपने-अपने विषय को ग्रहण किया, वर्तमान में ग्रहण कर रही है और अनागत काल में ग्रहण करेंगी।

दस भेद अतीत काल से सम्बधित हैं, दस भेद वर्तमान से सबधित और दस भेद भविष्य से सबंधित है, इस प्रकार इन्द्रियार्थ के कुल तीस भेद होते है। पांचो इन्द्रियो का देश और सर्वभाव से जीव तीन कालो में अनुभव कर रहे हैं। इनके त्यागने से ही आत्मविकास हो सकता है। इस मे कोई सदेह नही कि पांच इन्द्रियों के विषय सदा-सर्वदा अपना अनुभव दिखाते रहते हैं। उन विषयो पर राग और द्वेष न करना यही उनका त्याग है। इसीसे आत्मा स्व-कल्याण कर सकता है। ●

अखंड पुद्गल-चलन

मूल—दसहिं ठाणेहिमच्छिन्ने पोग्गले चलेज्जा, तं जहा—आहारिज्जमाणे वा चलेज्जा, परिणामिज्जमाणे वा चलेज्जा, उस्ससिज्जमाणे वा चलेज्जा, निस्ससिज्जमाणे वा चलेज्जा, वेदेज्जमाणे वा चलेज्जा, णिज्जरिज्जमाणे वा चलेज्जा, विउव्विज्जमाणे वा चलेज्जा, परियारिज्जमाणे वा चलेज्जा, जक्खाइट्ठे वा चलेज्जा, वायपरिग्गहे वा चलेज्जा ।४।

छाया—दशभिः स्थानैरच्छिन्नः पुद्गलश्चलेत्, तद्यथा—आह्रियमाणो वा चलेत्, परिणम्यमानो वा चलेत्, उच्छ्वस्यमानो वा चलेत्, निःश्वस्यमानो वा चलेत्, वेद्यमानो वा चलेत्, निर्जीर्यमाणो वा चलेत्, वैक्रियमाणो वा चलेत्, परिचार्यमाणो वा चलेत्, वातपरिगतो वा चलेत्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ— दस कारणों से शरीर तथा स्कन्ध से सम्बन्धित पुद्गल चलित होता है, यथा—आहार करते समय, उदर मे परिणमन करते समय, उच्छ्वास लेते समय, निःश्वास लेते समय, कर्म-फल भोगते समय, कर्म-निर्जरा करते समय, वैक्रिय करते समय, मैथुन करते समय, शरीर में यक्षादि के प्रवेश के समय और वायु से प्रेरित होते समय।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे इन्द्रियार्थों का वर्णन किया गया है। इन्द्रियो के विषयभूत जितने भी पदार्थ है, वे सब पुद्गलात्मक है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे चलित अखड पुद्गलो का वर्णन किया गया है।

पुद्गलद्रव्य तीन प्रकार का होता है, जैसे कि प्रयोगज, मिश्रित और विश्रसा।

जो पुद्गल जीव ने मन, वचन, काय के रूप मे ग्रहण किए हुए है, वे सब प्रयोगज पुद्गल है।

जिन पुद्गलो को ग्रहण करके जीव छोड़ देता है, उन्हे मिश्रित पुद्गल कहा जाता है।

इन दोनो के अतिरिक्त जो पुद्गल है, उन्हे विश्रसा पुद्गल कहते है, जैसे कि बादल और इन्द्र-धनुष आदि। जो पुद्गल शरीर से अभिन्न है या विवक्षित स्कन्ध से अपृथग्-भूत है, वे दस कारणों से चलायमान हो जाते हैं अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित हो सकते है, वे कारण इस प्रकार हैं—

१. जिस पुद्गल का आहार किया जा रहा है, वह स्थानान्तरित होता ही रहता है। जब कोई प्राणी पानी पीता है, तब वह पानी सब ओर से खिंचा हुआ मुंह में आता है और उदर के प्रकोष्ठ में जा पहुचता है। कभी-कभी तुरन्त पिया हुआ पानी पसीने के रूप मे बाहर आ जाता है, यही उस की चलन-क्रिया है। अथवा जब सयत आहारिक वर्गणा के पुद्गलो से आहारक शरीर का निर्माण किया करता है, उस समय भी अच्छिन्न पुद्गल चलित होते हैं।

२. जिस समय जठर-अग्नि से अन्न आदि का परिणमन होता है, तब भी अखण्ड पुद्गल चलित होता है। जब खाया हुआ या पिया हुआ पदार्थ खलभाग मे एव रसभाग में परिणत होता है, तब वह एक दशा से दूसरी दशा मे बदल जाता है। कोई भी किया हुआ आहार अन्दर जमा नही रहता, वह बराबर परिणमन होता ही रहता है। जो परिणमित हो चुका है, वह मलाशय में जमा हो जाता है, अत. पाचन-क्रिया मे भी पुद्गल-सचलन होता है।

३. उच्छ्वास लेते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान में वायु-पुद्गल गमन करते है।

४. निःश्वास छोड़ते समय भी वायु-पुद्गल चलित होते है। सास लेते हुए या छोड़ते हुए समस्त शरीर चलित होता है।

५. जिन पुद्गलो का रस अनुभव किया जा रहा हो या कर्मों का फल भोगा जा रहा हो,

उस समय भी अच्छिन्न पुद्गल स्थानान्तरित होने से चलित होते हैं।

६. जो पुद्गल अपना रस देकर आत्मा से या शरीर से अलग हो जाते हैं, उन मे क्रिया नही होती, अपितु जिन को आत्मा से अलग किया जा रहा होता है, उनको निर्जीर्यमाण पुद्गल कहते हैं।

७. वैक्रिय शरीर के रूप मे परिणत होता हुआ पुद्गल एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित होता है। वैक्रिय रूप धारण करते हुए जब शरीर में हल-चल मचती है तब पुद्गल-सचलन होना अवश्यभावी है।

८. मैथुन सेवन करते समय शुक्र-पुद्गल का अपने स्थान से स्खलित होना परिचार्यमाण कहलाता है। वह स्थानान्तरित होता है, वही उस की चलन-क्रिया है।[1]

९. शरीर में जब यक्षावेश, भूत आदि अधिष्ठित होता है, उस से भी शरीरगत पुद्गल चलायमान होते हैं।

१०. शरीरगत पाच प्रकार की वायु से परिव्याप्त या प्रेरित पुद्गल चलायमान होते हैं। देह के भीतर जिस मल-मूत्र आदि का निकास होता है, वह वायु-प्रेरित होता है। इन दस कारणो के उपस्थित होने पर अच्छिन्न पुद्गल भी चलित होता है।

इन्ही दस कारणों से सारे शरीर मे हलन-चलन होता है।

क्रोधोत्पत्ति-स्थान

मूल—दसहिं ठाणेहिं कोहुप्पत्ती सिया, तं जहा—मणुन्नाइं मे सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधाइं अवहरिंसु। अमणुन्नाइं मे सद्द-फरिस-रस-रूव-गधाइं उवहरिंसु। मणुन्नाइं मे सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधाइं अवहरइ। अमणुन्नाइं मे सद्द-फरिस-जाव गंधाइं उवहरइ। मणुन्नाइं मे सद्द जाव अवहरिस्सइ। अमणुन्नाइं मे सद्द जाव उवहरिस्सइ। मणुन्नाइं मे सद्द जाव गन्धाइं अवहरिंसु वा, अवहरइ, अवहरिस्सइ। अमणुण्णाइं मे सद्द जाव उवहरिंसु वा, उवहरइ, उवहरिस्सइ। मणुण्णामणुण्णाइं सद्द जाव अवहरिंसु, अवहरइ, अवहरिस्सइ, उवहरिंसु, उवहरइ, उवहरिस्सइ। अहं च णं आयरियउवज्झायाणं सम्मं वट्टामि, ममं य णं आयरिय-उवज्झाया मिच्छं पडिवन्ना।५।

१. 'परियारिज्जमाणे' परिचार्यमाणो—मैथुनसज्ञाया विषयीक्रियमाण शुक्रपुद्गलादि, परिचार्यमाणे वा—भुज्यमाने स्त्रीशरीरादौ शुक्रादिरेव।

छाया—दशभिः स्थानैः क्रोधोत्पत्तिः स्यात्, तद्यथा—मनोज्ञान्मे शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धानपहृतवान् । अमनोज्ञान्मे शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धानुपहृतवान् । मनोज्ञान्मे शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धानपहरति । अमनोज्ञान्मे शब्द-स्पर्शयावत् गन्धानुपहरति । मनोज्ञान्मे शब्दान्यावदपहरिष्यति । अमनोज्ञान्मे शब्दान्यावदुपहरिष्यति । मनोज्ञान्मे शब्दान् यावद् गन्धान् अपहृतवान् वा, अपहरति, अपहरिष्यति । अमनोज्ञान्मे शब्दान्यावदुपहृतवान्, उपहरति, उपहरिष्यति । मनोज्ञामनोज्ञान् शब्दान् यावदपहृतवान, अपहरति, अपहरिष्यति, उपहृतवान, उपहरति, उपहरिष्यति । अहञ्चाचार्योपाध्यायभ्यां सम्यग्वर्त्ते, माम् आचार्योपाध्यायौ मिथ्यां प्रतिपन्नौ ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश कारणो से क्रोध उत्पन्न होता है, जैसे—अमुक व्यक्ति ने मेरे मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप एव गन्ध का भूत काल मे अपहरण किया । वर्तमान मे अपहरण करता है । भविष्य में मेरे शब्दादि का अपहरण करेगा । भूत काल में अमनोज्ञ शब्दादि दिये । वर्तमान मे अमनोज्ञ शब्द आदि देता है । भविष्य मे अमनोज्ञ शब्द आदि देगा । मनोज्ञ शब्दादि का तीनों कालो में अपहरण करेगा । अमनोज्ञ शब्दादि तोन काल में मुझे देगा । मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ शब्दादि का तीनो कालों मे अपहरण करेगा तथा तीनों ही कालों में देगा । मैं आचार्य तथा उपाध्याय के साथ शुद्ध व्यवहार करता हूं, परन्तु वे मेरे साथ दुर्व्यवहार करते है ।

विवेचनिका—

इन्द्रियो के विषय-भूत पुद्गल-धर्मो को परिलक्षित करके क्रोध की उत्पत्ति होती है, अत सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे परम्परा-प्राप्त क्रोध उत्पन्न होने के दस कारण बताए है, जैसे कि :—

१. यह सोच कर कि इस व्यक्ति ने मेरे प्रिय शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श इत्यादि सुखो के साधन अतीत काल मे अपहरण किए है, यह सोच कर व्यक्ति मे क्रोध उत्पन्न होता है ।

२ इस व्यक्ति ने अप्रिय् शब्द, रूप, गध, रस स्पर्श इत्यादि दुःख के साधन मेरे आगे उपस्थित किए हैं, यह मेरे लिये कैसे सह्य हो सकता है ? इस विचार से भी प्राणी मे क्रोध उत्पन्न होता है ।

३ यह व्यक्ति मेरे इष्ट शब्दादि सुखसाधन रूप पदार्थो का अपहरण करता है, इस कारण भूत विचार से भी प्राणी मे क्रोध उत्पन्न होता है ।

४ यह व्यक्ति मुझे अनिष्ट शब्दादि दुखरूप पदार्थ देता है, जिनको मैं स्वप्न में भी नही चाहता । यह सोच कर भी व्यक्ति मे क्रोध उत्पन्न होता है ।

५. यह व्यक्ति मेरे मनोज्ञ अर्थात् मन को प्रिय लगनेवाले शब्दादि पदार्थों का अपहरण करेगा, इस आशका से भी क्रोध पैदा होता है।

६. यह व्यक्ति अमनोज्ञ शब्दादि पदार्थ मुझे देगा, ऐसी योजना बनी हुई है, इस बात को जान कर भी क्रोध पैदा होता है।

७. अमुक व्यक्ति ने मेरे प्रिय शब्दादि विषय पहले भी अपहरण किए, अब भी अपहरण कर रहा है और यह आगे के लिये भी अपहरण करने से नही हटेगा, इस कारण से भी क्रोध की उत्पत्ति होती है।

८. अप्रिय शब्दादि पदार्थ इस ने मुझे पहले भी दिए, अब भी दे रहा है, इसी तरह यह आगे के लिये भी देता रहेगा। यह सोच कर भी क्रोध उत्पन्न होता है।

९. इस व्यक्ति ने मेरे शब्दादि मनोज्ञ पदार्थ पहले अपहरण किए, अब कर रहा है और अनागतकाल में भी अपहरण करता ही रहेगा, इस के साथ ही शब्दादि अमनोज्ञ पदार्थ इस ने पहले भी दिए, अब भी दे रहा है और भविष्य में भी देता रहेगा, इस आशंका से भी मनुष्य में क्रोध सजग हो जाता है।

१०. मैं तो आचार्य एव उपाध्याय के साथ सम्यक् वर्ताव करता हूं, किन्तु वे फिर भी मुझ पर प्रसन्न नही होते, बल्कि मेरे प्रति विपरीत भाव ही रखते हैं। इस प्रकार सोचने विचारने से अन्तःकरण में क्रोध की ज्वाला भड़क उठती है। यद्यपि गुरु के भाव सम्यक् भी हैं, तथापि शिष्य के मन में आशका एव मिथ्या धारणा से क्रोध उत्पन्न हो ही जाता है।

इस लिये सयमी के लिये क्रोध करना अतीव हानि-प्रद एवं अनुचित है, अतः शिष्य को चाहिए कि वह क्रोध को छोड़ कर शान्ति का आश्रयण करे। इसीमें उसका अपना और श्रीसघ का कल्याण है।

उत्थान और पतन के मूलकरण

मूल—दसविहे सजमे पण्णत्ते, तं जहा—पुढविकाइय-संजमे जाव वणस्सइ-काय-संजमे, बेइंदिय-संजमे, तेंदिय-संजमे, चउरिंदिय-संजमे, पंचिंदिय-संजमे, अजीवकाय-संजमे।

दसविहे असंजमे पण्णत्ते, तं जहा—पुढविकाइय-असंजमे, आउकाय-असंजमे, तेउ-काय-असंजमे, वाउ-काय-असंजमे, वणस्सइ-काय-असंजमे, जाव अजीवकाय-असंजमे।

दसविहे सवरे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदियसंवरे जाव फासिंदियसंवरे, मण-

संवरे, वय-संवरे, काय-संवरे, उवकरण-संवरे, सूईकुसग्गसंवरे ।

दसविहे असंवरे पण्णत्ते, तं जहा—सोइंदिय-असंवरे जाव सूईकुसग्ग-असंवरे ।६।

छाया — दशविधः संयमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा-पृथिवीकायिक-संयमो यावत् वनस्पतिकाय-संयमः, द्वीन्द्रिय-संयमः, त्रीन्द्रिय-संयमः, चतुरिन्द्रिय-संयमः, पञ्चेन्द्रिय-सयमः, अजीवकाय-सयमः ।

दशविधोऽसंयमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा-पृथिवीकायिकोऽसंयमः, अप्कायिकोऽसंयमः, तेजस्कायिकोऽसंयमः, वायु-कायिकोऽसयमः, वनस्पति-कायिकोऽसंयमः यावद् अजीव-कायासंयमः ।

दशविधः संवरः प्रज्ञप्तस्तद्यथा श्रोत्रेन्द्रियसवरो यावत् स्पर्शेन्द्रिय-संवरः, मनः-सवरः, वाक्-सवर, काय-सवरः, उपकरण-सवरः, सूचीकुशाग्र-सवरः ।

दशविधोऽसवरः प्रज्ञप्तस्तद्यथा श्रोत्रेन्द्रियासवरो यावत् सूचीकुशाग्रासंवरः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दस तरह का संयम वर्णन किया गया है, यथा-पांच स्थावरों की यत्न-पूर्वक रक्षा करना तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय जीवों की रक्षा करना एवं अजीव पदार्थो को यत्न पूर्वक ग्रहण करना ।

दस प्रकार का असंयम वर्णन किया गिया है, यथा—पृथ्वीकाय-असंयम, अप्काय-असंयम, तेजस्काय-असंयम, वायु-काय असयम, वनस्पति काय-असंयम से लेकर अजीव-काय-असंयम तक ।

दशविध संवर वर्णन किया गया है, जैसे श्रोत्रेन्द्रिय से लेकर स्पर्शनेन्द्रिय तक पांच इन्द्रियो का संवर और मनः-संवर, वाक्-संवर, काय-संवर, जीवनोपयोगी उपकरणो को यत्न पूर्वक ग्रहण करना रूप उपकरण-संवर एवं सूचीकुशाग्र मात्र पदार्थ भी बिना यत्न से न ग्रहण करना रूप संवर ।

दस प्रकार का असंवर कहा गया है,—श्रोत्रेन्द्रिय-असंवर से लेकर सूची-कुशाग्र-असंवर तक ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे क्रोधोत्पत्ति के कारणों पर प्रकाश डाला गया है, क्रोध पर सयम एव सवर आदि द्वारा ही विजय पाई जाती है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार उत्थान और पतन के मूल कारणो का अर्थात् सयम-सवर और असंयम-असवर का वर्णन करते हैं ।

हिंसा से निवृत्त होना सयम है और हिंसा मे प्रवृत्त होना असयम। कर्मबध के सभी कारणो का निरोध करना सवर है और निषिद्धाच एव विवेकहीनता असवर है। इनमे सयम और सवर उन्नति के कारण हैं, असयम एव असंवर ये दो अवनति के मूल कारण हैं।

पांच स्थावर जीवों, चार त्रस जीवो और अजीवकाय, इन दस के साथ यतना पूर्वक व्यवहार करना ही सयम है।

वस्त्र-पात्र, पुस्तक आदि छोटे-वडे पदार्थों को यतना पूर्वक व्यवहार में लाने को ही अजीव-काय-सयम कहा गया है।

सयम मे विपरीत आचरण असयम कहलाता है। पृथिवीकायिक जीवों की यतना न करना, इसी तरह अप्कायिक जीवो की यतना न करना, तेजस्कायिक, वायु-कायिक एव वनस्पति-कायिक जीवों की यतना न करना द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एव पचेन्द्रिय जीवों की यतना न करना तथा उपयोग में आने वाले अजीव पदार्थों को यतना से काम में न लाना असयम है। पृथिवीकाय का सब से पहले कथन करने का प्रयोजन यह है कि यह सब प्राणियों का आधार भूत है। शेष काय इसमे आधेय रूप से रहते है, अतः इस का सर्व प्रथम उल्लेख करना युक्ति-सगत है।

जिस प्रकार सयम और असंयम का वर्णन किया गया है, ठीक उसी प्रकार दस सवरो और दस असवरों का भी वर्णन किया गया है। इन्द्रियो और योगो की अशुभ प्रवृत्ति से आते हुए कर्मों को रोकना सवर है, अर्थात् पांचों इन्द्रियो एव मन, बचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियो को रोकना तथा उन्हे शुभ व्यापार में लगाना सवर है। जिन वस्त्रों के पहनने से हिंसा हो, अथवा जो वस्त्र-पात्र आदि अकल्पनीय हो उन्हे न ग्रहण करना, बिखरे हुए वस्त्र आदि को समेट कर रखना उपकरण-सवर है।

साधु के पास दो प्रकार के उपकरण होते हैं औधिक और औपग्रहिक। जो वस्त्र-पात्रादि उपधि एक बार लेकर पुनः वापिस न लोटाई जाए, उसे औधिक कहते है। जिस को पुन. लोटाया जाए, उस उपधि को औपग्रहिक कहते हैं। जैसे कि मकान, सूई, कैंची आदि। समग्र औधिक उपधि की अपेक्षा से उपकरण-सवर कहा गया है।

सूई और कुशाग्र आदि पदार्थ शरीर के विघातक होने से किसी के शरीर में चुभने का डर रहता है, अतः उन सब को समेट कर रखनी 'सूचो-कुशाग्र-सवर है'। सामान्य रूप से यह सवर सभी औपग्रहिक उपधियो के लिये है।

पहले आठ सवर भाव-सवर है और शेष दो सवर द्रव्य-सवर हैं। राग-द्वेष से दूर रह कर ही यतना एव विवेक सुरक्षित रह सकता है। यतना मे सवर है। सवर ही जीव को मोक्ष-प्राप्ति के योग्य बनाता है।

सवर से विपरीत अर्थात् कर्मो के आगमन-मार्ग को खुला रखना असवर है। इस के भी सवर की तरह दस भेद है। बेलगाम घोड़ों की तरह, निरकुश हाथी की तरह इन्द्रियो को खुला छोड़ने से, मन का निग्रह न करने से, वाणी को नियत्रित न रखने से, काय को वश में न रखने से और

औघिक तथा औपग्रहिक उपकरणों को यतना पूर्वक न रखने से असवर जागृत होता है और असंवर से आत्मा का पतन होता है।

लोक-व्यवहार में भी असंवर निन्दनीय है। सवर लोकमान्य धर्म है और असवर अधर्म है। अतः प्रत्येक साधक को संयम और सवर की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

इनका पालन करना ही चारित्र है। चारित्र नए कर्मों को रोकता है और पूर्व वद्ध कर्मों को क्षय करता है।

यद्यपि संवर एवं संयम की ग्राह्यता एव उपयोगिता से ही असवर और असंयम की अग्राह्यता ध्वनित हो जाती है, फिर भी शास्त्रकार ने असयम और असंवर का उल्लेख करके इनसे बचे रहने की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता पर प्रकाश डाला है। ●

अहंकारोत्पत्ति के कारण

मूल—दसहिं ठाणेहिं अहमंतीइ थंभिज्जा, तं जहा—जाइमएण वा, कुलमएण वा जाव इस्सरियमएण वा, णागसुवन्ना वा मे अंतियं हव्वमागच्छंति, पुरिसधम्माओ वा मे उत्तरिए अहोहिए णाणदंसणे समुप्पन्ने ।७।

छाया—दशभिः स्थानैरहमन्तीति स्तम्नीयात्, तद्यथा—जातिमदेन वा, कुलमदेन वा यावदैश्वर्यमदेन वा, नागसुपर्णा वा मे अन्तिकं शीघ्रमागच्छन्ति, पुरुषधर्माद्वा मे औत्तरिकमवधिज्ञानदर्शनं समुत्पन्नम्।

शब्दार्थ—दसहिं ठाणेहिं—दश कारणो से; अहमंतीइ थंभिज्जा, तं जहा—कोई भी व्यक्ति "मैं सर्वाधिक हूं", इस प्रकार के अहकार से ग्रस्त हो जाना है जैसे—जाइमएण वा—जातिमद के कारण; कुलमएण वा—कुलमद के कारण, जाव इस्सरियमएण वा—यावत् ऐश्वर्यमद से; णागसुवन्ना वा मे अंतियं हव्वमागच्छंति—मेरे पास नागकुमार तथा सुपर्णकुमार देव शीघ्र उपस्थित होते है, पुरिसधम्माओ वा—ज्ञान पुरुषधर्म है, अतः, मे उत्तरिए—मुझे उस से प्रधान; णाणदसणे समुप्पन्ने—अवधिज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो रहा है, इस कारण उस ज्ञानदर्शन की दृष्टि से मैं सब से बढ़-चढ कर हूं।

मूलार्थ—दश कारणों से अहंभाव की उत्पत्ति होती है, यथा—जातिमद से, कुल मद से लेकर ऐश्वर्यमद तक आठ कारणों से, नागकुमार तथा सुपर्णकुमार

देव मेरे पास आते हैं, इस अभिमान से। ज्ञान तो पुरुपमात्र को है, परन्तु मुझे सब से अधिक अवधिज्ञान तथा दर्शन उत्पन्न हो रहा है, इस से भी अहंभाव उत्पन्न होता है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र के अन्तिमाश में असंवर का वर्णन किया गया है, अहंकार करना भी असवर है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे अहकार उत्पन्न होने के दस कारण बतलाए गए हैं। जैसे कि—जातिमद से अहंकार होता है, कुलमद से अहकार होता है, बलमद से भी अहकार होता है, रूपमद से अहकार होता है, श्रुतमद से अहंकार होता है, तप-मद से अहकार होता है, लाभ-मद से अहकार होता है और ऐश्वर्यमद से भी अहकार होता है। इन आठ मदस्थानो की व्याख्या आठवे स्थान में की जा चुकी है।

मैं कितना सौभाग्यशाली हूं कि मेरे पास नागकुमार तथा सुपर्ण कुमार आदि जाति के देव भी पर्युपासनार्थ आते हैं, और वे मेरी सेवा करते रहते है। इस भाव से भी अहकार की उत्पत्ति होती है।

छद्मस्थ अवस्था में जितना ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होना चाहिए उतना मुझ में उत्पन्न हो ही चुका है, इतना बड़ा ज्ञान-दर्शन मेरे समकालीन अन्य किसी व्यक्ति को प्राप्त नही हुआ, जितना कि मुझे हुआ है। इस मद-भावना से भी अहकार हो जाता है।

सूत्रकार ने जो 'अहमंतीइ' पद दिया है यह तीन शब्दो से बना है। इस का पदच्छेद है—अहम्-अन्ता-इति। इसका अर्थ है—जाति आदि मे जिस को उत्कृष्ट अहभाव हो—मैं अन्य की अपेक्षा अतिशय वाला हूं।[1]

'अन्त' शब्द का अर्थ जाति आदि का प्रकर्ष है। यह प्रकर्ष जिस मे होता है, वह अन्ती है। मैं ही अन्ती हूं अर्थात् जाति आदि से उत्तम हू। ऐसे अभिमानी को "अहमन्ती" कहते हैं। अहमन्ती जीव उक्त दस कारणो से होता है। वैभव या प्रभुता का मद करना ऐश्वर्यमद है।

इस जन्म में जिस बात का अहकार किया जाता है, आगामी जन्म में वह प्राणी उस बात से हीनता को प्राप्त होता है, अत आत्मार्थी को किसी प्रकार का मद नही करना चाहिये। जाति व कुल-मद से सूत्रकार ने जीवों को ऊच या नीच होने का निषेध किया है। भगवान ने समभाव का उपदेश दिया है। आत्मा न ऊच है और न नीच है और सभी सांसारिक पदार्थ नाशवान् हैं फिर नाशवान् पदार्थो के ऊपर अहभाव कैसा? अभिमान ही पतन का कारण है। अहभाव आत्मा में कठोरता पैदा करता है उसे हटाने पर ही जीव विनयशील बनता है।

---

[1] "अहमंती" ति अहं अंता इति अन्तो-जात्यादिप्रकर्षपर्यन्तोऽस्यऽस्तीति—अन्त:, अहमेव जात्यादिभिरुत्तमतया पर्यन्तवर्ती, अथवाऽनुस्वारप्राकृततयेति—अह अति.—अतिशयवानिति एवं विधोल्लेखेन। इतिवृत्तिकार।

समाधि और असमाधिके कारण

मूल—दसविहा समाही पण्णत्ता, तं जहा—पाणाइवायवेरमणे, मुसावायवेरमणे, अदिन्नादानवेरमणे, मेहुणवेरमणे, परिग्गहवेरमणे, ईरियासमिई, भासा-समिई, एसणासमिई, आयाण-भंड-मत्त-णिक्खेवणा-समिई, उच्चार-पासवण-खेल-जल-सिंघाणग-परिट्ठावणियासमिई ।

दसविहा असमाही पण्णत्ता, तं जहा—पाणाइवाए जाव परिग्गहे, ईरिया-समिई जाव उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाणग-परिट्ठावणियाऽसमिई ।८।

छाया—दशविधः समाधिः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्राणातिपातविरमणं, मृषावाद-विरमणं, अदत्ता-दान-विरमण, मैथुन-विरमण, परिग्रह-विरमणं, ईर्यासमितिः, भाषासमितिः, एषणा-समितिः, आदान - भाण्ड-मात्र-निक्षेपणा-समितिः, उच्चार-प्रश्रवण - श्लेष्म-जल्ल-शिंघानकपरिष्ठापनिकासमितिः ।

दशविधोऽसमाधिः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्राणातिपातो यावत् परिग्रहः, ईर्याऽसमितिर्यावद् उच्चार-प्रश्रवण-श्लेष्म-शिंघानक-परिष्ठापनिकाऽसमितिः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दस प्रकार की समाधि का वर्णन किया गया है, जैसे कि—प्राणातिपात-विरमण, मृषावाद-विरमण, अदत्ता-दान-विरमण, मैथुन-विरमण, परि-ग्रह-विरमण, ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षेपणा-समिति, उच्चार-प्रश्रवण-श्लेष्म - जल्ल - शिंघाण-परिष्ठापनिका समिति ।

असमाधि दस प्रकार की वर्णन की गई है, प्राणतिपात से लेकर परिग्रह तक पाच प्रकार की असमाधि और ईर्याअसमिति से लेकर उच्चार-प्रश्रवण-श्लेष्म-शिंघानक-परिष्ठापनिका-असमिति तक पांच प्रकार की असमाधि ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे अहकारोत्पत्ति के कारणों का वर्णन किया गया है, उन कारणों के परित्याग से ही समाधि प्राप्त हो सकती है ।

अत: प्रस्तुत सूत्र मे दस प्रकार की समाधि का वर्णन किया गया है। समता मे रहना ही

समाधि है। यह योगसाधना का वह चरम फल है जिससे मनुष्य सब क्लेशों से मुक्त होकर अनेक प्रकार की शक्तियां प्राप्त करता है, ध्यान में दृढता प्राप्त कर आत्मा मे तल्लीन होता है। मानसिक झगड़ों का अंत कर अपूर्व आनन्द में मग्न होता है और साथ ही शारीरिक नैरोग्य भी पाता है। समाधि दस कारणों से जीव को प्राप्त होती है अथवा दस प्रकार की समाधि होती है, जैसे कि—

१ प्राणातिपात-विरमण—किसी भी प्राणी के प्राणो का वध न करना। इस महाव्रत से सम-भाव की भावना सम्पन्न होती है।

२. मृषावाद-विरमण—असत्य भाषण एवं असत्य व्यवहार का सर्वथा परित्याग करना। इस महाव्रत से पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने की शक्ति प्राप्त होती है।

३ अदत्तादान-विरमण—बिना दी हुई वस्तु को किसी भी रूप में ग्रहण न करना। इस महाव्रत से चोरी का त्याग मर्यादित क्षेत्र में रहने की शिक्षा और समाज-हित की भावना जागृत होती है।

४ मैथुन-विरमण—मैथुन का सर्वथा त्याग करना। इस महाव्रत मे शिक्षा दी गई है कि शारीरिक वाचिक एवं आध्यात्मिक शक्ति के विकास में मुख्य साधन ब्रह्मचर्य ही है और ब्रह्मचर्य से मानसिक एवं शारीरिक दृढता प्राप्त होती है।

५. परिग्रह-विरमण—किसी भी जड-चेतन पर आसक्ति न रखना। इस महाव्रत से शिक्षा प्राप्त होती है कि सांसारिक पदार्थों मे अनासक्त रहना चाहिए, क्योंकि आसक्ति ही सब पापों की जननी है।

६. ईर्यासमिति—ज्ञान एवं विवेक पूर्वक गमन-क्रिया मे प्रवृत्ति करना। इस मे स्व-पर की रक्षा निहित है।

७. भाषा-समिति—मानसिक शान्ति, सामाजिक एवं पारिवारिक शान्ति भंग करनेवाली भाषा न बोलना। इससे शास्त्र-सम्मत एवं सत्यपूत वचन बोलने की प्रवृत्ति जागृत होती है।

८. एषणा-समिति—शुद्ध, सादे एवं निर्दोष आहार की गवेषणा करना। इससे महाव्रतो की रक्षा करते हुए शरीर की रक्षा करने का तथा वृत्ति-संक्षेप तप और संतोष रखने की पवित्र भावना जागृत होती है।

९. आदान-भांडमात्र-निक्षेपणासमिति—धर्मोपकरणो को यतना से उठाना और रखना। इस से अयतना से निवृत्ति और यतना में सतत प्रवृत्ति का अभ्यास बढ़ता है।

१०. उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष्म-जल्ल-शिंघाण-परिष्ठापनिका-समिति—मल-त्याग, मूत्रत्याग, खखार तथा कफ आदि शारीरिक मलो को शास्त्रोक्त रीति से एकान्त में त्यागना, घृणास्पद वस्तुओं को जहां-तहां फेंकना, थूकना, सिनकना धर्मविरुद्ध और लोक-विरुद्ध-व्यवहार हैं। इस समिति से शिक्षा मिलती है कि धर्मविरुद्ध और लोक-व्यवहार-विरुद्ध कोई भी कार्य साधक का नही करना चाहिए।

योगनिष्ठ और आत्म-समाधि के इच्छुक की समाधि एवं शान्ति तभी तक स्थिर रह सकती है, जब तक कि उक्त दस बातों का पालन सम्यक्तया किया जाए। समाधिस्थ रहना ही मुमुक्षु का परम कर्त्तव्य है। उसे आत्म-समाधि को सुरक्षित रखने के लिये सतत अप्रमत्त रहना चाहिए। ये

दस शिक्षाए प्रत्येक व्यक्ति के लिये हितकर है।

हिंसा करने से, झूठ बोलने से, चोरी करने से, दुराचार करने से, आसक्ति रखने से, बिना देखे चलने से, बिना विचारे बोलने से, सदोष आहार ग्रहण करने से, बिना यतना के किसी भी छोटी बड़ी वस्तु को उठाने एव रखने से, मल-मूत्र आदि घृणाजनक वस्तुओं को जहा-तहा फैंकने से स्व-पर में असमाधि उत्पन्न होती है। ये सब असमाधि उत्पन्न होने के कारण है। साधको के लिये यही उचित है कि वे असमाधि के कारणो को छोड़कर समाधि के कारणो को अपनाए, तभी उनकी साधना कल्याणकारिणी हो सकती है। ससार के अभिमुख प्राणी प्रायः असमाधि के कारणों में समाधि की खोज किया करते है, इसीलिये वे सुख-शान्ति पाने में सदैव असफल ही रहते है। भगवान महावीर का कथन है कि समाधिस्थ रहकर ही जीव को सादि-अनन्त समाधि प्राप्त हो सकती है। ❂

प्रव्रज्या, श्रमणधर्म और वैयावृत्य

मूल—दसविहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—

छंदा रोसा परिज्जुन्ना, सुविणा पडिस्सुया चेव।
सारणिया रोगिणीया, अणाढिया देवसन्नत्ती वच्छाणुबंधिया॥

दसविहे समण-धम्मे पण्णत्ते, तं जहा—खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, बंभचेरवासे।

दसविहे वेयावच्चे पण्णत्ते, तं जहा—आयरिय-वेयावच्चे, उवज्झाय-वेयावच्चे, थेर-वेयावच्चे, तवस्सि-वेयावच्चे, गिलाण-वेयावच्चे, सेह-वेयावच्चे, कुल-वेयावच्चे गण-वेयावच्चे, संघ-वेयावच्चे, साहम्मिय-वेयावच्चे ।९।

छाया—दशविधा प्रव्रज्या प्रज्ञप्ता, तद्यथा—

छन्दा रोषा परिद्यूना, स्वप्ना प्रतिश्रुता चैव।
स्मारणिका रोगिणिका, अनादृता देवसंज्ञप्तिः वत्सानुबन्धिका॥

दशविधः श्रमणधर्मः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—क्षान्तिः, मुक्तिः, आर्जवं, मार्दवं, लाघवं, सत्यं, संयमः, तपः, त्यागः, ब्रह्मचर्यवासः।

दशविध वैयावृत्य प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आचार्य-वैयावृत्यम्, उपाध्याय-वैयावृत्यम्, स्थविर-वैयावृत्यम्, तपस्वि-वैयावृत्यम्, ग्लानवैयावृत्यम्, शैक्षवैयावृत्यम्, कुलवैयावृत्यम्, गण-वैयावृत्यम्, संघवैयावृत्यम्, सार्धमिकवैयावृत्यम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दस प्रकार की प्रव्रज्या प्रतिपादन की गई है, जैसे—स्वकीय अभिप्राय से, यथा श्री गौतम स्वामी जी। रोष से, जैसे—शिवभूति। दारिद्रय से, यथा—काष्ठकवाहक। स्वप्न से, यथा—पुष्पचूला। प्रतिज्ञा से, यथा—शालिभद्र के भगिनी-पति। स्मरण कराने से, यथा—मल्लीनाथ जी ने छह मित्रो को पूर्व जन्म का स्मरण कराया। रोग से, यथा—सनत्कुमार चक्रवर्ती। अनादर से, यथा—नन्दिषेण। देवो के प्रतिवोध से, यथा—मैतार्य मुनि। पुत्र के स्नेह से, यथा—भृगुपुरोहित।

दश प्रकार का संयम वर्णन किया गया है, यथा—क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम, तप, दान, ब्रह्मचर्यवास।

दश प्रकार का वैयावृत्य वर्णन किया गया है, यथा—आचार्य-वैयावृत्य, उपाध्याय-वैयावृत्य, स्थविर-वैयावृत्य, तपस्वी-वैयावृत्य, रोगी-वैयावृत्य, शैक्ष-वैयावृत्य, कुल-वैयावृत्य, गण-वैयावृत्य, सघ-वैयावृत्य, साधर्मिक-वैयावृत्य।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे समाधि का वर्णन किया गया है। उस समाधि का आश्रय सुप्रव्रज्या है और असमाधि का आश्रय दुष्प्रव्रज्या है। प्रव्रज्या का अर्थ है—गृहवास का परित्याग कर सयम-मार्ग मे गमन करना। प्रव्रज्य, दीक्षा का पर्यायवाची शब्द है। प्रव्रज्या आत्म-विकास मे मुख्य साधन है, उस साधन की प्राप्ति में दस कारण उपस्थित होते है। जव कोई व्यक्ति दीक्षित होता है, तव वह निम्नलिखित दस कारणो में से किसी एक कारण से ही दीक्षित हुआ करता है, जैसे कि—

१. छन्द—अपनी इच्छा से या दूसरे की इच्छा से दीक्षित होना। जैसे जम्बूस्वामी ने अपनी इच्छा से प्रव्रज्या ग्रहण की थी और भवदत्त ने अपने वडे भाई की इच्छा से दीक्षित जीवन स्वीकार किया था।

२. रोष—यदि किसी कारण से घर में कलह उत्पन्न हो गया हो, तो रोष भी दीक्षा का एक कारण हो जाता है, जैसे शिवभूति ने रोष के कारण दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

३. परिद्यून—अर्थात् दरिद्रता से। परिश्रम करने पर भी यदि धन की प्राप्ति नही होती है तो उस समय सम्यक् विचार होने पर दीक्षा भी ग्रहण की जा सकती है। जैसे कि एक लकडहारे ने निर्धनता के वशीभूत होकर प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

४ स्वप्न—स्वप्न मे कोई ऐसा कारण देखा या सुना जाय, जिस से वैराग्य उत्पन्न हो जाय या स्वप्न मे दीक्षा लेना। पुष्पचूला ने स्वप्न निमित्त से ही दीक्षा ग्रहण की थी।

५. प्रतिश्रुत आवेश मे आकर या प्रतिज्ञा ग्रहण कर दीक्षा लेना, जैसे कि शालीभद्र के बहनोई धन्ना सेठ न दीक्षा ली थी।

६. स्मारणिका—पूर्व भव की बात याद दिलाने से या जाति-स्मरण ज्ञान होने से भी अनेक भव्य जीवों का दीक्षा लेना, जैसे कि भगवान मल्लिनाथ के द्वारा पूर्व भव का स्मरण कराने पर प्रतिबुद्धि आदि छह राजाओ ने दीक्षा ली और भगवान महावीर ने सुदर्शन श्रेष्ठी को दीक्षित किया।

७. रोगणिका—रोग के कारण ससार से विरक्ति धारण कर दीक्षा लेना, जैसे सनत्कुमार चक्रवर्ती की दीक्षा हुई।

८. अनादर—किसी के द्वारा तिरस्कृत होने पर ली गई दीक्षा, जैसे नन्दिषेण ने दीक्षा ली।

९. [illegible]-सज्ञप्ति—देव के द्वारा प्रतिबोध देने पर ली गई दीक्षा, जैसे तेतली प्रधान मत्री ने दीक्षा ली।

१०. वत्सानुबंधिका—पुत्र के स्नेह से दीक्षित होना, जैसे भृगु पुरोहित ने तथा वयर स्वामी की माता ने प्रव्रज्या ग्रहण की।

ये दस कारण दीक्षा ग्रहण करने के बताए गए हैं। यदि लघुकर्मा जीव होगा, तो उसको इन मे से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर दीक्षा की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नही। जो कार्य-सिद्धि में असाधारण कारण हो तथा जो कार्य-सिद्धि के अत्यन्त निकट हो, वही निमित्त कहलाता है। जमे हुए घी को पिघलाने में उष्णता निमित्त है, किन्तु पत्थर के लिये वह निमित्त नही है। इसी तरह जिस जीव की भूमिका संयम लेने की हो, उसी के लिये उक्त दस निमित्त प्रव्रज्या ग्रहण करने के हैं।

श्रमण धर्म—

प्रव्रज्या शब्द का अर्थ है श्रमण-धर्म की ओर गमन करना। श्रमण धर्म दस प्रकार का होता है। श्रमणत्व की आराधना किये बिना चारित्र निखरता नही है, चारित्र-शुद्धि के बिना आत्म-शुद्धि नही होती और आत्म-शुद्धि के बिना निर्वाण-प्राप्ति नही हो सकती। अत: श्रमण धर्मके दस भेदो का विवरण इस प्रकार है—

१. क्षान्ति—क्रोध पर विजय पाना, क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी शान्ति को भग न होने देना।

२. मुक्ति—भौतिक वस्तुओ पर बिल्कुल भी आसक्ति न रखना अर्थात् संतोष धारण करना।

३. आर्जव—कपट रहित होना, प्रतिक्षण अपनो और परायों से निष्कपटता का व्यवहार करना।

४. मार्दव—अभिमान पर विजय पाना। मान उत्पन्न होने के कारण उपस्थित होते हुए भी अहकार न करना, विनम्र एव विनीत बनकर रहना।

५. लाघव—कर्मों के भार से तथा दोषों के भार से या परिग्रह के भार से हल्का होना।

६. सत्य—हितकारी एव मधुर वचन बोलना।

७. संयम—पांच इन्द्रियो का दमन करना, चार कषायों पर विजय पाना, योग प्रवृत्तियो पर अकुश रखना, पाच महाव्रतों का पालन करना, ये सब संयम के ही प्रकार हैं।

८. तप—इच्छाओं का निरोध करना, कष्टों को सहन करना।

९. त्याग—सुपात्र को दान देना। अथवा किसी वस्तु पर से अपना स्वत्व हटा लेना।

१०. ब्रह्मचर्यवास—नववाड़ सहित ब्रह्मचर्य का पालन करना।

ये दस लक्षण धर्म के माने जाते हैं। जैनेतर सप्रदायों में भी धर्म के दस लक्षण बतलाए गए हैं। धर्म के दस भेदों का सभी संप्रदायों ने बड़े आदर से स्वागत किया है।

सेवनीय महापुरुष और वैयावृत्य

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान अर्थात् रोगग्रस्त, नवदीक्षित, कुल, गण, संघ और साधर्मिक, इन की सेवा करना ही वैयावृत्य है। वैयावृत्य का अर्थ है—सयम के अनुरूप सेवा, अन्न-पान, वस्त्र, औषध शिक्षा आदि से उपास्य की सुश्रूषा करना। वैयावृत्य सवर और निर्जरा का कारण है तथा पुण्य का भी।

उक्त दस जनों की सेवा करते हुए मनुष्य को यदि उत्कृष्ट रस आ जाए, तो तीर्थंङ्कर नाम-गोत्र का बध भी हो सकता है। उपर्युक्त दस प्रकार के धर्म का पालन करने पर तो कोई व्यक्ति तीर्थङ्कर-नाम-गोत्र का बध करे या न भी करे, किन्तु वैयावृत्य परायण सेवक तीर्थङ्कर नाम-गोत्र का बध भी कर सकता है। सेव्य महान हो या लघु, किन्तु सेवक भी कभी-कभी महान बनने में बाजी जीत लेता है।

जीव और अजीव परिणाम

मूल—दसविहे जीवपरिणामे पण्णत्ते, तं जहा—गइपरिणामे, इंदियपरिणामे, कसायपरिणामे, लेसापरिणामे, जोगपरिणामे, उवओगपरिणामे, णाण-परिणामे, दंसणपरिणामे, चरित्तपरिणामे, वेयपरिणामे।

दसविहे अजीवपरिणामे पण्णत्ते, तं जहा—बधणपरिणामे, गइपरिणामे, संठाणपरिणामे, भेदपरिणामे, वण्णपरिणामे, रसपरिणामे, गंधपरिणामे, फासपरिणामे, अगुरुलहुपरिणामे, सद्दपरिणामे।१०।

छाया—दशविधो जीवपरिणामः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—गतिपरिणामः, इन्द्रियपरिणामः, कषायपरि-

णामः, लेश्यापरिणामः, योगपरिणामः, उपयोगपरिणामः, ज्ञानपरिणामः, दर्शनपरिणामः, चारित्रपरिणामः, वेदपरिणामः ।

दशविधोऽजीवपरिणामः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—बन्धनपरिणामः, गतिपरिणामः, संस्थानपरिणामः, भेदपरिणामः, वर्णपरिणामः, रसपरिणामः, गन्धपरिणामः, स्पर्शपरिणामः, अगुरुलघुपरिणामः, शब्दपरिणामः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जीव-परिणाम दस प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे कि गति-परिणाम, इन्द्रिय-परिणाम, कषाय-परिणाम, लेश्या-परिणाम, योग-परिणाम, उपयोग-परिणाम, ज्ञान-परिणाम, दर्शन-परिणाम, चारित्र-परिणाम और वेद-परिणाम ।

दश प्रकार का अजीव परिणाम कथन किया गया है, जैसे—बन्धन-परिणाम, गतिपरिणाम, संस्थान-परिणाम, भेद-परिणाम, वर्ण-परिणाम, रस-परिणाम, गन्ध-परिणाम, स्पर्श-परिणाम, अगुरुलघु-परिणाम, शब्द-परिणाम ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे वैयावृत्त्य का वर्णन किया गया है। वैयावृत्य भी जीव का एक योग परिणाम है। अतः प्रस्तुत सूत्र में जीव के दस प्रकार के परिणामो का वर्णन किया गया है। एक रूप को छोड कर दूसरे रूप मे परिवर्तित हो जाना अथवा विद्यमान पर्याय को छोड़ कर नवीन पर्याय को धारण कर लेना परिणाम कहलाता है।[1]

द्रव्यार्थिकनय[2] से सभी पदार्थ नित्य एव ध्रुव है, किन्तु पर्यायार्थिक नय से सभी पदार्थ अनित्य एवं अध्रुव है क्योकि उन मे उत्पाद और व्यय का क्रम निरन्तर चलता ही रहता है। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि सदैव ध्रुव की ओर रहती है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि उत्पाद और व्यय की ओर केन्द्रित रहती है। इस की दृष्टि मे ऐसा कोई पदार्थ नही है, जिस में उत्पाद और व्यय न होते हो।

---

१ "परिणामे"त्यादि परिणमन परिणामस्तद्भावगमनमित्यर्थः, यदाह—

परिणामो ह्यर्थान्तरगमन न च सर्वथा व्यवस्थानम् ।
न च सर्वथा विनाश परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥

२ द्रव्यार्थनयस्येति—

सत्पर्ययेण नाश. प्रादुर्भावऽसता च पर्ययत. ।
द्रव्याणा परिणामः प्रोक्तः खलु पर्ययनयस्य ॥

५. लाघव—कर्मों के भार से तथा दोषो के भार से या परिग्रह के भार से हल्का होना।

६. सत्य—हितकारी एव मधुर वचन बोलना।

७ संयम—पांच इन्द्रियों का दमन करना, चार कषायों पर विजय पाना, योग प्रवृत्तियो पर अकुश रखना, पांच महाव्रतो का पालन करना, ये सब संयम के ही प्रकार है।

८. तप—इच्छाओं का निरोध करना, कष्टो को सहन करना।

९. त्याग—सुपात्र को दान देना। अथवा किसी वस्तु पर से अपना स्वत्व हटा लेना।

१०. ब्रह्मचर्यवास—नववाड़ सहित ब्रह्मचर्य का पालन करना।

ये दस लक्षण धर्म के माने जाते हैं। जैनेतर सप्रदायो में भी धर्म के दस लक्षण बतलाए गए हैं। धर्म के दस भेदों का सभी सप्रदायो ने बड़े आदर से स्वागत किया है।

सेवनीय महापुरुष और वैयावृत्य

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान अर्थात् रोगग्रस्त, नवदीक्षित, कुल, गण, सघ और सार्धमिक, इन की सेवा करना ही वैयावृत्य है। वैयावृत्य का अर्थ है—सयम के अनुरूप सेवा, अन्न-पान, वस्त्र, औषध शिक्षा आदि से उपास्य की सुश्रूषा करना। वैयावृत्य सवर और निर्जरा का कारण है तथा पुण्य का भी।

उक्त दस जनो की सेवा करते हुए मनुष्य को यदि उत्कृष्ट रस आ जाए, तो तीर्थङ्कर नाम-गोत्र का वध भी हो सकता है। उपर्युक्त दस प्रकार के धर्म का पालन करने पर तो कोई व्यक्ति तीर्थङ्कर-नाम-गोत्र का बध करे या न भी करे, किन्तु वैयावृत्य परायण सेवक तीर्थङ्कर नाम-गोत्र का बंध भी कर सकता है। सेव्य महान हो या लघु, किन्तु सेवक भी कभी-कभी महान बनने मे बाजी जीत लेता है।

जीव और अजीव परिणाम

मूल—दसविहे जीवपरिणामे पण्णत्ते, तं जहा—गइपरिणामे, इंदियपरिणामे, कसायपरिणामे, लेसापरिणामे, जोगपरिणामे, उवओगपरिणामे, णाणपरिणामे, दंसणपरिणामे, चरित्तपरिणामे, वेयपरिणामे।

दसविहे अजीवपरिणामे पण्णत्ते, तं जहा—बंधणपरिणामे, गइपरिणामे, संठाणपरिणामे, भेदपरिणामे, वण्णपरिणामे, रसपरिणामे, गंधपरिणामे, फासपरिणामे, अगुरुलहुपरिणामे, सद्दपरिणामे।१०।

छाया—दशविधो जीवपरिणामः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—गतिपरिणामः, इन्द्रियपरिणामः, कषायपरि-

णामः, लेश्यापरिणामः, योगपरिणामः, उपयोगपरिणामः, ज्ञानपरिणामः, दर्शनपरिणाम, चारित्रपरिणामः, वेदपरिणामः ।

दशविधोऽजीवपरिणामः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—बन्धनपरिणामः, गतिपरिणामः, संस्थानपरिणामः, भेदपरिणामः, वर्णपरिणामः, रसपरिणामः, गन्धपरिणामः, स्पर्शपरिणामः, अगुरुलघुपरिणामः, शब्दपरिणामः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जीव-परिणाम दस प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे कि गति-परिणाम, इन्द्रिय-परिणाम, कषाय-परिणाम, लेश्या-परिणाम, योग-परिणाम, उपयोग-परिणाम, ज्ञान-परिणाम, दर्शन-परिणाम, चारित्र-परिणाम और वेद-परिणाम ।

दश प्रकार का अजीव परिणाम कथन किया गया है, जैसे—बन्धन-परिणाम, गतिपरिणाम, संस्थान-परिणाम, भेद-परिणाम, वर्ण-परिणाम, रस-परिणाम, गन्ध-परिणाम, स्पर्श-परिणाम, अगुरुलघु-परिणाम, शब्द-परिणाम ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे वैयावृत्त्य का वर्णन किया गया है । वैयावृत्य भी जीव का एक योग परिणाम है । अतः प्रस्तुत सूत्र में जीव के दस प्रकार के परिणामो का वर्णन किया गया है । एक रूप को छोड़ कर दूसरे रूप मे परिवर्तित हो जाना अथवा विद्यमान पर्याय को छोड़ कर नवीन पर्याय को धारण कर लेना परिणाम कहलाता है ।[1]

द्रव्यार्थिकनय[2] से सभी पदार्थ नित्य एव ध्रुव है, किन्तु पर्यायार्थिक नय से सभी पदार्थ अनित्य एवं अध्रुव है क्योकि उन में उत्पाद और व्यय का क्रम निरन्तर चलता ही रहता है । द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि सदैव ध्रुव की ओर रहती है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि उत्पाद और व्यय की ओर केन्द्रित रहती है । इस की दृष्टि मे ऐसा कोई पदार्थ नही है, जिस मे उत्पाद और व्यय न होते हो ।

---

१. "परिणामे'त्यादि परिणमन परिणामस्तद्भावगमनमित्यर्थः, यदाह—

परिणामो ह्यर्थान्तरगमन न च सर्वथा व्यवस्थानम् ।
न च सर्वथा विनाश. परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥

२. द्रव्यार्थनयस्येति—

सत्पर्ययेण नाश. प्रादुर्भावऽसता च पर्ययत. ।
द्रव्याणा परिणामः प्रोक्तः खलु पर्ययनयस्य ॥

पर्याय दो तरह की होती है—द्रव्यपर्याय और भावपर्याय। इन में भावपर्याय के भी दो भेद हैं—विभावपर्याय और स्वभावपर्याय।

ससारी जीवो मे दस परिणाम पाए जाते हैं, जिन के नाम मूलार्थ में दिए जा चुके हैं, किन्तु उन की सक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

१. गतिपरिणाम—जीव को किसी भी गति की प्राप्ति का होना गतिपरिणाम है। गति चार प्रकार की है—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति। गति नामकर्म के उदय से जीव जब जिस गति में होता है, तब वह उसी नाम से कहा जाता है, जैसे नरकगति का जीव नारक। गतिपरिणाम भी जीव की द्रव्यपर्याय है।

२. इन्द्रियपरिणाम—जीव जिस गति में रहा हुआ है; उसे श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाच इन्द्रियो मे से किसी भी इन्द्रिय की प्राप्ति का होना इन्द्रिय-परिणाम है।

३. कषायपरिणाम—इन्द्रियों की प्राप्ति होने पर ही कषायों की परिणति होती है। क्रोध मे, मान में, माया में या लोभ मे परिणमन होना कषायपरिणाम है। ससारी जीव इन चार कषायो में से किसी न किसी कषाय मे रह कर ही अपना जीवन-व्यवहार चलाता है।

४. लेश्यापरिणाम—कषायपरिणाम होने पर लेश्या का होना अवश्यभावी है, किन्तु लेश्या के होने पर कषाय का होना अवश्यभावी नही है। क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीव के साथ शुक्ल-लेश्या उत्कृष्ट नौ वर्ष कम एक करोड़ पूर्व तक रह सकती है। कहा भी है—

"मुहुत्तद्धं तु जहन्ना उक्कोसा होइ पुव्व कोडीओ।
नवहिं वरिसेहिं ऊणा नायव्वा सुक्कलेसाए॥"

कषायो के सद्भाव में लेश्या की नियमा है और लेश्या के सद्भाव में कषाय की भजना है। लेश्याएं ६ हैं, जैसे कि—कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ललेश्या। जीव इन छ लेश्याओ में से किसी एक मे अवश्य रहता है, ससार मे रहता हुआ जीव कभी भी लेश्या रहित नही हो सकता।

५. योग-परिणाम—लेश्या सयोगी में होती है। योग के बिना लेश्या भी नही होती। जहा तक लेश्या है, वहा तक योग है। मन-वचन और काया के व्यापार को ही योग कहते है। योग का निरोध होने पर लेश्या का भी अवसान हो जाता है। ससारी जीव किसी न किसी योग मे अवश्य वर्तता है। सुषुप्तिकाल में भी काय-योग बन्द नही होता, बराबर चलता ही रहता है। वाटे वहते जीव में भी कार्मण काय योग होता है।

६. उपयोग परिणाम—ससारी प्राणियो के योग होने पर ही उपयोग होता है। अतः योग-परिणाम के बाद ही उपयोग-परिणाम हुआ करता है। साकार और अनाकार के भेद से उपयोग दो तरह का होता है। पांच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन। इन मे से पहले के आठ भेद साकार उपयोग के हैं और पीछे के चार भेद अनाकार उपयोग के हैं। इनमे जीव की परिणति का होना उपयोग-परिणाम है।

७. ज्ञान-परिणाम—उपयोग परिणाम होने पर ही ज्ञान-परिणाम होता है। मति, श्रुत,

अवधि-ज्ञान, मनःपर्यव-ज्ञान और केवलज्ञान इनमें जीव की परिणति का होना ज्ञान-परिणाम है।

८. **दर्शन-परिणाम**—चक्षु-दर्शन, अचक्षु-दर्शन, अवधि-दर्शन और केवल-दर्शन, इन में से किसी एक मे जिसका उपयोग का लगना, अथवा दर्शन के तीन भेद है—सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन, और मिश्रदर्शन इनमें से किसी एक में जीव की परिणति का होना दर्शन-परिणाम है।

९. **चारित्र-परिणाम**—सम्यग्दर्शन के पश्चात् चारित्र होता है। चारित्र के पाच भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म-संपराय और यथाख्यात। इन पांच चारित्रों में से जीव का किसी भी चारित्र में परिणत होना चारित्र-परिणाम है।

१०. **वेद-परिणाम**—काम-वासना को वेद कहते है। वह तीन प्रकार के व्यक्तियों में पाया जाता है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद में। जहा वेद है, वहा चारित्र की भजना है, किन्तु अवेदी मे चारित्र की नियमा है। यह कथन पहले से लेकर आठवे गुणस्थानवर्त्ती जीवो की अपेक्षा से किया गया है।

अजीव परिणाम

जिस प्रकार जीव के दस परिणाम बताए गए है, वैसे ही अजीव के भी दस परिणाम होते हैं। जीव-रहित पदार्थों के परिवर्तन से होने वाली उन की विविध अवस्थाओं को अजीव-परिणाम कहते है। परिणमन से ही द्रव्य परिणामी कहलाते है। इससे यह सिद्ध होता है कि अपरिणामी अर्थात् पर्याय-रहित कोई भी द्रव्य नही है। अजीव परिणाम के दस भेद इस प्रकार है, जैसे कि—

१. **बंधन-परिणाम**—विभिन्न पुद्गलो का परस्पर सम्बन्ध हो जाना ही बधन-परिणाम है। स्निग्ध और रूक्ष स्कन्धो का बध तो होता ही है। स्निग्ध और स्निग्ध का भी बध होता है तथा रूक्ष और रूक्ष का बध भी होता है, किन्तु इतना स्मरण रहे कि एक गुणवाले स्निग्ध और एक गुणवाले रूक्ष को छोडकर शेष समान गुणवाले या विषम गुणवाले स्निग्ध तथा रूक्ष का परस्पर सजातीय एव विजातीय बध हो जाता है। स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ बध सजातीय कहलाता है। स्निग्ध का रूक्ष के साथ बध होना विजातीय या विसदृश बध कहलाता है। सजातीय बध भी जघन्य गुणो की समानता होने पर नहीं होता है। विषमता में सजातीय बध होता है। तात्पर्य यह है कि यदि गुणो की विषमता हो तो विसदृश पुद्गलो का बध होता है।[1]

२. **गति-परिणाम**—अजीव द्रव्यो मे पुद्गल ही गति करता है। इसकी गति दो प्रकार की होती है—स्पृशद्गति और अस्पृशद्गति। जो पुद्गल किसी दूसरे पुद्गल को स्पर्श करता हुआ गति करता है,

---

१. समनिद्धयाए बधो न होइ, समलुक्खयाए वि न होइ।
वेमाय निद्धलुक्खत्तणेण, बधो उ खधाण ॥
निद्धस्स निद्धेण दुयाहिएण, लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिए ण।
निद्धस्स लुक्खेण उवेइ, बध जहन्न वज्जो विसमो समो वा ॥
—इतिभाष्यकारः।

वह स्पृशद्गति कहलाता है यथा प्रयत्न-विशेष से पानी के ऊपर तिरछी फेंकी हुई ठीकरी बीच मे रहे हुए पानी का स्पर्श करती हुई बहुत दूर तक नीचे चली जाती है, इसे स्पृशद्गति परिणाम कहते हैं। मध्य में रहे हुए पदार्थो को बिना स्पर्श किए जो पुद्गल की गति होती है, वह अस्पृशद्गति-परिणाम कहलाता है, जैसे गगन-चुम्बी महल के ऊपर से फेंका हुआ पत्थर बीच मे दूसरे पदार्थ को बिना स्पर्श किए एकदम नीचे पहुंच जाता है। ये दो प्रकार के गति परिणाम होते है। अथवा दीर्घगति और ह्रस्वगति। इस प्रकार गति के अनेक भेद गति-परिणाम के बन जाते हैं।

३. संस्थान-परिणाम—पुद्गल का कोई न कोई आकार होना है। आकार-प्रकार अनन्त होते हुए भी उन सबका समावेश पांच संस्थानो में हो जाता है। परिमडल, वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण और आयत, ये पांच संस्थान हैं। प्रत्येक संस्थान के अनेक-अनेक भेद है। परमाणु का कोई संस्थान नही है, किन्तु द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध तक उपर्युक्त पांच मे से वे किसी एक संस्थान को अवश्य लिए हुए हैं।

४. भेद-परिणाम—पदार्थो में भेद का होना भेद-परिणाम कहलाता है। इसके पाच भेद हैं, जैसे कि खण्ड-भेद, अनुतट-भेद, प्रतर-भेद, चूर्ण-भेद, उत्करिका-भेद। घड़े के फूट जाने पर जैसे घडा खड-खंड हो जाता है, वह खड-भेद है। बांस के अन्दर एक पोर से दूसरे पोर तक का हिस्सा अनुतट भेद कहलाता है। एक तह के बाद दूसरी तह का होना, प्रतरभेद है, जैसे अभ्रक में। किसी वस्तु के पिस जाने पर चूर्ण भेद बनता है, जैसे आटा-मैदा आदि। किसी वस्तु के छीलने या कुरेदने पर जो भेद होता है, वह उत्करिका कहलाता है, जैसे लकडी में मीनाकारी। इस प्रकार के भेद होने को भेद-परिणाम कहते हैं।

५. वर्ण-परिणाम—काला, नीला, लाल, पीला और सफेद, ये पांच वर्ण हैं। एक रग का दूसरे रंग में बदलना वर्ण-परिणाम है। जैसे हल्दी पीली है और चूना सफेद है, दोनो लाल रग के रूप में परिणत हो जाते हैं, इसको वर्ण-परिणाम कहते हैं।

६. गन्ध-परिणाम—गन्ध दो प्रकार का है, सुगन्ध और दुर्गन्ध। सुगंध का दुर्गन्ध के रूप में और दुर्गन्ध का सुगन्ध के रूप मे परिणत होना गन्ध-परिणाम है।

७. रस-परिणाम—तीखा, कडवा, कसैला, खट्टा और मीठा, इस तरह मूल रस के पांच भेद है। एक रस का दूसरे रस के रूप मे परिणत होता रस-परिणाम है।

८. स्पर्श-परिणाम—स्पर्श आठ प्रकार का होता है—कर्कश, मृदु, रूक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, उष्ण और शीत। एक स्पर्श का दूसरे स्पर्श के रूप मे परिणमन होना स्पर्श-परिणाम है।

९. अगुरु-लघु परिणाम—जो न इतना भारी हो कि नीचे चला जाए, न इतना हल्का हो कि ऊपर को चला जाए, ऐसा अत्यन्त सूक्ष्म पुद्गल अगुरु-लघु कहलाता है, जैसे परमाणु भाषा, मन, कर्म इत्यादि सब अगुरुलघु परिणामी हैं। यह वह गुण है जिसके निमित्त से द्रव्य का द्रव्यत्व बना रहता है। जो किसी की अपेक्षा से गुरु हो और किसी अपेक्षा से लघु हो, उसे गुरु-लघु कहते हैं, जैसे औदारिक शरीर, वस्त्र-पात्र आदि। इस कथन से सिद्ध होता है कि निश्चय नय के मत से पुद्गल द्रव्य दो

प्रकार के है—गुरुक और लघुक तथा व्यवहार नय के मत से पुद्गल द्रव्य के चार प्रकार है, जैसे कि गुरुक—अधोगमन स्वभाववाला वज्र आदि। लघुक—ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला धूम आदि। गुरुकलघुक—तिर्यग्गमन स्वभाववाला वायु आदि। अगुरुलघु—आकाश आदि।[1]

१०. शब्द-परिणाम—पुद्गलो का शब्द के रूप में परिणत होना शब्द-परिणाम है। इसके तीन भेद है—जीवशब्द, अजीवशब्द और मिश्रशब्द। इनके भी पुनः दो-दो भेद है शुभ और अशुभ।

इस प्रकार सूत्रकार ने जीव-परिणाम और अजीव-परिणाम का वर्णन किया है। इसका विस्तृत स्वरूप प्रज्ञापना सूत्र के परिणाम-पद से जानना चाहिए। परिणाम शब्द से यह भली-भान्ति सिद्ध हो जाता है कि द्रव्य ध्रुव होने पर भी पर्याय की दृष्टि से परिवर्तन शील है। जब आत्मा वैभाविक पर्याय से मुक्त होकर स्वाभाविक पर्याय अर्थात् निजस्वरूप में परिणत होता है, तब वही समय उसकी पूर्णता का होता है, अतः आत्मार्थियो को चाहिए कि शुद्ध परिणति के लिये प्रयत्नशील रहें। इसीमें आत्म-कल्याण है।

अस्वाध्याय काल

मूल—दसविहे अतलिक्खिए असज्झाइए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाए, दिसि-दाहे, गज्जिए, विज्जुए, निग्घाए, जूयए, जक्खालित्ते, धूमिया, महिया, रयउग्घाए।

दसविहे ओरालिए असज्झाइए पण्णत्ते, तं जहा—अट्ठि, मंसं, सोणिए, असुइसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराए, सूरोवराए, पडणे, रायवुग्गहे, उवसयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।११।

छाया—दशविधमान्तरिक्षकमस्वाध्यायिकं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—उल्कापात., दिग्दाहः, गर्जितं, विद्युत्, निर्घातः, यूपकं, यक्षादीप्तं, धूमिका, महिका, रज-उद्घातः।

दशविधमौदारिकमस्वाध्यायिकं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अस्थि, मांसं, शोणितम्, अशुचि-सामन्तं, चन्द्रोपरागः, सूर्योपरागः, पतनं, राजव्युद्ग्रहः, उपाश्रयस्यान्तम्, औदारिकं शरीरम्।

---

१. निच्छयओ सव्वगुरु सव्वलहुं वा न विज्जइ दव्वं।
बायरमिह गुरुलहुयं, अगुरुलहु सेसयं दव्वं॥
गुरुयं, लहुयं, उभयं, णोभयमिति वावहारियनयस्सा।
दव्वं लेट्ठू१, दीवो२, वाऊ३, वोम४, जहा सखं॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दशविध आकाशसम्बन्धी अस्वाध्याय कथन किया गया है, यथा–उल्कापात, दिग्दाह, गर्जित, विद्युत्, निर्घात, यूपक, यक्षादीप्त, धूमिका, महिका, रज-उद्घात।

दश प्रकार का औदारिक से सम्बन्धित अस्वाध्याय है, यथा–अस्थि, मांस, रक्त, अशुचि पदार्थ, श्मशान, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, पतन, राजविग्रह-स्थान और उपाश्रय के अन्दर किसी शव के होने पर। उक्त कारणो के होने पर स्वाध्याय वर्जित है।

विवेचनिका—

परिणामादि का ज्ञान स्वाध्याय पर निर्भर है और स्वाध्याय वही सफल होता है जो उचित समय पर किया जाता है। स्वाध्याय के लिये कौन सा समय अनुचित है ? अब सूत्रकार इसी जिज्ञासा को शान्त करते हुए कहते है—

स्वाध्याय पाच प्रकार का होना है, जैसे कि वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। इन मे मुख्यतया वाचना, परिवर्तना और धर्मकथा का ही अस्वाध्याय जानना चाहिए न कि अर्थ आदि की पृच्छना और अनुप्रेक्षा का। आकाश-सम्बन्धी अर्थात् प्राकृतिक कारणो की दृष्टि मे अस्वाध्याय दस प्रकार का वर्णन किया गया है। उसका विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि—

१. उल्कापात—जब आकाश में से गिरता हुआ तेजपुंज दिखाई देता है, जिस को लोकभाषा मे तारा टूटना कहते है। उल्कापात होने पर एक प्रहर तक स्वाध्याय करना निषिद्ध है।

२. दिग्दाह—दिशाओ मे दाह का होना। किसी दिशा मे महानगर जलने की तरह ऊपर प्रकाश और नीचे अन्धकार दिखलाई देता है, वही दिग्दाह कहलाता है। जब तक दिशा में लालिमा रहे तब तक स्वाध्याय करना निषिद्ध है।

३. गर्जित—आकाश मे गर्जना का होना। भगवती सूत्र शतक ३, उ० ७वें में लिखा है कि "गहगज्जिए" इस का अर्थ है—ग्रहों की गति विशेष से होनेवाली कडकड़ाहट या गर्जना। बादल गर्जने पर दो प्रहर पर्यन्त अस्वाध्याय-काल माना गया है।

४. विद्युत्—प्रावृट्काल को छोड़कर जब आकाश मे बिजली चमक रही हो, तब एक प्रहर तक अस्वाध्याय-काल रहता है।

५. निर्घात—आकाश मे बादलो के होने या न होने पर घोर गर्जना का होना निर्घात कहलाता है। यह भी स्वाध्याय के लिये वर्जित है।

६. यूपक—सन्ध्या की प्रभा का और चन्द्र की प्रभा का जिस काल में सम्मिश्रण हो, उसे यूपक कहते हैं। शुक्लपक्ष की एकम, दूज और तीज की रात को एक-एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

७ यक्षादीप्त—आकाश में कभी-कभी बिजली के समान चमकता हुआ यक्ष दिखाई देता है अथवा व्यन्तरदेवकृत अग्निदीपन को भी यक्षादीप्त कहते है। वह जब तक दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

८. धूमिका इसका अर्थ है—धूए जैसी काली धुन्ध, जिस से अन्धेरा-सा छा जाता है। जब तक धूमिका रहे, तब तक स्वाध्याय नही करनी चाहिए।

९. महिका—सफेद धुन्ध, तुषार का गिरना। धूमिका और महिका कार्त्तिक आदि मासों में गिरती है और गिरने के बाद ही सूक्ष्म होने के कारण अप्काय स्वरूप हो जाती है।

१०. रज-उद्घात—जब दिशाए और आकाश धूलि से भरे हुए हो, आधी चल रही हो, रेणु की वर्षा हो रही हो, रेता आकाश मे चढा हुआ हो, तब उतनी देर स्वाध्याय नही करनी चाहिए, जब तक कि रजोवृष्टि होती रहे।

इन दस अस्वाध्यायो के समय को छोडकर ही सूत्र-स्वाध्याय करना चाहिए, क्योकि इन अस्वाध्याय के समयो मे स्वाध्याय करने से कभी-कभी व्यतरजाति के देव कुछ उपद्रव भी कर देते है। अत: अस्वाध्याय मे स्वाध्याय नही करना चाहिए। निर्घात होने पर एक अहोरात्र तक अस्वाध्याय रहता है।

शास्त्रकार का यह अभिप्राय भी हो सकता है कि उल्कापात आदि के समय मानसिक एव बौद्धिक स्थिरता नही रह जाती है और बुद्धि तथा मन के अस्थिर होने पर स्मृति-भ्रश हो ज़ाता है। स्मृति-भ्रश अवस्था का स्वाध्याय निष्फल ही रहता है।

औदारिक अर्थात् स्थूल शरीर से सबन्धित अस्वाध्याय भी दस प्रकार का होता है, जैसे कि—

१. अस्थि—जहा पर हड्डिया पडी हो, वहां स्वाध्याय नही करना चाहिए।

२. मांस—जहा पर किसी भी जीव के शरीर का मांस पडा हो, वहा पर स्वाध्याय नही करना चाहिए।

३. शोणित—जिस जगह पर रुधिर से भूमि सनी हुई हो, उस स्थान पर भी स्वाध्याय नही करना चाहिए। यदि ये अशुचि पदार्थ सौ हाथ के भीतर-भीतर हों, तब अस्वाध्याय-काल माना जाता है। सौ हाथ से यदि उक्त घृणास्पद पदार्थ दूर हो, तो अस्वाध्याय-काल नही माना जाता।

४. अशुचिसामंत—आस-पास मल-मूत्र होने पर भी अस्वाध्याय होता है। जहां तक अशुचि पदार्थ दृष्टिगोचर होते हो या उनकी दुर्गन्ध आती हो, वहा तक अस्वाध्याय माना जाता है।

५. श्मशान—श्मशान भूमि से १०० हाथ के भीतर किसी स्थान पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

६. चन्द्रग्रहण—ग्रहण काल से ही अस्वाध्याय-काल प्रारम्भ हो जाता है। स्वल्प ग्रहण लगे तो ४ प्रहर, आधे से कुछ अधिक लगे तो ८ प्रहर तथा यदि परिपूर्ण ग्रहण लगे तो १२ प्रहर तक अस्वाध्याय-काल माना जाता है।

७. सूर्यग्रहण—थोड़ा ग्रहण लगे तो ८ प्रहर, अधिक लगे तो १२ प्रहर और परिपूर्ण लगे तो १६ प्रहर का अस्वाध्याय काल माना गया है। चन्द्र और सूर्य तथा राहु का विमान पृथिवी-कायिक होने से इनकी गिनती औदारिक-सम्बन्धी अस्वाध्याय में की गई है। चन्द्र का राहु के साथ या सूर्य का राहु के साथ योग मिलने से अस्वाध्याय होता है।

८. पतन—किसी राष्ट्रीय नेता का देहावसान होने पर अस्वाध्याय माना जाता है। जब तक घरो में, बाजारो में तथा कार्यालयों, विद्यालयों एव अदालतों में कार्य बद रहता है, तब तक अस्वाध्याय माना जाता है वातावरण शान्त होने पर ही स्वाध्याय करना चाहिए।

९. राज-विग्रह—जिस देश से जितने समय तक राजा आदि का संग्राम चलता रहे, तब तक अस्वाध्याय रहता है।[1]

१०. शव—जहां किसी का शव अर्थात् मुर्दा पड़ा हो तो १०० हाथ तक अस्वाध्याय-काल रहता है।

उक्त दशविध अस्वाध्याय-काल का निर्देश भी मानसिक अस्थिरता और बौद्धिक अस्थिरता के कारण ही माना गया है।

संयम और असंयम के भेद

मूल—पंचिंदियाणं जीवाणं असमारभमाणस्स दसविहे संजमे कज्जइ, तं जहा—
सोयामयाओ सुक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, सोयामएणं दुक्खेण असंजोगेत्ता भवइ। एवं जाव फासमएणं दुक्खएणं असंजोएत्ता भवइ।
एवं असंयमोवि भाणियव्वो ।१२।

छाया—पञ्चेन्द्रियान् जीवानसमारम्भमाणस्य दशविधः संयमः क्रियते, तद्यथा—श्रोत्रमयात् सौख्याद् अव्यपरोपयिता भवति, श्रोत्रमयेन दुःखेनासंयोजयिता भवति। एवं यावत् स्पर्शमयेन दुःखेन असयोजयिता भवति।
एवमसयमोऽपि भणितव्यः।

शब्दार्थ—पंचिंदियाणं जीवाण—पचेन्द्रिय जीवो के; असमारभमाणस्स—असमारम्भ से;

---

१. अस्वाध्यायो का विस्तृत वर्णन व्यवहार भाष्य और निर्युक्ति उ० ७ से जानना चाहिए।

दसविहे सजमे कज्जइ—दश प्रकार का सयम किया जाता है, जैसे; सोयामयाओ सुक्खाओ—श्रोत्रेन्द्रिय के सुख से; अववरोवेत्ता भवइ—व्यपरोपण नही होता है और; सोयामयेण दुक्खेण—श्रोत्रेन्द्रिय के दु ख से; असंजोगेत्ता भवइ—सयोजन नही होता; एवं जाव—इसी प्रकार यावत्; फासमएणं दुक्खेणं—स्पर्शनेन्द्रिय के दुःख से; असजोएत्ता भवइ—सयुक्त नही होता।

एवं असयमोवि भाणियव्वो—इसी तरह दश प्रकार का असंयम भी कहना चाहिये।

मूलार्थ—पञ्चेन्द्रिय जीवों को हिंसा न करने से दश प्रकार का संयम वर्णन किया गया है, जैसे—उन जीवों के श्रोत्रादि पांच इन्द्रियों को न तो नाश करता है, और न ही श्रोत्रमयदुःख से उन्हे संयुक्त करता है। इसी तरह यावत् स्पर्शनेन्द्रिय के दुःख से संयुक्त नहीं करता।

इसी तरह पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने से दश प्रकार का असंयम का वर्णन भी कहना चाहिये।

विवेचनिका—

उचित काल में स्वाध्याय करने से संयम की वृद्धि होती है, अतः अब सूत्रकार संयम-भेदों का वर्णन करते हैं। जीवों की रक्षा एवं अहिंसा ही सयम है, तद्विपरीत आचरण असंयम है। दस प्रकार का संयम होता है और दस प्रकार का असंयम। जिन जीवों की पांच इन्द्रियां हों, उन्हे पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। पचेन्द्रिय जीवों की हिंसा न करने से दस प्रकार का सयम-लाभ होता है, जैसे कि—

१. श्रोत्रमय सुख से जीवों को वियुक्त न करना संयम है।
२. श्रोत्रमय दुःख के द्वारा जीवों को सयुक्त न करना सयम है।
३. चक्षुर्मय सुख से जीवों को वियुक्त न करना संयम है।
४. चक्षुर्मय दुःख के द्वारा जीवो को सयुक्त न करना सयम है।
५. घ्राणमय सुख से जीवो को वियुक्त न करना सयम है।
६. घ्राणमय दुःख के द्वारा जीवो को सयुक्त न करना संयम है।
७. जिह्वामय सुख से जीवो को वियुक्त न करना सयम है।
८. जिह्वामय दुःख के द्वारा जीवों को सयुक्त न करना सयम है।
९. स्पर्शमय सुख से जीवो को वियुक्त न करना सयम है।
१०. स्पर्शमय दुःख के द्वारा जीवो को सयुक्त न करना संयम है।

दस प्रकार का असंयम

१. श्रोत्रमय सुख से जीवों को अलग करना असंयम है।
२. श्रोत्रमय दुःख से जीवों को सयुक्त करना असयम है।
३. चक्षुर्मय सुख से जीवों को अलग करना असयम है।
४ चक्षुर्मय दु ख से जीवो को सयुक्त करना असयम है।
५. घ्राणमय सुख से जीवों को अलग करना असयम है।
६. घ्राणमय दुःख मे जीवों को संयुक्त करना असयम है।
७. जिह्वामय सुख से जीवों को अलग करना असयम है।
८. जिह्वामय दुःख से जीवों को सयुक्त करना असयम है।
९. स्पर्शमय सुख से जीवो को अलग करना असंयम है।
१०. स्पर्शमय दुःख से जीवो को संयुक्त करना असयम है।

सभी जीवों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। किसी का सुख छीनना और दुःख देना असयम है और किसी को दुःख से बचाना और सुख देना संयम है। असंयम से स्वय जीव दुःखसमन्वित और सुख-वियुक्त हो जाता है, किन्तु सयम से जीव स्वयं सुख समन्वित होता है और दुःख-वियुक्त। अतः संयम उपादेय है और असयम हेय।

दशविध सूक्ष्म

मूल—दस सुहुमा पण्णत्ता, तं जहा— पाणसुहुमे, पणगसुहुमे जाव सिणेहसुहुमे, गणियसुहुमे भंगसुहुमे।१३।

छाया—दश सूक्ष्माणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—प्राणसूक्ष्मं, पनकसूक्ष्मं यावत् स्नेहसूक्ष्मं, गणित-सूक्ष्मं, भङ्गसूक्ष्मम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश सूक्ष्म कथन किये गए है, यथा—प्राणसूक्ष्म, पनकसूक्ष्म, बीजसूक्ष्म—व्रीहि आदि की नखिका अर्थात् अग्रभाग, हरित अर्थात् भूमि के समान वर्ण वाले तृण आदि, पुष्पसूक्ष्म—वट आदि के पुष्प, अण्डसूक्ष्म—कीटिकादि के नगर, स्नेहसूक्ष्म, गणित-सूक्ष्म और भंग-सूक्ष्म।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे संयम और असंयम के कारणों का वर्णन किया गया है। संयम के पालन में और असयम से निवृत्ति के लिये स्थूल-सूक्ष्म जीवों-अजीवों का ज्ञान होना आवश्यक है, बादर जीवों की रक्षा करना सुगम है और बादर विषय को समझना भी सुगम है, किन्तु सूक्ष्म जीवों की रक्षा करना और सूक्ष्म विषय को समझना कठिन ही नही, अतिकठिन है। अत: प्रस्तुत सूत्र में दस सूक्ष्मो का उल्लेख किया गया है, जैसे कि—

१. **प्राणसूक्ष्म**—जो जीव चलते हुए ही दृष्टिगोचर होते है रुकने पर नहीं, यथा कुन्थु आदि।
२. **पनकसूक्ष्म**—भूमि एव काष्ठ आदि में उत्पन्न नीलन, फूलन, उल्ली आदि।
३. **बीजसूक्ष्म**—जिससे अकुर उत्पन्न हो, खशखाश आदि।
४. **हरितसूक्ष्म**—भूमि के समान वर्णवाले तृण आदि।
५. **पुष्पसूक्ष्म**—शीशम के फूल, रातरानी के फूल इत्यादि।
६. **अडसूक्ष्म**—कीडियों के अण्डे इत्यादि।
७. **लयनसूक्ष्म**—कीडियो के भवन इत्यादि।
८. **स्नेहसूक्ष्म**—ओस, धुन्ध, नमी, फुवार आदि।
९. **गणितसूक्ष्म**—गणित अर्थात् सख्या का जोड, गुणा, भाग, लब्ध इत्यादि को गणित सूक्ष्म कहते है, क्योकि इसका ज्ञान भी सूक्ष्मबुद्धि द्वारा ही होता है।
१०. **भंगसूक्ष्म**—वस्तु के विकल्प को भग कहते है। यह भग दो प्रकार का होता है—स्थानभग और क्रम-भग।

हिंसा के विषय स्थान-भंग—

१ द्रव्य से हिंसा, भाव से नही। २. भाव से हिंसा, द्रव्य से नही।
३ द्रव्य और भाव दोनों से हिसा। ४. द्रव्य और भाव दोनों से हिंसा नहीं।

हिंसा के विषय में क्रम-भंग—

१. द्रव्य और भाव से हिंसा। २ द्रव्य से हिसा भाव से नही।
३. भाव से हिंसा, द्रव्य से नही। ४. न द्रव्य से हिंसा और न भाव से हिंसा।

पहले के आठ सूक्ष्म संयम की अपेक्षा से वर्णित किए गए है। उनकी रक्षा अप्रमत्तता से करने पर ही पहले महाव्रत की रक्षा हो सकती है, अन्यथा चारित्र की आराधना निरतिचार नहीं हो सकती।

गणित और भग इनका सबध कुशाग्र बुद्धि से है। भगवती सूत्र में अनेक स्थलों पर भंगों की कल्पना की गई है। जिनका समझना सूक्ष्म बुद्धिवालों के लिये ही सम्भव है। साधारण व्यक्ति तो उन्हे पढते-सुनते ही घबरा उठता है और असमजस में पड जाता है। जिसका हृदय दया से ओत-प्रोत होता है, वही सूक्ष्म जोवों की रक्षा कर सकता है और जिसकी बुद्धि अति तीक्ष्ण होती है, वही सूक्ष्म

गणित को समझ सकता है तथा जिसकी बुद्धि अनेकान्तवाद से सुसंस्कृत है, वही भंग एवं सप्तभंगी आदि का स्वरूप भली-भांति जान सकता है। इसलिये उपर्युक्त दस सूक्ष्मों का परिचय दिया गया है।

गंगा-सिन्धु-वाहिनी दस नदियां

मूल—जंबूमंदरदाहिणेणं गंगासिंधुमहानईओ दस महानई ओसमप्पेंति तं जहा—जउणा, सरऊ, आदी, कोसी, मही, सयद्दू, विवच्छा, विभासा, एरावई, चंदभागा।

जंबूमंदरउत्तरेणं रत्तारत्तवईओ महानइओ दस महानईओ समप्पेंति, तं जहा—किण्हा, महाकिण्हा, नीला, महानीला, तीरा, महातीरा, इंदा जाव महाभोगा।१४।

छाया—जम्बूमन्दरदक्षिणे गङ्गासिन्धू महानद्यौ दशमहानद्यः समाप्नुवन्ति, तद्यथा—यमुना, सरयूः, आदी, कोशी, मही, शतद्रू, वितस्ता, विपाशा, ऐरावती, चन्द्रभागा।

जम्बूमंदरोत्तरे रक्तारक्तवत्यौ महानद्यौ दशमहानद्यौ समाप्नुवन्ति, तद्यथा—कृष्णा, महाकृष्णा, नीला, महानीला, तीरा, महातीरा, इन्द्रा यावत् महाभोगा।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत के दक्षिण की ओर गङ्गा और सिन्धु नामक महानदियों में दस महानदियां आकर मिलती है, पांच गङ्गा में, यथा—यमुना, सरयू आदि, कोशी और मही। पांच सिन्धु में, यथा—शतद्रू, वितस्ता, विपाशा, ऐरावती और चन्द्रभागा।

जम्बूद्वीप के मन्दर पर्वत के उत्तर में रक्ता और रक्तवती महानदियों में दस महानदियां मिलती हैं, पांच रक्ता में, जैसे—कृष्णा, महाकृष्णा, नीला, महानीला, तीरा। पाच रक्तवती में, यथा—महातीरा, इन्द्रा, इन्द्रसेना, वारिषेणा, महाभोगा।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में दस सूक्ष्मों का वर्णन किया गया है। सूक्ष्मबुद्धि आगमवेत्ता अपनी असीम ज्ञान-

धारा द्वारा सुदूर के पदार्थों का भी प्रत्यक्ष कर लिया करते है, अतः प्रस्तुत सूत्र में सुदूर नदी-सगमों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

जम्बूद्वीप के मंदर पर्वत से दक्षिण की ओर भरत क्षेत्र में दस महानदियां गगा और सिन्धु में मिलती हैं। यमुना, सरयू, आदी, कोसी मही, ये पांच नदियां गगा महानदी में मिलती हैं। शतद्रू (सतलुज), वितस्ता (जेहलम), विपाशा (व्यास), ऐरावती (रावी) चन्द्रभागा (चन्हाब) ये पांच महा-नदियां सिन्धु में मिलती है।

इसी प्रकार जम्बूीद्वीप के मन्दराचल के उत्तरी भाग में रक्ता नामक महानदी में कृष्णा, महाकृष्णा, नीला, महानीला और तीरा तथा रक्तवती में महातीरा, इन्द्रा, इन्द्रसेना, वारिषेणा और महाभोगा नामक महानदियो का सगम होता है।

भारत की प्राचीन राजधानियां

मूल—जंबुद्दीवे दीवे भरहेवासे दस रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

चंपा, महुरा, वाराणसी य, सावत्थी, तह य साएयं।
हत्थिणउर, कंपिल्लं, मिहिला, कोसंबि, रायगिहं॥

एयासु णं दस रायहाणीसु दस रायाणो मुंडा भवेत्ता जाव पव्वइया, भरहे, सगरो, मघवं, सणंकुमारो, संती, कुंथू, अरे, महापउमे, हरिसेणे, जयणामे।१५।

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे दशराजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

चम्पा, मथुरा, वाराणसी च, श्रावस्ती, तथा च साकेतम्।
हस्तिनापुरं, काम्पिल्यं, मिथिला, कौशाम्बी, राजगृहम्॥

एतासु दशराजधानीषु दश राजानो मुण्डा भूत्वा यावत् प्रव्रजितास्तद्यथा—भरतः, सगरः, मघवा, सनत्कुमारः, शान्तिः, कुन्थुः, अरः, महापद्मः, हरिषेणः, जयनामा।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भारतवर्ष मे दस प्रमुख राजधानियां इस प्रकार है—चम्पापुरी, मथुरा, वाराणसी अर्थात् काशी, श्रावस्ती, साकेत—अयोध्या, हस्तिनापुर, काम्पिल्यपुर, मिथिलापुरी, कौशाम्बी, राजगृह।

इन उपर्युक्त दस राजधानियो के दस राजा मुण्डित होकर यावत् प्रव्रजित हुए, वे इस प्रकार है—भरत चक्रवर्त्ती, सगर चक्रवर्त्ती, मघवा, सनत्कुमार चक्रवर्त्ती, श्रीशान्तिनाथ, श्रीकुन्थुनाथ, श्रीअरनाथ, महापद्म, हरिषेण तथा जयनाम।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में भूगोलाश्रित विषय का वर्णन किया गया है, प्रस्तुत सूत्र में भी उसी भूगोल-सम्बन्धित विषय का वर्णन किया जाता है।

इस भरत क्षेत्र मे साढे पच्चीस आर्य देश हैं। उनमे से अग देश की राजधानी चम्पा, शूरसेन देश की राजधानी मथुरा, काशी देश की राजधानी साकेत, जिसे अयोध्या या विनीता भी कहते है। कुरुदेश की राजधानी हस्तिनापुर, पचाल देश की राजधानी कम्पिलपुर या काम्पिल्य, विदेह देश की राजधानी मिथिला, वत्सदेश की कौशाम्बी नगरी, मगधदेश की राजधानी राजगृह है। इन दस राजधानियो में निर्ग्रन्थों के लिये एक मास में दो बार या तीन बार प्रवेश करना निषिद्ध बतलाया गया है। इन नगरियो में उत्सर्ग मार्ग का आश्रय लेकर साधु बारम्बार प्रवेश नही कर सकते, क्योकि उनमे सयम के अनुकूल वातावरण नही होता। साधक की मनोवृत्तिया बहिर्मुखी न हो जाए, इसी कारण उनमें जाना वर्जित किया गया है, आगमकार सयम से प्रतिकूल वातावरण में रहना साधुओ के लिये हितकर नही मानते। कहा भी है—**तरुणा वेश्या, स्त्री विवाहरागा (राजा) दिषु भवति स्मृतिकरण, आतोद्य गीतशब्दे स्त्रीशब्दे च सविकारे।**

अर्थात् उक्त नगरियों में पुनः-पुन गमन करने से पदार्थों के अवलोकन से मन में विस्मय और विकार आदि भी उत्पन्न हो सकते हैं, अतः इन नगरियों में उत्सर्ग मार्ग से पुनः-पुनः गमन करने का आगम में निषेध किया गया है। उपलक्षण से अन्य राजधानियों के विषय में भी समझना चाहिए।

उक्त राजधानियो का उल्लेख इसलिये किया गया है कि इन दस राजधानियों में बारह चक्रवर्ती महाराजाओं ने राज्य किया है और उनमे दस चक्रवर्ती दीक्षित हुए है। निशीथ भाष्य के अभिप्राय से नौ राजधानियो मे एक-एक चक्रवर्ती हुए हैं और एक राजधानी मे तीन चक्रवर्ती राजाओ ने क्रमशः राज्य किया, किन्तु आवश्यक भाष्य के अभिप्राय से भरत और सगर, ये दो साकेत अर्थात् अयोध्या में प्रव्रजित हुए। श्रावस्ती मे मघवा दीक्षित हुए, सनत्कुमार शान्ति, कुन्थु, अर और महापद्म ये पांच हस्तिनापुर मे प्रव्रजित हुए। हरिषेण कांपिल्य में दीक्षित हुए। जय नामक चक्रवर्ती राजगृह नगर में प्रव्रजित हुए। आठवें और बारहवें चक्रवर्ती महाराजा प्रव्रजित नही हुए।

सूत्रकार ने जो '**एयासु ण दस रायहाणीसु दस रायाणो मुंडा भवित्ता जाव पव्वइया**' पाठ दिया है, इससे यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि इन नगरियो मे दस चक्रवर्ती दीक्षित हुए हैं, किन्तु सूत्र में उनका क्रमबद्ध उल्लेख नही किया गया है।

आवश्यक सूत्र की वृत्ति में कुछ अन्य प्रकार से इस विषय का उल्लेख किया गया है, परन्तु

मूल आगम ही प्रमाण कोटि में गिना जाता है। मत-भेद आचार्यकृत ग्रंथों में होते है, आगमों में नहीं, अत: आगम-वर्णित विषय को ही मान्य समझना चाहिए।

मन्दर-मान

मूल—जंबुद्दीवे दीवे मंदरे पव्वए दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं धरणियले, दस-जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं, उवरिं दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं, दसदसाइं जोयणसहस्साइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते ।१६।

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरः पर्वतो दशयोजनशतान्युद्वेधेन धरणितले, दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण, उपरि दशयोजनशतानि विष्कम्भेण, दश-दशकानि योजनसहस्राणि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तः।

शब्दार्थ—जंबुद्दीवे दीवे—जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे; —मंदरे पव्वए—मन्दर पर्वत; दस-जोयण सयाइं उव्वेहेणं—दश योजन शत अर्थात् एक हजार योजन गहराई की अपेक्षा से; —धरणियले—भूमि मे है; दस जोयण सहस्साइं—दश हजार योजन; विक्खभेणं—लम्बाई-चौडाई की अपेक्षा से भूमि पर है और उवरि दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं—शिखर विष्कम्भ की अपेक्षा एक हजार योजन है; दसदसाइं जोयण-सहस्साइं—दश दशक योजनशत अर्थात् एक लाख योजन; सव्वग्गेण पण्णत्ते—सर्वांग की अपेक्षा से है।

मूलार्थ—जम्बूद्वीप का मेरु पर्वत भूमि के अन्दर–नीचे एक हजार योजन गहरा है, भूमि तल पर उसकी मोटाई दस हज़ार योजन परिमाण की है। मेरु पर्वत का शिखर एक हज़ार योजन का है तथा मेरु का सर्वाङ्ग प्रमाण एक लाख योजन का वर्णन किया गया है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में वर्णित भूगोल वर्णन की परम्परा में प्रस्तुत सूत्र द्वारा पुनः भौगोलिक ज्ञान प्रस्तुत किया गया है। मदर पर्वत इस मध्यलोक के ठीक मध्यभाग में है जिस को लोक की नाभि भी कहते है। यह पर्वत एक हजार योजन भूमि में गहरा है, दस हजार योजन भूमि पर विस्तारवाला है। इसका ऊपरी भाग एक हजार योजन का लम्बा-चौडा है। इसका सम्पूर्ण विस्तार एक लाख योजन का है।

वह भूमि मे एक हजार योजन की गहराईवाला है। इससे वास्तु-शास्त्र के वेत्ताओं ने यह

अभिप्राय निकाला है कि वह पर्वत एक हजार योजन भूमि में गहरा है तभी तो वह ९९००० योजन ऊपर आकाश को स्पर्श कर रहा है। जितनी मंजिलो का मकान ऊपर होता है, उसके अनुसार ही उसके नीचे की गहराई होती है, अतः ९९००० योजन के लिये एक हजार योजन की गहराई उपयुक्त ही है।

यद्यपि पर्वतों की गहराई पृथ्वी के साथ एक होती है, उसका मूलभाग अमुक बिन्दु पर समाप्त हो जाता है, यह कहना कठिन होता है, फिर भी यहां गहराई का जो वर्णन किया गया है। उसका अभिप्राय यही है कि इतने प्रमाण तक उसका पर्वतीय प्रभाव विद्यमान है। ●

दिशाएं और उनका केन्द्र

मूल—जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स बहुमज्झदेसभागे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिल्लेसु खुड्डगपयरेसु, एत्थ णमट्ठपएसिए रुयगे पण्णत्ते, जओ णमिमाओ दस दिसाओ पवहंति, तं जहा—पुरच्छिमा, पुरच्छिमदाहिणा, दाहिणा, दाहिणपच्चत्थिमा, पच्चत्थिमा, पच्चत्थिमुत्तरा, उत्तरा, उत्तरपुरच्छिमा, उड्ढा, अहो। एएसि णं दसण्हं दिसाणं दस नामधिज्जा पण्णत्ता, तं जहा—

इंदा अग्गीइ जमा णेरई वारुणी य वायव्वा।
सोमा ईसाणावि य विमला य तमा य बोद्धव्वा।१७।

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य बहुमध्यदेशभागेऽस्याः रत्नप्रभायाः पृथिव्या उपरितनाधस्तनयोः क्षुल्लकप्रतरयोरत्र अष्ट प्रदेशिको रुचकः प्रज्ञप्तः, यत इमा दशदिशः प्रवहन्ति, तद्यथा—पौरस्त्या, पौरस्त्यदक्षिणा, दक्षिणा, दक्षिणपश्चिमा, पाश्चात्या, पाश्चात्योत्तरा, उत्तरा, उत्तरपौरस्त्या, ऊर्ध्वा, अधः।

एतासां दशानां दिशां दशनामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

ऐन्द्री, आग्नेयी यामी, नैर्ऋती, वारुणी च वायवी।
सौम्या, ऐशानी अपि च विमला च तमा च बोद्धव्या।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत के बहुमध्य देशभाग में, इस रत्नप्रभा पृथिवी के उपरितन और अधस्तन क्षुल्लक प्रतर में आठ प्रादेशिक रुचक कहा

गया है, जहां से दश दिशाएं निकलती है, वे दिशाएं इस प्रकार है—पूर्व, पूर्व-दक्षिण, दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम, पश्चिमोत्तर, उत्तर, उत्तर-पूर्व, ऊर्ध्व और अध: । इन दिशाओं के दश नाम है, जैसे ऐन्द्रा, आग्नेयी, यमा, नैर्ऋती, वारुणी, वायवी, सोमा, ईशानी, विमला, तमा ।

विवेचनिका—

इस सूत्र में दिशाए और विदिशाए कहां से आरम्भ होती है और उन का केन्द्र कहां है ? इस विषय का स्पष्टीकरण किया गया है। जम्बूद्वीपवर्त्ती मंदर पर्वत के ठीक मध्यभाग में ९०० योजन नीचे जहा मध्यलोक समाप्त होता है और अधोलोक प्रारम्भ होता है, वहां आकाश के आठ रुचक प्रदेश है। चार प्रदेश ऊपर और चार नीचे गोस्तनाकार ठहरे हुए है। वे ही आठ रुचक प्रदेश दस दिशाओ के केन्द्र-बिन्दु है। दस दिशाए है—पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान, विमला और तमा। दो-दो प्रदेशो से वृद्धि पाती हुई शकटोर्ध्व संस्थान के समान ये दिशाएं लोकान्त पर्यन्त पहुच गई है। ऊर्ध्व अधोदिशाए उत्तरोत्तर बिना ही वृद्धि पाए चार-चार प्रदेश करके लोकान्त पर्यन्त पहुंची हुई हैं। इसी तरह चार कोणस्थित विदिशाए उत्तरोत्तर बिना ही वृद्धि पाए एक-एक प्रदेश करके लोकान्त तक पहुची हुई है।

इन दस दिशाओ के दस अन्य नाम भी प्रतिपादन किए गए है, जैसे कि इन्द्रा, आग्नेयी, यमा, नैर्ऋती, वारुणी, वायव्या, सोमा, ईशाना, विमला और तमा। ऊर्ध्व दिशा को विमला नाम इस लिए दिया गया है, क्योकि वह तम रहित होने से निर्मल है। तमा अधोदिशा का नाम इस लिये दिया गया है, क्योकि वह अधकार-युक्त होने से रात्रि के समान है।

लवण-समुद्र-मान

मूल—लवणस्स णं समुद्दस्स दसजोयणसहस्साइं गोतित्थविरहिए खेत्ते पण्णत्ते। लवणस्स णं समुद्दस्स दस जोयण-सहस्साइं उदगमाले पण्णत्ते। सव्वेवि णं महापायाला दसदसाइं जोयणसहस्साइमुव्वेहेणं पण्णत्ता। मूले दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं पण्णत्ता। बहुमज्झदेसभाए एगपएसियाए सेढीए दसदसाइं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं पण्णत्ता। उवरिं मुहमूले दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं पण्णत्ता।

तेसि णं महापायालाणं कुड्डा सव्ववइरामया, सव्वत्थ समा दस जोयण-सयाइं बाहल्लेणं पण्णत्ता। सव्वेवि णं खुद्दा पायाला दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता, मूले दसदसाइं जोयणाइं विक्खंभेणं, बहुमज्झदेसभाए

एगप्पएसियाए सेढीए दस जोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता, उवरि मुह-मूले दसदसाइं जोयणाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता। तेसि णं खुड्डा पायालाणं कुड्डा सव्ववइरामया, सव्वत्थ समा दस जोयणाइं बाहल्लेण पण्णत्ता।१८।

छाया—लवणस्य समुद्रस्य दशयोजनसहस्राणि गोतीर्थरहितक्षेत्रं प्रज्ञप्तम्। लवणस्य समुद्रस्य दशयोजनसहस्राणि उदकमालाः प्रज्ञप्ताः। सर्वेऽपि महापातालाः दशदशकानि योजनसहस्राण्युद्वेधेन प्रज्ञप्ताः। मूले दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः। बहुमध्यदेशभागे एकप्रदेशिकया श्रेण्या दशकानि योजनसहस्राणि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः। उपरिमुखमूले दश योजनसहस्राणि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः।
तेषां महापातालानां कुड्यानि सर्ववज्रमयानि, सर्वत्र समानि दशयोजनशतानि बाहल्येन प्रज्ञप्तानि। सर्वेऽपि क्षुद्राः पातालाः दश योजनशतानि उद्वेधेन प्रज्ञप्ताः। मूले दश दशकानि योजनानि विष्कम्भेण, बहुमध्यदेशभागे एकप्रदेशिकया श्रेण्या दश योजन शतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः। उपरि मुखमूले दश-दशकानि योजनानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः। तेषां क्षुद्रपातालानां कुड्यानि सर्ववज्रमयानि, सर्वत्र समानि दशयोजनानि बाहल्येन प्रज्ञप्तानि।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—लवण समुद्र का दस हज़ार योजन गोतीर्थ-विरहित क्षेत्र कथन किया गया है। लवण-समुद्र की दस हज़ार योजन की उदकमाला वर्णन की गई है। सभी महापाताल-कलश एक-एक लाख योजन परिमाण भूमि में गहरे वर्णन किये गए है। उनका विष्कम्भ मूल में दस हज़ार योजन है। उनके बहुमध्य देश भाग में एक प्रदेशिक श्रेणी से बढ़ते-बढते लाख योजन तक उनके मध्यभाग का विष्कम्भ कहा गया है, वे कलश ऊपर मुख-मूल में दश हज़ार योजन के है।
उन पाताल-कलशों की भित्तियां सर्ववज्रमयी है, तथा सर्वत्र सम और एक हज़ार योजन मोटाई वाली है। सभी क्षुल्लक पाताल कलश एक हज़ार योजन गहराई में है, मूल मे एक सौ योजन चौड़े है। उनके बहुमध्यदेश भाग एकप्रदेशिक श्रेणी से वृद्धि करते हुए एक हज़ार योजन चौड़े है, ऊपर मुखमूल में एक सौ योजन चौड़े हैं। उन क्षुद्र पाताल-कलशों की दीवारें सर्वतः वज्रमयी एवं सर्व प्रकार से सम तथा दश योजन परिमाण मोटाई वाली है।

विवेचनिका—

प्रस्तुत सूत्र में भौगोलिक वर्णन की परम्परा मे लवण-समुद्र गत समभूमि के विषय का कथन किया गया है। लवण-समुद्र दो लाख योजन चौड़ा है। वह जम्बूद्वीप और धातकीखड द्वीपो के मध्य में है। वह एक हज़ार योजन गहरा है। जम्बूद्वीप से लवण-समुद्र में ९५००० योजन जाकर और धातकी खड से ९५००० योजन इधर आने पर जो स्थान है, वह गोतीर्थ कहलाता है। गाय आदि पशुओं के लिये तालाब आदि में उतरने की जो भूमि होती है उसे गोतीर्थ कहते हैं। समुद्र में थोड़ी-थोडी नीचाई बढ़ती-बढ़ती ९५००० योजन पर्यन्त बढती ही गई है। इसी तरह धातकीखंड की ओर से भी लवण-समुद्र में ढलान बढ़ती गई है। उस समुद्र के ठीक मध्यभाग में चक्रवाल-विष्कम्भ गोतीर्थविरहित सम क्षेत्र दस हज़ार योजन का है। समुद्र के भीतर ढलानवाली भूमि को गोतीर्थ और समतल भूमि को गोतीर्थ-विरहित कहा जाता है।

लवण-समुद्र के ठीक मध्यभाग से उठी हुई उदकमाला दीवार की तरह १६००० योजन ऊंची, १०००० योजन चक्रवाल-विष्कभ वाली है। उसको उदकवेग तथा उदकशिखा भी कहते है। इस के कारण ही समुद्र का पानी उछलता है। वेलधर देव इसकी रक्षा में उपस्थित रहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र मे वर्णित है।

पूर्व आदि चार दिशाओ में चार महापाताल-कलश है, उनके नाम हैं—वलयामुख, केयूर, यूपक और ईश्वर। ये सभी कलश गोतीर्थ-विरहित समतल भूमिभाग मे है। वे सब लाख-लाख योजन भूमि में गहरे है। मूल मे दस हजार योजन चौडे है, मध्य में एक लाख योजन चौड़े तथा मुखमूल में पुन: दस हजार योजन विस्तारवाले है। उन कलशो की भित्तिया वज्रमयी है तथा सर्वत्र समान है। मोटाई में वे हजार-हज़ार योजन के है। लघु पाताल-कलशों की अपेक्षा से उन चारों को महापाताल-कलश कहते है।

लवणसमुद्र की दिशाओ और विदिशाओ मे जो लघुपाताल कलश हैं, वे भी ठीक मध्य भाग में है। उनकी भित्तिया सब वज्रमयी है एव सर्वत्रसम है। उन भित्तियो की मोटाई दस योजन की है। वे सब हजार-हज़ार योजन गहरे है, मूल मे १०० योजन का विष्कभ, मध्य में १००० योजन का तथा ऊपर मुखमूल में पुन: १०० योजन का विष्कम्भ है। उन लघु-पाताल कलशो की कुल सख्या ७८८४ है।[1]

धातकी खण्ड और पुष्करवर द्वीपार्द्ध के मेरु-मान

मूल—धायईसंडगा णं मंदरा दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं, धरणियले देसूणाइं दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं, उवरिं दस जोयण सयाइं विक्खंभेणं

१. विशेष वर्णन के लिये देखिए जीवाभिगम सूत्र।

पण्णत्ते। पुक्खरवरदीवद्धगा णं मंदरा दस जोयण सयाइं एवं चेव।१९।

छाया—धातकीखण्डकौ मन्दरौ दशयोजनशतान्युद्वेधेन, धरणितले देशोनानि दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण, उपरि दशयोजनशतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तौ। पुष्करवरद्वीपार्द्धकौ मन्दरौ दश योजान्येवमेव।

शब्दार्थ—धायईसंडगा णं मंदरा—धातकीखण्ड के मेरु; दस जोयणसयाइं उव्वेहेण—एक हजार योजन गहरे हैं; धरणियले देसूणाइं दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं—और भूमितल मे देशोन दस हज़ार योजन का विष्कम्भ है; उवरि दस जोयणसयाइ विक्खंभेणं पण्णत्ते—ऊपर की ओर एक हज़ार योजन का विष्कम्भ है। पुक्खरवरदीवद्धगा णं मंदरा—पुष्करवरद्वीपार्द्ध के मेरु; दस जोयण सयाइं एवं चेव—इसी तरह एक हज़ार योजन गहरे जानने चाहिए।

मूलार्थ—धातकीखण्ड के मेरु पर्वत उद्वेध की अपेक्षा एक हज़ार योजन के हैं। धरणितल पर उनका विष्कम्भ देशोन दश हज़ार योजन का है, वे ऊपर एक-एक हज़ार योजन चौड़े हैं। पुष्करवरद्वीपार्द्ध के मेरु पर्वत एक हज़ार योजन गहरे है। शेष वर्णन पूर्ववत् ही जानना चाहिये।

विवेचनिका—

प्रस्तुत सूत्र में भी भौगोलिक वर्णन की परम्परा के अन्तर्गत धातकीखडवर्ती मेरु पर्वत के विषय मे परिचय दिया गया है। धातकीखण्ड में १ मेरु पूर्व की ओर है और दूसरा पश्चिम की ओर है। प्रत्येक मेरुपर्वत का परिमाण इस प्रकार है। दोनो मेरु पर्वत एक हजार योजन भूमि में गहरे हैं, भूमि पर उनका कुछ कम दस हजार योजन का विष्कम्भ है। ऊचाई ८४००० योजन की है। उनका सूब से उपरि भाग १००० योजन चौड़ा है। इसी तरह दूसरे मेरुपर्वत के विषय में भी जानना चाहिए। पुष्करार्द्ध के दोनों मेरु पर्वतों का परिचय भी इसी तरह जान लेना चाहिए।

वृत्त वैताढ्य पर्वत

मूल—सव्वेवि णं वट्टवेयड्ढपव्वया दस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, दस गाउयसयाइमुव्वेहेणं, सव्वत्थसमा, पल्लगसंठाणसंठिया, दस जोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता।२०।

छाया—सर्वेऽपि वृत्तवैताढ्यपर्वताः दश योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन, दशगव्यूतशतान्युद्वेधेन, सर्वत्रसमाः, पल्यसंस्थानसंस्थिताः, दश योजनशतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सभी वृत्तवैताढ्यपर्वत एक हजार योजन उंचे, दस गव्यूति-शत उद्वेध की अपेक्षा से तथा सर्वत्र समान और पर्यङ्क संस्थानवाले एवं विष्कम्भ की अपेक्षा हजार योजन परिमाणवाले है ।

विवेचनिका—

प्रस्तुत सूत्र में भी उसी भौगोलिक परिचय की परम्परा मे वृत्तवैताढ्य पर्वतों का परिचय दिया गया है । वृत्तवैताढ्य शब्द के ग्रहण से दीर्घवैताढ्य पर्वतों का व्यवच्छेद स्वतः ही हो जाता है । इनका अस्तित्व हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष और रम्यकवर्ष इन क्षेत्रों मे पाया जाता है । शब्दापाती, विकटापाती, गन्धावती और माल्यवत ये उन पर्वतों के नाम हैं । ये पर्वत १०० योजन गहरे, १००० योजन ऊचे और १००० योजन भूमि पर चौड़ाई मे फैले हुए हैं । सर्वत्र सम और पल्यक संस्थान से सस्थित है । धान्य भरने के बड़े कोठे को पल्लग कहते है ।

जम्बूद्वीप के क्षेत्र

मूल—जंबूद्दीवे दीवे दस खेत्ता पण्णत्ता, तं जहा—भरहे, एरवए, हेमवए, हेरन्नवए, हरिवासे, रम्मगवासे, पुव्वविदेहे, अवरविदेहे, देवकुरा, उत्तरकुरा ।२१।

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे दश क्षेत्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—भरतम्, ऐरवतं, हैमवत, हैरण्यवतं, हरिवर्षं, रम्यकवर्षं, अपरविदेहः, देवकुरुः, उत्तरकुरु ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप में दश क्षेत्र वर्णन किये गए है, यथा—भरत, ऐरवत, हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, पूर्वविदेह, उत्तर विदेह, देवकुरु, और उत्तरकुरु ।

विवेचनिका—

प्रस्तुत सूत्र मे भी भौगोलिक वर्णन के अन्तर्गत जम्बूद्वीप के जितने क्षेत्र है, उनका उल्लेख किया गया है । जम्बूद्वीप में कुल क्षेत्र १० पाए जाते है, जैसे कि भरत, ऐरवत, हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष,

रम्यकवर्ष, पूर्वमहाविदेह, पश्चिम महाविदेह, देवकुरु और उत्तरकुरु। इनमें से भरत, ऐरवत, पूर्व-विदेह और अपरविदेह, ये चार क्षेत्र कर्मभूमि हैं और शेष सब अकर्मभूमि। इन क्षेत्रों में मनुष्यजाति का निवास है।

मानुषोत्तर पर्वत का मान

मूल—माणुसुत्तरे णं पव्वए मूले दसबावीसे जोयणसए विक्खभेणं पण्णत्ते ।२२।

छाया—मानुषोत्तरपर्वतो मूले दश द्वाविंशति योजनशतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः।

शब्दार्थ—माणुसुत्तरे णं पव्वए—मानुषोत्तर पर्वत; मूले—मूल मे; दसबावीसे जोयणसए—एक हजार बाईस योजन; विक्खभेण पण्णत्ते—विष्कम्भ की अपेक्षा से कहा गया है।

मूलार्थ—मानुषोत्तर पर्वत मूल में विष्कम्भ की अपेक्षा से एक हजार बाईस योजन का है।

विवेचनिका—

इस सूत्र में उस मानुषोत्तर पर्वत का वर्णन किया गया है जो मनुष्यलोक की सीमा बांधता है। वह मानुषोत्तर पर्वत पुष्करवर द्वीप के ठीक मध्यभाग मे कुण्डलाकार, चक्रवाल विष्कम्भ वाला है। उसकी चौड़ाई मूल में १०२२ योजन है। उस से बाहर मानवजाति का निवास नही है।

अंजनक-दधिमुख और रतिकर पर्वतों का मान

मूल—सव्वेवि णमंजणगपव्वया दस जोयणसयाइमुव्वेहेणं, मूले दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं, उवरिं दस जोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता।

सव्वेवि ण दहिमुहपव्वया दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं, सव्वत्थसमा, पल्लगसंठाणसंठिया, दसजोयणसहस्साइं विक्खंभेणं पण्णत्ता।

सव्वेवि णं रइकरपव्वया दस योयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, दसगाउसयाइं उव्वेहेणं, सव्वत्थसमा, झल्लरिसंठिया, दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं पण्णत्ता ।२३।

छाया—सर्वेऽपि अञ्जनकपर्वताः दशयोजनशतान्युद्वेधेन, मूले दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण, उपरि दशयोजनशतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः।

सर्वेऽपि दधिमुखपर्वताः दशयोजनशतान्युद्वेधेन, सर्वत्रसमाः, पर्यङ्कसंस्थानसंस्थिताः, दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः।

सर्वेऽपि रतिकरपर्वता दशयोजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन, दशगव्यूतशतान्युद्वेधेन, सर्वत्र-समाः, झल्लरी-संस्थिताः, दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सभी अञ्जनक पर्वत एक-एक हज़ार योजन गहरे, मूल में दश हजार योजन चौड़े है। ऊपरी भाग की दृष्टि से विष्कम्भ में एक हजार योजन चौड़े है।

सभी दधिमुख पर्वत एक हजार योजन गहरे, सर्वत्र सम, पल्यंकसंस्थान से संस्थित और गहराई में दस हज़ार योजन के वर्णन किए गए है।

सभी रतिकर पर्वत दस योजनशत ऊंचाई में, उद्वेध में एक हज़ार योजन के कथन किए गए है।

विवेचनिका—

इस सूत्र में अंजनक, दधिमुख और रतिकार पर्वतों का परिमाण बतलाया गया है। आठवें नदीश्वर द्वीप के ठीक मध्यभाग में चारों दिशाओं में श्यामवर्ण वाले चार अंजनक पर्वत है। प्रत्येक अजनक पर्वत की चारों दिशाओं में लाख-लाख योजन विस्तारवाली चार नन्दापुष्करिणिया है। प्रत्येक पुष्करिणी में एक-एक दधिमुख पर्वत है। विदिशाओं में चार रतिकर पर्वत है। प्रत्येक अजनक पर्वत की भूमिगत गहराई १००० योजन है। भूमि पर उनका १०००० योजन का विस्तार है। वे सब ८४००० योजन ऊचे है।

सभी दधिमुख पर्वत सफेद है। भूमिगत १००० योजन की गहराई वाले तथा १०००० योजन के विस्तार वाले और ६०००० योजन ऊंचे है और पल्यंक-सस्थान से सस्थित है। सभी रतिकर पर्वत १००० कोस गहरे हैं, हजार योजन ऊंचे है और एक हजार योजन विस्तारवाले है। इनका विस्तृत वर्णन चतुर्थ स्थान के द्वितीय उद्देशक में किया जा चुका है।

रुचकवर पर्वत-मान

मूल—रुयगवरे णं पव्वए दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं, मूले दस जोयणसहस्साइं

विक्खंभेणं, उवरिं दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते । एवं कुंडलवरेवि ।
।२४।

छाया—रुचकवरः पर्वतो दशयोजनशतान्युद्वेधेन, मूले दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण, उपरि दशयोजनशतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः । एवं कुण्डलवरोऽपि ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—रुचकवर पर्वत एक हज़ार योजन गहरा, मूल में दस हज़ार योजन चौड़ा है और ऊपरी भाग में एक हज़ार योजन विष्कम्भवाला है । इसी प्रकार कुण्डलवर द्वीप में कुण्डलवर पर्वत का वर्णन भी जानना चाहिये ।

विवेचनिका—

इस सूत्र में रुचक पर्वत का परिचय दिया गया है । रुचक पर्वत तेरहवें द्वीप के ठीक मध्यभाग में चक्रवाल निष्कंभ में स्थित है । वह हजार योजन गहरा, भूमिपर १०००० योजन विस्तारवाला है । उसके ऊपरी भाग में हज़ार योजन की चौडाई है तथा वह सर्वत्र सम है ।

ग्यारहवें द्वीप में गोलाकार चक्रवाल विष्कंभवाला कुण्डलवर पर्वत है, उसका परिमाण भी रुचकवर पर्वत के समान समझना चाहिए ।

दसवें स्थान के अनुरोध से सूत्रकर्त्ता ने दस अंक ग्रहण किए हैं । बीसवे सूत्र से लेकर जितना भी वर्णन किया गया है, उस सबका विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति में विस्तार-पूर्वक किया गया है । उक्त भौगोलिक वर्णन सभी ज्ञेय है और संस्थान-विचय नामक धर्म-ध्यान का विषय है ।

द्रव्यानुयोग-भेद

मूल—दसविहे दवियाणुओगे पण्णत्ते, तं जहा—दवियाणुओगे, माउयाणुओगे, एगट्ठियाणुओगे, करणाणुओगे, अप्पियणप्पिए, भावियाभाविए, बाहिराबाहिरे, सासयासासए, तहणाणे, अतहणाणे ।२५।

छाया—दशविधो द्रव्यानुयोगः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—द्रव्यानुयोगः, मातृकानुयोगः, एकार्थिकानुयोगः, करणानुयोगः, अर्पितानर्पितं, भाविताभावितं, बाह्याबाह्यं, शाश्वताशाश्वतं, तथाज्ञानम्, अतथाज्ञानम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—द्रव्यानुयोग दश प्रकार का है, जैसे—द्रव्यानुयोग, मातृकानुयोग, एकार्थिकानुयोग, करणानुयोग, अर्पितानर्पित, भाविताभावित, बाह्याबाह्य, शश्वताशश्वत, तथ्यज्ञान, अतथ्यज्ञान।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्रो मे भौगोलिक वर्णन की परम्परा में गणितानुयोग का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार नवीन विषय द्रव्यानुयोग का वर्णन करते हैं। श्री भगवान ने जिस अर्थ का प्रतिपादन किया है, उससे मेल खानेवाला जो गणधरों का कथन है, वही अनुयोग कहलाता है। अनुयोग और व्याख्यान दोनो पर्यायवाची शब्द हैं।[1]

यह अनुयोग चार प्रकार का होता है, जैसे कि चरण-करणानुयोग, धर्म-कथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग। जिसमें साधु-धर्म और श्रावक-धर्म का वर्णन किया गया है, वह चरण-करणानुयोग कहलाता है। जिस कथा में समुन्नत महापुरुषो और साधु या साध्वी का ऐसा जीवन-वर्णन हो जिससे जीवन उत्थान के लिये प्रेरणा मिले वह धर्म-कथानुयोग है, जिसमें चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा, भूगोल-खगोल का वर्णन हो, वह गणितानुयोग है। जिसमें जीवादि पदार्थों का विश्लेषण किया गया हो, वह द्रव्यानुयोग है। इनका विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि—

१. **द्रव्यानुयोग**—जो सत् है, वही द्रव्य है। अथवा जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वह द्रव्य है अथवा जो गुण-पर्याय से युक्त है, वह द्रव्य है। द्रव्य मुख्यतया दो तरह के है— जीव-द्रव्य और अजीव-द्रव्य। जिसमें द्रव्य का सम्यक् प्रकार से विवेचन किया जाए, वह द्रव्यानुयोग है।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये सब अजीव द्रव्य है। इनको जाननेवाला जीव द्रव्य है। इन सब द्रव्यों में जीव-द्रव्य की प्रधानता है। जीव उसे कहते हैं जिसमें चेतना या उपयोग पाया जाए —**उवओगलक्खणो जीवो**। जीव दो प्रकार के है— ससारी और मुक्त। मुक्त आत्मा मे केवल गुण-पर्याय होती है, किन्तु द्रव्य-पर्याय नही। ससारी जीवों में द्रव्य पर्याय और गुण-पर्याय दोनो होती हैं। द्रव्य-पर्याय औदयिक भाव में पाई जाती है। देव नारक तिर्यञ्च और मनुष्य ये सब द्रव्य-पर्याय है। द्रव्य-पर्याय में जो बाल्य, यौवन और वार्द्धक्य आदि पर्याय होती है—वे सब कालकृत पर्याय हैं। प्रशस्त और अप्रशस्त भावों में वर्तना गुण या भावपर्याय है। मिथ्यादृष्टि में द्रव्य और भाव दोनो तरह की पर्यायें वैभाविक ही होती है, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव में स्वाभाविक पर्याय हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य गुण और पर्याय युक्त ही होता है, अतः जीव और अजीव ये दो ही द्रव्य सामान्य रूप से हैं। द्रव्य के अनतगुण और अनंत पर्याय है। जीव-द्रव्य चेतना गुण-युक्त है और अजीव-द्रव्य चेतना विरहित है। धर्म-द्रव्य, अधर्म द्रव्य आकाश-द्रव्य, और काल-द्रव्य ये चार द्रव्य अरूपी अजीव-द्रव्य है, किन्तु पुद्गल अजीव-द्रव्य रूपी है। जीव द्रव्य को सम्मिलित कर कुल छः द्रव्य होते हैं।

---

1. अनुयोजन-सूत्रस्यार्थेन सम्बन्धन, अनुरूपोऽनुकूलो वा योगः सूत्रस्याभिधेयार्थंप्रति व्यापारोऽनुयोग', व्याख्यानमिति भाव।

२. मातृकानुयोग—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस त्रिपदी को मातृकापद कहते है। इस त्रिपदी को जीवादि द्रव्यों में घटाना मातृकानुयोग है। जैसे कि जीव की बाल्य आदि पर्याय प्रतिक्षण परिवर्तित होती है। यदि पूर्व पर्याय का विनाश और उत्तर-पर्याय की उत्पत्ति न स्वीकार की जाए तो शिशु, युवा, वृद्ध इत्यादि अवस्थाओ का अभाव मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा होता नही है। यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को सर्वथा न माना जाए तो लौकिक व्यवहार का भी व्यवच्छेद हो जाएगा, अत: सिद्ध हुआ कि द्रव्यार्थिकनय से जीवादि द्रव्य ध्रुव एव नित्य है और पर्यायार्थिकनय से अध्रुव एव अनित्य हैं। इसलिये उत्पाद,व्यय और ध्रौव्ययुक्त द्रव्य स्वीकार करना ही युक्ति सगत है। कहा भी है – **द्रव्यतयाऽस्य ध्रौव्यमित्युत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तमतो द्रव्यमित्यादि मातृकापदानुयोग:"।**

यदि प्रतिक्षण नवीन पर्याय उत्पन्न न हों तो बाल, युवा, वृद्ध आदि विविध अवस्थाए नही आ सकती, क्योकि विविध अवस्थाए एक ही साथ कभी नही आती है।

इसी तरह जीव द्रव्य व्ययवाला भी है, क्योंकि बाल्यादि अवस्थाए प्रतिक्षण नष्ट होती रहती है। यदि व्यय न हो तो जीव सदा बाल्य अवस्था मे ही बना रहे।

द्रव्य रूप से जीवत्व एव द्रव्यत्व ध्रुव है, वह सदा-सर्वदा रहनेवाला है। यदि द्रव्य को ध्रौव्य गुणयुक्त न माना जाए तो पहले अनुभव किए हुए का कभी भी स्मरण न हो सकेगा। उसके लिये अभिलाषा भी उत्पन्न नही हो सकेगी। शुभाशुभ क्रियाएं भी व्यर्थ हो जाएगी। अत: किसी एक वस्तु का पूर्वापर पर्यायो मे रहना मानना अनिवार्य है। इसी तरह प्रत्येक वस्तु मे त्रिपदी को घटाया जाता है। यही मातृकानुयोग है।

३. एकार्थिकानुयोग—एक अर्थवाले शब्दो का अनुयोग करना, समान वर्णवाले शब्दों की व्युत्पत्ति द्वारा वाच्यार्थ से सगति बैठाना। जैसे जीवद्रव्य के पर्यायवाची शब्द हैं— प्राणी, भूत, जीव, सत्व इत्यादि। जीव प्राण धारण करने से प्राणी, सदाकाल से चला आ रहा है, अत: भूत, जीनेवाला होने से जीव और सदा सत् सत्व कहलाता है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ के जो पर्यायवाची नाम हैं उन्ही को एकार्थिकानुयोग कहते है।

४ करणानुयोग—क्रिया के प्रति साधकतम कारणो को करण कहते है। जैसे जीव कर्त्ता है, वह भिन्न-भिन्न क्रियाओ को करने में काल, स्वभाव, नियति तथा पूर्वकृत कर्मों की अपेक्षा रखता है। करण के विना एकाकी जीव कुछ भी नही कर सकता। मिट्टी से घड़ा बनाने में कुम्भकार को दंड,चक्र,चीवर आदि उपकरणो की आवश्यकता होती है। इसी तरह तात्त्विकबातो के कारण की पर्यालोचना करना करणानुयोग है। प्रत्येक उपादान कारण को कार्यरूप मे परिणत होने के लिये अथवा करने के लिये भिन्न-भिन्न निमित्तकारण होते हैं। जब वे निमित्तकारण अपने-अपने कार्य-निर्माण करने मे व्यापारवान् होते हैं, तब उन्हें करण कहा जाता है। प्रत्येक क्रिया के करते समय साधकतम करण की अत्यन्त आवश्यकता रहती है तथा योगात्मा और कषायात्मा के करणो से ही जीव को व्यवहार पक्ष मे कर्त्ता माना गया है। वास्तव मे देखा जाए तो कर्म-रहित जीव स्वकीय पर्यायों का ही कर्त्ता है।

५. अर्पितानर्पितानुयोग—विशेषण सहित वस्तु को अर्पित कहते हैं और विशेषण-रहित को

अनर्पित। अर्पित का अर्थ मुख्य और अनर्पित का अर्थ गौण है। प्रत्येक वस्तु अनेकधर्मात्मक होती है, जब उसमे प्रयोजनवश जिस धर्म की मुख्यता होती है, तब वह विवक्षावश प्रधानता को प्राप्त होकर अर्पित है, किन्तु वस्तु के जिस धर्म की जिस समय विवक्षा नही होती है, वह अनर्पित कहलाता है। अत: एक ही पदार्थ को कभी नित्य और कभी अनित्य कहने में कोई विरोध नही आता है। जैसे एक ही पुरुष अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है और अपने पुत्र की अपेक्षा पिता कहलाता है, वैसे ही वस्तु के विषय में भी जान लेना चाहिए। एक ही पदार्थ में नित्य और अनित्य, भिन्न और अभिन्न, सत् और असत्, एक और अनेक इत्यादि अनेक विरोधी धर्म रहते है। वक्ता जिस अभिप्राय से नित्य कहता है, उस अभिप्राय से जब भी देखेंगे, तब वह नित्य दीखेगा। जब वह विरोधी अभिप्राय से उसी पदार्थ को देखता है, तब नित्यत्व उसके मस्तिष्क से निकल जाता है और अनित्यत्व का प्रवेश हो जाता है। जैसी दृष्टि होती है, वैसी ही सृष्टि दृष्टिगोचर होती है। जब वस्तु को सामान्य दृष्टि से देखा जाता है, तब अनर्पित और जब विशेष दृष्टि से देखा जाता है, तब अर्पित। एक समय मे एक धर्म की मुख्यता रहती है तो दूसरे की गौणता, किन्तु दोनो का प्रवेश और कथन एक साथ नही होता, इसी को अर्पितानर्पितानुयोग कहते है।

६. **भाविताभावितानुयोग**—जिस वस्तु मे दूसरे द्रव्य के ससर्ग से उसकी वासना आ गई हो, उसे भावित कहते है और जिसे दूसरी वस्तु का ससर्ग प्राप्त न हुआ हो या ससर्ग होने पर भी किसी प्रकार का उस पर प्रभाव न पडा हो उसे अभावित कहते है। वे दो प्रकार के होते है—प्रशस्त भावित और अप्रशस्त भावित। कर्मो से मुक्त होने की भावना और ससार से उद्विग्न होने की भावना से भावित होना प्रशस्त भावित है। इससे विपरीत धर्म से विमुख और पाप भावना से भावित होना अप्रशस्त भावित है। इन दोनो के दो-दो भेद है वामनीय और अवामनीय। किसी ससर्ग से उत्पन्न हुए दोष यदि दूसरे ससर्ग से दूर हो जाए तो उन्हे वामनीय कहते है और जो किसी भी तरह दूर न हो सकें, वे अवामनीय कहलाते हैं। भावित-अभावित और वाम्य-अवाम्य को लेकर किसी भी द्रव्य की व्याख्या करना भाविता-भावितानुयोग है।

७. **बाह्याबाह्यानुयोग**—जब विलक्षणता और समानता को लेकर द्रव्य की व्याख्या की जाए, तब वह बाह्याबाह्य कहलाता है। जिस प्रकार जीव द्रव्य अरूपी होने पर भी उसका चैतन्य धर्म आकाशास्तिकाय से विलक्षण है, क्योकि आकाश और जीव दोनो अमूर्त और अरूपी होने से समान धर्म वाले है, फिर भी जीव में चैतन्य धर्म अन्य द्रव्यो की अपेक्षा विलक्षण ही पाया जाता है। जीव अमूर्त और अरूपी होनेकी अपेक्षा आकाश द्रव्य जीव से अबाह्य है, किन्तु चैतन्य धर्म-युक्त होने से जीव आकाश से बाह्य है। अथवा जिस पदार्थ का अवलोकन बाह्य दृष्टि से किया जाय वह बाह्य और जिस को अन्तरंग से देखा या परखा जाए वह अबाह्य। द्रव्य की बाहरी एव भीतरी पृष्ठभूमि का वर्णन करना बाह्या-बाह्यानुयोग कहलाता है।

८. **शाश्वताशाश्वतानुयोग**—जिस द्रव्य की व्याख्या करते हुए शाश्वत और अशाश्वत का वर्णन किया जाए उसे शाश्वताशाश्वतानुयोग कहते है। जैसे कि जीव द्रव्य शाश्वत है, क्योकि न कभी इसकी उत्पत्ति हुई और न कभी अत होगा, परन्तु मनुष्य आदि पर्यायो से वह अशाश्वत भी है, क्योकि उसको

पर्याय बदलती रहती है ध्रौव्य की अपेक्षा से जीव शाश्वत और उत्पाद एव व्यय पर्याय की अपेक्षा अशाश्वत है। इस विचार-धारा को लेकर द्रव्य की व्याख्या करना शाश्वताशाश्वतानुयोग कहलाता है। नित्यानित्यवाद ही रमणीय है।

९. **तथाज्ञानानुयोग**—जैसी वस्तु है उस के अनुरूप ज्ञान को तथाज्ञान कहते है। वस्तु के यथार्थज्ञान को तथाज्ञान अर्थात् तथ्यज्ञान कहा जाता है।

१० **अतथाज्ञानानुयोग**—तीन अज्ञानो का वर्णन करना या मिथ्यादृष्टि जिस तत्त्व-ज्ञान का वर्णन करता है वह अथवा हेत्वाभास एव प्रमाणाभास से होनेवाला विपरीतज्ञान अतथाज्ञानानुयोग कहलाता है, जैसे कथञ्चिद् नित्यानित्य वस्तु को एकान्त-नित्य या एकान्त-अनित्य कहना। इन दस रूपों में द्रव्य की व्याख्या की जाती है।

उत्पात-पर्वतों के प्रमाण

मूल—चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो तिगिच्छिकूडे उप्पायपव्वए दसबावीसे जोयणसए विक्खंभेणं पण्णत्ते। चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो सोमस्स महारन्नो सोमप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयण-सयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, दस गाउयसयाइं उव्वेहेणं, मूले दस जोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते। चमरस्स णमसुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो जमस्स महा-रन्नो जमप्पभे उप्पायपव्वए एव चेव। एवं वरुणस्सवि। एवं वेसमणस्सवि।

बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो रुयगिंदे उप्पायपव्वए मूले दस-बावीसे जोयणसए विक्खंभेणं पण्णत्ते। बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स सोमस्स एव चेव। जहा चमरस्स लोगपालाण तं चेव बलिस्सवि।

धरणस्स णं णागकुमारिंदस्स णागकुमाररन्नो धरणप्पभे उप्पायपव्वए दस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, दसगाउयसयाइं उव्वेहेणं, मूले दसजोयण-सयाइं विक्खंभेणं। धरणस्स नागकुमारिंदस्स णं नागकुमाररण्णो काल-वालस्स महारण्णो महाकालप्पभे उप्पायपव्वए दस जोयणसयाइं उड्ढं एवं चेव। एवं जाव संखवालस्स। एवं भूयाणंदस्सवि। एवं लोगपालाणंवि। से जहा धरणस्स एवं जाव थणियकुमाराणं सलोगपालाणं भाणियव्वं। सव्वेसिं उप्पायपव्वया भाणियव्वा, सरिसणामगा।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सक्कप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसहस्साइं

उड्ढं उच्चत्तेणं, दस गाउयसहस्साइं उव्वेहेणं, मूले दस जोयणसहस्साइ विक्खंभेण पण्णत्ते। सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो जहा सक्कस्स तहा सव्वेसि लोगपालाण, सव्वेसि च इंदाणं जाव अच्चुयत्ति। सव्वेसि पमाणमेगं।२६।

छाया—चमरस्य खल्वसुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य तिगिच्छिकूट उत्पातपर्वतो मूले द्वाविंशति-योजनशतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः। चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य सोमस्य महाराजस्य सोमप्रभ उत्पातपर्वतो दशयोजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन, दशगव्यूतशतान्युद्वेधेन, मूले दशयोजनशतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः। चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरकुमार-राज्ञो यमस्य महाराजस्य यमप्रभ उत्पातपर्वत एवमेव। एव वरुणस्यापि। एव वैश्रमणस्यापि।

बलेर्वैरोचनेन्द्रस्य वैरोचनराज्ञो रुचकेन्द्र उत्पातपर्वतो मूले दशद्वाविंशतिर्योजन-शतानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः। बलेर्वैरोचनेन्द्रस्य सोमस्यैवञ्चैव, यथा चमरस्य लोक-पालानां तदेव बलेरपि।

धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारमहाराजस्य धरणप्रभ उत्पातपर्वतो दशयोजनशता-न्यूर्ध्वमुच्चत्वेन, दशगव्यूतशतान्युद्वेधेन, मूले दशयोजनशतानि विष्कम्भेण। धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराज्ञः कालपालस्य महाराजस्य महाकालप्रभ उत्पातपर्वतो दशयोजनशतान्यूर्ध्वमेवमेव। एवं यावत् शङ्खपालस्य, एव भूतानन्दस्यापि। एवं लोक-पालानामपि। तस्य यथा धरणस्य। एवं यावत्स्तनितकुमाराणां स लोकपालानां भणि-तव्यम्। सर्वेषामुत्पातपर्वता भणितव्याः, सदृशनामकाः।

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य शक्रप्रभ उत्पातपर्वतो दशयोजनसहस्राण्यूर्ध्वमुच्चत्वेन, दशगव्यूतसहस्राण्युद्वेधेन, मूले दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः। शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य शक्रप्रभ उत्पातपर्वतो दशयोजनसहस्राण्यूर्ध्वमुच्चत्वेन, दश गव्यूतसहस्राण्यु-द्वेधेन, मूले दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः। शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य यथा शक्रस्य तथा सर्वेषां लोकपालानां सर्वेषाञ्चेन्द्राणां यावद् अच्युतस्येति। सर्वेषां प्रमाणमेकम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—चमर असुरेन्द्र असुरकुमारराज का तिगिच्छकूट उत्पातपर्वत मूल मे एक हजार बाईस योजन चौडा है। चमर असुरेन्द्र के सोम नामक लोकपाल का सोमप्रभ उत्पात पर्वत एक हजार योजन ऊंचा, एक हजार कोस गहरा, मूल मे वह एक हजार योजन चौड़ा है। चमर असुरेन्द्र असुर-

कुमार राज के यम महाराज का यमप्रभ उत्पात पर्वत भी इसी तरह जानना चाहिये। इसी तरह वरुण का भी और वैश्रमण का भी समझना चाहिये।

बलि वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज का रुचकेन्द्र उत्पात पर्वत मूल में एक हजार बाईस योजन चौड़ाईवाला है। बलि वैरोचनेन्द्र के सोम का उत्पात पर्वत भी इसी तरह है, जैसे चमरेन्द्र के लोकपालों का है और बलि के शेष लोकपालों के उत्पात पर्वतों की गहराई चौड़ाई आदि भी उसी तरह जान लेनी चाहिए।

धरण नागकुमार राज का धरणप्रभ उत्पात पर्वत दस सौ योजन ऊंचा, दस गव्यूत शत गहरा और मूल में एक हज़ार योजन चौड़ा है। धरण नागकुमारेन्द्र नागकुमार राजा के कालपालराजा का महाकाल प्रभ-उत्पात पर्वत सौ योजन ऊंचा पूर्ववत् जानना चाहिए। इसी प्रकार शंखपाल आदि का भी। इसी तरह भूतानन्द का भी। ऐसे ही उनके वर्णन है, लोकपालों का जैसे कि धरण का है, इसी तरह स्तनितकुमारों का लोकपालों समेत कहना चाहिए। सब के उत्पात-पर्वत उनके नाम, उनकी लम्बाई चौड़ाई-गहराई आदि भी समझनी चाहिए।

शक्र देवेन्द्र देवराज का शक्रप्रभ उत्पात पर्वत ऊंचाई में दश हज़ार योजन, दश हज़ार गव्यूत उद्वेध में और मूल में दस हज़ार योजन चौड़ा है। शक्र देवेन्द्र देवराज के सोम महाराज का जैसे शक्र का है, उसी तरह सब लोकपालों का और सभी इन्द्रों का अच्युत इन्द्र तक कहना। सबका प्रमाण एक जैसा है।

विवेचनिका—

गणितानुयोग का आश्रयण करके प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकर्त्ता ने चमरेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक सभी इन्द्रों के उत्पात पर्वतों का तथा उनके लोकपालों के उत्पात पर्वतों का प्रमाण सहित वर्णन किया है। जब अधोलोकवर्ती देव अथवा ऊर्ध्वलोक वासी देव मध्यलोक में आते हैं, तब वे किसी विवक्षित पर्वत-मार्ग से ही यहा आते हैं, उन्ही पर्वतों को उत्पात-पर्वत कहा जाता है।[1]

१. उत्पतनमूर्ध्वगमनमुत्पातस्तेनोपलक्षितः पर्वत उत्पात-पर्वत । इति वृत्तिकार-

तिर्यग्लोक में जाने के लिये जिन पर्वतों पर आकर देव उत्तर वैक्रिय शरीर का निर्माण करते हैं और फिर वहां से तिर्यग्लोक मे आते है उन्हींको उत्पात पर्वत कहा जाता है। उत्पात-पर्वत सब देवों के भिन्न-भिन्न है।

चमरेन्द्र असुरकुमार राजा का उत्पातपर्वत तिगिच्छि कूट है। तेरहवें रुचक द्वीप से दक्षिण की ओर असख्यात द्वीप-समुद्रों को लांघकर एक अरुणवर द्वीप आता है, उस द्वीप की सीमा से ४२००० योजन अरुणवर समुद्र में जाकर तिगिच्छिकूट पर्वत है जो कि प्रासादयुक्त है। वह पर्वत रत्नमय है। पद्मवरवेदिका और वनखण्ड से परिवेष्टित है। वह मूल में १०२२ योजन चौड़ा है।

चमरेन्द्र असुरकुमार महाराज के चार लोकपाल हैं—सोम, यम, वरुण और वैश्रवण। लोकपालों के जो नाम है, उनके नामो के सदृश उत्पात पर्वतों के नाम है, जैसे कि सोमप्रभ, यमप्रभ, वरुण-प्रभ और वैश्रवणप्रभ। ये चार उत्पातपर्वत १००० योजन गहरे है और १००० योजन ऊंचे हैं।

बलि वैरोचनेन्द्र असुरकुमार महाराज का उत्पातपर्वत रुचकेन्द्र १०२२ योजन विस्तार वाला है। वह रुचक द्वीप से असख्यात द्वीप समूद्रो को लांघ कर अरुणवर समुद्र का ४२००० योजन अवगाहनकर उत्तर दिशा मे है। उसकी उचाई गहराई और चौडाई भी तिगिच्छिकूट नामक उत्पात पर्वत की तरह जान लेनी चाहिए। उस के चार लोकपालों के उत्पात पर्वत भी वैसे ही समझने चाहिए जैसे कि चमरेन्द्र के लोकपालों के है।

शेष आठ भवन-पतियों के १६ इन्द्र हैं। उन की राजधानियां आठ दक्षिण दिशा में और आठ उत्तर दिशा में हैं। जिस दिशा में जिस इन्द्र की राजधानी है, उसका तथा उस के लोकपालों के उत्पातपर्वत भी उसी दिशा मे हैं, सभी उत्पात पर्वतों की गहराई-चौड़ाई और उचाई १००० योजन की है। जिस इन्द्रका जैसा नाम है तथा उसके लोकपालों का जैसा नाम है, उस नाम के पीछे 'प्रभ' शब्द जोड़ देने से उत्पातपर्वत का नाम बन जाता है। जैसे धरणेन्द्र का धरण-प्रभ, शक्रेन्द्र का शक्रप्रभ. इसी तरह शेष उत्पात पर्वतों के विषय में भी जान लेना चाहिए। अतर केवल इतना ही है कि द्वीपकुमार, दिक्कुमार, अग्निकुमार और स्तनितकुमार इन्द्रों और उनके लोकपालो के उत्पात-पर्वत अरुणवर द्वीप के अरुणवर समुद्र में हैं। वानव्यंतर और ज्योतिषीन्द्रों के न उत्पात पर्वत हैं और न उनके लोकपाल ही हैं। 'वैमानिको' के १० इन्द्र है और प्रत्येक इन्द्र के ४-४ लोकपाल है। शक्रेन्द्र, सानत्कुमार, ब्रह्म, महाशुक्र तथा प्राणत इन्द्रो के उत्पातपर्वत दक्षिण दिशा में हैं और ईशानेन्द्र, माहेन्द्र, लांतक, सहस्रार और अच्युत, इन ५ वैमानिक इन्द्रों के उत्पातपर्वत उत्तर दिशा में है।

प्रश्न हो सकता है कि भवनपति इन्द्र और देव इस मध्यभूमि पर आते ही है, अत: उन के उत्पात पर्वतो का होना तो सम्यक् है, किन्तु जो शक्रेन्द्र आदि देव है, उनके उत्पातपर्वत किस कारण कथन किए गए है?

इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि शक्रेन्द्र आदि देव जब कल्याणक आदि दिवसों में यहां आते हैं, तब वे देव पहले अपने-अपने उत्पातपर्वतों पर उतरते है, फिर यहां आया करते हैं। दूसरी बात यह है कि वे पर्वत उनके अधिकार में है, वे ऊपर से आते हुए अपने-अपने प्रासादों में ठहरते हैं।

इस दृष्टिकोण से उन पर्वतों का नाम उत्पातपर्वत पड़ा है। यद्यपि देवो की गति अचिंत्य है तथापि व्यवहार नय की अपेक्षा से तथा अधिकार की अपेक्षा से उपर्युक्त वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

हजार योजन अवगाहना वाले जीव

मूल—बायरवणस्सइकाइयाणं उक्कोसेणं दसजोयणसयाइं सरीरोगाहणा पण्णत्ता। जलचरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं उक्कोसेणं दस जोयणसयाइं सरीरोगाहणा पण्णत्ता। उरपरिसप्प-थलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं उक्कोसेणं एवं चेव।२७।

छाया—बादरवनस्पतिकायिकानामुत्कर्षेण दशयोजनशतानि शरीरावगाहना प्रज्ञप्ता। जलचर-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानामुत्कर्षेण दशयोजनशतानि शरीरावगाहना प्रज्ञप्ता। उरः-परिसर्प-थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानामुत्कर्षेणैवमेव।

शब्दार्थ—बायरवणस्सइकाइयाणं उक्कोसेणं—बादरवनस्पतिकाय जीवो की उत्कृष्ट; दसजोयणसयाइ सरीरोगाहणा पण्णत्ता—दस सौ योजन शरीर की अवगाहना कही गई है; जलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं उक्कोसेण—जलचर-पचेन्द्रिय तिर्यञ्चो की उत्कृष्ट; दस जोयणसयाइं—एक हज़ार योजन; सरीरोगाहणा पण्णत्ता—शरीर की अवगाहना कही गई है; उरपरिसप्पथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाण उक्कोसेणं—उर परि-सर्प-स्थल-चर-पचेन्द्रिय तिर्यञ्चो की उत्कृष्ट अवगाहना, एवं चेव—पूर्ववत् जाननी चाहिये।

मूलार्थ—बादर वनस्पतिकायिक जीवो की उत्कृष्ट शरीर की अवगाहना एक हज़ार योजन है। जलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिज जीवो की उत्कृष्ट शरीर-अवगाहना एक हज़ार योजन है। इसी प्रकार उर.परिसर्प-स्थलचर पञ्चेन्द्रिय जीवों की अवगाहना भी जाननी चाहिये।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्रो मे हजार-हज़ार का अधिकार चल रहा है, अत प्रस्तुत सूत्र में भी हज़ार का आश्रयण कर हजार योजन की अवगाहना किन-किन जीवो की है? यह निर्देश किया गया है। जितने आकाश-प्रदेश शरीर द्वारा अवगाहन किए जाए, उसे अवगाहना कहते है। अवगहना का माप उत्सेधागुल से किया जाता है न कि प्रमाणांगुल से। कहा भी है—'उस्सेह पमाणाउमिणे देहं"। बादर वनस्पतिकायिक जीवों की उत्कृष्ट अवगहना हजार योजन की है। यह कथन समुद्रवर्ती

पद्मनाल की अपेक्षा से समझना चाहिए। इतनी ही अवगहना गर्भज मत्स्य की होती है। उक्त कथन स्वयंभूरमण समुद्र की अपेक्षा से कहा गया है। गर्भज उरःपरिसर्प महोरग आदि ढाई द्वीप से बाहर के द्वीपो मे पाए जाते है। पद्मनाल, मच्छ और महोरग, इन की उत्कृष्ट अवगहना १००० योजन की होती है।

तीसरे और चौथे तीर्थंकर का अन्तर

मूल—संभवाओ णमरहाओ अभिणंदणे अरहा दसहिं सागरोवमकोडिसयसहस्सेहिं वीइक्कंतेहिं समुप्पन्ने ।२८।

छाया—संभवतोऽर्हतोऽभिनन्दनोऽर्हन् दशसु सागरोपमकोटिशतसहस्रेषु व्यतिक्रान्तेषु समुत्पन्नः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—श्री सम्भवनाथ अरिहन्त से श्री अभिनन्दन अरिहन्त के उत्पन्न होने का अन्तरकाल दश लाख कोटि सागरोपम का है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे अवगहना का वर्णन किया गया है। अवगहना आदि नियमबद्ध विषयों का प्रतिपादन तीर्थङ्कर भगवान ही करते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में दो तीर्थङ्करो के अन्तर-काल का निर्देश किया गया है।

तीसरे तीर्थङ्कर भगवान के निर्वाण होने के बाद दस लाख करोड़ा-करोड़ सागरोपम काल बीतने पर चौथे तीर्थङ्कर अभिनन्दन अरिहन्त का जन्म कल्याणक हुआ था। इसी तरह भिन्न-भिन्न प्रकार से चौबीस तीर्थङ्करो का अन्तर-काल शास्त्रकारो द्वारा निर्दिष्ट हुआ है।

दशविध अनन्त

मूल—दसविहे अणंते पण्णत्ते, तं जहा—णामाणंतए, ठवणाणंतए, गणणाणंतए, पएसाणंतए, एगओणंतए, दुहओणंतए, देसवित्थाराणंतए, सव्ववित्थाराणंतए, सासयाणंतए ।२९।

छाया—दशविधमनन्तकं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—नामानन्तकं, स्थापनानन्तकं, द्रव्यानन्तकं, गणनानन्तक, प्रदेशानन्तकम्, एकतोऽनन्तकं, उभयतोऽनन्तकं, देशविस्तारानन्तक, सर्वविस्तारानन्तकं, शाश्वतानन्तकम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश प्रकार का अनन्त होता है, यथा—नाम-अनन्त, स्थापना-अनन्त, द्रव्य-अनन्त, गणना-अनन्त, प्रदेश-अनन्त, एकतोऽनन्त, उभयतोऽनन्त, देश-विस्तार-अनन्त, सर्वविस्तार-अनन्त, शाश्वत-अनन्त ।

विवेचनिका—

अरिहन्त भगवान ही जीवादि अनन्त पदार्थों को देख सकते हैं अत: प्रस्तुत सूत्र मे दस प्रकार के अनन्तक प्रतिपादन किए गए हैं। जिसकी नामावली मूलार्थ मे लिख दी गई है। प्रत्येक अनन्तक का विवरण इस प्रकार है—

१. **नामानन्तक**—जीव पदार्थ हो या अजीव पदार्थ, जिस पदार्थ का नाम अनन्तक रख दिया है, उसे नामानन्तक कहते है, जैसे कि अनन्तराम, अनन्त चौदस इत्यादि—

२. **स्थापनानन्तक**—जिस अनन्त की स्थापना की गई है, वह स्थापनानन्तक है। अनन्त का नक्शा या मॉडल बनाना सद्भूत स्थापनानन्त है और अनघड वस्तु में अनन्त की स्थापना कर लेना असद्भूत स्थापनानन्त कहलाता है। जैसे अक्ष आदि मे अनत की स्थापना करना।

३. **द्रव्यानन्तक**—जीव द्रव्य और पुद्गलद्रव्य अनन्त होने से इन्हे द्रव्यानन्तक कहते है।

४. **गणनानन्तक**—१, २, ३, सख्यात असख्यात अनन्त इस तरह केवल गिनती करना गणनानन्तक कहलाता है। इस मे वस्तु की विवक्षा नही होती।

५ **प्रदेशानन्तक**—आकाश प्रदेशों मे रहनेवाली अनन्तता को प्रदेशानन्तक कहते है।

६. **एकतोऽनन्तक**—अतीतकाल अथवा अनागत काल इन में से किसी एक को एकतोऽनन्तक कहते है, क्योकि अतीतकाल भी अनन्त है और अनागतकाल भी अनन्त है।

७ **उभयतोऽनन्तक**—जो पदार्थ अतीत और अनागत दोनो कालो की अपेक्षा से अनन्त है अथवा एक दिशा मे भी आकाश के अनन्त प्रदेश है और दो दिशाओ मे भी आकाश प्रदेश अनन्त है, अत: उन्हे उभयतोऽनन्तक कहा जाता है।

८. **देशविस्तारानन्तक**—आकाश-प्रदेशो के प्रतर भी अनन्त है।

९. **सर्वविस्तारानन्तक**—आकाशास्तिकाय में अनन्त प्रदेश है, अत: उन्हे सर्व-विस्तारानन्तक कहा जाता है।

१०. **शाश्वतानन्तक**—जिस पदार्थ का आदि-अन्त न हो, जैसे—जीवादि वस्तु अनन्त है। जीव और अजीव ये दोनों द्रव्य अनादि अनन्त हैं, अतः इनकी अनन्तता शाश्वतानन्तक कहलाती है। ●

पूर्वगत वस्तु और चूलवस्तु

मूल—उप्पायपुव्वस्स णं दस वत्थू पण्णत्ता। अत्थिणत्थि प्पवायपुव्वस्स णं दस-चूलवत्थू पण्णत्ता ।३०।

छाया—उत्पादपूर्वस्य दशवस्तूनि प्रज्ञप्तानि। अस्तिनास्ति-प्रवादपूर्वस्य दश-चूलावस्तूनि प्रज्ञप्तानि।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—उत्पादपूर्व की दश वस्तु अर्थात् अध्ययन विशेष वर्णन किये गए है। अस्ति-नास्ति प्रवादपूर्व की दश चूला-वस्तु वर्णन की गई है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में वर्णित अनन्तादि पदार्थों के ज्ञान का मूल स्रोत पूर्वगत-श्रुतज्ञान है, अत: प्रस्तुतसूत्र में दश सख्या से सम्बन्धित पूर्वो का वर्णन किया गया है। जैनागमों के अनुसार प्रत्येक पूर्व श्रुतज्ञान का समुद्र है। पूर्वों का ज्ञान १४ भागों मे विभक्त है। उनमें पहले पूर्व का नाम उत्पादपूर्व है। इसमें दस वस्तु है। पूर्वों के अतर्गत बडे अधिकार को वस्तु कहा जाता है। अस्ति-नास्ति-प्रवाद पूर्व में दस चूलावस्तु है। पूर्वा की सख्या में इसका क्रमाङ्क चौथा है।

प्रतिसेवना, आलोचना और प्रायश्चित्त

मूल—दसविहा पडिसेवणा पण्णत्ता, तं जहा—

दप्प पमाय णाभोगे आउरे आवईसु य।
संकिए सहसक्कारे, भयप्पओसा य वीमसा।

दस आलोयणा दोसा पण्णत्ता, तं जहा—

आकंपइत्ता अणुमाणइत्ता जंदिट्ठं बायरं य सुहुमं वा।
छन्नं सद्दाउलगं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी।

दसहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ अत्तदोसमालोएत्तए, तं जहा—जाइसंपन्ने, कुलसंपन्ने, एवं जहा अट्ठठाणे जाव खंते, दंते, अमाई, अपच्छाणुतावी।

दसहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ आलोयणं पडिच्छित्तए, तं जहा-आयारवं, अवहारवं जाव अवायदंसी, पियधम्मे, दढधम्मे।

दसविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते, तं जहा-आलोयणारिहे जाव अणवट्ठप्पारिहे, पारंचियारिहे।३१।

छाया—दशविधा प्रतिसेवना प्रज्ञप्ता, तद्यथा—

दर्पः प्रमादोऽनाभोगः आतुर आपत्सु च।
शंकितः सहसात्कारो भयः प्रद्वेषश्च विमर्शः।

दश आलोचना-दोषाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

आकम्प्यः, अनुमान्यः, यद्दृष्ट, बादरश्च सूक्ष्मं वा।
छन्नं शब्दाकुलं बहुजनमव्यक्त तत्सेवी॥

दशभिः स्थानैः सम्पन्नोऽनगारोऽर्हत्यात्मदोषमालोचयितुम्, तद्यथा—जाति-सम्पन्नः, कुल-सम्पन्नः, एवं यथा अष्टमस्थाने यावत् क्षान्तः, दान्तः, अमायी, अपश्चादनुतापी।

दशभिः स्थानैः सम्पन्नोऽनगारोऽर्हत्यालोचनां प्रत्येष्टुम्, तद्यथा—आचारवान्, अवधारणावान् यावद् अपातदर्शी, प्रियधर्मः, दृढधर्मः।

दशविधं प्रायश्चित्त प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—आलोचनार्हं यावद् अनवस्थाप्यार्हं, पाराश्चिकार्हम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दस प्रकार से प्रतिसेवना अर्थात् दोषों का लगना होता है, यथा—दर्प से, प्रमाद से, विस्मृति से, रोगादि के कारण से, आपत्काल मे, शङ्का से, अकस्मात्, भय से, द्वेष से और परीक्षा से।

दस आलोचना के दोष है, यथा—स्वल्प दण्ड के लिये वृद्धों की सेवा करना, दोषों का अनुमान करके आलोचना करना, देखे जाने पर दोषो की आलोचना करना, स्थूल दोषों की आलोचना करना, सूक्ष्म दोषों की आलोचना करना, अव्यक्त शब्द से आलोचना करना, उच्च स्वर से आलोचना करना, एक दोष बहुतों से कहना, अगीतार्थ मुनि के पास आलोचना करना और समान दोषसेवी के पास आलोचना करना।

दश स्थानों से सम्पन्न अनगार आत्मदोषों की आलोचना करने के योग्य

होता है, जैसे—जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, जैसे आठवें स्थान में वर्णन किया गया है, यावत् क्षमावन्त, दान्त, माया-रहित, आलोचना के पश्चात् पश्चात्ताप न करनेवाला।

दस स्थानों से सम्पन्न अनगार आलोचना सुनने योग्य अथवा प्रायश्चित्त देने योग्य होता है, यथा—आचारवान्, अवधारणवान्, यावत् जो आलोचना नहीं करते उनको भावी कष्ट दिखा कर आलोचना करानेवाला, प्रियधर्मी और दृढ़धर्मी।

दस प्रकार का प्रायश्चित्त होता है, यथा—आलोचना के योग्य यावत् नूतन दीक्षा, पारांचिक अर्थात् कुछ समय तक तपस्या आदि करवा कर पुनः दीक्षित करना।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में पूर्वगत वस्तु और चूलवस्तु का उल्लेख किया गया है। उन अधिकारों में दोषों से निवृत्ति और गुणो में प्रवृत्ति का विधान है, उन्हीं का आश्रय लेकर सूत्रकार ने इस सूत्र मे प्रति-सेवनादि का परिचय प्रस्तुत किया है।

आगमों की भाषा में दोष-सेवन को प्रतिसेवना कहते है। निषिद्ध क्रियाओं के सेवन करने से ही व्रत दूषित होते है। दूषित व्रत आत्म-साधना मे अकिंचित्कर होते है। जैसे अस्वस्थ एव दुर्बल व्यक्ति के द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य नही होता है, वैसे ही दूषित व्रती भी साधनोत्तीर्ण स्तर पर नहीं पहुच सकता। जब भी साधक अपनी साधना को किसी प्रकार दूषित कर देता है, तब वह इन दस प्रकार की प्रतिसेवनाओं में से किसी भी एक कारण से दूषित किया करता है। उन का विवरण इस प्रकार है—

१. **दर्प**—दर्प्प का अर्थ है अहंकार। अहकारवश दोष लगाना। क्योकि दर्प पूर्वक गमन आदि क्रियाए करते समय साधक को प्राणातिपात, असत्य आदि का दोष लग ही जाता है। अभिप्राय यह है कि जो क्रिया दर्प-पूर्वक की जाती है, वह दोष का कारण अवश्य होती है।

२. **प्रमाद**—किसी भी सत्कार्य में उपेक्षा रखना प्रमाद है। किसी हसी-मजाक, विकथा आदि में सलग्न रहना। विषय, कषाय, निद्रा, आलस्य आदि। का अतर्भाव प्रमाद में हो जाता है। प्रमाद के प्रविष्ट होते ही साधक में स्वकर्त्तव्य-विमुखता आ जाती है। अतः कर्त्तव्य-विस्मृति ही प्रमाद-दोष है।

३. **अनाभोग**—आभोग का अर्थ है ज्ञान। जिस दोष की जानकारी साधक को नही है, उसका सेवन करना। जो दोष अनजाने से लगता है, वह अनाभोग दोष कहलाता है।

४. आतुर—भूख-प्यास, रोग, शोक आदि से पीड़ित होता हुआ साधक, जब अपनी साधना को दूषित करता है, तब वह आतुर दोष कहलाता है।

५. आपत्ति—क्लेश, दुःख या कष्ट के समय को आपत्ति कहते हैं। विपत्ति-काल मे भी दोष लग जाने की सभावना रहती है। आपत्ति काल चार प्रकार का होता है—द्रव्यतः, क्षेत्रत, कालतः और भावतः। प्रासुकद्रव्य का दुर्लभ हो जाना द्रव्य से आपत्ति है। मार्ग में या स्थान विशेष से होनेवाले कष्ट को क्षेत्र से आपत्ति कहा जाता है। गर्मी या अतिदुर्भिक्ष आदि से होनेवाली आपत्ति को काल-अपत्ति कहते हैं। रोग आदि से अभिभूत होकर साधना को दूपित कर लेना, भाव से आपत्ति है।

६. शकित—शंका होने पर दोष लगाना।

७. सहसाकार—अचानक दोष लग जाना, जैसे कि पहले बिना ही देखे आगे कदम बढाया, फिर किसी जीव को देखता हुआ भी उस पांव को उठाने मे समर्थ न रहने पर जो दोष लगता है, उसे सहसाकार कहते हैं।

८. भय—डरकर बिना यतना के भागना या वृक्षादि पर चढ जाना। क्योंकि भय से सभी पापों का प्रवेश हो जाना स्वाभाविक है।

९. प्रद्वेष—किसी पर द्वेष रखने से भी व्रत दूपित हो जाता है।

१०. विमर्श—शिष्य आदि की परीक्षा के लिये दोषो का सेवन करना विमर्श कहलाता है।

माया आदि के कारण से यदि किसी की परीक्षा ली जाए अथवा निर्णय के उद्देश्य से किसी सचित्त आदि वस्तु का अनुसधान किया जाए तो दोषों की निवृत्ति के लिये गुरु के समीप आलोचना अवश्य करनी चाहिए।

आलोचना वही साधक कर सकता है, जिसमें दोपों के प्रति घृणा है। सत्य को पाने के लिये पहले असत्य की प्रतिष्ठा का उन्मूलन करना जरूरी है। माया से लगे हुए दोपो को निवृत्ति आलोचना से हो सकती है, किन्तु माया-सहित की हुई आलोचना से आत्म-शुद्धि नही होती।

साधक दस कारणो से आलोचना करता हुआ भी आराधक नही बन सकता, जैसे कि—

आकंपइत्ता—प्रसन्न होने पर गुरु थोड़ा प्रायश्चित देगे, यह सोचकर उन्हे सेवा आदि से प्रसन्न करके फिर उनके पास दोपो की आलोचना करना।

२. अणुमाणइत्ता—दोपों का अनुमान करके आलोचना करना, जैसेकि बिल्कुल छोटा अपराध बताने से गुरु थोड़ा दण्ड देगे, यह सोचकर अपने अपराध को बहुत छोटा करके बताना।

३. जंदिट्ठं—जिस दोष का सेवन करते हुए गुरु आदि ने देख लिया हो, उसी की आलोचना करना, अन्य की नही।

४. बायरं—बडे-बड़े दोपो की आलोचना करना, सूक्ष्म की नही।

५. सुहुमं—छोटे-छोटे दोषो की आलोचना करना, इस के पीछे केवल माया ही रहती है। क्योकि दूसरे यह समझेंगे कि जो छोटे-छोटे दोषो की भी आलोचना करता है, वह बड़े-बड़े दोपो की

आलोचना क्यों न करेगा ? यह विश्वास उत्पन्न कराने के लिये सूक्ष्म दोषों की ही आलोचना करना बादर दोषों की नहीं ।

६. **छन्नं**—अधिक लज्जा के कारण इस तरह गुनगुनाकर आलोचना करना, जिसे आचार्यादि भलि-भांति न सुन सकें ।

७. **सद्दाउलगं**—जिस आलोचना को अनधिकारी भी सुन सकें, इस प्रकार ऊचे-ऊचे शब्दों से आलोचना करना ।

८. **बहुजण**—एक ही दोष की आलोचना बहुत से गुरुओं के पास करना ।

९. **अव्वत्त**—जिस को प्रायश्चित्त-विधान का ज्ञान नहीं है, उस के पास आलोचना करना ।

१०. **तस्सेवी**—जिस दोष की आलोचना करनी है, उसी दोष का सेवन करनेवाले के पास आलोचना करना । यह निश्चित है कि कपट पूर्वक कोई भी धर्म-क्रिया की जाए, वह सदोष मानी जाती है । क्योकि निष्कपट हृदय में ही धर्म स्थिर रह सकता है ।

जाने या अनजाने मे लगे हुए दोषों को आचार्य आदि के सामने निवेदन करके, उसके लिये उचित प्रायश्चित्त लेना और अपने भीतर दोषों को अच्छी तरह देखना कि कोई दोष आलोचना के बिना रह न जाये, इस प्रकार आलोचना से ही साधनामय जीवन शुद्ध होता है ।

दस गुणों से सपन्न अनगार ही अपने दोषों की आलोचना कर सकता है, जैसे कि :—

१. **जाति-संपन्न**—उत्तम जातिवाला साधक सर्वप्रथम बुरा काम करता ही नहीं । यदि कभी उस के द्वारा भूल या कोई अपराध हो भी जाए, तो वह उसकी आलोचना निष्कपटता से कर लेता है ।

२. **कुल-संपन्न**—उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति ही लिए हुए प्रायश्चित्त का सम्यक् वहन कर सकता है ।

३ **विनय-संपन्न**—विनीत व्रती ही धर्मगुरु की बात हृदय से मान कर आलोचना कर लेता है ।

४. **ज्ञान-संपन्न**—मोक्ष-मार्ग के साधक के लिये कौन-कौन से कार्य बाधक है और कौन-कौन से नही ? इस बात को भली प्रकार जाननेवाला ज्ञानी ही आलोचना कर सकता है ।

५. **दर्शन-संपन्न**—आलोचना करने से ही आत्म-शुद्धि हो सकती है । ऐसी श्रद्धा रखते हुए आलोचना करनेवाला दर्शन सपन्न कहलाता है ।

६. **चारित्र-संपन्न**—चारित्रवान ही आलोचना कर सकता है ।

७. **क्षान्त**—जो गुरु द्वारा भर्त्सना अर्थात् फटकार मिलने पर भी क्रोध नहीं करता, वही क्षमावान है, वही आलोचना कर सकता है ।

८. **दान्त**—इन्द्रियों के विषयों में अनासक्त व्यक्ति कठोर से कठोर प्रायश्चित्त को भी शीघ्र स्वीकार कर लेता है, अत: आलोचना करनेवाले का जितेन्द्रिय होना भी आवश्यक है ।

९. **अमायी**—माया-रहित व्यक्ति ही आलोचना कर सकता है । अपने पाप को न छिपाना ही सरलता का चिह्न है ।

१०. अपश्चात्तापी—आलोचना करने के बाद कृत आलोचना का पश्चात्ताप न करे कि मैंने आलोचना क्यो की है ? इन दस गुणों से संपन्न व्यक्ति ही शुद्ध आलोचना कर सकता है।

दस गुणों से सपन्न समर्थ व्रती दूसरे की आलोचना सुनने के योग्य होता है। प्रत्येक व्यक्ति के सामने आलोचना नही करनी चाहिए। आलोचना वही सुन सकता है जो अन्य सहस्रोगुण के होते हुए भी दस गुणों से संपन्न हो। वे दस गुण इस प्रकार है।

१. आचारवान्—ज्ञानादि पचाचार का पालन करने वाला हो।

२. अवधारणावान—आलोचना के द्वारा बताए हुए अतिचारों को मन में धारण करनेवाला हो।

३. व्यवहारवान—आगम आदि पांच प्रकार के व्यवहारों का जानकार हो।

४. अपव्रीडक—जो अपने दोषों को लज्जा के कारण छिपाता हो,की मीठे वचनो के द्वारा ऐसे शिष्य लज्जा दूर करके अच्छी तरह आलोचना करानेवाला हो।

५. प्रकुर्वक—आलोचित दोषों का प्रायश्चित्त देकर अतिचारों की शुद्धि कराने में समर्थ हो।

६. अपरिश्रावी—आलोचना करनेवाले के दोषों को दूसरे के सामने प्रकट न करनेवाला एव गम्भीर स्वाभाववाला हो।

७. निर्यापक—यदि आलोचना करनेवाला व्यक्ति दुर्बल—किसी कारणवश एक साथ पूरा प्रायश्चित्त करने में असमर्थ हो, तो थोड़े-थोड़े प्रायश्चित्त का निर्वाह करानेवाला हो।

८. अपायदर्शी—आलोचना नही करने से विराधक को ससार में क्या-क्या दु'ख भोगने पड़ते हैं ? इस प्रकार—भावी आध्यात्मिक हानि को दर्शानेवाला हो।

९. प्रियधर्मी—जिसे धर्म अत्यन्त प्रिय हो।

१०. दृढधर्मी—जो आपत्-काल में भी धर्म से विचलित न होता हो। वही आलोचना सुन सकता है।

प्रमादवश किसी दोष के लग जाने पर भी, यदि उसे दूर करने के लिये तथा उसे पुन न करने के लिए जो क्रिया की जाती है, उसे प्रायश्चित्त कहते है। प्रायश्चित्त के दस भेद हैं—जैसेकि आलोचना के योग्य, प्रतिक्रमण के योग्य, आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो के योग्य, विवेक के योग्य, कायोत्सर्ग के योग्य, तप के योग्य, छेद के योग्य अर्थात् दीक्षा काल को कम कर देने के योग्य, मूल योग्य - फिर से महाव्रत आरोपणा के योग्य, अनवस्थाप्यार्ह अर्थात् कुछ समय तप आदि करा कर पुनः दीक्षा देना और पारांचिक—जिस महादोष के सेवन करने से दोषी को लिग, क्षेत्र, काल और तप के कारण गच्छ से बहिष्कृत करके तप आदि क्रियाए करने पर फिर उसे नई दीक्षा देकर पुनः गच्छ मे लिया जाए, वही पाराचिक प्रायश्चित्त कहलाता है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में दोष हो जाने के कारण, दोपों की आलोचना और आलोचना सुनने योग्य गुरु के गुण बतला कर शास्त्रकार साधनामार्ग की प्रशस्तता पर बल दे रहे है।

मिथ्यात्व-भेद

मूल—दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते, तं जहा—अधम्मे धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मसण्णा, अमग्गे मग्गसण्णा, मग्गे अमग्गसण्णा, अजीवेसु जीवसण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा ।३२।

छाया—दशविधं मिथ्यात्वं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अधर्मे धर्मसंज्ञा, धर्मेऽधर्मसंज्ञा, अमार्गे मार्गसंज्ञा, मार्गेऽमार्गसंज्ञा, अजीवेषु जीवसंज्ञा, जीवेष्वजीवसंज्ञा, असाधुषु साधुसंज्ञा, साधुष्वसाधुसंज्ञा, अमुक्तेषु मुक्तसंज्ञा, मुक्तेष्वमुक्तसंज्ञा ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश प्रकार का मिथ्यात्व-वर्णन किया गया है, यथा—अधर्म में धर्मबुद्धि, धर्म में अधर्म बुद्धि, उन्मार्ग में मार्ग-ज्ञान, सन्मार्ग में उन्मार्ग ज्ञान, अजीव पदार्थों में जीव-ज्ञान, जीवों में अजीव-ज्ञान, असाधु को साधु जानना, साधु को असाधु समझना, अमुक्त आत्मा को मुक्त समझना और मुक्त आत्मा को अमुक्त समझना ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र के अन्तिमांश में वर्णित पारांचिक प्रायश्चित्त मिथ्यात्व को दूर करने के लिये ही होता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में मिथ्यात्व का स्वरूप और उसके भेदो का वर्णन किया गया है ।

जैनागमों के अध्ययन से यह निश्चय हो जाता है कि विश्व भर में कोई भी वस्तु मिथ्या नहीं है। यहां इतना अवश्य स्मरणीय है कि अज्ञान और मोहकर्म के उदय से आत्मा के विचार विपरीत हो जाते है। जब आत्मा में सम्यक् विचार उत्पन्न होते है, तब उसे पदार्थों का बोध और श्रद्धान यथार्थ होता है। उसी बोध को सम्यग्ज्ञान और श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा जाता है। जब मोहनीय कर्म तथा अज्ञान के विविध रूप आत्मा में विशेष रूप से उत्पन्न होते है, तब उस आत्मा के मिथ्या श्रद्धान और तदनुसार पदार्थों का ज्ञान तथ्य से विपरीत ही होता है। अत: इस सूत्र में दस प्रकार के मिथ्या सकल्पों का दिग्दर्शन कराया गया है, जैसे कि—

१. अधर्म को धर्म समझना ।
२. धर्म को अधर्म समझना ।

हिंसा आदि पापक्रियाओं को धर्म समझ लेना। जैसे कि "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" आदि हिंसा प्रधान मान्यताए मिथ्यात्व की ही पोषिकाएं है।

दया, सत्य आदि धर्म को अधर्म समझना।

अधर्म से निवृत्ति और धर्म में प्रवृत्ति आगम शास्त्रों के उपदेश से हो सकती है। आगम अपौरुषेय नही होता, क्योकि जो शब्द है, वह अपौरुषेय नही पौरुषेय ही होता है, क्योकि मुख, कण्ठादि स्थान होने पर ही वर्णों का उच्चारण होता है। मुख आदि स्थान शरीर का एक अवयव है। जिसे हम ईश्वर कहते है, वह अमूर्त अर्थात् देह से रहित होने के कारण उसके मुखादि अवयव भी नही हैं, अत: वह श्रुतज्ञान का उपदेष्टा नही हो सकता। इसलिये अक्षर रूप आगमों को अपौरुषेय मानना केवल मिथ्यात्व ही है।

अपौरुषेय वादियों का कहना है कि जितने भी पुरुष है, वे सब रागादि से युक्त तथा अल्पज्ञ है, क्योंकि वे पुरुष है, अत: तीर्थङ्कर भी पुरुष होने से रागादि से युक्त एव अल्पज्ञ सिद्ध होते है, वे सर्वज्ञ की कोटि में नही आ पाते। इसलिये वे आप्त नही, अपितु अनाप्त हैं, अत. उनका कथन आगम नही हो सकता। आगम के अभाव से अधर्म से निवृत्ति और धर्म में प्रवृत्ति जीवो की नही हो सकती। इस प्रकार के कुतर्को के द्वारा तीर्थङ्करोक्त आगमों को भी मिथ्या कहना मिथ्यात्व है।

अश्रुत में धर्मसज्ञा—आगमबुद्धि और श्रुतधर्म में अनागमसज्ञा—अधर्मबुद्धि, ये सब मिथ्यात्व के ही रूप है। अपौरुषेय को आगम मानना और पौरुषेय को आगम न मानना ही "अधम्मे धम्मसन्ना, धम्मे अधम्मसन्ना" है।

३. कुमार्ग को सन्मार्ग समझना।

४. सन्मार्ग को कुमार्ग समझना।

कुमार्ग ससार का प्रतीक है और सन्मार्ग मोक्ष का। जिन कारणों से जीव चार गति, चौरासी लाख योनियो में परिभ्रमण करता है, वही कुमार्ग है, कुमार्ग पर चलता हुआ जीव दु.ख भोगता है। आशातना, अज्ञान और अविरति ये सब कुमार्ग है। कुमार्ग ही ससार है और ससार ही दु:ख है। इस से विपरीत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही सन्मार्ग है। सन्मार्ग ही मोक्षमार्ग है, वही एकान्त सुख का कारण है।

५. अजीवों को जीव समझना।

६ जीवों को अजीव समझना।

लोक मे दोनों तरह के पदार्थ है, फिर भी कुछ लोग विश्व को केवल जीव रूप ही मानते हैं। उन की दृष्टि मे चेतनरहित पदार्थ कोई है ही नही। कुछ विचारक विश्व को केवल जड़ रूप मानते है। चार्वाक दर्शन आत्मा को नही मानता, उसका कहना है कि देह में जो चेतना प्रतीत होती है, वह भी भौतिक तत्त्वांश है। ससार एक मात्र अजीव तत्त्व है। उक्त दोनो तरह की मान्यताए केवल मिथ्यात्व ही है।

७. कुसाधु को सुसाधु समझना।

८. सुसाधु को कुसाधु समझना।

जो अपना और दूसरे का कल्याण न कर सके, वह कुसाधु और जो अपना और दूसरे का कल्याण करनेवाला है, वह सुसाधु है। जो षड् जीवनिकाय से उपरत नही हुआ तथा झूठ, चोरी,

मैथुन और परिग्रह से उपरत नहीं हुआ, इस प्रकार के वेषधारी को एवं धन-स्त्री और भूमि के अभिलाषी को साधु समझना जैसे मिथ्यात्व है, वैसे ही पच, महाव्रती उत्तम साधु को विद्वेष के कारण असाधु समझना भी मिथ्यात्व है। 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'—'पुत्र उत्पन्न किए बिना गति नही होती' और 'यह साधु कुमार-प्रव्रजित है, इसलिये यह साधु हो नही है, इसकी शुभ गति असम्भव है।' इस तरह की मान्यताए भी इसी कोटि में आ जाती है।

९. जो ससार से मुक्त नहीं हुआ, उसे मुक्त समझना।

१०. मुक्तात्मा को अमुक्त समझना।

जो आत्मा आठ प्रकार के कर्मो से सर्वथा मुक्त हो गया है, राग-द्वेष आदि १८ प्रकार के दोपो से मुक्त है तथा सर्व प्रकार के बधनो से मुक्त हो गया है, उसे मुक्त कहते है। इससे विपरीत जो राग-द्वेप में लिप्त हैं, भोग-विलास में फसे हुए हैं, कर्मो के बधन से वद्ध है, वे अमुक्त है। जैसी वस्तु हो, वैसी दृष्टि न रखकर उससे विपरीत देखना और जानना ही मिथ्यात्व है।

इस सूत्र से यह भली भाति सिद्ध हो जाता है कि ससार में कोई भी पदार्थ मिथ्या नहीं है, किन्तु माननेवालो के विचार मिथ्या है। जैसे किसी की मान्यता के अनुसार न कभी धर्म अधर्म हो सकता है और न अधर्म धर्म हो सकता है, इसी प्रकार अन्य सभी के विषय मे जानना चाहिए। व्यक्ति को उसके मिथ्या विचार इस तरह दु:खित करते है, जैसे कि चमकते हुए वालू मे जल के संकल्प से मृग दु खित होता है, क्योंकि उसको दूरवर्ती वालु ही जल के रूप मे भासित होने लगती है, अत: वह किसी भी समय इसी विचार से अपने प्राण भी खो बैठता है। यही दशा मिथ्यात्व के सकल्प धारण करनेवालो की होती है, अत: पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिये सम्यग्दर्शन का होना अनिवार्य है।

क्षमावीर और शूरवीरों की आयु

मूल—चंदप्पभे णं अरहा दस पुव्वसयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे जावप्पहीणे।

धम्मे णमरहा दस वाससयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे जावप्पहीणे।

णमी णमरहा दस वाससहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे जाव पहीणे।

पुरिससीहे णं वासुदेवे दस वाससयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता छट्ठीए समाए पुढवीए नेरइयत्ताए उववन्ने।

णेमी णं अरहा दस धणूइं उड्ढं उच्चत्तेणं, दस य वाससयाइं सव्वाउयं

पालइत्ता सिद्धे जावप्पहीणे ।

कण्हे णं वासुदेवे दस धणूइं उच्चत्तेणं, दस य वाससयाइं सव्वाउयं पालइत्ता तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवीए नेरइयत्ताए उववन्ने ।३३।

छाया—चन्द्रप्रभोऽर्हन् दशपूर्वशत-सहस्राणि सर्वायुष्कं पालयित्वा सिद्धो यावत्प्रहीणः ।

धर्मोऽर्हन् दश वर्षशतसहस्राणि सर्वायुष्कं पालयित्वा सिद्धो यावत्प्रहीणः ।

नमिरर्हन् दशवर्षसहस्राणि सर्वायुष्कं, पालयित्वा सिद्धो यावत्प्रहीणः ।

पुरुषसिंहो वासुदेवो दश वर्षशतसहस्राणि सर्वायुष्कं पालयित्वा षष्ठ्यां तमायां पृथिव्यां नैरयिकतयोत्पन्नः ।

नेमिरर्हन् दश धनूंषि ऊर्ध्वमुच्चत्वेन, दश च वर्षशतानि सर्वायुष्कं पालयित्वा सिद्धो यावत्प्रहीणः ।

कृष्णो वासुदेवो दश धनूंषि उच्चत्वेन, दश च वर्षशतानि सर्वायुष्कं पालयित्वा तृतीयायां वालुकाप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकतयोत्पन्नः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—चन्द्रप्रभ अरिहन्त दस लाख पूर्व की सर्वायु भोग कर सिद्ध यावत् सब दुःखों से मुक्त हुए ।

धर्मनाथ अरिहन्त दश लाख पूर्व सर्वायु पाल कर सिद्ध यावत् सर्व दुःख-विहीन हुए ।

नमिनाथ अरिहन्त दश हज़ार वर्ष की सब आयु भोग कर निर्वाण को प्राप्त हुए ।

पुरुषसिंह वासुदेव दश लाख पूर्व की आयु पाल कर तमा नरक मे उत्पन्न हुए ।

कृष्ण वासुदेव ऊंचाई में दश धनुष के थे तथा एक हज़ार वर्ष की कुल आयु भोग कर तृतीया बालुकाप्रभा पृथिवी मे नारक रूप मे उत्पन्न हुए ।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे मिथ्यात्व का वर्णन किया गया है । मिथ्यात्व की सत्ता देवाधिदेवो मे नही पाई जाती है अत. प्रस्तुत सूत्र मे देवाधिदेवो—मुक्त और अमुक्त, धर्म-पुरुष और कर्म-पुरुष, योगीश्वर और योगेश्वर, क्षमावीर और युद्धवीर का सक्षिप्त परिचय दिया गया है ।

आठवे तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ भगवान १०००००० पूर्व की सर्वायु पाल कर सिद्धत्व को प्राप्त हुए।

पन्द्रहवे तीर्थङ्कर धर्मनाथ भगवान १०००००० वर्ष की सर्वायु पालकर सिद्ध गति को प्राप्त हुए थे।

इक्कीसवे तीर्थङ्कर नमिनाथ भगवान १०००० वर्ष की सर्व आयु पालकर पचम-गति को प्राप्त हुए थे।

बाईसवे तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि की अवगहना दस धनुष्य की थी और वे १००० वर्ष की सर्व आयु पालकर निर्वाण को प्राप्त हुए।

वासुदेव नौ हुए है—जो प्रतिवासुदेव को जीत कर तीन खड पर शासन करते है, उन राजाधिराजो को वासुदेव कहते है। उन्हे अर्धचक्री भी कहते है। वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौथे आरे मे नौ वासुदेव हुए है। उन मे से पाचवे और नौवे वासुदेव की आयु, अवगहना और गति का उल्लेख किया गया है। पुरुषसिंह वासुदेव १०००००० वर्ष की सर्व आयु भोग कर छटी तमा पृथिवी मे उत्पन्न हुए। नौवे वासुदेव महाराज कृष्ण की दस धनुष्य की उचाई थी और वे १००० वर्ष की सर्व आयु पालकर तीसरी वालुका प्रभा पृथिवी मे उत्पन्न हुए। वासुदेव पूर्वभव मे निदान करके यहा उत्पन्न होते है। निदान के कारण ही वे शुभ गति को प्राप्त नही हो पाते।

भवनवासी देव और उनके चैत्य वृक्ष

मूल—दसविहा भवणवासी देवा पण्णत्ता, तं जहा—असुरकुमार जाव थणिय-कुमारा। एएसि णं दसविहाणं भवणवासीणं देवाणं दस चेइयरुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—

आसत्थ, सत्तिवन्ने, सामलि, उंबर, सिरीस, दहिवन्ने।
वंजुल, पलास, वप्पे तए य कणियाररुक्खे।३४।

छाया—दशविधाः भवनवासिनो देवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—असुरकुमारा यावत्स्तनितकुमाराः। एतेषां दशविधानां भवनवासिनां देवानां दश चैत्यवृक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

अश्वत्थः सप्तपर्णः शाल्मलिरुदुम्बरः, शिरीषो दधिपर्णः।
वञ्जुलः पलाशो, वप्रस्ततश्च कणेरवृक्षः॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दसविध भवनपति देव है, जैसे—असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार। इन दश

प्रकार के भवनवासी देवों के दश चैत्य वृक्ष है, यथा—अश्वत्थ, सप्तपर्ण, शाल्मलि, उदुम्बर, शिरीष, दधिपर्ण, वञ्जुल, पलाश, वप्र और कनेर।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में देवाधिदेवों का वर्णन किया गया है, देवाधिदेवो की पर्युपासना देव भी करते हैं। देवो में भवनवासी भी एक देवो की जाति विशेष है, अतः इस सूत्र में भवनवासी देवों का और उन के चैत्यवृक्षों का नामोल्लेख किया गया है। भवनवासी देवो के नाम इस प्रकार है असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार। ये समस्त देव प्राय. भवनो मे रहते हैं, इसलिये ये भवनवासी कहलाते हैं। यह कथन असुरकुमारो की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योकि अधिकतर वे ही भवनो मे रहा करते हैं। नागकुमार आदि देव तो आवासो मे भी रहते है भवनो में भी।

भवन और आवासो मे केवल इतना ही अन्तर है कि भवन बाहर से गोल और भीतर से चतुष्कोण होते हैं, उनके नीचे का भाग कमल की कर्णिका के आकारवाला होता है।

परिमाण मे बड़े, मणि-रत्नो से जटित शाश्वत दीपकों से दस दिशाओ को प्रकाशित करनेवाले मण्डपाकार निवास-स्थान आवास कहलाते है। भवनवासी देव भवन और आवास दोनों में रहते हैं। भवनो की कुल सख्या सात करोड़ बहत्तर लाख है।

दस भवनपति देवो के दस चैत्यवृक्ष है, जैसे कि अश्वत्थ अर्थात् पीपल, सप्तपर्ण, शाल्मली, उदुम्बर, शिरीष, दधिपर्ण, वजुल, पलाश, वप्र और कनेर। ये दस वृक्ष उक्त देवो के कथन किए गए है। जिस वृक्ष को देखकर जिस देव की प्रसन्नता का पारावार न रहे, उसे चैत्यवृक्ष कहते हैं, अथवा जिन वृक्षो के नीचे तीर्थङ्करो को केवलज्ञान प्राप्त होता है उन्हे भी चैत्यवृक्ष कहा जाता है।

सुख के भेद

मूल—दसविहे सोक्खे पण्णत्ते, तं जहा—

आरोग्ग दीहमाउं, अड्ढेज्जं काम भोग संतोसे।
अत्थि सुहभोग निक्खम्ममेव तओ अणाबाहे।३५।

छाया—दशविध सौख्यं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

आरोग्य, दीर्घमायुः, आढ्यत्वं कामो भोगाः सन्तोषः।
अस्तिः शुभभोगः, निष्क्रम एव ततोऽनावाधम्॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश प्रकार का सुख वर्णन किया गया है, आरोग्य, दीर्घ-आयु, आढ्यत्व–धन-धान्य आदि समृद्धि, शब्द-रूप–काम, गन्ध–रस–स्पर्शरूप–भोग, सन्तोष, वाञ्छित पदार्थ की प्राप्ति, शुभ भोग, दीक्षा, निर्वाणपद की प्राप्ति।

विवेचनिका—

देव सुखानुभव करने वाले होते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में दस प्रकार के सुखों का वर्णन किया गया है। सुख का अर्थ होता है—वह अनुकूल तथा प्रिय अनुभव, जिसके सदा होते रहने की इच्छा हो। दुःख का विपरीत ही सुख है। इसके दस भेद है, जैसे कि—

१. **आरोग्य**—शरीर का स्वस्थ रहना, रोग रहित शरीर का होना पहला सुख है, कहा भी है—'पहला सुख नीरोगी काया'। व्यावहारिक सुखो का मूल कारण नीरोगी काया ही है।

२. **शुभ दीर्घ-आयु**—नैरोग्य होने पर शुभ दीर्घायु भी सुख रूप है। सुखों की सामग्री तो प्राप्त है, किन्तु दीर्घायु न हो, तो सुखों का इच्छानुसार उपयोग नही किया जा सकता।

३. **आढ्यत्व**—विपुल धन-सपत्ति का होना, धन-लाभ का होना भी सुख है।

४. **काम**—इन्द्रियों के पांच विषयों मे शब्द और रूप काम कहलाते हैं, अभीष्ट शब्द और अभीष्ट रूप का प्राप्त होना ही काम-सुख है।

५. **भोग**—गध, रस और स्पर्श इनको भोग कहते है। शुभ गध, शुभ रस और शुभ स्पर्श, इन से प्राप्त होने वाला सुख, भोगसुख है। कारण में कार्य का उपचार करके इनको सुख रूप माना गया है।

६. **सन्तोष**—इच्छाओ को सीमित करना, सदैव प्रसन्न रहना, किसी बात की कामना न करना चित्त की शान्ति और मन आनन्द का कारण होने से सतोष सुख है। "जब आए सन्तोष धन सब धन धूल समान"। सतोष से समाधि बनी रहती है। सतोष सब सुखों का सार है।

७. **अस्ति सुख**—जिस समय जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, उस समय उसी पदार्थ का अकस्माद् लाभ हो जाए, वह भी सुख माना जाता है। आवश्यकताओ की पूर्ति ही मनुष्य के लिये सबसे बड़ा आनन्द है।

८. **शुभभोग**—शालिभद्र की तरह या सुबाहुकुमार की तरह सुख-सामग्री का सदा-सर्वदा जीवन पर्यन्त बने रहना यही शुभभोग सुख है।

९. **निष्क्रमण**—गृहवास का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करना। सासारिक झझटो मे फसा हुआ प्राणी अपने कल्याण के लिए धर्म-ध्यान मे पूरा समय नही निकाल सकता और न वह पूर्णतया आत्मशान्ति ही प्राप्त कर सकता है, अतः सयम स्वीकार करना ही वास्तविक सुख है।

१०. अनाबाध—जब जीव कर्मों के बधनो से सर्वथा छूट जाता है, तब जो दु.ख रहित एकान्त सुख या निःसीम आनन्द प्राप्त होता है, वह सादि-अनन्त अनाबाध सुख कहलाता है। यह सुख सबसे महान और निःसीम है।

इनमें सतोष-सुख और निष्क्रमण-सुख तो क्षायोपशमिक है। अनाबाध सुख क्षायिक है। यह कर्मों के क्षय होने पर ही प्रकट होता है। इनसे भिन्न शेष सब सुख औदयिक भाव से सबधित हैं। अनाबाध सुख के बराबर अन्य कोई सुख नही है। कहा भी है—

"नवि अत्थि मणुस्साणं तं सोक्खं नवि य सव्वदेवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं अव्वाबाहं उवगयाणं॥"

जो सुख सिद्धो को प्राप्त है, वह न सब मनुष्यों को प्राप्त है और न देवो को ही प्राप्त हो सकता है।

उपघात और विशोधि

मूल—दसविहे उवघाए पण्णत्ते, तं जहा—उग्गमोवघाए, उप्पायणोवघाए, जह पंचठाणे, जाव परिहरणोवघाए, णाणोवघाए, दंसणोवघाए, चरित्तोवघाए, अचियत्तोवघाए, सारक्खणोवघाए।

दसविहा विसोही पण्णत्ता, तं जहा—उग्गमविसोही, उप्पायणविसोही, जाव सारक्खणविसोही।३६।

छाया—दशविध उपघातः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—उद्गमोपघातः, उत्पादनोपघातः, यथा पञ्चमस्थाने, यावत्परिहरणोपघातः, ज्ञानोपघातः, दर्शनोपघातः, चारित्रोपघातः, अप्रीतिकमुपघातः, सरक्षणोपघातः।
दशविधा विशोधिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—उद्गमविशोधिः, उत्पादनविशोधिः, यावत्संरक्षण-विशोधिः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दशविध उपघात अर्थात् संयम-विराधना वर्णन की गई है, यथा—उद्गम-उपघात—आधाकर्मिक दूषित का सेवन। उत्पादन-उपघात—धात्री-पिंड आदि दोष सेवन करना, जैसे पञ्चम स्थान में कथन किया गया है, यावत् परिहरणोपघात—वस्त्रादि उपकरण का अयत्नपूर्वक ग्रहण। दर्शनोपघात—

सम्यक्त्व में शंकित होना। चारित्रोपघात–चारित्र में दोप लगाना। अप्रोतिकोपघात–विनय आदि का नाश करना। संरक्षणोपघात–शरीरादि में मूर्च्छाभाव रखना।

दश प्रकार की विशुद्धि कथन की गई है, उद्गम-विशोधि, उत्पादन-विशोधि से लेकर संरक्षण-विशोधि तक।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में सुख का विश्लेषण किया गया है। सुख की प्राप्ति सयमविराधना अर्थात् उपघात से बचने पर तथा चारित्र की विशुद्धि से ही प्राप्त होती है। अतः प्रस्तुत सूत्र में उपघात एवं विशुद्धि का वर्णन किया गया है। जिस से चारित्र क्षत-विक्षत हो, वह उपघात कहलाता है। चारित्र की शुद्धि के लिये निर्दोष आहारादि की आवश्यकता रहती है जिन क्रियाओ के करने से चारित्र की विराधना हो, वे क्रियाए कदापि नही करनी चाहिए। जिस से चारित्र उत्तरोत्तर निर्मल और स्वच्छ हो जाए, वह विशुद्धि है। उपघात दस प्रकार का होता है, जैसे कि—

१. **उद्गमोपघात**—जो दोष गृहस्थ के द्वारा आहार-पानी के निमित्त से साधु को लगता है, उसे उद्गम कहते हैं। उससे होनेवाली चारित्र-विराधना को उद्गमोपघात कहते हैं। साधु का लक्ष्य रख कर बनाए गए आहार को ग्रहण करने से जिन जीवों का बध हुआ है, उन पर दया के अभाव और उनकी रक्षा से विमुखता होने के दोष से बचना पड़ता है, अतः इस प्रकार के आहारादि पदार्थ साधु के लिये अकल्पनीय है।

२. **उत्पादनोपघात**—उत्पादना के १६ दोष साधु को लगते हैं, उन दोषों का निमित्त साधु ही है। क्योंकि धात्री आदि १६ दोष साधु अपनी बुद्धि से स्वयं आसेवन करता है। उन से भी चारित्र दूषित एव अप्रशस्त हो जाता है।

३. **एषणोपघात**—शकितादि दस प्रकार के एषणा दोषों के सेवन करने से भी चारित्र की विराधना हो जाती है।

४. **परिकर्मोपघात**—यह तीन तरह का होता है—वस्त्र, पात्र और वसति रूप। पाच प्रकार के वस्त्रो मे से किसी एक फटे हुए वस्त्र को तीन थिगलो से अधिक थिगले लगाना वस्त्र-परिकर्म उपघात है। पात्र टेढा-मेढ़ा हो, टूटा-फूटा हो, उसे तीन बधन से अधिक बन्धन लगाना या अपलक्षण से पात्र डेढ महीने से अधिक काम में लेना, पात्र-परि-कर्म-उपघात है। रहने के स्थान को वसति कहते हैं। साधु के निमित्त जिस स्थान पर लीपा-पोती कराई गई हो, उसे धूप आदि देकर सुगधित किया गया हो, जल का छिड़काव किया हो, लिपन आदि क्रिया की गई हो, ऐसी वसति को वसति-परिकर्म-उपघात कहा जाता है। किसी असार पदार्थ के पीछे अमूल्य समय व्यतीत करने से स्वाध्याय आदि शुभ क्रियाओं का उपघात करना बुद्धिमत्ता नही है।

५. **परिहरणोपघात**—जो वस्त्र, पात्र या वसति नवीन भी हो, यदि वे शिथिलाचारी, स्वच्छन्दाचारी, एकलविहारी के द्वारा छोड़े हुए हों या मरण के बाद उसके उपकरण पड़े हो, उन्हे लेना अकल्पनीय है या जो साधु वेष छोड़ कर चला गया हो, उसके छोडे हुए उपकरणो को लेना परिहरणो-पघात है। वह उपकरण मूलोत्तर गुणो का घात करने वाला होता है।

६. **ज्ञानोपघात**—श्रुतज्ञान सीखने में प्रमाद करना या पुनरावृत्ति करने मे प्रमाद करना। नया ज्ञान सीखना नहीं, पुराने सीखे हुए की आवृत्ति न करना, इस से ज्ञान प्रतिक्षण विस्मृत होता जाता है।

७. **दर्शनोपघात**—जिस से सम्यग्दर्शन को हानि पहुचे। शका-काक्षा आदि जो समकित के अतिचार हैं, उन से सम्यक्त्व को दूषित करना दर्शनोपघात है।

८. **चारित्रोपघात**—समिति-गुप्ति का पालन न करना, इस से चारित्र को हानि पहुचती है।

९. **अप्रीतिकमुपघात**—गुरु आदि में पूज्यभाव न रखने से, उन की विनय-भक्ति न करने से अप्रीति के कारण विनय आदि गुणों का उपघात होता है।

१०. **सरक्षणोपघात**—परिग्रह से निवृत्त साधु यदि वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों पर तथा शरीर पर ममत्व रखता है तो वह सरक्षणोपघात दोष का भागी होता है। इन दस उपघातों के सेवन से रत्नत्रय की विराधना होती है, अत: मुमुक्षुओ को चाहिए कि वे इन का आसेवन न करे, इस मे ही सयमी का भला है।

विशुद्धि—

उपघात का प्रतिपक्षी कर्म विशुद्धि है अर्थात् सयम में किसी प्रकार का दोष न लगाना विशुद्धि है। वह भी दस प्रकार की होती है, जैसे कि—

१. **उद्गमविशुद्धि**—आधाकर्मादि सोलह दोषों से रहित आहारादि ग्रहण करना।
२. **उत्पादना विशुद्धि**—उत्पादनादि १६ प्रकार के दोषो से रहित आहारादि लेना।
३. **एषणाविशुद्धि**—शकित आदि १० दस एषणा दोष टाल कर आहार लेना।
४. **परिकर्मविशुद्धि**—निर्दोष वस्त्र-पात्र एव वसति का उपयोग करना।
५. **परिहरणविशुद्धि**—शास्त्रीय मर्यादानुकूल उपकरण रखना।
६. **ज्ञानविशुद्धि**—स्वाध्याय आदि करते रहना।
७. **दर्शनविशुद्धि**—सम्यग्दर्शन को निर्मल रखना।
८. **चारित्रविशुद्धि**—समिति-गुप्ति का यथाविधि पालन करना।
९ **अप्रीतिविशुद्धि**—विनय आदि धर्म का सम्यक्तया पालन करना।
१०. **संरक्षणविशुद्धि**—संयम के लिये उपधि आदि पदार्थों का शास्त्रानुसार यतना पूर्वक ग्रहण करना।

इन विशुद्धियों से आत्म विकास शीघ्र हो जाता है। कारण कि सूत्रकार शुद्धि में धर्म की स्थिति स्वीकार करते हैं। धर्म शुद्ध हृदय मे ही ठहरता है "सोही उज्जुभूयस्स धम्मो सुद्धस्स

चिट्ठइ" इस आगम पद से स्पष्ट हो जाता है, कि सरलात्मा की शुद्धि होती है। पहली तीन विशुद्धिया आहारादि की शुद्धि के विषय में वर्णन की गई है। परिकर्म और परिहरण ये दो सूत्र वस्त्र, पात्र, वसति, उपकरण आदि के प्रतिपादक है। इनकी शुद्धि अवश्य होनी चाहिए। ज्ञान, दर्शन और चारित्र, ये तीन सूत्र आत्म-शुद्धि के प्रदर्शक है। 'अवियत्त' इस पद से विनय की पुष्टि होती है। 'सारक्खण' इस पद से शरीर आदि पर ममत्व का परिहार किया गया है। ●

सक्लेश और असक्लेक

मूल—दसविहे संकिलेसे पण्णत्ते, तं जहा—उवहिसंकिलेसे, उवस्सयसंकिलेसे, कसायसंकिलेसे, भत्त-पाणसंकिलेसे, मणसंकिलेसे, वइसंकिलेसे, कायसंकिलेसे, णाणसंकिलेसे, दंसणसंकिलेसे, चरित्तसंकिलेसे।

दसविहे असंकिलेसे पण्णत्ते तं जहा—उवहि-असंकिलेसे जाव चरित्त-असंकिलेसे।३७।

छाया—दशविधः सक्लेशः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—उपधिसंक्लेशः, कषायसंक्लेशः, भक्त-पानसंक्लेशः, मनःसंक्लेश., वाक्संक्लेशः, कायसंक्लेशः, ज्ञानसंक्लेशः, दर्शनसंक्लेशः, चारित्र-संक्लेशः।

दशविधोऽसंक्लेशः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—उपध्यसंक्लेशो यावच्चारित्रासंक्लेशः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दशविध संक्लेश वर्णन किया गया है, यथा—उपधिसंक्लेश, उपाश्रय-संक्लेश, कषायसंक्लेश, भक्त-पानसंक्लेश, मनःसंक्लेशः, वचनसंक्लेश, काय-संक्लेश, ज्ञानसंक्लेशः, दर्शनसंक्लेश और चारित्रसंक्लेश। दश प्रकार का असंक्लेश कहा गया है, यथा—उपधि-असंक्लेश यावत् चारित्र-असंक्लेश।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में उपघात और विशुद्धि का वर्णन किया गया है। उपघात से सक्लेश और विशुद्धि से असक्लेश होता है, अतः प्रस्तुतसूत्र मे सक्लेश और असक्लेश का दिग्दर्शन कराया गया है।

सक्लेश शब्द का अर्थ है—मानसिक विक्षोभ एव मानसिक अस्थिरता। पदार्थों के अनुकूल न मिलने से चित्त मे संक्लेश का सचार होता है। समभाव से सयम का पालन करते हुए किसी समय मुनि के चित्त में जिन कारणो से असमाधि पैदा हो जाती है, वही सक्लेश है। उस के दस कारण है, जैसे कि—

१. **उपधि-संक्लेश**—संयम-निर्वाह के लिये उपयोगी वस्त्र-पात्र, पुस्तक आदि उपकरणो के न मिलने मे चित्त में सक्षोभ होता है, क्योकि जब इच्छानुकूल वस्त्रादि उपधि न मिल सके तब चित्त में खेद उत्पन्न होना स्वाभाविक हो जाता है।

२. **उपाश्रय-संक्लेश**—रहने के लिये वसति के न मिलने से या प्रतिकूल मिलने से चित्त में सक्षोभ उत्पन्न होता है। इस विक्षोभ का निमित्त कारण उपाश्रय है।

३. **कषाय-संक्लेश**—कपाय तो स्वय क्लेशरूप है। राग-द्वेष आदि विकार जब भी चित्त पर प्रभाव डालते है, तभी क्लेश का अवतरण हो जाता है।

४ **भक्तपान सक्लेश**—सविभाग ठीक न होने से खान-पान के कारण भी कलह आदि उत्पन्न हो जाते है।

५ **मन-संक्लेश**—मानसिक व्यथा, शोक, भय, चिन्ता, आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान इत्यादि अनेक कारणो से मन में सक्लेश उत्पन्न होता है।

६ **वचन-सक्लेश**—वाग्युद्ध एव कलह करना, किसी का वचन सुनकर या किसी को अनुचित वचन कह कर जो सक्लेश होता है, वह वचन-सक्लेश है।

७. **काय-संक्लेश**—शरीर में रोग उत्पन्न होने से, घाव लग जाने से, रक्तचाप से, विष आदि के सचार से, विद्युत् के लगने से, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि के लगने से जो शरीर पर बुरा प्रभाव पडता है, वह काय-सक्लेश है।

८ **ज्ञान-संक्लेश**—जो विषय समझ में नही आ रहा, जो पाठ कण्ठस्थ नही हो रहा, जो विद्या जिस क्षेत्र व काल में कार्यसाधिका न हो या जिस ज्ञान से हानि उठानी पड रही हो वह ज्ञान-सक्लेश है।

९. **दर्शन-संक्लेश**—जो साम्प्रदायिक झगडो और दार्शनिक मान्यताओ के वैपरीत्य से क्लेश खडा होता है, वह दर्शन-सक्लेश है।

१०. **चारित्र-सक्लेश**—त्याग-वैराग्य के बिना चारित्र क्लेश का कारण है। विवेकहीन प्राणी के लिये सब व्यवहार क्लेश एव दुःख के ही कारण हैं।

जिस साधक के जीवन में त्याग, वैराग्य, विवेक और समता हो, उसके लिये प्रतिकूल वातावरण भी समाधि उत्पादक होता है। जो उपधि धर्म में सहायक है, किन्तु राग-द्वेष का कारण नहीं, वह समाधि की जननी है। जिस उपाश्रय में रहकर स्वाध्याय-ध्यान, कायोत्सर्ग में बाधा न पडे, वह स्थान भी समाधि का जनक है। जिससे न्याय हो, अहिंसा का सम्यक् पालन हो, संघ मे एकता हो, तू-तू मैं-मैं शान्त हो, वह उपशान्त कषाय भी प्रसन्नता की लहर दौडानेवाला है। जिससे अन्न-पानी एव लेन-देन में सविभाग हो, वह भक्त-पान भी प्रसन्नता का उत्पादक है। ध्यान-समाधि में मन को लगाने से, गुणीजनों की स्तुति करने में या ज्ञानचर्चा करने मे वचन को लगाने से, परोपकार, विनय, सेवाभक्ति करने में काया को लगाने से क्रमशः समाधि उत्पन्न होती है। किसी जटिल विषय को समझने से, शका दूर होने से, विद्वत्ता प्राप्त करने से जीवन मे जो आनन्द उत्पन्न होता है, वह ज्ञान-असक्लेश है। सम्यग्दर्शन के होते हुए मन मे जो आनन्द का अनुभव होता है, वही दर्शन-असक्लेश है। हीयमान परिणामो मे सक्लेश और अवस्थित एव वर्धमान परिणामों में चारित्रासक्लेश होता है। बढ़ते हुए परिणाम में आत्मा को अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है।

दशविध बल

मूल—दसविहे बले पण्णत्ते, त जहा—सोइंदियबले जाव फासिंदियबले, णाणबले, दंसणबले, चरित्तबले, तवबले, वीरियबले ।३८।

छाया—दशविध बल प्रज्ञप्त, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियबल यावत्स्पर्शनेन्द्रियबल, ज्ञानबल, दर्शनबल, चारित्रबल, तपोबल, वीर्यबलम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश प्रकार का बल है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रियबल से लेकर स्पर्शनेन्द्रियबल तक पाच प्रकार का बल, ज्ञान-बल, दर्शन-बल, चारित्र-बल, तपोबल और वीर्यबल ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे सक्लेश का वर्णन किया गया है। सक्लेश को दूर करने के लिये बल की आवश्यकता होती है, अत: प्रस्तुत सूत्र मे दशविध बल का वर्णन किया गया है, जैसे कि—

१. श्रोत्रेन्द्रिय-बल—सुनने की पर्याप्त शक्ति ।

२. चक्षुरिन्द्रिय-बल—शुभ दृष्टि एव दूरदर्शिता की पर्याप्त शक्ति हो ।

३. घ्राणेन्द्रिय-बल—इष्ट-अनिष्ट गन्ध सूघने की प्रबल शक्ति ।

४. जिह्वेन्द्रिय-बल—चखने की अनोखी शक्ति ।

५. स्पर्शनेन्द्रिय-बल—छूने मात्र से ही परोक्ष तथ्य का प्रबल ज्ञान होना । पाच ज्ञानेन्द्रियो से, आत्मा विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है ।

६. ज्ञान-बल—अतीत-अनागत और वर्तमान काल के पदार्थो को अधिक से अधिक ज्ञान से जानना, ज्ञानबल कहलाता है । ज्ञानबल से ही चारित्र की सम्यक् आराधना हो सकती है ।

७. दर्शन-बल—सम्यग्दर्शन की निर्मलता ही दर्शनबल है। दर्शनबल से अतीन्द्रिय एव अगम्य पदार्थो को प्रत्यक्ष किया जाता है ।

८. चारित्र-बल—इस बल के द्वारा सभी सगो का त्याग कर जीव अनन्त, अनाबाध, ऐकान्तिक आत्मबल एव आत्मानन्द को प्राप्त कर सकता है ।

९. तपोबल—इस बल के सहारे से जीव अनेक भवार्जित निकाचित कर्मग्रन्थियो को भी समूल क्षय कर सकता है ।

१०. वीर्यबल—मानसिक, वाचिक, कायिक तथा आत्मिक बल को वीर्यबल कहते हैं। इस बल से सभी प्रकार की शुभ क्रियाए की जाती है।

इन बलो से युक्त आत्मा अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि एव निर्वाणपद की प्राप्ति कर सकता है। ज्ञानबल, दर्शनबल, चारित्रबल, तपोबल और वीर्य-बल ये पाच बल ही सर्वोत्तम बल हैं।

सत्य, मृषा और मिश्रभाषा

मूल—दसविहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा—

जणवय, सम्मय, ठवणा, नामे, रूवे, पडुच्चसच्चे य।
ववहार, भाव, जोगे, दसमे ओवमसच्चे य॥

दसविहे मोसे पण्णत्ते, तं जहा—

कोहे, माणे, माया, लोहे, पिज्जे, तहेव दोसे य।
हासे, भये, अक्खाइय, उवघाय निस्सिए दसमे॥

दसविहे सच्चामोसे पण्णत्ते, तं जहा—उप्पन्नमीसए, विगयमीसए, उप्पन्न-विगयमीसे, जीवमीसए, अजीवमीसए, जीवाजीवमीसए, अणंतमीसए, परित्तमीसए, अद्धामीसए, अद्धद्धामीसए।३९।

छाया—दशविधं सत्यं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—

जनपदं, सम्मतं, स्थापना, नाम, रूप, प्रतीत्य सत्यञ्च।
व्यवहारो, भावो, योगो, दशममौपम्यसत्यञ्च॥

दशविधा मृषा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—

क्रोधो, मानो, माया, लोभः, प्रेम, तथैव दोषश्च।
हासो, भयं, आख्यायिका, उपघातनिश्रित दशमम्॥

दशविधा सत्यमृषा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—उत्पन्नमिश्रकं, विगतमिश्रकम्, उत्पन्नविगतमिश्रकं, जीवमिश्रकम्, अजीवमिश्रकं, जीवाजीवमिश्रकम्, अनन्तमिश्रकं, परीतमिश्रकम् अद्धा-मिश्रकम्, अद्धाद्धामिश्रकम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश प्रकार का सत्य कथन किया गया है, जैसे—देश को अपेक्षा से कहना, प्रमाणिक मानने से, यथा-दत्तकपुत्र। स्थापना-सत्य—राज्यमुद्रादि, नाम सत्य—कुल-वर्धनादि। रूपसत्य—जैसे द्रव्यलिंगो को साधु मानना आदि। अपेक्षासत्य—जैसे बड़े की अपेक्षा छोटा और छोटे की अपेक्षा बड़ा। व्यवहार सत्य, जैसे—ग्राम आ गया आदि। भावसत्य—अधिकता की अपेक्षा से कहना, जैसे—काला कौआ। योगसत्य—जैमे दण्ड के योग्य से दण्डी आदि। औपम्यसत्य—जैसे चन्द्रसमान मुख आदि।

दस प्रकार का मृषा अर्थात् असत्य कहा गया है, यथा—क्रोध-आश्रित, मान-आश्रित, माया-आश्रित, लोभ-आश्रित, द्वेष-आश्रित, राग-आश्रित, हास्य-आश्रित, भय-आश्रित, आख्यायिका-आश्रित और प्राणी-वध की अपेक्षा से, यथा अचोर को चोर कहना।

दश प्रकार का मिश्र वचन कहा गया है, जैसे—आज अमुक संख्या मे बच्चे उत्पन्न अथवा मृत्यु को प्राप्त हुए। आज जितने उत्पन्न हुए उतने ही मर गए। जोवमिश्रित—जैसे तण्डुल आदि की राशि मे सुलसुली देख कर कहना कि 'यह तो सुलसुली ही सुलसुली है'। अजीव-मिश्रित, जैसे—गोधूम आदि में मिली शर्करा के लिये 'यह तो शर्करा ही शर्करा है।' जीवाजोवमिश्रित—'जितने चावल है, उतनी हो इस मे सुलसुली है।' अनन्तकाय को प्रत्येक काय कहना। प्रत्येक काय को अनन्तकाय कहना। मेघाच्छन्न दिवस को रात्रि कहना। सूर्योदय के समय को दो प्रहर कहना।

विवेचनिका—

सम्यग्दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र के बल से युक्त आत्मा ही सत्य भाषण कर सकता है। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसे ही बताना सत्य है। सत्य निष्ठा से युक्त व्यवहार चलाने के लिये भगवान ने दस प्रकार का सत्य बतलाया है, जैसे कि—

१. जनपद-सत्य—जिस देश मे जो शब्द जिस अर्थ मे रूढ है, उसे बोलना जनपद-सत्य कहलाता है। एक देश में एक शब्द जिस अर्थ को बताता है, वही शब्द दूसरे देश में अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। ऐसी स्थिति मे यदि वक्ता की विवक्षा ठीक है तो दोनो अर्थो मे वह शब्द सत्य है।

जैसे कि 'क्षीर' शब्द मुलतानी भाषा मे संस्कृत के समान दूध का वाचक है, परन्तु अन्य स्थानो पर यह 'क्षीर' नामक पक्वान्न का ही बोध कराता है। गुजरात और कच्छ मे लड़की का 'मा' कहा जाता है, जबकि अन्य प्रान्तो मे जन्म देनेवाली ही मा कहलाती है। इस प्रकार देशानुकूल शब्दार्थ ग्रहण करना जन-पद-सत्य कहलाता है।

२. **सम्मत-सत्य**—जिस नवीन शब्द को जनता ने स्वीकृत कर लिया है और उसका सर्वत्र प्रचार हो गया है, उसको सम्मत-सत्य कहते है। जैसे कृमि और कमल की उत्पत्ति पंक से होती है, फिर भी पंकज शब्द से कमल का ही ग्रहण होता है कृमि आदि का नही। इस प्रकार के शब्दो को रूढ़ि शब्द कहा जाता है। रूढ़ि शब्दो का अर्थ ही 'सम्मत-सत्य' कहलाता है।

३. **स्थापना-सत्य**—सदृश या विसदृश आकार वाली वस्तु मे किसी की स्थापना करके उसे उसी नाम से कहना, स्थापना-सत्य है। जैसे शतरंज की गोटियां को हाथी, घोड़ा, बादशाह, वजीर कहना। किसी के चित्र, माडल या नक्शे को देखकर अमुक स्थान या देश, मकान, बाग, तालाब, सूर्य, चन्द्र, वायुयान आदि कहना, स्थापना सत्य है, अथवा एक अंक के पश्चात् बिन्दु लगाने से दस, एक और बिन्दु लगाने से सौ, एक और लगाने से हजार १०, १००, १००० इन अंको को क्रमश: दस, सौ, हजार कहना स्थापना सत्य है।[1]

जो लोग अपने कार्यों के लिये संकेतो की स्थापना करते है, जैसे कि टेलीग्राम, शार्टहेण्ड अक्षर विन्यास आदि वे सब-स्थापना सत्य ही हैं, क्योंकि जिस संकेत से जिस वर्ण या विषय की स्थापना की जाती है, वही लिखा हुआ संकेत स्थापना-सत्य माना जाता है।

४. **नाम-सत्य**—नाम के अनुकूल गुण न होने पर भी किसी व्यक्ति या वस्तुविशेष का वैसा नाम रखकर उस नाम से उसे बुलाना, जैसे कि मरणशील होने पर भी किसी को 'अमर', रंक होते हुए भी 'धनपाल' कहना, मनुष्य होते हुए भी किसी को 'देवेन्द्र' कहना, कुलनाशक होने पर भी 'कुलवर्द्धन' कहना, विद्या न पढ़ने पर और विद्या के न होने पर भी 'विद्यासागर' कहना इत्यादि अनेक उदाहरण नाम सत्य के जानने चाहिए।

५. **रूप-सत्य**—जैसे किसी ने दीक्षा ग्रहण की और अन्त:करण मे धर्म का लेश भी नही है, फिर भी उसे वेष के कारण साधु कहा जाता है, यह रूप-सत्य है।

६. **प्रतीत्य-सत्य**—किसी अपेक्षा से वस्तु को छोटी और बडी मानना, जैसे हाथ की अंगुलियां ज्येष्ठ-कनिष्ठ नही है फिर भी उन्हे छोटी-बडी कहना। इस की अपेक्षा यह लकीर छोटी है और उसकी अपेक्षा बडी है, यह कहना प्रतीत्य-सत्य है।

७. **व्यवहार-सत्य**—जनता में जैसे व्यवहार चलता हो वैसे बोलना। जैसे पर्वत जलता है, छत्त टपकती है, कुआं चलता है, गांव आता है। यद्यपि पर्वत पर तृण आदि पदार्थ जलते हैं फिर भी

---

१. तथा विधमङ्कादिविन्यासं मुद्राविन्यास चोपलभ्य प्रयुज्यते तथा एकक पुरतो विन्दुद्वयसहितमुपलभ्य शतमिद-मिति, विन्दुत्रयसहितं सहस्रमिदमिति, तथा तथाविधं मुद्राविन्यासमुपलभ्य मृत्तिकादिषु मापोऽयं, कार्षापणोऽयमिति।

कहते है पर्वत जलता है। चलते है बैल, कहते है, कुआ चल रहा है। चलते हैं स्वय, कहते है—ग्राम आ गया है। टपकता है पानी, कहते है—छत टपक रही है। व्यवहार में जिन शब्दों की प्रवृत्ति होती है वही भाषण करना व्यवहार-सत्य है।

८. भाव-सत्य—निश्चय की अपेक्षा अनेक रग होने पर भी किसी एक की अपेक्षा से उसमें एक रग बताना। जैसे तोते में अनेक रंग होते हुए भी उसे हरा कहना, कोए को काला कहना भाव-सत्य है।

९. योग-सत्य—किसी वस्तु के योग मे किसी को पुकारना—अरे लाठीवाले! टोपीवाले! साईकलवाले! इत्यादि नामो द्वारा होनेवाला भाषा-ज्ञान योग-सत्य होता है।

१०. उपमा-सत्य—किसी वस्तु के समान होने पर, एक वस्तु की तुलना दूसरी वस्तु से करना, जैसे 'यह तालाव समुद्र के समान भरा हुआ है'। 'वह सिंह के समान बलवान है'। 'वह चन्द्र के समान सौम्य है' इत्यादि उदाहरण औपम्य-सत्य के है। इस तरह सत्यभाषा का प्रयोग दस प्रकार से किया जाता है।

दस प्रकार का मृषावाद—

मृषावाद का अर्थ होता है—झूठ बोलना। वह कथन जो वास्तविक स्थिति से विपरीत हो, सच का उल्टा हो, वह मृषावाद कहलाता है। मृषावाद दस कारणों से बोला जाता है, जैसे कि—

१. क्रोध-मृषा—क्रोध के वशीभूत होकर पुत्र को कहना 'तू मेरा पुत्र नही है'।
२. मान-मृषा—मान के वश होकर झूठ बोलना, विद्वान न होते हुए या रक होते हुए भी यह कहना कि 'मैं विद्वान हूं, 'मैं धनवान हू'।
३. माया-मृषा—कपट के साथ बोला गया झूठ, जैसे कि—अमानत में खयानत करना, जैसे—'तेरी धरोहर नष्ट हो गई है।' इस प्रकार के सभी बहाने माया-मृषा कहलाते है।
४. लोभ-मृषा—लोभ के वश मे होकर झूठ बोलना, जैसे कि 'मैंने यह वस्तु इतने मे खरीदी है, फिर तुझे सस्ती कहा से दू?' इस प्रकार का असत्य लोभ-मृषा कहलाता है।
५. प्रेय-मृषा—प्रेम के वश होकर कहना, जैसे—'मैं आप का सेवक हू'।
६. द्वेष-मृषा—द्वेष से निकला हुआ वचन, जैसे—गुणी को गुणहीन कहना।
७. हास्य-मृषा—उपहास मे कहा हुआ वचन। हसी-हसी मे किसी ने कोई वस्तु छिपा दी। वस्तु का स्वामी पूछता है—'तूने मेरी वस्तु देखी है'? तो वह कह देता है—कि 'मैंने तेरी वस्तु नही देखी।'
८ भय-मृषा—भय-भीत होकर कहना—'मैने यह काम नही किया।'
९. आख्यायिका—किसी कहानी को या किसी बात को बढा-चढ़ाकर कहना, नमक-मिर्च लगाकर बात करनी। कहानी सुनाते हुए कहना—'वहां हाथियो का इतना मदजल झरा कि उससे नदी बहने लगी।'

१०. उपघात-मृषा—जिस वचन से किसी की हिंसा हो या हानि हो, वह उपघात वचन कहलाता है। जैसे कि इमानदार को चोर,कहना, सदाचारी को दुराचारी कहना, जिस ने हत्या नही की, उसे हत्यारा कहना। ये सब झूठ बोलने के आन्तरिक कारण हैं। इन दस दोषो के आवेश मे आकर जो असत्य भाषण करता है, शास्त्रीय दृष्टि मे वह सब असत्य ही है, क्योकि उस समय बोलने वाला समाधिस्थ नहीं होता, अत: उक्त दोषों को छोडकर बोलना चाहिए अन्यथा असत्य के दोष से वक्ता अछूता नही रह सकता।

दस प्रकार की मिश्र भाषा—

जिस भाषा में कुछ अश सत्य और कुछ अश असत्य हो, उसे सत्यमृषा कहते है। यह भाषा सच और झूठ से मिश्रित होती है। इस भाषा से दूसरे को चकमा दिया जाता है। यह भाषा भी सत्यवादियो के लिये असत्य की तरह वर्जनीय है। इस भाषा का प्रयोग दस प्रकार से किया जाता है, जैसे कि—

१. **उत्पन्न-मिश्रिता**—किसी ग्रामादि को लक्ष्य में रखकर बिना निश्चय किये यह कह देना कि 'आज इस नगर में दस बालक उत्पन्न हुए है' भले ही एक-दो कम हुए हो या अधिक, फिर भी दस की सख्या पूरी करने के लिये उत्पन्न हुओं के साथ नही उत्पन्न हुओं को मिला देना तथा 'कल दस बजे मैं आपको अमुक वस्तु दूगा' ऐसा कहने पर भी नियत समय पर न देना और नियत समय से पहले या बाद में देना। सारांश इतना ही है कि वस्तु उत्पन्न होने के विषय मे मिश्रित वचन बोलना।

२. **विगत-मिश्रिता**—बिना ही निश्चय किए कह देना कि 'आज इस नगर में दस व्यक्तियो का मरण हुआ है।' वस्तु विनाश के विषय मे जितनी मिश्रभाषा बोली जा सकती है, उन सबका इसमे समावेश हो जाता है।

३. **उत्पन्नविगत-मिश्रिता**—बिना ही निश्चय किए कह देना कि 'आज इस नगर मे दस बालक उत्पन्न हुए और दस वृद्ध चल बसे'। 'जितने पैदा हुए उतनों का ही देहान्त हो गया'। इस प्रकार की भाषा-पद्धति को 'उत्पन्न-विगत-मिश्रिता' भाषा कहते है।

४. **जीव-मिश्रिता**—कृमियो की राशि में कुछ कृमि जीवित और कुछ मृत होते है, ऐसा देखकर यह कहना कि 'यह जीवों की राशि है'। वृत्तिकार भी लिखते हैं—'जीवमीसए" त्ति जीवविषय-**मिश्रं सत्यासत्यं जीवमिश्रं यथा जीवन्मृतकृमिराशौ जीवराशिरिति,।**

५, **अजीवमिश्रिता**—उसी जीव-राशि को अजीव राशि कहना भी मिश्र भाषा है—जैसे कि 'कृमियो की राशि मे बहुत से कृमि-मृतक हैं' जीवित अल्प हैं, उनको 'अजीवराशि' कह देना, मिश्र-भाषा है।

६, **जीवाजीव-मिश्रिता**—'इस कृमि राशि में इतने जीवित हैं और इतने मृत है'। ऐसा कहना जीवाजीव-मिश्रिता भाषा है, जिसका प्रयोग श्रेष्ठ व्यक्तियों के लिए वर्ज्य है।

७. **अनन्त-मिश्रिता**—अनन्तकायिक तथा प्रत्येक शरीरी वनस्पति की राशि को देखकर

कहना कि 'अनन्तकायिक का ढेर है'। उन सबको अनन्तकाय कहना मिश्रभाषा है।

८. **परित्त-मिश्रिता**—उसी राशि को कहना कि 'यह प्रत्येक वनस्पति का ढेर है।'

९. **अद्धामिश्रिता**—किसी को जगाते हुए कहना, 'उठ दोपहर हो गया है, तथा शीघ्रता के कारण दिन रहते हुए कहे कि आज कार्य करते-करते रात पड गई, रात रहते हुए कहे 'उठो सूर्य निकल आया' इत्यादि अद्धा-मिश्रिता भाषा के उदाहरण है।

१०. **अद्धाद्धामिश्रिता**—दिन या रात के एक भाग को अद्धाद्धा कहते है। जल्दी मे दिन के पहले पहर को 'दोपहर हो गया' ऐसा कहना या आठ-दस बार किसी को सबोधित करके कह देना कि 'मैंने तुझे बीस बार बुलाया फिर भी तू बोला ही नही,' या चलते हुए बिना निश्चय किये कहना कि 'आधा मार्ग तो समाप्त हो गया है।' इस प्रकार के वचनविन्यास को अद्धाद्धा-मिश्रिता भाषा कहते है।

सत्य-व्रत के धारी को मिश्रभाषा का प्रयोग नही करना चाहिए, क्योंकि मिश्रभाषा भी उसी तरह वर्जनीय है, जैसे असत्य। सत्यभाषा और व्यवहारभाषा ही बोलने के योग्य है, शेष सभी-भाषाए त्याज्य है।

दृष्टिवाद के सार्थक नाम

मूल—दिट्ठिवायस्स णं दस नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—दिट्ठिवायेइ वा, हेउवायेइ वा, भूयवायेइ वा, तच्चावायेइ वा, सम्मावायेइ वा, धम्मावायेइ वा, भासाविजयेइ वा, पुव्वगयेइ वा, अणुजोगगयेइ वा, सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तसुहावहेइ वा।४०।

छाया—दृष्टिवादस्य दश नामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—दृष्टिवाद इति वा, हेतुवाद इति वा, भूतवाद इति वा, तत्त्ववाद इति वा, सम्यग्वाद इति वा, धर्मवाद इति वा, भाषाविचय इति वा, पूर्वगत इति वा, अनुयोगगत इति वा, सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वसुखावह इति वा।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दृष्टिवाद के दश नाम है, जैसे—दृष्टिवाद, हेतुवाद, भूतवाद, तथ्यवाद (तत्त्ववाद) सम्यग्वाद, धर्मवाद, भाषाविचय, पूर्वगत, अनुयोगगत, सर्व-प्राण-भूत-जीव-सत्त्वसुखावह।

विवेचनिका—

भाषा का अधिकार होने से इस सूत्र मे दृष्टिवाद का वर्णन किया गया है, दृष्टिवाद श्रुत-साहित्य का समुद्र है। जिसमें भिन्न-भिन्न दर्शनो का स्वरूप विभिन्न दृष्टियो से बताया गया है, उसे दृष्टिवाद कहते है, अथवा जिसमे सम्यग्दर्शन का वर्णन हो और जिसमे सभी नयो का समवतरण हो उसे दृष्टिपात भी कहा जाता है।[1]

१ **दृष्टिवाद**—बारहवें अग सूत्र का नाम दृष्टिवाद है।

२. **हेतुवाद**—साध्य को सिद्ध करनेवाला हेतु कहलाता है। साध्य भी अनत हैं और हेतु भी अनत है। 'वह पर्वत अग्निवाला है' क्योंकि उस पर धुंआ दृष्टिगोचर हो रहा है। यहा धुंआ रूप साधन अग्निरूप साध्य को सिद्ध करता है। दामिनी मेघ को सिद्ध करती है। साध्य को सिद्ध करानेवाला यदि कोई मुख्य साधन है तो वह हेतु है। जिसमे हेतु का वर्णन किया गया हो, वह हेतुवाद कहलाता है।

३. **भूतवाद**—जिसमें सत्पदार्थो का वर्णन प्राप्त हो, उसे भूतवाद कहते है।

४. **तथ्यवाद**—जिसमें नव तत्त्वो का विश्लेषण किया गया हो उसे तथ्यवाद कहा जाता है, अथवा तत्त्व के सत्य स्वरूप को बतानेवाला शास्त्र तथ्यवाद माना जाता है।

५. **सम्यग्वाद**—जिसमें पदार्थो का वर्णन सम्यक् प्रकार से किया गया हो अथवा जो सम्यक् प्रकार से पदार्थों का वर्णन करता हो वह सम्यग्वाद है।

६. **धर्मवाद**—वस्तुओ के पर्याय अर्थात् अनेक रूपो को धर्म कहते है, अथवा चारित्र को धर्म कहा जाता है। जो धर्म का स्वरूप बतलाता है वह धर्मवाद है।

७. **भाषाविचय**—जिसमे सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार इन चार प्रकार की भाषाओ का दिग्दर्शन कराया गया हो, अथवा जिसमे विश्व की सभी भाषाओ का समवतार होता हो और जिसमे भाषा की समृद्धि बताई गई हो वह भाषा-विचयवाद है।

८. **पूर्वगत**—जिस मे चौदह पूर्वो का ज्ञान गर्भित है, वह पूर्वगत कहलाता है।

९. **अनुयोगगत**—जिसमें प्रथमानुयोग अर्थात् तीर्थङ्करो के जीवनवृत्त के रूप में सम्यक्त्व प्राप्ति से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक आद्योपान्त वर्णन हो और तीर्थकाल का भी विवेचन हो, उसे प्रथमानुयोग कहा जाता है। जिसमें चक्रवर्त्ती, बलदेव और वासुदेवो का आमूलचूल इतिहास हो, वह गडिकानुयोग है। दोनो अनुयोगो का जिस मे वर्णन हो, वह अनुयोग-गत कहलाता है।

१०. **सर्व-प्राणभूत-जीवसत्त्व-सुखावह**—एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सभी प्राणियो के लिये जो आगम अतीव हितकर है, वह 'सर्व-प्राण-भूत-जीव-सत्त्व सुखावह' कहलाता है। इसमे प्राणियो के सयम का प्रतिपादन किया गया है। दृष्टिवाद के जो नाम दिये गए है, वे सब सार्थक हैं। उन सबका वर्णन दृष्टिवाद मे वर्णित है।

---

१ दृष्टयो दर्शनानि वदन वादः, दृष्टीना वादो दृष्टिवाद, दृष्टीना वा पातो यस्मिन्नसो दृष्टिपात, सर्वनय-दृष्टय इहाख्यायन्त इत्यर्थं ।

शस्त्र, दोष और विशेष-विश्लेषण

मूल—दसविहे सत्थे पण्णत्ते, तं जहा—

सत्थमग्गी विसं लोणं, सिणेहो खारमंबिलं ।
दुप्पउत्तो मणो वाया, काया भावो य अविरई ॥

दसविहे दोसे पण्णत्ते, तं जहा—

तज्जायदोसे, मतिभंगदोसे, पसत्थारदोसे, परिहरणदोसे ।
सलक्खणक्कारण, हेउदोसे, संकामणं, निग्गह, वत्थुदोसे ॥

दसविहे विसेसे पण्णत्ते, तं जहा—

वत्थु तज्जातदोसे य, दोसे एगट्ठियेइ य ।
कारणे य पडुप्पण्णे, दोसे निच्चे हि अट्ठमे ॥
अत्तणा उवणीए य, विसेसेइ य ते दस ।४१।

छाया—दशविधं शस्त्रं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

शस्त्रमग्निर्विषं लवणः, स्नेहः क्षारोऽम्लम्।
दुष्प्रयुक्तो मनो वाक् काया भावश्चाविरतिः ॥

दशविधो दोषः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—

तज्जातदोषो मतिभगदोषः, प्रशास्तृदोषः परिहारदोषः ।
स्वलक्षणं कारण हेतुदोषः, संक्रामण निग्रहो वस्तुदोषः ॥

दशविधो विशेषः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—

वस्तु तज्जातदोषश्च, दोष एकार्थिक इति च ।
कारणं च प्रत्युत्पन्नो, दोषो नित्योऽधिकाष्टमः ॥
आत्मनोपनीतश्च, विशेष इति च ते दश ।

मूलार्थ—शस्त्र दस प्रकार के वर्णन किये गए है, जैसे—अग्नि, विष, लवण, स्नेह अर्थात् तैलादि, क्षार, अम्ल, दुष्प्रयुक्त मन, वचन, काय और भाव से अविरति अर्थात् प्रत्याख्यान आदि न करना ।

दोष के दश प्रकार बताए गए है, जैसे—तज्जात-दोष, मति-भंग-दोष,

प्रशास्तृ-दोष, परिहरण-दोष, स्वलक्षण-दोष, कारण, हेतुभूत, संक्रामण, निग्रह-दोष, वस्तुदोष।

दश प्रकार का विशेष कथन किया गया है, जैसे—वस्तु, तज्जात, एकार्थिक, कारण, प्रत्युत्पन्न, नित्य, दोष, अधिक दृष्टान्त, आत्मकृत-दोष, उपनीत-दोष।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे दृष्टिवाद का वर्णन किया गया है। दृष्टिवाद के अनुरूप आचरण हिंसा से बचाता है। हिंसा का साधन शस्त्र है और शस्त्र नाना प्रकार के दोष उत्पन्न करता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे शस्त्र-भेद और दोष-भेद का विस्तृत वर्णन किया गया है। जिसमे प्राणियो की हिंसा हो, उसे शस्त्र कहते है।[1] शस्त्र दो प्रकार के होते है, जैसे कि द्रव्य-शस्त्र और भाव-शस्त्र। प्रस्तुत सूत्र मे दस प्रकार के शस्त्रो का उल्लेख किया गया है।

१. अग्नि-शस्त्र—यह शस्त्र सर्व शस्त्रों से प्रबल है और यह शस्त्र सभी प्राणियो को भस्म कर सकता है। इस शस्त्र से सभी जीव भय-भीत होते है। बम, विद्युत् आदि का समावेश भी इसी में हो जाता है। अपनी जाति मे भिन्न विजातीय अग्नि की अपेक्षा से यह स्वकाय शस्त्र है और पृथिवीकाय अप्कायादि की अपेक्षा से परकाय-शस्त्र है।

२. विष—जगम और स्थावर के भेद से विष दो प्रकार का है। यह भी एक तरह का शस्त्र है, क्योंकि विष के द्वारा भी हिंसा होती है।

३. लवण—नमक भी प्राणियो के लिये एक प्रकार का घातक शस्त्र है, क्योंकि नमक के कुण्ड मे पड़ा हुआ प्राणी बच नही सकता और अधिक नमक का सेवन अस्थियो के लिये हानिकारक होता है।

४. स्नेह—स्निग्ध पदार्थ तेल आदि भी विष ही है, क्योंकि इनके अधिक सेवन से चरबी बढ़ जाती है और शरीर रोगाक्रान्त होकर नष्ट होने लगता है।

५. क्षार—सोडा, साबुन, सज्जी, भस्म आदि भी शस्त्र हैं। जैन मुनि भस्म से धोए हुए बर्तन आदि का प्रासुक जल ग्रहण करते हैं। जो जल भस्म-युक्त होता है, वह इस सूत्रानुसार प्रासुक माना जाता है, क्योंकि क्षार अप्काय जीवो के लिये शस्त्र है, यह शस्त्र जल को जीव-रहित कर देता है। जल मे क्षार रूप शस्त्र का प्रयोग गृहस्थ अपने लिये करता है, साधु के लिये नही, अतः वह जल साधु के लिये निर्दोष हो जाता है।

६. अम्ल—खटाई भी शस्त्र है, क्योंकि वह भी जीवों के लिये घातक होती है। अधिक खटाई के सेवन से शरीरगत सूक्ष्म जीवो का विनाश आधुनिक ऐलोपैथी भी स्वीकार करती है।

---

१. शस्यते हिंस्यतेऽनेनेति शस्त्रम्।

खटाई को पौरुष-विनाशिनी आयुर्वेद भी स्वीकार करता है। कांजी आदि भी अम्ल में सम्मिलित हैं। ये छः भेद द्रव्य-शस्त्र के है। इन से भिन्न सभी द्रव्य-शस्त्रों का समावेश उक्त छः में हो जाता है।

७ **मनःदुष्प्रणिधान**—मन की हिंसा आदि पापों में प्रवृत्ति भी मनुष्य के लिये शस्त्र है।

८. **वचन-दुष्प्रणिधान**—वचन से हिंसा करना, कराना और हिंसा की अनुमोदना करना भी शस्त्र है। इसीलिये घातक वाणी के लिये "वचन-वाण" शब्द का प्रयोग किया जाता है। वाक्य-वाण से आहत की उक्ति भी प्रसिद्ध है।[1]

९. **काय-दुष्प्रणिधान**—यद्यपि मानव-शरीर को धर्म-साधन माना गया हैं, परन्तु उसी दशा में यदि शारीरिक क्रियाए जीव-मात्र के लिये हित-साधिका हो। यदि शारीरिक क्रियाए पाप मे प्रवृत्त हो जाती है तो शरीर भी एक शस्त्र वन जाता है, लात मारना, घूसा लगाना, चाटा जड़ना, दातो से काटना, नाखुनो से नोचना आदि काय-दुष्प्रणिधान ही तो है।

१०. **अविरति**—साधक के जीवन मे किसी भी प्रत्याख्यान का न होना, अविरति है। धर्म में प्रवृत्ति का न होना और और पाप से निवृत्ति का न होना परम शस्त्र है, अत साधक को चाहिए कि वह इन द्रव्य-शस्त्रो और भाव-शस्त्रो को छोडकर अशस्त्ररूप सयम के आश्रित होकर निर्वाणपद की प्राप्ति के लिये यत्नशील बने।

वाद के दस दोष—

गुरु-शिष्य या वादी-प्रतिवादी द्वारा किया जानेवाला पारस्परिक शास्त्रार्थ वाद कहलाता है। उसके निम्नलिखित दस दोष है, जैसे कि—

१. **तज्जात-दोष**—गुरु या प्रतिवादी के जन्म, कुल, जाति कर्म आदि वैयक्तिक दोषो को प्रकट करना, व्यक्तिगत आक्षेप करना, प्रतिवादी के द्वारा किया गया मुख-स्तभन आदि दोष, जिससे बोलते-बोलते दूसरे की वाणी वद हो जाए इत्यादि दोष तज्जात दोष कहलाते है।

२ **मति-भंगदोष**—समय पर अपनी ही बुद्धि का भग हो जाना, समय पर जवाब न सूझना, जानी हुई बात को भूल जाना, विस्मृति आदि कारणो से सभा मे जय प्राप्त न कर सकना, मति-भगदोष के ही अनेक रूप हैं।

३. **प्रशास्तृ-दोष**—किसी प्रभावशाली सभापति या सभ्य के द्वारा पक्षपात के कारण प्रतिवादी को विजयी बना देना, वादी और प्रतिवादी के विषय को सुनकर भी विस्मृत होने से पूर्णतया न्याय न कर पाना, जय-पक्ष की उपेक्षा कर विकल-पक्ष का समर्थन करना आदि प्रशास्तृदोष कहलाते है।

४. **परिहरण-दोष**—अपनी मान्यता के अनुसार या लोकरूढि के अनुसार जिस बात को नही कहना चाहिए, उसी बात को कहना परिहरण दोष है। सभा के नियमानुसार जो बात कहनी जरूरी है उसे न कहना, वादी के द्वारा दिए गए दोष का निराकरण किए बिना उत्तर देना, उक्त दोष माना जाता है। जैसे कि किसी बौद्ध वादी ने कहा कि "शब्द कृतकत्व होने से अनित्य है, जैसे घट कृतक

---

१. यदा यदा मुञ्चति वाक्यवाण तदा तदा तस्य कुल-प्रमाणम्।

है इसलिये वह अनित्य भी है इसी तरह शब्द भी अनित्य है।"

उसी के विषय मे शब्द को नित्य माननेवाला मीमांसक कहता है, 'जो तुम शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिये कृतकत्व हेतु देते हो, यह हेतु घट मे रहा हुआ है या शब्द मे ? यदि वह घट-गत है तो वह कृतकत्व शब्द में नही है, अतः पक्ष मे हेतु न रहने से असिद्ध हो जाएगा। यदि वह कृतकत्व हेतु शब्द-गत है तो उसके साथ अनित्यत्व की व्याप्ति नही, अत साध्य के साथ अविनाभाव न होने से साधारणानैकान्तिक हेत्वाभास हो जाएगा।'

वास्तव में मीमांसक का यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह मानने से तो कोई भी अनुमान नही बन सकेगा। धुए से अग्नि का अनुमान भी नही बन सकेगा। "पर्वत मे अग्नि है। क्योकि धुआ है, जैसे रसोईघर मे।" इस अनुमान में भी विकल्प किए जा सकते है। अग्नि को सिद्ध करने के लिये दिए गए धूम रूप हेतु मे कौन-सा धूम विवक्षित है ? पर्वत में रहा हुआ धूम या रसोई मे रहा हुआ धूम ? यदि पर्वतवाला है, तो उसकी व्याप्ति अग्नि के साथ गृहीत नहीं होती, यदि वह हेतु रसोईवाला है, तो वह असिद्ध है, क्योकि वह धुआ पर्वत में नही है। हेतु मे इस तरह के दोष देना परिहरण दोष कहलाता है।

५. स्व-लक्षणदोष—बहुत से पदार्थो से किसी एक पदार्थ को अलग करनेवाली परिभाषा लक्षण कहलाती है, अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु के लक्षण जाने जाए उसको लक्षण कहते हैं।

लक्षण के दो भेद माने गए है—आत्मभूत और अनात्मभूत। दण्ड-युक्त पुरुष को दडी कहना, बाहर की वस्तु के योग से किसी पुरुष को पहचानना अनात्मभूत लक्षण है। जीव का लक्षण उपयोग है, क्योकि ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक लक्षण है। अग्नि का लक्षण उष्णत्व और प्रकाशकत्व है।

लक्षण वह होता है, जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असभव इन तीन दोषों से रहित हो। लक्षण यदि लक्षण लक्ष्य के एक देश मे रहे और एक देश में न रहे, उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं, जैसे "कालापन गौ का लक्षण है" गौ का यह लक्षण एक काली गौ में घट जाने पर भी सफेद गौ मे नहीं घटता, अतः एक-देश-व्यापी होने से यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है।

लक्षण का लक्ष्य और अलक्ष्य दोनो मे रहना अतिव्याप्ति दोष है, जैसे "सीगोवाले पशु को गौ कहते हैं।" गौ का यह लक्षण गौ जाति मे तो घट जाता है, किन्तु भैस, बकरी आदि भी तो सीगो वाले पशु हैं, अतः यह लक्षण गौ के अतिरिक्त अलक्ष्य भैस, बकरी आदि मे भी पाया जाता है, अतः यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से युक्त है।

जो लक्षण लक्ष्य मे बिल्कुल भी न पाया जाता हो, उसे असभव दोष कहा जाता है, जैसे "जिसका एक खुर हो अर्थात् बीच से फटा न हो, वह गौ है।" गौ का यह लक्षण गो जाति मे घटना असभव है।

इन तीनो दोषो से रहित लक्षण को ही वास्तविक लक्षण कहते है। वही लक्षण लक्ष्य को अन्य द्रव्य से भिन्न करानेवाला होता है। अपने लक्षण का यथार्थ वर्णन न करना "स्वलक्षण-दोष" कहलाता है।

६. **कारणदोष**—जो कर्त्ता है, उसे ही कारण कहते है (करोतीति कारणम्) तथा जिस हेतु के लिये कोई दृष्टान्त न हो, उसे कारण कहते है, जैसे कि "सिद्ध भगवान् निरुपम सुखवाले होते हैं, क्योकि उनका ज्ञानदर्शन आदि सभी गुण अनावाध और अनन्तानन्त होते हैं।" यहां पर साध्य और साधन दोनो से युक्त लोकप्रसिद्ध कोई दृष्टान्त नही है, इसलिये इसको उपपत्ति कहते हैं। दृष्टान्त होने पर यही हेतु कहलाता है।

साध्य के विना भी कारण का रह जाना कारण-दोष है, जैसे किसी ने कहा "वेद अपौरुपेय है, क्योकि वेद का कोई कारण नही सुना जाता। कारण का सुनाई न देना अपौरुषेय को छोड कर अन्य कारणो से भी हो सकना है।" यहा कारण से तात्पर्य कर्ता से ही है।

७. **हेतुदोष**—जो साध्य के होने पर तो हो और उस के बिना न हो, जो अपने अस्तित्व से साध्य का ज्ञान कराए वह हेतु है। हेत्वाभास को हेतुदोष कहते हैं।

हेतुदोष तीन तरह का होता है असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। पक्ष मे हेतु का रहना—यदि वादी-प्रतिवादी दोनों के लिये असिद्ध हो तो वह असिद्धदोप है। 'शब्द नित्य है, चक्षुग्राह्य होने से', परन्तु शब्द का चक्षुग्राह्य होना किसी भी तरह से सिद्ध नही हो सकता, अत: यह लक्षण असिद्ध ही माना जाता है।

जो हेतु साध्य के साथ न घट सके, अपितु साध्य से विपरीत हो, वह विरुद्ध कहलाता है। जैसे 'शब्द नित्य है कृतकत्व होने से, घट की तरह।' यहां घट का कृतकत्व घट को ही अनित्य सिद्ध करता है, तो वह शब्द को नित्य कैसे सिद्ध कर सकता है?

जो हेतु साध्य के साथ तथा उस के बिना भी रहे वह अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है, जैसे 'शब्द नित्य है, प्रमेय होने से, आकाश के समान।' यहा प्रमेयत्व हेतु नित्य और अनित्य सभी पदार्थों मे रहता है, इसलिये वह नित्यत्व को सिद्ध नही कर सकता है। हेत्वाभास ही हेतुदोष है। हेतु-दोष का निराकरण किए विना वाद मे प्रवृत्ति नही करनी चाहिए।

८. **संक्रामण**—प्रस्तुत विषय को छोड कर अप्रस्तुत विषय मे चले जाना या अपनी मान्यता को छोड कर प्रतिवादी की मान्यता को स्वीकार कर लेना, उसकी मान्यता का प्रतिपादन करने लग जाना, सक्रामण दोष है।

९. **निग्रह**—छल आदि से दूसरे को पराजित करना निग्रह है।

१०. **वस्तुदोष**—जहा साधन और साध्य दोनो पाए जाए, उसे वस्तु कहते है। पक्ष के दोषों को वस्तुदोष कहा जाता है। किसी के द्वारा विरचित गाथा एव श्लोक, काव्य आदि मे दोष निकालना अथवा वादी द्वारा स्थापित पक्ष मे दोष निकालना आदि वस्तुदोष माना जाता है। सूत्रकार ने सामान्यतया दस दोषो का वर्णन किया है। इन दोषो से यह भली-भाति सिद्ध हो जाता है कि साहित्य, न्याय, व्याकरण, नीति-धर्मकथा आदि का प्रयोग ज्ञान-परिवर्धन के लिये करना चाहिए। यदि वादी को पराजित करने के लिये निग्रहस्थानादि का प्रयोग किया जाए, तो वे सब प्रयोग दोष ही माने जाएगे। न्यायशास्त्र का लक्ष्य सत्य की रक्षा और असत्य का निराकरण है, किसी को पराजित करना नहीं।

दस विशेष दोष

जिस गुण विशेष के द्वारा सामान्यरूप से सामने स्थित वस्तु या व्यक्ति में से किसी व्यक्ति विशेष को पहचाना जाए, उसे विशेष कहते है। विशेष का अर्थ है विभेदक—व्यावर्तक। पहले सामान्य रूप से वाद के दस दोष बताए गए है। अब वाद के विशेष दोषो का परिचय दिया जाता है, जैसे कि—

१. **वस्तु-विशेष दोष**—सामान्य दोष की अपेक्षा जो वस्तु या व्यक्ति में विशेष दोष पाया जाए वह वस्तुविशेष दोष कहलाता है। पक्ष मे भी प्रत्यक्ष निराकृत आदि अनेक विशेष दोष होते हैं। उनके उदाहरण निम्नलिखित है :—

जो पक्ष प्रत्यक्ष-बाधित हो, उसे प्रत्यक्ष-निराकृत कहते है, जैसे कि कोई कहता है 'शब्द श्रवण का विषय नही है।" यहा शब्द को श्रवण का विषय न मानना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है।

जो पक्ष अनुमान से बाधित हो, उसे अनुमान-निराकृत कहते हैं, जैसे कि कोई कहता है कि 'शब्द आकाश की तरह नित्य है'। यहां शब्द की नित्यता अनुमान से बाधित है।

जो पक्ष अपने ही वचनो से बाधित हो उसे "स्ववचन-निराकृत" कहते है, जैसे कि 'जो कुछ मैं कहता हू, वह असत्य है।'

जो पक्ष लोक-व्यवहार से बाधित हो, वह 'लोकरूढि-निराकृत" कहलाता है, जैसे कि 'मनुष्य की खोपडी पवित्र है'। इत्यादि सब उदाहरण पक्ष बाधित के कहे जा सकते हैं।

२. **तज्जात विशेष दोष**—प्रतिवादी की जाति, कुल आदि को लेकर दोष देना तज्जात दोष है। वह भी सामान्य दोष की अपेक्षा विशेष है। कर्म, मर्म, जन्म, कुल आदि की दृष्टि से इसके अनेक भेद है। जैसे कि कहा भी है—

'कच्छुल्लयाए घोडीए जाओ जो गद्दहेण छूढेण।
तस्स महायणमज्झे आयारा पायडा होंति॥"

अर्थात् कडूयन रोगवाली घोडी मे गर्दभ के सयोग से जो सतान उत्पन्न होती है, उसके आकार मे भेद होता है। उसका वह आकार महाजनो के बीच में प्रकट होता है, छिपता नही है। इसका भाव यही है कि वर्णसकर छिपा नही रहता। इसी तरह मर्म, कर्म के विषय में अपनी बुद्धि से समझ लेना चाहिए।

३. **एकार्थिकदोष**—एक अर्थवाले शब्दो का एक साथ प्रयोग (जैसे घट शब्द एकार्थक है और गौ शब्द अनेकार्थक है), अथवा समान अर्थवाले शब्दो मे समभिरूढ और एवभूत नय के अनुसार भेद डाल देना एकार्थक दोष विशेष है। **"घटमानय"** ऐसा न कहकर **"घट-कुंभ-कलशमानय"**— घडा, कुम्भ, कलश लाओ, यहां पर एक अर्थवाले अनेक शब्दो का प्रयोग करना एकार्थिकदोष है। इसी तरह अन्याअन्य अर्थो के विषय में भी जानना चाहिए।

४. **कारण**—कार्य में कारण की विशेषता रहती है। घट का उपादान कारण मृत्तिका है। दण्ड, चक्र, चीवर कुलालादि उसके निमित्त कारण हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्यथासिद्ध कारण

कहलाते हैं, जैसे दिशा, देश, काल, आकाश, कुलाल-पिता और गर्दभ आदि। उपादान और निमित्त के बिना अन्यथासिद्ध को कारण मानना अथवा रेत को घट का उपादान और जुलाहे को उसका निमित्त कारण कहना, उड़ती हुई भाप को देख कर अग्नि कहना 'कारण-दोष' माना जाता है।

५. प्रत्युत्पन्न दोष—अतीत और भविष्यत्काल को छोडकर जिस दोष का सम्बन्ध केवल वर्तमान मे ही हो वह प्रत्युत्पन्नदोष कहलाता है। स्वीकार की हुई वस्तु में दिए जाने-वाले अकृताभ्यागम और कृतविप्रणाश आदि दोष प्रत्युत्पन्न हैं। जैसे बौद्धमत के क्षणिकवाद को स्वीकार करने से अकृतागम और कृतविनाश ये दोनों दोष सिद्ध होते है। यदि आत्मा को क्षणिक माना जाए तो कृतविनाश और अकृताभ्यागम इन दोषों से किसी तरह भी बचाव नही हो सकता।

६. दोष—पूर्व कहे हुए मतिभंग आदि शेष आठ दोषों को सामान्यरूप से न लेकर विशेप रूप से लेने पर यह विशेष दोष है, अथवा दोषो के अनेक प्रकार यहा दोष विशेष के रूप मे लिए गए हैं।

७. नित्यदोष—जो त्रैकालिक दोष है, उन्हे नित्यदोष कहा जाता है। जैसे वस्तु को एकान्त-नित्य या एकान्त अनित्य मानने से जो सिद्धान्त दूषित होता है या अभव्य जीवों के जैसे मिथ्यात्वादि दोष है, वे सब नित्य दोष है। 'जहा अग्नि है, वहा धूम है', यह अन्वय-व्याप्ति है और जहां धुआं नही, वहा अग्नि भी नही यह व्यतिरेक व्याप्ति है ये दोनो व्याप्तिया सदा-सर्वदा दूषित है।

८. अधिक दोष—दूसरे को समझाने के लिए प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पचावयवो का प्रयोग उतना ही करना चाहिए, जितनी आवश्यकता हो। आवश्यकता से अधिक कहना, अधिक दोष माना जाता है। साराश यह है कि जिन-वचन स्वय सिद्ध होने पर भी श्रोताओ की योग्यता अनुसार जितनी आवश्यकता है, उतने अवयवो के देने में निषेध नही है, किन्तु आवश्यकता से अधिक हेतु या उदाहरण देना दोषरूप हो जाता है। जैसे एक भाजन मे दस सेर अन्न पकाया जा सकता है, उसमे १२-१३ सेर अन्न पकाने से अन्न और भाजन दोनो सुरक्षित नही रह सकते, यही दोष 'अधिक-दोष' मे है।

९. आत्मकृत—जो दोष स्वय किया गया हो, उसे आत्मकृत कहते हैं।

१०. उपनीत—जो दोष दूसरे के द्वारा दूषित किया गया हो, वह उपनीत दोष कहलाता है। इन दोनो अन्तिम दोषों का भाव यह है कि जब वादी वादकला की रीति-नीति का ठीक तरह से प्रयोग नही करता हो तो वह आत्मकृत दोष का विधायक होता है। यदि वादी अपनी कला की रीति-नीति को छोडकर दूसरे की बताई हुई रीति जो कि वास्तव में उस समय के अनुसार गलत है, उसके सकेतानुसार वाद करने से जो अपनी पराजय होती है, वह उपनीत दोष कहलाता है।

ये दस विशेप दोष सामान्य की अपेक्षा जानने चाहिए। इनकी विशेष व्याख्या न्याय साहित्य कोषादि ग्रन्थो से जाननी चाहिए। आचार्य अभयदेव कहते हैं कि "जिस प्रति से मैंने वृत्ति लिखनी आरम्भ की है, उसमें 'निच्चेऽहि अट्ठमे'—यह पाठ देखा गया है और उसके अनुसार ही अर्थ किया गया है।" इससे सिद्ध होता है कि प्रतिभेद के कारण पाठ-भेद हो जाता है।

शुद्धवचन-अनुयोग

मूल—दसविहे सुद्धावायाणुओगे पण्णत्ते, तं जहा—चंकारे, मंकारे, पिंकारे, सेयंकारे, सायंकारे, एगत्ते, पुहत्ते, संजूहे, संकामिए, भिन्ने ।४२।

छाया—दशविधः शुद्धवाचानुयोगः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—चकारः, मकारः, अपिकारः, सेकारः, (श्रेयस्कारः), सायंकारः, एकत्व, पृथक्त्व, संयूथं, संक्रामितं, भिन्नम् ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश प्रकार का शुद्ध वागनुयोग वर्णन किया गया है, जैसे—च-कार, मं-कार अपि-कार, से-कार, सायं-कार, एकत्व, पृथक्त्व, संयूथ, संक्रामित औरभिन्न।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में विशेष गुण दोषो का वर्णन किया गया है। विशेष गुण और दोष अनुयोग-गम्य होते हैं, अत. इस सूत्र मे शुद्ध वचनानुयोग का वर्णन किया गया है।

अनुयोग का अर्थ है व्याख्या। अनुयोग अर्थ और वचन दो प्रकार का होता है। वाक्य मे आए हुए जिन पदो का वाक्यार्थ से कोई विशेष सबध नही होता, उन्हे शुद्ध वाक्यानुयोग कहते हैं। चकार आदि के विना वाक्य का अर्थ करने मे कोई विशेष बाधा नही पडती, क्योंकि वे वाक्य के अर्थ को व्यवस्थित मात्र ही करते है, जैसे कि—

१. चकार—प्राकृत भाषा में 'च' की जगह 'य' का प्रयोग अधिक होता है। इसका प्रयोग साहित्य में समाहार, इतरेतरयोग, समुच्चय, अन्वाचय, अवधारण. पाद-पूरण और अधिक-वचन इत्यादि अर्थों में किया जाता है, जैसे कि 'इत्थीओ वयणाणि य' इस पद में चकार (य) शब्द समुच्चय अर्थ मे प्रयुक्त है जो कि स्त्रियों और शयन के अपरिभोग मे तुल्यता दिखाने के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। जहां-जहां चकार का प्रयोग होता है, वहां-वहां प्रकरणानुसार ही उसका अर्थ किया जाता है।

२. मंकार—'मा' या 'म' का प्रयोग जिस स्थल पर किया जाता है, उसका अर्थ प्रकरण के अनुसार ही निकलता है, क्योंकि यह भी अनेकार्थक शब्द है। जैसे कि 'समण वा माहण वा'—यहा 'माहण' शब्द में मकार निषेध अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है अर्थात् 'मत हनन कर' इस तरह उपदेश करनेवाले साधु को 'माहन' कहते है। "जेणामेव समणे भगवं महावीरे तेणामेव"—इन दो पदो मे मकार का प्रयोग सुन्दरता के लिये ही किया गया है। 'जेणेव'—कहने से भी वही अर्थ निकलता है जो कि 'जेणामेव' से निकलता है। इस पद मे मकार आगमिक है।

३. पिंकार—श्रुत-साहित्य में अपि उपसर्ग का प्रयोग निम्नलिखित अर्थों में किया जाता है, जैसे कि सभावना, अनिवृत्ति, अपेक्षा, समुच्चय, गर्हा, शिष्यामर्षण, भूषण और प्रश्न। जैसे कि—"एवं पि एगे आसासे"—यहां पर 'अपि' शब्द समुच्चय अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। जो यह बताता है कि इस

प्रकार भी और दूसरी तरह भी। प्राकृत में 'पि' और 'वि' का प्रयोग अपि अर्थ में होता है, जैसे कि "चउविसं पि केवली" तथा "देवा वि तं नमंसंति"। अपि, उपसर्ग जिन-जिन वाक्यों में आता है, उनका अर्थ भी प्रसंगानुसार ही करना चाहिए।

४. सेयंकार—"से" शब्द का प्रयोग आगमो में 'अथ' के लिये किया गया है। 'अथ' शब्द के सशय, अधिकार, मगल, विकल्प, अनन्तर, प्रश्न, प्रतिवचन, कात्स्न्र्य, आरम्भ और समुच्चय आदि अनेक अर्थ है। जैसे कि "से किं तं नाणे", से भिक्खू वा भिक्खुणो वा। 'तस्य' और 'सः' अर्थ में भी 'से' का प्रयोग होता है।

अर्धमागधी भाषा में अर्थ शब्द के उपलक्षण में 'से' शब्द का प्रयोग होता है। कही-कही पर इसका फलितार्थ 'असौ' भी होता है। 'सेयंकार' का रूप 'सेकार' बनता है। अथवा 'सेयकार' का सस्कृत में 'श्रेय-स्कार' बनता है। 'श्रेय' का प्रयोग आगम में मिलता है जैसे कि "सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती" यह अध्ययन पठन करना मेरे लिये श्रेयस्कर है 'अथवा' "सेयकार" में 'सेय' शब्द का अर्थ भविष्यत्काल भी होता है जैसे "सेयंकाले अकम्मं वा वि भवइ"।

५. सायंकार मे 'साय' शब्द निपात है। इसका प्रयोग सत्य वचन, सद्भाव और प्रश्न अर्थ मे किया जाता है। सत्यकार ही 'सायकार' है।

जिस शब्द के साथ 'कार' की योजना होती है, उस शब्द से केवल उसी शब्द का ग्रहण होता है, जैसे कि 'अकार', 'चकार' इत्यादि। जिस शब्द के साथ 'वर्ण' शब्द का योग होता है, उस शब्द से सवर्ण वर्ण का ग्रहण होता है जैसे कि 'अवर्ण' 'इवर्ण' आदि (कारग्रहणे केवलग्रहण, वर्णग्रहणे सवर्णग्रहणम्)। जितने चकारादि अव्यय है, वे सब निपात हैं। पाठक को सब का ज्ञान होना चाहिए, तभी सूत्रो का अर्थ तथा शुद्ध पठन किया जा सकता है। चकार, मकार, पिकार, सेयकार और सायकार इन पदो मे अनुस्वार लाक्षणिक है। इन पाच निपातो के उदाहरणो से शेष निपातो का विषय भी उपलक्षण से जान लेना चाहिए। इनका ज्ञान होने पर ही शुद्ध वचनानुयोग होता है।

६. एकत्व—बहुत सी बातें जहा मिलकर किसी एक वस्तु के प्रति कारण हों, वहां एक वचन का प्रयोग होता है, जैसे कि—"सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्र में एक मोक्ष मार्ग को प्रकट करने के लिये तीन साधनो के पश्चात् मोक्ष-मार्ग पद एक वचनान्त दिया गया है। यदि "मार्गाः" यह बहुवचन कर दिया जाता, तो इस का अर्थ हो जाता-ज्ञान, दर्शन और चारित्र। ये अलग-अलग मोक्ष के मार्ग हैं, परन्तु ये तीन अलग-अलग मोक्ष के मार्ग नही है। यही बताने के लिये मार्ग शब्द एक वचनान्त रूप रखा गया है।

७. पृथक्त्व—एकत्व का प्रतिपक्ष पृथक्त्व है। यह द्विवचन और बहुवचन का भेद करके दिखाता है। इसका अनुयोग ऐसे किया जाता है—"धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायदेसे, धम्मत्थिकाय-पदेसा" इस सूत्र-पद मे धर्मास्तिकाय के प्रदेश बहुवचन से प्रकट किए गए हैं। यह बहुवचनान्त पद धर्मास्तिकाय के असख्यात प्रदेश सिद्ध कर रहा है। व्यवहारनय का आश्रय लेकर जिन-जिन पदार्थों का भेद बतलाना हो, उनके अनुसार वचन व क्रिया का प्रयोग करना चाहिए।

८. संयूथ—एकत्र किए हुए पदों को या समस्त पदों को 'सयूथ' कहते हैं। जो पद परस्पर अर्थ

की संगति ठीक कर सकते हों, उन्हींको सूत्रकार संयूथ के नाम से कथन करते है। उसका अनुयोग ऐसे किया जाता है कि जैसे कि "सम्यग्दर्शनशुद्धम्" इस शब्द का अर्थ है—"सम्यग्दर्शनेन, सम्यग्दर्शनाय, 'सम्यग्दर्शनाद्वा शुद्धं सम्यग्दर्शनशुद्धम्।'

९. संक्रामित—विभक्ति या वचन को जहां बदलकर वाक्य का अर्थ किया जाता है, जैसेकि—"साहूणं वंदणेणं णासइ पावं असंकिया भावा साहूण" यहां षष्ठी विभक्ति को 'साधुभ्यः' इस पचमी में बदल कर फिर अर्थ किया जाता है, जैसे—साधुओ को वन्दन करने से पाप नष्ट होते हैं और साधुओ से भाव अशकित होते है। "अच्छदा जे न भुञ्जन्ति, न से चाइ त्ति वुच्चइ"—जो वस्तुओं का उपभोग स्वच्छन्दता से नहीं करते 'वे त्यागी नही होते'। यहा 'वह त्यागी नही होता' इस एक वचन को बदलकर बहुवचन किया गया है, 'वे त्यागी नहीं कहे जाते'। इस तरह विभक्ति और वचन सक्रामित होते है।

१०. भिन्न—क्रम और कालादि से भिन्न-विसदृश जैसे कि "तिविहं तिविहेण मणेणं वायाए काएण"—तीन करण और तीन योग से त्याग होता है। मन, वचन और कायरूप तीन योगो का करना, कराना और अनुमोदन रूप तीन करणों के साथ क्रम रखने से करना, वचन से कराना और काय से अनुमोदन करना, यह अर्थ हो जाता है। अन: यह क्रम छोडकर तीनो करणो का सबध प्रत्येक योग के साथ होता है 'मन से करना, मन से कराना, मन से अनुमोदन करना', इसी तरह वचन और काय के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

कभी-कभी काल-भेद के रूप मे अतीतादि का निर्देश प्राप्त होने पर भी वर्तमान आदि का निर्देश किया जाता है, जैसे कि जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे ऋषभ स्वामी का आश्रयण करके "सक्के देविंदे देवराया वंदइ नमंसइ"—इस सूत्र रूप मे वर्तमान क्रिया का निर्देश किया गया है। वह वर्तमान कालिक निर्देश त्रिकाल मे होनेवाले सभी तीर्थङ्करो के विषय मे जीताचार दिखाने के लिये प्रदर्शित किया गया है तथा वृत्तिकार भी लिखते हैं "इदं च दोषादिः सूत्रत्रयमन्यथापि विमर्शनीयो गभीरत्वादस्येति", अर्थात् उक्त दोषादि तीन सूत्र अन्य प्रकार मे भी विचार करने योग्य है, क्योंकि यह विषय गभीर है। श्रुतसपन्न गुरु से इन तीन सूत्रो की विचित्र प्रकार की व्याख्या सुनकर ज्ञान अधिगत करना चाहिए।

दान और गति

मूल—दसविहे दाणे पण्णत्ते, तं जहा—

अणुकंपा संगहे चेव, भये कालुणिएइ य।
लज्जाए गारवेणं य, अहम्मे उण सत्तमे।
धम्मे य अट्ठमे वुत्ते, काहोइ य कयंइ य।

दसविहा गई पण्णत्ता, तं जहा—निरयगई, निरयविग्गहगई, तिरियगई, तिरियविग्गहगई, एवं जाव सिद्धिगई, सिद्धिविग्गहगई।४३।

छाया—दशविधं दानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

अनुकम्पा, संग्रहश्चैव, भयं, कारुण्यकमिति च।
लज्जया, गौरवेण च, अधर्मः पुनः सप्तमम्।
धर्मश्चाष्टमनुक्तं, करिष्यतीति च, कृतमिति च।

दशविधा गतिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—निरयगतिः, निरयविग्रहगतिः, तिर्यग्गतिः, तिर्यग्-विग्रहगतिः। एवं यावत् सिद्धिगतिः, सिद्धिविग्रहगतिः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश प्रकार का दान कहा गया है जो इस प्रकार है–दीन, अनाथादि दुःखियों को देना, अनुकम्पा-दान है। विपत्ति आदि के समय पीड़ितों की सहायता करना संग्रह-दान है। अपने इष्टजन के वियोग से दुःखित होकर अमुक को परलोक में सुख होगा, इस आशय से देना, कारुण्यदान है। किसी भय से देना भयदान है। लज्जावश देना। गर्व से देना। जिस से अधर्म की वृद्धि हो वह अधर्मदान। धर्मार्थ देना धर्मदान। इस दान से यह अमुक मेरा उपकार करेगा, इस बुद्धि से देना। अमुक ने मेरा यह उपकार किया है, इस भावना से देना।

दस प्रकार की गति कही गई है, जैसे—नरकगति, नरकविग्रहगति, तिर्यञ्च-गति, तिर्यञ्चविग्रहगति, इसी प्रकार यावत् सिद्धगति, सिद्धविग्रहगति।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में वचनानुयोग का वर्णन किया गया है। वचनानुयोग के बाद अर्थानुयोग की प्रवृत्ति होती है, अतः प्रस्तुतसूत्र में अर्थानुयोग के रूप में दान और उस के भेदों का उल्लेख किया गया है। दान का अर्थ है—न्यायपूर्वक प्राप्त हुई वस्तु को दूसरे के लिये अर्पित करना। यह अर्पण उसके कर्त्ता और स्वीकार करनेवाला दोनो का उपकारक होना चाहिए। अर्पण करनेवाले का मुख्य उपकार तो यह है कि उस वस्तु पर से उसकी ममता हट जाए और इस तरह से उसे सन्तोष एव समभाव की प्राप्ति हो। स्वीकार करनेवाले का उपकार यह है कि उस वस्तु से उसकी जीवन-यात्रा में सहायता मिले तथा सद्गुणो का विकास हो। देनेवाले की जैसी भावना होती है, उसी के अनसार दान के भेद वन जाते हैं। दान के दस भेद हैं, जैसे कि—

१. अनुकम्पा-दान—जो अनुकम्पा से दान दिया जाता है, उसे अनुकम्पा दान कहते हैं। पूज्यपाद उमास्वाति ने अनुकम्पादान के विषय मे कहा है—

"कृपणेऽनाथदरिद्रे व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते।
यद्दीयते कृपार्थात् अनुकम्पा तद्भवेद् दानम् ॥"

अर्थात् दीन, अनाथ, रंक, आपत्तिग्रस्त, रोगशोक से परिव्याप्त इन को जो दया-बुद्धि से दिया जाता है, वह अनुकम्पा दान है। इस दान का श्री भगवान ने कहीं पर भी निषेध नहीं किया। अहिंसा के भावों से ही दयापात्रों की रक्षा की जा सकती है। अभयदान का समावेश भी इसीमें हो जाता है। हृदय में अनुकम्पा का होना सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। जैनधर्म का सर्वस्व अहिंसा है। यदि अनुकम्पा का निषेध किया जाए तो उसके साथ ही जैन-धर्म का भी स्वत: निषेध हो जाएगा, क्योंकि अहिंसाधर्म का प्रधान लक्षण अनुकम्पा ही है।

२. संग्रह-दान—बाढ़, दुर्भिक्ष, रोग, भूकम्प आदि उपद्रवो से पीड़ित जनता को सहायता देना संग्रहदान है। यह दान अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये होता है। यह दान मोक्ष का कारण नही है। कहा भी है—

"अभ्युदये व्यसने वा यत्किंचिद् दीयते सहायतार्थम्।
तत्संग्रहतोऽभिमत मुनिभिर्दानं न मोक्षाय ।"

अर्थात् अभ्युदय मे या आपत्ति आने पर दूसरे की सहायता प्राप्त करने के लिये जो कुछ दिया जाता है, वह सग्रह-दान है।

३. भय-दान—राक्षस, पिशाच, राजा, मन्त्री, कोतवाल आदि के भय से जो दिया जाता है, वह भय-दान है।

४. कारुण्य-दान—पुत्रादि के वियोग के कारण होनेवाला शोक कारुण्य कहलाता है। शोक-वश पितरो आदि के नाम से दान देना कारुण्यदान है। यद्यपि इस प्रकार के विचार से किया हुआ दान अज्ञान और मिथ्यात्व से ही हुआ करता है तथापि जो उसने दिया है। वह कारुण्यभाव से दिया है। शोकाकुल व्यक्ति के भाव ये होते है कि दिए हुए दान से वह मृतक जन्मान्तर मे सुखी होगा। इस प्रकार की बुद्धि से जो कुछ दिया जाता है, वह कारुण्यदान कहलाता है, क्योंकि करुणा के भाव को ही कारुण्य कहते हैं।

५. लज्जा-दान—जो दान लज्जा के वशीभूत होकर किसी को दिया जाए, वह लज्जादान है। जैसे सभा मे बैठे हुए किसी ने दान के लिये प्रार्थना की, तब उपस्थित जनता में से कुछ एक लोग इच्छा न होते हुए भी लज्जावश दान देने लग जाते हैं, इसीको लज्जादान कहते हैं।

६. गौरव-दान—जो दान अहकार के वश होकर दिया जाए, वह गौरव-दान है। इसमे दाता की भावना यश: कीर्ति या प्रशसा प्राप्त करने की होती है, कहा भी है—

"नटनर्त्तकमुष्टिकेभ्यो दानं, संबन्धिबन्धुमित्रेभ्यः।
यद्दीयते यशोऽर्थं, गर्वेण तु तद्भवेद्दानम् ॥"

अर्थात् नट, नर्त्तक, पहलवान सगे-सबन्धी या मित्रो को यश-प्राप्ति के लिये दिया जा रहा दान गर्व-दान है।

७. अधर्म-दान—जिन व्यक्तियों को देने से अधर्म की पोषणा और वृद्धि हो, ऐसे लोगों को दान देना अधर्म-दान है। कहा भी है—

"हिंसानृत-चौर्योद्यत-परदार-परिग्रह-प्रसक्तेभ्यः।
यद्दीयते हि तेषां, तज्जानीयादधर्माय॥"

अर्थात् जो व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री तथा परिग्रह में आसक्त हैं, ऐसे लोगों को दान देना अधर्म-दान है। जिस दान के देने से दूसरा व्यक्ति अधर्म में प्रवृत्ति करने लग जाए अथवा अधर्म भावना से दिया जानेवाला दान अधर्म-दान कहलाता है।

८. धर्म-दान—धर्मभावना से दिया जानेवाला दान धर्मदान है। जो श्रुत और चारित्र रूप धर्म की पोषणा एव वृद्धि के लिये दिया जाता है, वह धर्मदान है। जैसे कहा भी है—

"समतृणमणिमुक्तेभ्यो यद्दानं दीयते सुपात्रेभ्यः।
अक्षयमतुलमनन्तं तद्दानं भवति धर्माय॥"

अर्थात् जो दान सुपात्र को दिया जाता है, वह अक्षय, अनुल एव अनत सुख का कारण होने से धर्म-दान कहा जाता है। उसी दान मे धार्मिक सस्थाए भी गर्भित हो जाती है, क्योंकि श्रुतदान करने वाले का प्रत्युपकार किसी प्रकार से भी नही दिया जा सकता। हा, श्रुत-ज्ञान देनेवालों की आज्ञा के पालन से उऋण हुआ जा सकता है।

९. काहीदान—"कभी यह मेरे पर उपकार करेगा" इस भावना से दिया जाने वाला दान।

१०. कृत-दान—पहले किए हुए उपकार के वदले में जो कुछ किया जाता है, उसे कृतदान कहते है। जैसे कि "इस ने मेरे पर सैंकडो उपकार किए है, हजारों वार दान भी दिया है, अतः मैं भी प्रत्युपकार के लिये कुछ देता हूं" इस वुद्धि से दिया गया दान कृत-दान है।

इन दस प्रकार के दानों में से दो तरह के दान तो अपनी सर्वथा प्रधानता रखते हैं, जैसे कि अधर्मदान और धर्मदान। जैसे एक मास को ३० रात्रिया होती है, उनमें अमावस्या और पूर्णमासी ये दो राते अपने गुण मे प्रधान होती है, कारण कि अमावस्या मे प्रकाश का सर्वथा अभाव होता है और पूर्णमासी मे प्रकाश का विस्तार होता है, शेष राते अधकार और प्रकाश के तारतम्य भाव को धारण करती है। इसी तरह शेष आठ दानों में से किसी दान मे पाप कम और पुण्य अधिक तथा किसी दान में पाप अधिक और पुण्य कम होता है। ये सब देनेवाले के भावो पर ही निर्भर हुआ करता है, अतः विचारशील धर्मदान और अनुकपादान में दत्तचित्त होते हुए निर्वाण-पद के अधिकारी हो जाते है।

दानधर्म से शुभाशुभ गति की प्राप्ति होती है, अतः दान के अनन्तर सूत्रकार ने दस प्रकार की गतियो का वर्णन किया है। जो शुभ भाव से रहित है अथवा शुभपर्याय से रहित है, उसे निरय कहते है। नरकगति-नाम-कर्म के उदय से नरक-पर्याय की प्राप्ति होना, नरक-गति कहलाती है। नरकगति को निरय-गति भी कहते हैं। गति शब्द से यहां पर्याय-विशेष से तात्पर्य है। जीव जिस

पर्याय-विशेष में रहा हुआ है, उसे गति शब्द से अभिलक्षित किया जाता है। नरक में रहा हुआ जीव नरकगति और तिर्यञ्चगति में रहा हुआ जीव तिर्यञ्चगति से अभिव्यक्त किया जाता है। इसी तरह मनुष्य, देव और सिद्धिगति के विषय में भी जान लेना चाहिए।

विग्रह शब्द से देह एवं वक्र अर्थ ग्रहण किया जाता है तथा तीसरा अर्थ है—आकाश-विभाग का अतिक्रमण रूप गमन। नरक-विग्रहगति—नरकदेह धारण के लिये जीव जो गति करता है अथवा एक या दो मोड़ करके जो जीव परभव के लिये गति करता है, उसे नरक-विग्रहगति कहते है तथा नरक के लिये जो जीव वर्तमान में गति कर रहा है, उसे नरक विग्रहगति कहते है। इसी तरह तिर्यञ्च-विग्रह गति, मनुष्य-विग्रहगति, देवविग्रह-गति के विषय मे समझना चाहिए।

यहां शका हो सकती है कि संसारी जीव परभव को जाते हुए ऋजुगति और विग्रहगति दोनो तरह की गति करते है, किन्तु मुक्तात्मा जब लोकाग्र मे पहुचता है, वह केवल ऋजुगति से ही पहुचता है और वह गति एक सामयिक होती है। विग्रहगति सिद्धो मे बिल्कुल नही होती, फिर सिद्ध-विग्रह-गति लिखने का क्या अभिप्राय है ?

इस शका के समाधान मे कहा जा सकता है कि इस पद में विग्रह पद का अर्थ देह और वक्र अर्थ को छोड़कर "आकाश-विभाग-उल्लघन-रूपक्रिया" ही किया जाता है, अतः यहां गति की सार्थकता सिद्ध होती है।

सिद्धि-विग्रहगति का एक दूसरा अर्थ अकार का प्रश्लेष निकालने की अपेक्षा से सार्थक होती है, जैसे कि सिद्धि-अविग्रहगति को सस्कृत भाषा में सिद्धचविग्रह-गति ऐसा लिखा जाता है अर्थात् सिद्धगति विग्रह-रहित होती है।

'सिद्धिगति' इस पद से तो सामान्य गति कही गई है और 'सिद्धिविग्गहगई' इस पद से 'सिद्धच-विग्रहगति' कही गई है, क्योकि इसकी छाया "सिद्धचविग्रहगतिः" ही होती है। सिद्धि में—लोकाग्रभाग में विना मोड़ किए जो सिद्धात्मा का गमन है, वह सिद्धि-अविग्रहगति है। इससे यह सिद्धात्मा की विशेष गति कही गई है। इस तरह सामान्य और विशेष की अपेक्षा से ही दो पदो का भेद जानना चाहिए।

मुण्ड-भेद

मूल— दसमुंडा पण्णत्ता, तं जहा—सोइंदियमुंडे जाव फासिंदियमुंडे, कोहमुंडे जाव लोभमुंडे, दसमे सिरमुंडे।४४।

छाया—दशविधा मुण्डाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियमुण्डो यावत्स्पर्शनेन्द्रियमुण्डः, क्रोधमुण्डो यावल्लोभमुण्डो दशमः शिरोमुण्डः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश मुण्डित कहे गए है, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय-मुण्डित यावत् स्पर्शनेन्द्रियमुण्डित, क्रोध-मुण्डित यावत् लोभ-मुण्डित शिरोमुण्डित।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में दान का वर्णन किया गया है। दानशील व्यक्ति में ही मुण्डित होने की भावना जागृत होती है और आत्मविकास के लिये मुण्डित होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण प्रस्तुत सूत्र मे दस प्रकार के मुण्डो का वर्णन किया गया है। मुण्ड शब्द का अर्थ है "मुण्डयति"—अपनयतीति मुण्डः" अर्थात् अवगुणो को दूर करना ही 'मुण्ड' कहलाता है। जिसने उन अवगुणो को दूर कर दिया, उसे मुण्डित कहते है। पांच इन्द्रियो के विषयों पर राग और द्वेष न करना तथा क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार कषायों को उदित न होने देना और उदय होने पर उन्हें निष्फल कर देना एव इन के हट जाने पर फिर दसवां शिरोमुण्डन करना रूप दस प्रकार का मुण्डन होने पर ही वस्तुतः साधक मुण्डित कहलाता है।

यहां विचारणीय बात यह है कि पांच इन्द्रियों और चार कषायों को वश में किए बिना केवल सिर को मुण्डित करने से आत्मविकास नही हो सकता, अतः यह निश्चित है कि दस प्रकार का मुण्डन हो जाने पर ही सिर का मुण्डित होना सफल हो सकता है।

संख्यान-भेद

मूल—दसविहे संखाणे पण्णत्ते, तं जहा—

परिकम्म ववहारो, रज्जू रासी कलासवन्ने य।
जावतावति वग्गो घणो य तह वग्ग वग्गो वि॥
कप्पो य।४५।

छाया—दशविधं संख्यानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—

परिकर्म, व्यवहारः, रज्जुः, राशिः, कलासवर्णश्च।
यावत्तावद् वर्गो घनश्च तथा वर्गवर्गोऽपि॥
कल्पश्च।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—संख्या दस प्रकार की कथन की गई है, यथा—परिकर्म, व्यवहार, रज्जु, राशि, कलासवर्ण, यावत्तावत्, वर्ण, घन, वर्गवर्ग और कल्प ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में दस प्रकार के मुण्डों का वर्णन किया गया है । मुण्डित होनेवाले साधक का पहला कर्तव्य है कि वह तत्त्वों आदि की सख्या को जाने, अतः प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने सख्यान का वर्णन किया है ।

जिस उपाय से किसी वस्तु की सख्या या परिमाण का ज्ञान हो उसे सख्यान कहते हैं । सख्यान के दस भेद हैं, जैसे कि—

१. परिकर्म—पहाड़े, जोड़, गुणा, भाग, लब्ध इत्यादि सख्याविधिओं को परिकर्म कहते हैं ।

२. व्यवहार—जो हिसाब वाणिज्य-व्यापार आदि में प्रयोग किया जाता है, उसे व्यवहार कहते है । जैसे कि सवाया, ड्योढ़ा, ढाया इत्यादि । अथवा ६ की सख्या को आधी दर्जन, १२ की संख्या को दर्जन, १२ दर्जनो को गुरस आदि कहते हैं, तथा २० को सख्या वाला वस्तु को कोडी के नाम से पुकारा जाता हैं । ये सब व्यवहार-सख्यान के ही भेद हैं ।

३. रज्जु—सेंटीमीटर, इंच, फुट, फीता, रस्सी, अगुल, बिलांत आदि से नापकर लम्बाई-चौड़ाई आदि का पता लगाना, रज्जु-सख्यान है । इसमें ज्यामिति का भी समावेश हो जाता है ।

४. राशि—धान्य आदि के ढेर को नापकर या तोलकर वस्तु के परिमाण को जानना राशि-संख्यान है । इसके आश्रय से ढेरी के हिसाब से दूसरे का हिसाब चुकाया जाता है ।

५. कला-सवर्ण—वस्तु के अंशो को बराबर करके जो हिसाब किया जाता है उसे कला-सवर्ण कहते हैं । मात्रा के अनुसार अनेक वस्तुओं का एकीकरण करना तथा औषधियो आदि के निर्माण के समय रासायनिक द्रव्यो की मात्रा निश्चित करना आदि का समावेश कला-सवर्ण मे ही हो जाता है ।

६. यावत्तावत्—गुणाकार को यावत्तावत् कहते है । इसके द्वारा कहीं से भी यथेष्ट गुणाकार से यथेष्ट सकलित आदि लाया जाता है । किसी सख्या का एक से लेकर अनेक अकों का जोड़ निकालने के लिये गुणा आदि करना यावत्-तावत् सख्यान कहलाता है ।

इसका क्रम निम्नलिखित है—एक से लेकर किसी अमुक सख्या तक यदि जोड़ करना हो, तो उसे अपनी इच्छा के अनुसार किसी सख्या से गुणा करे, गुणनफल मे जिस सख्या से गुणा किया गया है, उसे जोड़ दे । इससे प्राप्त सख्या को जोड़ की जानेवाली सख्या से गुणा करें—उदाहरण स्वरूप—जिस सख्या को सर्व प्रथम गुणा किया जाता है, उसे गच्छ कहते हैं । जिस सख्या से पहले-पहल गुणा किया जाता है, उसे वाछा कहते हैं । जैसे कि दस को गच्छ और आठ को वाछा । १० को ८ से गुणा किया तो ८० हुए । फिर वांछा ८ को गुणनफल मे मिला देने से ८८ हुए । ८८ को फिर गच्छ से गुणा किया जाए तो गुणनफल ८८० हुए । इसके बाद ८ वाछा को दुगुणा १६ करके ८८० पर भाग

देने से ५५ निकल आए। यही एक से लेकर दस तक की संख्याओं का योगफल है।[1]

७. वर्ग—किसी भी संख्या को उसी से गुणा करना वर्ग संख्यान है। जैसे चार को चार से गुणा करने पर १६ होते हैं।

८ घन—एक सदृश अनेक संख्याएं रखकर उन्हें उत्तरोत्तर गुणा करना घन-संख्यान है, जैसे कि ५×५×५। यहां ५ को ५ से गुणा करने पर २५ हुए, २५ को ५ से गुणा करने पर १२५ हुए।

९. वर्गवर्ग—पहली संख्या के गुणनफल को उसी वर्ग से गुणा करना वर्गवर्ग संख्यान है, जैसे २ का वर्ग हुआ ४, ४ का वर्ग हुआ १६, १६ संख्या २ का वर्गवर्ग है।

१०. कल्प—कल्प शब्द छेदन अर्थ में प्रयुक्त हुआ। जिस हिसाब से काष्ठ आदि का छेदन किया जाता है, उसे कल्प कहते हैं।

इनकी पूर्ण व्याख्या गणितशास्त्र से जाननी चाहिए। ७२ कलाओं में गणित कला का दूसरा स्थान है। गणित-शास्त्र का विषय अतिविस्तृत होने से इसकी पूर्ण व्याख्या नहीं दिखलाई गई।

उत्तरगुण दशविध प्रत्याख्यान

मूल—दसविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, तं जहा—

अणागयमतिक्कंतं, कोडीसहियं नियंटियं चेव।
सागारमणागारं परिमाणकडं निरवसेसं॥
संकेयं चेव अद्धाए, पच्चक्खाण दसविहं तु।४६।

छाया—दशविधं प्रत्याख्यानं प्रज्ञप्तन्तद्यथा—

अनागतमतिक्रान्तं, कोटिसहितं नियंत्रितञ्च।
साकारमनाकार, परिमाणकृते निरवशेषम्॥
संकेतञ्चैव अद्धायाः, प्रत्याख्यान दशविध तु।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

---

१. गच्छो वाञ्छाभ्यस्तो वाञ्छायुतो गच्छसगुण. कार्यः।
द्विगुणीकृतवाञ्छाहृते वदन्ति सकलितमाचार्याः॥
अत्र किल गच्छो दश १०, ते च वाञ्छया याहच्छिकगुणकारेणाष्टकेनाभ्यस्ताः जाताऽशीतिः, ततो वाञ्छायुतास्तेऽष्टाशीतिः ८८, पुनर्गच्छेन दशभिः सङ्गुणिता अष्टौ शतान्यधिकानि जातानि ८८०, ततोद्विगुणीकृतेन याहच्छिकगुणाकारेण षोडशभिर्भागे हृते यल्लभ्यते तद्दशानां सङ्कलितमिति ५५, इदं च पाटीगणित. श्रूयते-इति।
इतिवृत्तिकारः

मूलार्थ—प्रत्याख्यान दश प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे—अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, नियन्त्रित, साकार, अनाकार, परिमाणकृत, निरवशेष, संकेत, अद्धा-प्रहर आदि तप।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में संख्यान का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार तत्वादि संख्यान प्रकारों के ज्ञाता साधक के लिये महान् कर्तव्य रूप प्रत्याख्यान का वर्णन करते है।

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से सर्वथा निवृत्त होना मूल गुण है और दस प्रकार के प्रत्याख्यानों में से यदा-कदा किसी एक का पच्चक्खाण तपश्चर्या करना ही साधु का उत्तरगुण है। किसी अभीष्ट समय के लिये आहारादि किसी वस्तु के त्याग कर देने को प्रत्याख्यान कहते है। इसके उत्तरभेद दस हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. अनागत—किसी आनेवाले पर्व पर निश्चित किए हुए पच्चक्खाण मे बाधा पड़ती देखकर उस तप को निश्चित समय से पहले ही कर लेना—जैसे पर्युपशमना के दिनों में यदि किसी ने अट्ठाई आदि तप करना हो साथ ही उन दिनो में आचार्य, ग्लान तथा तपस्वी आदि की सेवा-शुश्रूषा करने का कारण बन रहा हो, तो उनकी सेवा में अंतराय अर्थात् विघ्न न पडे, इस बात को देखकर आगे किए जाने वाली तपस्या को पहले ही कर लेना "अनागत" प्रत्याख्यान है।

२. अतिक्रान्त—यदि किसी साधक ने पर्युपशमना आदि पर्व के उपस्थित हो जाने पर कोई विशेष तप करना है, किन्तु अपनी अस्वस्थता से या गुरु, तपस्वी, ग्लान आदि की सेवा मे सलग्न रहने से जो उन दिनो में तपस्या नही कर सका, यदि वही व्यक्ति धारण की हुई भावना को बाद में पूर्ण करे तो उसे "अतिक्रान्त-प्रत्याख्यान" कहते हैं, क्योकि जो तप पहले करना था उसे बाद में किया गया है।

३. कोटि-सहित—एक तपस्या समाप्त होते ही दूसरी तपस्या का प्रारम्भ उसी दिन किया जाए अथवा आरम्भ और समाप्ति मे एक ही प्रकार की तपस्या हो। जैसे कि "यव-मध्य-चन्द्र-प्रतिमा" तथा "वज्र-मध्य-चन्द्रप्रतिमा"। पहली तपस्या का जो अन्त है, वह एक कोटि है और दूसरी तपस्या का जो प्रारम्भ है वह दूसरो कोटि है। इस तरह पहली और दूसरो कोटि का तप एक सदृश होने से इसे "कोटि-सहित" प्रत्याख्यान कहते है।

४. नियन्त्रित—जो तप अनेक तरह की विघ्न-बाधाओ के उपस्थित होने पर भी नियमित रूप से किया जाता है बीच मे यदि सेवा की नियति भी लग जाए तथा शरीर में किसी प्रकार की पीड़ा-उत्पन्न हो जाए, तब भी प्रारम्भ की हुई तपस्या को पूर्ण किए बिना बीच मे न छोडना। जब तक मेरे अन्दर सांस है, तब तक चाहे स्वस्थ होऊं या अस्वस्थ, किसी भी अवस्था मे क्यो न होऊं, अमुक महीने में या अमुक दिन तक इतनी तपस्या तो अवश्य ही करूंगा'। इस तरह के नियम से बद्ध होकर जो मुनिवर तपस्या करते हैं, उसे "नियन्त्रित" प्रत्याख्यान कहते है। यह प्रत्याख्यान १४

पूर्वधर, जिनकल्पी, वज्रऋषभ-नाराच संहनन वालों के लिये ही होता है।

५. सागार—आगार सहित पच्चक्खाण को सागार कहते हैं, जिस आहारादि के त्याग में अपवादमार्ग का अवलम्बन लेकर अनाभोग आदि आगारों में से किसी विकट परिस्थिति के उपस्थित होने पर त्यागी हुई वस्तु सेवन यदि करली जाए तो भी किया हुआ पच्चक्खाण नहीं टूटता, जैसे नवकारसी, पोरसी आदि पच्चक्खाणों में अनाभोग आदि आगार होते है।

६. अणागार—जिस पच्चक्खाण में महत्तरागार आदि आगार बिल्कुल न हों उसे "अणागार" प्रत्याख्यान कहते हैं। अनाभोग और सहसाकार ये आगार तो इस में भी होते हैं, क्योंकि मुंह में यदि कोई वस्तु अनजाने विना उपयोग के अकस्मात् पड़ जाए तो आगार न होने पर पच्चक्खाण के भंग होने का भय रहता है।

७. परिमाणकृत—जिस प्रत्याख्यान में दत्ति, कवल, गृह, भिक्षा तथा भोजन के द्रव्यों की मर्यादाए रखी जाए, उसे "परिमाणकृत" पच्चक्खाण कहते हैं। कहा भी है—

"दत्तीहिं व कवलेहिं व घरेहिं भिक्खाहिं अहव दव्वेहिं।
जो भत्तपरिच्चायं करेइ परिमाणकडमेयं॥"

८. निरवशेष—जिस पच्चक्खाण में सब तरह के आहार-पानी आदि का त्याग हो, उसे "निरवशेष" प्रत्याख्यान कहते हैं।

९. संकेत—जिस त्याग में अंगूठा, मुट्ठी, गांठ वगैरा के संकेत को लेकर त्याग किया जाता है, जैसे अगूठी आदि का एक अगुली से परिवर्तन करके आहार आदि करने के बाद फिर उसी अंगुली में अगूठी डाल देना। इसी तरह विविध अभिग्रह धारण करना "संकेत" प्रत्याख्यान है।

१०. अद्धा—नवकारसी, पौरुषी काल को लक्ष्य में रखकर जो भी आहारादि का त्याग किया जाता है, उसे "अद्धा" प्रत्याख्यान कहते है।

इस प्रकार सूत्रकार ने प्रत्याख्यानों के भेदों का दिग्दर्शन कराया है। मूल गाथा में 'तु' शब्द 'एवकार' अर्थ में है। 'च' शब्द 'पुनः' अर्थ में और 'एव' शब्द 'अवधारण' अर्थ में। अतः इस में पुनरुक्ति दोष की आशका नही करनी चाहिए।

जिस साधक की जैसी शक्ति हो उसे वैसा ही पच्चक्खाण करना चाहिए। अच्छे कार्य में अपनी शक्ति को लगाने से न छिपाना ही साधुता है एव मानवता है।

समाचारी-भेद

मूल—दसविहा समायारी पण्णत्ता, तं जहा—

इच्छा, मिच्छा, तहक्कारो, आवस्सिया निसीहिया।
आपुच्छणा य पडिपुच्छा, छंदणा य निमंतणा॥

उवसंपया य काले समायारी भवे दसविहा उ ।४७।

छाया—दशविधा समाचारी प्रज्ञप्ता, तद्यथा—

इच्छा, मिथ्या, तथाकारः, आवश्यकी, नैषेधिकी।
आपृच्छना च प्रतिपृच्छा, छन्दना च निमन्त्रणा ॥
उपसम्पदा च काले, समाचारी भवेद् दशविधा तु।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—समाचारी दश प्रकार की प्रतिपादन की गई है, यथा–इच्छा समाचारी, मिथ्या समाचारी, तथाकार, आवश्यकी, नैषेधिकी, आपृच्छना, प्रतिपृच्छना, छन्दना, आमन्त्रणा और उपसम्पत्।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में प्रत्याख्यान का वर्णन किया गया है। प्रत्याख्यान सामाचारी का ही एक अंग है। अतः इस सूत्र में सामाचारी का वर्णन किया गया है।

साधु के समान आचरण को या श्रेष्ठ आचरण को सामाचारी कहते हैं। अपने सभी शुभ क्रियाकलापों का नियमवद्ध आचरण ही सामाचारी है। उसके दस भेदो का विवरण निम्नलिखित है, जसे कि—

१. इच्छाकार – एक साधु दूसरे साधु से किसी कार्य के लिये प्रार्थना करता है कि 'यदि आप की इच्छा हो तो आपका यह कार्य मैं करू ?' 'अथवा आपकी इच्छा हो तो मैं अपना अमुक कार्य करू" इस प्रकार पूछने की पद्धति को इच्छाकार कहते है। दूसरा साधु यदि उस कार्य को स्वय करे तो उसमे कहना चाहिए, 'जैसे आपकी इच्छा'। इस समाचारी से सिद्ध होता है कि किसी भी कार्य में किसी की जबर्दस्ती नही रहती। जहां कोई भी वस्तु इच्छा के अभाव मे बलात् ग्रहण कराई जाती है, वहां सक्लेशपरिणाम होने के कारण जीव को सन्ताप होता है, जबकि इच्छाकार में साधक स्वयं हार्दिक इच्छा प्रकट करता है।

२. मिथ्याकार – जब साधक साधुत्व की मर्यादा से स्खलित हो गया हो, सयम की आराधना करते हुए उससे कोई विपरीत आचरण हो गया हो, किसी स्थान पर दोष लग गया हो, तब वह अपनी दूषित आत्मा की निन्दा करे, अपनी भूल स्वीकार करे और उस भूल के लिये पश्चात्ताप करे। उस समय यह कहे—"तस्स मिच्छा मि दुक्कड" अर्थात् मेरा दुष्कृत—पाप निष्फल हो। इसे मिथ्याकार सामाचारी कहते हैं। वह अपने आप को सम्भालने के लिये मिथ्यादुष्कृत देता है।

३. तथाकार—किसी प्रकार का दोष लग जाने पर गुरु के समीप आलोचनार्थ जाना, वे प्रायश्चित्त के विषय में जो वचन कहें, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना, या आगमवाचना के समय

गुरु से कुछ पूछने पर जब गुरु उत्तर दें, या जो गुरु आज्ञा दें तब "तहत्ति"—'जैसा आप कहते है, वह सत्य है ऐसा कहना, तथाकार है। 'तथाकार' या 'तहत्ति' कहने से गुरुवचन विनयपूर्वक स्वीकृत होते है।

४. आवश्यकी—सुशिष्य जब से दीक्षा ग्रहण करता है, तब से लेकर आयुपर्यन्त गुरुजनों की आज्ञा में ही रहता है, आशातना के भय से कोई भी काम गुरुजनों की आज्ञा के बिना नही करता। यदि किसी कार्य के उद्देश्य से उपाश्रय से बाहर अन्यत्र कही जाना पड़े, तब गुरुजनों की आज्ञा लेकर उपाश्रय से बाहर निकले और उस समय "आवस्सही" शब्द कह कर निकलना चाहिए, चुपचाप नही जाना चाहिये। यही आवश्यकी सामाचारी है।

५. नैषेधिकी—बाहर मे वापिस आकर उपाश्रय में प्रवेश करते समय "निसही" शब्द कहकर प्रवेश करना, अर्थात् अब मुझे बाहर जाने का कोई काम नही है, यही नैषेधिकी समाचारा है।

६. आपृच्छना—आहार-विहार आदि क्रियाओं में गुरुजनो को पूछ कर फिर प्रवृत्ति करना, प्रत्येक क्रिया-कलाप को करने से पहले गुरु से पूछना शिष्य का परम कर्त्तव्य है। अनुशासन में रहना ही शिष्य का धर्म है। यही आपृच्छना समाचारी है।

७. प्रतिपृच्छना—एक बार किसी कार्य के लिये गुरु से पूछ लिया, किन्तु यदि कोई उसमें और क्रिया करने की आवश्यकता पड़े अथवा अन्य साधु किसी कार्य के लिये कहे तो फिर गुरुजनों से पूछने का नाम प्रतिपृच्छा है, अथवा गुरु ने जिस कार्य करने का निषेध कर दिया है, उसी कार्य में यदि प्रवृत्त होना आवश्यक हो, तो गुरु से पूछना कि 'गुरुदेव! इस कार्य के लिये आप ने पहले मना किया था, किन्तु समयानुसार यह काम करना जरूरी है यदि आप आज्ञा दें तो करूं?' इसी को प्रतिपृच्छना कहते हैं।

८. छन्दना—लाये हुए आहार में से सविभाग करके गुरुजनों को जो आहार दे दिया है शेष आहार अपने हिस्से में से अन्य मुनिवरों को निमन्त्रण करना—'यदि आप के उपयोग में आ सके तो यह आहार ग्रहण कीजिए', इस तरह को प्रार्थना करना 'छन्दना सामाचारी' है।

९. निमन्त्रणा—आहारादि वस्तु लाने के लिये साधु को निमन्त्रण देना या पूछना, जैसे कि 'क्या आप के लिये आहारादि लाऊ?' इस तरह पदार्थ-प्राप्ति के पहले ही साधुजनों को आमन्त्रण करना 'निमन्त्रणा' है।

१०. उपसंपद्—ज्ञानादि के ग्रहणार्थ अपने गुरुजनो की आज्ञा लेकर अपने गच्छ को छोड़ कर अन्य गच्छ में रहे हुए किसी विशेष ज्ञानवाले गुरु का आश्रयण करके रहना, विनय एवं सुश्रूषापूर्वक श्रुतसाहित्य का अध्ययन करना उपसम्पत् कहलाता है। इस कथन से ज्ञानविषयक उत्सुकता तथा गच्छान्तर के प्रति प्रीतिभाव रखना सिद्ध होता है। कारण कि प्रत्येक गच्छ के साथ जब प्रीति-भाव होगा, तभी ज्ञानादि ग्रहणार्थ वहा जाने की उत्कण्ठा उत्पन्न होगी। इस प्रकार साधुओं की सामाचारी के दस भेद तीर्थङ्कर भगवान ने प्रतिपादित किए हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र में भी दस प्रकार की सामाचारी का क्रम उक्त प्रकार से ही रखा गया है, किन्तु उत्तराध्ययन सूत्र के २६वें अध्ययन में सामाचारी का क्रम इस प्रकार है—जैसे कि आवस्सिया, निसीहिया, आपुच्छणा, पडिपुच्छणा, छन्दणा, इच्छाकार, मिच्छाकार, तहक्कार, अब्भुट्ठाण, उपसंपया। क्रम में यह अन्तर क्यों है ? यह विषय विचारणीय है।

दूसरी विशेषता यह है कि उत्तराध्ययन सूत्र में निमन्त्रणा सामाचारी के स्थान में अभ्युत्थान सामाचारी का उल्लेख हुआ है। इस का भाव यह है कि करणीय कार्यों के लिये सदैव उद्यत रहना अर्थात् गुरुजनों की पूजा में तथा बालवृद्ध, ग्लानादि की सेवा में तत्पर रहना अभ्युत्थान कहलाता है।

सामाचारी के पालन करने से साधक में विनय, प्रीति, वात्सल्य, रत्नत्रय की वृद्धि, दोषभीरुता, सन्तोष, सेवाभाव इत्यादि गुणो की पोषणा होती है।

भगवान महावीर के दस महास्वप्न

मूल—समणे भगवं महावीरे छउमत्थकालियाए अंतिमराइयंसी इमे दस महासुमिणे पासित्ताण पडिवुद्धे, तं जहा—

एगं च णं महाघोररूव दित्तधरं तालपिसायं सुमिणे पराजियं पासित्ता ण पडिबुद्धे।

एगं च णं मह सुक्किलविचित्त पक्खगं पुंसकोइलगं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।

एगं च ण महं चित्तविच्चित्तपक्खगं पुंसकोइलगं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।

एगं च णं महं दामदुगं सव्वरयणामयं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।

एगं च णं महं सेयं गोवग्गं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।

एगं च णं महं पउमसरं सव्वओ समंता कुसुमियं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।

एग च णं महासागरं उम्मीवीचीसहस्सकलियं भुयाहिं तिण्णं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।

एगं च णं महं दिणयरं तेयसा जलंतं सुमिणे पासित्ताणं पडिबुद्धे।

एगं च णं महं हरिवेरूलिपवण्णाभेणं निययेणमंतेणं माणुसुत्तरं पव्वयं सव्वओ

समंता आवेढियं परिवेढियं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे ।

एगं च णं महं मंदरे पव्वए मंदरचूलियाओ उवरिं सीहासणवरगयमत्ताणं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे ।४८।

छाया—श्रमणो भगवान् महावीरश्छद्मस्थकालिकायामन्तिमरात्रौ इमान् दश महास्वप्नान् दृष्ट्वा प्रतिबुद्धः, तद्यथा—एकञ्च महान्तं घोरदीप्तरूपधरं तालपिशाचस्वप्ने पराजितं दृष्ट्वा प्रतिबुद्धः ।

एकञ्च महान्तं शुक्लपक्षकं पुंस्कोकिलं स्वप्ने दृष्ट्वा प्रतिबुद्धः ।

एकञ्च महान्तं चित्रविचित्रपक्षकं पुंस्कोकिलं स्वप्ने दृष्ट्वा प्रतिबुद्धः ।

एक च महद् दामद्विकं सर्वरत्नमयं स्वप्ने दृष्ट्वा प्रतिबुद्धः ।

एकञ्च महान्तं श्वेतगोवर्गं स्वप्ने दृष्ट्वा प्रतिबुद्धः ।

एकञ्च महत् पद्मसरः सर्वतः समन्तात् कुसुमितं स्वप्ने दृष्ट्वा प्रतिबुद्धः ।

एकञ्च महासागरमूर्मिवीचिसहस्रकलितं भुजाभ्यां तीर्णं स्वप्ने दृष्ट्वा प्रतिबुद्धः ।

एकञ्च महान्त दिनकरं तेजसा ज्वलन्तं स्वप्ने दृष्ट्वा प्रतिबुद्धः ।

एकञ्च महान्तं हरिवैडूर्यवर्णाभेण निजकेनान्त्रेण मानुषोत्तरं पर्वतं सर्वतः समन्तादावेष्टित-परिवेष्टित स्वप्ने दृष्ट्वा प्रतिबुद्धः ।

एकञ्च महति मन्दरे पर्वते मन्दरचूलिकायामुपरि सिंहासनवरगतमात्मानं स्वप्ने दृष्ट्वा प्रतिबुद्धः ।

शब्दार्थ—समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर; छउमत्थकालियाए—छद्मस्थ काल की; अंतिमराइयंसि—अन्तिम रात्रि में; इमे दस—इन दस; महासुमिणे—महास्वप्नो को; पासित्ता ण पडिबुद्धे—देख कर जागे; त जहा—जैसे ।

एगं च णं—एक; महाघोररूवदित्तधरं—महान् भयानक दीप्तिधर; तालपिसायं—ताल वृक्ष समान पिशाच को; सुमिणे पराजियं—स्वप्न में पराजित किये हुये को; पासित्ताणं पडिबुद्धे—देख कर जागे ।

एगं च ण महं—एक महान्; सुक्किलपक्खगं—शुक्ल पक्षवाले; पुंसकोइलगं—पुंस्कोकिल को; सुमिणे पासित्ताण पडिबुद्धे—स्वप्न में देख कर जागे ।

एगं च णं मह—एक महान; चित्तविचित्तपक्खगं—चित्र-विचित्र पक्षोंवाले; पुंसकोइलगं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे—पुरुष कोकिल को स्वप्न में देख कर जागे ।

एगं च णं महं दामदुगं—एक महान् माला-युगल जो; सव्वरयणामय—सर्वरत्नमय था,

उसे; सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे—स्वप्न में देख कर जागे।

एगं च ण महं—एक महान्; सेयं गोवग्गं—श्वेत गोवर्ग को; सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे—स्वप्न में देख कर जागे।

एगं च ण महं—एक महान्; सव्वओ समंता—सर्वत: समन्तात्; कुसुमियं—कुसुमित; पउमसर—पद्मसागर को; सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे—स्वप्न में देख कर जागे।

एगं च णं महासागरं—एक महान् सागर को जो; उम्मीवीची सहस्सकलियं—सहस्रों ऊर्मियों से युक्त था; भुयाहिं तिण्णं—भुजाओ द्वारा तीरित किये हुए को; सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे—स्वप्न में देख कर जागे।

एगं च णं मह दिणयरं—एक महान् सूर्य; जो तेयसा जलंतं—तेज से ज्वलन्त था; सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे—स्वप्न मे देखकर जागे।

एगं च णं महं—एक महान्; हरिवेरुलियवन्नाभेणं—हरित—पिंग वैडूर्यमणियो की तरह आभावाली; नियएणं अतएण - अपनी आन्त्र से; माणुसुत्तरं पव्वय—मानुषोत्तरपर्वत को; सव्वओ समंता—चारो ओर से चारो दिशाओं में, आवेढियं परिवेढियं—आवेष्टित, परिवेष्टित; सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे—स्वप्न मे देख कर जागे।

एगं च णं महं—एक महान् मन्दर पर्वत पर; मदरचूलियाओ उवरिं मन्दर चूलिका के ऊपर; सीहासणवरगयं अत्ताणं—सुन्दर सिंहासन पर अवस्थित अपने को; सुमिणे पासित्ता ण पडिबुद्धे—स्वप्न में देख कर जागे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान् महावीर छद्मस्थ काल की अन्तिम रात्रि मे निम्नोक्त स्वप्नों को देखकर जागृत हुए, यथा—

एक महाघोर दीप्तरूप तालसदृश ऊंचे पिशाच को स्वप्न मे पराजित कर प्रतिबुद्ध हुए।

एक महान् श्वेत पंखोंवाले पुंस्कोकिल को स्वप्न में देख कर प्रतिबुद्ध हुए।

एक बहुत वडे चित्र-विचित्र पक्षों वाले पुंस्कोकिल को स्वप्न में देखकर जाग पड़े।

एक विशाल रत्नमाला-युगल जो सर्वरत्नमय था, उसे स्वप्न में देख कर जागृत हुए।

एक विशाल श्वेत गोवर्ग स्वप्न में देखा, तदनन्तर प्रतिबुद्ध हुए।

चारो दिशाओ मे विस्तृत एवं कुसुमित पुष्प पद्मसरोवर को स्वप्न में देखा और जाग पड़े।

सहस्रों ऊर्मियों से तरङ्गित एक महान् सागर को भुजाओं से तीर्ण देखकर जागे ।

महान् तेज से जाज्वल्यमान दिनकर को स्वप्न में देखकर जागे ।

हरिपिङ्गवर्ण वैडूर्य मणियो की आभा समान अपने आन्त्र से मानुषोत्तर पर्वत को चारो ओर से आवेष्टित-परिवेष्टित देख कर जागृत हुए ।

एक महान् मन्दर पर्वत की चूलिका के ऊपर अपने आप को सिंहासन पर बैठे हुए देखा और जाग गये ।

विवेचनिका—

समाचारी का वर्णन श्री महावीर स्वामी ने किया है । अतः इस सूत्र में दस महास्वप्न देखने का वर्णन किया गया है । श्री श्रमण भगवान महावीर छद्मस्थ अवस्था की अंतिम रात्रि में दस महा-स्वप्नों को देखकर जागृत हुए । उन महास्वप्नो का विवरण निम्नलिखित है, जैसे कि—

१. पहले स्वप्न मे एक ताड़वृक्ष के समान अतिविशालकाय वाले भयकर, तेजस्वी पिशाच को अपनी शक्ति से पराजित किया ।

२. दूसरे स्वप्न मे एक पुंस्कोकिल को देखा, जो कि सफेद पखोवाला था । कोयल के पंख काले होते हैं, किन्तु भगवान ने स्वप्न मे सफेद पंखोवाले कोयल को देखा ।

३. तीसरे स्वप्न में एक पुंस्कोयल को देखा, जिसके पख चित्र-विचित्र रगोवाले थे ।

४. चौथे स्वप्न में एक विशाल माला-युगल को देखा जो कि उत्तम-उत्तम सब प्रकार के रत्नो से जडित था ।

५ पाचवें स्वप्न में शुभ्रवर्णवाला एक गोवर्ग देखा । गायो के समूह को गोवर्ग कहते है ।

६. छट्ठे स्वप्न मे कमलों से सुशोभित विशाल पद्मसरोवर देखा ।

७. सातवें स्वप्न में तरगों और कल्लोलो से युक्त महासागर को अपने भुजा-बल से तैर कर पार पहुचे हुए स्वय को देखा ।

८. आठवें स्वप्न में तेजपुंज से प्रकाशमान सूर्य को देखा ।

९. नौवें स्वप्न में मानुषोत्तर पर्वत को नील वैडूर्यमणि के समान अपनी आन्तो से सब ओर अपने को आवेष्टित-परिवेष्टित देखा ।

१०. दसवें स्वप्न में मेरुपर्वत की चूलिका पर श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठे हुए अपने को देखा ।

भगवान महावीर स्वामी ने ये दस महास्वप्न किस रात्रि में देखे थे ? इस विषय में दो धारणाएं

प्रचलित हैं—एक मान्यता यह है कि छद्मस्थ काल की अंतिम रात्रि में अर्थात् जिस रात्रि में ये महास्वप्न देखे, उसके दूसरे दिन ही भगवान को केवल-ज्ञान हो गया था। ऐसा सूत्र पद से ध्वनित होता है, जैसे कि—"समणे भगव महावीरे छउमत्थकालियाए अतिमराइयसी इमे दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे" श्रमण भगवान महावीर छद्मस्थ काल की अन्तिम रात्रि में ये दस महास्वप्न देखकर जागृत हुए। यही हमारी धारणा है। वृत्तिकार 'अथवा' शब्द से आगे जो कुछ लिखते है, उससे हमारी मान्यता की पुष्टि होती है, जैसे कि—अथवा छद्मस्थकाले भवा अवस्था छद्मस्थकालिकी, तस्यां अतिम-राइयसित्ति-अन्तिमा अन्तिमभागरूपा अवयवे समुदायोपचारात् सा चासौ रात्रिका चान्तिमरात्रिका, तस्यां रात्रेरवसान इत्यर्थः। ये दस स्वप्न उन्होने रात्रि के अवसान काल मे देखे थे। रात भर साधना मे तल्लीन रहते हुए उषाकाल मे उन्हे अन्तर्मुहूर्तकाल के लिये निद्रा आई थी, उस समय ये दस स्वप्न देखे। देखकर तुरन्त जागकर वे अपनी अन्त.साधना मे संलग्न हो गए। इनका फल क्या प्राप्त हुआ? उसका वर्णन इस से आगे के सूत्र में दिया जा रहा है।

दूसरी धारणा कुछ आचार्यों की कह रही है कि भगवान महावीर स्वामी दीक्षा ग्रहण करने के अनन्तर अस्थिक ग्राम के बाहर शूलपाणि यक्ष के मदिर मे पहले ही वर्ष चातुर्मास यापन के लिये ठहरे। किसी एक रात्रि में भगवान महावीर स्वामी को कष्ट देने के लिये शूलपाणि यक्ष ने अनेक प्रकार के उपसर्ग दिए और उन्हे ध्यान से विचलित करने के लिये बहुत ही प्रयत्न किए। किन्तु, जैसे प्रचण्ड पवन से मेरुपर्वत चलायमान नही होता, वैसे ही उस यक्ष के द्वारा दिए गए उपसर्गो से भगवान विचलित नही हुए। अपने ध्यान मे अडोल देखकर भगवान को वन्दना करके यक्ष कहने लगा—'क्षमावीर! मुझे क्षमा कीजिए' मैं आपका बहुत बडा अपराधी हूं। इतने में सिद्धार्थ नाम के व्यतरदेव ने उस यक्ष को दण्डित करने के लिये ललकार कर कहा—'अरे शूलपाणियक्ष! तुझे मालूम नही है, ये कौन है? ये महाराज सिद्धार्थ के सुपुत्र, जोकि अखिल जगत-जीवो के हित के लिए दीक्षित हुए है, सुर-असुर, इन्द्र, नरेन्द्र द्वारा वन्दित एव पूज्य हैं। यदि तेरी इस दुष्टता का पता शक्रेन्द्र को लग जाए, तो वे तुझे अति कठोर दण्ड देगे। सिद्धार्थ व्यन्तर देव के वचन सुनकर वह यक्ष अतिभयभीत हुआ और भगवान पौने चार पहर तक उस यक्ष द्वारा दिए गए उपसर्गों को समभाव से सहन करते रहे प्रातः जब रात्रि एक मुहूर्त मात्र शेप रह गई थी, तब भगवान को कुछ क्षणों के लिये निद्रा आ गई। उस समय उन्होने ये दस महास्वप्न देखे।

इस तरह वृत्तिकार तथा कल्पसूत्र की वृत्ति लिखनेवाले लिखते है। किन्तु, सूत्र की दृष्टि से उनका यह कथन सगत प्रतीत नही होता, क्योंकि प्रात:काल के स्वप्नों का फल वर्षो के बाद प्राप्त नहीं होता, क्योकि भगवान साढे १२ वर्ष पर्यन्त छद्मस्थावस्था मे रहे और वृत्तिकार के लिखितानुसार ये दस स्वप्न पहले चातुर्मास के अन्तर्गत ही आए हैं। स्वप्नशास्त्र के नियमानुसार भी उक्त मान्यता का समन्वय नही होता। अत: सिद्ध हुआ कि छद्मस्थावस्था की अन्तिम रात्रि, उसके भी अन्तिम पहर और अन्तिम मुहूर्त मे स्वप्न देखे गए हैं, जिनका फल निकटतम भविष्य में मिलना प्रारम्भ हो गया।

दस महास्वप्नों का फल

मूल—जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं घोररूवदित्तधरं तालपिसायं सुमिणे पराइयं पासित्ता णं पडिबुद्धे, तन्नं समणेणं भगवया महावीरेणं मोहणिज्जे कम्मे मूलाओ उग्घाइए ।

जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं सुक्किलपक्खगं जाव पडिबुद्धे, तं णं समणे भगवं महावीरे सुक्कज्झाणोवगए विहरइ ।

जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं चित्तविचित्तपक्खगं जाव पडिबुद्धे, तं णं समणे भगवं महावीरे ससमयपरसमयियं चित्तविचित्तं दुवालसंगं गणिपिडगं आघवेइ, पण्णवेइ, परूवेइ, दंसेइ, निदंसेइ, उवदंसेइ, तं जहा आयारं जाव दिट्ठिवायं ।

जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं दामदुगं सव्वरयणा मयं जाव पडिबुद्धे, तं णं समणे भगवं महावीरे दुविहं धम्मं पण्णवेइ, तं जहा—अगारधम्मं च, अणगारधम्मं च ।

जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं सेयं गोवग्गं सुमिणे जाव पडिबुद्धे, तं णं समणस्स भगवओ महावीरस्स चाउव्वण्णाइण्णे संघे, तं जहा—समणा, समणीओ, सावगा, सावियाओ ।

जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं पउमसरं जाव पडिबुद्धे, तं णं समणे भगवं महावीरे चउव्विहे देवे पण्णवेइ, तं जहा—भवणवासी, वाणमंतरा, जोइसवासी, वेमाणवासी ।

जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं उम्मीवीची जाव पडिबुद्धे, तं णं समणेणं भगवया महावीरेणं अणाईए अणवदग्गे दीहमद्धे चाउरंतसंसारकंतारे तिन्ने ।

जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं दिणयरं जाव पडिबुद्धे, तन्नं समणस्स भगवओ महावीरस्स अणंते अणुत्तरे जाव समुप्पन्ने ।

जण्णं समणे भगवं एगं महं हरिवेरुलिय जाव पडिबुद्धे, तण्णं समणस्स

भगवओ महावीरस्स सदेवमणुयासुरे लोगे उराला कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलागा परिगुव्वंति, इइ खलु समणे भगवं महावीरे, इइ० ।

जण्ण समणे भगवं महावीरे मंदरे पव्वए मंदरचूलियाए उवरिं जाव पडिबुद्धे, तं णं समणे भगव महावीरे सदेवमणुयासुराए परिसाए मज्झगए केवलिपण्णत्तं धम्मं आघवेइ, पण्णवेइ जाव उवदंसेइ ।४९।

छाया—यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एकं महान्तं घोरदीप्तरूपधरं तालपिशाचं स्वप्ने पराजितं दृष्ट्वा प्रतिबुद्धस्तत् श्रमणेन भगवता महावीरेण मोहनीयं कर्म मूलादुद्घातितम् ।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एक महान्तं शुक्लपक्षकं यावत्प्रतिबुद्धस्तच्छ्रमणो भगवान् महावीरः शुक्लध्यानोपगतो विहरति ।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एक महान्त चित्रविचित्रपक्षकं यावत्प्रतिबुद्धः, तच्छ्रमणो भगवान् महावीरः स्वसमयपरसमयिकं चित्रविचित्रं द्वादशाङ्ग गणिपिटकमाख्यापयति, प्रज्ञापयति, प्ररूपयति, दर्शयति, निदर्शयति, उपदर्शयति, तद्यथा—आचार यावद् दृष्टिवादम् ।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एकं महान्त दामद्विकं सर्वरत्नमयं यावत्प्रतिबुद्धः, तच्छ्रमणो भगवान् महावीरो द्विविध धर्मं प्रज्ञापयति, तद्यथा—अगारधर्मञ्च, अनगारधर्मञ्च ।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एकं श्वेतं गोवर्गं स्वप्ने यावत्प्रतिबुद्धस्तच्छ्रमणस्य भगवतो महावीरस्य चातुर्वर्ण्याकीर्णः संघः, तद्यथा—श्रमणाः, श्रमण्यः, श्रावकाः, श्राविकाः ।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एक महत् पद्मसरो यावत् प्रतिबद्धः, तच्छ्रमणो भगवान् महावीरश्चतुर्विधान् देवान् प्रज्ञापयति, तद्यथा—भवनवासिनः, व्यन्तरान्, ज्योतिर्वासिनः, विमानवासिनः ।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एक महान्तमूर्मिवीचिर्यावत् प्रतिबुद्धः, तच्छ्रमणेन भगवता महावीरेण अनादिकमनवदग्रं दीर्घाध्वानं चातुरन्तसंसारकान्ता तीर्णम् ।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एकं महान्तं दिनकर यावत्प्रतिबुद्धः, तच्छ्रमणस्य भगवतो महावीरस्यानन्तमनुत्तरं यावत्समुत्पन्नम् ।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीर एक महान्तं हरिवैडूर्यं यावत्प्रतिबुद्धः, तच्छ्रमणस्य भगवतो महावीरस्य सदेवमनुजासुरे लोके उदाराः कीर्तिवर्णशब्दश्लोकाः परिगीयन्ते—इति खलु श्रमणो भगवान् महावीरः इति ।

यच्छ्रमणो भगवान् महावीरः सदेवमनुजासुरायां परिषदि मध्यगतः केवलिप्रज्ञप्तं धर्ममाख्यापयति प्रज्ञापयति यावदुपदर्शयति।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जो कि श्रमण भगवान महावीर अपने आपको घोर दीप्त-रूप ताल-सदृश पिशाच को पराजित करते हुए देख कर जागे, उसका फल था कि उन्होंने अब मोहनीय कर्म का मूल से उच्छेद कर दिया है।

शुक्ल पक्षों वाले पुंस्कोकिल को देखने के फलस्वरूप भगवान शुक्लध्यान युक्त होकर विचरने लगे।

चित्र-विचित्र पंखोंवाले पुंस्कोकिल को स्वप्न में देखने का सुपरिणाम यह हुआ कि भगवान ने स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त से संयुक्त चित्रविचित्र स्वरूप का वर्णन करनेवाले आचाराङ्ग यावत् दृष्टिवाद रूप द्वादशाङ्गी वाणी का प्ररूपण किया।

रत्नमय माला-युगल को देखने के फलस्वरूप भगवान ने गृहस्थ-धर्म और मुनि-धर्म का निरूपण किया।

श्वेत गोवर्ग को देखकर जागने का फलादेश यह हुआ कि श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्वर्ण गुणाकीर्ण संघ की स्थापना की।

पद्मसरोवर को स्वप्न में देखने का फल यह हुआ कि भगवान् ने भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक इन चार प्रकार के देवों का वर्णन किया।

स्वप्न में भुजाओं द्वारा महान् सागर को पार करने के फलस्वरूप भगवान ने अनादि-अनन्त दीर्घ मार्गवाले संसार रूप कान्तार को पार किया।

स्वप्न में तेजस्वी एवं महान् सूर्य को देखने के परिणाम स्वरूप भगवान को केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई।

हरितवर्ण की वैडूर्यमणियों जैसी आभावाली अपनी आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को आवेष्टित-परिवेष्टित देखने के परिणाम स्वरूप भगवान की देव,

मनुष्य और असुर लोक मे महती कीर्ति, यश, शब्द और श्लोक गाये गये कि भगवान महावीर ऐसे यशस्वी है।

मेरुपर्वत की मेरु चूलिका पर श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान होने के फल-स्वरूप भगवान ने देव, मनुष्य और असुरों की परिषद् मे बैठकर केवलि-भाषित धर्म की प्ररूपणा की।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में भगवान महावीर के दस स्वप्नों का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र में उन दस महास्वप्नों के फलादेश का वर्णन करते हैं। जागृत अवस्था में मन और इन्द्रिया दोनो जागृत रहते हैं, सुषुप्तिकाल में इन्द्रियां और मन दोनों ही सो जाते हैं, परन्तु स्वप्न दशा में मन जागृत रहता है। जिसका जीवन जागृत दशा में सत्य की ओर प्रगतिशील रहता है, उसके देखे हुए स्वप्न प्राय: सत्य ही होते है। सत्य मनोयोग की उपज भी सत्य ही होती है। पूर्ण विरक्त महान् आत्मा को जब कभी स्वप्नदर्शन होता है, तब वह गलत नही होता, अपितु सत्य ही होता है, भले ही वह स्वप्न अच्छा हो या बुरा, इष्ट हो या अनिष्ट वह भविष्यत् काल मे आनेवाले शुभ और अशुभ फल का सूचक होता है। जब किसी जीव का भविष्य उज्ज्वल-समुज्ज्वल अत्युज्ज्वल होता है, तब स्वप्न भी अत्युत्तम एव लोकोत्तरिक देखने में आते है। भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था की अंतिम रात्रि के अंतिम मुहूर्त में क्रमश: दस स्वप्न देखे थे। जिनका फलादेश निम्नलिखित है—

१. पहले स्वप्न में जो ताडवृक्ष के समान विशालकायवाले भयकर पिशाच को पराजित किया था, उनकी वह विजय सिद्ध करती है कि आप निकटतम भविष्य मे मोहनीय कर्म को समूल नष्ट करेंगे। यहां मोहकर्म को पिशाच की उपमा से उपमित किया गया है। पिशाच और मोहनीयकर्म दोनों को पछाड़ना वीरता ही नही, अपितु महावीरता को सिद्ध करता है।

२. श्वेत पखोंवाले पुंस्कोकिल को स्वप्न मे देखना, यह सिद्ध करता है कि अभी तक तो भगवान् धर्मध्यान में रहे, किन्तु निकटतम भविष्य में शुक्लध्यान मे प्रवेश होने का समय आ रहा है। क्योंकि क्षपक श्रेणि आरूढ़ होने पर ही चरमशरीरी जीव का शुक्लध्यान में प्रवेश होता है। यथाख्यात चारित्र में ही शुक्लध्यान पाया जाता है।

३. स्वप्न मे चित्र-विचित्र पखवाले पुंस्कोकिल को देखना, यह सिद्ध करता है कि आप निकटतम भविष्य में स्वदर्शन-परदर्शन, निश्चय-व्यवहार, उत्सर्ग-अपवाद, उपदेश-शिक्षा बतलाने वाले द्वादशाङ्गी गणिपिटक का कथन करने वाले होगे।

४. स्वप्न में सर्वरत्नमयी दो मालाओं का दर्शन यह सिद्ध करता है कि आनेवाले समय में दो प्रकार के धर्म की प्ररूपणा करनेवाले होंगे, जैसे कि अगारधर्म—गृहस्थ धर्म और अनगार धर्म—साधु धर्म। इससे सिद्ध होता है कि गृहस्थ-धर्म भी रत्नमय माला के तुल्य उपादेय है।

५. श्वेत गायो के झुण्ड को देखने का फल यह है कि भगवान महावीर साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चार प्रकार का समुज्ज्वल सघ स्थापित करनेवाले होंगे, जैसे गाय भद्र और दूध देनेवाली होती है, वैसे ही श्री सघ भी भद्र एव ज्ञानरूपी दुग्ध का प्रदाता होता है।

६. जो स्वप्न में पद्म एव कमलो से सुशोभित सरोवर देखा, उसका फलादेश यह है कि—आप भवनपति, वानव्यतर, ज्योतिष्क और वैमानिक इन चार प्रकार के देवो का प्रत्यक्ष-दर्शी वर्णन करनेवाले होगे तथा उन से परिवृत होकर धर्म-उपदेश करेगे।

७. जो स्वप्न मे मच्छ-कच्छप आदि जलजतुओं से आकीर्ण महासमुद्र को अपने भुजाबल से तैर कर पार किया हुआ देखा, इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि आप अनादि अनन्त रूप ससार अटवी को पार करनेवाले होगे अथवा अनत ससार-समुद्र को पार कर निर्वाण पद प्राप्त करनेवाले होंगे।

८. तेजस्वी सूर्य को देखना सिद्ध करता है - आप निकटतम भविष्य मे अनत, अनुत्तर, निरावरण, अखड, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करेगे। भगवान ने स्वप्न में जगमगाते हुए सूर्य को देखा और दिन के तीसरे पहर मे ध्यानस्थ दशा मे उन्हे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है।

६. उन्होने स्वप्न मे नीले रग की एव वैडूर्यमणि के समान आभावाली अपनी आन्तो से मानुषोत्तर पर्वत को आवेष्टित एव परिवेष्टित किए हुए देखा, इस का फलादेश भगवान कोयह प्राप्त होगा कि उन्हे देवलोक मनुष्यलोक और असुरलोक नामक तीनों लोको मे ख्याति प्राप्त होगी। सूत्र में आए हुए कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक इन चार पदो का भाव यह है कि—जो सर्व दिग्व्यापी है, उसे कीर्ति कहा जाता है, जो एक दिग्व्यापी है, उसे वर्ण कहा जाता है, जो अर्द्ध दिग्व्यापी है, उसे शब्द कहा जाता है। अमृत के समान मधुर प्रिय एव आकर्षक प्रशस्ति को श्लोक कहते हैं इस प्रकार उनकी तीन लोक मे उदार कीर्ति, शब्दो से स्तुति, मन मे सम्मान और व्यवहार में उनके प्रति र्पण इन से वे विश्वमान्य बनेगे।

१०. उन्होने दसवें महास्वप्न मे मदरपर्वत के शिखर पर सर्वोत्तम सिंहासन पर आसीन हुए अपने को देखा, इसके फलस्वरूप श्रमण भगवान महावीर देव, मनुष्य और असुरों की परिषद् के मध्य मे बैठकर धर्मोपदेश किया करेंगे।

प्रश्न हो सकता है कि—जैसे भगवान महावीर ने साधना की अन्तिम रात्रि में दस महास्वप्न देखे और उनका फल उन्होंने दस रूपो मे प्राप्त किया, इसी तरह क्या सभी तीर्थङ्कर साधना की अन्तिम रात्रि में दस महास्वप्न देखते हैं या केवल भगवान महावीर ने ही दस महास्वप्न देखे थे अन्य किसी ने नहीं? फिर फल बराबर क्यों? दस महास्वप्नो का इस प्रकार का फल जैसे भगवान महावीर को प्राप्त हुआ, वैसे ही अतिशय सभी तीर्थङ्करों मे होते है फिर दस महास्वप्न देखने का विशेष महत्त्व क्या रहा है?

इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि अन्य २३ तीर्थङ्करो ने भी महावीर की तरह दस महास्वप्न देखे या नहीं? इस बात का उल्लेख किसी भी आगम मे नहीं है। जैसे किसी को महास्वप्न देखने से भी राजतिलक मिलता है और किसी को बिना स्वप्न देखे भी मिल जाता है, उसी प्रकार तीर्थङ्करत्व-प्राप्ति रूप फल के लिये प्रबल पुण्योदय का होना अनिवार्य है, स्वप्न देखना

अनिवार्य नहीं है। जैसे तीर्थङ्कर नामकर्म की सहचारिणी सभी पुण्यप्रकृतियो का उदय होना अनिवार्य है और साथ ही घनघाती कर्मों का क्षय होना भी जरूरी है, वैसे ही दस स्वप्नो का देखना तीर्थङ्कर बनने के लिये जरूरी नहीं है। स्वप्न तो केवल सूचना ही देते हैं कि स्वप्न-द्रष्टा का भावी जीवन इस तरह का व्यतीत होगा। जैसे आकाशी लक्षणों से तथा शकुनादि से निकट भविष्य के फलादेश जाने जाते हैं, शुभ या अशुभ कर्मों के उदय से जीव को क्या क्या फल मिलने वाले होते हैं? उनके सकेत स्वप्न के द्वारा भी मिल सकते हैं और अन्य रीतियो से भी, अतः सिद्ध हुआ कि स्वप्न तो केवल सूचक हैं, फल तो पुण्य प्रकृतियो ने ही देना होता है।

इन दस स्वप्नों का वर्णन भगवती सूत्र के १६वें शतक के छट्ठे उद्देशक मे ७२ प्रकार के स्वप्नों के अन्तर्गत भी किया गया है तथा अन्य ऐसे स्वप्नों का भी वर्णन है जिनसे बोधि-लाभ तथा निर्वाण-पद की प्राप्ति की सूचना मिलती है। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि जिस स्वप्न का फल सावद्यरूप न हो, उसका फल साधु बतला सकता है। अन्य सावद्य स्वप्नों का फल साधु को नही बताना चाहिए।

सराग सम्यग्दर्शन

मूल—दसविहे सरागसम्मद्दंसणे पण्णत्ते, तं जहा—
निसग्गोवएसरुई, आणरुई सुत्त बीयरुइमेव।
अभिगम वित्थाररुई, किरिया संखेव धम्मरुई।५०।

छाया—दशविधं सरागसम्यग्दर्शनं प्रज्ञप्तन्तद्यथा—
निसर्गोपदेशरुचिः आज्ञारुचिः सूत्र-बीजरुचिरेव।
अभिगमो विस्ताररुचिः, क्रियाः संक्षेपो धर्मरुचिः॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश प्रकार का सरागसम्यग्दर्शन वर्णन किया गया है, जैसे—निसर्गरुचि, उपदेश-रुचि, आज्ञा-रुचि, सूत्र-रुचि, बीज-रुचि, अभिगम-रुचि, विस्तार रुचि, क्रिया-रुचि, संक्षेप-रुचि और धर्म-रुचि।

विवेचनिका—

श्री भगवान को जब स्वप्नदर्शन हुए थे, तब वे सरागसम्यग्दर्शनवाले थे, अतः प्रस्तुत सूत्र में सराग सम्यग्दर्शन का वर्णन किया गया है। जीव आदि पदार्थों के वास्तविक स्वरूप पर श्रद्धा रखने

को सम्यग्दर्शन कहते हैं। जब तक साधक का मोह सर्वथा क्षीण नही हो जाता, उस अवस्था तक जो तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन होता है, उसे सराग सम्यग्दर्शन कहते है। जीवो के स्वभाव एव विभाव-भेद के अनुसार इस का लाभ दस प्रकार से होता है।

१. निसर्गरुचि—मिथ्यात्व मोहनीय आदि सात प्रकृतियो के क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने से गुरु आदि के उपदेश के बिना स्वयमेव जाति-स्मरण आदि ज्ञान द्वारा जीवादि पदार्थों का स्वरूप नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपो के द्वारा जानना अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव जानकर तत्त्वों पर स्वत. श्रद्धा का उत्पन्न होना, तत्त्वों के प्रति आकर्षण एव रुचि का होना तथा जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित जीवादि तत्त्व सत्य है, इस तरह श्रद्धान का होना ही निसर्गरुचि है। कहा भी है—

"जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव।
एमेवनन्नहत्ति य, निसग्गरुइ त्ति नायव्वो॥"

२. उपदेशरुचि—केवली भगवान से अथवा उनका अनुसरण करनेवाले गुरु आदि के मुखारविन्द से उपदेश सुनकर जीवादि तत्त्वो पर दृढ निष्ठा रखना, उपदेश-रुचि है।

"एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण सद्दहइ।
छउमत्थेण जिणेण व, उवएसरुई मुणेयव्वो॥"

जिस जीव को तीर्थङ्कर, गणधर और गुरु आदि आप्त पुरुषों के वचन से जीवादि पदार्थों को जानने की रुचि उत्पन्न होती है, वह उपदेश-रुचि कहलाती है।

३. आज्ञा-रुचि—जिसके राग-द्वेषादि विकार मन्द हो गए है अथवा जो विकारो से सर्वथा रहित है, ऐसे गुरु की आज्ञा मे तत्त्वों पर श्रद्धान करना, आज्ञारुचि है। कहा भी है—

"रागो दोसो मोहो अन्नाण, जस्स अवगयं होइ।
आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई होइ॥"

जिस जीव के मिथ्यात्व और कषायों का विलय होगया है, उसे आचार्यादि की आज्ञामात्र से जीवादि पदार्थों पर जो श्रद्धा होती है, जैसे कि माषतुष को हुई। इसी प्रक्रिया को आज्ञारुचि कहते हैं।

४. सूत्र-रुचि—सूत्रों के अध्ययन करने से जो तत्त्वों पर श्रद्धान व सम्यक्त्व लाभ होता है, उसको सूत्ररुचि कहते है। सूत्र-साहित्य दो भागों मे विभक्त है जैसे कि अङ्ग-प्रविष्ट और अङ्ग-बाह्य। इनमें से किसी भी ओर अभिरुचि का होना सूत्ररुचि है। जैसे कि कहा भी है—

"जो सुत्तमहिज्जतो, सुएण ओगाहइ उ सम्मत्त।
अगेण बाहिरेण व, सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो॥"

श्रुतसाहित्य का अध्ययन करते-करते जिस को अग-प्रविष्ट श्रुत या अगबाह्य श्रुत से सम्यक्त्व लाभ हुआ है, वह जीव सूत्ररुचिवाला होता है।

५. बीज-रुचि—जैसे छोटा-सा बीज बाह्य निमित्त को पा कर वृद्धि पाता हुआ बहुत बड़े वृक्ष-

का रूप धारण कर पत्र-पुष्प तथा अनेक प्रकार के फलो के देनेवाला हो जाता है, वैसे ही एक पद के द्वारा अनेक अर्थों का बोध होना तथा एक वचन से अनेक अर्थों का प्रतिबोध हो जाना तथा एक जीवादि पद से अनेक पदो में रुचि का उत्पन्न होना ही बीज-रुचि कहलाता है। कहा भी है—

"एगपए णेगाइं पयाइं, जो पसरइ उ सम्मत्ते।
उदए व्व तिल्लबिंदू, सो बीयरुइ त्ति नायव्वो॥"

जिस तरह तैल की बूंद पानी में डालने पर सर्वत्र फैल जाती है, उसी तरह जो जीव आगम के एक पद को जानकर उससे सबधित अन्य सभी विषयों को जान लेता है, वही बीजरुचि सम्यग्दर्शन वाला है।

६. अभिगमरुचि—अभिगम का अर्थ होता है ज्ञान। जो जीव पहले ग्यारह अगो का अध्ययन करके अर्थ का वेत्ता होता है अथवा ज्ञान ग्रहण करने में जिस की अभिरुचि हो, इस प्रकार के दर्शन को अभिगम-रुचि कहते हैं। जैसे कि कहा भी है—

"सो होइ अभिगमरुई, सुयनाणे जस्स अत्थओ दिट्ठं।
एक्कारस अंगाइं, पइन्नयं दिट्ठिवाओ य॥"

जो जीव पहले आचाराङ्ग आदि सूत्रो का ज्ञाता होकर फिर श्रद्धावान् बनता है, इस तरह का जीव अभिगम-रुचिवाला होता है।

७. विस्तार-रुचि—द्रव्यों के सभी भावो को लक्षण, प्रमाण, नय-निक्षेप और अनुयोगों के द्वारा जानने के बाद श्रद्धा का होना, विस्ताररुचि है। जैसे कि कहा भी है—

"दव्वाण सव्वभावा सव्व पमाणेहिं जस्स उवलद्धा।
सव्वाहिं नयविहीहिं, वित्थाररुई मुणेयव्वो॥"

द्रव्यों के सर्वपर्यायों को अनेक प्रमाणों के द्वारा तथा सर्व नयों के द्वारा जिसने जान लिया है, किसी भी विषय को विस्तारपूर्वक जानने के बाद जिस को सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, उसे विस्तार-रुचिवाला कहा जाता है।

८. क्रिया-रुचि—विनय, चारित्र, तप, पांच समितियों तथा तीन गुप्तियों का शुद्ध रूप से पालन करते हुए सम्यक्त्व का प्राप्त होना, क्रिया-रुचि है। इस विषय को एक गाथा इस प्रकार प्रदर्शित करती है—

"नाणेण दसणेण य, तवे चरित्ते य समिइ-गुत्तीसु।
जो किरिया भावरुई, सो खलु किरियारुई होइ॥"

आत्म-कल्याण के सभी साधनो मे तथा उन्हे पालन में जो विशेष रुचि है, या क्रिया करते हुए सम्यग्दर्शन में जो रुचि हो, उसे क्रिया-रुचि कहा जाता है।

९. संक्षेप-रुचि—जिस ने अन्य मत-मतान्तरों की मान्यताओ एवं अभितर्क को ग्रहण नहीं किया और जो जिन-प्रवचन का विशेष ज्ञाता भी नही है, सक्षेप से ही उपशमादि पद त्रय से तत्त्वरुचि

रखता है, ऐसे श्रद्धान को सक्षेप-रुचि कहते हैं, अधिक पढ़ा-लिखा न होने पर सम्यक् भी श्रद्धा का होना सक्षेप-रुचि है। जैसे कि कहा भी है—

"अणभिग्गहिय कुदिट्ठो, संखेवरुइ त्ति होई नायव्वो।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु॥"

आज के युग में प्राय: सक्षेप-रुचि वाले विशेष देखने में आते है, क्योंकि जिसने परमत की मान्यता को माना नहीं और जिनमत की मान्यता से अभिज्ञ नहीं है, फिर भी उसका झुकाव निर्ग्रन्थ-प्रवचन की ओर है. इस प्रकार के सम्यग्-दर्शन को सक्षेपरुचि कहते हैं।

१०. धर्म-रुचि—श्रुत और चारित्र में रुचि का होना, धर्मरुचि है। कहा भी है—

"जो अत्थिकाय धम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च।
सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो॥"

जिसकी श्रद्धा-रुचि धर्मास्तिकाय, श्रुतधर्म और चारित्रधर्म पर है, उसको धर्मरुचिवाला कहा जाता है।[1]

इस सूत्र से यह स्पष्ट है कि—सराग-सम्यग्दर्शन प्राप्ति के दस कारण हैं, न्यूनाधिक नहीं। यद्यपि ये सभी कारण अपने-अपने स्थान पर प्रधानता रखते है, किन्तु इन में उपदेश, आज्ञा और सूत्राध्ययन ये तीन कारण प्रधानतम हैं यथा—उपदेश का सुनना, आज्ञा के अनुसार आचरण करना और शास्त्रों का अध्ययन करना सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के मुख्य कारण हैं। ●

संज्ञा-भेद

मूल—दस सण्णाओ पण्णत्ताओ, तं जहा–आहारसण्णा जाव परिग्गहसण्णा, कोहसण्णा जाव लोभसण्णा, लोगसण्णा, ओहसण्णा।

नेरइयाणं दस सण्णाओ एवं चेव। एवं निरंतरं जाव वेमाणियाणं।५१।

छाया—दश संज्ञाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आहारसंज्ञा यावत् परिग्रहसंज्ञा, क्रोधसंज्ञा यावल्लोभसंज्ञा, लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा।

नैरयिकानां दश संज्ञा एवमेव। एवं निरन्तरं यावद्वैमानिकानाम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

---

१. इस विषय का विस्तृत वर्णन उत्तराध्ययनसूत्र के २८वें अध्ययन मे तथा प्रज्ञापनासूत्र के पहले पद में से देखना चाहिए।

मूलार्थ—संज्ञा दश प्रकार की वर्णन की गई है, जैसे—आहारसंज्ञा यावत् परिग्रह संज्ञा, क्रोधसंज्ञा यावत् लोभसंज्ञा, लोकसंज्ञा और ओघसंज्ञा।

नारकीय जीवों की भी इसी प्रकार दश संज्ञाये वर्णन की गई है। इसी प्रकार निरन्तर वैमानिक देवों तक दश संज्ञायें जाननी चाहिए।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में सराग-सम्यग्दर्शन का वर्णन किया गया है। सराग-सम्यग्दृष्टि जीव ही उन दस सज्ञाओं का क्रमश: व्यवच्छेद करते हैं, जिनका वर्णन प्रस्तुत-सूत्र मे किया गया है।

संज्ञा का अर्थ है—**संज्ञानं सज्ञा आभोग इत्यर्थः, मनो विज्ञानमित्यन्ये, संज्ञायते वा आहाराद्यर्थी जीवोऽनयेति संज्ञा—वेदनीयमोहनीयोदयाश्रया ज्ञानदर्शनावरण-क्षयोपशमाश्रया च विचित्रा आहारादिप्राप्तये क्रियेवेत्यर्थः, सा चोपाधिभेदाद् भिद्यमाना दश प्रकारा भवतीति**—अर्थात् सज्ञान को सज्ञा कहते हैं। कुछ विद्वान् मनोविज्ञान को सज्ञा कहते है। वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से तथा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से आहारादि की प्राप्ति के लिये उत्पन्न होने वाली आत्मा की विशेष क्रिया को सज्ञा कहते हैं। अथवा जिन बातो से यह जाना जाए कि जीव आहारादि को चाहता है, वही सज्ञा है। हम यह भी कह सकते है कि जीव का आहारादि विषयक चिन्तन ही सज्ञा है। इसके दस भेद हैं, जैसे कि—

१. **आहार-संज्ञा**—क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से आहार के लिये जो पुद्गल ग्रहण करने की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है, वह आहार-संज्ञा कहलाती है।

२. **भयसंज्ञा**—भय-मोहनीय कर्म के उदय से आकुल-व्याकुल होना, दृष्टि मे विकार का होना, घबराना, रोमांचित होना, शरीर का कांपना इत्यादि क्रियाओ से भय सज्ञा जानी जाती है।

३. **मैथुन-संज्ञा**—कामराग से किसी को देखना, छूने की इच्छा करना, अगोपागों को छूने से शरीर में कम्पनादि का होना, मैथुन-सज्ञा से ही ऐसी क्रियाए की जाती हैं क्योकि मैथुन की तीव्र इच्छा ही मैथुन-सज्ञा है।

४. **परिग्रह-संज्ञा**—लोभमोहनीय कर्म के उदय से नानाविध सासारिक पदार्थों को पाने की इच्छा करना, मिलने पर उनका अधिकाधिक सग्रह करना, मिली हुई वस्तु पर आसक्ति रखना ही परिग्रह-संज्ञा है।

५. **क्रोध-संज्ञा**—क्रोध के आवेश में भर जाना, मुह का सूख जाना, नेत्रो का लाल हो जाना, कांपना, मस्तक पर त्रिवली पड़ना, होठों का फरकना ये सब क्रोधसज्ञा के चिह्न है।

६. **मान-संज्ञा**—मान-कषाय के उदय से अपने को उच्च और दूसरे को नीच समझना। इस के उदय से जीव दूसरों के सद्गुण और अभ्युदय सहन नहीं कर सकता। मात्सर्य एव ईर्ष्या इसी सज्ञा के अपर नाम हैं।

७. माया-संज्ञा—माया कषाय के उदय से दूसरे को ठगना, झूठ बोलना, पाप करते हुए दूसरो की आखो मे धूल डालना माया-सज्ञा है।

८. लोभ-संज्ञा—लोभ-कषाय के उदय से सचित्त और अचित्त पदार्थों को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा करना, ज्यो ज्यो लाभ होता है, त्यो त्यों लोभ भी बढ़ता ही जाता है। अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की चाह ही तृष्णा है और प्राप्त वस्तुओं की वृद्धि करना लोभ है। अनावश्यक पदार्थ का परित्याग न करना, त्यागने पर भी उसपर ममत्व रखना परिग्रह सज्ञा है।

९. ओघ-सज्ञा—मतिज्ञानावरणीय आदि कर्म-प्रकृतियों के क्षयोपशम से होनेवाले व्यावहारिक एव सामान्य ज्ञान को ओघ-सज्ञा कहते है।

१०. लोक-सज्ञा—सामान्य रूप से जाने हुए विषय को विशेष रूप से जानना लोक-संज्ञा है। अथवा जीव की सामान्य प्रवृत्ति को ओघ सज्ञा और विशेष प्रवृत्ति को लोकसंज्ञा कहा जाता है। नारकियो से लेकर वैमानिक देवो तक २४ दण्डको में उक्त दस संज्ञाए पाई जाती हैं।[1]

नैरयिक-वेदना

मूल—नेरइया णं दसविहं वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति, तं जहा—सीयं, उसिणं, खुहं, पिवासं, कंडुं, परज्झं, भयं, सोगं, जरं, वाहिं।५२।

छाया—नैरयिकाः दश विधां वेदनां प्रत्यनुभवमाना विहरन्ति, तद्यथा—शीतां, उष्णां, क्षुधां, पिपासां, कण्डूं, परतन्त्रतां, भय, शोकं, जरां, व्याधिम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—नारक दश प्रकार की वेदनायें अनुभव करते हुए विचरण करते हैं, जैसे—शीत, उष्णता, क्षुधा, प्यास, खाज, परवशता, भय, शोक, बुढ़ापा और व्याधि।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र में दस प्रकार की संज्ञाओं का वर्णन किया गया है, उन संज्ञाओं की अनुभूति करने वालों का परिचय देते हुए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में नारकियों को जिन वेदनाओं की अनुभूति होती है, उनका वर्णन किया है।

---

१. विशेष विवरण के लिये देखिए प्रज्ञापनासूत्र का संज्ञा-पद।

इस प्रसग में वेदना शब्द पीड़ा का बोधक है, जैसे कि शीत; उष्ण, क्षुधा; पिपासा, खुजली, पराधीनता, भय, शोक, बुढापा और व्याधि। यद्यपि ये दस प्रकार की पीड़ाए प्राय: सभी जीवों में होती हैं, तथापि इन दस वेदनाओं की अनुभूति अन्य प्राणियो की अपेक्षा नारकियों को अनन्त गुणा अधिक हुआ करती है।

जिन नरकों में शीत वेदना है, वहां सदा-सर्वदा शीत-वेदना ही होती है और जिन में उष्ण वेदना है, वहां सदैव उष्ण वेदना ही भोगनी पड़ती है। दोनों में से एक वेदना ही जीवन भर भोगी जाती है दोनों नही। यह कथन नरक और नरकवासियो की अपेक्षा से समझना चाहिए। एक नारकी एक भव में एक ही वेदना पाता है, जैसे कि शीत या उष्ण।

यद्यपि ये दस वेदनाए सूत्रकार ने नारकियो की बतलाई हैं तथापि उपलक्षण से इनका संबंध मनुष्य आदि जीवो से भी है, क्योंकि सामान्य रूप से अशुभ कर्मों से पीड़ित हुआ मनुष्य शीत-उष्ण, भूख-प्यास, कण्डू, पराधीनता, भय-शोक, शोक, ज्वर या जरा—बुढ़ापा, व्याधि से पीड़ित हो ही जाता है। इसी तरह पशु आदि भी इन पीड़ाओं से पीड़ित होते देखे जाते हैं। ये सब अशुभ कर्मों का फल है, जो सामान्यत: जन्म लेनेवाले सभी प्रणियो को भोगना पड़ता है,। इन दु:खो से विमुक्ति संवर और निर्जरा से ही हो सकती है।

छद्मस्थ-किन बातों को नहीं देख सकता?

मूल—दस ठाणाइं छउमत्थे णं सव्वभावेणं न जाणइ ण पासइ, तं जहा—धम्मत्थिकायं जाव वायं। अयं जिणे भविस्सइ वा ण वा भविस्सइ, अयं सव्वदुक्खाणमंतं करेस्सइ वा ण वा करेस्सइ। एयाणि चेव उप्पन्ननाणदंसणधरे [अरहा] जाव अयं सव्वदुक्खाणमंतं करेस्सइ वा ण वा करेस्सइ।५३।

छाया—दश स्थानानि छद्मस्थः सर्वभावेन न जानाति न पश्यति, तद्यथा—धर्मास्तिकायं यावत् वातम्। अयं जिनो भविष्यति वा न वा भविष्यति। अयं सर्वदु:खानामन्त करिष्यति वा न वा करिष्यति। एतान्येवोत्पन्नज्ञानदर्शधरो [अर्हन्] यावदयं सर्वदु.खानामन्तं करिष्यति वा न वा करिष्यति।

शब्दार्थ—**दस ठाणाइं छउमत्थे णं सव्वभावेणं**—दस स्थानों को छद्मस्थ सर्वभाव से सम्पूर्णतया **न जाणइ**—नहीं जानता है; **ण पासइ**—न ही देखता है; **तं जहा**—यथा; **धम्मत्थिकायं जाव वायं**—धर्म्मास्तिकाय यावत् वायु को; **अयं जिणे भविस्सइ**—यह जिन होगा; **वा ण वा भविस्सइ**—अथवा नहीं होगा; **अयं सव्वदुक्खाणमंतं करेस्सइ**—यह सर्वदु:खों का अन्त करेगा; **वा ण वा करेस्सइ**—अथवा नही करेगा; **एयाणि चेव**—इन दस स्थानों को; **उप्पन्ननाणदंसणधरे [अरहा]**— उत्पन्न ज्ञान, दर्शन

के धारण करनेवाले अर्हन्; (जानते है) जाव अयं सव्वदुक्खाणमंतं करेस्सइ—यावत् यह सर्व दुःखों का अन्त करेगा; वा ण वा करेस्सइ—अथवा नही करेगा ?

मूलार्थ— दस स्थानों को छद्मस्थ आत्मा सर्वतोभावेन न जानता है और न ही देखता है, यथा—धर्मास्तिकाय से लेकर वायु तक आठ पदार्थो को और यह महा-साधक राग द्वेष को जीतनेवाला होगा अथवा नहीं होगा ? यह सब दुःखों का अन्त करेगा अथवा नहीं करेगा ?

इन्ही दश स्थानों को उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक अर्हन् यावत् यह सब दुःखों का अन्त करेगा ? अथवा नही करेगा आदि बातों को जानते है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे वेदना आदि का वर्णन किया गया है। वेदनादि अमूर्त पदार्थों को जिन भगवान ही जानते है, छद्मस्थ नही । अत: प्रस्तुत सूत्र मे जिन बातो को छद्मस्थ सर्वतोभावेन नही जानता, उनका उल्लेख प्रस्तुत सूत्र मे किया गया है। छद्मस्थ जीव निम्नलिखित तत्त्वों को सर्व प्रकार से न तो जान पाता है और न ही देख सकता है, जैसे कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्ति-काय, शरीर-रहित जीव, परमाणु पुद्गल, शब्द, गध और वायु को इतना ही नही, वह यह भी नहीं जान सकता कि यह प्रत्यक्षवर्ती जीव जिन होगा या नही ? यह सब दु.खो का अन्त करेगा या नही ? छद्मस्थ-पद से यहा परमावधिज्ञान-वर्जित मुनि की ओर सकेत है ।

इन बातो को केवल-ज्ञानी और केवलदर्शनी सर्वभाव से प्रत्यक्षरूप से जानते व देखते हैं ।

दश अध्ययनोंवाले दश आगम

मूल—दस दसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—कम्मविवागदसाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, आयारदसाओ, पण्हावागरणदसाओ, बंधदसाओ, दोगिद्धिदसाओ, दीहदसाओ, सखेवियदसाओ ।

कम्मविवागदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

मियापुत्ते, य गोत्तासे, अंडे सगडेइ यावरे ।
माहणे, णंदिसेणे य, सोरियत्ति उदुंबरे ॥
सहस्सुद्दाहे आमलए, कुमारे लेच्छइ ॥

उवासगदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

आणंदे कामदेवे अ, गाहावइ चूलणीपिया ।
सुरादेवे चुल्लसयए, गाहावइ कुंडकोलिए ॥
सद्दालपुत्ते महासयए, णंदिणीपिया सालइयापिया ॥

अंतगडदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा–

णमि मायंगे सोमिले, रामगुत्ते सुदंसणे चेव ।
जमाली य भगाली य, किंकंमे, पल्लएइ य ॥
फाले अंबडपुत्ते य, एमेए दस आहिया ॥

अणुत्तरोववाइयदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा–

ईसिदासे य धण्णे य, सुणक्खत्ते य काइए (ति य) ।
सट्ठाणे सालिभद्दे य, आणंदे तेतलिति य ॥
दसन्नभद्दे अइमुत्ते, एमेए दस आहिया ॥

आयारदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा–

वीसं असमाहिट्ठाणा, एगवीसं सबला, तेत्तीसं आसायणाओ, अट्ठविहा गणि-संपया, दस चित्तसमाहिट्ठाणा, एगारस उवासगपडिमाओ, बारस भिक्खु-पडिमाओ, पज्जोसवणा कप्पो, तीसं मोहणिज्जट्ठाणा, आजाइट्ठाणं ।

पण्हावागरणदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा–

उवमा, संखा, इसिभासियाइं, आयरियभासियाइं, महावीरभासिआइं, खोम-गपसिणाइं, कोमलपसिणाइं, अद्दागपसिणाइं, अंगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं ।

बंधदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा–

बंधे य, मोक्खे य, देवद्धि, दसारमंडले वि य, आयरियविप्पडिवत्ती, उव-ज्झायविप्पडिवत्ती, भावणा, विमुत्ती, साओ, कम्मे ।

दोगेद्धिदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा–

वाए, विवाए, उववाए, सुक्खित्ते कसिणे, बायालीसं सुमिणे, तीसं महा-सुमिणे, बावत्तरि सव्वसुमिणा, हारे, रामे, गुत्ते, एमेए दस आहिया ।

दीहदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा–

चंदे, सूरए, सुक्के य, सिरिदेवी, पभावई, दीवसमुद्दोववत्ती, बहुपुत्ती, मंदरेइ य, थेरे संभूयविजए, पम्हउसासनीसासे ।

संखेवियदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा–

खुड्डिया-विमाणपविभत्ती, महल्लिया-विमाणपविभत्ती, अंगचूलिया, वग्ग-चूलिया, विवाहचूलिया, अरुणोववाए, वरुणोववाए, गरुलोववाए, वेलंधरोववाए, वेसमणोववाए ।५४।

छाया—दश दशाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा – कर्मविपाकदशा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशाः, अनुत्तरौपपातिकदशाः, आचारदशा, प्रश्नव्याकरणदशाः, बन्धदशाः, द्विगृद्धिदशाः, दीर्घदशाः, सक्षेपिकदशाः ।

कर्मविपाकदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

मृगापुत्रः गोत्रासः अण्डः, शकटमिति चापरम् ।
ब्राह्मणः नन्दिषेणश्च, शौरिक इति उदुम्बरः ॥
सहस्रोद्दाह आमरकः, कुमारान् लिप्संश्चेति ॥

उपासकदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

आनन्दः कामदेवश्च, गाथापतिश्चूलनिपिता ।
सुरादेवश्चुल्लशतकः, गाथापतिः कुण्डकोलिकः ॥
सद्दालपुत्रो महाशतको, नन्दिनीपिता शालेयिकापिता ॥

अन्तकृद्दशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

नमिः मातङ्ग• सोमिलः, रामगुप्तः सुदर्शनश्चैव ।
जमालिश्च भगालिश्च किङ्कमः पल्लत इति च ॥
फालोऽम्बडपुत्रश्च, एवमेते दश आख्याताः ॥

अनुत्तरौपपातिकदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

ऋषिदासश्च धन्यश्च, सुनक्षत्रश्च कार्तिकः [इति च] ।
स्थाणुः शालिभद्रश्च, आनन्दः तैतलीति च ।
दशार्णभद्रोऽतिमुक्तः, एवमेते दश आख्याताः ॥

आचारदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

विंशतिरसमाधिस्थानानि, एकविंशतिः शबलाः, त्रयस्त्रिंशत् आशातनाः, अष्टविधा गणिसम्पत्, दश चित्तसमाधिस्थानानि, एकादश उपासकप्रतिमाः, द्वादशभिक्षुप्रतिमाः, पर्युषणाकल्पः, त्रिंशत् मोहनीयस्थानानि, आयतिस्थानानि ।

प्रश्नव्याकरणदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

उपमा, संख्या, ऋषिभाषितानि, आचार्यभाषितानि, महावीरभाषितानि, क्षौमकप्रश्नाः, कोमलप्रश्नाः, आदर्शप्रश्नाः, अगुष्ठप्रश्नाः, बाहुप्रश्नाः ।

वन्धदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—बन्धश्च, मोक्षश्च, देवर्द्धिः, दशारमण्डलमपि च, आचार्यविप्रतिपत्तिः, उपाध्यायविप्रतिपत्तिः, भावना, विमुक्ति, सातं, कर्म ।

द्विगृद्धिदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—
वातः, विवातः, उपवातः, सुक्षेत्रं, कृत्स्नम्, द्वित्रत्वारिंशत् स्वप्ना, द्वासप्तति सर्वस्वप्ना, हारः, रामः, गुप्तः, एवमेते दश आख्याताः ।

दीर्घदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—
चन्द्रः, सूर्यः, शुक्रश्च, श्रीदेवी, प्रभावती, द्वीपसमुद्रोपपत्तिः, बहुपुत्री, मन्दर इति च, स्थविरः सम्भूतविजयः, पक्ष्मोच्छ्वासनि श्वासः ।

संक्षेपिकदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—क्षुद्रिका विमानप्रविभक्तिः, महती-विमानप्रविभक्तिः, अङ्गचूलिका, वर्गचूलिका, विवाहचूलिका, अरुणोपपातः, वरुणोपपातः, गरुडोपपातः, वेलन्धरोपपातः, वैश्रमणोपपात ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश दशा प्रतिपादन की गई है, जैसे—कर्मविपाकदशा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, आचारदशा, प्रश्नव्याकरणदशा, बन्धदशा, द्विगृद्धिदशा, दीर्घदशा, संक्षेपिकदशा ।

कर्मविपाकदशा के दश अध्ययन वर्णन किये है, जैसे—मृगापुत्र, गोत्रास, अण्ड, शकट, ब्राह्मण, नन्दिषेण, शौरिक, उदुम्बर, सहसोद्दाह आमरक, कुमारलंपटी ।

उपासकदशा के दश अध्ययन वर्णन किये गए हैं, जैसे—आनन्द, कामदेव, गाथापति चुलनिपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, गाथापति कुण्डकौलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनोपिता, शालयिकोपिता ।

अन्तकृद्दशा के दश अध्ययन वर्णन किये गए है, जैसे—नमि, मातङ्ग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, जमालि, भगालि, पल्लत, फाल अम्बडपुत्र ।

अनुत्तरौपपातिक दशा के दश अध्ययन वर्णन किये गये हैं, जैसे—ऋषि-

दास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, स्थाणु, शालिभद्र, आनन्द, तेतिल, दशार्ण-भद्र, अतिमुक्त।

आचारदशा के दश अध्ययन वर्णन किये गए है, जैसे—बीस असमाधिस्थान, इक्कीस शबलदोप, तेतीस आशातना, अष्टविध गणिसम्पदा, दश चित्त-समाधिस्थान, ग्यारह श्रावकप्रतिमा, बारह भिक्षुप्रतिमा, पर्युपणाकल्प, तीस मोहनीयस्थान, आयतिस्थान।

प्रश्नव्याकरण दशा के दश अध्ययन वर्णन किये गये हैं, जैसे—उपमा, संख्या, ऋषिभाषित, आचार्यभापित, महावीरभाषित, क्षौमकप्रश्न, कोमलप्रश्न, आदर्शप्रश्न, अंगुष्ठ-प्रश्न, बाहुप्रश्न।

बन्धदशा के दश अध्ययन प्रतिपादन किये गये हैं, जैसे—बन्ध, मोक्ष, देवर्द्धि, दशारमण्डल, आचार्य-विप्रतिपत्ति, उपाध्याय-विप्रतिपत्ति, भावना, विमुक्ति, साता, कर्म।

द्विगृद्धि दशा के दश अध्ययन वर्णन किये गये हैं, जैसे—वात, विवात, उपपात, सुक्षेत्रकृत्स्न, बयालीस स्वप्न, तीस महास्वप्न, बहत्तर सर्व स्वप्न, हार, राम, गुप्त।

दीर्घदशा के दश अध्ययन वर्णन किये गये हैं, जैसे—चन्द्र, सूर्य, शुक्र, श्री-देवी, प्रभावती, द्वीपसमुद्रोपपत्ति, बहुपुत्री, मन्दर, स्थविर सम्भूतविजय और पक्ष्म उच्छ्वासनिश्वास।

संक्षेपिकदशा के दश अध्ययन वर्णन किये गए है, जैसे—क्षुद्रिका विमान-प्रविभक्ति, महतीविमान-प्रविभक्ति, अङ्ग-चूलिका, वर्ग-चूलिका, व्याख्या-चूलिका, अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरुडोपपात, वेलंधरोपपात, वैश्रमणो-पपात।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र के अन्तिमांश में सर्वज्ञ-ज्ञेय पदार्थों का वर्णन किया गया है, श्रुत-विशेष को भी पूर्णतः सर्वज्ञ भगवान ही जानते हैं। अतः प्रस्तुत सूत्र में श्रुत-विशेष की अंगभूत दस दशाओं का वर्णन

किया गया है ।

'दशा'' शब्द द्वारा यहां शास्त्र विशेष का ही ग्रहण किया गया है। जो-जो सूत्र दश अध्ययनों से युक्त हैं और दशा अर्थात् विशेष अवस्थाओं के प्रतिपादक है उन सूत्रों को 'दशा' कहा जाता है । जिस-जिस शास्त्र मे दस-दस अधिकारो का वर्णन है, उस-उस शास्त्र का नाम ही दशा प्रसिद्ध हो गया है । दश सख्या बहुवचनान्त होने से दशा शब्द भी बहुवचनान्त ही दिया गया है। दस दशाओ के नाम इस प्रकार हैं, जैसे कि—

कर्म-विपाकदशा, उपासकदशा, अतकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, आचारदशा, प्रश्नव्याकरण-दशा, बधदशा, द्विगृद्धिदशा, दीर्घदशा और सक्षिप्त दशा । प्रत्येक दशा मे १०-१० अध्ययन प्रतिपादन किए गए है । उनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. कर्म-विपाक-दशा—विपाकश्रुत के पहले श्रुतस्कन्ध में दस अध्ययन हैं, वे सब अशुभ कर्मों का फल बतलानेवाले है । यद्यपि दूसरे श्रुतस्कन्ध के भी दस अध्ययन हैं तथापि सूत्रकार का आशय अशुभ फल दिखाने का ही है। इस कारण इस दशा को "कर्म-विपाक-दशा" कहते हैं। उन दस अध्ययनो का सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है, जैसे कि—

(क) मृगापुत्र—पहले अध्ययन मे मृगापुत्र जिसको दूसरे शब्दो मे मृगालोढा भी कहते हैं। उसका जन्म राजघराने मे हुआ था । वह दुष्कर्म के प्रकोप से इन्द्रिय-विकल, जन्मान्ध, भस्मक आदि अनेक व्यधियो से परिपीड़ित था । पूर्व जन्म मे वह किसी एक प्रान्त का प्रशासक था, किन्तु निर्दयी, आततायी, लोलुपी बन कर उसने अनेका-अनेक कुकृत्यो से अपनी आत्मा का पतन कर डाला, जिसके कारण वह नरकगति को प्राप्त हुआ । वहा से निकल कर मृगालोढा बना, और उसने अति-भीषण विपत्तियां भोगी तथा ससार-चक्र का सवर्धन किया ।

(ख) उज्झितक—यह विजयमित्र नामक सार्थवाह का पुत्र था। उसने गोत्रासक भव में गाय-बैल आदि पशुओ के मांसाहार तथा मद्यपान आदि निन्दनीय पाप-कर्मों से अपने जीवन को दु ख के गर्त्त मे गिरा डाला । उन्हीं दुष्ट कर्मों के परिणाम स्वरूप उसे दुसह्य कष्टो को भोगना पडा और उसने अनन्त ससार की वृद्धि की। इस अध्ययन मे गोमास-भक्षण का दुष्परिणाम बतलाया गया है ।

(ग) अभग्नसेन · यह विजय नामक चोर सेनापति का कुख्यात पुत्र था। उसने पूर्वभव में अण्डों का व्यापार किया था। वह अपने युग में सब से बडा अण्डो का व्यापारी था। स्वयं भी अण्डे खाने का लोलुपी था। इस प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों से वह जीवन-यापन कर नरक में उत्पन्न हुआ। वहा से निकल कर अभग्नसेन चोर सेनापति बना। वह पुरिमताल नगरवासियो को तथा आस-पास के जनपदों को क्रूरतापूर्वक लूटने लगा। तब राजा ने उसे और उस के परिवार को तिल-तिल करके कटवा कर मौत के घाट उतार दिया । इस अध्ययन में चोरी, हिंसा आदि कुकृत्यों के दुष्परिणाम बतलाए गए हैं ।

(घ) शकट—इस अध्ययन में शकट नामक पुण्यहीन पुरुष का वर्णन है। वह एक सार्थवाह

का पुत्र था। वह पहले भव में कसाई का धन्दा किया करता था। वह स्वय मांस-प्रिय था, और अपने युग मे वहुत बडा कसाई था। वेश्यागमन आदि कुव्यसनो के अपराधो के कारण सुसेन नामक महामन्त्री ने उसे वहुत बुरी मौत से मरवा दिया। इस अध्ययन में बतलाया गया है कि मासभक्षण करने से, पचेन्द्रिय जीवों के वध करने से तथा वेश्या-गमन से शकट दुर्गति को प्राप्त हुआ और उसने अनन्तकाल के लिये दुःख की परम्परा बढ़ा ली।

(ङ) बृहस्पति—पाचवे अध्ययन में बृहस्पति नामक राजपुरोहित का वर्णन है। कौशांवी नगरी मे दत्त नामवाला एक ब्राह्मण रहता था। वह राजा की रानी के साथ दुराचार करता हुआ रगे हाथ पकडा गया। उदयन राजा ने उसे मौत के घाट उतार दिया। वह मर कर नरक में गया, वहां से निकल कर दत्त का जीव बृहस्पति राजपुरोहित बना। वह जितशत्रु राजा के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन चार वर्णों के एक-एक बालक का हवन किया करता था। अष्टमी आदि पर्व में दो-दो, चातुर्मासी में चार-चार, छः महीने मे आठ-आठ और वर्ष में सोलह-सोलह बालकों का हवन किया करता था। जब कभी प्रतिद्वन्द्वी आक्रमण करता था, तब १०८-१०८ बालकों का हवनकुण्ड मे हवन किया करता था। इस तरह पाप-कर्म करके उसने अपने भविष्य को अन्धकारपूर्ण बना डाला। जिससे उसने अपने लिये अनन्त दुःखों की परम्परा बढा दी।

(च) नन्दीवर्धन—यह मथुरा नगरी के राजा श्रीदाम का पुत्र था। राजद्रोह के कारण राजा की आज्ञा से नगर के चौराहे में उसे तप्त लोह के जल से स्नान करवा कर तप्त लोह के सिंहासन पर वैठाकर क्षार तेल से भरे हुए कलशों से राज्याभिषेक कराकर बुरी मौत से मरवाया गया। वह मर कर नरक में गया। वहा की अशुभ दीर्घायु को पूरी करके उसने सिंहपुर नगर में जन्म लिया। आगे चलकर वही दुर्योधन नामक कारागृह का स्वामी बना। वह कैदियो के साथ अत्यन्त निर्दयतापूर्ण व्यवहार करता था। इस अध्ययन में बतलाया गया है कि जो कारागृह के स्वामी बन्दियों के साथ अन्याय से वर्ताव करते है और उन्हें अनुचित दण्ड देते हैं तथा नाना प्रकार के दुर्वचन एवं मिथ्या प्रलापों से उन्हें विश्वास देकर फिर अन्यायपूर्वक दण्डित करते है, उनको भावी जन्मों में कैसा फल मिलता है ? इसी बात का सविस्तर वर्णन इस अध्ययन में किया गया है।

(छ) उदुम्बर—यह सागरदत्त सार्थवाह का पुत्र था और १६ रोगों से पीडित होता हुआ दीर्घकाल तक महाकष्टो का अनुभव करके नरक में गया। वैद्य धन्वन्तरी के भव में वह रोगियो को तरह-तरह के मांस खाने का उपदेश दिया करता था और स्वयं भी मांस-प्रिय था। मास का प्रचार करने से उसके जीव को अनन्त ससार चक्र मे परिभ्रमण करते हुए दुखानुभूति करनी पडी। इसमें मांस-भक्षण के भीषण परिणामों का उल्लेख किया गया है। जो वैद्य मांस, मदिरादि सेवन करने का उपदेश देते हैं और स्वयं भी मास-भक्षण करते हैं, उन्हे जन्मान्तरों तक भयंकर परिणाम भोगने पड़ते है। औषधिदान से तो आत्मा ससार को परित्त भी करता है, जैसे आनद वैद्य ने साधु को औषधिदान से तथा उपचार से संसार परित्त किया, किन्तु औषधि आर्य संस्कृति के अनुकूल हो, तभी ऐसा हो सकता है। इस में आयुर्वेद सीखने का या ज्ञान पाने का निषेध नही किया गया, किन्तु अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करने और कराने से जीव को कैसा फल भोगना पड़ता है ? इस

अध्ययन में यही बतलाया गया है। सुश्रुत आदि ग्रन्थों के निर्माता धन्वन्तरि वैद्य सभव है अन्य हों, क्योकि काल और संख्या के प्रमाण न मिलने से ये अन्य ही सिद्ध होते है।

(ज) शौरिकदत्त—यह समुद्रदत्त नामक मछुए का पुत्र था। उसे मत्स्य-मांस बहुत प्रिय था। एक बार गले मे मत्स्य का कटक बुरी तरह लगने से महाकष्ट पा कर वह दुर्गति को प्राप्त हुआ। जन्मान्तर मे वह नदीपुर नगर के मित्र नामक राजा का श्रीक नामवाला रसोइया बना। वह जीव-घात से और मास खाने से पुन: नरक का अतिथि बना तथा भविष्य मे अनन्त जन्म-मरण के चक्र मे पडा। इस अध्ययन में मत्स्य-मांस भक्षण का दुष्परिणाम बतलाया गया है।

(झ) देवदत्ता—यह रोहितक नगर में दत्त सार्थवाह की पुत्री और पुष्पनन्दी राजा की पट्टरानी थी। इस ने सिंहसेन के भव मे अपनी प्रिया श्यामा के मोह मे फसकर अपनी ४९९ रानियो को तथा उनकी ४९९ धाय माताओ को अग्नि मे जला कर भस्मसात् कर दिया। उसके बाद वह राजा काल करके छट्ठी नरक का अतिथि बना। वहां से निकलकर उसके जीव ने देवदत्ता पट्टरानी का शरीर धारण किया और उपार्जित किए हुए उस पापकर्म के प्रभाव से उसने भोग मे विघ्न कारिणी जानकर अपनी सास के गुह्य अग मे सतप्तलोह दण्ड प्रविष्ट करके उसके जीवन का अत कर दिया। मातृ-भक्त राजा ने देवदत्ता को विविध पीडाओ से पीडित कर प्राण-दड से दण्डित किया। इस अध्ययन में जो पति अपनी विवाहित स्त्रियो की न्याय पूर्वक रक्षा नही करता, बल्कि उन्हे अन्याय पूर्वक कठोर दड देता है, उसका कुफल बतलाया गया है।

(ञ) अंजू—यह महाराजा विजयमित्र की रानी थी। इस ने पूर्व-भव में वेश्या-वृत्ति अपना कर सदाचार की मर्यादाओ को भग किया। बहुत से राजकुमारो एव वणिक्पुत्रो को मत्र, चूर्णादि से वश मे कर उनके साथ भोग करती हुई दुर्गति को प्राप्त हुई। वहां से निकलकर वह वहुमान नगर में धनदेव सार्थवाह की पुत्री हुई। उसका विवाह विजयमित्र राजा के साथ हुआ। कालान्तर मे योनिशूल रोग होने से महाकष्ट पाकर उसका जीव नरकगामी बना। इस प्रकार इस अध्ययन में अति काम-वासना का फल बतलाया गया है। इसी कारण श्रावक के स्वदार सतोष-व्रत मे 'कामभोगतिव्वभिलासे' नामक अतिचार का कथन किया गया है। स्वपति के साथ भी स्त्री में काम-वासना की अति नही होनी चाहिए, क्योकि जैसे परिमाण-पूर्वक और समयानुकूल भोजन शरीर-रक्षा के लिये सुख-प्रद हो सकता है, इस से विपरीत भोजन दुख-प्रद ही होता है, इसी प्रकार वासना-सुख भी सीमित न होने पर दु ख-प्रद बन जाता है। पूर्वोक्त व्यक्तियो ने पूर्व-भव मे किस-किस प्रकार और कैसे-कैसे पाप-कर्म उपार्जित किए और उन्हें आगामी भवों मे किस प्रकार दुखी होना पडा ? पाप-कर्म करते समय अज्ञान-वश जीव प्रसन्न होता है, उस समय वे कृतपाप-कार्य सुखदायी प्रतीत होते हैं, किन्तु उनका परिणाम कितना दु खप्रद होता है और जीव को कितने दु ख उठाने पड़ते है ? इन सब बातो का साक्षात् चित्र कर्म-विपाकदशा में विभिन्न कथाओ के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

२. उपासक-दशा—यह सातवे अंगसूत्र का नाम है। साधुओं की सेवा करनेवाले व्यक्ति उपासक कहे जाते है। इस सूत्र मे दस श्रावकों का जीवन परिचय समान होने से इस को उपासकदशा

कहते हैं। इसके प्रत्येक अध्ययन में एक-एक श्रावक की जीवन-कथा का वर्णन है जैसे कि—

(क) आनन्द गाथापति—पहले अध्ययन में आनन्द नामक गृहपति का वर्णन है। वाणिज्य-ग्राम नगर के वसनेवाले धनिकों एवं यशस्वी लोगो में आनन्द का स्थान अग्रगण्य था। भगवान महावीर के उपदेशों से प्रभावित होकर उसने श्रावक के बारह व्रत धारण किए। ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना की। एक महीने का संथारा ग्रहण किया और उसके मध्य मे अवधि-ज्ञान प्राप्त किया। समाधि-पूर्वक उसका मरण हुआ और वह सौधर्म देवलोक मे देव रूप मे उत्पन्न हुआ। वहां से च्यव-कर महाविदेह क्षेत्र मे सिद्ध होगा। इस अध्ययन से श्रावकों के व्रतों का एव ग्यारह प्रतिमाओ का भली-भाति बोध हो सकता है। गृहस्थ किस तरह अपना जीवन समुन्नत बना सकता है, इस विषय का भी विस्तृत दिग्दर्शन कराया गया है।

(ख) कामदेव गाथापति—इसने भी भगवान महावीर के दर्शन किए और उनके उपदेशों से प्रभावित होकर आनन्द श्रावक की तरह २० वर्ष पर्यन्त श्रावक-वृत्ति का पालन किया। आनन्द गाथापति के जीवन से भिन्न इसके जीवन मे यह एक विशेषता थी कि एक मिथ्यादृष्टि देव ने इसे धर्म से विचलित करने के लिये तीन उपसर्ग दिए, परन्तु भयंकर कष्ट सहन करके भी वह धर्म से विचलित नही हुआ। परिणाम स्वरूप देव ने अपनी भूल एवं अपराध को स्वीकार करके कामदेव से क्षमा मागी और चरण-वन्दना करके वापिस लौट गया। जीवन का शेषकाल उसने भी गृहवास से अलग होकर ग्यारह प्रतिमाओ की आराधना में बिताया सलेखना सहित मरण को स्वीकार किया और पहले देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुआ तथा अपने भविष्य को समुज्ज्वल बनाया। इस अध्ययन से प्राणनाशक कष्ट होने पर भी धर्म मे दृढ रहने की शिक्षा मिलती है।

(ग) चुलनीपिता गाथापति—उपासकदशासूत्र के तीसरे अध्ययन मे चुलनीपिता श्रावक का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसका जीवन-वृत्त आनन्द श्रावक से मिलता-जुलता है। विशेषता केवल इतनी ही है कि मातृमोह के वशीभूत होकर धर्मपथ से विचलित होते हुए अपने पुत्र चुलनीपिता को माता ने पुन धर्म मे दृढ कर दिया। उस ने भी आलोचनादि से अपने द्वारा की हुई भूल का प्रायश्चित्त किया। चुलनीपिता के जीवन मे यह शिक्षा मिलती है कि देव-गुरु समान जननी का कर्त्तव्य है कि धर्म से विमुख होते हुए अपने बच्चो को धर्म मे स्थिर करे।

(घ) सुरादेव गाथापति—चौथे अध्ययन में वाराणसी नगरी के वसनेवाले सुरादेव श्रावक का वर्णन किया गया है। धर्म से विचलित करने के लिये किसी व्यतर देव ने इसे तीन उपसर्ग दिए, परन्तु वह कष्टो में भी धर्म पर दृढ रहा। चौथे उपसर्ग देने से पहले देव ने इससे कहा—"यदि तू धर्म से विचलित नही होगा, तो मैं तेरे शरीर मे १६ रोगो का प्रक्षेप कर दूगा, जिससे शारीरिक एव मान-सिक दुःख मे पीड़ित होकर अकाल में ही तेरा देहान्त हो जाएगा।" इतनी बात सुनकर वह क्रोधा-वेश में आ गया और उसे दडित करने के लिये उसने अयतना से रात्रि मे उसका पीछा किया। देव तिरोधान हो गया और सुरादेव कोलाहल मचाने लगा। सारी बात जानकर धन्ना भार्या ने कहा—"स्वामिन्! ये सब देवकृत उपसर्ग था। पौषधोपवास मे शरीर पर इतना मोह नही करना चाहिए। क्रोधावेश में आना, बिना यतना के चलना तथा किसी को पकड़कर मारने के सकल्प करना निषिद्ध है।

आपने ममता का उल्लघन किया है, इसलिये आलोचना-प्रायश्चित आदि करके आत्मा को शुद्ध करो। भार्या के इस शिक्षा वचन को सुनकर सुरादेव प्रायश्चित्त करके समता में तल्लीन हो गया। इसका शेष जीवन-वृत्त पूर्व वर्णित श्रावकों जैसा ही था।

इस अध्ययन से पता चलता है कि शरीर में रोग पूर्व कर्म के उदय से भी उत्पन्न हो सकते हैं और बाहिर के निमित्तो द्वारा भी शरीर में नूतन रोग उत्पन्न किए जा सकते हैं। परन्तु साधनाशील को शरीरासक्ति से दूर रह कर साधना मे दृढ रहना चाहिए।

(ङ) चुल्लशतक गाथापति—यह आलभिका नगरी निवासी एक सेठ था। यह १८ करोड़ की सपत्ति का स्वामी था। इसने भी आनद श्रावक की तरह भगवान महावीर स्वामी से गृहस्थ के १२ व्रतो को धारण कर उनकी आराधना-पालना प्रारभ की।

एक बार धर्म जागरण करते हुए आधी रात के समय उसके पास एक मिथ्यादृष्टि देवता आया और उसने इसकी परीक्षा लेनी प्रारभ की और कहा— "रे चुल्लशतक! यदि तू इस निर्ग्रन्थ प्रवचन को न छोड़ेगा, तो मैं तेरी १८ करोड की सपत्ति को इस नगरी के अदर और बाहर बिखेर दूगा, जिस से तूं मानसिक दुःख से पीडित होकर अकाल मे ही मर जाएगा।"

उपसर्ग करनेवाले देव के द्वारा अपने द्रव्य का अपहरण देखकर उसके हृदय में क्रोध की अग्नि भड़क उठी और वह उसे मारने के लिये भागा। देव तुरन्त अदृश्य हो गया और वह अधेरे में खभा पकड़कर कोलाहल करने लगा। उसकी भार्या बहुला उसके पास आई और पूछने पर पता लगा कि यह सब कुछ देवकृत उपसर्ग ही था।

बहुला गृहणी भी शास्त्रो की ज्ञाता थी। उसने कहा—"आपने धर्म-प्रेम के स्थान पर धन-प्रेम किया है, आपके हृदय में क्रोधवश उसे वध करने के संकल्प उत्पन्न हुए, अतः इस दोष का प्रायश्चित्त कीजिए।"

श्रावक ने अपनी भूल को स्वीकार करके प्रायश्चित्त किया। इसका शेष जीवन-वृत्त सुरादेव के समान ही था। महाशतक की अपेक्षा इस का नाम लघुशतक या चुल्लशतक रहा है।

इस अध्ययन से पता चलता है कि धन पर ममत्व भाव रखने वाले प्राणी आपत्तिकाल में धर्म से कुछ स्खलित हो ही जाया करते हैं।

(च) कुण्डकोलिक गाथापति—यह कांपिल्यपुरवासी प्रमुख गाथापति हुआ है। इसने भी भगवान् महावीर के उपदेशो से श्रावक जीवन अपनाया। १२ व्रतो की आराधना करते हुए जीवन-यात्रा सुखपूर्वक चल रही थी।

एक बार वह अशोकवाटिका मे रहते हुए धर्म-चिन्तन कर रहा था। इतने मे गोशालक मतानुयायी एक देव प्रकट हुआ। उसने उत्तरीय वस्त्र और अगूठी जोकि एक चौंकी पर रखी हुई थी, उठा कर आकाशस्थ हो श्रावक से कहा "गोशालक का धर्म सर्वश्रेष्ठ है, जिसमें पुरुषार्थ करने की जरूरत ही नही है। सभी पदार्थ होनहार—नियति पर निर्भर हैं, जब कि महावीर का धर्म-कथन सुन्दर नही है, क्योकि वहा पुरुषार्थ की मुख्यता है।" इस तरह देव के द्वारा की गई महावीर के सिद्धान्त की निन्दा और गोशालक के सिद्धान्त की प्रशसा सुनकर उस श्रावक ने पूछा—"यदि ऐसा

ही है, तो सभी प्राणी तुम्हारे सरीखे देव क्यो नही बन गए ? प्राणियों के जीवन में परस्पर भेद क्यो है ? कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई बलहीन, कोई बलवान्, कोई सम्पन्न, कोई दरिद्री। इस विषमता का एकमात्र कारण यही है कि जिसने जैसा पुरुषार्थ किया है, उसने उसके अनुसार फल प्राप्त किया है।" पुरुपार्थ के आधार पर श्रावक ने कर्मवाद की ओर सकेत करते हुए यह भी कहा कि "जिसने पुरुषार्थ के वल से दान, शील, तप और शुभ भावों का प्रयोग किया है, वही देव बनता है। तूने पूर्व भव मे तपश्चर्या की, तो देव बना, किन्तु जिस ने शुभ कर्म नही किया, वह देव क्यों नही बन गया ? अतः तेरा मत निकृष्ट है और महावीर का सिद्धान्त उत्कृष्ट है।" कुण्डकोलिक के इस उत्तर से देव निरुत्तर हो उत्तरीय और अंगूठी को उसी चौकी पर रखकर तिरोधान हो गया। इस का शेष जीवन-वृत्त आनन्द श्रावक के समान ही था।

इस अध्ययन से यह शिक्षा मिलती है कि साधु हो या श्रावक, जो प्रतिवादी को निरुत्तर करके उसे जैन धर्म मे आस्थावान् बना दे, वही धन्यवाद का पात्र है। भगवान महावीर ने समवसरण मे कुण्ड-कोलिक श्रावक को धन्यवाद दिया है।

(छ) सद्दालपुत्र—यह पोलासपुर नगर का धनीमानी कुम्भकार था जोकि गोशालक का विशेष उपासक था। भगवान महावीर का पोलासपुर मे पधारना हुआ। सद्दाल का दर्शनार्थ जाना, उसके द्वारा विनति का होना, भगवान का उस की दुकान पर पधारना, वार्तालाप का प्रारम्भ होना, उसी के तर्कों से उसे निरुत्तर करना, सम्बुद्ध होकर सद्दालपुत्र का धर्मोपदेश ग्रहण करना और बारह व्रतों को धारण करना आदि बातो का वर्णन विस्तारपूर्वक इस दशा मे विद्यमान है।

अन्य किसी समय गोशालक ने उसे अपने मत मे लौटा लाने के लिये अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तर किए, किन्तु वह बिल्कुल भी धर्म से विचलित नही हुआ और न कभी जीवन भर नियतिवाद का समर्थन किया।

एक बार पौषधोपवास में धर्म जागरणा करते हुए आधी रात के समय एक देव उसकी कठोर परीक्षा लेते हुए कहने लगा "यदि तू धर्म नही छोडेगा, तो मैं तेरी अग्निमित्रा भार्या, जोकि तेरे दुःख-सुख में सदैव सहायक रहती है और धर्म मे भी, उसे यहां तेरे सामने तलवार से टुकडे-टुकडे करके, उसके रक्त और मांस से तेरे शरीर को सीचूगा।" देव के दो बार, तीन बार यही बात कहने पर सद्दालपुत्र श्रावक के मन मे विचार आया कि—"यह कोई अनार्यपुरुष है, इसे पकड लेना ही अच्छा है।" किन्तु उसे पकडने के लिये ज्यो ही सद्दालपुत्र कोलाहल करता हुआ उठा, त्यों ही देव तो अन्तर्धान हो गया, पर उसके हाथ में खम्भा आ गया। उस का कोलाहल सुनकर उसकी अग्निमित्रा भार्या वहा आ पहुची। कोलाहल का कारण पूछा, सारा वृत्तान्त सुन कर उसने सद्दालपुत्र श्रावक से प्रायश्चित्त लेने के लिये कहा। तदनुसार सद्दालपुत्र श्रावक ने प्रायश्चित्त लेकर अपनी आत्मा को शुद्ध किया।

सद्दालपुत्र अन्तिम समय सलेखना द्वारा समाधि पूर्वक काल करके सौधर्म देवलोक के अरुणभूत विमान में देवत्व के रूप मे उत्पन्न हुआ। चार पल्योपम की स्थिति पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र मे मनुष्यत्व के रूप मे जन्म लेकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

इस अध्ययन में पति और पत्नी के धार्मिक सम्बन्धों का दिग्दर्शन कराया गया है। यदि किसी कारण पति अपनी प्रतिज्ञा से स्खलित हो जाए, तो पत्नी का कर्त्तव्य हो जाता है कि उसे पुन: धर्म में स्थिर करे। क्योंकि पति का सच्चा मित्र पत्नी है।

(ज) महाशतक गृहपति—राजगृह नगर में जब श्रेणिक राजा राज्य करता था, तब उसी नगर में महाशतक नामक एक गृहपति भी रहा करता था। वह भी आनन्द गृहपति की तरह नगर-मान्य एवं प्रतिष्ठित था। वह चौबीस करोड सम्पत्ति का स्वामी था। शेष सब वर्णन आनन्द की तरह जान लेना चाहिए। एक बार भगवान महावीर स्वामी का नगर में पधारना हुआ। दर्शनार्थ महाशतक भी गया, उपदेश सुना और बारह व्रत धारण किए।

श्रावक के व्रत नियमों का भली-भान्ति पालन करते हुए जब महाशतक के चौदह वर्ष बीत गए। तब पन्द्रहवें वर्ष में महाशतक ने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाए धारण की। सूत्रोक्त विधि से उनका यथावत् पालन किया। कठिन और दुष्कर तप करने से महाशतक का शरीर अतिकृश हो गया। भावों की विशुद्धि से सलेखना के अन्तर्गत महाशतक को अवधिज्ञान भी उत्पन्न हो गया। महाशतक ने बीस वर्ष पर्यन्त श्रावक पर्याय का पालन किया। तदनन्तर पंडितमरण से सौधर्म देवलोक मे देवत्व के रूप में चार पल्योपम की स्थिति वाला अरुणावतस विमान में उत्पन्न हुआ। वहा से च्यव कर महाविदेह मे निर्वाणपद को प्राप्त करेगा।

इस अध्ययन मे यह विषय स्पष्ट हो जाता है कि जो भगवान के अनन्य उपासक होते हैं, उनकी रक्षा भगवान भी करते हैं।

(झ) नन्दनीपिता—यह श्रावक श्रावस्ती नगरी का रहनेवाला था।

(ञ) सालेयिकापिता - यह श्रावक भी श्रावस्ती नगरी का निवासी था। इन दोनो गाथा-पतियों ने धर्मलाभ भगवान महावीर से ही प्राप्त किया था। इन का जीवन-वृत्त भी आनन्द श्रावक की तरह ही था।

ये दस श्रावक भगवान महावीर के अनन्य सेवक थे। जिन-वाणी सुनना, दान देना, कर्मक्षय करने के लिये प्रयत्न करना, १२ व्रतो की आराधना-पालना करना, इन सब का परमलक्ष्य बना हुआ था। इन्होंने चौदह वर्ष पूरे करके १५वे वर्ष मे कुटुम्ब का भार अपने ज्येष्ठ पुत्रों को सम्भाल दिया और स्वय धर्म की विशेष साधना में संलग्न हो गए। सभी २० वर्ष तक श्रावक धर्म का पालन कर सौधर्म देवलोक को प्राप्त हुए। उपासक-दशा सूत्र में गृहस्थाश्रम के कर्तव्यो का विशद वर्णन किया गया है।

३. अन्तकृद्दशा—जिन महासाधकों ने आयु के अन्त समय में केवलज्ञान को प्राप्त करके धर्म देशना दिए बिना ही कर्मों का क्षय कर निर्वाणपद प्राप्त किया, उनके चरित्र का प्रतिपादन करनेवाली दशा अन्तकृत्‌दशा कहलाती है। इस दशा मे दस अन्तकृत् केवलियो के तपोमय जीवन का वर्णन किया गया है। जैसे कि नमि, मातग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, जमाली, भगाली, किंकम, पल्यकस्फाल और अम्बडपुत्र। ये दस अध्ययन वर्तमान अन्तकृद्दशा मे उपलब्ध नही हैं। यह कथन वाचनान्तर की अपेक्षा से प्रतीत होता है और ये नामपूर्वजन्म के भी प्रतीत नही होते, क्योंकि यहा पूर्वजन्म

का विषय ही नहीं है। अतः वाचनान्तर ही मानना युक्तिसंगत लगता है। वृत्तिकार भी इस विषय में लिखते हैं—

"अन्तगड" इत्यादि, इह चाष्टौ वर्गास्तत्र प्रथमवर्गे दशाध्ययनानि, तानि चामूनि—नमीत्यादि-सार्द्धरूपकमेतानि च नमीत्यादिकान्यन्तकृत्साधुनामानि अन्तकृद्दशाङ्गप्रथमवर्गेऽध्ययनसंग्रहे नोपलभ्यन्ते, यतस्तत्राभिधीयते—

गोयम, समुद्द, सागर, गंभीरे, चेव होइ थिमिए य।
अयले, कपिल्ले, खलु अक्खोभ, पसेणई, विण्हू ॥"

अन्तगड अंगसूत्रों मे ८ वां है। इस में एक श्रुतस्कन्ध है। वर्तमान काल में जो सूत्र प्राप्त है, उस में ८ वर्ग है। उसके आदि और अन्त के दोनो वर्गो में दस-दस अध्ययन हैं। पहले वर्ग में सभी अधिकार अंतकृत् साधुओ के है और आठवे वर्ग मे सभी अधिकार अन्तकृत् साध्वियों के है। किंकम गाथापति का अधिकार छट्ठे वर्ग के दूसरे अध्ययन में उपलब्ध है। यह किंकम वही है या अन्य ? यह केवली-गम्य है।

४. अनुत्तरोपपातिकदशा—जिनका जन्म सर्व-श्रेष्ठ देवलोकों में हुआ, वे अनुत्तरोपपातिक देव कहलाते है। इस दशा में ऐसे उच्च साधकों का वर्णन है, जिन्होने तप-सयम आदि शुभ क्रियाओं का आचरण उत्कृष्ट रूप से करके अनुत्तर विमानो मे जन्म लिया और वहां से च्यवकर उत्तम कुलों में जन्म लेंगे तथा उसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करेगे।

इस दशा के दश अध्ययन हैं। उन दस अध्ययनो मे दस महापुरुषों की जीवनचर्या का वर्णन है, जैसे कि—ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, स्थाणु शालिभद्र, आनन्द, तेतली, दशार्णभद्र और अतिमुक्त। किन्तु जो अनुत्तरोपपातिक सूत्र वर्तमान में विद्यमान है, उसके तीन वर्ग हैं—पहले वर्ग में दस अध्ययन, दूसरे वर्ग में तेरह अध्ययन और तीसरे वर्ग में दस अध्ययन हैं। तीसरे वर्ग में दृश्यमान अध्ययनों के साथ कुछ एक अध्ययनों की साम्यता है न कि सभी अध्ययनों की। उनमें भी पहले तीन अध्ययनो के चरित्तनायको के नाम मिलते है। अतः यहां पर भी वाचनान्तर की अपेक्षा अध्ययन-विभाग किए गए प्रतीत होते है, न कि उपलभ्यमान वाचना की अपेक्षा से। वृत्तिकार भी इस विषय मे लिखते है—"तदेवमिहापि वाचनान्तरापेक्षयाऽध्ययनविभाग उक्तो न पुनरुपलभ्यमानवाचनापेक्षयेति।"

ऋषिदास, धन्य और सुनक्षत्र, इनका जीवनवृत्त वाचनान्तर और उपलभ्यमान दोनों वाचनाओं मे पाया जाता है। शालिभद्र और दशार्णभद्र का इतिहास आज भी जीवित है। जिस कार्तिक सेठ ने मुनिसुव्रत भगवान के शासन में दीक्षा ली है, वह पहले देवलोक का इन्द्र बना, जिसका नाम शक्र है। प्रस्तुत सूत्र की दशा में चौथा नाम जिस सेठ का है, वह अनुत्तरविमान में उत्पन्न हुआ। इससे जाना जाता है कि यह कार्तिक अन्य है, वह नहीं।

जिस अतिमुक्त कुमार ने पानी में पात्री तैराई थी, वह निर्वाण को प्राप्त हो गया था, अतः यह अतिमुक्त कुमार भी अन्य है, क्योंकि इसका जन्म अनुत्तरविमान में हुआ है। वैसे तो भगवान महावीर के शासन में ८०० साधक अनुत्तरविमानो में उत्पन्न हुए थे, तो भी वर्तमान में उपलब्ध अनुत्तरोपपातिक सूत्र मे कुल ३३ महापुरुषों का ही उल्लेख है।

५. आचारदशा—इसका दूसरा नाम दशाश्रुतस्कन्ध है। इसके दस अध्ययन हैं। पहली दशा मे उन बीस असमाधि स्थानो का वर्णन किया गया है, जिनके सेवन करने से आत्म-विराधना और सयम-विराधना अवश्यमेव हो जाती है, अत: उनका सेवन कभी नही करना चाहिए।

दूसरी दशा में उन इक्कीस शवलदोषों का वर्णन किया गया है, जिन के सेवन से सयम क्षत-विक्षत हो जाता है, अत: वे दोष भी सयमियो के लिये सर्वथा त्याज्य हैं।

तीसरी दशा मे ३३ आशातनाओं का वर्णन है। आशातना उसे कहा जाता है, जिसके करने से विनयधर्म लुप्त हो जाए। गुरुजनों एव पूज्यजनो की अविनय करना ही आशातना है। आशातना भी साधना-प्रगति मे प्रवल बाधक होती है।

चौथी दशा में आचार्य या गणी की आठ सपदाए बतलाई गई हैं। उनके भेद-प्रभेदो का भी इस दशा में विस्तृत वर्णन किया गया है।

पाचवी दशा मे चित्त-समाधि के दस स्थान बतलाए गए हैं।

छट्ठी दशा मे उपासक की ग्यारह प्रतिमाओ का साङ्गोपाङ्ग वर्णन प्राप्त होता है।

सातवी दशा में भिक्षु की १२ प्रतिमाओ का विस्तृत वर्णन है।

आठवी दशा में पर्युषणाकल्प का वर्णन है। चातुर्मास की मर्यादा तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखकर किसी क्षेत्र में चातुर्मास करना पर्युषणाकल्प है। इस दशा में क्रोधादि अप्रशस्त भावों से निवृत्त होकर क्षमायाचना करने के विषय में सविस्तर वर्णन है और साथ ही भगवान महावीर के पञ्च कल्याणको के नक्षत्रों का भी वर्णन है।

नवमी दशा में महामोहनीय कर्म वध के तीस स्थान बतलाए गए हैं।

दसवी दशा मे नौ निदानो का वर्णन है। इन सब बातो का विस्तृत वर्णन देखने के लिये दशाश्रुत-स्कन्ध सूत्र की "गणपति गुणप्रकाशिका" नामक हिंदी टीका विशेष उपयोगी है।

६. प्रश्न व्याकरण-दशा—इसमे प्रश्न और उत्तर, इन दोनों का कथन करनेवाली दशाए हैं, अत: इसे प्रश्नव्याकरण दशा कहा गया है। इस दशा का जो परिचय सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में दिया है, वह भी वाचनान्तर की अपेक्षा से जानना चाहिए। वह परिचय भी वर्तमान मे उपलब्ध नही है। जो दशायें वर्तमान में उपलब्ध है, उन मे पाच आश्रवो और पाच सवरो का ही विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

७. बंधदशा—बन्ध एवं मोक्ष आदि को बतलाने वाली जो दशाएं हैं, वे बधदशा कहलाती है। इस दशा का जो परिचय सूत्रकार ने दिया है, वह दशा वर्तमान में अनुपलब्ध है, किन्तु भावना और विमुक्ति आचाराङ्ग सूत्र के २४वें और २५वें अध्ययन का नाम है। उनका स्वरूप और विषय गुरु परम्परागत से जानना चाहिए।

८. द्विगृद्धिदशा—इस दशा का जो सूत्रकार ने परिचय दिया है, वह दशा भी वर्तमान में अनुपलब्ध है, किन्तु भगवती सूत्र के १६वें शतक में एक स्वप्न उद्देशक देखा जाता है। उसमें स्वप्नों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

९. दीर्घदशा—यह दशा भी स्वरूप से अवगत नही है। फिर भी इसके कितनेक अध्ययन उपाङ्ग सूत्रों में देखने को मिलते है, जैसे कि—चन्द्र, सूर्य, शुक्र और बहुपुत्रिका। ये चार अध्ययन पुष्पिता नामक सूत्र के तीसरे वर्ग मे देखे जाते हैं। श्रीदेवी नाम का अध्ययन पुष्पचूलिका नामक चौथे वर्ग मे देखा जाता है। शेष अध्ययन कही पर भी उपलब्ध नहीं हैं।

१०. सक्षेपिक दशा—यह दशा भी वर्तमान में अनुपलब्ध है, फिर भी उसके अध्ययनों का यह अर्थ जानना चाहिए—

क्षुल्लिका विमान-प्रविभक्ति में आवलिका-प्रविष्ट विमानों तथा पुष्पावकीर्ण लघु विमानों का विस्तृत वर्णन है। महती विमान-प्रविभक्ति में आवलिका प्रविष्ट बड़े विमानों का वर्णन है। अङ्ग सूत्रों पर जो चूलिकाएं हैं, उनका वर्णन जिस अंग में है, वह अगचूलिका कहलाता है, जैसे कि आचाराङ्गचूलिका इत्यादि। जिसमे वर्गो का वर्णन हो, उसे वर्गचूलिका कहते हैं, जैसे कि ज्ञाता धर्म-कथा के दूसरे श्रुतस्कन्ध में वर्ग है। अध्ययनों के समूह को वर्ग कहते हैं। व्याख्याचूलिका-यह भगवती सूत्र की चूलिका है।

अरुणोपपात में अरुण नामक देव के उपपात का वर्णन है। जब कोई साधु इस सूत्र का अध्ययन उपयोग पूर्वक करता है, तब अरुण देव अपने अवधिज्ञान से देखकर अपनी विभूति के साथ उस मुनि के पास आकर वदना करके, उस अध्ययन को सुनता है। अध्ययन की समाप्ति पर वह कहता है आप ने बहुत अच्छा स्वाध्याय किया है, और साथ ही यह भी कहता है—"हे मुने! आप मुझ से कोई वर मागो।" इसके उत्तर मे मुनि कहता है "मुझे मुक्ति के विना अन्य किसी वस्तु की इच्छा नही है।" इतना उत्तर सुनकर वह मुनि को वदन करके अपने स्थान में चला जाता है। इसी तरह वरुणोपपात, गरुलोपपात, वेलधरोपपात और वैश्रवणोपपात देवों के विषय में जानना चाहिए। चूर्णिकार का आश्रय लेकर नन्दीसूत्र के वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि ने अपनी वृत्ति मे इस विषय की बहुत अच्छे प्रकार से व्याख्या की है। जिसका निर्देश ऊपर किया जा चुका है।

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-काल-मान

मूल—दस सागरोवमकोडाकोडीओ कालो उस्सप्पिणीए, दस सागरोवम-कोडाकोडीओ कालो ओसप्पिणीए।५६।

छाया—दश सागरोपम-कोटाकोट्यः काल उत्सर्पिण्याः, दश सागरोपम-कोटाकोट्यः काल अवसर्पिण्याः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—उत्सर्पिणी काल का परिमाण दश सागरोपम कोटाकोटी होता है और अव-

सर्पिणी काल का परिमाण भी दश सागरोपम कोटाकोटी का वर्णन किया गया है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे वर्णित श्रुत का अध्ययन काल विशेष में ही होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे काल का दिग्दर्शन कराया गया है। पांच भरत और पांच ऐरावत, इन दस क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का अस्तित्व पाया जाता है। जिस काल मे निकृष्ट पदार्थ क्षीण हों और उत्कृष्ट एव श्रेयस्कारी पदार्थों की उत्पत्ति विशेप हो एव भाव-विशुद्धि की प्रधानता हो, उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं और जिस काल में अच्छे पदार्थो का ह्रास होता हो और निकृष्ट पदार्थों की उत्पत्ति विशेष हो एव प्राणियों की भावनाए भी प्रायः समुन्नत न हो, उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं।

प्रत्येक काल के छः-छः आरक होते है। प्रत्येक काल दस करोड़ा-करोडी[1] सागरोपम परिमाणवाला होता है, दोनों कालो को मिलाकर एक कालचक्र बनता है। अतीत में जीव को दुर्गतियों में परिभ्रमण करते हुए ऐसे अनन्त काल चक्र बीत चुके हैं और अनागत काल में धर्म के विना अनत बीत जाएगे। इनका सविस्तर वर्णन जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र के काल अधिकार मे किया गया है।

दशविध नैरयिकादि और उनका स्थितिकाल

मूल—दसविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—अणंतरोववन्ना, परंपरोववन्ना, अणंतरावगाढा, परंपरावगाढा, अणंतराहारगा, परपराहारगा, अणंतरपज्जत्ता, परंपरपज्जत्ता, चरिमा, अचरिमा। एवं निरंतरं जाव वेमाणिया।

चउत्थीए णं पंकप्पभाए पुढवीए दस निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता।

रयणप्पभाए पुढवीए जहन्नेणं नेरइयाणं दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता।

चउत्थीए णं पंकप्पभाए पुढवीए उक्कोसेणं नेरइयाणं दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।

पंचमाए णं धूमप्पभाए पुढवीए जहन्नेणं नेरइयाणं दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।

असुरकुमाराणं जहन्नेण दस वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता। एवं जाव थणियकुमाराणं।

---

१. करोड़ की संख्या को करोड़ की संख्या से गुणा करने पर प्राप्त होने वाला गुणनफल।

बायरवणस्सइकाइयाणं उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता ।

वाणमंतरदेवाणं जहन्नेणं दस वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता ।

बंभलोए कप्पे उक्कोसेणं देवाणं दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ।

लंतए कप्पे देवाणं जहण्णेणं दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ।५७।

छाया—दशविधा नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अनन्तरोपपन्नकाः, परम्परोपपन्नकाः, अनन्तरावगाढाः, परम्परावगाढाः, अनन्तराहारकाः, परम्पराहारकाः, अनन्तरपर्याप्ताः, परम्परपर्याप्ताः, चरमाः, अचरमाः । एव निरन्तर यावद्वैमानिकाः ।

चतुर्थ्यां पङ्कप्रभायां पृथिव्यां दश नैरयिका-वास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ।
रत्नप्रभायां पृथिव्यां जघन्येन नैरयिकाणां दशवर्षसहस्राणि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।
चतुर्थ्यां पङ्कप्रभायां पृथिव्यामुत्कर्षेण नैरयिकाणां दश सागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।
पञ्चमायां धूमप्रभायां पृथिव्यां जघन्येन नैरयिकाणां दशसागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।
असुरकुमाराणां जघन्येन दशवर्षसहस्राणि स्थितिः प्रज्ञप्ता । एवं यावत् स्तनितकुमाराणाम् ।

बादरवनस्पतिकायिकानामुत्कर्षेण दशवर्षसहस्राणि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।
व्यन्तरदेवानां जघन्येन दशवर्षसहस्राणि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।
ब्रह्मलोके कल्पे उत्कर्षेण देवानां दशसागरोपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।
लान्तके कल्पे देवानां जघन्येन दशसागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश प्रकार के नारकी कहे गए हैं, यथा—अनन्तरोपपन्न, परम्परोपपन्न, अनन्तरावगाढ, परम्परावगाढ़, अनन्तराहारक, परम्पराहारक, अनन्तर-पर्याप्त, परम्पर-पर्याप्त, चरम और अचरम । इसी प्रकार वैमानिको पर्यन्त निरन्तर कहना चाहिये ।

चौथी पङ्कप्रभा पृथिवी मे दस लाख नरकावास है ।
रत्नप्रभा पृथिवी मे नारकों की जघन्य स्थिति दश हज़ार वर्ष है ।
चौथी पङ्कप्रभा पृथिवी में नारको की उत्कृष्ट स्थिति दश सागरोपम है ।
पाचवी धूमप्रभा पृथिवी मे नारको की जघन्य स्थिति दश सागरोपम है ।
असुरकुमारो की जघन्य स्थिति दश हज़ार वर्ष है । इसी प्रकार स्तनित-कुमारो पर्यन्त समझना चाहिये ।

बादर वनस्पतिकाय के जीवों की उत्कृष्ट स्थिति दश हजार वर्ष है।
व्यन्तर देवों को जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष है।
ब्रह्मलोक मे देवों की उत्कृष्ट स्थिति दश सागरोपम है।
लान्तक देवलोक में देवो की जघन्य स्थिति दश सागरोपम है।

विवेचनिका—

देवों की सभी पर्यायें कालद्रव्य पर निर्भर हैं, अतः इस सूत्र में जीवद्रव्य का वर्णन किया गया है। जब अत्यन्त पाप-कर्म के उदय से जीव नरकगति को प्राप्त करता है, तब वहा अपने द्वारा उपार्जित किए हुए अशुभ कर्मों का फल भोगता है। तीसरे नरक तक नारकी दुःखो का अनुभव प्राय. यम के द्वारा करते है, किन्तु चौथी नरक से लेकर सातवी नरक तक नारकी जीव परस्पर वेदना की उदीरणा करके दुःख भोगते हैं। समय और क्षेत्र के व्यवधान और अव्यवधान आदि की अपेक्षा नारकी जीवो के दस भेदो का कथन इस प्रकार है—

१. अनन्तरोपपन्नक—जिन की उत्पत्ति में अभी एक समय का भी व्यवधान—अन्तर नही पडा है, वे नारकी अनन्तरोपपन्नक हैं।

२ परम्परोपपन्नक—जिन नारकी जीवो को उत्पन्न हुए दो, तीन आदि समय बीत गए हैं, वे परंपरोपपन्नक नारकी कहलाते हैं। ये दोनों भेद काल की अपेक्षा से जानने चाहिए।

३. अनन्तरावगाढ—अव्यवहित आकाश प्रदेशों के अन्दर उत्पन्न होनेवाले नारकी जीव अनन्तरावगाढ कहलाते हैं।

४. परपरावगाढ—विवक्षित प्रदेश की अपेक्षा व्यवधान से उत्पन्न होनेवाले नारकी परम्परावगाढ कहलाते हैं। ये दोनो भेद क्षेत्र की अपेक्षा से समझने चाहिए।

५. अनन्तराहारक—उत्पत्ति के पहले समय मे आहार ग्रहण करनेवाले जीव अनन्तराहारक कहलाते हैं।

६. परम्पराहारक—जो नारकी जीव पूर्व-व्यवहित स्वक्षेत्र में आए हुए पुद्गलो का आहार-करते हैं, वे परम्पराहारक है अथवा पहले समय में आहार करनेवाले अनन्तराहारक और दो आदि समय बीतने पर आहार करनेवाले परम्पराहारक होते हैं।

७. अनन्तरपर्याप्तक—जिन के पर्याप्त होने में एक समय का भी अन्तर नही पड़ा, वे अनन्तर-पर्याप्तक हैं।

८. परंपरपर्याप्तक—उत्पत्ति काल से दो-तीन समय के बाद पर्याप्तक होने वाले परपरा-पर्याप्तक जीव कहलाते हैं। ये दोनो भेद भाव की अपेक्षा से कहे गए हैं।

९. चरम—नारकी भव समाप्त हो जाने के बाद पुनः कभी भी नारकी भव नहीं प्राप्त करने वाले अन्तिम-भव नारक कहलाते हैं।

१०. अचरम—जो नारकी-भव समाप्त होने के बाद फिर कालान्तर में कभी पुन· नारक-भव प्राप्त करनेवाले हैं, ऐसे नारक अचरम कहलाते हैं। ये दोनों भेद भी भाव की अपेक्षा से जानने चाहिए।

जिस तरह नारकी जीवो के दस भेद होते है, वैसे ही २३ दण्डकों के जीवो के विपय मे भी दस भेद समझ लेने चाहिए।

१. चौथी पकप्रभा पृथिवी में दस लाख नारकावास हैं।
२. रत्नप्रभा पृथिवी मे नारकियो की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है।
३. चौथी पङ्कप्रभा पृथिवी में नारकियो की उत्कृष्ट स्थिति दस सागरोपम की है।
४. पाचवी धूमप्रभा पृथिवी मे नारकियों की कम से कम दस सागरोपम की स्थिति है।
५. असुरकुमारो की जघन्य स्थिति दस सागरोपम की है। इसी तरह शेष नव निकाय भवनपति देवो के विषय मे भी जानना।
६. बादर वनस्पतिकायिक जीवों की अधिक से अधिक दस हजार वर्ष की स्थिति है।
७ वानव्यतर देवों की भी कम से कम दस हजार वर्ष की स्थिति है।
८. ब्रह्मदेवलोक मे देवो की अधिकाधिक दस सागरोपम की स्थिति है।
९. लांतक देवलोक मे देवो की स्थिति कम से कम दस सागरोपम की है।

इस सूत्र में शुभ, अशुभ और शुभाशुभ कर्मों का दिग्दर्शन कराया गया है, क्योकि नारकी जीव प्राय: अशुभ कर्मों का फल भोगते हैं। देव प्राय: शुभ कर्मों का और बादरवनस्पति काय के जीव शुभाशुभ कर्मों के फल भोगनेवाले होते है। कर्मों के फल स्थिति द्वारा ही भोगे जा सकते हैं, इसी कारण सूत्रकार ने स्थिति का वर्णन किया है।



कल्याणकारी कर्मोपार्जन के कारण

मूल—दसहिं ठाणेहिं जीवा आगमेसि भद्दत्ताए कम्मं पगरेति, तं जहा—अणिदाणयाए, दिट्ठिसंपन्नयाए, जोगवाहियत्ताए, खतिखमणयाए, जिइंदियत्ताए, अमाइल्लयाए, अपासत्थयाए, सुसामण्णयाए, पवयणवच्छल्लयाए, पवयणउब्भावणयाए ।५८।

छाया—दशभिः स्थानैर्जीवा आगमिष्यद्भद्रतायै कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—अनिदानतया, दृष्टिसम्पन्नतया, योगवाहिकतया, क्षान्तिक्षमणतया, जितेन्द्रियतया, अमायिकतया, अपार्श्वस्थतया, सुश्रामण्यतया, प्रवचनवत्सलतया, प्रवचनोद्भावनतया।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जीवात्मा दश प्रकार से आगामी काल में भद्रता के लिये कर्म उपार्जन करते हैं, जैसे कि निदान न करने से, सम्यग्दृष्टि होने से, उपधान तप करने से, क्षमा करने से, जितेन्द्रिय होने से, निष्कपट होने से, शिथिलवृत्ति त्यागने से, शुद्ध संयम पालने से, प्रवचन की वत्सलता से, प्रवचनकी प्रभावना करने से।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे वर्णित नरक-स्थिति का अवरोध और देवलोकों में अवस्थान भद्र-कर्म करने से ही होता है, अत प्रस्तुत सूत्र में भद्र कर्मों का नामोल्लेख किया गया है। भद्र कर्म करने से सुगति की प्राप्ति होती है। इस सूत्र में बतलाया गया है कि आगामी काल में सुख देनेवाले कर्म दस कारणो से बांधे जाते हैं। इस भव में शुभ कर्म करने मे सर्वोत्तम देवगति प्राप्त होती है। देवलोको से चवने के बाद मनुष्य भव मे उत्तम कुल की प्राप्ति होती है और फिर परमपद की प्राप्ति हो जाती है। वे दस भद्र-कर्म इस प्रकार है, जैसे कि—

१ अनिदानता—मनुष्य-भव मे उपार्जन किए हुए संयम, तप आदि शुभ क्रियाओ के फलस्वरूप देवेन्द्रादि की ऋद्धि-ऐश्वर्य—भौतिक सुख पाने की प्रबल इच्छा करना और अपनी करणी को नश्वर एवं तुच्छ सुख भोग के बदले मे बेच देना निदान है। निदान न करना ही अनिदानता है। निदान से ज्ञानादि आराधना रूप लता काट दी जाती है, तथा निदान वह परशु है, जिसके द्वारा परमानन्द-रसरूप मोक्ष-फल को छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है।[1] सयम-तप करके निदान न करने से आगामी-भव मे सुख देने वाले शुभ कर्मों का बध होता है। अनिदानता को वैदिक सस्कृति निष्काम साधना कहती है।

२. दृष्टिसम्पन्नता—सम्यक्त्व में दृढ रहना, सच्चे देव, गुरु-धर्म और शास्त्र पर दृढ श्रद्धा का होना तथा नव तत्त्वो पर श्रद्धान करना ही दृष्टि-सम्पन्नता है। इस से भी साधक आगामी भव को समुज्ज्वल बनाता है।

३. योगवाहिता—सांसारिक पदार्थो में उत्सुकता का न होना। दूसरे शब्दों मे समाधि की स्थिति ही 'योगवाहिता है'। आगमों के अध्ययन-अध्यापन में लगे रहना, अनुप्रेक्षा, निदिध्यासन करना भी योगवाहिता है। इससे भी साधक आगामी भव को कल्याणकारी बनाता है।

४. क्षान्ति-क्षमणता—यहां क्षान्ति शब्द असमर्थता के व्यवच्छेद के लिये दिया गया है। बदला लेने की शक्ति होते हुए भी शान्ति पूर्वक उसे सहन कर लेना, अपने मे उसका प्रतीकार करने की भावना तक न रखना ही "क्षान्ति-क्षमणता" है। इसमे भी जीव अपना भविष्य उज्ज्वल कर लेता है।

---

१. निदायते—लूयते ज्ञानाद्याराधना लता, आनन्दरसोपेतमोक्षफला येन पशुनेव देवेन्द्रादिगुणर्द्धिप्रार्थनाध्यावसानेन तन्निदानं, अविद्यमानं तद्यस्या सोऽनिदानस्तद्भावस्तत्ता, तया हेतुभूतया निरुक्तयेत्यर्थ.।

५. **जितेन्द्रियता**—अपनी इन्द्रियो को वासनाओं से हटाकर, उन्हें आत्मोत्थान को साधना मे लगाना, जितेन्द्रियता है। इससे भी भावी जन्म सुखप्रद बन जाता है।

६. **अमायाविता**—चारित्र एव तप में किसी प्रकार की माया अर्थात् छल-कपट न करना, संसार से निवृत्त होकर मोक्ष के अभिमुख होना ही अमायाविता है। माया के न करने से आत्मा पर-लोक के लिये शुभ कर्मो का सचय कर लेता है। जिससे वे शुभ कर्म उसके आत्म-विकास के लिये सहायक हो जाते हैं।

७. **अपार्श्वस्थता**—शिथिलाचारी साधु को पार्श्वस्थ और उग्रविहारी साधु को अपार्श्वस्थ कहते है। इसके दो भेद हैं—सर्वपार्श्वस्थ और देशपार्श्वस्थ। रत्नत्रय की विराधना करनेवाला सर्व-पार्श्वस्थ है। विना ही कारण शय्यातर-पिंड, अभिहृतपिंड, नित्य-पिण्ड, नियतपिंड और अग्रपिंड, इनको भोगनेवाला साधु देशपार्श्वस्थ कहलाता है।

जिस गृहस्थ के मकान में साधु ठहरे हुए हों, उस के घर से आहार लेना "शय्यातरपिंड" है। साधु के उद्देश्य से गृहस्थ के द्वारा उपाश्रय में लाया हुआ आहार "अभिहृतपिंड" है। प्रतिदिन एक घर से ही आहार लेना "नित्यपिंड" है। साधु को देने के लिये पहले ही निकालकर रखा हुआ भोजन "अग्रपिंड" कहलाता है। 'मैं इतना आहार आपको रोजाना देता रहूंगा,' दाता के ऐसा कहने पर रोजाना उतना आहार लाना "नियतपिंड" है। उक्त पाच प्रकार का आहार ग्रहण करना साधु के लिये निषिद्ध है। इनमे से किसी एक का सेवन करनेवाला साधु देश-पार्श्वस्थ कहलाता है।

८ **सुश्रामण्यता**—मूलगुण और उत्तरगुणरूप संयम का सम्यक्तया पालन करनेवाला श्रमण कहलाता है। निरतिचार गुणो की आराधना करने से ही सुश्रमणता हो सकती है अर्थात् सुसाधुता से आगामी भव सुखमय बन जाता है।

९. **प्रवचनवत्सलता**—द्वादशाङ्ग वाणी को प्रवचन कहते हैं। प्रवचन का धारक चतुर्विध श्री-सघ होता है। श्रीसघ पर वात्सल्य भाव रखना, हितैषी बनकर रहना प्रवचन-वत्सलता है। शास्त्र और संघ की वत्सलता करने से जीव भावी जन्म को सफल करता है। प्रवचन या सघ के जो प्रत्यनोक है, उनका निराकरण करना, प्रवचन या सघ की रक्षा करना, इन सत् क्रियाओ से जीव बड़ी सरलता से आत्मोत्थान कर सकता है।

१०. **प्रवचन-उद्भावनता**—आगम और सघ के गुणकीर्तन करने से, धर्मकथा तथा वादादि लब्धियों से प्रवचन का वर्णवाद करना, जिस तरह से लोगो के मानस-पटल पर सर्वज्ञोक्त धर्म को छाप पड़ जाए, वैसा प्रयत्न करना। इस तरह से भो जीव अपना कल्याण कर सकता है।

इन दस बातो से जीव आगामी भव के लिये भद्रकारी, सुखकारी और कल्याणकारी शुभ प्रकृतियो का बध करता है। अत: इनकी आराधना की ओर प्रत्येक प्राणी को ध्यान देना चाहिए।

दृष्टिसम्पन्नता सम्यग्दर्शन का पर्यायवाची शब्द है। प्रवचन-वत्सलता और प्रवचनोद्भावना ये दो सम्यग्ज्ञान से सबध रखते हैं। योगवाहिता तप से सबन्ध रखती है, शेष बोल सम्यक्चारित्र से सबध रखने वाले हैं, अत: इन दस बोलों का अंतर्भाव ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में हो जाता है। ❁

आशंसा-प्रयोग

मूल—दसविहे आसंसप्पओगे पण्णत्ते, तं जहा—इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, दुहओलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामासंसप्पओगे, भोगासंसप्पओगे, लाभासंसप्पओगे, पूयासंसप्पओगे, सक्कारसंसप्पओगे ।५६।

छाया—दशविध आशंसाप्रयोगः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—इहलोकाशंसाप्रयोगः, परलोकाशंसाप्रयोगः, द्विधातोलोकाशंसाप्रयोगः, जीविताशंसाप्रयोगः, मरणाशंसाप्रयोगः, कामाशंसाप्रयोगः, भोगाशंसाप्रयोगः, लाभाशंसाप्रयोगः, पूजाशंसाप्रयोगः, सत्काराशंसाप्रयोगः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश प्रकार के इच्छारूप व्यापार का वर्णन किया गया है, जैसे—इहलोकाशंसाप्रयोग, परलोकाशंसाप्रयोग, उभयलोकाशंसाप्रयोग, जीविताशंसाप्रयोग, मरणाशंसाप्रयोग, कामाशंसाप्रयोग, भोगाशंसाप्रयोग, लाभाशंसाप्रयोग, पूजाशंसाप्रयोग, सत्काराशंसाप्रयोग ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे वर्णित तप-संयम की आराधना करते हुए साधक को इच्छा का प्रयोग नही करना चाहिए। आत्मविकास वा निर्वाणपद की प्राप्ति मे जो इच्छाएं विघ्नकारी है, प्रस्तुत सूत्र में उन्ही इच्छाओ का निर्देश किया गया है। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. इहलोकाशंसप्रयोग—आशंसा इच्छा का पर्यायवाची शब्द है। मेरी तपस्या आदि के फलस्वरूप—'मैं इस लोक मे चक्रवर्ती राजा बनू', इस तरह की इच्छा करना "इहलोकाशंसा" है।

२. परलोकाशंसाप्रयोग—इस लोक में तपस्यादि के फलस्वरूप 'मैं इन्द्र, सामानिक, त्रायत्रिंश, लोकपाल आदि देव बनू।' इस तरह परलोक मे इन्द्रादि पद की इच्छा करना "परलोकाशंसाप्रयोग" है। सूत्रकार ने जो इह और पर पद ग्रहण किए हैं, इन का भाव यह है कि जो मनुष्यपर्याय मे वर्त रहा है और फिर भी मनुष्य बनने की आशा रखता है, उसी को इहलोकाशंसाप्रयोग कहते है। मनुष्य से भिन्न परलोक कहा जाता है। जैसे देश और विदेश ये दोनो शब्द अपेक्षा से कहे जाते हैं—अपने-अपने देश की अपेक्षा से सभी मनुष्य स्वदेशी है। पर देश की अपेक्षा से सभीविदेशी कहे जाते हैं। इसी तरह सूत्र में चार लोक प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—नरक लोक, तिर्यञ्चलोक, मनुष्यलोक और देवलोक। ये अपनी-अपनी अपेक्षा से इहलोक हैं और पर की अपेक्षा से परलोक है। जैसे किसी मनुष्य

की मृत्यु हो गई है, कहने मे यही आता है 'वह परलोक चला गया'। इसी तरह परस्पर की अपेक्षा से चारो ही लोक है और चारो ही परलोक है।

३ उभयलोकाशसाप्रयोग—इस लोक में किए गए तपश्चर्यादि के फलस्वरूप परलोक में 'मैं देवेन्द्र वनू और वहा से च्यव कर फिर इस लोक मे मैं चक्रवर्ती आदि राजा वनूं'। इस तरह इहलोक और परलोक दोनो मे इन्द्रादि पद की इच्छा करना "द्विधालोकाशसाप्रयोग" है। सामान्य रूप से यदि देखा जाए तो उक्त तीन ही आशंसा प्रयोग है, किन्तु विशेष विवक्षा से सात भेद और होते है, जो इस प्रकार हैं—

४. जीविताशसाप्रयोग—'मेरी आयु लम्वी हो, मेरा जीवन चिरस्थायी हो'। 'मैं चिरकाल तक सुखी वना रहू', यही इच्छा "जीविताशंसाप्रयोग" है।

५. मरणाशंसाप्रयोग—दु.ख, सकट से घवरा कर ऐसी इच्छा करना—'मेरा मरण शीघ्र हो जाए', इसे "मरणाशसाप्रयोग" कहते है। साधक के लिये ऐसा सोचना भी निषिद्ध है।

६. कामाशंसाप्रयोग—'मुझे प्रिय शब्द और इष्टरूप प्राप्त हों'। शब्द और रूप की काम संज्ञा है। अच्छे-अच्छे शब्द सुनने को मिले और अच्छे-अच्छे रूप देखने को मिले, इसे "कामाशंसाप्रयोग" कहते हैं।

७ भोगाशंसाप्रयोग—गन्ध, रस और स्पर्श इनकी भोग सज्ञा है। 'अभीष्ट गन्ध, रस और स्पर्श मुझे प्राप्त हो', ऐसी इच्छा करना "भोगाशसाप्रयोग" है।

८. लाभाशंसाप्रयोग—'मुझे धन, सत्ता, पुत्र-स्त्री आदि भौतिक सुख साधन प्राप्त हों', ऐसी कामना करना "लाभाशसाप्रयोग" है।

९. पूजाशंसाप्रयोग—'मेरी सव से वढकर कीर्ति, यश, पूजा, प्रतिष्ठा हो', ऐसी इच्छा करना "पूजाशसाप्रयोग" है।

१०. सत्काराशसाप्रयोग—'लोग मेरा वस्त्र-आभूषण आदि से आदर-सत्कार करें', 'मानपत्र दे कर मुझे सम्मानित करें', 'मुझे राजकीय पारितोषिक प्राप्त हो', ऐसी इच्छा करना "सत्काराशंसा-प्रयोग" है। ये १० प्रकार की आशाएं सूत्रकार ने वर्णित की है। मुमुक्षु के लिये तो ये आत्मविकास मे विघ्नरूप ही हैं, किन्तु ससारी जीव भी इन में फंसकर ससारचक्र में दु:खों का अनुभव कर रहे हैं, अत: ये आशाए दु:खों से वचने के लिये और सुखों की वृद्धि के लिये सर्वथा त्याज्य हैं।

ज्ञान मार्ग में इनका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—

१. इस लोक की भावना—श्रेष्ठ व्यक्तियो की संगति एव सेवा मे रहने की इच्छा रखना, जिससे जीवन कल्याण की ओर अग्रसर हो।
२. परलोक की भावना—महापुरुषों का गुण-कीर्तन एवं भक्ति करने का अवसर परलोक में भी प्राप्त हो, ऐसी भावना रखना।
३. उभयलोक की भावना—मेरा जिस किसी गति में भी जन्म हो, वीतराग भगवान की भक्ति में

ही अनुरक्त रहूं, अथवा परोपकार से अपना जीवन-यापन करूं इत्यादि।

४. जीने की भावना—सयम-जीवन की आकाक्षा रखना।

५. मरने की भावना—मेरा मरण सलेखना एव सथारे के साथ समाधिपूर्वक हो, जिससे मेरा पण्डित-मरण हो, ऐसी भावना रखना।

६. काम की भावना—वह दिन धन्य होगा, जब मुझे साक्षात् सतों की वाणी, जिनवाणी सुनने का अवसर प्राप्त होगा, तथा आत्मार्थी मुनिराजो के पवित्र दर्शन करूंगा, ऐसी भावना रखना।

७. भोग की भावना—वह दिन धन्य होगा, जिस गध आदि से मेरी धर्म की भावना उत्तेजित हो जाए, निर्दोष आहार-पानी का समता से उपभोग करू, सयम और तप की आराधना करूं तथा आए हुए परीषह-उपसर्गों को समता से सहन करूंगा। इस तरह गध, रस और स्पर्श के उपभोग की भावना रखना।

८. लाभ की भावना—जो-जो आत्मोन्नति में परम सहायक हैं, उन-उन साधनो को पाने की भावना रखना।

९. पूजा की भावना—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य आदि की स्तुति, कीर्ति, गुणोत्कीर्तन करना, अपनी पूजा की भावना नही, किन्तु गुणीजनों की पूजा-स्तुति आदि की भावना करना हितकर है।

१०. सत्कार की भावना—गुणीजन साधु या साध्वी का बहुमान करना, वस्त्र-पात्र, मकान, आहार-पानी आदि देकर उनका सत्कार करना, इस तरह सत्कार की भावना रखना। इस प्रकार ये दस शुभ भावनाए उपादेय भी हो सकती है।

पूर्व प्रकार के "आशसा-प्रयोग" ही एक प्रकार से 'निदान' माने जाते हैं। इच्छा-निरोध रूप तप ही निदान भावना पर नियन्त्रण कर सकता है और निदान-नियन्त्रण होने पर ही साधनापथ पर अग्रसर हुआ जा सकता है। क्योकि इच्छारूप व्यापार से आत्मा का पतन होता है और सद्भावना से उत्थान हुआ करता है।

दशविध धर्म

मूल—दसविहे धम्मे पण्णत्ते, तं जहा—गामधम्मे, नगरधम्मे, रट्ठधम्मे, पासंड-धम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुयधम्मे, चारित्तधम्मे, अत्थिकाय-धम्मे।५९।

छाया—दशविधो धर्मः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ग्रामधर्मः, नगरधर्मः, राष्ट्रधर्मः, पाषण्डधर्मः, कुलधर्मः गणधर्मः, संघधर्मः, श्रुतधर्मः, चारित्रधर्मः, अस्तिकायधर्मः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश प्रकार का धर्म वर्णन किया गया है, जैसे—ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-

धर्म, पाखण्ड-धर्म, कुल-धर्म, गण-धर्म अर्थात् समाचारी, संघ-धर्म, श्रुत-धर्म, चारित्र-धर्म और अस्तिकाय-धर्म।

विवेचनिका—

जिन इच्छाओ का उल्लेख पहले सूत्र में किया जा चुका है, उनके स्थान में किसी जीव के हृदय मे धर्म-भावना भी हो सकती है। अत: प्रस्तुत सूत्र मे दस प्रकार के धर्मों का उल्लेख किया गया है।

धर्म शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है, जिस वस्तु का जो स्वभाव है, वही उसका धर्म है। जिस वस्तु या व्यक्ति की वह वृत्ति जो कभी भी उससे अलग न हो, जैसे पानी मे शीतत्व, अग्नि में उष्णत्व, आत्मा मे चेतनत्व, ये सब उनके सदाकालभावी धर्म है।

धर्म का दूसरा अर्थ है—वह कर्त्तव्य जिसका करना किसी सम्बन्ध, स्थिति, तथा गुण विशेष के विचार से उचित और आवश्यक हो। किसी जाति, वर्ण, पद आदि के लिये निश्चित किया हुआ कार्य-व्यवहार भी धर्म है, जैसे कि ब्राह्मण का धर्म, शूद्र का धर्म इत्यादि।

धर्म का तीसरा अर्थ है—वह वृत्ति या आचरण जो लोक या समाज की स्थिति के लिये आवश्यक हो, अथवा वह आचार जिसके द्वारा समाज की रक्षा एव सुख-शान्ति की वृद्धि हो और परलोक मे भी उत्तम गति प्राप्त हो।

धर्म का चौथा अर्थ है— उन आपसी व्यवहार सबधी नियमो का पालन जो किसी राष्ट्र या आचार्य आदि युग-प्रवर्तक नेता या मध्यस्थ आदि के द्वारा स्थापित किए गए हो।

धर्म का पाचवा अर्थ है—उचित-अनुचित का विचार करनेवाली चित्तवृत्ति, जसे कि मानवता।

धर्म का छटा अर्थ है—किसी आचार्य आदि द्वारा प्रवर्त्तित ईश्वर, परलोक आदि के सम्बन्ध में विशेषरूप का विश्वास एव आराधना की विशेष प्रणाली, पथ, सम्प्रदाय, मत आदि। धर्म के इन सभी अर्थों का ग्रहण यथासभव किया जा सकता है। ग्राम धर्म आदि दस प्रकार के धर्मों का विवरण निम्नलिखित है—

१. ग्राम-धर्म—प्रत्येक ग्राम का भिन्न-भिन्न आचार, रीति-रिवाज एव व्यवस्था आदि जो भी होती है, वह ग्राम धर्म है। धर्म शब्द इस स्थान पर व्यवस्था का वाचक है। यदि उन आचारो एव व्यवस्थाओ मे किसी प्रकार की न्यूनता हो जाए, तो उसे ठीक करना, तथा ग्राम-प्रमुख आदि ग्राम को सुधारने के लिये जिस व्यवस्था और नीति का निर्धारण करते है वही सुव्यवस्था ग्राम-धर्म है। यदि ग्राम मे आहार, व्यवहार, व्यापार, क्रियानुष्ठान आदि न्याय-पूर्वक होते हो, तो ग्राम उन्नति के शिखर पर पहुंच जाता है।

२. नगर-धर्म—प्रत्येक नगर का देश की प्रकृति के अनुकूल आचार-विचार भिन्न-भिन्न होता है, इसी कारण उनकी व्यवस्था भी अलग-अलग होती है। वह व्यवस्था यदि न्याय-पूर्वक हो तो

किसी प्रकार से भी नगरवासियों को हानि नही उठानी पडतो। व्यवस्था मे कमी आ जाने से लोग उच्छृंखल एव उद्दण्ड हो जाते है। उनकी सुव्यवस्था आहार, व्यवहार, व्यापार, वेष-भूषा, आचार आदि विधि-विधान पर ही निर्भर हुआ करती है। अतः नगर की सुव्यवस्था ही नगरधर्म है।

३. **राष्ट्र-धर्म**—देश की व्यवस्था का विधि-विधान न्याय-पूर्वक होना ही राष्ट्रधर्म है, क्योकि जब देश की व्यवस्था नियम पूर्वक होती है, तब देश सब तरह से समृद्ध होता है। जब देश में दुर्व्यवस्था होती है, तब देशवासियों को अनेक आपत्तियों का सामना करना पडता है। न्याय पूर्वक चलने से ही देश दुःखों से विमुक्त हो सकता है। आहार, व्यवहार, व्यापार, भाषा, वेष, शिक्षण-रक्षण की पद्धति यदि न्याय-पूर्वक होगी, तभी देश की स्वतत्रता सुरक्षित रह सकती है। न्याय-नीति के बिना देश की वही दशा होती है जैसे धन-रहित ऋणी पुरुष की होती है।

४. **पाषण्ड-धर्म**—पाषण्ड शब्द का अर्थ धर्म का ढोग, मिथ्यादर्शन, व्रत, चरकतापस आदि होता है। पाषण्डियो द्वारा ग्रहण किए हुए व्यवहार विशेष को पाषड-धर्म कहा जाता है। स्थूल एव सूक्ष्म सब तरह के पापो तथा दोषो से निवृत्त होना चारित्र है। स्थूल पापो से निवृत्त होना, सूक्ष्म से नही, वह देशचारित्र है। जिसका त्याग गजस्नान की तरह हो, उसे भी पाषण्ड-धर्म ही कहा जाता है। विविध सप्रदायवालो का आचार इसी में गर्भित है।

५. **कुल-धर्म**— लोक पक्ष एक जाति, एक गोत्र और एक परिवार में जो आहार, व्यवहार एव आचार विशेष निर्धारित होता है, उसे कुल-धर्म कहा जाता है। धर्म पक्ष मे एक गच्छ की जो सामाचारी है, वही कुल-धर्म है।

६ **गण-धर्म**—कुलों के समुदाय को गण कहते है। गण चाहे सासारिक हो या धार्मिक, उनका जो भी आचार विशेष है, या साधु समाचारी है, उसे गण-धर्म कहते है। गण शब्द समूहवाची है, इसी को आजकल बिरादरी कहते है। उस समाज की, बनाई हुई व्यवस्था के पालन को गण-धर्म कहा जाता है।

७. **सघ-धर्म**—जिस मे कुलो और गणो का समूह एकत्रित हो, उसे सघ कहते है। जैसे राष्ट्रीय सघ, चतुर्विध सघ आदि। चतुर्विध श्रीसघ की बनाई हुई सामाचारी सघ-धर्म है। सामाचारी का वास्तविक अर्थो मे पालन करना सघ-धर्म है।

८. **श्रुत-धर्म**—आचारागादि श्रुत-साहित्य का विधि पूर्वक अध्ययन-आध्यापन करना श्रुत-धर्म है, अथवा जो दुर्गति मे गिरते हुए जीव को सुगति मे पहुचाए, उसे श्रुत-धर्म कहते हैं। श्रुत-धर्म से यह सम्यक् श्रुत का ग्रहण किया गया है। जिस श्रुत में धर्म का वर्णन किया गया है वह भी श्रुत-धर्म है अथवा जिस श्रुत से धम का प्रवाह निकला है, उसे भी श्रुत-धर्म कहते हैं अथवा जिस धर्म की आराधना श्रुत के अनुसार की जाए, वह श्रुत-धर्म है।

९. **चारित्र-धर्म**—जिस से कर्मसमूह आत्मा से अलग हो जाए, वह चारित्र है अथवा जिन उपायो द्वारा आत्मा को सचित कर्मो मे मुक्त किया जा सकता है, इसी को चारित्र धर्म कहा जाता है। पांच महाव्रत, पाच समितियां, तीन गुप्तिया, १० प्रकार का श्रमण-धर्म, बारह भिक्षु प्रतिमाए, पिड-विशुद्धि इत्यादि जितने भी क्रियानुष्ठान हैं, उन सब का अन्तर्भाव चारित्र-धर्म में हो जाता है।

१०. अस्तिकाय-धर्म—अस्ति शब्द प्रदेशो का वाची है और काय शब्द राशि का। जीव और पुद्गल की गति मे सहायक यदि कोई द्रव्य है तो वह धर्मास्तिकाय है। जैसे मत्स्य की गति मे जल सहायक है और पक्षी की गति मे आकाश सहायक है, वैसे ही जीव और पुद्गल की गति मे धर्मास्तिकाय सहायक होता है।[1]

दस प्रकार के स्थविर

मूल—दस थेरा पण्णत्ता, तं जहा—गामथेरा, नगरथेरा, रट्ठथेरा, पसत्थारथेरा, कुलथेरा, गणथेरा, संघथेरा, जाइथेरा, सुअथेरा, परियायथेरा।६०।

छाया—दश स्थविराः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ग्राम-स्थविराः, नगर-स्थविराः, राष्ट्र-स्थविराः, प्रशास्तृ-स्थविराः, कुल-स्थविराः, गण-स्थविराः, संघ-स्थविराः, जाति-स्थविराः, श्रुत-स्थविराः, पर्याय-स्थविराः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश प्रकार के स्थविर वर्णन किये गए है, जैसे—ग्राम-स्थविर, नगर-स्थविर, राष्ट्र-स्थविर, प्रशास्ता-स्थविर, कुल-स्थविर, गण-स्थविर, संघ-स्थविर, जाति-स्थविर, श्रुत-स्थविर और पर्याय-स्थविर।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में ग्रामादि धर्मों का वर्णन किया गया है, ग्रामादि धर्म स्थविरकृत होते है, अतः इस सूत्र मे दस स्थविरो का वर्णन किया गया है। उन्मार्ग मे प्रवृत्त मनुष्य को जो सन्मार्ग मे स्थिर करे, उसे स्थविर कहते हैं। स्थविर दस तरह के होते है—

१. ग्राम-स्थविर—गांव की व्यवस्था करनेवाला बुद्धिमान तथा प्रभावशाली व्यक्ति जिसका वचन सभी मानते हो, वह ग्राम-स्थविर कहलाता है। ग्राम की व्यवस्था पचायत करती है और सरपच ग्राम का सबसे बडा स्थविर माना जाता है।

२. नगर-स्थविर—नगरपालिका में जो विधान बनता है, वह नगर की रक्षा के लिये होता है। नगरपालिका के जितने सदस्य होते हैं, वे सब स्थविर हैं। उनमे जो प्रधान है, वह प्रधान-स्थविर है। बहुत बड़े नगरों मे कार्पोरेशन होता है, उसका प्रधान मेयर होता है, वह भी स्थविर कहलाता है। प्रान्त के रक्षक एव व्यवस्थापक विधान सभा के सदस्य होते है, मुख्यमन्त्री तथा उन सबमें

१. दश प्रकार के धर्म की व्याख्या के लिये देखिए "जैन-तत्त्व-कलिका-विकास" नामक ग्रन्थ।

मुख्य राज्यपाल होता है। उपर्युक्त सभी ग्रामादि प्रमुख स्थविर ही कहलाते हैं।

३. राष्ट्र-स्थविर—राष्ट्र के माननीय एव प्रभावशाली नेता राष्ट्र-स्थविर हैं। अनेक प्रान्तो के समुदाय को राष्ट्र कहते हैं। उसकी व्यवस्था, रक्षण, शिक्षण एव पोषण का -दायित्व लोकसभा के सदस्यो, प्रधान-मन्त्री एव राष्ट्रपति पर होता है। ये सब राष्ट्र-स्थविर ही कहलाते है तथा उन्हे मार्ग-सकेत करनेवाले भी इसी कोटि के माने जाते हैं। राजनीति के द्वारा जनता की देख-भाल, रहन-सहन, खान-पान इत्यादि व्यवस्था करनेवाले सभी राष्ट्रस्थविर है।

४. प्रशास्तृ-स्थविर—धर्मोपदेश देनेवाले महामानव प्रशास्तृ स्थविर कहलाते हैं। कहा भी है ' प्रशासति—शिक्षयन्ति ये, ते प्रशास्तारः, धर्मोपदेशकास्ते च ते स्थिरीकरणात् स्थविराश्चेति प्रशास्तृ-स्थविरः," । धर्मोपदेशक तथा शिक्षा देनेवाले सभी इसी कोटि मे माने जाते है।

५. कुल-स्थविर—लौकिक तथा लोकोत्तरिक कुल की व्यवस्था करनेवाले जो व्यवस्थापक है, और उस व्यवस्था को तोड़ने वाले व्यक्ति को दडित करना यह कुल-स्थविर का कर्त्तव्य है।

६. गण-स्थविर—सज्जनो की रक्षा, दुष्टो को दड, इस तरह की नीति जिस समुदाय मे हो उसे गण कहते है। गण की व्यवस्था करनेवाले गण-स्थविर कहलाते हैं। बिरादरी की कार्यकारिणी समिति के प्रधान गणी और प्रवर्त्तक, ये सब गणस्थविर ही होते हैं।

७. संघ-स्थविर—बहुत बड़े सघ की व्यवस्था करनेवाला व्यक्ति सघस्थविर कहलाता है। उसे दूसरे शब्दो में सघपति भी कह सकते है। संघ का रक्षण-शिक्षण एव पोषण करनेवाले आचार्य इसी कोटि मे आ जाते हैं।

८. जाति-स्थविर—जिसकी आयु ६० वर्ष से अधिक हो और जो सघ व्यवस्था में कुशल हो, वह जाति-स्थविर माना जाता है।

९. श्रुत-स्थविर—स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग सूत्रो के ज्ञाता श्रुतस्थविर कहलाते हैं।

१०. पर्यायस्थविर—बीस वर्ष से अधिक दीक्षा पर्यायवाला पर्यायस्थविर कहलाता है।

ये दस स्थविर देश काल और धर्म को लक्ष्य मे रखकर ग्रामादि की रक्षा के लिये नियमो का निर्माण करनेवाले होते है। कवि, पण्डित, नेता और साधु ये समाज को जिधर भी ले जाना चाहे ले जा सकते हैं। धर्म-स्थविर समाज को सुसंगठित और सुव्यवस्थित बनाता है। उसके विधान के अनुसार सदाचार का आचरण ही धर्म है।

दस प्रकार के पुत्र

मूल—दस पुत्ता पण्णत्ता, तं जहा—अत्तए, खेत्तए, दिन्नए, विण्णए, उरसे, मोहरे, सोंडीरे, संबुद्धे, उवयाइए, धम्मंतेवासी।६१।

छाया—दश पुत्रा: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आत्मजः, क्षेत्रजः, दत्तकः, विनयितः, औरसः, मौखरः, शौण्डीरः, संवर्द्धितः, औपयाचितकः, धर्मान्तेवासी ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश प्रकार के पुत्र होते है, जैसे–आत्मज, क्षेत्रज, दत्तक, विनयित, औरस, मौखर, शौण्डोर, संवर्द्धित, उपयाचित और धर्मान्तेवासी अर्थात् शिष्य ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे स्थविरो का परिचय दिया गया है, वे स्थविर ही अपने आश्रितजनों को पुत्र की तरह शिक्षित करते है, अत: प्रस्तुत सूत्र में दस प्रकार के पुत्रों का वर्णन किया गया है। अपने वश की मर्यादाओ की रक्षा करनेवाली सन्तति ही पुत्र कहलाती है, अथवा अपने कुल को पवित्र करनेवाला पुत्र होता है। "पुनाति पितर पाति वा पितृमर्यादामिति पुत्रः" । पुत्र के दस भेदों का विवरण निम्नलिखित हैं—

१. आत्मज—जो पुत्र पिता के नाम से प्रसिद्ध हो, उसे आत्मज कहते है । जो पिता के शरीर से उत्पन्न हुआ है, उसको भी आत्मज कहते हैं, क्योंकि अस्थि, मिंजी, केश, नख आदि शरीर के तत्त्व पिता के वीर्य से उत्पन्न होते है । मास, रुधिर और मस्तिष्क, ये माता के रुधिर तत्त्व से उत्पन्न होते हैं। इस स्थान पर इस बात का विधान है कि "आत्मन अर्थात् पितृशरीराज्जातः"—पिता के शरीर से उत्पन्न हुआ, जैसे भरत का पुत्र आदित्ययश । "आत्मा वै जायते पुत्रः" इस उक्ति के अनुसार पिता की आत्मा ही पुत्र के रूप में अवतरित होती है, और प्रथम पुत्र में पिता के शारीरिक तत्व अधिक रहते है । यही कारण है कि हमारे देश मे ज्येष्ठ पुत्र को ही पारिवारिक दायित्व समर्पित किए जाते हैं।

२. क्षेत्रज—इस स्थान पर क्षेत्र शब्द का अर्थ भार्या है, उससे उत्पन्न होने वाले पुत्र को क्षेत्रज कहते है । अथवा जो किसी रोगी, असमर्थ या अयोग्य व्यक्ति की विना सतानवाली स्त्री या मृत पुरुष की विना सतान वाली विधवा से दूसरे पुरुष के सयोग से उत्पन्न हुआ हो, वह पुत्र भी क्षेत्रज कहलाता है ।[1] अथवा जो पुत्र माता के नाम से प्रसिद्ध हो, वह भी क्षेत्रज कहलाता है ।

३. दत्तक—जो दूसरे को दे दिया जाए, वह दत्तक कहलाता है। अर्थात् जो गोद लिया पुत्र हो, वही दत्तक है ।

४. विनयित—जो अध्यापक अपने छात्रों को पुत्र तुल्य समझता है, और अक्षर-ज्ञान या धार्मिक ज्ञान देते समय जो गुरु शिष्य को पुत्र की तरह मानता है, ऐसे पुत्र व शिष्य को विनयित कहते है ।

५ औरस—समान जाति की विवाहिता स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र अथवा जिस बच्चे को किसी व्यक्ति पर अपने पिता के समान स्नेह पैदा हो गया हो, वह बच्चा भी औरस पुत्र कहलाता है ।

---

१. क्षेत्र— भार्या तस्याः जातः क्षेत्रजो यथा पण्डो: पाण्डवाः, लोकरूढ्या तद्भार्यायाः कुन्त्या एव तेषा पुत्रत्वात्, न तु पण्डो. धर्मादिभिर्जनितत्वादिति ।

—इति वृत्तिकार.,

६. मौखर—जो किसी की स्तुति-चापलूसी एव खुशामद करके अपने आपको किसी का पुत्र कहाता है, इस दृष्टि से स्तुति-पाठक या खुशामदी व्यक्ति भी मौखर पुत्र कहलाता है।

७. शौंडीर—रणाङ्गण में कोई शूर पुरुष किसी दूसरे पुरुष को अपने अधीन कर लेता है, तब वह अधीन किया हुआ पुरुष यदि अपने को उसका पुत्र मानने लग जाए, तो वह शौण्डीर पुत्र कहलाता है। विजय किए हुए देशवासियों को भी शौण्डीर पुत्र कहा जा सकता है। इसी से राजा को राष्ट्रपिता माना जाता है।

८. संवर्द्धित—भोजन आदि देकर जिस अनाथ बालक को पाला-पोसा जाय, उसे सर्वाद्धित पुत्र कहा जाता है।

९. उपयाचित—देव या देवी की आराधना करने से जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसे उपयाचित पुत्र कहते है। जैसे अतकृत् दशा में बताया है कि सुलसा सेठानी के ६ पुत्र थे तथा गजसुकुमारादि देव आराधना से प्राप्त हुए थे।

१०. अंतेवासी—जो गुरु के समीप रहे, उसे अतेवासी कहते है। धर्म उपार्जन के लिये या सयमी जीवन का निर्वाह करने के लिये जो धर्म-गुरु के समीप रहता है या विनय-भक्ति से गुरु के हृदय में निवास करता है, उसे अतेवासी-शिष्य कहते है। शिष्य भी धर्म-शिक्षा की अपेक्षा से अतेवासी पुत्र कहलाता है। उत्तराध्ययन सूत्र के पहले अध्ययन में "बुद्धपुत्त नियागट्ठी" के रूप मे मोक्षार्थी शिष्य को आचार्य का पुत्र माना गया है। आचार्य के अत वासी को सूत्रकार ने पुत्र कहा है। पुत्रवत् स्नेह होने के कारण व्यवहार नय के मत से पुत्र दस प्रकार के कहे है।

केवली के दस अनुत्तर

मूल—केवलिस्स ण दस अणुत्तरा पण्णत्ता, तं जहा—अणुत्तरे णाणे, अणुत्तरे दंसणे, अणुत्तरे तवे, अणुत्तरे चरित्ते, अणुत्तरे वीरिए, अणुत्तरा खती, अणुत्तरा- मुत्ती, अणुत्तरे अज्जवे, अणुत्तरे मद्दवे, अणुत्तरे लाघवे।६२।

छाया—केवलिनो दश अनुत्तराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अनुत्तरं ज्ञानम्, अनुत्तरं दर्शनम्, अनुत्तरं तपः, अणत्तरं चारित्रम्, अनुत्तरं वीर्यम्, अनुत्तरा क्षान्तिः, अनुत्तरा मुक्तिः, अनुत्तरं मार्जवम्, अनुत्तरं मार्दवम्, अनुत्तरं लाघवम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—केवली के दश अनुत्तर अर्थात् प्रधान वर्णन किए गए हैं, जैसे—प्रधान- ज्ञान, प्रधान दर्शन, प्रधान चारित्र, प्रधान तप, प्रधान शक्ति, प्रधान क्षमा,

प्रधान निर्लोभता, प्रधान सरलता, प्रधान कोमलता और प्रधान लाघव।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में दस प्रकार के पुत्रो का वर्णन किया गया है। उनमें से अन्तिम पुत्र धर्मान्तेवासी बताया गया है। धर्मान्तेवासी अर्थात् साधना-सम्पन्न शिष्य ही केवली होने के प्रत्याशी होते है, अतः प्रस्तुत सूत्र में केवली भगवान के दस अनुत्तर गुणों का वर्णन किया गया है। जिससे कोई गुण अन्य वस्तु प्रधान न हो, अथवा जो गुण या वस्तु सबसे उत्तम हो, उसे अनुत्तर कहते है।[1] केवली में जो दस अनुत्तर अर्थात् विशेषतम गुण होते है, उनका विवरण इस प्रकार है—

१. अनुत्तर ज्ञान—ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय कर देने के कारण केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। केवल ज्ञान से बढ़कर दूसरा कोई ज्ञान नही है। इस कारण केवली भगवान का ज्ञान अनुत्तर माना जाता है।

२. अनुत्तर दर्शन—दर्शनावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय कर देने से उन्हें केवल दर्शन उत्पन्न होता है। चार दर्शनो मे केवलदर्शन प्रधानतम दर्शन है और वह केवली में होता है।

३. अनुत्तर चारित्र—जैसे पाच ज्ञानो में केवल ज्ञान और चार दर्शनों में केवलदर्शन की प्रधानता है, वैसे ही पाच चारित्रो में यथाख्यात चारित्र की प्रधानता है। मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय करने से अनुत्तर चारित्र उत्पन्न होता है, यह अनुत्तर चारित्र भी केवली में ही हुआ करता है।

४. अनुत्तरतप—केवली के द्वारा जो शुक्ल ध्यानादि रूप तप किया जाता है, वह तप भी अनुत्तर तप होता है।

५. अनुत्तरवीर्य—अन्तराय कर्म के आत्यन्तिक क्षय करने से आत्मा में अनन्त शक्तिया उत्पन्न होती हैं। जिस शक्ति से बढकर अन्य कोई शक्ति न हो, उसे अनुत्तरवीर्य कहते हैं। यह शक्ति भी केवली मे ही होती है।

६. अनुत्तर क्षान्ति—जब तक आत्मा में क्रोध, ईर्ष्या और द्वेष की सत्ता है, तब तक क्षमा या शान्ति ससीम रहती है। उन प्रकृतियो के सर्वथा क्षय करने से ही निःसीम क्षमा एव शान्ति का केवली मे आविर्भाव होता है।

७. अनुत्तर मुक्ति—लोभ की मदता में भी सतोप की सीमा बनी ही रहती है। लोभ प्रकृति के सर्वथा विलय होने पर लोभ और परिग्रह से छुटकारा पाना ही मुक्ति है, जिस को दूसरे शब्दो में परम-सतोष कह सकते हैं। इस प्रकार का अनुत्तर-सतोष भी केवली मे ही पाया जाता है।

८. अनुत्तर-आर्जव—माया-ममता से सर्वथा विलग होने पर ही सोलह कला पूर्ण आर्जव गुण केवली भगवान मे ही उत्पन्न होता है।

९ अनुत्तर-मार्दव :—आत्मा में कठोरता उत्पन्न करनेवाला अवगुण मान है। उस से सदा के लिये सर्वथा निवृत्त हो जाना ही अनुत्तर-मार्दव गुण है वह भी केवली में उत्पन्न होता है।

१. नास्त्युत्तर प्रधानतर येभ्यस्तान्युत्तराणि, इति वृत्तिकार:

१०. अनुत्तर लाघव—घाति कर्मों के क्षय होने पर केवली के हृदय पर किसी भी प्रकार का सांसारिक बोझ नही रह जाता, केवली में यह गुण अनुपम ही होता हैं। क्षान्ति आदि पाचों यथाख्यात चारित्र के ही भेद हैं और वे चारित्र मोहनीयकर्म के क्षय से ही उत्पन्न होते हैं। सामान्य मुनि इनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न-शील रहते है।

अनुत्तर-ज्ञान और अनुत्तर-दर्शन, ये दो साध्य हैं, शेष आठ गुण साधन है। साधन के बिना साध्य का ज्ञान नही हो सकता है और ज्ञानाभाव मे उसकी प्राप्ति असम्भव ही हो जाती है। ये दस अनुत्तर-गुण प्रत्येक साधक के लिये साध्य-रूप है, अतः इन्हे मनुष्य-जीवन का ध्येय माना जा सकता हैं।

मनुष्य लोक में सर्वोत्तम भोग भूमि

मूल—समयखेत्ते णं दस कुराओ पण्णत्ताओ, त जहा—पंचदेवकुराओ, पंच उत्तरकुराओ। तत्थ णं दस महइमाहल्लया महद्दुमा पण्णत्ता, तं जहा—जंबू सुदंसणे, धायइरुक्खे, महाधायइरुक्खे, पउमरुक्खे, महापउमरुक्खे। पंच कूडसामलीओ। तत्थ णं दस देवा महिड्ढिया जाव परिवसंति, तं जहा—अणाढिए जंबुद्दीवाहिवई सुदंसणे, पियदंसणे, पोंडरीए, महापोंडरीए। पंच गरुला वेणुदेवा।६३।

छाया—समयक्षेत्रे दश कुरवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पञ्चदेवकुरवः, पञ्च उत्तरकुरवः। तत्र दश महातिमहालया महावृक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जम्बूसुदर्शनः, धातकीवृक्षः, महाधातकीवृक्षः, पद्मवृक्षः, महापद्मवृक्षः। पञ्च कूटशाल्मलयः। तत्र दश देवा महर्द्धिका यावत् परिवसन्ति, तद्यथा—अनाहृतो जम्बूद्वीपाधिपतिः सुदर्शनः, प्रियदर्शनः, पुण्डरीकः, महापुण्डरीकः। पञ्च गरुडा वेणुदेवाः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—समयक्षेत्र—ढाई द्वीप परिमाण मनुष्य क्षेत्र में दश कुरु वर्णन किये गए हैं, जैसे—पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु। वहां पर अतिविस्तारवाले दस महावृक्ष कहे गये है, यथा—जम्बूसुदर्शन, धातकीवृक्ष, महाधातकीवृक्ष, पद्मवृक्ष और महापद्मवृक्ष। पांच कूट शाल्मलि वृक्ष है। वहां दश महान् ऋद्धिवाले दश देव यावत् निवास करते है, जैसे—अनाहृत जम्बूद्वीपाधिपति, सुदर्शन, प्रियदर्शन, पुण्डरीक, महापुण्डरीक तथा पांच गरुडवेणुदेव।

विवेचनिका—

पूर्व सूत्र मे दस अनुत्तरों का वर्णन किया गया है, अनुत्तर-ज्ञान' दर्शनादि से सम्पन्न केवली ही विशाल लोक का परिचय दे सकते है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे विशाल समयक्षेत्र का वर्णन किया गया है।

चन्द्रमा एवं सूर्य की गति से व्यावहारिक काल माना जाता है। चन्द्र-सूर्य की गति अढाई द्वीप के अन्तर्गत ही है। इसी कारण ढाई द्वीप को समयक्षेत्र कहते है। उसमें एक देवकुरु और एक उत्तरकुरु जबूद्वीप मे, दो देवकुरु और दो उत्तरकुरु, धातकी खण्ड मे, इसी तरह दो देवकुरु और दो उत्तरकुरु पुष्करार्द्धद्वीप में है। समयक्षेत्र में कुल पांच देवकुरु है और पाच उत्तरकुरु है। इन पाच उत्तर-कुरुओ में पाच महावृक्ष है, जिनके नाम है—जम्बू-सुदर्शना, धातको वृक्ष, महाधातको वृक्ष, पद्ममवृक्ष और महापद्म वृक्ष। ये वृक्ष अति विशाल एव सदाकाल भावो हैं। पाच देवकुरुओं मे पाँच कूट-शाल्मली वृक्ष है, वे वृक्ष भी अतिविशाल एव सदाकाल भावी है।

सुदर्शना नामक जवूवृक्ष पर अनाहत नाम का देव रहता है, जिसका आधिपत्य इस जबूद्वीप पर है। शेष चार वृक्षों पर क्रमशः सुदर्शन, प्रियदर्शन, पौडरीक और महापौडरीक नामक देवो का आधिपत्य है।

पांच कूटशाल्मली वृक्षो पर पांच गरुडवेणुदेवो का निवास है। इनका पूर्ण विवरण जबूद्वीप प्रज्ञप्ति तथा जीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति मे प्राप्त होता है।

अवगाढ दुःषम और सुषम काल के लक्षण

मूल—दसहि ठाणेहिं ओगाढं दुस्समं जाणेज्जा, तं जहा—अकालेवरिसइ, काले न वरिसइ, असाहू पुइज्जंति, साहू ण पुइज्जंति, गुरुसु जणो मिच्छ पडि-वन्नो, अमणुण्णा सद्दा जाव फासा।

दसहिं ठाणेहि ओगाढ सुसमं जाणेज्जा, तं जहा—अकाले न वरिसइ, तं चेव विवरीय जाव मणुण्णा फासा।६४।

छाया—दशभिः स्थानैरवगाढां दुष्षमां जानीयात्, तद्यथा—अकाले वर्षति, काले न वर्षति, असाधवः पूज्यन्ते, साधवो न पूज्यन्ते, गुरुषु जनो मिथ्यां प्रतिपन्नः, अमनोज्ञाः शब्दा, यावत्स्पर्शाः।

दशभिः स्थानैरवगाढां सुषमां जानीयात्, तद्यथा—अकाले न वर्षति, तदेव विपरीत यावन्मनोज्ञाः स्पर्शाः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश कारणों से विषम समय जाना जाता है, जैसे—बिना समय वर्षा होती है, समय पर वर्षा नहीं होती, असाधुजन पूजा प्राप्त करते है, साधुजनों की पूजा नहीं होती, अपने गुरुजनों पर मिथ्याभाव का होना, अमनोज्ञ शब्द यावत् अमनोज्ञ स्पर्श का होना ।

दश कारणों से सुषम समय का ज्ञान होता है, जैसे—अकाल में नहीं बरसता, वही उपर्युक्त सभी कारण विपरीत हों यावत् मनोज्ञ स्पर्श जानने चाहिये।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे समयक्षेत्र का वर्णन किया गया है। वह समय-क्षेत्र विभिन्न समयो में दुःषम-सुषम कालों से व्याप्त होता है। अतः प्रस्तुत सूत्र में अतीव दुःषम और सुषम काल को जानने के लक्षण बतलाए गए हैं। दस कारणों से दुषम काल की पहचान की जा सकती है, जंसे कि—

१. अकाल में वृष्टि का होना।
२. काल में वृष्टि का न होना।
३. असाधुओ की पूजा का होना।
४. साधुओं की पूजा का न होना।
५. मान्यपुरुषों की विनय-भक्ति और आज्ञापालन का अभाव हो जाना ।
६. अमनोज्ञ शब्दों का होना।
७ अमनोज्ञ रूप का होना।
८ अमनोज्ञ गध का होना।
९. अमनोज्ञ रस का होना।
१०. अमनोज्ञ स्पर्श का होना।

सुनने के लिये भयावने एव अनिष्ट शब्द, देखने के लिये भयावह रूप, सूंघने के लिये दूषित वायु, चखने के लिये या खाने-पीने के लिये अनिष्ट रस, अनिष्ट खान-पान रोगादि वर्धक, अनिष्ट वायु का प्रकोप। जब ये सब बातें समुच्चय रूप से किसी क्षेत्र में व्याप्त हों, तब उक्त दस लक्षणों के द्वारा दुःषम काल का अवतरण जान लेना चाहिए।

अतीव सुषम काल के दस लक्षण

१. उचित समय पर वर्षा का होना।
२. अनावश्यक वर्षा का न होना अर्थात् अतिवृष्टि और अनावृष्टि का न होना।
३. असाधुओं की पूजा का न होना।

४. साधुजनों की पूजा प्रतिष्ठा का होना । इन लक्षणों से भी सुषमकाल की परख होती है ।

५ जब माननीय लोगों का मान-सम्मान, विनय, भक्ति, आज्ञापालन सम्यक्तया हो रहा हो, तब यह लक्षण भी सुकाल का माना जाता है ।

६. सुनने को मधुर शब्द प्राप्त होते हो ।

७. देखने के लिये मनोहारी दृश्य मिलते हों ।

८. सूघने के लिये सुरभित पदार्थ सुलभ हो ।

९. खान-पान के लिये सरस पदार्थ सुलभ हों ।

१०. छूने के लिये मन भाते पदार्थ सुलभ हों ।

इन दस लक्षणों से जाना जाता है कि यह समय सुखप्रद है, क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र और काल भी सुख-दुःख की अनुभूति में निमित्त कारण होते हैं ।

सुषम-सुषमा काल के कल्पवृक्ष

मूल—सुसमसुसमाए णं समाए दसविहा रुक्खा उवभोगत्ताए हव्वमागच्छंति, तं जहा—

मत्तंगा य भिंगा तुडियंगा दीव जोइ चित्तंगा ।
चित्तरसा मणियंगा गेहागारा अणियणा य ।६५।

छाया—सुषमसुषमायां समायां दशविधा वृक्षा उपभोग्यतया हव्यमागच्छन्ति, तद्यथा—

मत्तङ्गाश्च भृताङ्गास्त्रुटिताङ्गा दीप-ज्योति-श्चित्राङ्गा ।
चित्ररसाः मण्यङ्गा गेहाकारा अनग्नाश्च ॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सुषमसुषमा काल में दश प्रकार के वृक्ष (कल्पवृक्ष) मनुष्यो के उपभोग के लिये उपस्थित होते है, जैसे-मत्तंगक, भृंगक, त्रुटितांग, दीप, ज्योति, चित्राङ्ग, चित्ररस, मण्यङ्ग, गृहाकार और अनग्न ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में दुःषम एव सुषमकाल के लक्षणो का वर्णन किया गया है । अब सूत्रकार काल वर्णन की उसी परम्परा में सुषम-सुषमा काल के कल्पवृक्षों का वर्णन करते हैं । पांच भरत और पांच ऐरा-

वत, इन दस क्षेत्रों मे अनादि काल से क्रमश. उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दो काल समय-समय पर आते और जाते रहते हैं। प्रत्येक काल के छः-छः विभाग अर्थात् आरक होते है। उत्पसर्पिणी काल मे उत्तम और शुभ पदार्थो की उत्पत्ति तथा निकृष्ट एव अशुभ पदार्थों का ह्रास क्रमशः होता जाता है। अवसर्पिणीकाल मे इससे विपरीत होता है।

अवसर्पिणीकाल के पहले आरे मे और उत्सर्पिणी काल के छठे आरे में तथा देवकुरु एव उत्तर-कुरु अकर्मभूमि मे उत्पन्न होनेवाले यौगलिक मनुष्यों की आवश्यकताओ को पूरी करने वाले वृक्ष कल्पवृक्ष कहलाते है। वे कल्पवृक्ष दस प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

१. मत्तंगा—शरीर के लिए पौष्टिक रस देने वाले।
२. भृताङ्गा—आवश्यकतानुसार भोजनादि देने वाले।
३. त्रुटिताङ्गा—मनोरजन के लिये वादित्रादि देनेवाले।
४. दीपाङ्गा—दीपक का काम देनेवाले, जैसे खद्योत के पख प्रकाशक होते है, वैसे ही वृक्ष के सभी अवयव प्रकाशक होते है।
५ ज्योतिरंगा—सूर्य के समान प्रकाश करने वाले कल्पवृक्ष। वैसे तो अग्नि को भी ज्योति कहते है, किन्तु उस काल में वहां अग्नि का अभाव होता है।
६. चित्रांगा—नाना प्रकार के फूल और फूलमालाएं देनेवाले।
७. चित्ररसा—नाना प्रकार के रसीले भोजन देने वाले।
८. मण्यंगा—सब तरह क आभूषण देने वाले।
९. गेहाकारा—मकान की तरह आश्रय देने वाले।
१० अनग्ना—सब तरह के वस्त्र देने वाले। इन वृक्षो का विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति मे प्राप्त होता है।

अतीत एव भावी उत्सर्पिणी के कुलकर

मूल—जंबूदीवे दीवे भरहे वासे तीयाए उस्सप्पिणोए दस कुलगरा हुत्था, तं जहा—

सयज्जले सयाऊ य, अणंतसेणे य अमियसेणे।
तक्कसेणे भीमसेणे, महाभीमसेणे य सत्तमे॥
दढरहे दसरहे सयरहे।

जंबूदीवे दीवे भारहे वासे आगमीसाए उस्सप्पिणीए दस कुलगरा भवि-रसंति, तं जहा—

सीमंकरे, सीमंधरे, खेमंकरे, खेमंधरे, विमलवाहणे, संमुई, पडिसुए, दढ़-धणू, दसधणू, सयधणू ।६६।

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षेऽतीतायामुत्सर्पिण्यां दश कुलकरा अभवन्, तद्यथा—

शतज्वलः शतायुश्च, अनन्तसेनश्च, अमितसेनः ।
तर्कसेनो भीमसेनः, महाभीमसेनश्च सप्तमः ॥
दृढ़रथो दशरथः शतरथः ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भारतेवर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां दश कुलकरा भविष्यन्ति, तद्यथा—सीमङ्करः, सीमन्धरः, क्षेमङ्करः, क्षेमन्धरः, विमलवाहनः, संमुचिः, प्रतिश्रुतः, दृढ़धनुः, दशधनुः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गतभारतवर्ष नामक क्षेत्र में अतीत उत्सर्पिणी काल में दस कुलकर हुए, जैसे शतज्वल, शतायु, अनन्तसेन, अमितसेन, तर्कसेन, भीमसेन, महाभीमसेन, दृढरथ, दशरथ, शतरथ ।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भारतवर्ष क्षेत्र में आगामी उत्सर्पिणी में दश कुलकर होगे, जैसे—सीमंकर, सीमंधर, क्षेमंकर, क्षेमंधर, विमलवाहन, समुचि, प्रतिश्रुत, दृढधनु, दशधनु, शतधनु ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे सुषम-सुषमा काल के कल्पवृक्षो का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार उसी परम्परा अन्तर्गत उत्सर्पिणी काल मे भूतकालीन एव भावी कुलकरों का परिचय देते है।

कुलकर का अर्थ है विशिष्ट बुद्धि सपन्न, कुल व्यवस्थापक पुरुष विशेष।[1] युगादि मे लोक-व्यवस्था, राजनीति व्यवस्था और कुलव्यवस्था करनेवाले कुलकर ही होते है। इन्हे ही वैदिक परम्परा मे मनु कहा गया है। गत उत्सर्पिणी काल मे भरत क्षेत्र मे दस कुलकर हुए है, जैसे कि—शतज्वल, शतायु, अनतसेन, अमितसेन, तकसेन, भीमसेन, महाभीमसेन, दृढरथ, दशरथ और शतरथ।

आनेवाले उत्सर्पिणी काल मे भी दस कुलकर होगे, उनके नाम इस प्रकार होगे—सीमंकर, सोमधर, क्षेमकर, क्षेमधर, विमलवाहन, समुचि, प्रतिश्रुत, दृढधनु, दशधनु और शतधनु।

इन कुलकरो का पूर्ण विवरण काल चक्र के अनुसार जानना चाहिए। इस प्रकरण में वर्तमान

१. कुलकरणशीलकुलकरा विशिष्टबुद्धयो लोकव्यवस्थाकारिण, पुरुष विशेषः।

अवसर्पिणी काल मे होने वाले कुलकरों के नामों का उल्लेख इसलिये नही किया गया क्योंकि इस अवसर्पिणी मे कही पर सात कुलकरो का और कही पर पन्द्रह कुलकरो का उल्लेख प्राप्त होता है, दस का नही।

वक्षस्कार पर्वत

मूल—जंबूद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं सीताए महाणईए उभओ कूले दस वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—मालवते, चित्तकूडे, विचित्त-कूडे, बंभकूडे, जाव सोमणसे।

जंबुमंदरपच्चत्थिमेणं सीओयाए महानईए उभओकूले दस वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—विज्जुप्पभे, जाव गंधमायणे।

एवं धायइसंडपुरच्छिमद्धे वि वक्खारा भाणियव्वा जाव पुक्खरवरदी-वद्धपच्चत्थिमद्धे।६७।

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्ये शीताया महानद्या उभयतः कूले दश वक्ष-स्कार पर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—माल्यवान्, चित्रकूटः, विचित्रकूटः, ब्रह्मकूटः यावत् सौमनसः।

जम्बूमन्दरपाश्चात्ये शीतोदायाः महानद्या उभयतः कूले दश वक्षस्कार पर्वताः प्रज्ञप्ता-स्तद्यथा—विद्युत्प्रभो यावद् गन्धमादनः।

एवं धातकीखण्ड पौरस्त्यार्द्धेऽपि वक्षस्कारा भणितव्या यावत्पुष्करवरद्वीपार्द्धपाश्चा-त्यार्द्धे।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर पर्वत के पूर्व में शीता महानदी के दोनों किनारोंपर दस वक्षस्कार पर्वत वर्णन किये गये हैं, जैसे—माल्यवान्, चित्र-कूट, विचित्रकूट, ब्रह्मकूट से लेकर सौमनस तक।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर पर्वत के पश्चिम में शीतोदा महानदी के दोनों तटों पर दश वक्षस्कार पर्वत वर्णन किये हैं, जैसे—विद्युत्प्रभ से लेकर गन्धमादन तक।

इसी प्रकार घातकीषण्डद्वीप के पूर्वार्द्ध में भी वक्षस्कार कथन करने चाहिये यावत् पुष्करवरद्वीपार्द्ध के पश्चिम में जानने चाहिये ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में भरत क्षेत्र के कुलकरों का वर्णन किया गया है। महाविदेह क्षेत्र भी जम्बूद्वीप का एक अग है, अत: अब सूत्रकार जम्बूद्वीप के अङ्गभूत बीस वक्षस्कार पर्वतों का वर्णन करते हैं। जिन पर्वतो की ऊंचाई गहराई एव परिधि आदि में सम हो जिनका सौन्दर्य और सोरभ्य भी सम हो वे सब वक्षस्कार कहलाते है। जम्बूद्वीप के मन्दर पर्वत से पूर्व की ओर शीता नामक महानदी बहती है जो कि पूर्व महाविदेह को दो भागों मे विभक्त करती हुई लवण समुद्र में मिल जाती है। इसी तरह मदर पर्वत से पश्चिम की ओर एक शीतोदा महानदी पश्चिम महाविदेह को दो हिस्सों में विभाजन करती हुई पश्चिम समुद्र में जा मिलती है। दोनो महानदियों के उत्तर और दक्षिण दोनो तटों पर दस-दस वक्षस्कार पर्वत हैं। शीता महानदी के उत्तरी तट पर पांच वक्षस्कार पर्वत हैं, उनमें माल्यवंत वक्षस्कार पर्वत उत्तरकुरु मे है। शेष क्रमश: कच्छ, महाकच्छ आवर्त्त और पुष्कर इन चार विजयो मे एक-एक वक्षस्कार पर्वत है।

शीता महानदी के दक्षिण तट पर पांच वक्षस्कार पर्वत हैं। उनमें से एक वत्स विजय में है, दूसरा महावत्स में, तीसरा वत्सक मे और चौथा रमणीय विजय में है, किन्तु सौमनस वक्षस्कार पर्वत देवकुरु क्षेत्र में गजदताकार है।

इसी प्रकार दस वक्षस्कार पर्वत शीतोदा महानदी के दक्षिणी और उत्तरीतट पर हैं। उनमें विद्युत्प्रभ देवकुरु में है और गधमादन उत्तरकुरु में है। शेष आठ चक्रवर्त्ती विजयों में है।

इसी तरह धातकीखड और अर्द्धपुष्कर द्वीप के वक्षस्कार पर्वतों का वर्णन जान लेना चाहिए। 'वक्खार' का सस्कृत रूप वक्षस्कार और वक्षार दोनो तरह के मिलते हैं।

इन्द्राधिष्ठित कल्प और इन्द्र

मूल—दस कप्पा इंदाहिट्ठिया पण्णत्ता, तं जहा—सोहम्मे जाव सहस्सारे, पाणे, अच्चुए।

एएसु णं दससु कप्पेसु दस इंदा पण्णत्ता, तं जहा—सक्के, ईसाणे जाव अच्चुए।

एएसु णं दसण्हं इंदाणं दस परिजाणियविमाणा पण्णत्ता, तं जहा—पाले, पुप्फए जाव विमलवरे, सव्वओभद्दे।६८।

छाया—दश कल्पा इन्द्राधिष्ठिताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सौधर्मो यावत्सहस्रारः, प्राणतः, अच्युतः।
एतेषु दशसु कल्पेषु दश इन्द्राः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शक्रः ईशानो यावदच्युतः ।

एतेषु दशानामिन्द्राणां दश पारियानिकविमानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पालकः, पुष्पको यावद् विमलवरः, सर्वतोभद्रः ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश कल्पदेवलोक इन्द्राधिष्ठित कहे गए है, जैसे कि सौधर्म यावत् सहस्रार प्राणत और अच्युत ।

इन दोश कल्पों में दस इन्द्र कहे गए है, यथा—शक्र, ईशान यावत् अच्युत । इन दस कल्पों मे दस इन्द्रों के दस पारियानिक विमान कहे गए है, जैसे—पालक, पुष्पक यावत् विमलवर तथा सर्वतोभद्र ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे मध्य लोक का वर्णन किया गया है । अब सूत्रकार उसी परम्परा में ऊर्ध्वलोक का वर्णन करते हैं । दस वैमानिक देवलोक इन्द्राधिष्ठित है । इन्द्र पद सबसे बडा देवपद है और छोटा देवपद आभियोगिक देवो का होता है । मध्य मे जितने भी देवपद है, उन सबका ग्रहण इन्द्र पद से हो जाता है । जहा राजनीति होती है, वही छोटे-बड़े का व्यवहार होता है । इस सूत्र से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि देवलोकों मे भी राजा-प्रजा, शास्य-शासक, उच्चत्तर एव निम्नतर अधिकारी हुआ करते है । पहले देवलोक से लेकर आठवे देवलोक तक तो क्रमश आठ इन्द्र है । दसवे और बारहवे देवलोक मे दो इन्द्रों का निवास है । नौवें और ग्यारहवे देवलोक मे इन्द्र तो नही है, किन्तु उन पर क्रमश १०वे १२वें देवलोक के इन्द्रो का आधिपत्य है । इन्द्रो की अपेक्षा से दस कल्प इन्द्राधिष्ठित कथन किए गए है । इन दस इन्द्रो के दस पारियानिक विमान है । जब ये इन्द्र देशान्तर मे गमन करते है, तब आभियोगिक देव अपनी वैक्रिय शक्तियों द्वारा विमान तैयार करते है । ये विमान शाश्वत नही है । किन्तु विमानों के नाम शाश्वत है, उनके नाम है—पालक, पुष्पक, सौमनस, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, कामकम, प्रीतिगम, मनोरम, विमलवर, सर्वतोभद्र ।

जिस देवलोक का जो नाम है इन्द्र का भी वही नाम है । जैसे सौधर्मेन्द्र, अच्युतेन्द्र आदि । सौधर्मेन्द्र ने जब कही जाना होता है, तब वह पालक नाम के आभियोगिक अनुचर को विमान बनाने के लिये आज्ञा देता है । इसी तरह यह कार्य-विभाग जिसके आधीन है, वही विमान बनाता है, अन्य नही । जो अनुचर का नाम है, वही पारियानिक विमान का भी नाम है ।[1]

---

१. इन कल्प देवलोको और इन्द्रो का विस्तृत स्वरूप प्रज्ञापना सूत्र के पहले पद मे तथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि आगमो से जानना चाहिए ।

दश-दशमिका-भिक्षु प्रतिमा

मूल—दसदसमिया णं भिक्खुपडिमा णं एगेण राइंदियसएणं अद्धछट्ठेहिं य भिक्खा-सएहिं अहासुत्ता जाव आराहियावि भवइ ।६९।

छाया—दशदशमिका खलु भिक्षुप्रतिमा एकेन रात्रिन्दिवशतेन अर्द्धषष्ठैश्च भिक्षाशतैर्यथासूत्रं यावदराधिताऽपि भवति ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश-दशमिका भिक्षुप्रतिमा एक सौ रात्रि दिनों में तथा साढ़े पांच सौ भिक्षाओं से सूत्रानुसार यावत् आराधन की जाती है ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में इन्द्राधिष्ठित देवलोकों आदि का वर्णन किया गया है । वे इन्द्र आदि वरिष्ठाधिकार सम्पन्न देव प्रतिमादि तप करने से ही उन विमानो मे उत्पन्न होते है, अतः इस सूत्र में भिक्षु की दश-दशमिका प्रतिमा का वर्णन किया गया है । इस प्रतिमा की आराधना मे १०० दिन लगते हैं और ५५० भिक्षा की दत्तियो से सम्पन्न होती है । पहली दशमिका में कुल दस दत्ति अन्न की और दस दत्ति पानी की । इस तरह दूसरी दशमिका मे बीस दत्ति अन्न की और बीस दत्ति पानी की । इसी क्रम से दसवी दशा में १०० दत्ति अन्न की और १०० दत्ति पानी की ग्रहण की जाती हैं । इसमें दत्तियो की कुल संख्या ५५० होती है ।

दसदसमिया भिक्खू-पडिमा

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१०
२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२०
३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३०
४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४०
५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५०
६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६०
७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७०
८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८०
९	९	९	९	९	९	९	९	९	९	९०
१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१००

१०० दिवसा : ५५० दत्तिओ

अभिग्रह विशेष को प्रतिमा कहते है । यहा 'जाव' पद से 'अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं, अहासम्मं, काएणं, फासिया, पालिया, सोहिया, तीरिया, किट्टिया' इन पदों का सग्रह किया जाता है । स्थविर कल्प के अनुसार प्रतिमा की आराधना करना यथाकल्प है । रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का या क्षयोपशमभाव का उल्लघन न करना यथामार्ग है । तत्त्व के अनुसार या सत्य के अनुकूल पालन

करना यथातत्त्व या यथातथ्य है। समता से पालन करना यथासाम्य है। काय से स्पर्श करना, न कि मनोरथमात्र से, उसे कायस्पृष्टा कहते हैं। निरन्तर सावधानी से पालन करना, पालिता है। पारने के दिन गुरु आदि द्वारा दिए गए अवशिष्ट भोजन से अथवा अतिचाररूप कीचड़ के प्रक्षालन करने के अनन्तर पारणा करना, शोधिता है। प्रतिमा का कालमान पूरा होने पर भी कुछ समय तक और उस में अवस्थित रहना तीरिता है। "अब मैं पूर्णरूप से आराधित-प्रतिमावाला हो चुका हूं" इस तरह गुरु के समक्ष कहना, कीर्तित है। इस तरह सर्वपद मिलने से उक्त प्रतिमा की आराधना की जाती है। ●

संसार-समापन्नक जीव

मूल—दसविहा संसार-समावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—पढमसमय एगिंदिया, अपढमसमय एगिंदिया। एवं जाव अपढमसमय-पंचिंदिया।

दसविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया, बेंदिया जाव पंचेंदिया, अणिंदिया।

अहवा दसविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—पढमसमय-नेरइया, अपढमसमय-नेरइया जाव अपढमसमय देवा, पढमसमय-सिद्धा, अपढमसमय-सिद्धा। ।७०।

छाया—दशविधाः संसारसमापन्नका जीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रथमसमयैकेन्द्रियाः, अप्रथमसमयैकेन्द्रियाः। एवं यावद् अप्रथमसमय-पञ्चेन्द्रिया.।

दशविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिका यावद्वनस्पतिकायिकाः, द्वीन्द्रिय जाव पञ्चेन्द्रियाः, अनिन्द्रियाः।

अथवा दशविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रथमसमयनैरयिकाः, अप्रथमसमयनैरयिकाः यावद् अप्रथमसमयदेवाः, प्रथमसमयसिद्धाः, अप्रथमसमयसिद्धाः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दशविध संसार-समापन्नक जीव वर्णन किये गए हैं, जैसे—प्रथम समय के एकेन्द्रिय, अप्रथम समय के एकेन्द्रिय, इसी तरह यावत् अप्रथ मसमय के पञ्चेन्द्रिय।

दशविध जीव वर्णन किये गए हैं, जैसे—पृथिवीकायिक यावत् वनस्पति-कायिक, द्वीन्द्रिय यावत् पञ्चेन्द्रिय और इन्द्रिय-रहित।

अथवा दस प्रकार के सब जीव हैं, यथा—प्रथम समय के नारकी, अप्रथम-समय के नारकी यावत् अप्रथम समय के देव, प्रथम समय के सिद्ध और अप्रथम समय के सिद्ध ।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में वर्णित प्रतिमाभ्यास संसारी जीवों की रक्षा के लिये ही किया जाता है, अतः इस सूत्र में संसारी जीवों का वर्णन किया गया है। ससारी जीव दस प्रकार के होते है, जैसे कि—

१. एकेन्द्रिय पर्याय में आए हुए वे जीव, जिन्हें अभी पहला ही समय हुआ है ।
२. एकेन्द्रिय पर्याय में आए हुए वे जीव, जिन्हे उत्पन्न हुए अनेक समय हो गए है ।
३. द्वीन्द्रिय पर्याय मे आए हुए वे जीव, जिन्हे उत्पन्न हुए अभी एक समय ही हुआ है ।
४. द्वीन्द्रिय पर्याय मे उत्पन्न हुए वे जीव, जिन्हे अनेक समय हो गए हैं ।
५. त्रीन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न हुए वे जीव, जिन्हें अभी उत्पन्न हुए एक समय हुआ है ।
६. त्रीन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न हुए वे जीव, जिन्हें अनेक समय हो गए हैं ।
७. चतुरिन्द्रिय पर्याय में आए हुए वे जीव, जिन्हें अभी उत्पन्न हुए एक समय हुआ है ।
८. चतुरिन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न हुए वे जीव, जिन्हें उत्पन्न हुए अनेक समय हो गए हैं ।
९. पचेन्द्रिय पर्याय में आए हुए वे जीव, जिन्हें अभी उत्पन्न हुए एक समय हुआ है ।
१०. पचेन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न हुए वे जीव, जिन्हें उत्पन्न हुए अनेक समय हो गए हैं ।

आगे के दो सूत्रों में सूत्रकार ने उन सभी जीवों का परिचय दिया है जो कि संसारी और मुक्त, इन दो भेदों में समाविष्ट हो जाते है । ससारी जीवों पर दया और मुक्तात्माओं के प्रति श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिए । वह तभी हो सकती है जबकि उनका ज्ञान होगा, अत. जीवों का ज्ञान होना आवश्यक है । वे सब जीव से इस प्रकार हैं, जैसे कि—

पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय । अनिन्द्रिय पद से सिद्ध भगवान, अपर्याप्त जीव तथा इन्द्रिय उपयोग रहित केवली भगवान गृहीत किये जाते है ।

दस प्रकार के सर्व जीव निम्न प्रकार से भी होते है—जिन नारकियो को उत्पन्न हुए एक ही समय हुआ है, उन्हे प्रथम समय नैरयिक कहते है जिनको उत्पन्न हुए अनेक समय हो गए हैं, उन्हे अप्रथम समय नैरयिक कहते है । इसी तरह तिर्यंच, मनुष्य, देव और सिद्ध, इन पाच गतिक जीवो के प्रथमसामयिक और अप्रथमसामयिक इस प्रकार दो-दो भेद करने से दस भेद हो जाते है ।

इस प्रकार अहिंसा की आराधना के लिये यहा जीवों के विविध रूपों का परिचय दिया गया हैं ।

शतायु-पुरुष की दस दशाएं

मूल—वाससयाउस्स णं पुरिसस्स दस दसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

बाला किड्डा य मंदा य, बला पन्ना य हायणी।
पवंचा पब्भारा य, मुंमुही सायणी तहा।७१।

छाया—वर्षशतायुष्कस्य पुरुषस्य दश दशाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—

बाला क्रीडा च मन्दा च, बला प्रज्ञा च हायनी।
प्रपञ्चा प्राग्भारा, मुङ्मुखी शायनी तहा॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जिस पुरुष की आयु सौ वर्ष की हो, उसकी दस अवस्थाएं होती हैं, जैसे—बाला, क्रीडा, मन्दा, बला, प्रज्ञा, हायनी, प्रपञ्चा, प्राग्भारा, मुङ्-मुखी और शायनी।

विवेचनिका—

पूर्व-सूत्र में ससारी जीवो का वर्णन किया गया है। उन ससारी जीवों में विभिन्न दशाए पाई जाती हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में शतायुष्क पुरुष की दस दशाओं का वर्णन किया गया है।

दशा के अनेक अर्थ होते है, जैसे कि—अवस्था-विशेष, स्थिति का प्रकार, दीपक की बत्ती, कपड़े का छोर आदि। मनुष्य के जीवन की दस अवस्थाएं मानी गई है, जैसे कि गर्भवास, जन्म, बाल्य, कौमार, पौगड— १६ वर्ष की वय तक का बालक, यौवन, बुढ़पा, प्राणरोध और नाश।

इस तरह अन्य-अन्य अर्थों में दशा शब्द का प्रयोग होता है। यहां सूत्रकार का अभिप्राय शरीर में होनेवाली कालकृत अवस्था विशेष से है। यहां पर सौ वर्ष की आयु मानकर ये दस अवस्थाएं बतलाई गई हैं। दस-दस वर्ष की एक-एक अवस्था होती है।

इससे अधिक आयुवाले पुरुष की अवस्था जानने की विधि यह है कि जिस युग में प्राय: जितनी आयु मनुष्यों की पाई जाती है, उसके दस भाग बनाने चाहिए। कल्पना कीजिए कि किसी की आयु एक हजार वर्ष की है। उस की १००-१०० वर्ष की एक दशा होगी। यदि किसी की आयु एक लाख वर्ष की है, तो उसकी दशा १००००-१०००० वर्ष की दस दशाएं बनेंगी। इन दशाओं का स्वरूप इस प्रकार है।

१. बालदशा—जन्मकाल से लेकर दस वर्ष की अवस्था को बालदशा कहते हैं। इस दशा

में लाभ-हानि का, आजीविकादि का और सांसारिक सुख-दुःख आदि का विशेष ज्ञान नहीं होता। तन्दुल वैचारिक प्रकीर्णक में इस दशा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"जायमेत्तस्स जंतुस्स जा सा पढमिया दसा।
न तत्थ सुह दुक्खाइं बहुं जाणंति बालया॥"

२. क्रीडादशा—इस दशा में विद्याध्ययन और तरह-तरह की क्रीडाएं प्रधान होती हैं। इस अवस्था को पाकर प्राणी अनेक प्रकार की क्रीडाएं करता है, किन्तु काम-भोगादि विषयों की ओर उस का खिचाव अधिक नहीं होता है। कहा भी है—

"बिइयं च दसं पत्तो नाणा कीडाहिं कीडइ।
न तत्थ कामभोगेहिं तिव्वा उप्पज्जए मई॥"

इस दशा में क्रीड़ा और विद्या की प्रधानता होती है, यह अपरिपक्व दशा प्रायः मैथुन-क्रीडा के योग्य नहीं होती।

३. मन्दा दशा—इस दशा में विशिष्ट बल-बुद्धि आदि कार्यों के दिखलाने में समर्थ होने पर भी व्यक्ति असमर्थ हो जाता है, कारण कि विषयासक्ति बढ़ जाती है, इसीलिये इस दशा को मंदा कहते है। इस अवस्था को पाकर मनुष्य अपने घर मे विद्यमान भोगोपभोगों की सामग्री को भोगने में समर्थ होता है, किन्तु नए भोगादि सामग्री के उपार्जन करने मे असमर्थ होता है। कहा भी है—

"तइयं य दसं पत्तो आणुपुव्वीए जो नरो।
समत्थो भुंजिउं भोए जइ से अत्थि घरे धुवा॥"

अर्थात् इस दशा में यद्यपि अर्थोपार्जन की क्रियाए विशेष देखी जाती हैं, तथापि इसमें विशेष आसक्ति मैथुन-क्रीड़ा मे रहती है। उसकी प्राप्ति के लिये ही अर्थोपार्जन किया जाता है।

४. बाला—स्वस्थ व्यक्ति जब इस दशा में पहुंच जाता है, तब वह अपना बल दिखाने में समर्थ हो जाता है। विकारों में भावना मंद हो जाती है। अपने बल तथा शक्ति विशेष की वृद्धि होने से जनता को अपना बल-पराक्रम दिखाने मे विशेष रुचि रखता है। जैसे कि कहा भी है—

"चउत्थी य बला नाम जं नरो दसमस्सिओ।
समत्थो बलं दरिसेउं जइ होइ निरुवद्दवो॥"

५. प्रज्ञा—पांचवी दशा में पहुंचने पर बुद्धि विकसित होती है। इस अवस्था के प्राप्त होने पर व्यक्ति में इच्छितार्थ को संपादन करने की तथा कुटुम्ब-वृद्धि की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। व्यापार में विशेष रुचि रहती है। धनवृद्धि के उपायों का चिन्तन विशेष उभर आता है और नेत्रों में कुछ निर्बलता आने लग जाती है, जैसे कि कहा भी है—

"पंचमिं च दसं पत्तो आणुपुव्वीए जो नरो।
इच्छियत्थं विचिंतेइ कुटुम्बं चाभिकंखई॥"

अर्थात् इस दशा में धनचिंता, कुटंब-चिंता तथा अभीष्ट पदार्थों की चिंता विशेष रहती है।

६. हायनी—इस छठी दशा को प्राप्त होने पर मनुष्य की इन्द्रियां प्राय: अपने-अपने विषय को ग्रहण करने मे किंचित् हीनता को प्राप्त हो जाती हैं, शरीर भी क्षीण होने लग जाता है और काम की रुचि भी क्षीण हो जाती है, कहा भी है—

"छट्ठी उ हायणी नाम जं नरो दसमस्सिओ ।
विरज्जइ य कामेसु इंदिएसु य हायइ ।।"

अर्थात् इस दशा मे इन्द्रियों की हीनता और विषयो मे अनासक्ति स्वाभाविकता से हो जाती है।

७. प्रपंचा—यह सातवी दशा वृद्धता को प्रकट करती है। यह श्लेष्म, कफ-खासी आदि रोगों का विस्तार करती है, अत: शरीर निर्बल एवं रोगाक्रान्त रहने लगता है। जैसे कि कहा भी है—

"सत्तमिं च दसं पत्तो आणुपुव्वीए जो नरो।
निच्छूहइ चिक्कणं खेलं खासइ य अभिक्खणं ।।"

८. प्राग्भारा—इस दशा में शरीर का सकुचित हो जाना और उसका अवनत हो जाना, स्त्रियों को भी प्रिय न लगना, जरा से पीड़ित होना, इन्द्रियों का शिथिल होना, बुढापे का घिर आना ये सब क्रियाएं इस दशा को पाकर अपना प्रभाव दिखाती हैं। कहा भी है—

"संकुचिय वलीचम्मो संपत्तो अट्ठमिं दसं।
नारीणमणभिप्पेओ जराए परिणामिओ ।।"

९. मुंमुही—इस दशा मे शरीर बुढापे से पूर्णतया घिर जाता है, मुंह से आवाज भी अच्छी तरह नहीं निकलती, उसके लिये जीवन भी भारभूत बन जाता है, मृत्यु की आकाक्षा बढ जाती है। जैसे कि कहा भी है—

"नवमी मुंमुही नाम जं नरो दसमस्सिओ।
जराघरे विणस्संते जीवो वसइ अकामओ ।।"

१०. शायनी—इस अवस्था को प्राप्त मनुष्य अधिक निद्रालु बन जाता है। उसकी आवाज हीन-दीन और विकृत होने लग जाती है, वह अति दुर्बल एवं अति दुखित हो जाता है। इस दशा को प्राप्त जीव की वह हालत होती है जो सद्योजात बालक की होती है। वह अपनी इच्छा से हिल-डुल भी नहीं सकता करवट भी नहीं बदल पाता, नींद एवं बेहोशी में पड़ा रहता है, जीवन से लाचार हो जाता है, जैसे कि कहा भी है—

"हीण भिन्नस्सरो दीणो, विवरीओ विचित्तओ।
दुब्बलो दुक्खिओ वसइ संपत्तो दसमिं दसं ।।"

दस दशाओं के दस सूत्र निम्न लिखित हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण मननीय है, जैसे कि—

१. बालगस्स उवक्खेवो—बाल अवस्था के दस वर्ष मुण्डन आदि कई प्रकार के संस्कारों में व्यतीत हो जाते हैं।

२. वीसइ वरिसो उ गिण्हइ विज्जं—बीस वर्ष तक विद्या-अध्ययन की ओर अधिक प्रवृत्ति होती है।

३. भोगा य तीसगस्स—तीस वर्ष तक भोग-विलास की ओर अधिक रुचि रहती है।

४. चत्तालीसस्स विन्नाणं—चालीस वर्ष तक बल और विज्ञान की वृद्धि होती है।

५. पण्णासगस्स चक्खू हायइ—पचास वर्ष के मध्यकालीन समयों में नेत्रों की ज्योति घटने लग जाती है।

६. सट्ठिवकस्स वाहुबलं—साठ वर्ष के आस-पास मनुष्य का बाहुबल भी क्षीण हो जाता है।

७. भोगा सत्तरिस्स य—सत्तर वर्ष की आयु में भोगों की कामना भी क्षीण हो जाती है।

८. असीइगस्स य विन्नाणं—अस्सी वर्ष की आयु में विज्ञान भी मन्द पड़ जाता है।

९. नउइ नमइ सरीर—नव्वे वर्ष की आयु में शरीर झुक जाता है।

१० वाससए जीविय चयइ—सौ वर्ष की आयु पूरी होने पर मनुष्य अपने जीवन की आशा भी छोड़ देता है।

यह जीवन का दस सूत्री विकास एवं ह्रास है। वस्तुतः प्रथम विकास भी अन्तिम ह्रास का ही बीज है, क्योंकि उस विकास ने ह्रास के रूप में ही परिणत होना होता है। अतः साधक को इस जीवन-चर्या को लक्ष्य में रखकर जीवन की विनाशशीलता को जानते हुए ऐसा आचरण करना चाहिए, जिससे कि जीवन उस शाश्वत आत्म-तत्त्व की उपलब्धि कर सके, जिससे जन्म-जरा के कष्टों से मुक्ति प्राप्त हो। ●

तृण-वनस्पतिकाय

मूल—दसविहा तण.वणस्सइकाइया पण्णत्ता, तं जहा—मूले, कंदे, जाव पुप्फे, फले, बीये।७२।

छाया—दशविधास्तृणवनस्पतिकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मूलं, कन्दो यावत्पुष्पं, फलं, बीजम्।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दश प्रकार के तृणवनस्पतिकायिक कथन किये गये हैं, यथा—मूल, कन्द, यावत्, पुष्प, फल और बीज।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में मानव-जीवन की दस दशाओं का वर्णन किया गया है। दस दशाओं में आत्मोत्थान करने के लिये प्रयत्नशील न होनेवाले मरणधर्मा व्यक्ति तृण-वनस्पतिकायिक आदि में जन्म लेकर

नानाविध दुःखों को प्राप्त करते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में तृणवनस्पति आदि के भेदों का निरूपण किया गया है।

तृण शब्द इस लिये ग्रहण किया गया है कि तृण-बादर वनस्पतिकाय के ही दस भेद होते हैं, सूक्ष्म के नहीं।

१. मूल—जड़-जटादि, २. कंद—स्कन्ध से नीचे का भाग, ३. स्कन्ध—जहां से शाखाए फूटती हैं, ४. त्वक्—वल्कल छाल आदि, ५. शाखा—धड़ या तने से इधर-उधर निकले हुए अग डालियां आदि। ६. प्रवाल—अंकुर कोपलें आदि, ७. पत्र, ८. पुष्प, ९. फल और १० बीज। फूल वाले पौधों या अनाजों के वे दाने अथवा फलों की वह गुठलियां, जिनसे वैसे ही नए पौधे, अनाज या वृक्ष उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कोई प्रत्येक वनस्पतिकाय नहीं है।

विद्याधर श्रेणियां और आभियोगिक श्रेणियां

मूल—सव्वओवि णं विज्जाहरसेढीओ दस-दस जोयणाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते।
सव्वओवि णं आभिओगसेढीओ दस-दस जोयणाइं विक्खंभेणं पण्णत्ताओ।
।७३।

छाया—सर्वा अपि विद्याधरश्रेण्यो दश-दश योजनानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः।
सर्वा अपि आभियोगिकश्रेण्यो दश-दशयोजनानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—विद्याधरों की सभी श्रेणियां दश-दश योजन विष्कम्भ की अपेक्षा से कही गई है। आभियोगिक देवों की सभी श्रेणियां विष्कम्भ की दृष्टि से दश-दश योजन की वर्णन की गई हैं।

विवेचनिका—

बादर वनस्पति काय वैताढ्य पर्वत पर भी है, अतः इस सूत्र में दीर्घ वैताढ्य पर्वतों पर विद्याधर एवं अभियोगिक श्रेणियो की चौड़ाई का वर्णन किया गया है। जितने भी दीर्घवैताढ्य पर्वत हैं वे सब २५ योजन ऊंचे हैं, पृथिवी पर उनकी चौड़ाई ५० योजन की है। धरातल से दस योजन ऊपर जाकर दक्षिण और उत्तर दोनों ओर समतल भूमि भाग हैं, जिन की चौड़ाई दस-दस योजन की है। दक्षिण की ओर विद्याधरों के ५० नगर हैं और उत्तर की ओर ६० नगर हैं। ऐरवत क्षेत्र में दीर्घवैताढ्य पर नगर-संख्या उक्त संख्या से विपरीत है। दक्षिण की ओर ६० और उत्तर की ओर ५० हैं, किन्तु महाविदेह क्षेत्र के ३२ विजयों में एक-एक दीर्घवैताढ्य पर्वत है। प्रत्येक पर्वत पर दोनों

और ५५-५५ विद्याधरों के नगर है। उस भूमि भाग से दस योजन ऊपर जाकर दस योजन चौड़ाई-वाली दोनों ओर आभियोगिक देवो की दो श्रेणिया हैं। आभियोगिक देव उन्हें कहते हैं, जो शक्रेन्द्रादि इन्द्रों की और उनके लोकपाल—सोम, यम, वरुण और वैश्रवण की आज्ञा पालन करते है वैताढ्य पर्वत पर उनका निवासस्थान है।

आभियोगिक श्रेणियों के ऊपर का पर्वतीय भाग पांच योजन ऊचा है और वह दस योजन चौडा है, वहां पर भी देवो का निवास है।

इन का विस्तृत स्वरूप जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति से जानना चाहिए। जबूद्वीप में दीर्घवैताढ्य पर्वतो की कुल सख्या ३४ है।

ग्रैवेयक विमानों की उच्चता

मूल—गेविज्जविमाणा णं दस जोयणसयाइं उड्ढ उच्चत्तेणं पण्णत्ता ।७४।

छाया—ग्रैवेयकविमानानि दश योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—ग्रैवेयक विमान ऊंचाई की अपेक्षा से एक हजार योजन ऊंचे प्रतिपादन किये गए है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र मे वर्णित आभियोगिक श्रेणिया देवो के आवास-विशेष हैं और ग्रैवेयक विमान अहमिन्द्र देवो के आवास हैं। अब सूत्रकार आवासरूप उन ग्रैवेयक विमानों की ऊचाई का वर्णन करते हैं।

तेरहवें देवलोक से लेकर इक्कीसवे देवलोक तक देवलोको को ग्रैवेयक कहा जाता है। वे लोक-पुरुष के ग्रीवास्थानीय होने से ग्रैवेयक कहे जाते है। उन नौ देवलोको में जितने भी विमान है, वे सब हजार-हजार योजन ऊचे है। उनमें रहनेवाले देवों में परस्पर स्वामी-सेवक का सम्बन्ध नही है, इसी कारण उन देवों को अहमिन्द्र कहा जाता है।

तेजोलेश्या द्वारा भस्म करने की भिन्न शक्तियां

मूल—दसहिं ठाणेहिं सहतेयसा भासं कुज्जा, तं जहा—केइ तहारूवं समणं वा, माहणं वा अच्चासाएज्जा, से य अच्चासाइए समाणे, परिकुविए, तस्स

तेयं निसिरेज्जा, से तं परितावेइ, से तं परितावेत्ता तामेव सह तेयसा भासं कुज्जा।

केइ तहारूवं समणं वा, माहणं वा अच्चासाएज्जा, से य अच्चासाइए समाणे देवे परिकुविए, तस्स तेयं निसिरेज्जा, से तं परितावेइ, से तं तमेव सह तेयसा भासं कुज्जा।

केइ तहारूव समणं वा, माहणं वा अच्चासाएज्जा, से य अच्वासाइए समाणे परिकुविए, देवे य परिकुविए, दुह्ओ पडिण्णा, तस्स तेयं निसिरेज्जा, ते तं परितावेंति, ते तं परितावेत्ता सह तेयसा भासं कुज्जा।

केइ तहारूवं समाणं वा, माहणं वा अच्चासाएज्जा, से य अच्चासाइए परिकुविए, तस्स तेयं निसिरेज्जा, तत्थ फोड़ा समुच्छंति, ते फोडा भिज्जंति, ते फोडा भिन्ना समाणा तामेव सह तेयसा भासं कुज्जा।

केइ तहारूव समणं वा, माहणं वा अच्चासाएज्जा, से य अच्चासाइए देवे परिकुविए, तस्स तेय निसिरेज्जा, तत्थ फोडा संमुच्छंति, ते फोडा भिज्जंति, ते फोडा भिन्ना समाणा तमेव सह तेयसा भासं कुज्जा।

केइ तहारूवं समणं वा, माहणं वा अच्चासाएज्जा, से य अच्चासाइए परिकुविए, देवेवि य परिकुविए, ते दुहओ पडिण्णा, ते तस्स तेय निसिरेज्जा, तत्थ फोडा संमुच्छंति, सेसं तहेव जाव भासं कुज्जा।

केइ तहारूवं समणं वा, माहणं वा अच्चासाएज्जा, से य अच्चासाइए, परिकुविए, तस्स तेयं निसिरेज्जा, तत्थ फोडा समुच्छंनि, ते फोडा भिज्जंति, तत्थ पुला संमुच्छंति, ते पुला भिज्जंति, तें पुला भिन्ना समाणा तामेव सह तेयसा भासं कुज्जा।

एए तिन्नि आलावगा भाणियव्वा।

केइ तहारूवं समण वा, माहणं वा अच्चासाए समाणे तेयं निसिरेज्जा, से य तत्थ णो कम्मइ, णो पकम्मइ, अंचियं-अंचियं करेति, करेत्ता आयाहिणं पयाहिण करेइ, करेत्ता उड्ढ वेहासं उप्पयइ, उप्पइत्ता से णं तओ पडि-

हए पडिणियत्तइ, पडिणित्तइत्ता, तमेव सरीरगमणुदहमाणे-अणुदहमाणे सह तेयसा भासं कुज्जा, जहा वा गोसालगस्स मखलिपुत्तस्स तवेतेए ।७५।

छाया—दशभिः स्थानैः सह तेजसा भस्म कुर्यात्, तद्यथा—कश्चित् तथारूपं श्रमणं वा, माहनं (ब्राह्मण) वा अत्याशातयेत्, स चात्याशातितः सन्, परिकुपितः, तस्य तेजो निसृजेत्, स त परितापयति, स तं परिताप्य तमेव सह तेजसा भस्म कुर्यात् ।

कश्चित् तथारूपं श्रमणं वा, माहन वात्याशातयेत्, स चात्याशातितः सन् देवः परिकुपितः, तस्य तेजो निसृजेत्, तत्तं परितापयति, तत्त परिताप्य तमेव सह तेजसा भस्म कर्यात् ।

कश्चित् तथारूपं श्रमणं वा, माहनं वात्याशातयेत्, स चात्याशातितः सन् परिकुपितो देवश्च परिकुपितः, उभौ प्रतिज्ञौ तस्य तेजो निसृजेताम्, तौ तं परितापयतः, तौ त परिताप्य तमेव सह तेजसा भस्म कुर्यात् ।

कश्चित् तथारूपं श्रमण वा, माहन वात्याशातयेत्, स चात्याशातितः सन्, तस्य तेजो निसृजेत्, तत्र स्फोटाः संमूर्च्छन्ति, ते स्फोटका भिद्यन्ते, ते स्फोटका भिन्ना समानाः तमेव सह तेजसा भस्म कुर्युः ।

कश्चित् तथारूपं श्रमणं वा, माहनं वात्याशातयेत्, स चात्याशातितो देवः प्रकुपितः, तस्य तेजो निसृजेत्, तत्र स्फोटका सम्मूर्च्छन्ति, ते स्फोटका भिद्यन्ते, ते स्फोटका भिन्ना समानास्तमेव सह तेजसा भस्म कुर्यात् ।

कश्चित् तथारूप श्रमण वा, माहन वात्याशातयेत्, स चात्याशातितः परिकुपितो देवोऽपि च परिकुपितः, तौ उभौ प्रतिज्ञौ तस्य तेजो निसृजेत्, तत्र स्फोटकाः सम्मूर्च्छन्ति, शेष तथैव यावद् भस्म कुर्यात् ।

कश्चित् तथारूप श्रमणं वा, माहनं वात्याशातयेत्, स चात्याशातितः परिकुपितः, तस्य तेजो निसृजेत्, तत्र स्फोटकाः सम्मूर्च्छन्ति, ते स्फोटका भिद्यन्ते, तत्र पुलाः सम्मूर्च्छन्ति, ते पुला भिद्यन्ते, ते पुला भिन्नाः समानास्तमेव सह तेजसा भस्म कुर्युः ।
एते त्रय आलापका भणितव्याः ।

कश्चित् तथारूप श्रमण वा, माहन वात्याशातमानस्तेजो निसृजेत्, तच्च तत्र नो क्रमते, नो प्रक्रमते, अञ्चिताञ्चित करोति, कृत्वा आदक्षिणे प्रदक्षिणा करोति, कृत्वा ऊर्ध्वं विहायोत्पतति, उत्पत्य तत् ततः प्रतिहत प्रतिनिवर्तते, प्रतिनिवृत्य, तमेव शरीरक-मनुदहन्-अनुदहन् सह तेजसा भस्म कुर्यात्, यथा वा गोशालकस्य मङ्खलिपुत्रस्य तपस्तेज. ।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—तेजोलेश्या के द्वारा भस्म करने के दस कारण बतलाये गये है, जैसे—

१. कोई व्यक्ति तथारूप श्रमण अथवा तथारूप माहन की अवहेलना करता है, उसके कारण जब वह तथारूप श्रमण अथवा माहन कुपित हो जाता है, तब वह कुपित आत्मा उस व्यक्ति पर तेज छोड़ता है, तत्पश्चात् वह तेज उसे पीडित एवं दुःखित करके भस्म कर डालता है।

२. दूसरे कारण में उस तथारूप श्रमण व माहन का अधिष्ठित देव कुपित होकर तेज छोडता है और उसे भस्म कर देता है।

३. तीसरे कारण में वह श्रमण तथा उसका अधिष्ठित देव दोनों ही कुपित हो जाते है। शेष भस्म करने का वर्णन पूर्वोक्त समझना चाहिये।

४. कोई व्यक्ति तथारूप श्रमण व माहन का निरादर करता है, उसके फलस्वरूप वह तिरस्कृत श्रमण प्रकुपित हो उस व्यक्ति पर तेज फैंकता है। उस तेज से उसके शरीर में स्फोटक उत्पन्न हो जाते है, वे स्फोटक भेद को प्राप्त होने पर उसे भस्म कर देते है।

५. पांचवे कारण मे उस श्रमण का सेवक देव कुपित होकर तेज छोड़ता है और उसे भस्म कर देता है।

६. छठे कारण मे तथारूप श्रमण अथवा माहन और उसका अधिष्ठित देव दोनों कुपित हो जाते है और तेज छोडकर उस व्यक्ति के शरीर पर स्फोटक कर डालते हैं, वे स्फोटक फूट जाने पर उसे भस्म कर देते है।

७. सातवें कारण में तेज फैंकने से शरीर में पुला—छोटे-छोटे फोड़े उत्पन्न होते है और उनके फूट जाने पर वे उसे भस्म कर डालते है।

८. आठवे कारण मे तथारूप श्रमण-माहन का उपासक देव कुपित होकर तेज छोड़ता है और शरीर में पुला उत्पन्न हो जाते हैं। पुलाओ के फूटनें पर वह व्यक्ति भस्म हो जाता है।

९. वे दोनों कुपित होकर तेज छोड़ते हैं, शेष सभी वर्णन पूर्ववत् ही समझने चाहिए।

१०. कोई व्यक्ति तथारूप श्रमण अथवा माहन की आशातना करता है, जब वह उस पर तेज छोड़ता है, तब वह छोड़ा हुआ तेज उस शान्त अनगार पर आक्रमण नही करता, किन्तु ऊपर-नीचे आता-जाता रहता है और आदक्षिणा, प्रदक्षिणा करके आकाश मे जाता है। वहा से लौट कर वह तेज छोड़ने वाले उसी व्यक्ति के शरीर को पीड़ित करता हुआ भस्म कर देता है, जैसे कि गोशालक मङ्खलि पुत्र का तपस्तेज।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में ग्रैवेयक विमानो की ऊचाई का वर्णन किया गया है, उन विमानो के निवासी देव महर्द्धिक होते है, उन देवो से भी अधिक महर्द्धिक श्रमण और माहन होते हैं। उन मुनियो की महर्द्धिकता को दिखाने के लिये प्रस्तुत सूत्र में मुनीश्वरों की तेजोलब्धि का वर्णन किया गया है। तेजो-लब्धि से यहां तात्पर्य विशिष्ट तप के प्रभाव मे उत्पन्न होनेवाली दाहक शक्ति से है जोकि दूसरे को जलाकर भस्म कर देती है। वह लब्धि तथारूप श्रमण या माहन को ही प्राप्त हो सकती है।

श्रमण का अर्थ होता है तप:-प्रधान सयमित जीवन-यापन करनेवाला और माहन का अर्थ है अहिंसा-प्रधान सयम पालन करनेवाला। तेजोलब्धि सम्यग्दृष्टि साधक को भी प्राप्त हो सकती है और मिथ्यादृष्टि साधक को भी। तथारूप श्रमण या माहन सम्यग्दृष्टि ही हुआ करते है। मिथ्यादृष्टि श्रमण या माहन के साथ तथारूप विशेषण नही जोडा जाता।

तेजोलब्धि का प्रयोग कोपावेश मे किया जाता है। यह लब्धि मारक होती है। उपकारक लब्धि का प्रयोग शान्त और हर्षोल्लसित चित्त से किया जाता है, किन्तु मारक लब्धि का प्रयोग क्रोध और द्वेष की प्रवलता से किया जाता है। इस तेजोलब्धि से कम से कम एक व्यक्ति को भस्म किया जाता है और अधिक से अधिक सोलह जनपदो को भस्म करके मौत के घाट उतारा जा सकता है। साधारण बम से लेकर उद्जन बम जैसे बमो के अनेक भेद है और उनकी शक्ति भी अलग-अलग है। वैसे ही तेजोलब्धि भी अनेक प्रकार की है और वह भी अलग-अलग शक्ति रखती है। उसका प्रयोग दस कारणो से किया जाता है और छोड़ी हुई तेजोलब्धि भी दस प्रकार से अपना प्रभाव दिखलाती है, जैसे कि—

१. यदि कोई अनाडी पुरुष तेजोलब्धिसपन्न किसी श्रमण या माहन की अवहेलना करता है। असह्य अवहेलना से श्रमण या माहन जब गुस्से से भरकर उस पर तेजोलब्धि का प्रयोग करता है, तब उस तेज से वह अनाड़ी पुरुष सतप्त होकर भस्म हो जाता है।

२. यदि कोई अनाड़ी पुरुष किसी शान्तिप्रधान श्रमण या माहन की अवहेलना करता है, तो उस श्रमण माहन की सेवा मे रहा हुआ कोई देव उस अवहेलना करनेवाले अनाड़ी पुरुष पर कुपित होकर तेज छोड़ता है। जिससे वह आकुल-व्याकुल होकर बहुत ही शीघ्र भस्मीभूत हो जाता है।

३. कोई आततायी तेजोलब्धिसम्पन्न किसी श्रमण या माहन की असह्य अवहेलना करने पर श्रमण या माहन और उनकी सेवा मे रहनेवाला कोई देव यदि दोनों ही कृत निश्चय वाले हो जाते हैं, तो एक साथ दोनो के छोडे हुए तेज से परिपीड़ित होकर वह भस्म हो जाता है।

४. कोई अज्ञानी पुरुष तेजोलब्धिसपन्न किसी श्रमण या माहन की अवहेलना करता है। उस अवहेलना को न सहन करता हुआ श्रमण या माहन क्रुद्ध होकर उपसर्ग करनेवाले पर तेज छोडता है, जिससे उसके शरीर मे बड़े-बडे फोड़े उत्पन्न हो जाते है। कुछ समय बाद वे फोडे या छाले स्वय फूट जाते हैं। उससे वह भस्मीभूत हो जाता है।

५. कोई अज्ञानी पुरुप क्षमाप्रधान किसी श्रमण या माहन की अवहेलना करता है। उस दुष्ट प्रवृत्ति से कुपित होकर उसका अनुचर देव इस तरह का अपना तेज छोडता है जिससे उसके शरीर में सैकडो फोड़े पैदा हो जाते हैं, उनके फूट जाने से वह भस्मसात् हो जाता है।

६. कोई अज्ञानी पुरुष तेजोलब्धि सपन्न किसी श्रमण या माहन की जब अवहेलना करता है, तब उससे श्रमण या माहन तथा उनकी सेवा में रहा हुआ कोई देव दोनो ही उस अवहेलना को न सहन करते हुए कृतनिश्चय होकर उस पर तेज छोडते है। जिससे उसके शरीर मे सैकडो फोड़े—गूवड छाले पैदा हो जाते हैं, उनके फूट जाने पर वह अतीव परिपीडित होकर उस तेज से भस्म हो जाता है।

७ कोई अज्ञानी पुरुप तेजोलब्धिसम्पन्न किसी श्रमण या माहन को उपसर्ग देता है, उससे कुपित होकर जब वह तेज छोडता है तब उससे उसके शरीर में छोटी-छोटी फुन्सियां पैदा हो जाती है और उनके फूट जाने से वह तुरन्त भस्म हो जाता है।

८ कोई आततायी जब पुरुष क्षमाप्रधान किसी श्रमण या माहन की आशातना करता है तब उसकी इस दुष्प्रवृत्ति से उनकी सेवा मे रहा हुआ देव परिकुपित होकर उस पर तेज छोड देता है। जिससे उसके शरीर में अगणित छोटे-छोटे फोडे-छाले- उत्पन्न हो जाते हैं। उनके फूट जाने पर वह उसी तेज से जलकर भस्म हो जाता है।

९. कोई आततायी पुरुप तेजोलब्धिसम्पन्न किसी श्रमण या माहन की आशातना करने पर साधु और देव दोनो एक साथ परिकुपित होकर कृतनिश्चय दोनो ही उस पर तेज छोड़ते हैं। जिस से उस के शरीर मे अगणित गुम्बड़िया उत्पन्न हो जाती हैं। उन के फूट जाने पर वह उस तेज से जलकर तुरन्त भस्म हो जाता है।

१०. तेजोलेश्यावाला अनार्य पुरुष जब कभी वीतराग श्रमण या माहन को उपसर्ग से पीड़ित करता है, प्रवल आशातना करके उन पर तेज छोड़ता है, तब वह तेज उस श्रमण या माहन पर कुछ भी प्रभाव नही दिखला सकता, केवल वह तेज उनके आस-पास ही आता-जाता रहता है, ऊचा-नीचा होकर उनकी दाईं ओर से प्रदक्षिणा करके वीतराग के माहात्म्य से एक-दम ऊपर जाकर फिर उसी अनार्य पुरुष पर आ कर गिर जाता है और उसी तेज से वह भस्मसात् हो जाता है। जैसे मखलीपुत्र गोशालक ने श्रमण भगवान महावीर के ऊपर तेज छोड़ा था, किन्तु भगवान के माहात्म्य

से वह तेज प्रतिहत होकर वापिस गोशालक के शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर वह अपने ही तेज से भस्म हो गया। इस दसवे तेज का विस्तृत वर्णन व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के १५वें शतक में मिलता है।

सूत्रकर्त्ता ने 'अच्चासाएज्जा'—पद दिया है—इस का भाव यह है—अत्यन्त आशातना करने से किसी तेजोलब्धि सपन्न मुनि को क्रोध उत्पन्न हो जाना सभव है। 'दुहओ पडिण्णा'—इस पद की वृत्ति इस प्रकार है "ते दुहओ त्ति, तौ द्वौ मुनिदेवौ, पडिण्ण त्ति—उपसर्गकारिणो भस्मकरण प्रति प्रतिज्ञा योगात् प्रतिज्ञौ कृत-प्रतिज्ञौ हन्तव्योऽयमित्यभ्युपगताविति यावदिति तृतीयं"। परिकुविए" परिकुपितः—इस पद का भाव है कि "सर्व प्रकार से क्रुद्ध होता हुआ"। इस से यह ध्वनित होता है कि प्रबल क्रोध से ही तेजोलब्धि का प्रयोग किया जाता है।

इस सूत्र मे तेजशक्ति छोड़ने के दस कारण बतलाए गए हैं। पहले के नौ कारण तो साधु और देव से सम्बन्धित हैं और दसवा कारण है वीतराग भगवान के माहात्म्य से तेजोलेश्या गिराने वाला स्वय ही अपने तेज से भस्म हो जाता है। जो सूर्य पर थूकता है वह थूक वापिस थूकने वाले के मुह पर आकर गिर जाता है। तथारूप श्रमण माहन की आशातना करने से जीव अपनी अनन्त दुःख परम्परा बढ़ाता है। ❁

दस आश्चर्य

मूल—दस अच्छेरगा पण्णत्ता, तं जहा—

उवसग्ग गब्भहरणं, इत्थीतित्थं अभाविया परिसा।
कण्हस्स अवरकंका, उत्तरणं चंदसूराणं ॥
हरिवंसकुलुप्पत्ती, चमरुप्पातो य अट्ठसयसिद्धा।
असंजएसु पूआ, दसवि अणंतेण कालेण ।७६।

छाया—दश आश्चर्याणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

उपसर्गो, गर्भहरणं, स्त्रीतीर्थम् अभाविता परिषत्।
कृष्णस्य अपरकङ्का, अवतरणं चन्द्रसूर्ययोः ॥
हरिवंशकुलोत्पत्ति श्चमरोत्पातश्च अष्टशतसिद्धाः।
असंयतेषु पूजा, दशापि अनन्तेन कालेन ॥

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—दस आश्चर्य प्रतिपादन किये गए हैं, जैसे—उपसर्ग होना, गर्भ-हरण, स्त्री-तीर्थ, अभावित परिषद्, कृष्ण वासुदेव का अपरकंका में गमन, चन्द्र-सूर्य का मूल शरीर में अवतरण, हरिवंश कुल की उत्पत्ति, चमरेन्द्र का प्रथम देवलोक में जाना, एक समय में १०८ सिद्ध और असयतों की पूजा। ये दश आश्चर्य अनन्त काल के पश्चात् होते है।

विवेचनिका—

पूर्वसूत्र में तेजोलेश्या की शक्ति विशेष का वर्णन किया गया है। तेजोलेश्या जैसी लब्धि से सम्पन्न महापुरुषों के जीवन मे ही आश्चर्यकारी घटनाए घटित होती हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र मे दस आश्चर्यकारी घटनाओं का वर्णन किया गया है। इन्द्र-नरेन्द्र आदि तीर्थङ्करों के चरणयुगल की सेवा में तत्पर रहते हैं, इस दृष्टि से भगवान त्रिभुवन गुरु एव पूज्य होते है। जिन के अमित प्रभाव से चारो ओर २५-२५ योजन पर्यन्त महामारी आदि रोग, स्वचक्र-परचक्र आदि भय एव उपसर्ग नही होते। उनके निर्मल तथा स्वच्छ गुणो से प्रभावित हुआ लोकसमुदाय और हजारो शिष्य उनके चारों ओर विद्यमान रहते हैं। ३४ अतिशयो और ३५ वाणी इत्यादि के दिव्य गुणो से युक्त भगवान महावीर को भी उनके कुशिष्य गोशालक ने उपसर्ग दिये, ऐसा होना एक प्रकार का आश्चर्य है। जो बात लोक मे विस्मय और आश्चर्य की दृष्टि मे देखी जाती हो उसे आश्चर्य कहते हैं। जो घटना कभी भी घटित नही हुई हो, उसे अच्छेरा नही कहा जाता, किन्तु जो घटना अनन्तकाल बीतने के बाद हो सकती है, उसे अच्छेरा कहते है। अनादि-अनन्त काल-चक्र मे जो क्रियाए यदा-कदा होती रहती हैं, वे आश्चर्य का विषय नही, किन्तु जो क्रियाए चिरकाल से न हुई हो फिर भी वे किसी समय में हो जाए, उन्हें जनता विस्मयरूप मानती है। इस अवसर्पिणीकाल में दस अच्छेरे हुए हैं। उनका विवरण इस प्रकार है, जैसे कि—

१. उपसर्ग—जिस भयकर कष्ट के द्वारा प्राणी अपने धर्म से विचलित हो जाए, वह उपसर्ग है। देवो के द्वारा, मनुष्यो के द्वारा या तिर्यञ्च के द्वारा जो उपद्रव किए जाते हैं, जो बाधाए पहुंचाई जाती हैं। धर्म से विचलित करने के लिये विघ्न उपस्थित किये जाते हैं, उन्हे उपसर्ग कहते है। उपसर्गों का होना छद्मस्थ काल मे तो होता ही है, किन्तु केवली अवस्था मे नही होता। तीर्थङ्कर पद की प्राप्ति होने पर उत्कर्ष पुण्य के प्रभाव से उपसर्ग नही हो सकते। तीर्थङ्कर भगवान का यह अतिशय होता है कि वे जहां विराजते हैं, उस भूमि के चारों ओर १००-१०० योजन के अन्दर किसी प्रकार का वैर-भाव, रोग, मरी दुर्भिक्ष आदि का उपद्रव नही होता, किन्तु भगवान महावीर के समवसरण में गोशालक के द्वारा तेजोलेश्या छोडी गई, उससे सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि जल गए। अन्त में उसने श्री भगवान पर भी तेजोलेश्या छोड़ी, भगवान को भी यत् किंचित् उपसर्ग हुआ। यह घटना लोक में आश्चर्यजनक हुई है।

२. गर्भ-हरण—तीर्थङ्कर का गर्भ सक्रमण नही होता। एक स्त्री की कुक्षि में उत्पन्न जीव

का अन्य स्त्री की कुक्षि में रख देना गर्भ-हरण है। गर्भ-हरण का होना कोई अचम्भा नही है, किन्तु बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्त्ती और तीर्थङ्कर, ऐसी उत्तम पदवी जिस जीव ने प्राप्त करनी हो, वह राजकुल में जन्म लेता है, प्रजा-कुल मे नही। भगवान महावीर का जीव जब मरीचि के भव में था, तब जातिमद और कुलमद के कारण उसने ऐसे गोत्र का बध कर लिया था जिसमे उसके फलस्वरूप प्राणत देवलोक के पुष्पोत्तर नामक विमान से चवकर आषाढ शुक्ला षष्ठी के दिन ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में ऋषभदत्त ब्राह्मण की धर्मपत्नी देवानन्दा की कुक्षि मे अवतरित होना पडा। वहा पर ८२ दिन बीत जाने पर जब शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान से इस रहस्य को जाना, तब शक्रेन्द्र ने विचार किया कि सर्वलोक में उत्तम पुरुष तीर्थङ्कर भगवान का जन्म ब्राह्मण कुल मे नही होता, प्रत्युत क्षत्रिय राजघराने मे ही हुआ करता है। ऐसा विचार कर इन्द्र ने हरिणैगमेषी देव को बुलाकर कहा—"चरम तीर्थङ्कर का जीव इस समय पूर्वोपार्जित कर्म के कारण देवानदा ब्राह्मणी के गभ मे है। तुम वहा जाओ और देवानदा ब्राह्मणी के गर्भ से उस जीव का हरण कर क्षत्रियकुण्ड ग्राम के महाराज सिद्धार्थ की धर्मपत्नी त्रिशला महारानी के गर्भ मे स्थापित कर दो।" इन्द्र की आज्ञा को शिरोधार्य कर स्वय हरिणैगमेषी देव ने आश्विन कृष्णा त्रयोदशी की मध्यरात्रि मे सुख पूर्वक इद्र की आज्ञा का पालन किया और वह निज धाम मे चला गया। यह दूसरा आश्चर्य है।

३. **स्त्रीतीर्थ**—तीर्थङ्कर पद पुरुष को ही प्राप्त होता है, स्त्री को नही। किन्तु स्त्री का तीर्थंकर होना अचम्भा है। गणधर, द्वादशाङ्गीवाणी और चतुर्विध श्रीसघ, इनको तीर्थ कहते है। इसका प्रवर्त्तन या स्थापन करनेवाला ही तीर्थङ्कर कहलाता है। तीन लोक मे निरुपम अतिशय और अनन्त महिमा को धारण करनेवाले पुरुष ही तीथ की स्थापना किया करते है स्त्री, नही, किन्तु इस अवसर्पिणी काल मे १९वे तीर्थङ्कर भगवान मल्लिनाथ जी स्त्रीरूप मे अवतीर्ण हुए। यह तीसरा अच्छेरा हुआ है।

४. **अभाविता परिषद्**—विरति ग्रहण के अयोग्य परिषद् को अभाविता-परिषद् कहते हैं। तीर्थङ्कर भगवान का कोई भी उपदेश निष्फल नही जाता, क्योंकि बहुत से जीव उस धर्मोपदेश को सुनकर चारित्र-धर्म ग्रहण कर ही लेते है, किन्तु भगवान महावीर स्वामी के विषय मे ऐसा नही हुआ। जृम्भिकग्राम से बाहर जब भगवान महावीर ने वैशाख शुक्ला दशमी के दिन केवलज्ञान प्राप्त किया, तब वहा देवो ने समवसरण की रचना की, उस समवसरण के मध्य मे बैठकर भगवान ने आए हुए देव-देवियो को धर्मकथा सुनाई, किन्तु किसी भी श्रोता ने चारित्र ग्रहण नही किया, अर्थात् तीर्थ की स्थापना नही हुई। तीर्थङ्कर भगवान की वाणी कभी भी निष्फल नही जाती, यह भी एक आश्चर्यकारी घटना घटी, जोकि—पहले उपदेश मे तीर्थ की स्थापना नही हो सकी।

५. **श्री कृष्ण का अपरकका राजधानी में जाना**—अपरकका राजधानी धातकीखण्ड में है। एक वासुदेव दूसरे वासुदेव के क्षेत्र मे कभी भी नही जाता, किन्तु नौवे वासुदेव श्री कृष्ण को पद्मनाभ राजा के पजे से पाण्डवो की पत्नी द्रौपदी को छुडाने के लिये पाण्डवो समेत सुस्थित देव के सहयोग से दो लाख योजन चौडे लवण समुद्र को पार कर अपरकका राजधानी मे जाना पड़ा। वह क्षत्र कपिल वासुदेव की अधीनता मे था, युद्ध मे पद्मनाभ राजा को पराजित किया और अपने उद्देश्यो को पूर्णकर वापिस आते हुए लवण समुद्र में कृष्ण वासुदेव का और कपिल वासुदेव का पांचजन्यशख

से दोनो वासुदेवो का मिलाप हुआ। द्रौपदी-हरण का विस्तृत वर्णन यहा नही दिया जा रहा। एक वासुदेव को दूसरे वासुदेव की भूमि मे विशेष कारण से जाना पडा, यह भी एक बहुत बडा आश्चर्य है।

६. **चन्द्र सूर्यावतरण**—एक बार श्रमण भगवान महावीर स्वामी कौशाबी नगरी मे विराज रहे थे। वहा समवसरण में चन्द्र और सूर्य विमान के दो इन्द्र भवधारणीय शरीर के साथ भगवान के दर्शनार्थ आए। यह भी एक अचभा ही हुआ है। नही तो इस भूमि पर कोई भी देव या इन्द्र भवधारणीय शरीर के साथ नही आता, उत्तर वैक्रिय शरीर सहित ही आता है। वृत्तिकार का कहना है कि चन्द्र और सूर्य दोनो देव अपने-अपने शाश्वत विमान मे बैठकर एक साथ भगवान के दर्शनार्थ आए। उनके शब्द निम्नलिखित है—"**तथा भगवतो महावीरस्य वन्दनार्थमवतरणमाकाशात् समवसरणभूम्यां चन्द्रसूर्ययोः शाश्वतविमानोपेतयोर्बभूवेदमप्याश्चर्यमेवेति**" मूल सूत्र में "**उत्तरणं चन्दसूराण**" है किन्तु शाश्वत विमानो का नाम नही है।

वृत्तिकार का यह कथन उचित नही जान पडता, क्योकि समवसरणभूमि मे चन्द्र-सूर्य के विमानो को उतारने के लिये जगह ही कौन सी थी? इससे अनादि काल से आनेवाली व्यावहारिक काल-गणना भी नष्ट हो जाती है। शाश्वत विमान के द्वारा ही व्यावहारिक काल और मास, ऋतु आदि प्रवृत्त होते हैं अत: वृत्तिकार के शब्द युक्ति-सगत प्रतीत नही होते।

७. **हरिवंश कुलोत्पत्ति**—भरत क्षेत्र से उत्तर की ओर तीसरा क्षेत्र हरिवर्ष है। उसमें दो पल्योपम की स्थिति वाले युगलिये रहते हैं। आयु भर मे दंपति का एक जोडा पैदा होता है, इससे न कम और न अधिक ही। वह भी आयु समाप्ति से दो महीने पहले उत्पन्न होता है। यौगलिक दम्पति की आयु बराबर ही होती है। आगे चलकर उन दोनों मे दम्पति का व्यवहार हो जाता है। वे बडे ही भद्रिक होते हैं। कल्पवृक्षो से अभीष्ट फलादि को प्राप्त करते हुए बहुत समय तक सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं, इसलिए वे असि-मसि, कृषि, वाणिज्य, राजनीति आदि क्रियाओ से रहित होते हैं, मंद कषायिक होने से वे देवलोक के अतिथि बनते हैं। उस हरिवर्ष क्षेत्र मे से कोई पूर्व विरोधी देव हरि और हरिणी दम्पति के रूप मे दोनो को भरत क्षेत्र की चम्पानगरी में उठा लाया। उस नगरी का राजा इक्ष्वाकुवशज चन्द्रकीर्ति बिना ही सन्तान के तत्क्षण चल बसा। इतने मे वह देव आकाश मे स्थित होकर कहने लगा—"हे प्रजाजनो! मैं हरिवर्ष क्षेत्र से हरि और हरिणी नामक एक जोडा लाया हूं, तुम इनको राजा बनाओ। पुण्यानुभाव से वह हरि राज्य को प्राप्त हुआ। उससे हरिवश कुल उत्पन्न हुआ है। युगलिये का कर्मभूमि में राज्य करना और उसका वश चलना, यह सातवा अच्छेरा हुआ है।[1]

८. **चमरोत्पात**—चमरेन्द्र दक्षिण असुर कुमारो का इन्द्र है, वह सौधर्म देवलोक तक जाने की शक्ति रखता है, किन्तु चमरेन्द्र का सौधर्म देवलोक में पहुंचना, वहा उपद्रव मचाना, शक्रेन्द्र के वज्र के भय से दबे पाओ भगवान महावीर की शरण में वापिस आना, यह अघटित घटना है। चमरेन्द्र कभी भी सौधर्म देव लोक मे नही जाता है, उसका वहां जाना भी आठवा अच्छेरा माना जाता है।

---

१. इसका विस्तृत विवरण त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में देखना चाहिए।

९. **अष्टोत्तरशतसिद्ध**—उत्कृष्ट अवगहना वाले एक समय मे १०८ सिद्ध नही होते। उत्कृष्ट अवगहना से एक समय मे केवल दो जीव ही सिद्ध होते हैं, अधिक नहीं।[1] मध्यम अवगहना वाले एक समय मे यदि १०८ सिद्ध हो, तो यह अच्छेरा नही है। उत्कृष्ट अवगहना वाले अधिक से अधिक एक समय मे दो ही सिद्ध हो सकते है, यदि वे १०८ सिद्ध हो जाए, तो यह अच्छेरा माना जाता है। इस अवसर्पिणीकाल के तीसरे आरे मे उत्कृष्ट अवगहना वाले १०८ जाव एक समय मे सिद्ध हुए है। भगवान ऋषभदेव के शासन काल मे यह नौवा अच्छेरा हुआ।

१०. **असयत-पूजा**—जो इन्द्रियो के दास है, मन के किंकर है, आरम्भ और परिग्रह मे आसक्त है, भोग-विलास मे निमग्न है फिर भी अपने को जगद्गुरु मानते है उन्हे असयत कहते हैं। उनको जनता के द्वारा अधिक पूजा-प्रतिष्ठा का बढ़ जाना भी अच्छेरा है। कारण कि सदैव साधु पुरुषो का ही आदर-सत्कार हुआ करता है, किन्तु इस अवसर्पिणी काल मे असाधुओ का सत्कार-बहुमान बढा और बढ रहा है।

सयत एव गुणीजनों की पूजा छोड़कर पाखडियो की पूजा बढ़ गई, यह भी एक आश्चर्य हुआ है। इसको लोक-भाषा मे अनहोनी भी कहते है। अनहोनी भी दो तरह की होती है—अत्यन्ताभाव के रूप मे और अच्छेरे के रूप में। यहां अनहोनी से तात्पर्य अच्छेरे से है। इस प्रकार से अच्छेरे अनन्त काल के बाद हुआ करते है। सूत्रकार ने भी लिखा है—**दस वि अणतेणं कालेण।** दस अच्छेरे होने के कारण इस काल को हुडावसर्पिणी काल कहते है। इसका अवतरण अनत काल के बाद हुआ करता है। ज्येष्ठ मास में गर्मी का जोर होता है, किन्तु उस मास मे यदि जोरदार सर्दी पड़े, तो लोगो के लिये ऐसा होना अचम्भा माना जाता है। वैसे ही जो कार्य अनादि नियम और सिद्धान्त से विरुद्ध हो जाए, तो उसे लोकोत्तरिक दृष्टि मे अच्छेरा कहा जाता है।

किस सूत्र में किस अच्छेरे का वर्णन है ?

पहले अच्छेरे का विस्तृत वर्णन भगवतीसूत्र के १५वे शतक मे जानना चाहिए। दूसरे अच्छेरे का पूर्ण विवरण आचाराङ्ग सूत्र के चौवीसवे अध्ययन मे और कल्पसूत्र का वाचना में है। तीसरे अच्छेरे का विस्तृत वर्णन ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र के आठवे अध्ययन में है। चौथे अच्छेरे का वर्णन प्रस्तुत ठाणाङ्गसूत्र की वृत्ति से अवगत है। पाचवे अच्छेरे का विस्तृत वर्णन ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र के १६वे अध्ययन मे उपलब्ध है। छठे अच्छेरे का वर्णन सक्षेप से इसी सूत्र मे मिलता है। सातवे अच्छेरे का वर्णन प्रस्तुत सूत्र की वृत्ति से मिलता है। ८वे अच्छेरे का विस्तृत वर्णन भगवती सूत्र के तीसरे शतक के दूसरे उद्देशक मे है। शेष दो अच्छेरो का सक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत सूत्र में ही उपलब्ध है। इन दस अच्छेरों का वर्णन विस्तारपूर्वक जानने के लिये "प्रवचनसारोद्धार" का एक सौ अट्ठतीसवा द्वार पठनीय है।

किस तीर्थङ्कर के युग में कौन सा अच्छेरा हुआ है ?

पहले तीर्थङ्कर ऋषभदेव के शासन काल में उत्कृष्ट अवगहना वाले १०८ व्यक्तियों

---

१. उक्कोसोगाहणाए य सिज्झते जुगव दुवे।
चत्तारि जहन्नाए मज्झे अट्ठुत्तरं सय ॥
उत्तरा० अ० ३६, गा० ५३ ॥

का एक समय मे सिद्ध होना, यह पहला अच्छेरा हुआ है। जिनकी अवगहना ५०० धनुष की है, वे सब उत्कृष्ट अवगहना वाले कहलाते हैं। इस अवगहना वाले अधिक से अधिक तीसरे आरे मे हुए हैं। दसवे तीर्थङ्कर भगवान शीतल नाथ जी के समय मे हरिवश कुल चालू हुआ। मुनि सुव्रत और अरिष्टनेमि, ये दो तीर्थङ्कर इसी कुल मे उत्पन्न हुए। स्वय १६वे मल्लिनाथ जी स्त्रीलिंग मे तीर्थङ्कर हुए, यह भी एक अच्छेरा हुआ। २२वे तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि के शासन काल मे कृष्ण जो अपरकका राजधानी मे पहुचे, यह भी एक अच्छेरा हुआ है। उपसर्ग, गर्भहरण, चमरोत्पात, अभावित परिषद् और चन्द्र-सूर्यावतरण, ये पाच अच्छेरे भगवान महावीर के समय मे हुए है। असयतो की पूजा ६वे तीर्थङ्कर भगवान सुविधिनाथ के शासनकाल के व्यवच्छिन्न होने पर प्रारम्भ हुई। तीर्थ के उच्छेद से होने वाली असयतो की पूजा रूप एक अच्छेरा हुआ है। वास्तव मे ६वे तीर्थङ्कर से लेकर १६वे श्री शान्तिनाथ भगवान तक मध्य के सात अतरो मे तीर्थ का व्यवच्छेद और असयतो की पूजा अधिक बढती गई। सामान्य रूप से सभी तीर्थङ्करो के शासन-काल मे असयतो की पूजा होती रही है। इस अवसर्पिणी काल मे असयतो की पूजा का प्रभाव अधिक रहा है।

ये दस अच्छेरे व्यवहार नय के मत से कथन किए गए है। निशीथ सूत्र मे भगवान का यह कथन है कि जो भिक्षु स्वय विस्मित हो या औरो को भी विस्मित करे तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानी के ज्ञान मे कोई भी विषय विस्मयकारक नही है, किन्तु चिरकाल से होनेवाली घटना या छद्मस्थ के ज्ञान मे अभूतपूर्व घटनाए व्यवहार-दृष्टि से आश्चर्य-जनक बन गई हैं।

रत्न आदि सोलह काण्डो की मोटाई

मूल—इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए रयणे कडे दस जोयणसयाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।

इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए वयरे कंडे दस जोयणसयाइं बाहल्लेण पण्णत्ते। एवं वेरुलिए, लोहितक्खे, मसारगल्ले, हंसगब्भे, पुलए, सोगंधिए, जोइरसे, अंजणे, अंजणपुलए, रयए, जायरूवे, अंके, फलिहे, रिट्ठे। जहा रयणे तहा सोलसविहा भाणियव्वा।७७।

छाया—एतस्या रत्नप्रभाया पृथिव्याः रत्नकाण्डं दशयोजनशतानि बाहल्येन प्रज्ञप्तम्।

एतस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या वज्रकाण्डं दशयोजनशतानि बाहल्येन प्रज्ञप्तम्। एवं वैडूर्यं लोहिताक्ष, मसारगल्ल, हसगर्भं, पुलकं, सौगन्धिकं, ज्योतिरसम्, अञ्जनम्, अञ्जनपुलक, रजत, जातरूपम्, अङ्कम्, स्फटिक, रिष्टम्। यथा रत्नं तथा षोडश-विधानि भणितव्यानि।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—इस रत्नप्रभा नामक पृथिवी में रत्नमय काण्ड एक हजार योजन का वर्णन किया गया है।

इस रत्नप्रभा नामक पृथिवी का वज्रकांड दश योजनशत मोटाई की अपेक्षा से कथन किया गया है।

इसी प्रकार वैडूर्यकाण्ड, लोहितांक्ष, मसारगल्ल, हंसगर्भ, पुलक, ज्योतिरस, अञ्जन, अञ्जनपुलक, रजत, जातरूप–सुवर्ण, अंक, स्फटिक, रिष्ट। इन सब काण्डों का परिमाण भी रत्नकाण्ड के समान जानना चाहिये।

विवेचनिका—

चमरोत्पात रत्नप्रभा पृथिवी से हुआ है, अतः प्रस्तुत सूत्र में रत्नप्रभा पृथिवी का विषय वर्णन किया गया है। यह रत्नप्रभा पृथिवी एक राजु परिमाण लम्बी-चौड़ी है। इसकी मोटाई एक लाख अस्सी हज़ार योजन है। इसके तीन काड—हिस्से है। खरकांड, पङ्क-बहुल कांड और जल-बहुल काड। इन में से खरकाड सबसे ऊपर है, वह मोटाई मे १६ हजार योजन प्रमाण है। उसके नीचे का दूसरा कांड पङ्कबहुल है, जोकि मोटाई मे ८४ हजार योजन है। उसके नीचे का तीसरा जलबहुल काड है, जो मोटाई में ८० हजार योजन है। तीनों काडों की मोटाई मिलाने से एक लाख अस्सी हजार योजन होती है। खरकाड १६ भागो में विभाजित है। इन में एक-एक भाग की मोटाई एक-एक हजार योजन की है। इन मे पहले भाग को रत्नकाड, दूसरे भाग को वज्रकांड, तीसरे भाग का वैडूर्यकाड, चौथे भाग को लोहिताक्ष काण्ड कहते है। इसी तरह मसारगल्ल, हसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक ज्योतिरस, अञ्जन, अञ्जनपुलक, रजत, जातरूप, अङ्क, स्फटिक और रिष्ट, ये १६ काण्ड हजार-हजार योजन की मोटाई वाले हैं। खरकाण्ड में सोलह प्रकार के रत्न होने से इस पृथिवी का नाम रत्नप्रभा प्रसिद्ध है। इस का पूर्ण विवरण जीवाभिगम सूत्र से जानना चाहिए। ●

समुद्र, महाद्रह और सलिल कुण्डों की गहराई

मूल—सव्वेवि णं दीवसमुद्दा दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता। सव्वेवि णं महादहा दस जोयणाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता। सव्वेवि णं सलिलकुंडा दस जोयणाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता।७८।

छाया—सर्वेऽपि द्वीपसमुद्राः दशयोजनशतान्युद्वेधेन प्रज्ञप्ताः। सर्वेऽपि महाह्रदाः दशयोजनान्युद्वे-

धेन प्रज्ञप्ताः। सर्वाण्य सलिलकुण्डानि दशयोजनान्युद्वेधेन प्रज्ञप्तानि। शीता-शीतोदे महानद्यौ मुखमूले दशयोजनशतान्यूद्वेधेन प्रज्ञप्ते।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—सब द्वीपसमुद्र दश सौ योजन गहरे है। सब महाह्रद दश योजन गहरे है। सब सलिल-कुण्ड दशयोजन गहरे है। शीता, शीतोदा महानदिया मुखमूल में दश योजन उद्वेध की दृष्टि से वणन की गई है।

विवेचनिका—

रत्नप्रभा के आधार पर द्वीप-समुद्र है, अतः प्रस्तुत सूत्र मे द्वीप-समुद्रो की गहराई का उल्लेख किया गया है। सभी द्वीप और समुद्रो की गहराई दस सौ योजन की है। समुद्र तो गहरे ही होते है, किन्तु द्वीप नही। फिर भी सूत्रकार ने द्वीप की गहराई का सकेत किया है, इस का कारण हो सकता है कि जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह की जगती के समीप एक चक्रवर्ती विजय है, जोकि समतल भूमि भाग से हज़ार योजन की नीचाई पर है।

यावन्मात्र हिमवान आदि पर्वतो पर पद्म आदि महाह्रद हैं, वे सब दस योजन गहरे हैं। इसी तरह जितने गङ्गा आदि महानदियों के प्रपातकुण्ड हैं वे सब दस योजन गहरे है। शीता और शीतोदा ये दो महानदियां जहां समुद्र में मिलती हैं, वहां इनकी गहराई दस योजन की है। इन का पूर्ण विवरण जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र से अवगत करना चाहिए।

कृत्तिका और अनुराधा नक्षत्रों के चार-मण्डल

मूल—कत्तिया णक्खत्ते सव्वबाहिराओ मंडलाओ दसमे मंडले चारं चरइ। अणुराहा णक्खत्ते सव्वब्भंतराओ मंडलाओ दसमे मंडले चारं चरइ।७९।

छाया—कृत्तिका नक्षत्रं सर्वबाह्याद् मण्डलाद्दशमे मण्डले चारं चरति। अनुराधा नक्षत्रं सर्वाभ्यन्तराद् मण्डलाद्दशमे मण्डले चारं चरति।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—कृत्तिका नक्षत्र, सर्वबाह्य मण्डल से दशम मण्डल में भ्रमण करता है।
अनुराधा नक्षत्र सर्वाभ्यन्तर मण्डल से दशम मण्डल में भ्रमण करता है।

विवेचनिका—

भौगोलिक वर्णन करने के अनन्तर प्रस्तुत सूत्र में नक्षत्रमण्डल का उल्लेख किया गया है। मण्डल का अर्थ है—चन्द्र-सूर्य आदि का चार-क्षेत्र। सूर्य के १८४ मण्डल है। चन्द्र के १५ और नक्षत्रों के आठ मण्डल है। जम्बूद्वीप के ऊपर १८० योजन की परिधि मे ६५ सूर्यमण्डल है। चन्द्रमा के ५ और नक्षत्र के दो मण्डल है तथा लवण समुद्र में ३३० योजन अवगाहकर सूर्य के ११९ मण्डल हैं। चन्द्रमा के दस और नक्षत्रो के छः मण्डल हैं। कृत्तिका नक्षत्र वाहर के चन्द्रमण्डल से १०वें चन्द्रमण्डल पर और अन्दर के मण्डल से छठे मण्डल पर गति करता है तथा अनुराधा नक्षत्र अन्दर के चन्द्रमण्डल से दसवे मण्डल पर और वाहर के चन्द्रमण्डल से छठे मण्डल पर गति करता है। यहाँ मण्डल शब्द मार्ग का वाची है। चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, इन तीन सूत्रों मे ज्योतिष-चक्र का विस्तृत और अनुपम वर्णन मिलता है।

ज्ञान-संवर्धक नक्षत्र

मूल—दस णक्खत्ता णाणस्स विद्धिकरा पण्णत्ता, तं जहा—

मिगसिरमद्दा पुस्सो, तिन्नि य पुव्वाइं मूलमस्सेसा।
हत्थो चित्ता य तहा, दस विद्धिकराइं णाणस्स ।८०।

छाया—दश नक्षत्राणि ज्ञानस्य वृद्धिकराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—

मृगशिर आर्द्रा पुष्यः, तिस्रश्च पूर्वाः मूलमश्लेषाः।
हस्तश्चित्रा च तथा, दश वृद्धिकराणि ज्ञानस्य ॥

शब्दार्थ—दस णक्खत्ता—दस नक्षत्र; णाणस्स—ज्ञान की; विद्धिकरा पण्णत्ता—वृद्धि करने वाले हैं; तं जहा—जैसे; मिगसिरं—मृगशिर, अद्दा—आर्द्रा; पुस्सो—पुष्य; तिन्नि य पुव्वाइ—और तीनो पूर्वा; मूल—मूल; अस्सेसा—अश्लेषा; हत्थो—हस्त; चित्ता य तहा—तथा चित्रा। दस विद्धिकराइं णाणस्स—ये दस नक्षत्र ज्ञान की वृद्धि करनेवाले है।

मूलार्थ—दश नक्षत्र ज्ञान की वृद्धि करनेवाले हैं, जैसे—मृगशिर, आर्द्रा, पुष्य, पूर्वा-

षाढ़ा, पूर्वाभाद्रपद, पूर्वाफाल्गुणी, मूल, अश्लेषा, हस्त एवं चित्रा ।

विवेचनिका—

नक्षत्रों का अधिकार होने से इस सूत्र में ज्ञानवृद्धि के सहायक दस नक्षत्रों का नामोल्लेख किया गया है। जिनके नाम मूलार्थ में लिखे जा चुके है, इन दस नक्षत्रो मे से किसी भी नक्षत्र से यदि चन्द्र का योग लगा हुआ हो, तो उस समय यदि सूत्र का अध्ययन प्रारम्भ किया जाए, तो वह श्रुतज्ञान चन्द्रकला की तरह वृद्धि को ही प्राप्त होता है, कारण कि कालविशेष भी क्षयोपशम का हेतु है। वृत्तिकार इस विषय में ऐसे ही लिखते हैं, उनके शब्द इस प्रकार हैं—"विद्धिकराइं त्ति, एतन्नक्षत्रयुक्ते चन्द्रमसि सति ज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्योद्देशादिर्यदि क्रियते, तदा ज्ञानं समृद्धिमुपयाति, अविघ्नेनाधीयते, श्रूयते, व्याख्यायते, धार्यते वेति। भवति च काल विशेषस्तथाविधकार्येषु कारण क्षयोपशमादिहेतुत्वात्तस्य," यदाह—

"उदय-क्खय-खओवसमोवसमा जं च कम्मुणो भणिया।
दव्वं खेत्तं कालं भवं च भाव च संपप्प॥"

इस कथन से सिद्ध होता है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव को पाकर ही कर्मों का उदय, क्षय, क्षयोपशम तथा उपशम होता है। अत: अन्य कारणो के समान काल भी ज्ञानवृद्धि मे एक निमित्त कारण है। अत: शुभ मुहूर्तादि मे शुभ कार्य करने की शिक्षा उक्त सूत्र से प्राप्त होती है।

स्थलचर आदि की कुलकोटियां

मूल—चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं दस जाइ-कुलकोडि-जोणिपमुह सयसहस्सा पण्णत्ता। उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं दस जाइ-कुलकोडिजोणिपमुहसयसहस्सा पण्णत्ता।८१।

छाया—चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां दश जाति-कुलकोटियोनि-प्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। उरःपरिसर्पस्थलचर-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिकानां दश जाति-कुल-कोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि।

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—चतुष्पद-स्थलचर-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्च योनिकों की दश लाख जाति कुल-

कोटि-योनि-प्रमुख कथन की गई है। एवं उर:परिसर्प-स्थलचर-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों की दश लाख जाति-कुलकोटि योनि-प्रमुख प्रतिपादन की गई है।

विवेचनिका—

ज्ञान के ह्रास में और अज्ञान के तिमिर में जीव तिर्यञ्च गति को प्राप्त करता है। अत: प्रस्तुत सूत्र मे द्वीपसमुद्रों में चलने वाले जीवों की जाति कुलकोटि का निर्देश किया गया है। जिन तिर्यञ्चों की जाति कुलकोटि की सख्या दस-दस लाख है, उन्ही जीवों की चर्चा इस सूत्र मे की गई है, अन्य की नही। चार पाओ वाले प्राणी को चतुष्पद कहते हैं। स्थल पर चलने के कारण उन्हे स्थलचर कहते है। जिन तिर्यञ्चो की पांच इन्द्रिया हैं, उन्हे पचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक कहते है। चतुष्पद-स्थलचर-पचेन्द्रिय तिर्यञ्चों की उत्पत्तिस्थान रूप योनियो की सख्या चार लाख है और उन्ही चतुष्पद स्थलचर पचेन्द्रिय तिर्यग्योनिको की जाति कुलकोटियो की सख्या दस लाख है, क्योंकि एक योनि में अनेक कुल होते हैं। जैसे गोबर में कृमि आदि अनेक प्रकार के जीव उत्पन्न होते है, उस गोबर को द्वीन्द्रिय आदि का कुल कहा जाता है। इस विषय मे वृत्तिकार लिखते हैं—

"जातौ" पञ्चेन्द्रियजातौ यानि कुलकोटीनां-जातिविशेषलक्षणानां (शतानां)योनिप्रमुखाणि-उत्पत्तिस्थानद्वारकाणि शतसहस्राणि लक्षाणि. तानि तथा प्रज्ञप्तानि सर्वविदा, तत्र योनिर्यथा गोमयो द्वीन्द्रियाणामुत्पत्तिस्थानं, कुलानि तत्रैकत्रापि द्वीन्द्रियाणां कृम्याद्यनेकाकाराणि प्रतीतानि।"

इसी प्रकार प्रत्येक जीव की जाति कुल-कोटि योनि जाननी चाहिए। अत: जाति पद से पचेन्द्रिय जाति, कुलकोटि शब्द से एक जाति में अनेक कुल और योनि पद से उत्पत्ति स्थान जानना चाहिए। इसी प्रकार उर:परिसर्प स्थलचर पचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीवों की जाति कुल-कोटि की सख्या भी दस लाख है। छाती के बल से चलने वाले जितने भी प्राणी है, वे उर:परिसर्प कहलाते है, जैसे कि सर्प आदि जीवो के विषय मे सभी बाते ज्ञातव्य होती हैं।

पापकर्म के रूप में पुद्गलो का चयन

मूल—जीवा णं दसठाणनिव्वत्तिया पोग्गला पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा, तं जहा–पढमसमयएगिंदियनिव्वत्तिए जाव फासिंदियनिव्वत्तिए, एव चिण, उवचिण, बंध, उदीर, वेय तह निज्जरा चेव।

दसपएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता। दस पएसोवगाढा पोग्गला अणंता

पण्णत्ता । दस पएसठिईया पोग्गला अणंता पण्णत्ता । दस गुणकालगा पोग्गला अणंता पण्णत्ता । एवं वण्णेहिं, गंधेहिं, फासेहिं, दस गुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता ।८२।

दसमं अज्झयणं समत्तं

छाया—जीवाः दशस्थाननिर्वर्तितान पुद्गलनान् पापकर्मतया अचिन्वन वा, चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, तद्यथा—प्रथम-समयैकेन्द्रियनिर्वर्तितान् यावत् स्पर्शनेन्द्रियनिर्वर्तितान् । एव चयः, उपचयः, बन्धः, उदीरणा, वेदःस्तथा निर्जरा चैव ।

दश प्रदेशिका. स्कन्धा अनन्ता प्रज्ञप्ताः । दश प्रदेशावगाढाः पुद्गला अनन्ता प्रज्ञप्ताः । दश प्रदेशस्थितिकाः पुद्गला अनन्ताः प्रज्ञप्ताः । दश गुणकालकाः पुद्गला अनन्ताः प्रज्ञप्ताः । एवं वर्णैर्गन्धैः स्पर्शैर्दशगुणरूक्षाः पुद्गला अनन्ता प्रज्ञप्ताः ।

दशममध्ययनं समाप्तम्

[शब्दार्थ स्पष्ट है]

मूलार्थ—जीवों ने अतीतकाल मे दश स्थान निर्वर्तित पुद्गलों को पाप-कर्म-रूप में एकत्रित किया, वर्तमान मे करते है और भविष्य में करेंगे, जैसे—प्रथम समय के एकेन्द्रियपने में और अनेक समय के एकेन्द्रियपने मे यावत् स्पर्शनेन्द्रियपने में दो-दो अलापक कहने चाहिए । इसी प्रकार पुद्गलों का चय, उपचय, बन्ध, उदीरण, वेदन तथा निर्जरा के विषय में जानना चाहिये ।

दश प्रदेशिक स्कन्ध अनन्त है । दश प्रदेश अवगाहित पुद्गल अनन्त है । दश समय की स्थितिवाले पुद्गल अनन्त है । दश गुण कृष्णवर्णीय पुद्गल अनन्त है । इसी प्रकार पांच वर्ण, दो गन्ध, पाच रस और आठ स्पर्शों के विषय में यावत् दश गुना रूक्ष पुद्गल अनन्त प्रतिपादन किये गए है ।

विवेचनिका—

जिन आत्माओ ने सिद्धत्व प्राप्त कर लिया है, वे आत्माए कर्मबध नही करती । ससारी जीवों का ऐसा कोई समय नही बीतता, जिसमे वेकर्म बन्ध न करते हो । संसारी सभी जीवो का समावेश पाच जातियो मे हो जाता है, उनसे बाहर कोई भी ससारी जीव नही है । वे पांच जातिया निम्नलिखित हैं, जैसे कि एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति और पचेन्द्रियजाति । इनमें रहे हुए जितने भी जीव हैं, वे सभी समय-समय मे पुद्गलो का पाप कर्म के रूप मे उपार्जन कर

रहे है किसी भी जाति में उत्पन्न हुआ अविरत जीव अबन्धक नही हो सकता। जिस जीव को किसी भी जाति में पहुचे केवल एक ही समय हुआ है, वह भी पुद्गलों का उपार्जन पापकर्म के रूप में कर रहा है और जिस को अनेक समय हो गये है, वह भी पाप कर्म के रूप मे पुद्गलों का चयन कर रहा है। भूतकाल मे ससारी जीवो ने पापकर्म के रूप में पुद्गलों का उपार्जन किया, वर्तमान में कर रहे है और अनागत काल मे करते ही रहेगे। इस कथन से कर्मों का पौद्गलिक होना और जीव के अस्तित्व का त्रैकालिक होना सिद्ध होता है।

सूत्र में आए हुए चय, उपचय, बध, उदीरणा, वेदना और निर्जरा, इन छः पदो की विशेष व्याख्या इस प्रकार है—

१. चय—इसका अर्थ है कषायों के द्वारा आठ कर्मों के रूप में पुद्गलों का ग्रहण करना, उनका इकट्ठा करना ही चय कहलाता है।

२. उपचय—गृहीत कर्मपुद्गलो का अवाधा काल को छोड़कर ज्ञानावरणीय आदि रूप से निषेक—कर्म पुद्गलों द्वारा आत्मप्रदेशो पर रचना विशेष करना ही उपचय है।

३. बंध—कर्म-पुद्गलो का आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह मिल जाना ही बंध है। जो कर्म-पुद्गल निधत्त और निकाचित के रूप मे परिणत हो गए है, उन्हें बध कहते हैं।

४. उदीरणा—आबाधा काल बीतने के बाद जो कर्म-दलिक उदय में आनेवाले हैं, उन्हें प्रयत्न विशेष से खीचकर उदयप्राप्त दलिको के साथ भोग लेना उदीरणा है।

५. वेदन—शुभ और अशुभ कर्मो का फल भोगना वेदन कहलाता है।

६. निर्जरा—जीव-प्रदेशो से कर्मपुद्गल का पृथक् होना ही निर्जरा है।

जीव और कर्म के सम्बन्ध से सूत्रकार ने पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, बध और निर्जरा की भी सिद्धि की है। अकाम निर्जरा तो जीव सदा काल से करता ही चला आ रहा है, सवर पूर्वक न होने से अकाम निर्जरा धर्म का अग नही है, धर्म के बिना निर्वाण नहीं, निर्वाण के बिना अनाबाध सुख नही प्राप्त होता, किन्तु आत्म-विशुद्धि और निर्वाण-पद की प्राप्ति सकाम निर्जरा से ही होती है। जो कर्म-पुद्गल आत्मा से सर्वथा अलग हो जाते हैं, वे सब अजीव द्रव्य है। अजीव द्रव्य के विषय में सूत्रकार कहते है कि दस परमाणुओ के स्कन्ध को दस प्रदेशी स्कन्ध कहा जाता है, उन दस प्रदेशी स्कन्धो की गणना यदि की जाए तो वे भी अनन्त से कम नहीं होंगी। क्योंकि पुद्गल द्रव्य के मुख्यतया चार भेद है—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु पुद्गल। पुद्गल के महापिंड को अन्त्य स्कन्ध कहा जाता है। स्कन्ध के अनन्त भेद हैं—

दो प्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक जितने भी छोटे-बड़े भाग हैं, वे सब स्कन्ध मे गर्भित होते है। प्रत्येक स्कन्ध के बुद्धिगम्य छोटे-बड़े विभाग को देश, उसके अविभाज्यांशों को प्रदेश और केवल एकाकी परमाणु को परमाणु-पुद्गल कहा जाता है। परमाणु तो आकाश, काल और भाव के भी होते है, अतः उनका व्यवच्छेद करने के लिये सूत्रकार ने परमाणु के साथ पुद्गल-पद जोडा है।

जिन पुद्गल द्रव्यो ने आकाश के दस-दस प्रदेशों को अवगाहन किया हुआ है, वे पुद्गल भी अनन्त है, क्योकि लोकाकाश के असख्यात प्रदेशों पर वे अवगाढ है। इसलिये सूत्रकार ने आकाश का लक्षण अवकाश देनेवाला कथन किया है। जिस तरह एक कमरे मे हजारो-लाखों दीपको का प्रकाश परस्पर आकाशप्रदेशों पर अवगहन किये हुए होता है, उसी तरह आकाश के असख्यात प्रदेशो पर अनन्त पुद्गल द्रव्यो ने अवगाहन किया हुआ है।

काल से दस समय की स्थितिवाले पुद्गल-द्रव्य भी अनन्त है, कारण कि जितने भी जीव और पुद्गलद्रव्य है, वे स्थिति युक्त भी हैं। उनकी एक समय से लेकर असख्यात समय तक की स्थिति हो सकती है, किन्तु इस स्थान पर दस स्थान के अनुरोध से दस समय की स्थिति का ही वर्णन किया गया है।

भाव से दस गुणा काले पुद्गल भी अनन्त है। इसी प्रकार चार वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श यावत् दस गुण रूक्ष पुद्गल अनन्त कथन किए गए हैं। इस प्रकार सूत्र कर्त्ता ने पुद्गलद्रव्य के १० अंकों को लेकर २० आलापक दिखलाए हैं।

अन्त में अनन्त शब्द ग्रहण करने से वृद्धि आदि शब्दो की भान्ति अवसान मंगल कथन किया गया है। अत: प्रत्येक स्थान के अत में अनन्त शब्द कथन किया गया है। वह अनंत पद मंगल रूप से जानना चाहिए। जिस प्रकार वृद्धि, धर्म, श्रुतज्ञान, तप इत्यादि शब्द मगल अर्थ के बोधक है, उसी प्रकार अनन्त शब्द भी मंगल अर्थ का बोधक है। शास्त्र के आदि मे मगल करने का उद्देश्य होता है निर्विघ्नतापूर्वक ग्रन्थ की परिसमाप्ति, मध्य-मगल शास्त्र या उसका अर्थ स्थिर रखने के लिए किया जाता है और अवसान-मगल इसलिये किया जाता है कि शिष्य-प्रशिष्य भी इस परम्परा को चालू रखे। आगम-स्वाध्याय का प्रत्यक्ष फल अज्ञान की निवृत्ति है और परम्परा फल है निर्वाण पद की प्राप्ति। ●

॥ दशम स्थान समाप्त ॥

श्री स्थानाङ्ग-सूत्र विवेचनिका समाप्ता